राजनीति विज्ञान के मूल सिद्धान्त

(PRINCIPLES OF POLITICAL SCIENCE)

लेखक

रमेशचन्द्र शर्मा

राजनीति विज्ञान विभाग

राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कोटा (राज)

(संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण)

1981

वन्दना प्रकाशन, अलवर

प्रकाशक :
वन्दना प्रकाशन
श्री आदिनाथ मार्ग, अलवर।

ब्रांच
वन्दना प्रकाशन
चौड़ा रास्ता, जयपुर

मूल्य : 22.50 रुपये मात्र

मुद्रक—
हनुमान प्रिंटर्स, नाई की मण्डी, आगरा।
निशा प्रिंटर्स, लोहा मण्डी, आगरा।
प्रवीन प्रिंटर्स, लोहा मण्डी, आगरा।

भूमिका

'राजनीति विज्ञान के मूल सिद्धान्त' का पाठकों के समक्ष द्वितीय संस्करण प्रस्तुत करने में मुझे अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। यद्यपि यह पुस्तक राजस्थान विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमानुसार स्नातक कक्षाओं के प्रथम वर्ष के विद्यार्थियों के लिए लिखी गयी है परन्तु इसमें अन्य विद्यालयों के पाठ्यक्रमों में निर्धारित प्रकरणों का भी समावेश कर दिया गया है जिससे अन्य विश्वविद्यालयों के विद्यार्थी भी इस पुस्तक से लाभ उठा सकें।

राजनीति विज्ञान के अध्ययन में नवीन प्रवृत्तियों पद्धतियों एवं उपागमों का तेजी से समावेश हो रहा है। इसके अध्ययन में कुछ नये-नये विषयों जैसे शक्ति, सत्ता, प्रभाव, औचित्य आदि को भी महत्त्व दिया जाने लगा है। प्रस्तुत पुस्तक में राजनीति विज्ञान के सिद्धान्तों के साथ-साथ इन नवीन प्रवृत्तियों, पद्धतियों एवं विषयों को भी भली प्रकार स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इस पुस्तक में समकालीन विद्वानों के विचारों एवं मान्यताओं से भी पाठकों को परिचित कराने का प्रयत्न किया गया है। पुस्तक की भाषा तथा शैली बहुत ही सरल रखी गई है जिससे विद्यार्थियों की पढ़ने में रुचि बढ़े तथा विषय को समझने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं हो। विद्यार्थियों की सुविधा के लिए विषय सामग्री को विविध शीर्षकों और उप शीर्षकों में विभाजित कर दिया गया है तथा विषय का विवेचन आलोचनात्मक दृष्टिकोण से किया गया है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में परीक्षा की दृष्टि से राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा गतवर्षों के सभी प्रश्नों का समावेश किया गया है। पुस्तक की पाठ्य सामग्री प्रस्तुत करने में इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि राजस्थान विश्वविद्यालय तथा अन्य विश्वविद्यालयों की इस स्तर की परीक्षाओं में पूछे जा सकने वाले सभी प्रश्नों का उत्तर इस पुस्तक के आधार पर दिया जा सके।

पुस्तक के लिखने में मैंने अनेक लेखकों तथा राजनीति विज्ञान के विचारकों के ग्रन्थों से सहायता ली है और स्थान-स्थान पर उनके मूल उद्धरण भी दिए हैं। मैं उन सभी लेखकों तथा विचारकों के प्रति आभार प्रकट करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ जिनके ग्रन्थों में मैंने सहायता ली है।

मुझे आशा है कि यह पुस्तक इस विषय के छात्रों के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होगी। पुस्तक को और अधिक उपयोगी बनाने के लिए जो सुझाव प्राप्त होंगे, लेखक उनका हार्दिक स्वागत करेगा।

रमेशचन्द्र शर्मा

SYLLABUS

Paper—Principles of Political Science

Unit 1 Definition, scope, nature and methods of study of Political science according to traditional and contemporary perspective, the Scientific methods and its applications to political Science.

Political Science and other Social Sciences.

Behavioural Approach : Its utility and limitation

Unit 2 Definition and Nature of State—State as an association—State in terms of sovereignty—State in terms of Law—Organic theory of the nature of State The idealistic theory of the nature of State

Theory of the origin of State and historical development of the Modern State

Unit 3 The concept of sovereignty—Monistic and pluralistic analysis of Sovereignty—**The Concept of Power**

State and Society : The Absolutist view of State and Nation : Theory of national self-determination—State and Religion—Theory of Secular State

Functions of the State—laissez faire and socialistic theories—the concept of Welfare State

Unit 4. Forms of Government—Democracy & Dictatorship, Presidential and Parliamentary types—Unitary and Federal forms—**The Concept of Political System**

Organisational frame work of the democracy—party system and pressure groups, public opinion, local self-government, the problem of minority representation.

Unit 5 Organs of government and the problem of their relationship—legislature Bi-cameralism, Uni-cameralism Function of legislature, Executive and its functions, Judiciary and its Functions Theory of Separation of Powers

Political concepts Rights and theories of rights—Particular rights, liberty, its meaning and Kinds, Law, its meaning and kinds-liberty and authority, liberty and equality.

विषय-प्रवेश

इकाई 1 (Unit 1)

इकाई 2 (Unit 2)

इकाई 4 (Unit 4)

इकाई 3 (Unit 3)

1

राजनीति विज्ञान की परिभाषा, क्षेत्र तथा स्वरूप

[DEFINITION, SCOPE AND NATURE OF POLITICAL SCIENCE]

'वह व्यक्ति जो समाज में नहीं रह सकता अथवा जिसे समाज की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह अपने आप में ही पूर्ण है, अवश्य ही या तो पशु होना चाहिए या देवता होना चाहिए।"[1]

—अरस्तू

विषय-प्रवेश—अरस्तू के उपरोक्त कथन का तात्पर्य यह है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में ही जन्म लेता है, समाज में ही रहता है तथा समाज में रहकर ही अपने जीवन का पूर्ण विकास कर सकता है। उसके सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्ष होते हैं। मानव जीवन के इन विभिन्न पक्षों का अध्ययन करने के लिए, समय-समय पर अनेक सामाजिक शास्त्रों का विकास हुआ है। उदाहरण के लिए, मानव जीवन के सामाजिक पक्ष का अध्ययन करने के लिए समाजशास्त्र का, आर्थिक पक्ष का अध्ययन करने के लिए अर्थशास्त्र का तथा नैतिक पक्ष का अध्ययन करने के लिए नीतिशास्त्र का विकास हुआ है। इन्हीं के समान [मानव जीवन के राजनीतिक पक्ष का अध्ययन करने के लिए जिस शास्त्र का विकास हुआ है, उसे हम राजनीतिशास्त्र अथवा राजनीति विज्ञान कहते हैं।] राजनीति विज्ञान समस्त सामाजिक शास्त्रों में सबसे अधिक प्राचीन है। अन्य सामाजिक शास्त्रों का स्थान इसके बाद ही आता है। इसका कारण यह है कि राजनीति विज्ञान राज्य का अध्ययन करता है और राज्य एक प्राचीन मानव-समुदाय है। इसके अतिरिक्त प्राचीन यूनानी दार्शनिकों ने मानव जीवन के विभिन्न पक्षों के अध्ययन में राजनीति को ही प्राथमिकता प्रदान की थी। इसीलिए राजनीति विज्ञान समस्त सामाजिक शास्त्रों में प्राचीनतम है।

राजनीति विज्ञान की परिभाषा
(Definition of Political Science)

राजनीति विज्ञान की सर्व-सम्मत परिभाषा देना अत्यन्त कठिन है। विभिन्न विद्वानों के द्वारा परिभाषाएँ दी गई हैं। गार्नर ने इस सम्बन्ध में कहा भी है कि

1 'He who is unable to live in society, or who has no need because he is sufficient for himself, must be either a beast or God."
—Aristotle

का वह भाग है जिसमें राज्य के आधारों तथा सरकार के सिद्धान्तों पर विचार किया जाता है।'[1]

गिलक्राइस्ट के शब्दों में 'राजनीति विज्ञान राज्य तथा सरकार दोनों की सामान्य समस्याओं का अध्ययन करता है।'[2]

गेटेल ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए लिखा है कि 'यह (राजनीति विज्ञान) राज्य के अतीत, वर्तमान तथा भावी स्वरूप का राजनीतिक संगठन तथा राजनीतिक कार्यों का, राजनीतिक संस्थाओं तथा राजनीतिक सिद्धान्तों का अध्ययन करता है।"[3]

डिमॉक का भी यह मत है कि "राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध राज्य तथा उसके यन्त्र सरकार से है।"[4]

मानव-तत्व का अध्ययन—इसमें कोई सन्देह नहीं है कि तीसरे प्रकार की विचारधारा जिसमें राजनीति विज्ञान के अध्ययन का विषय राज्य एवं सरकार दोनों को माना गया है, सत्य के अधिक निकट है परन्तु फिर भी इस आधार पर की गई राजनीति विज्ञान की परिभाषा को हम पूर्ण नहीं मान सकते हैं क्योंकि इसमें मानव-तत्त्व की उपेक्षा की गई है। मानव तत्त्व के अभाव में किसी भी समाजशास्त्र का अध्ययन पूर्ण नहीं हो सकता। मानव जीवन के विविध पक्ष होते हैं जिनका अध्ययन विभिन्न शास्त्रों के द्वारा किया जाता है। इसी प्रकार मनुष्य के जीवन का राजनीतिक पक्ष भी होता है जिसका अध्ययन राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत किया जाता है। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि राजनीति विज्ञान केवल राज्य और सरकार का ही नहीं बल्कि मनुष्य के सम्पूर्ण राजनीतिक जीवन का अध्ययन करता है। मनुष्य के राजनीतिक जीवन से सम्बन्धित जो भी समस्याएँ उत्पन्न होंगी, वे सब राजनीति विज्ञान का विषय बन जायेंगी। राज्य और सरकार का अध्ययन तो वह केवल इसलिए करता है कि वे मनुष्य के राजनीतिक सम्बन्धों को नियमित तथा संचालित करते हैं। अतः मूल रूप में राजनीति विज्ञान मनुष्य के राजनीतिक जीवन से सम्बन्धित विद्या है। मानव तत्त्व के अध्ययन के अभाव में राज्य और सरकार का अध्ययन कोरी

---

1 'Political Science is that part of Social Sciences which treats of the foundations of the State and the principles of government.'
—Paul Janet

2 "Political Science deals with the general problems of the State and government." —Gilchrist

3 "It (Political Science) is thus a study of the State in the past, present and future, of political organisation and political functions, of political institutions and political theories." —Gettell

4 "Political Science is concerned with the State and its instrumentality-Government." —Dimock

औपचारिकता मात्र होगी। जैसा कि प्रो० लास्की ने कहा है कि राजनीति विज्ञान के अध्ययन का सम्बन्ध संगठित राज्यों से सम्बन्धित मनुष्य के जीवन से है।"[1]

संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि राजनीति विज्ञान में मनुष्य, राज्य तथा सरकार तीनों का ही अध्ययन किया जाता है। इस आधार पर हम राजनीति विज्ञान की न्यायसंगत परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं कि राजनीति विज्ञान वह विज्ञान है जिसके अन्तर्गत मानव जीवन के राजनीतिक पक्ष का तथा राजनीतिक जीवन से सम्बन्धित होने के कारण राज्य तथा सरकार का भी अध्ययन किया जाता है।

आधुनिक दृष्टिकोण के आधार पर राजनीतिक विज्ञान की परिभाषा

यदि हम परम्परागत दृष्टिकोण की व्याख्या करें तो हम निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हैं कि परम्परागत दृष्टिकोण के अन्तर्गत राजनीति विज्ञान को सर्वप्रथम, संस्थागत अध्ययन माना गया है अर्थात् राजनीति विज्ञान का अध्ययन राज्य तथा सरकार जैसी संस्थाओं पर केन्द्रित था। परम्परागत राजनीति विज्ञान में कुछ परम्परागत सिद्धान्तों जैसे राज्य की उत्पत्ति तथा विकास के सिद्धान्त उसकी प्रकृति, उसके विभिन्न तत्त्व, सरकार के विभिन्न स्वरूप, राजनीतिक संस्थाओं के विभिन्न अंग, उनके आपसी सम्बन्ध इत्यादि के अध्ययन को ही सम्मिलित किया जाता था। द्वितीय परम्परागत रूप में राजनीति विज्ञान का अध्ययन मनुष्य के केवल राजनीतिक कार्य-कलापों तक ही सीमित था। परन्तु आधुनिक काल में और विशेष रूप से द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् राजनीति विज्ञान के अध्ययन के विषय में एक क्रान्ति हुई है जिसे व्यवहारवादी आन्दोलन या क्रान्ति का नाम दिया जाता है। अब राजनीति विज्ञान का अध्ययन नये दृष्टिकोण से किया जाने लगा है। यह नया अथवा आधुनिक दृष्टिकोण परम्परागत दृष्टिकोण से बिल्कुल भिन्न है। आधुनिक दृष्टिकोण के अन्तर्गत राजनीति विज्ञान के अध्ययन में निम्नलिखित बातों पर जोर दिया गया है

सर्वप्रथम, अब राजनीति विज्ञान के अध्ययन में परम्परागत संस्थागत अध्ययन के स्थान पर मनुष्य तथा उसके व्यवहार पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है। यह पूरी तरह स्वीकार कर लिया गया है कि राज्य तथा सरकार के संगठन को मानव-व्यवहार के अध्ययन के बिना नहीं समझा जा सकता।

द्वितीय, अब राजनीति विज्ञान का अध्ययन मनुष्य के राजनीतिक कार्यकलापों तक ही सीमित नहीं रहा है। यह स्वीकार किया जाने लगा है कि मानव जीवन ने एक इकाई का रूप धारण कर लिया है। अब मानव जीवन के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि पक्षों को एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। यदि मनुष्य के राजनीतिक कार्यकलापों का अध्ययन करना है तो उसके आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक

1 The study of Politics concerns itself with the life of men in relation to organised States." —Laski

कार्यकलापों आदि का भी अध्ययन करना आवश्यक है जो उसके राजनीतिक कार्य-कलापों को प्रभावित करते हैं। इनके अध्ययन के बिना मनुष्य के राजनीतिक कार्य कलापों का अध्ययन अधूरा माना जायेगा। ऐसी स्थिति में राजनीति विज्ञान के अध्ययन का विषय मनुष्य के केवल राजनीतिक कार्यकलापों का अध्ययन करना ही नहीं है बल्कि उसके सन्दर्भ में मानव जीवन के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, मनोवैज्ञानिक आदि समस्त पक्षों का अध्ययन करना भी है। इसीलिए व्यवहारवादी अपने अध्ययन में मनुष्य के बहुपक्षीय व्यवहार को सम्मिलित करते है।

तृतीय, आधुनिक दृष्टिकोण के अन्तर्गत राजनीति विज्ञान के अध्ययन में कुछ नये तत्त्वों, जैसे शक्ति (Power) सत्ता (Authority), प्रभाव (Influence), नियन्त्रण (Control), निर्णय (Decision), मूल्य (Value) आदि के अध्ययन को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है। हरमन हेलर (Herman Heller) के अनुसार, "राजनीति विज्ञान शक्ति की प्राप्ति रक्षा एवं वितरण का अध्ययन करने वाला विज्ञान है।" लासवेल ने राजनीति विज्ञान को 'प्रभाव और प्रभावशालियों का अध्ययन' कहा है। बाद की एक पुस्तक में लासवेल एवं केपलन ने यह मत प्रकट किया कि "एक अनुभव-जन्य अध्ययन के रूप में, राजनीति विज्ञान शक्ति के निर्माण तथा साझेदारी का विषय है।"[1] केटलिन के अनुसार, "राजनीति विज्ञान समाज में नियन्त्रण के कार्य से, नियन्त्रण के फलस्वरूप प्रक्रिया से तथा उन संरचनाओं से सम्बद्ध है जो भावनाओं अथवा इच्छाओं के नियन्त्रित सम्बन्धों के कारण प्रस्तुत हों।"[2] रासन ने राजनीति विज्ञान को 'समाज में शक्ति का अध्ययन' कहा है। पेनोक और स्मिथ ने राजनीति विज्ञान की परिभाषा में शक्ति के स्थान पर सत्ता (Authority) पर अधिक बल दिया है।[3] डेविस ईस्टन ने इसे 'मूल्यों का सत्तात्मक वितरण' कहा है।[4]

उपरोक्त सभी विचारकों के विचार राजनीति विज्ञान के परिवर्तित स्वरूप की अभिव्यक्ति हैं।

राजनीति विज्ञान का क्षेत्र
(Scope of Political Science)

राजनीति विज्ञान के क्षेत्र से हमारा तात्पर्य यह है कि इसके अन्तर्गत किन

---

1 'Political Science, as an empirical discipline, is the study of the shaping and sharing of power" —Lasswell & Kaplan

2 "Political Science is concerned with the function in society of control, with the acts that issue in control, with wills, and with the structures resulting from the control relationship of wills" —Catlin

3 Pennock and Smith *Political Science An Introduction*, pp 6 8

4 Easton, David . *The Political System*, pp 128-129

बातो का अध्ययन किया जाता है अर्थात उसकी विषय-सामग्री क्या है ? परन्तु इसकी विषय-सामग्री के सम्बन्ध मे राजनीति विज्ञान के विचारक एकमत नहीं हैं । जिस प्रकार राजनीति विज्ञान की परिभाषा के सम्बन्ध मे विभिन्न विचारको ने भिन्न भिन्न विचार प्रकट किये हैं, उसी प्रकार उसके क्षेत्र के सम्बन्ध मे भी उन्होंने अलग अलग विचार व्यक्त किये हैं। राजनीति विज्ञान के क्षेत्र का अध्ययन मुख्य रूप से दो दृष्टिकोणो के आधार पर किया जा सकता है प्रथम, परम्परागत दृष्टिकोण तथा द्वितीय, आधुनिक दृष्टिकोण ।

राजनीति विज्ञान के क्षेत्र के सम्बन्ध मे परम्परागत दृष्टिकोण

परम्परागत दृष्टिकोण के अन्तर्गत राजनीति विज्ञान के क्षेत्र के सम्बन्ध मे कुछ प्रमुख विचारको के विचार इस प्रकार हैं

प्रसिद्ध विद्वान डा० गार्नर के अनुसार, राजनीति विज्ञान के क्षेत्र मे तीन बातें शामिल हैं [1]

(1) *राज्य की उत्पत्ति एव उसकी प्रकृति के सम्बन्ध मे खोज करना,*

(2) *राजनीतिक सस्थाओ की प्रकृति उनके इतिहास तथा उनके विभिन्न रूपो का अध्ययन करना और*

(3) *इस अध्ययन के आधार पर जहाँ तक सम्भव हो सके, राजनीतिक प्रगति और विकास के नियमो का निर्धारण करना ।*

प्रो० गैटेल ने भी राजनीति विज्ञान के क्षेत्र मे तीन बातो को सम्मिलित किया है [2]

(1) *राज्य की उत्पत्ति, राजनीतिक सस्थाओ एव सिद्धान्तो के विकास का अध्ययन करना,*

(2) *वर्तमान राजनीतिक सस्थाओ तथा विचारधाराओ का वर्णन, उनकी तुलना तथा वर्गीकरण करने का प्रयत्न करना एव*

(3) *भविष्य की दृष्टि से राज्य के आदर्श स्वरूप का निश्चय करना ।*

सिजविक (Sidgwick) ने राजनीति विज्ञान के क्षेत्र मे दो बातो को शामिल किया है—प्रथम वे समस्याएँ जिनका सम्बन्ध राज्य के सगठन से है, तथा द्वितीय, वे समस्याएँ जिनका सम्बन्ध राज्य के कार्यो से है ।

फ्रेडरिक पोलक ने राजनीति विज्ञान के क्षेत्र को दो भागो मे विभाजित किया है—सैद्धान्तिक राजनीति तथा व्यावहारिक राजनीति ।

सैद्धान्तिक राजनीति मे राज्य के सिद्धान्त, शासन के सिद्धान्त, विधि सिद्धान्त तथा राज्य के कानूनी सिद्धान्त पर विचार किया जाता है और व्यावहारिक राजनीति मे राज्य व सरकार की वास्तविक प्रणाली, प्रशासन, विधि निर्माण प्रणाली, न्यायालय,

---

1 गार्नर : राज्य विज्ञान और शासन, पृष्ठ 6 ।
2 Gettell *Political Science*, p 4

कूटनीति, शान्ति, युद्ध एव अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति इत्यादि का विवेचन होता है जिनके द्वारा राज्य की सत्ता की *अभिव्यक्ति* तथा उसका प्रयोग होता है।

प्रो० गुडनो (Goodnow) ने राजनीति विज्ञान के क्षेत्र मे तीन बातों को शामिल किया है—(1) राज्य की इच्छा का निर्माण, (2) राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति, तथा (3) राज्य की इच्छा की कार्यान्विति।

विलोबी ने राजनीति विज्ञान के क्षेत्र मे कानून को भी शामिल किया है। उसके शब्दो म, "राजनीति विज्ञान जिन तीन महान विषयो की व्याख्या करता है, वे हैं—राज्य सरकार तथा कानून।"[1]

सन 1948 मे यूनेस्को (UNESCO) के तत्त्वावधान मे बनायी गई एक कमेटी ने राजनीति विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत निम्नलिखित विषयो को सम्मिलित किया था—(1) राजनीति के सिद्धान्त—राजनीतिक सिद्धान्त तथा राजनीतिक विचारो का इतिहास (2) राजनीतिक संस्थाएँ—संविधान राष्ट्रीय शासन, प्रादेशिक और स्थानीय शासन लोक प्रशासन, राजनीतिक संस्थाओ का तुलनात्मक अध्ययन (3) राजनीतिक दल, समूह और लोकमत—राजनीतिक दल, समूह और समुदाय, सरकार व प्रशासन मे नागरिको का सहयोग तथा लोकमत, (4) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अन्तर्राष्ट्रीय विधि, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन एव प्रशासन।

इस विषय पर अच्छी तरह विचार करने के पश्चात संसार के राजनीतिशास्त्रियो ने सन् 1952 ई० मे होने वाली ऑक्सफोर्ड की अपनी बैठक मे यूनेस्को सम्मेलन द्वारा निर्धारित उपर्युक्त विषयो को राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में स्वीकार कर लिया।

उपर्युक्त समस्त विचारो के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि राजनीति विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत निम्नलिखित 6 बातो का अध्ययन किया जाता है—(1) मानव के राजनीतिक जीवन का अध्ययन, (2) राज्य का अध्ययन, (3) सरकार का अध्ययन, (4) स्थानीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ का अध्ययन, (5) राजनीतिक विचारधाराओ का अध्ययन (6) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का अध्ययन।

(1) मनुष्य के राजनीतिक जीवन का अध्ययन—जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि मानव जीवन के विभिन्न पक्ष हैं। राजनीति विज्ञान मानव जीवन के सभी पक्षो का अध्ययन नही करता। वह उसके केवल राजनीतिक पक्ष का ही अध्ययन करता है। मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है। उसके अनेक प्रकार के राजनीतिक विचार और राजनीतिक कार्यकलाप होते हैं। राजनीति विज्ञान, इन विचारो तथा कार्यकलापो का ही अध्ययन करता है। यह हम सभी जानते हैं कि मनुष्यो ने अपनी बहुमुखी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए राज्य की स्थापना की है। राज्य सभ्य जीवन की

---

1 "There are three great topics Political Science has to deal with—State, Government and Law." — Willoughby

पहली आवश्यकता है। राज्य मनुष्यों की केवल आवश्यकताओं की ही पूर्ति नहीं करता वरन् वह मनुष्य के व्यक्तित्व का सर्वोच्च विकास करने में सहायता देता है। अरस्तू ने राज्य के सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि 'राज्य की उत्पत्ति जीवन के लिए हुई है और श्रेष्ठ जीवन के लिए यह कायम है।"[1] अपने नागरिकों के व्यक्तित्व का विकास करने के लिए राज्य उन्हें अनेक प्रकार के अधिकार प्रदान करता है तथा उन अधिकारों के संरक्षण की व्यवस्था भी करता है। दूसरी ओर नागरिकों के भी राज्य के प्रति कुछ कर्तव्य व उत्तरदायित्व होते हैं जिनका पालन करना उनके लिए आवश्यक होता है। अतः राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत एक ओर व्यक्ति के अधिकारों का, दूसरी ओर राज्य के प्रति उसके कर्तव्यों का तथा तीसरे, व्यक्ति एवं राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है। केटलिन के शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि "राजनीति नियन्त्रक एवं नियन्त्रित के व्यापक सम्बन्धों का अध्ययन है।[2]

(2) राज्य का अध्ययन राजनीति विज्ञान के अध्ययन का मुख्य विषय राज्य का अध्ययन माना जाता है। प्रो० गुडनो (Goodnow) ने स्पष्ट रूप से कहा है कि राजनीति विज्ञान राज्य नामक संस्था का अध्ययन है। प्रो० गैटेल का भी यही मत है कि "राजनीति विज्ञान राज्य के भूतकालीन स्वरूप की ऐतिहासिक खोज, उसके वर्तमान स्वरूप की विश्लेषणात्मक व्याख्या तथा उसके आदर्श स्वरूप की (अर्थात् राज्य कैसा होना चाहिए) राजनीतिक एवं नैतिक विवेचना है।[3] इस प्रकार राजनीति विज्ञान राज्य के भूत वर्तमान तथा भविष्य तीनों का अध्ययन करता है। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि राज्य अतीत में कैसा था उसका विकास किस प्रकार हुआ, वर्तमान समय में उसका क्या स्वरूप है तथा राज्य का आदर्श स्वरूप कैसा होना चाहिए, इत्यादि विषयों का विवेचन राजनीति विज्ञान में किया जाता है।

(i) राज्य के अतीत का अध्ययन—राज्य के वर्तमान स्वरूप को समझने के लिए राज्य के भूतकालीन स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। इस अध्ययन में हम यह देखते हैं कि राज्य की उत्पत्ति कब और कैसे हुई उसका विकास किस प्रकार हुआ, उसे वर्तमान स्थिति तक पहुँचने में किन किन अवस्थाओं को पार करना पड़ा और समय समय पर राजनीतिक संस्थाओं तथा विचारधाराओं ने क्या-क्या स्वरूप धारण किये हैं। वर्तमान समय में हम राज्य का जो स्वरूप देखते हैं, वह सैकड़ों वर्षों के विकास का परिणाम है। राज्य का प्रारम्भिक स्वरूप परिवार

1 "State came into being for the sake of life and it continues for the sake of good life" —Aristotle

2 "Politics is a study of all the plural relations of controlled and controller" —Catlin

3 "Political Science is thus a historical investigation of what the state has been an analytical study of what the state is and a politico-ethical discussion of what the state should be"—Gettell

था। परिवारो से आगे चलकर जनपदो का विकास हुआ। प्राचीन यूनान मे इन जनपदो को नगर-राज्य (City State) कहा गया। इन राज्यो के आपसी संघर्ष तथा हार जीत के परिणामस्वरूप बडे बडे साम्राज्यो का निर्माण हुआ। उसके पश्चात् जनसत्ता के आधार पर सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राष्ट्रीय राज्यो का विकास हुआ। वर्तमान समय मे हम विश्व राज्य की कल्पना करने लगे है।

राज्य के बदलते हुए स्वरूप के साथ साथ मनुष्य के राज्य सम्बन्धी विचारो मे भी परिवर्तन होता आया है। प्राचीन समय मे राजा को देवताओ का रूप समझा जाता था तथा उसकी आज्ञा दैवी आज्ञा के समान समझी जाती थी। वर्तमान समय मे राज की प्रमुख शक्ति राजा मे निहित न होकर जनसाधारण मे निहित होती है। इस प्रकार वर्तमान युग प्रजातन्त्र का युग है। इस तरह हम देखते हैं कि राजनीति विज्ञान मे राज्य तथा राजनीतिक विचारधाराओ के ऐतिहासिक विकास की विवेचना की जाती है।

(ii) **राज्य के वर्तमान स्वरूप का अध्ययन** राजनीति विज्ञान राज्य के वर्तमान स्वरूप का भी अध्ययन करता है। इसमे राज्य के वर्तमान स्वरूप के साथ-साथ उसके उद्देश्य तथा कार्यक्षेत्र पर भी विचार किया जाता है। वर्तमान समय मे राज्य के कार्यक्षेत्र को दो भागो मे बाँटा जाता है—आन्तरिक एव बाह्य। राज्य के आन्तरिक कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत समाज मे शान्ति और व्यवस्था कायम करना, अपने नागरिको का बहुमुखी विकास करना राष्ट्रीय एव स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था करना, इत्यादि कार्य आते हैं तथा राज्य के बाह्य कार्य क्षेत्र के अन्तगत अन्तर्राष्ट्रीय तथा कूटनीतिक सम्बन्ध कायम करना दूसरे देशो से युद्ध व सन्धि की घोषणा करना, विश्वशान्ति की समस्याओ पर विचार करना, इत्यादि कार्य आते हैं। राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध मे व्यक्तिवाद समाजवाद, साम्यवाद, अराजकतावाद, गाँधीवाद आदि विभिन्न सिद्धान्तो का जन्म हुआ है। पिछली दो दशाब्दियो से राजनीति विज्ञान का अध्ययन अधिक वैज्ञानिक एव यथार्थवादी होता जा रहा है। उसके अध्ययन क्षेत्र मे काफी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए है। अब राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत मानव व्यवहार, निर्णय, नियन्त्रण, शक्ति, सत्ता, प्रभाव, औचित्यता इत्यादि के आधार पर राजनीतिक संस्थाओ तथा राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन किया जाता है।

(iii) **राज्य के भावी स्वरूप का अध्ययन**—राजनीति विज्ञान मे केवल राज्य के अतीत की व्याख्या तथा वर्तमान स्वरूप का विश्लेषण ही नहीं होता अपितु इन दोनो के आधार पर भविष्य मे राज्य के आदर्श स्वरूप की भी कल्पना की जाती है। राज्य के स्वरूप, उद्देश्य और कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध मे समय समय पर अनेक राजनीतिक विचारधाराओ का जन्म हुआ है जो आदर्श राज्य के सम्बन्ध मे अपनी-अपनी परिकल्पना हमारे सम्मुख प्रस्तुत करते है। उदाहरण के लिए, व्यक्तिवाद राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित करने के पक्ष मे है तो समाजवाद उसके कार्यक्षेत्र

की वृद्धि चाहता है। बहुलवाद राज्य को अन्य समुदायों के समकक्ष मानकर उसके कार्यक्षेत्र को कम करने के पक्ष में है। साम्यवाद एवं अराजकतावाद राज्य को एक दूषित संस्था मानकर राज्यविहीन समाज को आदर्श व्यवस्था मानते हैं। वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रवाद के समर्थक विभिन्न राष्ट्रीय राज्यों को समाप्त करके उनके स्थान पर एक विश्व राज्य की कल्पना प्रस्तुत करते हैं। इस तरह राजनीति विज्ञान में राज्य के भावी स्वरूप का अध्ययन किया जाता है।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर हम कह सकते है कि राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत राज्य के अतीत वर्तमान तथा भावी तीनो स्वरूपो का अध्ययन किया जाता है।

(3) सरकार का अध्ययन—सरकार राज्य का आवश्यक अंग है। राज्य तो *एक अमूर्त संस्था है। सरकार राज्य का मूर्त स्वरूप है। वास्तव में राज्य के प्रयोजन, उद्देश्यों एवं कार्यों की अभिव्यक्ति सरकार के माध्यम से ही होती है। अतः सरकार के अध्ययन के बिना राज्य का अध्ययन अधूरा तथा अव्यावहारिक है।* कभी सरकारों का स्वरूप राजतन्त्रात्मक था जिसमें शासन की सम्पूर्ण शक्ति राजा में केन्द्रित होती थी। बाद में सरकारों का स्वरूप कुलीनतन्त्रात्मक हो गया। आधुनिक समय में सरकारों का स्वरूप लोकतन्त्रात्मक है जिसमें सरकार जनता की प्रतिनिधि होती है। आज सरकारें अपने समस्त कार्य अपने तीन प्रमुख अंगों—व्यवस्थापिका, *कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के माध्यम से सम्पन्न करती है।* इसके अतिरिक्त हमें संसार के विभिन्न देशों में सरकारों के भिन्न भिन्न रूप दिखाई देते हैं। उदाहरण के लिए, कहीं एकात्मक सरकार है तो कहीं संघात्मक कहीं संसदीय सरकार है तो कहीं अध्यक्षात्मक, इत्यादि। इसके अतिरिक्त वर्तमान समय में सरकार के निर्माण में राजनीतिक दल, दबाव समूह, लोकमत, चुनाव प्रणाली आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। अतः राजनीति विज्ञान में हम सरकार के विभिन्न स्वरूपों उसके प्रकारों, उसके तीनों प्रमुख अंगों, उन अंगों के आपसी सम्बन्धों तथा उसके संगठन आदि का अध्ययन करते हैं।

(4) स्थानीय, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का अध्ययन—राजनीति विज्ञान स्थानीय, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की राजनीतिक समस्याओं का भी अध्ययन करता है। स्थानीय स्तर की समस्याओं के निराकरण के लिए वह पंचायतों, *नगरपालिकाओं तथा अन्य स्वशासी संस्थाओं के गठन एवं कार्यप्रणाली का अध्ययन* करता है। इसी तरह वह राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रीय समस्याओं का अध्ययन करता है तथा उनके निराकरण के लिए राष्ट्रीय सरकार के गठन, उसके स्वरूप, उसके प्रकार, उसकी कार्यप्रणाली इत्यादि का अध्ययन करता है। इसके अतिरिक्त आज वैज्ञानिक प्रगति के कारण सम्पूर्ण संसार एक इकाई बन गया है। इसके कारण एक देश में जो घटनाएँ घटती हैं, उसका अन्य देशों पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। अतः राजनीति विज्ञान में अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं तथा उनके निराकरण के उपायों पर भी विचार किया जाता है।

(5) राजनीतिक विचारधाराओं का अध्ययन—राज्य के आदर्श स्वरूप तथा कार्यक्षेत्र को निर्धारित करने के लिए प्राचीन काल से ही राजनीतिशास्त्रियों ने अपने-अपने विचार प्रकट किये हैं। आधुनिक काल में भी इस दृष्टि से व्यक्तिवाद, समाजवाद, साम्यवाद, अराजकतावाद, श्रम संघवाद श्रेणी समाजवाद, फासीवाद, गांधीवाद, सर्वोदय आदि अनेक राजनीतिक विचारधाराओं का जन्म हुआ है। राजनीति विज्ञान में इन सब विचारधाराओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है जिसके आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि पिछड़े हुए देशों को अपना विकास करने के लिए इनमें से किस विचारधारा को अपनाना अधिक लाभदायक हो सकता है।

(6) राजनीतिक दलों तथा दबाव गुटों का अध्ययन—राजनीतिक विज्ञान के अन्तर्गत राजनीतिक दलों तथा दबाव गुटों का भी अध्ययन किया जाता है। वस्तुतः समस्त राजनीतिक जीवन का संचालन इन संस्थाओं के द्वारा ही किया जाता है। वर्तमान समय में देश के संविधान तथा शासन की अपेक्षा राजनीतिक दलों एवं दबाव गुटों के अध्ययन का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया है। इसी कारण राजनीति विज्ञान में अब इनके अध्ययन पर भी जोर दिया जाने लगा है।

(7) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन—राजनीति विज्ञान विश्व सरकार की स्थापना की दिशा में किये जाने वाले प्रयत्नों अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय विधि, विभिन्न राज्यों के आपसी सम्बन्धों, राजनय, विदेश नीतियाँ, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार युद्ध तथा सन्धि आदि से सम्बन्धित नियमों का भी अध्ययन करता है। इसमें इस बात पर भी विचार किया जाता है कि विभिन्न देशों के आपसी सम्बन्धों को किस प्रकार मधुर बनाया जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि राजनीति विज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। यही नहीं बल्कि राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में निरन्तर वृद्धि हो रही है। आज पुलिस राज्य का स्थान लोक कल्याणकारी राज्य ने ले लिया है, इस कारण राज्य का उद्देश्य एवं कार्यक्षेत्र भी असीमित हो गया है। अब यह कहा जाता है कि जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त व्यक्ति के जीवन का कोई भी कार्य राज्य के कार्यक्षेत्र से बाहर नहीं रह गया है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ राजनीति विज्ञान का क्षेत्र भी दिनोंदिन व्यापक होता जा रहा है।

राजनीति विज्ञान के क्षेत्र के सम्बन्ध में आधुनिक दृष्टिकोण

परम्परागत दृष्टिकोण के अनुसार राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत राज्य व सरकार की उत्पत्ति, विकास, संगठन, राजनीतिक दल, राजनीतिक विचार-धाराएँ, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, राष्ट्रीय प्रशासन आदि का अध्ययन किया जाता रहा है। किन्तु द्वितीय महायुद्ध के बाद और विशेष रूप से पिछले बीस वर्षों में राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। अब यह माना जाने लगा है कि राजनीतिक संस्थाओं की अपेक्षा राजनीति विज्ञान का अध्ययन केन्द्र मानवीय

व्यवहार है क्योंकि यही समस्त राजनीतिक संस्थाओं की चालक शक्ति है। मानव व्यवहार के साथ-साथ उस व्यवहार को प्रभावित करने वाले मनोवैज्ञानिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों का अध्ययन करना भी राजनीति विज्ञान के अध्ययन का मुख्य विषय बन गया है। व्यवहारवादी अध्ययन मार्ग इसी बात पर जोर देता है कि व्यक्ति के राजनीतिक जीवन को उसके सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में ही सही ढंग से समझा जा सकता है। इसी कारण वर्तमान समय में सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों तथा समुदायों को राजनीति विज्ञान के अध्ययन क्षेत्र में सम्मिलित किया जाने लगा है।

उपयुक्त शब्दावली (Appropriate Terminology)

जिस प्रकार राजनीति विज्ञान की कोई एक सर्वमान्य परिभाषा नहीं है उसी प्रकार उसकी कोई निश्चित एवं सर्वमान्य शब्दावली भी नहीं है। विभिन्न विद्वानों ने इसे अलग अलग नामों से सम्बोधित किया है। कुछ विद्वान इसे राजनीति (Politics) के नाम से पुकारते हैं कुछ इसको राजनीतिक दर्शन (Political Philosophy) कहते हैं तथा कुछ अन्यों ने इसको राजनीति-विज्ञान (Political Science) के नाम की संज्ञा दी है। जैलीनेक ने ठीक ही कहा है कि 'एक उपयुक्त नाम की आवश्यकता जितनी अधिक राजनीति विज्ञान को है उतनी अधिक किसी अन्य विज्ञान को नहीं है।'[1] अतः हमारे लिए यह समझ लेना आवश्यक है कि इन तीनों नामों के बीच अन्तर क्या है तथा इस शास्त्र के लिए किस नाम की संज्ञा देना अधिक उपयुक्त रहेगा।

राजनीति (Politics)—अधिकांश प्राचीन लेखकों ने राज्य से सम्बन्ध रखने वाले इस विषय को राजनीति कहना ही अधिक उचित समझा था। इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम अरस्तू ने किया। उसने अपनी पुस्तक का नाम ही 'राजनीति' रखा। इसका कारण शायद यह रहा हो कि उस समय यूनान में नगर राज्य थे, जिन्हें पोलिस (Polis) कहा जाता था। अतः नगर राज्य से सम्बन्धित विद्या को पॉलिटिक्स अथवा राजनीति की संज्ञा दी गई। अरस्तू के समान कुछ आधुनिक विद्वान भी इसे राजनीति कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं। इनमें जैलीनेक (Jellineck), होल्जनडॉर्फ (Holtzendorf) ट्रीटस्के (Treitschke) सिजविक (Sidgwick) आदि के नाम प्रमुख हैं। इन विचारकों का मत है कि 'राजनीति' शब्द के अन्तर्गत राज्य और सरकार से सम्बन्धित समस्त ज्ञान आ जाता है। सर फ्रेडरिक पोलक ने भी इस विषय के लिए 'राजनीति' शब्द का ही प्रयोग किया है। परन्तु पोलक ने राजनीति शब्द का प्रयोग संकुचित अर्थ में न करके व्यापक अर्थ में किया है। उसने राजनीति

---

1 "There is no Science, which is so much in need of a good terminology as in Political Science" —*Jellineck*

को दो भागो मे बाँट दिया —सैद्धान्तिक राजनीति और व्यावहारिक राजनीति। दोनो के अन्तर्गत निम्नलिखित विषय आते हैं

(अ) सैद्धान्तिक राजनीति—इसके अन्तर्गत राज्य सिद्धान्त शासन के सिद्धान्त, विधि निर्माण सम्बन्धी सिद्धान्त तथा कृत्रिम व्यक्ति के रूप मे राज्य के सिद्धान्त आते हैं।

(ब) व्यावहारिक राजनीति—इसके अन्तर्गत राज्य एव सरकार का वास्तविक स्वरूप, सरकार की कार्य प्रणाली, कानून और कानून निर्माण की प्रक्रिया, न्याय व्यवस्था, कूटनीति, शान्ति, युद्ध, व्यापारिक समझौते तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध इत्यादि आते हैं।

'राजनीति' शब्द पर आपत्ति—राजनीति शब्द का प्रयोग करने के विरुद्ध, निम्नलिखित आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं

(1) राजनीति का अध्ययन क्षेत्र सीमित है—प्रसिद्ध यूनानी विद्वान अरस्तू ने जिस अर्थ मे 'राजनीति' शब्द का प्रयोग किया था, उसके अनुसार राजनीति का क्षेत्र काफी व्यापक था। इसी प्रकार फ्रेडरिक पोलक ने भी राजनीति का जो वर्गीकरण किया है, उसके अनुसार भी 'राजनीति' का क्षेत्र काफी विस्तृत हो जाता है। अत: यदि इतने व्यापक अर्थ मे 'राजनीति' शब्द का प्रयोग किया जाय तो इस विषय के लिए 'राजनीति' की सज्ञा देने मे कोई बुराई नही होगी परन्तु आजकल 'राजनीति' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ मे न किया जाकर सकुचित अर्थ मे किया जाता है। आधुनिक युग मे राजनीति का तात्पर्य व्यावहारिक राजनीति अथवा सरकार के दिन-प्रतिदिन के कार्यों और नीतियो से ही होता है, राज्य के सैद्धान्तिक पक्ष से उसका कोई सम्बन्ध नही है। गार्नर ने ठीक ही कहा है कि 'राजनीति शब्द का अर्थ राज्य के कार्यकलापो के उस भाग तक सीमित है जो वास्तविक गतिविधियो के सचालन से सम्बन्ध रखता है।"[1]

हमारे अध्ययन का मुख्य विषय दिन प्रतिदिन की राजनीति तथा सरकार की समस्याओ का अध्ययन करना नही है बल्कि राज्य के सैद्धान्तिक पक्ष का अध्ययन करना है। इसके अन्तर्गत राज्य की उत्पत्ति, प्रकृति विकास तथा उद्देश्य आदि का क्रमबद्ध अध्ययन किया जाता है। इस दृष्टि से हमारे अध्ययन विषय के लिए 'राजनीति' शब्द का नाम देना उचित नही है। प्रो० गिलक्राइस्ट ने ठीक ही कहा है कि "आधुनिक प्रयोग के कारण राजनीति का एक नया अर्थ हो गया है जिससे हमारे विज्ञान के नाम के रूप मे यह शब्द निरर्थक हो गया है।"[2]

---

1 "The meaning of the term Politics is confined to that part of the business and activity which has to do with the actual conduct of the affairs of the State" —Garner

2 "Modern usage has given it a new content, which makes it useless as a designation for our science" —Gilchrist, R N,

(2) राजनीति दूषित कला मानी जाती है—आधुनिक युग मे 'राजनीति' शब्द का प्रयोग विकृत अर्थ मे किया जाने लगा है। आजकल 'राजनीति' शब्द का प्रयोग धोखेबाजी, बेईमानी, सत्ता प्राप्त करने की कला, आदि बुरे अर्थों मे किया जाता है। साधारण बोलचाल मे किसी भ्रष्ट व्यक्ति के लिए राजनीतिज्ञ शब्द का प्रयोग किया जाता है। सर अर्नेस्ट बेन के शब्दों मे, "राजनीति कठिनाइयो का आवाहन करने, उन्हे खोज निकालने, उनका गलत कारण बतलाने तथा उनका गलत हल खोज निकालने की कला है।"[1] इसमे नैतिक मूल्यो का महत्व कम हो जाता है तथा सफलता प्राप्ति का महत्व बढ जाता है। सफलता चाहे नैतिक अथवा अनैतिक किन्ही भी साधनो से प्राप्त की जाय। इसलिए 'राजनीति' शब्द मे स्वार्थ की गन्ध आती है।

(3) राजनीति मे एकरूपता का अभाव पाया जाता है—राजनीति की विषय-सामग्री मे एकरूपता की कमी पाई जाती है। एक देश की राजनीति दूसरे देश की राजनीति से तथा एक दल की राजनीति दूसरे दल की राजनीति से भिन्न होती है। यही नही, बल्कि एक ही देश तथा दल की राजनीति विभिन्न समय मे भिन्न भिन्न हो सकती है। ऐसी स्थिति मे 'राजनीति' की अध्ययन सामग्री मे एकरूपता का अभाव है। इसके विपरीत राजनीतिशास्त्र राज्य तथा सरकार के मौलिक सिद्धान्तो का अध्ययन करता है। इन सिद्धान्तो मे एकरूपता पाई जाती है। समय तथा स्थान की भिन्नता का इन मौलिक सिद्धान्तो पर कोई विशेष प्रभाव नही पडता।

उपर्युक्त कारणो से हम इस विषय को राजनीति की सज्ञा नहीं दे सकते।

राजनीति दर्शन (Political Philosophy)—बहुत से विद्वान राज्य से सम्बन्धित विषय को राजनीति-दर्शन कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं। उनका एक तर्क तो यह है कि राजशास्त्र दर्शनशास्त्र का ही एक अग है। दर्शनशास्त्र सम्पूर्ण विश्व का अध्ययन करता है और राजशास्त्र विश्व के केवल एक पक्ष का जिसे हम राजनीतिक पक्ष कहते हैं। अत सम्पूर्ण विश्व के राजनीतिक पक्ष का अध्ययन करने वाले विषय को राजनीति-दर्शन कहना उचित ही है। उनका दूसरा तर्क यह है कि इस विषय के अन्तर्गत हम व्यावहारिक राजनीति का अध्ययन न करके विशेष रूप से राजनीतिक सिद्धान्तो एव विचारो का अध्ययन करते हैं। दूसरे शब्दो मे हम यह कह सकते हैं कि यह विषय राज्य के सैद्धान्तिक पक्ष का ही अध्ययन करता है। इसमे व्यावहारिक राजनीति को कोई स्थान नही है। उदाहरण के लिए, इसमे राज्य की उत्पत्ति, उसकी प्रकृति, उसका विकास, उद्देश्य, अधिकारो एव कर्तव्यो तथा अन्य राजनीतिक विचारों का अध्ययन होता है और इस तरह इस विषय का अध्ययन सैद्धान्तिक राजनीति तक

1 "The act of looking for trouble, finding it whether it exists or not diagnosing wrongly, and applying the wrong remedy."
—Sir Ernest Benn

ही सीमित है। इसके अतिरिक्त इस विषय के अध्ययन की प्रकृति सैद्धान्तिक के साथ-साथ दार्शनिक भी है। दार्शनिक केवल यह नहीं देखता कि कोई कार्य किस प्रकार हो रहा है बल्कि यह भी देखता है कि वह कार्य क्यों हो रहा है तथा उसे किस प्रकार होना चाहिए। यही बात इस विषय के अध्ययन के साथ है। जैसा कि होलोवेल ने लिखा है कि "राजनीति-दर्शन की रुचि इसमें अधिक नहीं है कि तथ्य कैसे घटित होते हैं बल्कि इसमें है कि क्या घटित होता है और क्यों।"[1] इसलिए विद्वानों के अनुसार इस विषय को राजनीति दर्शन का नाम दिया गया है।

इसके पक्ष में एक तीसरा तर्क यह भी दिया जाता है कि राजनीति दर्शन राजनीति विज्ञान का पूर्वगामी है तथा उसे आधार प्रदान करता है। गिलक्राइस्ट के शब्दों में "राजनीति-दर्शन इस दृष्टि से राजनीति विज्ञान का पूर्वगामी है क्योंकि राजनीति दर्शन की मौलिक मान्यताओं पर ही राजनीति विज्ञान आधारित है।"[2]

राजनीति-दर्शन शब्द पर आपत्ति इस विषय के लिए राजनीति दर्शन की संज्ञा देने पर निम्नलिखित आपत्तियाँ हैं

(1) यह इस विषय का अधूरा ज्ञान कराता है—राजनीति दर्शन राज्य सम्बन्धी विषयों का पूर्ण ज्ञान नहीं कराता। इस शब्द के अन्तर्गत राज्य सम्बन्धी समस्त विषयों का अध्ययन नहीं आता। जैसा कि ऊपर बताया गया है कि राजनीति के दो पक्ष होते हैं—सैद्धान्तिक राजनीति तथा व्यावहारिक राजनीति। जहाँ तक राजनीति-दर्शन का सम्बन्ध है उसमें सैद्धान्तिक राजनीति का अध्ययन तो अवश्य कराया जाता है। परन्तु उसमें व्यावहारिक राजनीति की विवेचना नहीं की जाती। इस विषय का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए राजनीति के दोनों पक्षों का अध्ययन समान रूप से महत्त्वपूर्ण है।

(2) इससे अनिश्चितता का बोध होता है—जैसा कि ऊपर कहा गया है कि राजनीति-दर्शन की प्रकृति सैद्धान्तिक के साथ साथ दार्शनिक भी है। साधारण भाषा में दार्शनिक उस व्यक्ति को कहा जाता है जो कल्पना लोक में विचरता रहता तथा जीवन की वास्तविकताओं से दूर रहता है। यदि हम इस विषय के लिए 'दर्शन' शब्द का प्रयोग करें तो इससे यही आभास होगा कि राजनीति दर्शन में राज्य की समस्याओं पर कल्पना के आधार पर विचार किया जाता है, वास्तविकता के आधार पर नहीं।

(3) यह शब्द विषय की प्रकृति के अनुकूल नहीं—राज्य से सम्बन्धित विषय

---

1 "Political Philosophy is not so much interested in how things occur as it is in what occurs and why" —J H. Hollowell

2 "Political Philosophy is in a sense prior to Political Science since the fundamental assumptions of the former are the bases of the latter." —Gilchrist

प्रकृति की दृष्टि से एक कला भी है तथा विज्ञान भी है। राजनीति-दर्शन शब्द से उसके कला होने का बोध तो हो जाता है परन्तु उसके विज्ञान होने का बोध नहीं होता। अत यह शब्द इस विषय की सही प्रकृति के अनुकूल नहीं है।

उपरोक्त कारणों से इस विषय के लिए राजनीति-दर्शन का नाम देना अधिक उपयुक्त नहीं है।

राजनीति विज्ञान (Political Science)—राज्य सम्बन्धी विद्या का सही और पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि से इस विषय के लिए राजनीति-विज्ञान की सज्ञा देना सबसे अधिक उपयुक्त है। इसके पक्ष मे निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते हैं

सर्वप्रथम राजनीति-विज्ञान शब्द के अन्तर्गत राजनीति तथा राजनीति-दर्शन दोनों का अध्ययन क्षेत्र आ जाता है और इस प्रकार यह शब्द इस विषय के अध्ययन क्षेत्र की दृष्टि से सर्वाधिक उपयुक्त है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि 'राजनीति' का सम्बन्ध केवल व्यावहारिक पक्ष से है तथा राजनीति दर्शन का सम्बन्ध केवल सैद्धान्तिक पक्ष से है। राजनीति विज्ञान, राजनीति तथा राजनीति-दर्शन दोनों का समन्वय करता है। दूसरे शब्दों मे हम यह कह सकते हैं कि राजनीति-विज्ञान राज्य के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों पक्षों का अध्ययन करता है और इस प्रकार राजनीति विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत राज्य सम्बन्धी समस्त विषयों तथा कार्यकलापों का अध्ययन आ जाता है।

द्वितीय, राज्य सम्बन्धी विषयो तथा समस्याओ का क्रमबद्ध ढग से अध्ययन किया जाता है। अत इस विद्या को ऐसा नाम दिया जाना चाहिए जो इसके वैज्ञानिक स्वरूप को प्रकट करे। राजनीति-विज्ञान ऐसा ही शब्द है जो इस विषय के वैज्ञानिक स्वरूप को प्रकट करता है जबकि राजनीति तथा राजनीति दर्शन दोनों इस विषय को केवल कला का रूप प्रदान करते हैं।

इस प्रकार राजनीति विज्ञान की सज्ञा राज्य सम्बन्धी विषय को पूर्णता, वैज्ञानिकता तथा सुनिश्चितता प्रदान करती है। अत यह सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत होता है कि हम अपने विषय के लिए राजनीति विज्ञान शब्द को अपना लें। गैटल, सीले, बर्गेस, विलोबी, गार्नर सीकॉक, गिलक्राइस्ट आदि अनेक प्रमुख विचारकों का यही मत है। गिलक्राइस्ट का कथन है कि "विवेक तथा प्रयोग के दृष्टिकोण [redacted] राजनीति-विज्ञान ही सर्वाधिक उचित नाम है।"[1] इसी तरह सन् 1948 मे यूनेस्को के तत्त्वावधान मे ससार के प्रमुख राजनीतिशास्त्रियों का जो सम्मेलन हुआ उसमे भी राजनीति विज्ञान शब्द को ही सर्वोत्तम मानकर स्वीकार किया गया।[2]

---

1 "Both reason and usage, therefore, justify the name of Political Science" —Gilchrist, R N.

[redacted] See *Contemporary Political Science*, UNESCO, Paris, 1950, p 4

राजनीति विज्ञान एक अथवा अनेक—कुछ फ्रांसीसी विचारकों का यह मत है कि राजनीति विज्ञान एक नहीं, अनेक हैं। इसलिए वे इस शब्द का प्रयोग एकवचन में न करके बहुवचन में करते हैं। उनका विचार है कि राज्य एक ऐसा संगठन है जिसके विभिन्न पहलू हैं, जैसे संविधान, लोक प्रशासन अन्तर्राष्ट्रीय विधि, तुलनात्मक राजनीति कूटनीति, इत्यादि। किसी भी एक विज्ञान के द्वारा इन सभी पहलुओं का अध्ययन करना अत्यन्त कठिन है। ये विभिन्न पहलू स्वयं स्वतन्त्र ज्ञान के रूप में विकसित हो गये हैं और इनका अध्ययन करने के लिए अलग-अलग विज्ञानों का विकास हो चुका है। राजनीति विज्ञान इन सभी विज्ञानों का समावेश करता है। अतः राजनीति विज्ञान के स्थान पर राजनीति-विज्ञानों (Political Sciences) अथवा अनेक राजनीति विज्ञान कहना अधिक उपयुक्त है। हॉल्टजेनडार्फ लेविस तथा गिडिंग्स ने राजनीति विज्ञान का बहुवचन के रूप में प्रयोग किया है।

परन्तु फ्रांसीसी विचारकों के मत को स्वीकार करने में कई आपत्तियाँ हैं। प्रथम तो, फ्रांसीसी विचारकों ने ज्ञान की जिन शाखाओं का उल्लेख किया है उनमें से कुछ ने एक स्वतन्त्र विषय का रूप ग्रहण कर लिया है। उदाहरण के लिए लोक-प्रशासन ने स्वतन्त्र विषय का रूप प्राप्त कर लिया है। आज के युग में सामाजिक कार्यकलाप और गतिविधियाँ इतनी अधिक व्यापक जटिल हो गई हैं कि कोई एक विषय उनका भली प्रकार अध्ययन नहीं कर सकता। अतः इन विषयों के सम्यक विकास के लिए यह आवश्यक है कि इन्हें ज्ञान की स्वतन्त्र शाखाओं के रूप में स्वीकार किया जाए।

द्वितीय, राजनीति विज्ञान के अतिरिक्त, फ्रांसीसी विचारकों ने जिन विषयों का उल्लेख किया है उनमें से कोई भी शक्ति सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन नहीं करता और न वे प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक कार्यकलापों से सम्बन्धित हैं। सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करते हुए वे ज्ञान की स्वतन्त्र शाखाएँ बन चुके हैं।

तीसरे राज्य से सम्बन्धित विज्ञान को विभिन्न स्वतन्त्र शाखाओं में विभाजित करने से उसकी पूर्णता नष्ट हो जायगी। वह एक पूर्ण विज्ञान के रूप में नहीं रह जायेगा। अतः राजनीति विज्ञान का एकवचन में प्रयोग ही अधिक उपयुक्त होगा। सितम्बर 1948 में यूनेस्को भवन, पेरिस में होने वाले सम्मेलन में विभिन्न देशों के राजनीतिशास्त्रियों ने भी यही निर्णय लिया कि राजनीति-विज्ञान शब्द का प्रयोग बहुवचन में न किया जाए।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि अपने इस विषय के लिए राजनीति विज्ञान शब्द ही अधिक उपयुक्त एवं सर्वोत्तम है।

क्या राजनीति विज्ञान एक विज्ञान है ?
(Is Political Science a Science)

राजनीति विज्ञान विज्ञान है अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में विद्वानों में भारी मतभेद है। एक ओर तो अरस्तू जैसे विद्वान राजनीति विज्ञान को सर्वश्रेष्ठ अथवा सर्वोच्च विज्ञान (Master Science) और बर्नार्ड शॉ इसे मानवीय सभ्यता को

अंत रख सकने वाला विज्ञान मानते हैं तो दूसरी ओर बकिल, कॉम्टे, मेटलैण्ड, चार्ल्स बीयर्ड, ब्राइस, बर्क, केटलिन, बार्कर आदि विद्वान हैं, जो राजनीति विज्ञान को विज्ञान के रूप मे स्वीकार नही करते। यहाँ पर हम इस बात की विवेचना करेंगे कि राजनीति विज्ञान विज्ञान है अथवा नही।

राजनीति विज्ञान 'विज्ञान' नहीं है

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि बहुत से राजनीतिक विचारक राजनीति विज्ञान को विज्ञान की श्रेणी म नहीं रखते। बकिल ने तो यहाँ तक कहा है कि "ज्ञान की वर्तमान अवस्था मे राजनीति का विज्ञान होना तो दूर रहा, वह कलाओ मे भी सबसे पिछड़ी हुई कला है।"[1]

समाजशास्त्र के जन्मदाता ऑगस्ट कॉम्टे भी राजनीति विज्ञान को विज्ञान नहीं मानते। उनके शब्दो मे 'राजनीति के विशेषज्ञ इसकी अध्ययन विधियो, सिद्धान्तो एवं निष्कर्षों के सम्बन्ध मे एकमत नहीं हैं। इसमे विकास की निरन्तरता नही पाई जाती है तथा इसमे ऐसे तत्त्वो का अभाव है जिनके आधार पर हम भविष्य के लिए पहले से कुछ कह सकें।'[2]

मेटलैण्ड ने भी इस बात पर दुःख प्रकट किया कि राजनीति के लिए विज्ञान शब्द का प्रयोग किया जाता है। उन्होंने बड़े व्यंगपूर्ण शब्दो मे यह कहा कि "जब मैं 'राजनीति विज्ञान' के शीर्षक के अन्तर्गत परीक्षा प्रश्नो को देखता हूं तो मुझे प्रश्नों पर नहीं बल्कि शीर्षक पर खेद होता है।"[3]

चार्ल्स बीयर्ड के अनुसार, "न यह सम्भव है और न वाछनीय ही है कि राजनीति का एक विज्ञान हो।"

केटलिन का भी कथन है कि "अभी तक किसी मान्य अर्थ मे राजनीति एक विज्ञान नहीं बन पाई।"

ब्राइस का भी यही मत है कि 'राजनीति के लिए विज्ञान बन सकना लगभग असम्भव है।"

अर्नेस्ट बार्कर भी राजनीति के अध्ययन के साथ विज्ञान की सज्ञा के मेल को पसन्द नही करते।

यद्यपि उक्त विचार आज से काफी समय पूर्व व्यक्त किय गये थे और इस बीच

---

1. "In the present state of knowledge, Politics so far being a science, is one of the most backward of all the arts"— Buckle
2. "There [redacted] no consensus of opinion among experts, (a) as to its methods, principles and conclusions, (b) it lacks continuity of development, and (c) it lacks the elements which constitute a basis of provision" —August Comte
3. "When I see a good set of examination questions headed by the word 'Political Science' I regret [redacted] the questions but the title" —Maitland

मे राजनीति विज्ञान ने काफी उन्नति कर ली है। फिर भी यह आवश्यक हो जाता है कि इस विषय की विवेचना करने से पहले हम विज्ञान शब्द के अर्थ को भली प्रकार समझ ले।

विज्ञान शब्द का अर्थ—विज्ञान ज्ञान की वह शाखा है जो तथ्यो को व्यवस्थित रूप मे एकत्रित करती है और सामान्य नियमो को खोज निकालने का प्रयत्न करती है।[1] सबसे पहले इसमे तथ्यो को एकत्रित किया जाता है तथा कार्य और कारण के बीच सम्बन्ध प्रदर्शित करते हुए कुछ सर्वमान्य निष्कर्षों तक पहुँचने का प्रयत्न किया जाता है। हक्सले के अनुसार विज्ञान युक्ति और साक्ष्य पर आधारित एक सम्यक ज्ञान है। शेपर्ड ने विज्ञान के तीन लक्षण बताये हैं—(1) एक सक्षिप्त, सगत और सम्बद्ध ज्ञान की सम्भावना, (2) तथ्यो को क्रमबद्ध करना, उनमे कार्य और कारण के बीच सम्बन्ध स्थापित करके कुछ सामान्य निष्कर्ष निकालने तथा पूर्व कथन करने की क्षमता, और (3) प्राप्त निष्कर्षों की जाँच की सम्भावना। कार्ल फ्रेडरिच ने इसमे दो नई बाते जोड़ने का सुझाव दिया है (1) अध्ययन विधि के सम्बन्ध मे व्यापक सहमति, और (2) इसके अध्ययन मे लगे हुए व्यक्तियो का समुचित प्रशिक्षण।[2]

राजनीति विज्ञान को विज्ञान मानने पर आपत्ति—जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि अनेक विद्वान राजनीति विज्ञान को विज्ञान के रूप मे स्वीकार नही करते। वे अपने पक्ष मे निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं

(1) **सर्वमान्य सिद्धान्तो का अभाव**—राजनीति विज्ञान के सिद्धान्तो के विषय मे सभी विद्वान एक मत नही हैं। उदाहरण के लिए, यदि कुछ विद्वान लोकतन्त्र को सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था बताते हैं तो दूसरी ओर कुछ अन्य कुलीनतन्त्र को अच्छी व्यवस्था बताते हैं। इसी प्रकार कुछ विद्वानो के अनुसार ससदीय सरकार सर्वोत्तम है तो दूसरो के अनुसार अध्यक्षात्मक सरकार अधिक उपयुक्त बताई जाती है। इसी तरह कुछ की राय मे राज्य की ससद मे दो सदन अधिक उपयोगी हैं जबकि कुछ दूसरे लोग एक सदन वाली ससद को राज्य की प्रगति के लिए अधिक लाभदायक समझते हैं। इसी तरह कुछ राजनीतिक विचारधाराओ के अनुसार (व्यक्तिगत) राज्य के कार्य कम से कम होने चाहिए जबकि दूसरी ओर समाजवाद जैसी विचारधारा के अनुसार राज्य को समाज के आर्थिक कार्यों का भी सचालन करना चाहिए। कुछ राज्य को एक श्रेष्ठ एव सर्वोच्च सस्था मानते हैं तो कुछ अन्य उसे एक शोषण करने वाली सस्था मानते है। अत सर्वमान्य सिद्धान्तो के अभाव मे हम उसे विज्ञान नही कह सकते।

(2) **निश्चित एव शाश्वत नियमों का अभाव**—विज्ञान की यह विशेषता है कि उसके नियम निश्चित एव शाश्वत होते हैं तथा उसके निष्कर्ष सभी कालो तथा स्थानो के लिए एक समान होते हैं। उदाहरण के लिए, अकगणित का यह नियम कि

1 *American College Dictionary*, New York, 1974 p 1086
2 N N Agarwal राजनीति विज्ञान के मूल सिद्धान्त, p 24

दो और दो चार होते हैं एक निश्चित तथा शाश्वत नियम है। इसी प्रकार भौतिक-शास्त्र का यह नियम कि गुरुत्वाकर्षण की शक्ति के कारण प्रत्येक पदार्थ पृथ्वी की ओर खिंचता है, सब दशाओं में सही रहने वाला नियम है। इसी तरह रसायनशास्त्र का यह नियम कि हाइड्रोजन और ऑक्सीजन को क्रमशः दो और एक के अनुपात में मिलाने से पानी बन जाता है, एक निश्चित एवं शाश्वत नियम है। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि प्राकृतिक विज्ञानों के निष्कर्ष शुद्ध तथा नियम निश्चित एवं शाश्वत होते हैं। यह बात राजनीति विज्ञान के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती। उसमें न तो ऐसे नियम स्थापित किये जा सकते हैं जो सब समयों तथा सब स्थानों के लिए एक समान हों और न उसके निष्कर्ष इतने शुद्ध तथा निश्चित होते हैं। अतः निश्चितता एवं शाश्वतता के अभाव में हम राजनीति विज्ञान को विज्ञान नहीं कह सकते।

(3) कार्य और कारण का सम्बन्ध निश्चित नहीं—विज्ञान में कार्य और कारण के बीच सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए यदि हम पानी को एक निश्चित मात्रा तक गर्म करें तो वह भाप में बदल जायेगा। यह काम हम किसी भी देश में करें परिणाम यही होगा। परन्तु राजनीति विज्ञान में कार्य और कारण के बीच सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। इसमें यह बताना कठिन होगा कि किस राजनीतिक घटना के पीछे कौनसा कारण प्रमुख है। उदाहरण के लिए स्पष्ट रूप से ही यह कहना कठिन होगा कि फ्रांस की क्रान्ति वहाँ के दार्शनिकों के विचारों के परिणामस्वरूप हुई अथवा वहाँ की दोषपूर्ण राजनीति एवं सामाजिक व्यवस्था के कारण हुई। इसका कारण यह है कि राजनीतिक घटनाओं के पीछे अनेक पेचीदे कारण होते हैं। राजनीति विज्ञान में एक ही कारण से विभिन्न देशों में भिन्न भिन्न परिणाम हो सकते हैं, अतः उसे विज्ञान की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता।

(4) पर्यवेक्षण तथा परीक्षण सम्भव नहीं—प्राकृतिक विज्ञानों में पर्यवेक्षण तथा परीक्षण के द्वारा एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। एक वैज्ञानिक प्रयोगशाला में जाकर किसी पदार्थ पर प्रयोग कर सकता है तथा उस पर प्रभाव एवं परिवर्तन की प्रक्रिया को बारीकी से पर्यवेक्षण कर सकता है। परन्तु राजनीति विज्ञान में पर्यवेक्षण तथा परीक्षण सम्भव नहीं है। राजनीति विज्ञान के लिए अलग से कोई प्रयोगशाला नहीं बन सकती। एक राजनीतिक अनुसन्धानकर्ता अपनी अध्ययन सामग्री अर्थात् मनुष्यों को प्रयोगशाला की स्थितियों में रखकर उनका अध्ययन नहीं कर सकता और न वह अपने निष्कर्षों अथवा सिद्धान्तों की समुचित जाँच या परीक्षा ही कर सकता है। इस सम्बन्ध में ब्राइस ने कहा है कि "भौतिक विज्ञान में एक निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए बार-बार प्रयोग किया जा सकता है परन्तु राजनीति में एक प्रयोग बार-बार नहीं दोहराया जा सकता क्योंकि उसी प्रकार की दशाएँ दुबारा नहीं पैदा की

जा सकती, जैसे कि कोई एक ही नदी में दुबारा नहीं गिर सकता।'[1] इसके अतिरिक्त प्राकृतिक विज्ञानों के प्रयोग के विषय निर्जीव पदार्थ होते हैं जो समान दशाओं में समान रूप से व्यवहार करते हैं परन्तु राजनीति विज्ञान के प्रयोग के विषय मनुष्य हैं जो सजीव होते हैं। मानव व्यवहार के अध्ययन में प्राकृतिक विज्ञानों के विषय जैसी एकरूपता नहीं होती। मनुष्यों के उद्देश्य प्राय मिश्रित और जटिल होते हैं। उनके स्वभाव में भिन्नता होती है। उसको विवेक तथा इच्छा शक्ति प्राप्त है। अत. एक ही स्थिति में विभिन्न व्यक्तियों का व्यवहार भिन्न हो सकता है। इस प्रकार अन्य विज्ञानों की तरह राजनीति विज्ञान में पर्यवेक्षण तथा परीक्षण सम्भव नहीं है अत हम उसे विज्ञान नहीं कह सकते।

(5) **सही माप-जोख की कमी**—प्राकृतिक विज्ञानों के समान राजनीति विज्ञान में शुद्ध एवं सही माप सम्भव नहीं है। इसका कारण यह है, जैसा कि ऊपर बताया गया है कि प्राकृतिक विज्ञानों की विषयवस्तु निर्जीव है परन्तु राजनीति विज्ञान की विषयवस्तु सजीव है। मनुष्य की भावना विचार, आवेग, उत्तेजना, क्रोध, प्रेम इत्यादि संवेग उसके राजनीतिक व्यवहार को प्रभावित करते हैं। मानव व्यवहार को प्रवाहित करने वाले ये तत्व अदृश्य एवं अस्पष्ट हैं, इन्हें मापना सम्भव नहीं। फिर प्राकृतिक वैज्ञानिकों को तो माप-जोख के उपकरण उपलब्ध हैं वे ताप या गैस का दबाव ठीक ठीक माप सकते हैं परन्तु राजनीतिशास्त्री के पास ऐसे कोई उपकरण नहीं जिससे वह मनुष्य की भावना या विचार के आवेश को सही रूप में माप सके।

(6) **भविष्यवाणी सम्भव नहीं**—प्राकृतिक विज्ञानों के नियम निश्चित होते हैं अत उनके आधार पर भविष्य के सम्बन्ध में भविष्यवाणी की जा सकती है। उदाहरण के लिए, बहुत पहले यह सही-सही बतलाया जा सकता है कि किस दिन और किस समय चन्द्रग्रहण या सूर्यग्रहण लगेगा। लेकिन राजनीतिक विज्ञान में पहले यह नहीं बतलाया जा सकता कि किसी कानून विशेष का जनता पर क्या असर पड़ेगा, अथवा चुनाव में किस राजनीतिक दल की विजय होगी। प्राय यह देखने में आया है कि भारत, इंगलैण्ड, अमेरिका आदि देशों में चुनावों के समय अनेक अनुसन्धाता, लोकमत का संग्रह कर, यह भविष्यवाणी करते हैं कि कौन व्यक्ति अथवा राजनीतिक दल चुनाव में विजयी होगा। परन्तु सावधानी बरतने पर भी अनेक बार उनकी भविष्यवाणी सही नहीं निकलती।

(7) **अध्ययन वस्तुनिष्ठ और निरपेक्ष नहीं**—राजनीति विज्ञान में तथ्यों को

---

1 'Experiment can be tried in Physics over and over again till a conclusive result is reached, but that which we can experiment in Politics can never be repeated because the conditions can never be exactly reproduced, as one cannot step twice into the same river."

—Bryce

एकत्रित करने, उनको विधिवत् सजाने और उनसे निष्कर्ष निकालने में राजनीतिक अनुसन्धाता का अपना व्यक्तित्व और उसका दृष्टिकोण भी कुछ न कुछ प्रभाव डाले बिना नहीं रहता। भौतिक और प्राकृतिक वैज्ञानिकों के समान वह पूरी तरह वस्तुनिष्ठ और निरपेक्ष नहीं रह सकता। उसका पालन पोषण, शिक्षा, सामाजिक वातावरण, व्यवसाय आदि उसके दृष्टिकोण को प्रभावित किये बिना नहीं रहते।

(8) परिभाषा एवं अध्ययन पद्धतियों के सम्बन्ध में मतैक्य का अभाव—प्राकृतिक विज्ञानों की यह विशेषता है कि उनमें परिभाषा, शब्दावली एवं अध्ययन पद्धतियों के सम्बन्ध में विद्वानों के विचारों में निश्चितता तथा एकमतता होती है परन्तु राजनीति विज्ञान के लेखक इनके सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं। राजनीति विज्ञान की उतनी ही परिभाषाएँ हैं जितने उसके लेखक हैं। प्रजातन्त्र तथा समाजवाद जैसी अनेक धारणाएँ हैं जिनके कई अर्थ निकलते हैं।

उपरोक्त तर्कों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि राजनीति विज्ञान एक विज्ञान नहीं है। इसका समर्थन करते हुए बर्क ने कहा है कि 'जिस प्रकार सौन्दर्य-शास्त्र (Aesthetics) को विज्ञान की संज्ञा नहीं दी जा सकती, उसी प्रकार राजनीति विज्ञान को भी विज्ञान नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें कुछ भी निश्चित नहीं है। इसकी कोई सीमाएँ नहीं हैं, यह निरन्तर परिवर्तनशील है, इसमें मापदण्ड का अभाव है तथा इसकी निश्चित परिभाषा नहीं दी जा सकती।"

राजनीति विज्ञान एक विज्ञान है

उपरोक्त विचारों में सत्य का कुछ अंश अवश्य है। वस्तुतः प्रकृति से ही सामाजिक अध्ययन भौतिक अथवा प्राकृतिक विज्ञानों की तरह यथातथ्य नहीं हो सकते। फिर भी जब आलोचक राजनीति के विज्ञान बनने की सम्भावना को ही नहीं मानते तब वे एक ऐसी अति तक पहुँच जाते हैं जिसको स्वीकार नहीं किया जा सकता। सम्भवतः वे उस अध्ययन को वैज्ञानिक समझते हैं जिसके निष्कर्ष शुद्ध, स्पष्ट तथा यथातथ्य हों, जिसमें कार्य तथा कारण के बीच निश्चित सम्बन्ध पाया जाता हो और जिसमें पूर्वकथन अथवा भविष्यवाणी करने की क्षमता हो। विज्ञान के सम्बन्ध में यह विचार उचित नहीं माना जा सकता। उदाहरण के लिए, प्राकृतिक विज्ञानों में भी ऋतु विज्ञान आदि कुछ ऐसे ज्ञान हैं जो सही भविष्यवाणी नहीं कर पाते किन्तु उनको विज्ञान मानने में कोई आपत्ति नहीं करता। फिर सामाजिक विज्ञानों के सम्बन्ध में एक भिन्न कसौटी क्यों ?

वस्तुतः कोई अध्ययन वैज्ञानिक है अथवा नहीं, इस परख में उस ज्ञान की अध्ययन पद्धति (methodology) ही निर्णायक होनी चाहिए। यदि किसी ज्ञान की अध्ययन पद्धति वैज्ञानिक है तो फिर हम ऐसे ज्ञान को विज्ञान क्यों न कहें। गार्नर ने विज्ञान की परिभाषा देते हुए लिखा है कि 'विज्ञान किसी विषय से सम्बन्धित उस ज्ञान राशि को कहते हैं जो विधिवत् पर्यवेक्षण, अनुभव एवं अध्ययन के आधार पर प्राप्त की गई हो और जिसके तथ्य परस्पर सम्बद्ध, क्रमबद्ध तथा वर्गीकृत किये गए

हो।"[1] यदि इस परिभाषा के सन्दर्भ में हम राजनीति विज्ञान पर विचार करें तो हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि राजनीति विज्ञान एक विज्ञान है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि प्राचीनकाल से ही विद्वानों ने राजनीति को विज्ञान के रूप में स्वीकार किया है। अरस्तू ने राजनीति को सर्वोच्च विज्ञान (Master Science) बनाया है। बाद में बोदाँ हॉब्स तथा मॉण्टेस्क्यू ने भी इसको विज्ञान माना है। आधुनिक काल में राजनीति को विज्ञान मानने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। लेविस, सिजविक, ब्राइस ब्लुशली, जेलीनेक, गार्नर, आदि विद्वान राजनीति विज्ञान को विज्ञान की श्रेणी में रखते हैं। ब्राइस का कथन है कि "राजनीति विज्ञान उसी अर्थ में विज्ञान है जिस अर्थ में ऋतु विज्ञान विज्ञान है।" सर फ्रेडरिक पोलक का विश्वास है कि "जिस प्रकार नैतिकता एक विज्ञान है, उसी भाव में और उसी तरह अथवा लगभग उसी सीमा तक राजनीति भी विज्ञान है।"[2]

उपरोक्त विद्वान अपने पक्ष में अग्रलिखित तर्क देते हैं

(1) राजनीति विज्ञान का ज्ञान क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित है— विज्ञान बनने के लिए सबसे पहली आवश्यकता यह है कि उस विषय का अध्ययन क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित हो। राजनीति विज्ञान में यह विशेषता पूरी तरह पाई जाती है। उसका क्षेत्र निश्चित है तथा उसके अधिकांश नियम स्थापित हो गये हैं। राजनीति विज्ञान राज्य, सरकार व अन्य राजनीतिक संस्थाओं का क्रमबद्ध ज्ञान प्रस्तुत करता है। उदाहरण के लिए, राजनीति विज्ञान में राज्य की उत्पत्ति उसका विकास, उसके स्वरूप आदि का अध्ययन किया जाता है। आज उसका अध्ययन अधिक व्यवस्थित हो गया है। निर्णयों को तर्कसंगत बनाया जाता है। तथ्यों एवं आंकड़ों के रूप में प्रमाण एकत्रित किये जाते हैं। अध्ययनकर्ता अपने सिद्धान्तों को तथ्यों की नींव पर निर्मित करता है तथा वह अपने निष्कर्षों को अधिक से अधिक सामान्य बनाने का प्रयत्न करता है।

(2) सर्वमान्य सत्यों तथा सिद्धान्तों का विकास हुआ है—राजनीति विज्ञान में ऐसे अनेक निष्कर्ष निकल चुके हैं जिनके सम्बन्ध में विद्वान बहुत कुछ एकमत हैं। उदाहरण के लिए, आज विद्वानों में शायद ही इस बात पर मतभेद हो कि यदि प्रशासन

---

1 "A Science may be described as a fairly unified mass of knowledge relating to a particular subject, acquired by systematic observation, experience or study, the facts of which have been co-ordinated, systematised and classified" —Garner *Political Science and Government*, pp 11-12

2 "There is a science of Politics in the same sense and to the same or about the same extent, as there is a science of morals." —Sir Frederick Pollock

मे निपुणता लानी है तो लोक सेवाओ के पदो को अल्पकालीन अवधि के लिए निर्वाचन से न भरकर उनके लिए स्थायी नियुक्तियाँ की जानी चाहिए तथा लोकसेवक राजनीति मे भाग न लें। इसी प्रकार यदि हम चाहते हैं कि न्यायाधीश निष्पक्ष, निडर और स्वतन्त्र होकर कार्य करें तो उनके पद का कार्यकाल सुरक्षित होना चाहिए। इसी प्रकार, यदि शक्तियो का केन्द्रीयकरण कर दिया जाय और उस पर कोई अकुश न हो तो यह सम्भव है कि पदाधिकारी निरकुश बन जाए तथा उनमे उत्तरदायित्व की भावना समाप्त हो जाए और वास्तविकता तो यह है कि जैसे जैसे राजनीति विज्ञान उन्नति कर रहा है, इसके सर्वमान्य सत्यो और सिद्धान्तो की सख्या भी निरन्तर बढती जा रही है।

(3) कार्य और कारण मे पारस्परिक सम्बन्धो की स्थापना सम्भव है—राजनीति विज्ञान के विषय मे ऊपर यह कहा गया है कि यह विज्ञान इसलिए नही है क्योकि इसमे कार्य और कारण के बीच सम्बन्ध स्थापित नही किय जा सकते। परन्तु यह धारणा सही नही है। यह सत्य है कि प्राकृतिक विज्ञानो के समान इसमे कार्य और कारण के बीच सम्बन्ध स्थापित नही किया जा सकता परन्तु फिर भी कुछ विशेष घटनाओ के विधिवत अध्ययन से कुछ सामान्य निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। उदाहरण के लिए विभिन्न देशो मे हुई क्रान्तियो के विधिवत् अध्ययन से यह सामान्य निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जनता के प्रति शासको का अपमानजनक व्यवहार, आर्थिक असमानता, शोषण सामाजिक भेदभाव, अत्याचार शासन की अव्यवस्था, आदि ही सब देशो मे सामान्य रूप से विद्रोह के कारण रहे हैं। लार्ड ब्राइस ने इस सम्बन्ध मे कहा है कि 'मानव प्रकृति की प्रवृत्तियों मे एकरूपता तथा समानता पाई जाती है जिसकी सहायता से हम यह पता लगा सकते हैं कि एक ही प्रकार के कारणों से प्रभावित होकर मनुष्य प्राय एक ही प्रकार के कार्य करता है। मनुष्य के कार्यों का वर्गीकरण किया जा सकता है तथा इन्हें शृखलाबद्ध करके सामान्यतया प्रचलित प्रवृत्तियो के परिणाम रूप मे उनका अध्ययन किया जा सकता है।"[1]

(4) राजनीति विज्ञान मे पर्यवेक्षण तथा परीक्षण सम्भव है—यद्यपि राजनीति विज्ञान मे प्राकृतिक विज्ञानो के समान पर्यवेक्षण तथा परीक्षण नही किये जा सकते। परन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि इसमे पर्यवेक्षण तथा परीक्षण हो ही नही सकते। जहाँ तक पर्यवेक्षण का प्रश्न है, राजनीति विज्ञान के अध्ययन मे पर्यवेक्षण द्वारा हम

1 'There is a constancy and uniformity in the tendencies of human nature which enable us to regard the acts of men at one time as due to the same causes which have governed their acts at previous times Human acts can be grouped and connected can be arranged and studied as being the result of the same generally operative tendencies "—Lord Bryce *American Political Science Review*, 1909, part 3, pp 1-3.

अनेक ऐसे राजनीतिक तथ्यों का पता लगाते हैं जिन्हें वैज्ञानिक अर्थ में सत्य कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए लोकतन्त्रवाद का अब तक जो विकास हुआ है, उसका पर्यवेक्षण करके हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि लोकतन्त्र में राज्य-शक्ति का प्रयोग जनहित में होता है तथा जनता अपने अधिकारों के प्रति अधिक जागरूक रहती है। वर्तमान परिस्थितियों के पर्यवेक्षण के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वर्तमान राज्य का कार्यक्षेत्र सीमित न होकर व्यापक होना चाहिए। उसे जनहित में सभी कार्य करने चाहिए। इस प्रकार के अनेक निष्कर्ष पर्यवेक्षण द्वारा निकाले जा सकते हैं। अरस्तू, मॉन्टेस्क्यू, लॉर्ड ब्राइस आदि ने इसी पद्धति को अपनाया है।

जहाँ तक परीक्षण अथवा प्रयोग का प्रश्न है, इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राकृतिक विज्ञानों के समान राजनीति विज्ञान में हम किसी प्रयोगशाला में बैठकर मानव व्यवहार का अध्ययन नहीं कर सकते क्योंकि सम्पूर्ण संसार ही राजनीति विज्ञान की प्रयोगशाला है। फिर भी यह कहना उचित नहीं है कि राजनीति विज्ञान में परीक्षण होते ही नहीं हैं। वास्तविकता तो यह है कि जब राज्य में कोई नया कानून बनता है या नई नीति अथवा शासन व्यवस्था अपनाई जाती है तो एक प्रकार से वे राजनीतिक परीक्षण ही होते हैं। गार्नर ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "प्रत्येक नये कानून का निर्माण, प्रत्येक नई संस्था की स्थापना और प्रत्येक नई नीति का प्रारम्भ इस दृष्टि से एक प्रयोग ही होता है कि यह उस समय तक अस्थाई या प्रस्ताव रूप में ही समझा जाता है जब तक परिणाम उसके स्थायी होने की योग्यता सिद्ध न कर दें।"[1] भारत में लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की योजना शासन व्यवस्था में एक नया प्रयोग ही है।

(5) भविष्यवाणी की जा सकती है—इसमें कोई सन्देह नहीं कि राजनीति विज्ञान के निष्कर्ष प्राकृतिक विज्ञानों के समान न तो निश्चित होते हैं और न उनकी भविष्यवाणी उतनी शुद्ध ही होती है। हम मानते हैं कि हम सही-सही भविष्यवाणी नहीं कर पाते फिर भी हम सम्भाव्य सत्यों की खोज कर सकते हैं जैसा कि सैम्युल बटलर ने कहा है कि "सम्भावनाएँ हमारे जीवन का पथ प्रदर्शन करती हैं।" डॉ० फाइनर ने भी ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं। उनके अनुसार, "हम निश्चयपूर्वक भविष्यवाणी नहीं कर सकते परन्तु सम्भावनाएँ तो व्यक्त कर ही सकते हैं।"[2] उदाहरण के लिए हम मतदान व्यवहार (Voting behaviour) के आधार पर

1 "The enactment of every new law, the establishment of every new institution, the inauguration of every new policy is experimental in the sense that it is regarded merely as provisional or tentative until the results have proved its fitness to become permanent." —Garner.

2 "We can become the prophets of the probable, if not the seers of the certain." —Dr. Herman F

निर्वाचन सम्बन्धी भविष्यवाणी कर सकते हैं कि यद्यपि ये भविष्यवाणियाँ शत प्रतिशत सही नहीं हो सकती हैं लेकिन उसमें सत्य का अंश अवश्य रहेगा और वह काफी महत्त्वपूर्ण होगा। फिर सही भविष्यवाणी करने की क्षमता को ही हम विज्ञान की एकमात्र कसौटी नहीं मान सकते। इस आधार पर तो ऋतु विज्ञान जैसे विषय भी विज्ञान की श्रेणी में नहीं रखे जा सकते क्योंकि अनेक बार उनकी भविष्यवाणी गलत सिद्ध हो जाती है।

(6) **राजनीति विज्ञान एक आदर्शात्मक विज्ञान है**—राजनीति विज्ञान केवल एक यथार्थवादी (Positive) विज्ञान ही नहीं है जो तथ्यों को एकत्रित करता हो और कार्य तथा कारण के बीच सम्बन्ध स्थापित करता हो। यदि ऐसा होता तो राजनीति विज्ञान के विद्वानों में मतभेद की सम्भावना कम से कम होती। किन्तु राजनीति विज्ञान एक आदर्शात्मक विज्ञान भी है। वह केवल राजनीतिक तथ्यों तथा परिस्थितियों का ही अध्ययन नहीं करता बल्कि उनका मूल्यांकन करके कुछ उद्देश्यों तथा आदर्शों की भी स्थापना करता है।

उपरोक्त तर्कों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि राजनीति विज्ञान के 'विज्ञान' होने पर जिन विचारकों ने आपत्तियाँ उठाई हैं उनमें कुछ अधिक सार नहीं है। क्योंकि यदि किसी ज्ञान की अध्ययन पद्धति वैज्ञानिक है और उसके अनुसन्धान-कर्ता वैज्ञानिक ढंग से अपने अध्ययन और खोज में लगे हुए हैं तो कोई कारण नहीं कि हम ऐसे ज्ञान को विज्ञान न कहें। आधुनिक विद्वान इसी कारण उसे विज्ञान मानते हैं। यद्यपि हम उसे प्राकृतिक विज्ञानों के समान एक शुद्ध विज्ञान नहीं कह सकते परन्तु उसे हम एक आदर्शात्मक विज्ञान (Normative Science) अवश्य कह सकते हैं। किन्तु हमें यहाँ यह भी मानना पड़ेगा कि राजनीति विज्ञान अभी भी सामाजिक विज्ञानों में सबसे कम विकसित विज्ञान है। उसे विज्ञान का दृढ़ स्वरूप प्रदान करना आवश्यक भी है क्योंकि जैसा बर्नार्ड शॉ का विचार है कि **"इस विज्ञान के बिना मानव सभ्यता की रक्षा नहीं हो सकती।"**

राजनीति विज्ञान एक कला के रूप में
(Political Science is an Art)

किसी विषय के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह विज्ञान ही हो या कला ही हो। वह कला तथा विज्ञान दोनों भी हो सकता है। उदाहरण के लिए, हम चिकित्सा विज्ञान को ले लें, वह कला तथा विज्ञान दोनों है। विलियम एसलिंगर ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "विज्ञान और कला का परस्पर विरोधी होना आवश्यक नहीं है। कला एक विज्ञान पर आधारित हो सकती है।"[1] यही बात राजनीति विज्ञान पर लागू होती है।

अनेक विचारकों ने राजनीति को कला माना है। ब्लुशली के अनुसार,

---

1 *The Substance of Politics by Appodorai* p 7

"राजनीति विज्ञान की अपेक्षा एक कला अधिक है। इसका काम राज्य सम्बन्धो मे व्यावहारिक पथ प्रदर्शन करना है।"[1] इसी प्रकार बकिल ने भी, चाहे सबसे पिछडी हुई कला के रूप मे ही सही, राजनीति को एक कला के रूप मे स्वीकार किया है। कला का तात्पर्य ऐसे विज्ञान से है जिसका उद्देश्य मानव जीवन को सुन्दर बनाना है। कला हमे व्यावहारिक निर्देश देती है कि किस प्रकार वर्तमान जीवन की कमियो को दूर किया जाए तथा अपने आदर्शों को किस प्रकार प्राप्त किया जाए। जिस तरह सगीत अथवा चित्रकला हमारे जीवन को मधुर एव उज्वल बनाने का प्रयत्न करते है, उसी प्रकार राजनीति विज्ञान भी राज्य एव नागरिको के लिए आदर्शों की विवेचना कर हमारे जीवन को अधिक उन्नत एव सुखमय बनाने का प्रयत्न करता है। इस दृष्टिकोण से राजनीति विज्ञान भी एक कला है। फ्रेडरिक पोलक ने राजनीति का विभाजन करते हुए जिसे *व्यावहारिक राजनीति कहा है, उसका सम्बन्ध कला से ही अधिक है।* अत हम बकिल के इस कथन से सहमत नही हो सकते कि राजनीति विज्ञान एक पिछडी हुई कला है *बल्कि वास्तविकता तो यह है कि वह एक श्रेष्ठ एव उच्चस्तरीय कला है।*

अन्त मे हम यह कह सकते हैं कि राजनीति विज्ञान विज्ञान तथा कला दोनो है। जब वह सिद्धान्तो की विवेचना करता है तो वह विज्ञान है और जब वह *आदर्श जीवन की प्राप्ति मे सहायता देता है, तब वह कला है।*

राजनीति विज्ञान के अध्ययन की उपयोगिता

राजनीति विज्ञान के महत्त्व को स्वीकार करते हुए प्रसिद्ध विचारक अरस्तू ने इसे **सर्वोच्च विज्ञान** का स्थान दिया था। तब से आज तक राजनीति विज्ञान के अध्ययन क्षेत्र मे निरन्तर वृद्धि होती रही है। इसके साथ साथ राजनीति विज्ञान के अध्ययन की उपयोगिता और महत्त्व मे भी वृद्धि हुई है। यद्यपि आजकल कुछ लोगो मे राजनीति विज्ञान के अध्ययन के महत्त्व को कम करने की प्रवृत्ति है। गैटेल ने अपनी पुस्तक 'राजनीतिक चिन्तन का इतिहास' मे उन तर्कों की चर्चा की है जो इसके विपक्ष मे दिये गये हैं। उन लोगो के अनुसार राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध वास्तविकता से बहुत कम रहता है और व्यवहार मे इसका उपयोग हो ही नही सकता। राजनीति विज्ञान के विरोधी इमर्सन का विचार है कि "इसमे न तो कोई नवीनता है, न कोई सच्चाई है और न ही कोई सारपूर्ण बात है।"[2] परन्तु हम इन तर्कों को स्वीकार नही कर सकते। हम आइवर ब्राउन के इस विचार से सहमत है कि सामाजिक जीवन के वास्तविक महत्त्व के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण रखते हुए राजनीति

---

1 "Politics is more of an art than a science and has to be with practical conduct or guidance of state" —Bluntschli

2 "There is nothing new, nothing true and nothing which matters" —*Emerson*

विज्ञान का अध्ययन लाभप्रद और सारपूर्ण दोनों ही है।"[1] राजनीति विज्ञान के अध्ययन की उपयोगिता हम निम्नलिखित रूपों मे देख सकते हैं

(1) राज्य एवं सरकार का ज्ञान कराता है—राजनीति विज्ञान के अध्ययन से हमे राज्य के स्वरूप, उद्देश्य, संगठन एवं कार्यक्षेत्र आदि के बारे में जानकारी मिलती है। हमे यह पता चलता है कि अतीत म राज्य का स्वरूप क्या था तथा वह किन कार्यों को सम्पन्न करता था ? हम देखते हैं कि अतीत में राज्य का स्वरूप पुलिस राज्य के रूप मे था जबकि आज राज्य ने एक कल्याणकारी राज्य का रूप ग्रहण कर लिया है। यही नहीं, राजनीति विज्ञान में हमें भिन्न भिन्न विचारधाराओ तथा सरकार के संगठन एवं प्रकारों की जानकारी भी मिलती है। उनके अध्ययन के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि हमारे देश की परिस्थितियों के अनुरूप सरकार का कौन सा रूप तथा कौनसी विचारधारा सबसे अधिक उपयुक्त होगी। इस तरह राजनीति विज्ञान समय की माँग के अनुसार राज्य और सरकार के परिवर्तनशील स्वरूपो का ज्ञान कराता है।

(2) मनुष्य के अधिकार एवं कर्तव्यों का ज्ञान कराता है—राजनीति विज्ञान मनुष्य के अधिकार एवं कर्तव्यों का ज्ञान कराता है। मनुष्य को अपने व्यक्तित्व का विकास करने के लिए अधिकारो की आवश्यकता होती है परन्तु उसके सही अधिकार क्या हैं, यह हमे राजनीति विज्ञान के अध्ययन से ही मालूम होता है। मनुष्य के अधिकार समाज के हित के विरुद्ध नही होने चाहिए। हमे राजनीति विज्ञान के अध्ययन से केवल अधिकारो की जानकारी ही नही मिलती बल्कि उनके सही ढग से उपभोग करने की शिक्षा भी मिलती है। इसी तरह राजनीति विज्ञान के अध्ययन से हमें यह भी पता चलता है कि मनुष्य के समाज, राज्य तथा मानवता के प्रति क्या कर्तव्य हैं ? राजनीति विज्ञान का ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य राज्य के कानूनो का पालन करने, राज्य के प्रति श्रद्धा रखने राज्य के प्रति अपने दायित्वों को पूरा करने, समाज में शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखने, अपने अधिकारो की रक्षा एवं दूसरे के अधिकारो का सम्मान करने की प्रेरणा प्राप्त करते हैं। इसके अतिरिक्त राजनीति विज्ञान के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि जब तक मनुष्य के अधिकार एवं कर्तव्यो मे उचित सामंजस्य नही होगा तब तक समाज का विकास सम्भव नही। अत राजनीति विज्ञान मनुष्य को इस बात की प्रेरणा देता है कि वे समाज के हित का ध्यान रखते हुए अपने अधिकारो का उपभोग करें तथा समाज के प्रति अपने दायित्वों का पालन करें।

(3) मनुष्य के दृष्टिकोण को उदार तथा व्यापक बनाता है—वैज्ञानिक प्रगति के कारण सम्पूर्ण संसार आज एक इकाई बन गया है। संसार के सभी राष्ट्र अपनी

---

1 "Sensibly handled with a common sense attitude to the real value of social life, it (Political Theory) is both a concrete and fruitful study " —Ivar Brown

आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों पर निर्भर हैं। सभी राष्ट्रों का विकास तभी सम्भव है जब विश्व में शान्ति कायम रहे। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न राष्ट्रों के आपसी सम्बन्ध मधुर एवं सद्भावनापूर्ण हों। राजनीति विज्ञान राष्ट्रों की इसी पारस्परिक निर्भरता, विश्वशान्ति की आवश्यकता एवं पारस्परिक सद्भावना के महत्त्व का ज्ञान कराता है। राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का अध्ययन किया जाता है तथा इन समस्याओं का समाधान ढूँढने का भी प्रयत्न किया जाता है। राजनीति विज्ञान के अध्ययन से हमें इस बात की प्रेरणा मिलती है कि हम परिवार, ग्राम, नगर तथा राष्ट्र की सीमाओं से बाहर निकलकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की समस्याओं पर विचार करें। इसके अन्तर्गत हम संयुक्त-राष्ट्र जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के उद्देश्यों तथा विश्वशान्ति की स्थापना में उसके द्वारा किये जाने वाले महत्त्वपूर्ण कार्यों का अध्ययन करते हैं। इस अध्ययन से हम उग्र राष्ट्रवाद के दोषों से बचने, राष्ट्रों के आपसी तनाव समाप्त करने तथा दूसरे देशों के हितों का भी ध्यान रखने की प्रेरणा पाते हैं।

(4) राजनीतिक चेतना का विकास होता है—राजनीति विज्ञान के अध्ययन से मनुष्यों में राजनीतिक चेतना का विकास होता है। यदि नागरिकों में राजनीतिक चेतना का अभाव है तो न तो वे राज्य के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन कर सकेंगे और न सरकार के अनुचित कार्यों पर रोक लगाकर उसे भी अपने कर्तव्यों का पालन करने के लिए बाध्य कर सकेंगे। राजनीतिक चेतना से युक्त नागरिक अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं, सरकार को उसके सभी अच्छे और जन हितकारी कार्यों में पूर्ण सहयोग प्रदान करते हैं तथा सरकार के गलत कार्यों की आलोचना करके उसे निरंकुश बनने से रोकते हैं। राजनीतिक दृष्टि से जागरूक जनता अपने शासकों को कभी भ्रष्ट नहीं बनने देती। साथ ही साथ राजनीतिक चेतना मनुष्यों को इस बात की भी प्रेरणा देती है कि युद्ध अथवा आन्तरिक संकट के समय वे अपने सभी मतभेदों को भुलाकर सरकार के साथ पूर्ण सहयोग करें। इस तरह कोई भी राज्य अपने कल्याणकारी स्वरूप को नागरिकों के पूर्ण सहयोग तथा आवश्यक अंकुश के बिना प्राप्त नहीं कर सकता है। अतः हम देखते हैं कि राजनीति विज्ञान का अध्ययन मनुष्यों में राजनीतिक चेतना का विकास करके एक ओर शासन को जनहितकारी बनाये रखता है तथा दूसरी ओर उन्हें अपने दायित्वों का ईमानदारी से निर्वाह करने की प्रेरणा देता है।

(5) राजनीतिक प्रगति में सहायक होता है—राजनीति विज्ञान का अध्ययन राजनीतिक शब्दों को सटीक और सुनिश्चित अर्थ देता है और हमारे विचारों को स्पष्ट और निश्चित बनाता है। राजनीति विज्ञान के अध्ययन के बाद हम किसी भी राजनीतिक मामले पर तर्कपूर्ण ढंग से विचार कर सकते हैं। भूतकाल की राजनीतिक विचारधाराओं के ज्ञान से वर्तमान राजनीति और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को समझने में बहुत सहायता मिलती है। राजनीति विज्ञान के सिद्धान्तों को वर्तमान परिस्थितियों में लागू करके ही सन्तोषप्रद राजनीतिक प्रगति की जा सकती है। अतः राजनीति विज्ञान का अध्ययन काफी महत्त्वपूर्ण है।

(ब) "एक अनुभवजन्य अध्ययन के रूप मे, राजनीति विज्ञान शक्ति के निर्माण तथा साझेदारी का विषय है।" (लासवेल एव केपलन)

4 राजनीति विज्ञान के अर्थ, स्वरूप एव क्षेत्र के सन्दर्भ मे परम्परागत तथा आधुनिक दृष्टिकोणो को स्पष्ट कीजिए। (राजस्थान विश्व०, 1978)

5 राजनीति, राजनीति विज्ञान, राजनीति सिद्धान्त तथा राजनीति दर्शन का परीक्षण कीजिए। (राजस्थान विश्व०, 1977)

6 स्पष्ट कीजिए कि राजनीति विज्ञान का आधुनिक दृष्टिकोण किस प्रकार राजनीति विज्ञान के परम्परागत दृष्टिकोण की सीमाओ के निवारण का प्रयत्न करता है ?

7 "राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध राजनीति के अध्ययन से है उसके व्यवहार से नही।" (रावर्ट डहल) इस कथन की व्याख्या कीजिए।

8 परम्परागत एव आधुनिक परिभाषाओ के अनुसार राजनीति विज्ञान की प्रकृति तथा क्षेत्र की विवेचना कीजिए। इसमे समानता एव अन्तर भी बताइये। (राजस्थान विश्व०, 1976)

9 राजनीति विज्ञान की प्रकृति और कार्यक्षेत्र की व्याख्या कीजिए और इस सम्बन्ध मे परम्परागत और आधुनिक दृष्टिकोणो मे अन्तर स्पष्ट कीजिए। (राजस्थान विश्व०, 1975)

10 राजनीति विज्ञान से आप क्या समझते हैं ? इसके क्षेत्र का वर्णन कीजिए। (राजस्थान विश्व०, 1973)

11 राजनीति विज्ञान की आधुनिक परिभाषाएँ उसकी परम्परागत परिभाषाओ से किस प्रकार भिन्न हैं ? स्पष्ट कीजिए।

12 इस दावे का परीक्षण कीजिए कि राजनीति विज्ञान, विज्ञान एव कला दोनो है। (राजस्थान विश्व०, 1976)

13 इस दृष्टिकोण की विवेचना कीजिए कि राजनीति विज्ञान को प्राकृतिक विज्ञानो के अर्थ मे विज्ञान बनने की आकाक्षा नही करनी चाहिए क्योंकि राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध सजीव मानव से है।

14. "राजनीति विज्ञान प्राकृतिक विज्ञानो के वर्ग मे नही है, वह एक सामाजिक विज्ञान है।' स्पष्ट कीजिए।

15. निम्नलिखित कथनो की व्याख्या कीजिए तथा अपने उत्तर की पुष्टि मे तर्क दीजिए
    (अ) राजनीति विज्ञान एक विज्ञान है।
    (ब) *राजनीति विज्ञान एक विज्ञान नही हो सकता।*
    (स) राजनीति विज्ञान एक विज्ञान बन रहा है।

राजनीति विज्ञान की अध्ययन पद्धतियाँ

[METHODS OF STUDY OF POLITICAL SCIENCE]

> "जीव विज्ञान के लिए जो महत्त्व अणुवीक्षण यन्त्र का है और ज्योतिष विज्ञान के लिए जो महत्त्व दूरवीक्षण यन्त्र का है, वही महत्त्व सामाजिक विज्ञानों के लिए वैज्ञानिक पद्धति का है।"[1] —एलवुड

अध्ययन पद्धति की समस्या

प्रत्येक विषय के अध्ययन के लिए सुनिश्चित वैज्ञानिक पद्धति की आवश्यकता होती है। अध्ययन पद्धति के अभाव में किसी भी विषय का क्रमबद्ध विकास सम्भव नहीं है। पहले केवल प्राकृतिक विज्ञानों के अध्ययन के लिए ही पद्धतियों की आवश्यकता समझी जाती थी लेकिन आधुनिक काल में सामाजिक-शास्त्रों के लिए भी समान रूप से अध्ययन पद्धति पर जोर दिया जा रहा है। सर्वप्रथम, उन्नीसवीं शताब्दी में राजनीति-विज्ञान अनुसन्धान के योग्य समझा जाने लगा और तभी से विद्वानों ने राजनीति-विज्ञान के अध्ययन के लिए वैज्ञानिक पद्धतियों की खोज करना प्रारम्भ कर दिया। जिन विद्वानों ने राजनीति विज्ञान के अध्ययन की पद्धतियों के विकास में सबसे अधिक योग दिया है उनमें *ऑगस्ट कॉम्टे (Auguste Comte)*, जॉन स्टुअर्ट मिल (J S Mill), अलेक्जेण्डर बेन (Alexander Bain), लेविस (Lewis), लार्ड ब्राइस (Lord Bryce), ब्लुश्ली (Bluntschli) तथा देसलेन्ड्रे (Deslandres) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। परन्तु राजनीति की अध्ययन विधियों के विषय में विद्वानों में मतैक्य कभी नहीं हो सका। काम्टे के अनुसार सामाजिक विषयों के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए तीन मुख्य पद्धतियाँ हैं—पर्यवेक्षण (Observation), प्रयोग *(Experiment)* तथा तुलना *(Comparison)*। मिल ने चार पद्धतियों का उल्लेख किया है—रासायनिक या प्रयोगात्मक, रेखागणित या अमूर्त प्रणाली, भौतिक तथा ऐतिहासिक। इनमें से पहली दो पद्धतियों को वह गलत समझता है तथा अन्तिम दो को सही मानता है। ब्लुश्ली के मतानुसार राजनीतिक अनुसन्धान के लिए केवल

---

1 "What microscope is to Biology or the telescope to Astronomy, a scientific method is to the Social Sciences"—Elwood

दार्शनिक और ऐतिहासिक पद्धतियां ही सही पद्धतियां हैं। जेम्स ब्राइस के अनुसार पर्यवेक्षण अथवा अवलोकन, प्रयोग और तुलना पद्धति ही राजनीति विज्ञान के अध्ययन के लिए उपयुक्त है। फ्रांसीसी विचारक देसलेन्ड्रे ने इसके अध्ययन के लिए छ पद्धतियां बताई हैं—सामाजिक, तुलनात्मक, सैद्धान्तिक, न्याय सम्बन्धी, सद्भावना सम्बन्धी, तथा ऐतिहासिक। गार्नर ने भी तुलनात्मक पद्धति को ही सर्वोत्तम माना है।

प्रमुख अध्ययन पद्धतियां

उपरोक्त पद्धतियों में से कोई भी एक पद्धति राजनीति विज्ञान की सभी समस्याओं का समाधान नहीं कर सकती। फिर भी राजनीति विज्ञान के अध्ययन के लिए विचारकों ने सामान्य रूप में जिन प्रमुख पद्धतियों को अपनाया है, वे निम्नलिखित हैं :

(1) प्रयोगात्मक पद्धति (Experimental Method)
(2) ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method)
(3) तुलनात्मक पद्धति (*Comparative Method*)
(4) पर्यवेक्षण पद्धति (Observational Method)
(5) दार्शनिक पद्धति (Philosophical Method)
(6) सादृश्य पद्धति (Analogical Method)

(1) प्रयोगात्मक पद्धति (Experimental Method)

कुछ विद्वानों के अनुसार राजनीति-विज्ञान प्रयोगात्मक नहीं है। यह बात हम पहले ही कह चुके हैं कि राजनीति के क्षेत्र में रसायनशास्त्र और भौतिकशास्त्र की तरह प्रयोग नहीं किये जा सकते। एक रसायनज्ञ की अथवा भौतिकशास्त्री प्रयोग की किसी वस्तु को संसार की अन्य वस्तुओं से पृथक करके उसका अच्छी तरह निरीक्षण कर सकता है, उस पर अपनी इच्छानुसार प्रभाव डालकर उसकी प्रतिक्रियाओं का अवलोकन कर सकता है और अपने इस अध्ययन से कोई निष्कर्ष निकाल सकता है। परन्तु राजनीति विज्ञान में यह सम्भव नहीं क्योंकि उसकी विषयवस्तु मनुष्य है जो सजीव और विचारशील प्राणी है। इस सम्बन्ध में लॉर्ड ब्राइस का कथन है कि "भौतिक विज्ञान में हम एक ही प्रयोग का बार-बार उस समय तक दुहरा सकते हैं जब तक हम किसी निश्चित निष्कर्ष पर न पहुँच जायें। किन्तु राजनीति में प्रयोग दुहराए नहीं जा सकते क्योंकि एक ही प्रकार की परिस्थितियों की पुनरावृत्ति नहीं की जा सकती। इसी प्रकार भौतिक विज्ञान की तरह राजनीति के सम्बन्ध में भविष्यवाणी भी नहीं की जा सकती, उसमें तो केवल सम्भावनाएं ही व्यक्त की जा सकती हैं।"

---

1 "Experiments can be tried in Physics over and over again till a conclusive result is reached but that which are called an experiment in politics can never be repeated because the condition can never be exactly reproduced. *Prediction in Physics* may be certain, in politics it can at best be no more than probable." —Lord Bryce *Modern Democracies*.

इस तरह प्राकृतिक विज्ञानों के समान राजनीति विज्ञान में वैज्ञानिक प्रयोग सम्भव नहीं हैं। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि राजनीति विज्ञान में प्रयोग सम्भव ही नहीं हैं। वास्तविकता तो यह है कि राजनीति क्षेत्र में जाने या अनजाने में अनेक प्रयोग होते रहते हैं। सम्पूर्ण संसार ही राजनीति विज्ञान की एक प्रयोगशाला है। जैसा कि काम्टे ने कहा है कि "प्रत्येक राजनीतिक परिवर्तन एक प्रकार का प्रयोग है। प्रत्येक नया कानून, नई नीति और राजनीतिक संगठन में परिवर्तन इस अर्थ में प्रयोग है कि वह अन्तिम नहीं होता। उसका निश्चयात्मक रूप में स्वीकृत होना और न होना उसके स्थायी बनने की अपनी क्षमता सिद्ध करने पर है। उसे लागू करने पर यदि उसमें कोई दोष दिखाई दे तो उसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन किये जा सकते हैं और यदि वह पूर्णतः असफल हो जाए तो उसे वापस लिया जा सकता है।" गिलक्राइस्ट का भी यही मत है कि "सरकार के स्वरूप में किया गया कोई भी परिवर्तन, प्रत्येक नया कानून और प्रत्येक युद्ध राजनीति विज्ञान में एक प्रयोग ही होता है।"[1]

राजनीति के क्षेत्र में किये गये इस प्रकार के प्रयोगों के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, हम सन् 1916 ई० के लखनऊ समझौते, सन् 1919 ई० के भारत शासन अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तों में द्वैध शासन की स्थापना, सन् 1935 ई० के अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तीय स्वायत्तता की स्थापना, सन् 1942 ई० का क्रिप्स प्रस्ताव, सन् 1946 ई० की केबिनेट मिशन योजना तथा सन् 1947 ई० में भारत विभाजन की योजना आदि सभी को भारत की शासन-व्यवस्था को सुधारने की दिशा में विभिन्न प्रयोग मान सकते हैं। स्वतन्त्र भारत में भी इस प्रकार के अनेक प्रयोग हो रहे हैं, जैसे मद्य-निषेध, सामुदायिक विकास, पंचायती राज, आर्थिक योजनाएँ परिवार नियोजन इत्यादि। इस प्रकार के प्रयोग सभी देशों में होते रहते हैं जिससे हमें महत्त्वपूर्ण तथ्य और सामग्री प्राप्त होती है।

सीमाएँ—राजनीति विज्ञान में प्राकृतिक विज्ञानों के समान प्रयोगात्मक पद्धति को अपनाने में कई कठिनाइयाँ हैं। ये कठिनाइयाँ निम्नलिखित हैं

सर्वप्रथम, प्राकृतिक विज्ञानों में वैज्ञानिकों का परिस्थितियों पर पूर्ण नियन्त्रण रहता है। वह अपनी इच्छानुसार परिस्थितियों का निर्माण कर प्रयोग कर सकता है। परन्तु राजनीति विज्ञान में एक प्रयोगकर्ता को निर्धारित परिस्थितियों के अन्तर्गत ही कार्य करना पड़ता है। वह परिस्थितियों में परिवर्तन नहीं कर सकता।

द्वितीय, राजनीति विज्ञान में प्राकृतिक विज्ञानों के समान माप-तौल के उपकरण भी उपलब्ध नहीं हैं। राजनीति विज्ञान के प्रयोग की वस्तु निर्जीव पदार्थ न होकर सजीव मनुष्य है। जिन विचारों, भावनाओं तथा धारणाओं के प्रभाव में

---

1 "Every change in the form of government, every new law passed and every war is an experiment in Political Science" —R N Gilchrist *Principles of Political Science*, p 6.

उसका राजनीतिक जीवन चलता है, उसकी गहराई मापना असम्भव है। लॉर्ड ब्राइस ने इस सम्बन्ध मे लिखा है कि 'जिन वस्तुओ पर एक रसायनशास्त्री कार्य करता है वे सदैव समान होती हैं। उनका मापतौल हो सकता है परन्तु मानव अवस्थाओ एव स्थितियो का तो केवल वर्णन ही हो सकता है। हम ताप शीत और वायु के प्रभाव को माप सकते हैं परन्तु हम निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते कि एक जनसमूह के भाव कितने उग्र हैं। लोकमत, मनोभाव और दूसरी अन्य बातें जो राजनीति को प्रभावित करती हैं, उनको माप तोल नहीं की जा सकती।"[1]

तृतीय, जैसा कि लॉर्ड ब्राइस ने कहा है कि "भौतिक विज्ञान में एक प्रयोग को उस समय तक दोहराया जा सकता है जिस समय तक अन्तिम परिणाम न निकल जाए किन्तु राजनीति-विज्ञान मे प्रयोगो को दोहराया नहीं जा सकता।"

चतुर्थ, राजनीति विज्ञान मे जो भी प्रयोग किये जाते हैं, उन प्रयोगो से निकलने वाले निष्कर्ष केवल स्थान विशेष और समय विशेष के लिए वैध होते हैं जबकि प्राकृतिक विज्ञानो मे ऐसा नही होता।[2]

(2) ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method)

राजनीतिक सस्थाओ का निर्माण नही होता वरन् वे धीरे धीरे विकसित होती हैं। वे इतिहास की उपज हैं और उनके वास्तविक रूप को जानने के लिए हमें विकास की उन शक्तियो को समझना आवश्यक है जिन्होने उन्हे यह रूप प्रदान किया है। राजनीतिक सस्थाओ की उत्पत्ति, उनका विकास तथा उनके वर्तमान स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि हम ऐतिहासिक दृष्टिकोण अपनायें। इतिहास मे हम राजनीतिक सस्थाओ का क्रमबद्ध अध्ययन करते हैं कि इनका प्रारम्भ किस प्रकार हुआ और उनका वर्तमान स्वरूप किस प्रकार बना? अतीत और वर्तमान के ज्ञान के आधार पर ही हम भविष्य मे आदर्श सस्थाओ के निर्माण के सम्बन्ध मे कोई निष्कर्ष निकाल सकते हैं। इसलिए राजनीति विज्ञान के विद्यार्थी के लिए ऐतिहासिक पद्धति का बहुत अधिक महत्त्व है। इस सम्बन्ध मे प्रो० गिलक्राइस्ट ने लिखा है कि "इतिहास सस्थाओं की केवल व्याख्या ही नहीं करता

---

1 "The phenomena with which the chemist deals are and always have been identical, they can be weighed and measured, whereas human phenomena can only be described We can measrue temperature, humidity and force of wind but we can not determine how hot were the passions of mob Opinions, emotions and other factors which influence politics, are not capable of computation"—**Lord Bryce** *Modern Democracies* vol I, p 14

2 E M, Sait. *Political Institutions*, p. 35-36,

बल्कि यह भविष्य के मार्ग-दर्शन हेतु निष्कर्ष निकालने में भी सहायक होता है।"[1] लास्की के शब्दों में भी "सम्पूर्ण राजनीति इतिहास का ही दर्शन है।" सर फ्रेडरिक पोलक के मतानुसार, "ऐतिहासिक पद्धति यह विचार करती है कि संस्थाओं का क्या रूप है और उनका क्या रूप बनता जा रहा है। इस बात का विचार करने में यह यह जानने का भी प्रयत्न करती है कि अतीत में वे संस्थाएँ कैसी थीं और उनका वर्तमान स्वरूप कैसे बना।"[2]

इस तरह ऐतिहासिक पद्धति में हमें केवल अतीत का ही ज्ञान नहीं होता बल्कि हमें भविष्य के मार्गदर्शन के लिए भी कुछ मौलिक सिद्धान्त प्राप्त हो जाते हैं। आधुनिक काल में इस पद्धति को अपनाने वाले विचारकों में वीको (Vico), मॉण्टेस्क्यू, सर हेनरीमेन, सीले और फ्रीमैन प्रमुख हैं। इ० एम० सेट, (E. M. Sait) के अनुसार, 'अपने अनुभवों का संचय हमें पुरानी भूलों को दोहराने से बचाता है। पुरानी पीढ़ियों के अनुभवों से लाभ उठाकर हम अपने लिए कुछ व्यावहारिक निष्कर्ष निकाल सकते हैं। इस प्रकार इतिहास ज्ञान का सबसे बड़ा शिक्षक है।" इन्हीं कारणों से ओकशॉट (Oakeshott) ने यह विश्वास प्रकट किया है कि 'शैक्षिक स्तर पर राजनीति के अध्ययन को ऐतिहासिक होना चाहिए। ऐतिहासिक अध्ययन के बिना राजनीतिक शिक्षा अधूरी रह जायेगी।'

सीमाएँ—ऐतिहासिक पद्धति के उपयोग में अनेक कठिनाइयाँ हैं जिनके कारण इस पद्धति का उपयोग करते समय अत्यन्त सावधानी बरतने की आवश्यकता है। ये कठिनाइयाँ निम्नलिखित हैं

प्रथम तो ऐतिहासिक पद्धति को अपनाते समय हमें ऊपरी अथवा दिखावटी समानताओं से बचना चाहिए। लॉर्ड ब्राइस के अनुसार अनेक ऐतिहासिक तुलनाएँ बहुत ही मनोरंजक होती हैं परन्तु प्रायः वे भ्रान्ति में डालने वाली होती हैं और हमें पथभ्रष्ट भी कर देती हैं।

द्वितीय, इस पद्धति के प्रयोग में एक आशंका यह भी है कि कभी कभी हम अपने विचारों को प्रमाणित करने के लिए इतिहास का सहारा लेते हैं जो निश्चित रूप से ऐतिहासिक पद्धति का दुरुपयोग है।

तृतीय, जैसा कि सर फ्रेडरिक पोलक ने कहा है कि यह पद्धति एक ऐसा भ्रम

---

1 "History not only explains institutions, but it helps us to make certain deductions for future guidance."— Gilchrist, *Principles of Political Science*, p 7

2 "The Historical method seeks an explanation of what institutions are and are tending to be more in the knowledge that they have been and how they came to be what they are than in the analysis of them as they stand."—Frederick Pollock. *An Introduction to the History of the Science of Politics*, p 11

उत्पन्न कर देती है जिसके कारण 'जो भी बन रहा है और बनता जा रहा है' हम उसी को सर्वश्रेष्ठ समझ लेते हैं।

चतुर्थ, अर्नेस्ट बार्कर के अनुसार इतिहास हमें यह ज्ञान तो दे सकता है कि 'क्या था और कैसे हो गया' परन्तु वह उसके परिणाम का मूल्यांकन नहीं कर सकता।

पंचम, प्रायः यह कहा जाता है कि इतिहास अपनी पुनरावृत्ति करता है, यह कथन केवल अर्द्धसत्य है। सत्य का दूसरा पहलू यह है कि इतिहास कभी अपनी पुनरावृत्ति नहीं करता। इसलिए यह मान लेना कि अतीत में जो हो चुका है, आगे भी वही होगा, हमारे अनुसन्धान को एक गलत दिशा दे देगा।

षष्ठम, इस पद्धति के प्रयोग में अनुसन्धानकर्ता पर उसके जातीय भेदभावों, धार्मिक विचारों, राजनीतिक पक्षपात तथा उसके दार्शनिक सिद्धान्तों का जाने या अनजाने में प्रभाव पड़ सकता है। ऐसी स्थिति में जो निष्कर्ष निकलेंगे, वह निष्पक्ष नहीं होंगे।

सप्तम, ऐतिहासिक पद्धति में घटनाओं का विवरण तो दिया जाता है परन्तु नैतिक मूल्यों तथा महत्त्व पर विचार नहीं किया जाता है।

अतः इस पद्धति का उपयोग करते समय यह आवश्यक है कि अध्ययनकर्ता का दृष्टिकोण निरपेक्ष और वैज्ञानिक हो। इतिहास का अध्ययन हम निष्पक्ष रूप से करें व्यक्तिगत धारणाओं के अनुसार नहीं जिससे हमारे निष्कर्ष दूषित न हों।

(3) तुलनात्मक पद्धति (Comparative Method)

तुलनात्मक पद्धति ऐतिहासिक पद्धति की पूरक अथवा सहायक पद्धति है। इस पद्धति का प्रयोग सर्वप्रथम अरस्तू ने किया था। उसने 158 संविधानों का अध्ययन करके, उसके आधार पर श्रेष्ठ शासन के सम्बन्ध में अपने निष्कर्ष निकाले। वर्तमान समय में मॉण्टेस्क्यू, सर हेनरीमेन, डॉ० टाकविल और ब्राइस आदि विद्वानों ने इस पद्धति का प्रयोग किया है। इस पद्धति के अन्तर्गत अध्ययनकर्ता विभिन्न राज्यों, उनके संगठन, उनकी नीतियों एवं कार्यकलापों का तुलनात्मक अध्ययन करता है और इस तुलना के आधार पर अनेक राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। उदाहरण के लिए, विभिन्न देशों में हुई क्रान्तियों के कारणों का तुलनात्मक विश्लेषण करके हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि किस प्रकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाने पर क्रान्ति अवश्यम्भावी हो जाती है। तुलनात्मक पद्धति में हम ■ उपायों का सहारा लेते हैं, जो इस प्रकार है—तथ्यों का संग्रह, प्रबन्ध, वर्गीकरण, पारस्परिक सम्बन्ध, घटनाएँ और निष्कर्ष। इस दृष्टि से राजनीति विज्ञान में तुलनात्मक पद्धति एक उपयोगी पद्धति है।

सीमाएँ— इस पद्धति को अपनाने में निम्नलिखित कठिनाइयाँ हैं

प्रथम, कई बार असमान संस्थाओं के बीच तुलना कर दी जाती है।

द्वितीय, तुलना करते समय यदि सामाजिक और आर्थिक वातावरण की उपेक्षा कर दी जाय तो उससे सही निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते।

तृतीय, तुलना करते समय मानव स्वभाव का ध्यान रखना भी आवश्यक है।

यदि इन बातों की उपेक्षा की गई तो तुलना के परिणामस्वरूप सही निष्कर्षों के स्थान पर गलत एवं भ्रमपूर्ण निष्कर्ष निकलेंगे। उदाहरण के लिए, फ्रांस के विचारक मॉण्टेस्क्यू के साथ ऐसा ही हुआ। उसने इंगलैण्ड के नागरिकों की स्वतन्त्रता का कारण शक्ति विभाजन का सिद्धान्त बताया जबकि वास्तविकता यह है कि इंगलैण्ड में शक्ति विभाजन के सिद्धान्त को कभी अपनाया नहीं गया। इन्हीं कारणों से इस प्रणाली की आलोचना करते हुए गार्नर ने लिखा है कि "तुलनात्मक पद्धति में खतरा यह है कि इसके अनुसार काम करने में यह गलती हो सकती है कि सामान्य सिद्धान्तों को स्थिर करते समय परिस्थितियों एवं अवस्थाओं की विभिन्नताओं (जैसे लोगों का स्वभाव, उनकी प्रतिभा, आर्थिक एवं सामाजिक अवस्थाएँ, नैतिक तथा कानूनी मापदण्ड, राजनीतिक शिक्षा एवं अनुभव, इत्यादि) की उपेक्षा कर दी जाए।"[1]

अतः इस पद्धति का प्रयोग करते समय निम्नलिखित सावधानियों को ध्यान में रखना चाहिए

(1) अध्ययनकर्ता को विभिन्न देशों की संस्थाओं की तुलना करते समय उन देशों की आर्थिक सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिस्थितियों तथा मानव स्वभाव का भी ध्यान रखना चाहिए।

(2) अध्ययनकर्ता को तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग करते समय समानताओं तथा असमानताओं दोनों की ओर ही ध्यान देना चाहिए।

(3) तुलनात्मक अध्ययन के लिए ऐसे राज्यों को ही चुना जाय जो समकालीन हों, जिनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि समान हो तथा जिनकी राजनीतिक एवं सामाजिक संस्थाओं में अधिक अन्तर न हो।

(4) तुलना करते समय अध्ययनकर्ता का दृष्टिकोण निष्पक्ष तटस्थ एवं वैज्ञानिक रहे।

(4) पर्यवेक्षणात्मक पद्धति (Observational Method)

इस पद्धति के अन्तर्गत घटनाओं का निकट से प्रत्यक्ष अवलोकन किया जाता है और इसके आधार पर निष्कर्ष निकाले जाते हैं। इस तरह यह पद्धति व्यक्तिगत अनुभव पर आधारित है और इसका सम्बन्ध वास्तविकताओं से है। वर्तमान समय में राजनीति विज्ञान में इस पद्धति का अधिकाधिक प्रयोग किया जाने लगा है। इस पद्धति की उपयोगिता बताते हुए अमरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति प्रेसीडेण्ट लॉवेल ने कहा है कि "राजनीति एक प्रयोगात्मक विज्ञान न होकर एक पर्यवेक्षणात्मक विज्ञान है। राजनीतिक संस्थाओं की वास्तविक कार्यविधि की प्रयोगशाला एक

---

1 Dr Garner, *Introduction to Political Science*, p 27

पुस्तकालय नही है बल्कि राजनीतिक जीवन का बाहरी समार है और अनुसन्धानकर्ता को स्वय घटनाओ को ढूंढना तथा उनका अवलोकन करना चाहिए।"[1]

वर्तमान समय मे इस पद्धति का प्रयोग मॉण्टेस्क्यू, ब्राइस और लास्की आदि विद्वानो ने किया है। फ्रासीसी विचारक मॉण्टेस्क्यू ने इगलैण्ड जाकर प्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश शासन पद्धति का अवलोकन किया और उसके आधार पर उसने अपनी पुस्तक *Spirit of Laws* की रचना की जिसमे उसने शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। लॉर्ड जेम्स ब्राइस ने इस पद्धति का सबसे अधिक प्रयोग किया है। उन्होंने जिन देशो की राजनीतिक सस्थाओ का अध्ययन किया, वहाँ वे स्वय गये। उन्होने वहाँ के राजनीतिज्ञो, विधायको तथा सरकारी कर्मचारियो से व्यक्तिगत मुलाकाते की तथा वहाँ की सस्थाओ की कार्यपद्धति का अवलोकन किया और इन सबके आधार पर अपने निष्कर्ष निकाले। उन्होने अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर दो महान ग्रन्थो—आधुनिक प्रजातन्त्र (Modern Democracies) तथा अमरीकी सघ (American Commonwealth) की रचना की। वेब दम्पत्ति (सिडनी और बीट्रिस वेब) ने रूस जाकर प्रत्यक्ष रूप से वहाँ की राजनीति, प्रशासन एव आर्थिक सगठन का अध्ययन किया और उसके आधार पर सोवियत साम्यवाद (Soviet Communism) नामक पुस्तक की रचना की। इस तरह हम देखते हैं कि राजनीति विज्ञान मे इस पद्धति का काफी प्रयोग किया गया है। सेट (Sait) का मत है कि राजनीति विज्ञान पर्यवेक्षणात्मक प्रणाली के द्वारा ही विकसित किया जा सकता है।

इस पद्धति की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसमें अध्ययनकर्ता स्वय किसी वस्तु का अवलोकन करके प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर निष्कर्ष निकालता है। अत यह पद्धति कोरी सैद्धान्तिक नहीं है बल्कि इसका वास्तविकता से सीधा सम्बन्ध है। इस कारण यह पद्धति राजनीति विज्ञान के अध्ययन के लिए अत्यन्त उपयोगी मानी जाती है।

सीमाएँ—अन्य पद्धतियो के समान इस पद्धति के सफल प्रयोग मे भी अनेक कठिनाइयाँ है जो निम्नलिखित हैं

प्रथम तो, इस पद्धति का प्रयोग सभी विचारक नही कर सकते। विभिन्न देशो मे स्वय जाकर राजनीतिक सस्थाओ का अध्ययन करने के अवसर सभी विचारको को प्राप्त नही हो पाते। इस प्रकार के अवसर केवल कुछ साधनसम्पन्न विचारको को ही प्राप्त हो सकते है।

1 "Politics is an observational and not an experimental science—the main laboratory for the actual working of political institutions is not a library but the outside world of political life." —Lowell *Philosophy of Politics*, p 8.

द्वितीय, स्वयं अवलोकन तथा अध्ययन करने के बाद भी यह आवश्यक नहीं कि उस विचारक के निष्कर्ष पूर्णतया शुद्ध हों। यदि उसका अध्ययन गलत धारणाओं पर आधारित हुआ तो उसके निष्कर्ष भी गलत निकलेंगे। जैसा कि फ्रांसीसी विचारक मॉण्टेस्क्यू के साथ हुआ। वह ब्रिटिश संविधान का अध्ययन करने के लिए स्वयं इंगलैण्ड गया और वहाँ की संस्थाओं का प्रत्यक्ष अवलोकन करके भी वह इस गलत निष्कर्ष पर पहुँचा कि इंगलैण्ड के संविधान में शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त पाया जाता है।

तृतीय, इस पद्धति में अध्ययनकर्ता का व्यक्तिगत दृष्टिकोण, उसकी रुचियाँ तथा उसके विचार भी अध्ययन पर प्रभाव डालते हैं। इसके परिणामस्वरूप जो निष्कर्ष निकलेगा, वह सही नहीं होगा।

अतः इस पद्धति को अपनाते समय बहुत अधिक सावधानी बरतने की आवश्यकता है। सर्वप्रथम, यह आवश्यकता है कि अध्ययनकर्ता का दृष्टिकोण निष्पक्ष तथा वस्तुनिष्ठ हो। द्वितीय, उसका अध्ययन वास्तविक तथ्यों और घटनाओं पर आधारित होना चाहिए। तृतीय, उसे ऊपरी समानताओं तथा एकरूपता से सावधान रहना चाहिए। अन्त में, उसे जिन साधनों से ज्ञान मिले उनके सम्बन्ध में काफी छोज-बीन तथा जाँच कर लेनी चाहिए। इस सम्बन्ध में लॉर्ड ब्राइस ने लिखा है कि

'तथ्य का संग्रह करो और इस बात की जाँच करो कि वह तथ्य प्रामाणिक है। उसके बारे में स्पष्ट हो जाओ। उसे इस तरह चमकाओ कि जिससे वह एक रत्न के समान जगमगाने लगे। फिर अन्य तथ्यों से उसका सम्बन्ध स्थापित करो और उन तथ्यों के सन्दर्भ में उस तथ्य की भलीभाँति परीक्षा करो, क्योंकि इसी में उसकी उपयोगिता और महत्त्व निहित है। अकेले उसकी उपयोगिता नहीं है। इसलिए उसे गले के हार में हीरे का स्थान दो तथा उसे अपने भवन की एक साधारण शिला ही नहीं वरन् उसकी आधारशिला बनाओ।'[1]

(5) दार्शनिक पद्धति (Philosophical Method)

अभी तक हमने जिन पद्धतियों का विवेचन किया है वे आगमनात्मक (Inductive) हैं। इन पद्धतियों में तथ्यों के आधार पर सामान्य सिद्धान्तों की स्थापना की जाती है। किन्तु दार्शनिक पद्धति निगमनात्मक (Deductive) है। इस पद्धति में हम राज्य के लक्ष्य और उसके उद्देश्यों के सम्बन्ध में कुछ पूर्व निश्चित

1 'Get the fact and make sure of it Get perfectly clear Polish it till it sparkles and shines like a gem, then connect it with other facts. Examine it in its relation to them, for in that lies its worth and its significance It is of little use alone So make it a diamond in the necklace, a stone, perhaps a cornerstone in your building'—Bryce, *American Science Review*, Vol III, p 10

धारणाओं को लेकर चलते हैं और कल्पना तथा तर्क की प्रक्रिया द्वारा राज्य और शासन के सिद्धान्त स्थिर करने का प्रयत्न करते हैं। यह पद्धति वास्तविक जगत की घटनाओं पर आधारित नहीं होती। इसमें विचारक राज्य के आदर्श स्वरूप का चित्रण करते हैं और फिर यह निश्चय करते हैं कि राज्य के आदर्श स्वरूप को प्राप्त करने के लिए किस प्रकार के कानून तथा किस प्रकार की संस्थाएँ अधिक उपयुक्त होंगी। तत्पश्चात् इस आदर्श स्वरूप के सन्दर्भ में ही वे वर्तमान कानूनों और संस्थाओं का मूल्यांकन करते हैं और आवश्यकतानुसार उन्हें परिवर्तित करते हैं। इस तरह दार्शनिक विधि कारण से प्रभाव एवं सामान्य सिद्धान्तों से उसके परिणामों पर विचार करने की विधि है।

प्लेटो, थामस, मूर, रूसो, ग्रीन, बोसांके, सिजविक आदि विचारक इस पद्धति के प्रमुख प्रतिपादक हैं। प्लेटो द्वारा अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ रिपब्लिक (Republic) में आदर्श राज्य और दार्शनिक शासन का चित्रण, थामस मूर द्वारा यूटोपिया (Utopia) में स्वर्गीय राज्य का चित्रण तथा रूसो द्वारा सामान्य इच्छा की धारणा का प्रतिपादन दार्शनिक पद्धति के आधार पर ही किया गया है।

दार्शनिक पद्धति की कमियाँ—दार्शनिक पद्धति का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह वास्तविकता से बहुत दूर है। इस पद्धति के अनुयायी कल्पना लोक में बहुत ऊँचे उड़ते हैं। वे अपने निजी तर्कों का एक ऐसा जाल बुन लेते हैं जिसका प्रायः वास्तविकता और तथ्यों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। उनके विचार कोरे आदर्श मात्र रह जाते हैं। उदाहरण के लिए प्लेटो ने रिपब्लिक में और थामस मूर ने यूटोपिया में जिन आदर्श राज्यों का वर्णन किया है वे इतिहास के तथ्यों तथा मानव स्वभाव के विपरीत हैं। इस प्रकार की दार्शनिकता कोरी आदर्शवादिता है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने इस पद्धति को सामाजिक मामलों के अध्ययन के लिए सर्वथा अनुपयुक्त बताया है। इसलिए उसने इस पद्धति को अशुद्ध एवं अवैज्ञानिक माना। ब्लुण्टली का भी यही विचार है कि "यह पद्धति कोरी सैद्धान्तिक है। इसका वास्तविकता अथवा तथ्यों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता।"

यह सत्य है कि दार्शनिक पद्धति सामाजिक मामलों के वैज्ञानिक अध्ययन में अधिक सहायक नहीं हुई है परन्तु फिर भी यह कहना सही नहीं होगा कि सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन में दार्शनिक प्रणाली की कोई उपयोगिता है ही नहीं। सिजविक के अनुसार राजनीति विज्ञान का मुख्य उद्देश्य 'आदर्श निर्धारित करना तथा भविष्य के लिए मार्गदर्शन करना है।' इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही दार्शनिक पद्धति की आवश्यकता पर बल दिया गया है।

पिछले वर्षों में दार्शनिक पद्धति के स्वरूप में कुछ परिवर्तन हुए हैं। रसेल, विटगेन्सटीन (Wittgenstein), अयर (Ayer) और राइल (Ryle) आदि विचारकों के अनुसार दार्शनिक पद्धति का उद्देश्य केवल आदर्शों अथवा सिद्धान्तों

की स्थापना करना नहीं है बल्कि उनके अर्थ को स्पष्ट करना और उनकी तार्किक शक्ति की परीक्षा करना है।

(6) सादृश्य पद्धति (Analogical Method)

अधिकांश विद्वान इस पद्धति को तुलनात्मक पद्धति का ही अंग मानते हैं। प्रो० गिलक्राइस्ट ने इस पद्धति का विस्तृत उल्लेख किया है। इस पद्धति को अपनाने वाले विद्वान प्रायः राज्य की तुलना मानव शरीर से करते हैं। वे राज्य की मानव शरीर से समानता बताते हुए उसके स्वरूप, संगठन तथा कार्यों को समझाने की चेष्टा करते हैं। वे जीवशास्त्र और समाजशास्त्र के विकासवादी सिद्धान्त को राज्य के अध्ययन पर लागू करते हैं। आधुनिक काल में ब्लुन्शली, कॉम्टे तथा हरबर्ट स्पेन्सर ने इस पद्धति का व्यापक प्रयोग किया है। स्पेन्सर ने राज्य और मानव शरीर के बीच उत्पत्ति, विकास तथा अन्य आधारों पर सादृश्यता कायम की है और अपने सावयव सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

इसमें सन्देह नहीं कि राजनीति विज्ञान में सादृश्य पद्धति काफी उपयोगी रही है परन्तु फिर भी यह एक अवैज्ञानिक प्रणाली है। आवश्यकता इस बात की है कि सादृश्यता का उपयोग बड़ी सावधानी से न्याय तथा एक सीमा तक ही किया जाना चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि सादृश्यता एकरूपता की स्थिति तक पहुँच जाए।

अन्य अध्ययन पद्धतियाँ (Other Methods)

उपरोक्त प्रमुख अध्ययन पद्धतियों के अलावा राजनीति विज्ञान के अध्ययन में कुछ अन्य पद्धतियों का भी प्रयोग किया जाता है। कुछ विचारक, विशेष रूप से गार्नर इन्हें पद्धति न मानकर केवल दृष्टिकोण (approach) ही मानते हैं। इन्हें राजनीति विज्ञान के अध्ययन की गौण पद्धतियाँ भी कहा जाता है। यह शायद इसलिए कि राजनीति विज्ञान के अध्ययन में अभी तक इन पद्धतियों अथवा दृष्टिकोणों का प्रयोग सीमित रूप में ही किया गया है। पिछले कुछ समय से इन पद्धतियों के प्रयोग को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है। ये पद्धतियाँ, संक्षेप में, निम्नलिखित हैं :

1 वैधानिक पद्धति (Juridical Method)—इस पद्धति को प्रायः विश्लेषणवादी न्यायविदों ने अपनाया है। इस पद्धति का प्रतिपादन सर्वप्रथम जर्मन विद्वान गर्बर (Gerber) ने किया था। इस पद्धति के अनुसार राज्य एक कानूनी व्यक्ति या संस्था है और राजनीति विज्ञान कानूनी आदर्श का विज्ञान है। इसके अनुसार राज्य मुख्य रूप से एक ऐसी संस्था व संगठन है जिसका उद्देश्य कानून बनाना और उनका पालन कराना है। इस प्रणाली में सम्प्रभुता, कानून अधिकार आदि पर विशुद्ध कानूनी दृष्टि से विचार किया जाता है। इसके अनुसार राज्य वैधानिक अधिकार एवं कर्तव्यों का समूह है।

इससे यह स्पष्ट है कि राजनीतिक अध्ययन के लिए यह पद्धति बहुत ही संकुचित है। इस पद्धति का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह राज्य एवं राजनीतिक

सस्थाओ के अध्ययन म सामाजिक, आर्थिक तथा अन्य प्रकार के प्रभावो की उपेक्षा करती है । इसलिए यह एक यथार्थवादी पद्धति नही है ।

2 सांख्यिकी पद्धति (Statistical Method)—इस पद्धति के अन्तर्गत राजनीतिक तथ्य एव आकडे एकत्रित किये जाते हैं और विभिन्न पद्धतियो के सन्दर्भ मे इन आकडो के आधार पर निष्कर्ष निकाले जाते हैं । सरकार द्वारा विदेश नीति, आर्थिक नियोजन, औद्योगिक नीति, राष्ट्रीयकरण, कर पद्धति आदि के निर्धारण मे इस पद्धति का काफी प्रयोग किया जाता है । मतदान जनमत, चुनाव के समय विभिन्न राजनीतिक दलो की स्थिति, राष्ट्रीय आय आदि विषयो का अध्ययन इस पद्धति के आधार पर अधिक अच्छे ढग से किया जा सकता है । परन्तु राजनीति विज्ञान मे यह एक स्वतन्त्र अध्ययन पद्धति न होकर केवल एक पूरक पद्धति है। इसका प्रयोग ऐतिहासिक अथवा तुलनात्मक पद्धति के सहायक के रूप म ही किया जा सकता है ।

3 मनोवैज्ञानिक पद्धति (Psychological Method)—मानव-स्वभाव और मनुष्य के राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन मे मनोवैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग एक नवीन घटना है । इस प्रकार के अध्ययन की नीव सावेल ने डाली और ग्राहम वालास, मैक्डूगल, चार्ल्स मेरियम आदि ने इसमे विशेष योग दिया है । इस पद्धति के अन्तर्गत मनुष्यो के समूह के राजनीतिक व्यवहार एव कार्यकलापो को समझने के लिए मनोविज्ञान के सिद्धान्तो का प्रयोग किया जाता है । इसके समर्थको का विचार है कि मनोवैज्ञानिक आधारो पर वे मानव स्वभाव और मानव व्यवहार के आधारभूत तथ्यों का पता लगा सकते हैं और नये राजनीतिक सिद्धान्तो की नीव डाल सकते हैं । मतदान व्यवहार जनमत को प्रभावित करने के तरीके, राजनीतिक दलो व दबाव समूहो की उत्पत्ति एव कार्यकलापो आदि का अध्ययन करने मे यह पद्धति विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध हुई है ।

इस पद्धति का सबसे बडा दोष यह है कि इसका उपयोग उन सामाजिक स्थितियो तक ही सीमित है जो अपेक्षाकृत सरल व स्थिर हो । जटिल परिस्थितियो और गतिशील राजनीतिक प्रक्रियाओ की व्याख्या करने मे यह पद्धति अधिक उपयोगी नही रही है ।

4 समाजशास्त्रीय पद्धति (Sociological Method)—समाजशास्त्रीय पद्धति राज्य को एक सामाजिक प्राणी मानती है जिसके अग व्यक्ति है । यह व्यक्ति के लक्षणो एव गुणो के आधार पर ही राज्य के लक्षणो एव गुणो का अनुमान लगाती है । इसमे राज्य के जीवन एव प्रवृत्तियो की व्याख्या विकासवाद के नियमो के आधार पर की जाती है । कॉम्टे ने इस पद्धति का काफी प्रयोग किया है । गार्नर इसे एक स्वतन्त्र पद्धति न मानकर राज्य के सम्बन्ध मे विचार करने वाला केवल एक दृष्टिकोण मात्र ही मानते हैं ।

5. जीवशास्त्रीय पद्धति (Biological Method —इस पद्धति के समर्थक

राज्य को एक सावयवी अथवा जीवधारी मानते हैं। उनके अनुसार राज्य मे वही गुण एव लक्षण पाये जाते हैं जो एक जीवित शरीरधारी मे पाय जाते हैं। इस पद्धति के अन्तर्गत राज्य के विभिन्न अगो कार्यों तथा प्रवृत्तियो की व्याख्या ऐसे ही की गई है जैसे मानो वह स्वय एक जीवधारी हो। हरबर्ट स्पेन्सर ने इस पद्धति का व्यापक प्रयोग किया है। उसने राज्य और मानव शरी॰ म एकरूपता बताई है।

यह पद्धति भी एक स्वतन्त्र पद्धति न होकर केवल एक दृष्टिकोण मात्र ही है। इस पद्धति का सबसे बडा दोष यह है कि राज्य और जीवधारी मे पूर्ण एकरूपता दर्शाना उचित नही है। दोनो मे केवल ऊपरी समानता हो सकती है और इस समानता के आधार पर सही निष्कर्ष नही निकाले जा सकते।

राजनीति विज्ञान के अध्ययन की दृष्टि से उपरोक्त सभी पद्धतियो को परम्परागत पद्धतियो की सज्ञा दी जाती है क्योंकि बीसवी शताब्दी मे दो नई अध्ययन पद्धतियो का विकास हुआ है जिन्हे आधुनिक पद्धतियाँ कहा जाता है। ये हैं—आनुभविक वैज्ञानिक पद्धति एव व्यवहारवादी अध्ययन मार्ग। इन दोनो पद्धतियो का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

आनुभविक वैज्ञानिक पद्धति (Empirical Scientific Method)

शासन के प्रति हमारा दृष्टिकोण अधिकाधिक वैज्ञानिक होता जा रहा है, इस कारण राजनीति विज्ञान मे आनुभविक वैज्ञानिक पद्धति का अधिक प्रयोग होने लगा है। इस पद्धति के अन्तर्गत मानव सस्थाओ तथा कार्यकलापो का इस प्रकार अध्ययन किया जाता है कि जिसमे कुछ मौलिक राजनीतिक सिद्धान्तो की खोज की जा सके। इस पद्धति मे अवलोकन और प्रयोग के द्वारा जो निष्कर्ष निकाले जते हैं, साख्यिकी तथ्यो द्वारा उनकी जाँच की जा सकती है और फिर उनकी सीमा निर्धारित की जाती है। इस दृष्टि से हम इस पद्धति को पर्यवेक्षण अथवा अवलोकन, प्रयोग एव साख्यिकी पद्धतियो का मिश्रण भी कह सकते हैं। अब इसे सरकार और प्रशासन के अध्ययन के लिए एक आवश्यक एव उपयोगी प्रणाली माना जाता है।

यदि हम वैज्ञानिक पद्धति की व्याख्या करें तो हम यह कह सकते हैं कि वैज्ञानिक पद्धति से तात्पर्य उस पद्धति से है जो तथ्यो को व्यवस्थित रूप म एकत्रित करती है, जो कार्य तथा कारण के बीच पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करती है तथा जो सामान्य नियमो की खोज निकालने का प्रयत्न करती है। सॅवई के अनुसार वैज्ञानिक पद्धति के चार मुख्य लक्षण हैं—(1) तथ्यो को एकत्रित तथा क्रमबद्ध करना, (2) उनमे कार्य तथा कारण के बीच सम्बन्ध स्थापित करके सामान्यीकरण करना, (3) पूर्वकथन अथवा भविष्यवाणी करने की क्षमता, तथा (4) निष्कर्षों की जाँच की सम्भावना। वैज्ञानिक पद्धति के लिए यह भी आवश्यक है कि अध्ययनकर्ता का दृष्टिकोण वस्तुनिष्ठ और निरपेक्ष हो। उसके अध्ययन पर उसके व्यक्तित्व तथा दृष्टिकोण का कोई प्रभाव न पड़े। इस तरह वैज्ञानिक पद्धति मे निश्चयात्मकता,

सामान्यता, वस्तुनिष्ठता, पूर्वकथनीयता एवं उनके निष्कर्षों में सत्यापनीयता की विशेषता पाई जाती है।

आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार वैज्ञानिक पद्धति के मुख्य लक्षण इस प्रकार हैं—*(1) अवलोकन अथवा पर्यवेक्षण के आधार पर तथ्यों का संग्रह,* (2) तथ्यों का वर्गीकरण, (3) जाँच या अनुसन्धान, (4) सामान्यीकरण, (5) सत्यापन। इसके अतिरिक्त वर्तमान समय में विज्ञान का एक प्रमुख लक्षण मूल्य निरपेक्ष (Value free) दृष्टिकोण हो गया है। अतः आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति में मूल्यों को कोई स्थान नहीं दिया जाता है। यद्यपि व्यवहार में मूल्यों की धारणा को शोध से पृथक रखना सम्भव नहीं है क्योंकि ऐसा करने से शोधकार्य रूपहीन और खोखला हो जायेगा।

राजनीति विज्ञान में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग—राजनीति विज्ञान में वैज्ञानिक पद्धति को अपनाने का श्रेय ग्राह्म वालास, चार्ल्स मेरियम, लासवेल, केटलिन, कार्ल डायस (Deutch), राबर्ट डहल (Dahl) आदि आधुनिक विद्वानों को है। अमरीका में राजनीति विज्ञान के अध्ययन के लिए वर्तमान समय में जिन नये-नये तरीकों अथवा पद्धतियों को अपनाया जा रहा है, उनमें से कुछ प्रमुख पद्धतियाँ इस प्रकार हैं—**सर्वेक्षण पद्धति** (Survey Method), **केस पद्धति** (Case Method), **साक्षात्कार पद्धति** (Interview Method) **प्रश्नावली पद्धति** (Questionnaire Method), **जनमत मतदान पद्धति** (Public Opinion Poll) तथा **सांख्यिकी पद्धति** (Statistical Method) इत्यादि।

सर्वेक्षण पद्धति के अन्तर्गत किसी क्षेत्र के बारे में अपने अध्ययन से सम्बन्धित *विषय पर तथ्य एकत्रित किये जाते हैं।* केस पद्धति के *अन्तर्गत अध्ययन* की एक बहुत छोटी इकाई होती है परन्तु उस इकाई के प्रत्येक पक्ष का गहरा और विस्तृत *अध्ययन किया जाता है।* साक्षात्कार पद्धति के *अन्तर्गत सम्बन्धित व्यक्तियों* का साक्षात्कार लिया जाता है। प्रश्नावली पद्धति के अन्तर्गत अध्ययनकर्ता कुछ प्रश्न तैयार करता है और सम्बन्धित क्षेत्र के व्यक्तियों से उनका उत्तर देने को कहा जाता है। जनमत मतदान पद्धति का प्रयोग किसी समस्या पर जनता के विचार जानने के लिए किया जाता है तथा सांख्यिकी पद्धति में तथ्यों अथवा आंकड़ों के विश्लेषण के आधार पर निष्कर्ष निकाले जाते हैं।

वर्तमान समय में राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत सिद्धान्तों का निर्माण करते समय प्रतिरूपों (Models) का भी प्रयोग किया जाता है। सिद्धान्तों के निर्माण के सम्बन्ध में एक और नये दृष्टिकोण का विकास हुआ है जिसे संरचना एवं कार्यात्मक दृष्टिकोण (Structural and Functional Approach) का नाम दिया जाता है।

वैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग में व्यावहारिक कठिनाइयाँ—राजनीति विज्ञान में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग यद्यपि दिनों दिन बढ़ता जा रहा है परन्तु फिर भी इस पद्धति को अपनाने के मार्ग में कुछ कठिनाइयाँ हैं जो अग्रलिखित हैं

वालास ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'राजनीति मे मानव स्वभाव' (Human Nature in Politics) मे राजनीतिक कार्यकलापो के अध्ययन मे सस्थाओ के स्थान पर मानव एव मानव समूह के मनोविज्ञान के अध्ययन का समर्थन किया। सन् 1908 मे ही अमेरिका मे आर्थर बेण्टले ने अपनी पुस्तक 'सरकार की प्रक्रिया' (The Process of Government) मे समूहो के हित तथा उनकी क्रियाओ के अध्ययन पर जोर दिया। व्यवहारवादी अध्ययन मार्ग के विकास मे अमेरिका के प्रसिद्ध विचारक चार्ल्स मेरियम का बहुत बडा योगदान रहा है। उन्हे व्यवहारवादी अध्ययन मार्ग का बौद्धिक पिता माना जाता है। मेरियम शिकागो विश्वविद्यालय मे प्रोफेसर थे। उनके नेतृत्व मे यह विश्वविद्यालय व्यवहारवादी अध्ययन का प्रमुख केन्द्र बन गया। सन् 1925 मे मेरियम ने *New Aspects of Politics* नामक पुस्तक लिखी। उन्होंने राजनीति विज्ञान के अध्ययन मे तीन बातो का प्रबल समर्थन किया—(i) राजनीतिक प्रक्रिया पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव, (ii) राजनीति विज्ञान मे अन्तर्शास्त्रीय (Inter-sciences) अध्ययन, तथा (iii) राजनीतिक अध्ययन मे तथ्यात्मक परिमाणन (Factual quantification)। इस तरह चार्ल्स मेरियम को व्यवहारवादी अध्ययन मार्ग का प्रवर्तक कहा जाता है। आगे चलकर हेराल्ड लासवैल, डेविड ट्रूमैन, हरबर्ट साइमन, एलमाण्ड आदि विचारकों ने भी व्यवहारवादी अध्ययन मार्ग के विकास मे काफी योगदान दिया है। इन सब विचारको के विचार सामूहिक रूप से शिकागो सम्प्रदाय कहलाते हैं। व्यवहारवादी अध्ययन के विकास मे अमेरिकी सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान परिषद (Social Science Research Council) ने भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है। कुछ अमरीकी सस्थानो, जैसे रॉकफेलर प्रतिष्ठान, फोर्ड प्रतिष्ठान आदि ने भी आर्थिक सहायता देकर व्यवहारवादी अध्ययन को व्यापक बनाने मे काफी योगदान दिया है। इसे अब प्राय सभी प्रमुख राजनीतिक विचारक अपना चुके हैं। इस कारण व्यवहारवादी दृष्टिकोण अथवा उपागम (Approach) सर्वव्यापक हो गया है।

व्यवहारवादी अध्ययन मार्ग का अर्थ एव स्वरूप

व्यवहारवादी अध्ययन मार्ग की पूर्ण व्याख्या करना सम्भव नही है क्योंकि इसके अर्थ के सम्बन्ध मे काफी विचारकों का दृष्टिकोण समान नही है। विभिन्न विचारको ने इसे एक प्रवृत्ति, दृष्टिकोण अथवा प्रक्रिया के रूप मे माना है। रॉबर्ट डहल (Robert A Dahl) ने व्यवहारवादी अध्ययन मार्ग को एक मनोभाव (Mood) का नाम दिया है। राजनीति मे इस अध्ययन मार्ग को इसके विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे परम्परावाद के विरुद्ध एक विरोध अथवा असन्तोष (Protest) माना गया था। उस समय यही इसका अर्थ और यही इसका स्वरूप था। जैसा कि रॉबर्ट डहल का मत है कि "व्यवहार परम्परागत राजनीति विज्ञान की उपलब्धियों के प्रति असन्तोष की की एक तीव्र भावना है। इसका उद्देश्य राजनीति

विज्ञान को अधिक वैज्ञानिक बनाना है।"[1] किर्क पेट्रिक (Kirk Patrick) ने भी इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं। उनके अनुसार "राजनीति में व्यवहारवादी अध्ययन एक ऐसे छत्र के समान था जिसके नीचे उन सभी राजनीतिज्ञों ने शरण ली जो परम्परावादी अध्ययन से असन्तुष्ट हो गये थे।"[2] डेविड ट्रूमैन (David Truman) के अनुसार व्यवहारवादी अध्ययन मार्ग का तात्पर्य दो बातों से है (1) अनुसन्धान क्रमबद्ध होना चाहिए, तथा (2) आनुभविक पद्धतियों के अपनाने पर प्रमुख जोर दिया जाना चाहिए।[3]

वस्तुतः व्यवहारवादी अध्ययन मार्ग कोई सिद्धान्त न होकर राजनीतिक तथ्यों का विश्लेषण करने वाली एक पद्धति है। यह मुख्य रूप से मानव तथा मानव समूहों के राजनीतिक व्यवहार से सम्बन्धित है। इसका उद्देश्य राजनीतिक अध्ययन को अधिक वैज्ञानिक बनाना है। यह अनुभवात्मक (empirical) तथा क्रियात्मक है और इसमें व्यक्तिगत मूल्यों दृष्टिकोणों तथा कल्पनाओं आदि के लिए कोई स्थान नहीं है। यद्यपि व्यवहारवाद के समर्थकों का यह विचार है कि राजनीतिक विज्ञान का प्रत्येक क्षेत्र व्यवहारवादी अध्ययन के अन्तर्गत आ सकता है परन्तु मतदान-व्यवहार, छोटे-छोटे समूह एवं संगठन, राजनीतिक प्रणालियाँ, नीति निर्धारण आदि का अध्ययन इसके लिए अधिक उपयुक्त माना जाता है। व्यवहारवादी अध्ययन का मुख्य क्षेत्र राजनीतिक व्यक्तित्व का अध्ययन करता है। इसका उद्देश्य व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा राजनीतिक व्यवहार के बीच सम्बन्ध स्थापित करना है। यह उन सभी प्रभावों का अध्ययन करता है जो मनुष्य की राजनीतिक भूमिका (Political role) को प्रभावित करते हैं।

व्यवहारवादी इस दृष्टि से परम्परावादियों से भिन्न हैं कि वे राजनीति विज्ञान को दार्शनिक सीमाओं में बाँधने के लिए तैयार नहीं हैं। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि व्यवहारवादी अध्ययन आदर्श पर जोर नहीं देता, बल्कि राजनीतिक घटनाओं का यथार्थ रूप में वर्णन तथा अध्ययन करता है। दूसरे, व्यवहारवादी राजनीतिक घटनाओं के विश्लेषण में वैज्ञानिक पद्धतियों के प्रयोग पर अधिक जोर देते हैं।

---

1 *Robert A Dahl* The Behavioural Approach in Political Science' in *Contemporary Political Thought*, edited by A Gould and V V Thursby, pp 118-119
2 Evron Kirk Patrick *The Impact of Behavioural Approach on the Traditional Political Science*, ed by Ball and Lauth, p 77.
3 David Truman 'The Implications of Political Behaviour Research' in *Social Science Research Council Items*, December 1951, pp 37-39

व्यवहारवादी अध्ययन मार्ग की प्रमुख विशेषताएँ

यद्यपि सभी व्यवहारवादी विचारक इसकी बहुत-सी बातों के सम्बन्ध मे एकमत नही हैं परन्तु फिर भी रॉबर्ट डहल, डेविड ईस्टन, किर्क पैट्रिक आदि विद्वानो ने व्यवहारवादी अध्ययन मार्ग की कुछ सामान्य विशेषताओ का उल्लेख किया है जो निम्नलिखित हैं

(1) व्यवहारवादी परम्परागत औपचारिक अध्ययन के स्थान पर अनुभववादी, यथार्थवादी अध्ययन पर अधिक जोर देते हैं। एल्मॉण्ड एव पॉवेल के अनुसार, "राजनीति विज्ञान मे अनुभववाद एव यथार्थवाद के आधार पर जो अध्ययन किया जाता है वही व्यवहारवादी अध्ययन है।"[1]

(2) व्यवहारवादी अध्ययन राजनीति विज्ञान को अधिक वैज्ञानिक रूप प्रदान करना चाहता है। यह प्राकृतिक विज्ञानो के समान राजनीति विज्ञान के अध्ययन के लिए ऐसी अध्ययन पद्धति अपनाने पर जोर देता है जो सत्यता पर आधारित हो।

(3) व्यवहारवादी अध्ययन राजनीति मे पर्यवेक्षण, वर्गीकरण, विश्लेषण, जाँच, मापन, प्रमाणीकरण अथवा सत्यापन साख्यिकी तथा गणित के नियमो, इत्यादि तकनीकियो के अधिकाधिक प्रयोग पर बल देता है।

(4) यह राजनीति विज्ञान की अन्य सामाजिक विज्ञानो के साथ एकता पर जोर देता है। इसमे विभिन्न सामाजिक विज्ञानो को व्यवहारवादी विज्ञान के रूप मे स्वीकार किया जाता है। इस तरह राजनीति विज्ञान मे यह एक अन्तर्शास्त्रीय अध्ययन मार्ग है।

(5) यह व्यक्ति तथा समूहो के व्यवहार को राजनीतिक अध्ययन एव अन्वेषण का केन्द्रबिन्दु मानता है।

(6) इसका उद्देश्य राजनीति विज्ञान मे व्यवस्थित और अनुभववादी सिद्धान्तो का निर्माण करना है।

आठ बौद्धिक आधारशिलाएँ

डेविड ईस्टन[2] ने व्यवहारवादी अध्ययन के आधार के रूप मे आठ बौद्धिक आधारशिलाएँ प्रस्तुत की हैं जो निम्नलिखित हैं

(1) नियमन (Regularities)—राजनीतिक व्यवहार मे कुछ सामान्य अथवा एकरूप तत्त्व होते हैं जिनकी खोज की जा सकती है। व्यवहार के इन एकरूप तत्त्वो का सामान्यीकरण किया जा सकता है अथवा इनको सिद्धान्तबद्ध किया जा

1 Almond and Powell *Comparative Politics, A Developmental Approach*, p 7.

2 David Easton *The Current Meaning of Behaviouralism in Contemporary Political Analysis*, Edited by James Charlesworth.

सकता है। इनके आधार पर मानवीय व्यवहार का विश्लेषण किया जा सकता है तथा भविष्य के व्यवहार के सम्बन्ध में सम्भावनाएँ व्यक्त की जा सकती हैं।

(2) **सत्यापन अथवा प्रमाणीकरण (Verification)**—मानव व्यवहार से *सम्बन्धित इस प्रकार के सामान्यीकरण की सत्यता का सिद्धान्त रूप में परीक्षण होना* चाहिए। मानव व्यवहार से सम्बन्धित सामग्री का पुनः परीक्षण करने तथा उसकी पुष्टि करने की क्रिया को ही सत्यापन कहते हैं।

(3) **तकनीक (Techniques)**—तकनीक वे साधन हैं जिनके माध्यम से तथ्य प्राप्त किये जा सकते हैं तथा उनकी विवेचना की जा सकती है। इन्हें स्वयंसिद्ध नहीं माना जा सकता है। ये अनिश्चित अथवा अविश्वसनीय होते हैं। अध्ययनकर्ता द्वारा इन्हें अधिक शुद्ध एवं अधिक विश्वसनीय बनाने के लिए परीक्षण करने की आवश्यकता है जिससे मानव व्यवहार का विश्लेषण करने पर्यवेक्षण करने तथा अभिलेखन करने के लिए कठोर साधनों को अपनाया जा सके।

(4) **परिमापन (Quantification)**—अन्वेषण में जो तथ्य तथा सामग्री आदि उपलब्ध होती हैं उनको सूक्ष्मता के साथ लेखबद्ध करने तथा उनमें सुस्पष्टता लाने के लिए उद्देश्यों के सन्दर्भ में मापन और परिमाणीकरण किया जाना चाहिए जिससे उनको अधिक उपयुक्त तथा अर्थपूर्ण बनाया जा सके।

(5) **मूल्य निर्धारण (Value Determination)**—नैतिक मूल्यांकन तथा अनुभवसिद्ध व्याख्या यद्यपि भिन्न हैं फिर भी राजनीतिक व्यवहार का अध्ययनकर्ता प्रस्ताव प्रस्तुत करने के लिए सम्मिलित रूप में अथवा पृथक रूप में इनका प्रयोग कर सकता है।

(6) **क्रमबद्धीकरण अथवा व्यवस्थीकरण (Systematization)**—अन्वेषण को क्रमबद्ध अथवा व्यवस्थित किया जाना चाहिए। क्रमबद्धीकरण से तात्पर्य यह है कि मानव व्यवहार में कार्य और कारण के बीच सम्बन्ध स्थापित किया जा सके। सिद्धान्त और अन्वेषण में निकटतम सम्बन्ध होना चाहिए क्योंकि ये दोनों व्यवस्थित ज्ञान के प्रमुख अंग हैं। सिद्धान्तहीन अन्वेषण तुच्छ सिद्ध हो सकता है तथा तथ्यों के बिना सिद्धान्त व्यर्थ हो सकता है।[1]

(7) **विशुद्ध विज्ञान (Pure Science)**—ज्ञान का प्रयोग वैज्ञानिक कार्य का उतना ही महत्त्वपूर्ण भाग है जितना सैद्धान्तिक अध्ययन। राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन एवं विश्लेषण वह आधार प्रस्तुत करते हैं जिससे राजनीतिक ज्ञान को समाज की आवश्यक एवं व्यावहारिक समस्याओं का हल ढूंढने में प्रयोग किया जा सके।

(8) **समग्रता अथवा एकीकरण (Integration)**—समस्त मानव व्यवहार

---

1 "Research untutored by theory may prove trivial and theory unsupported by data, futile." —David Easton

एक पूर्ण इकाई है। अत उसका अध्ययन अलग-अलग खण्डो मे नही बलिक एकीकृत रूप मे होना चाहिए। इस दृष्टि से समस्त सामाजिक विज्ञान परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। राजनीति के अध्ययनकर्ता को अन्य सामाजिक विज्ञानो की खोजो तथा उपलब्धियो का प्रयोग करना चाहिए, अन्यथा उसके निष्कर्षो की सत्यता एव प्रामाणिकता खतरे मे पड जायेगी।

डेविड ईस्टन की उपरोक्त आठ बौद्धिक आधारशिलाओ मे व्यवहारवाद के सभी प्रमुख सिद्धान्त आ गये हैं। इनके आधार पर ही अध्ययन की परम्परागत एव व्यवहारवादी पद्धतियो मे भेद स्थापित किया जा सकता है।

व्यवहारवादी अध्ययन का राजनीति विज्ञान पर प्रभाव—थोड़े समय तक तो राजनीति विज्ञान के परम्परागत विचारको तथा व्यवहारवादी विचारको के बीच वैचारिक सघर्ष चलता रहा परन्तु धीरे धीरे व्यवहारवाद की उपयोगिता एव उसके महत्त्व को स्वीकार किया जाने लगा। राजनीति विज्ञान पर व्यवहारवादी अध्ययन के प्रभाव को निम्नलिखित रूपो मे देखा जा सकता है

(1) व्यवहारवादी अध्ययन ने राजनीति विज्ञान को नया अर्थ, नये मूल्य, नयी पद्धतियाँ एव आनुभविक वैज्ञानिक रूप प्रदान किया है।

(2) व्यवहारवादी अध्ययन के परिणामस्वरूप राजनीति विज्ञान मे साक्षात्कार पद्धति, सर्वेक्षण पद्धति, प्रश्नावली पद्धति, केस पद्धति, विषय विश्लेषण, सांख्यिकी तकनीक, मॉडल आदि, का प्रयोग किया जाने लगा है।

(3) व्यवहारवादी अध्ययन ने राजनीति विज्ञान के विचारको को यह प्रेरणा दी कि वे इस विषय का अध्ययन अन्य समाज विज्ञानो के सन्दर्भ मे करें। इस तरह उन्होने सभी समाज विज्ञानो की एकता पर जोर दिया है। व्यवहारवादियो के इस विचार को **अन्तर्शास्त्रीय दृष्टिकोण** (Inter disciplinary Approach) कहा जाता है।

(4) इसने सस्थाओ के स्थान पर व्यक्ति के व्यवहार को राजनीतिक अनुसधान का केन्द्रबिन्दु बनाने पर जोर दिया है।

(5) व्यवहारवादी अध्ययन के अनुसार राजनीति विज्ञान का उद्देश्य अच्छे जीवन की प्राप्ति नही है बलिक राजनीतिक घटनाओ का यथार्थ रूप मे वर्णन तथा अध्ययन करना है। दूसरे शब्दो मे, हम यह कह सकते है कि व्यवहारवादी अध्ययन आदर्श पर जोर नहीं देता बलिक यथार्थ के अध्ययन से ही सन्तुष्ट रहता है।

व्यवहारवादी अध्ययन की सीमाएँ

व्यवहारवादी अध्ययन की प्रमुख सीमाएँ निम्नलिखित हैं:

(1) प्रथम कठिनाई तो व्यवहारवादी अध्ययन का क्षेत्र एव उद्देश्य की व्याख्या करने मे है। यदि उसका उद्देश्य राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन करना है तो फिर समस्या यह खडी होगी कि वह राजनीतिक व्यवहार है क्या?

(2) व्यवहारवादी अध्ययन का क्षेत्र भी बहुत सीमित है। यह मनुष्यो एव

छोटे समूहो के अध्ययन के लिए तो उपयुक्त हो सकता है परन्तु संस्थाओ के आपसी सम्बन्धो के अध्ययन के विषय मे व्यवहारवादी तकनीक की उपयोगिता सीमित ही है।

(3) व्यवहारवादी अध्ययन द्वारा निश्चित सिद्धान्तो की रचना करना सम्भव नहीं है। मानव के व्यवहार मे परिवर्तन एवं संशोधन होता रहता है। उसके व्यवहार के बारे मे निश्चित रूप से कुछ भी कहना बहुत कठिन है। एक जैसी राजनीतिक स्थिति मे भी विभिन्न देशो के व्यक्तियो की प्रतिक्रिया भिन्न हो सकती है। छोटे स्तर पर तो मानव व्यवहार के विषय मे सिद्धान्तीकरण फिर भी सम्भव है परन्तु बड़े स्तर पर ऐसे सिद्धान्तो का निर्धारण करना बहुत कठिन है।

(4) नीति निर्माण के क्षेत्र मे व्यवहारवादी अध्ययन की उपयोगिता बहुत सीमित है। नीति निर्माण मे नैतिक पक्ष का महत्त्वपूर्ण स्थान है। व्यवहारवादी अध्ययन नैतिक पक्ष की अवहेलना करता है। इस तरह इसके आदर्शात्मक और नैतिक दोनो ही पक्ष कमजोर हैं।

(5) व्यवहारवादी अध्ययन मे दिन प्रतिदिन की राजनीति का अध्ययन भी नहीं होता।

व्यवहारवादी अध्ययन की आलोचना

परम्परावादी विचारको ने व्यवहारवादी अध्ययन के प्राय सभी पक्षो की आलोचना की है। उनके द्वारा की गई आलोचना के मुख्य बिन्दु निम्नलिखित हैं

(1) व्यवहारवादी अध्ययन का सबसे मुख्य दोष यह है कि मूल्य निरपेक्ष (Value-free) है। यह आदर्शो पर जोर न देकर केवल यथार्थ के अध्ययन तक ही सीमित रहता है। आदर्शों अथवा मूल्यो की उपेक्षा करने के कारण इसके द्वारा अच्छे एवं बुरे मे भेद नहीं किया जा सकता। वस्तुत मूल्यो की धारणा के बिना शोधकार्य रूपहीन और खोखला हो जाता है।

(2) व्यवहारवादी विचारको का अध्ययन निरपक्ष नहीं है। एक ओर तो वे मूल्य निरपेक्षता की बात करते हैं। और दूसरी ओर प्राय सभी व्यवहारवादी विचारक उदार लोकतन्त्र के सिद्धान्तो मे विश्वास करते हैं। इस तरह उनके अध्ययन एवं व्यवहार मे विरोध दिखाई देता है। इसीलिए व्यवहारवादी विचारको को यथास्थितिवादी कहा जाता है।

(3) व्यवहारवादी अध्ययन मे तकनीक एवं पद्धतियो पर बहुत अधिक जोर दिया जाता है। इसके परिणामस्वरूप राजनीति मे परम्परागत चिन्तन तथा दार्शनिक पद्धति का ह्रास होता जा रहा है। एवरी लीसरसन (Avery Leiserson) का मत है कि "व्यवहारवादी महत्त्वपूर्ण विषयों का छोड़कर प्राय अमहत्त्वपूर्ण विषयो के सम्बन्ध मे तथ्य एवं आकड़े इकट्ठे करने मे लगे रहते हैं।"

(4) व्यवहारवादी अध्ययन बहुत अधिक खर्चीला है क्योकि इसम तकनीक एव पद्धतियो के प्रयोग के लिए बहुत अधिक धन की आवश्यकता पड़ती है। इसमे समय भी बहुत लगता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति व्यवहारवादी अन्वेषण नहीं

कर सकता। केवल योग्य एव प्रशिक्षित व्यक्ति ही यह कार्य कर सकते हैं। अमरीका मे इस पर लाखो डालर व्यय किये जा चुके हैं परन्तु अभी तक भी व्यवहारवादी मानव व्यवहार का विज्ञान प्रस्तुत करने मे सफल नही हुए हैं। इस तरह अभी तक भी वे एक सन्तोषजनक राजनीति के विज्ञान की सृष्टि नही कर सके है।

(5) व्यवहारवादियो मे राजनीति को विज्ञान बनाने की होड लगी हुई है परन्तु वे यह भूल जाते है कि राजनीति विज्ञान और प्राकृतिक विज्ञानो की प्रकृति तथा विषय-सामग्री म मूलभूत अन्तर है। राजनीति विज्ञान एक सामाजिक विज्ञान है जिसकी विषय सामग्री एक विचारशील एव सजीव प्राणी है। इस कारण उसे प्राकृतिक विज्ञानो के समकक्ष बनाने का प्रयास कभी सफल नही हो सकता।

(6) व्यवहारवादी अध्ययन जिन पद्धतियो को अपनाने पर जोर देता है उनकी प्रामाणिकता भी असदिग्ध नही है। उनके आधार पर जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं उन निष्कर्षों को पूरी तरह सही एव सारे समुदाय का निष्कर्ष मानना एक बड़ी भूल होगी।

उत्तर व्यवहारवाद (Post Behaviouralism)

व्यवहारवादी अध्ययन मार्ग की दुर्बलताओ ने उत्तर-व्यवहारवाद को जन्म दिया। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात से ही व्यवहारवादी विचारको मे तकनीक (Technique) अथवा अनुसन्धान के तरीको पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया जिसके परिणामस्वरूप राजनीति विज्ञान जीवन की वास्तविक समस्याओ से अलग हट गया। सन् 1960 मे व्यवहारवाद की इस स्थिति पर सबसे अधिक भारी प्रहार डेविड ईस्टन ने किया जो स्वय व्यवहारवादी क्रान्ति के अग्रदूतो मे से था। डेविड ईस्टन ने यह अनुभव किया कि जहाँ एक ओर ससार मे तेजी से भारी राजनीतिक एव सामाजिक परिवर्तन हो रहे हैं वहाँ दूसरी ओर व्यवहारवादी विचारक अनुसन्धान की तकनीकियो का विकास करने पर समय बर्बाद कर रहे हैं। अत उसने नवीन परिस्थितियो के अनुरूप व्यवहारवादी अध्ययन की प्रगति पर निराशा व्यक्त की। उसने व्यवहारवादी अध्ययन के पुनरावलोकन की ओर विचारको का ध्यान खींचा। उसका विचार था कि राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत किया जाने वाला शोध एव उसकी अध्ययन पद्धति ऐसी होनी चाहिए जिससे जीवन की वास्तविक समस्याओ को समझने एव उनका समाधान करने मे सहायता मिले। उसकी प्रेरणा से प्रायः सभी व्यवहारवादी विचारक इस बात पर जोर देने लगे कि नवीन समस्याओ का समाधान करने के लिए व्यवहारवादी अध्ययन को अधिक सक्षम बनाया जाए। इसी को उत्तर व्यवहारवाद कहा जाता है।

उत्तर व्यवहारवाद मे इस बात पर अधिक जोर दिया गया कि (i) राजनीति विज्ञान के शोध एव अध्ययन को समाज की वास्तविक आवश्यकताओ के अनुरूप बनाया जाए, (ii) सामाजिक स्थिरता के स्थान पर सामाजिक परिवर्तन पर जोर दिया जाए, (iii) मूल्यो (Values) को केन्द्रीय स्थिति प्रदान की जाए, (iv) सभ्यता

के मानवीय मूल्यों की रक्षा की जाए, (v) ज्ञान का उपयोग सामाजिक समस्याओं के हल करने में किया जाय, इत्यादि।

सन् 1970 के पश्चात् से पूर्व व्यवहारवादी तथा उत्तर व्यवहारवादियों के बीच भेद की स्थिति समाप्त हो गई है तथा दोनों के विचारों में समन्वय हो गया है। अब व्यवहारवादियों की इस बात को स्वीकार कर लिया गया है कि राजनीति विज्ञान के शोध एवं अध्ययन के लिए अधिक शुद्ध एवं वैज्ञानिक पद्धति अपनाई जाए तथा उत्तर व्यवहारवादियों की इस बात को स्वीकार कर लिया गया है कि राजनीति विज्ञान का अध्ययन जीवन की वास्तविक समस्याओं के सन्दर्भ में किया जाए, उनसे पृथक हटकर नहीं, अन्यथा राजनीति विज्ञान के अध्ययन का कोई मूल्य नहीं रह जायेगा।

निष्कर्ष

उपर्युक्त सभी पद्धतियों का विवेचन करने के पश्चात् अब यह प्रश्न उठता है कि इनमें से सर्वश्रेष्ठ पद्धति कौन सी है ? राजनीति विज्ञान के अध्ययन की दृष्टि से ऊपर हमने दो प्रकार की अध्ययन पद्धतियों का वर्णन किया है—**परम्परागत अध्ययन पद्धतियाँ एवं आधुनिक पद्धतियाँ**। वास्तविकता तो यह है कि राजनीति विज्ञान के अध्ययन के लिए हम इनमें से किसी भी एक पद्धति को पर्याप्त एवं सर्वश्रेष्ठ नहीं मान सकते। सभी पद्धतियों में कुछ न कुछ कमियाँ हैं और इसीलिए वे अपने आप में अपूर्ण हैं। परन्तु यह समझना भी एक भूल होगी कि इन पद्धतियों में आपस में कोई विरोध है। वस्तुतः ये सभी पद्धतियाँ आपस में विरोधी न होकर अन्योन्याश्रित और एक दूसरे की पूरक हैं। इसलिए राजनीति विज्ञान के अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि एक ओर तो परम्परागत अध्ययन पद्धतियों में ही समन्वय किया जाए जैसा कि गिलक्राइस्ट ने ऐतिहासिक तथा दार्शनिक पद्धतियों के समन्वय को श्रेष्ठ पद्धति माना है, वहाँ दूसरी ओर अब यह भी आवश्यक हो गया है कि परम्परागत अध्ययन पद्धतियों तथा आधुनिक अध्ययन पद्धतियों में भी समन्वय किया जाए। राजनीति विज्ञान के अध्ययन का आधार तो परम्परागत पद्धतियाँ ही रहें परन्तु उसके अध्ययन को अधिक वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करने के लिए यह आवश्यक है कि आधुनिक अध्ययन पद्धतियों को भी अवश्य अपनाया जाए।

अभ्यास के प्रश्न

1 राजनीति विज्ञान के अध्ययन की परम्परागत पद्धतियाँ कौन सी हैं ? संक्षेप में उनका मूल्यांकन कीजिए।
2 राजनीति विज्ञान के अध्ययन में ऐतिहासिक, दार्शनिक एवं तुलनात्मक पद्धतियों का परीक्षण कीजिए तथा उनकी सीमाएँ एवं उपयोगिता स्पष्ट कीजिए।

3 राजनीति विज्ञान के अध्ययन में पर्यवेक्षणात्मक, प्रयोगात्मक एवं दार्शनिक पद्धतियों के महत्त्व तथा सीमाओं का परीक्षण कीजिए।

4 वैज्ञानिक पद्धति के मुख्य तत्त्व क्या हैं? इनको राजनीति विज्ञान पर किस सीमा तक लागू किया जा सकता है? (राजस्थान विश्व०, 1977)

5 वैज्ञानिक पद्धति से आपका क्या तात्पर्य है? राजनीति विज्ञान में वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग किस प्रकार किया जा सकता है?

(राजस्थान विश्व०, 1975)

6 उचित उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए कि राजनीति विज्ञान में वैज्ञानिक पद्धति को प्रभावी ढंग से लागू किया जा सकता है।

7 राजनीति विज्ञान में व्यवहारवाद के उदय के कारणों एवं परिस्थितियों की विवेचना कीजिए।

8 व्यवहारवाद के अर्थ का परीक्षण कीजिए तथा व्यवहारवाद द्वारा परम्परागत राजनीति विज्ञान की आलोचना को स्पष्ट कीजिए।

9 व्यवहारवाद के प्रमुख लक्षणों को स्पष्ट कीजिए तथा उसकी सीमाओं का परीक्षण कीजिए। (राजस्थान विश्वविद्यालय, 1978)

10 राजनीति विज्ञान पर व्यवहारवाद के प्रभाव का मूल्यांकन कीजिए।

11 उत्तर-व्यवहारवाद का क्या अर्थ है? यह व्यवहारवाद से किस प्रकार भिन्न है?

12 क्या यह कथन उचित है कि उत्तर-व्यवहारवाद, व्यवहारवाद की सीमाओं के निवारण का प्रयास है?

13 यदि आपको विकल्प दिया जाए तो आप राजनीति विज्ञान के परम्परागत तथा आधुनिक दृष्टिकोणों में से किसको प्राथमिकता देंगे? कारण सहित उत्तर दीजिए।

14 वर्तमान काल में राजनीति विज्ञान के अध्ययन हेतु कौन सी अध्ययन पद्धतियों का प्रयोग किया जा रहा है? (राजस्थान विश्व०, 1974)

3

राजनीति विज्ञान का अन्य सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्ध

RELATION OF POLITICAL SCIENCE TO OTHER SOCIAL SCIENCES]

> "इन दूसरे सहायक विज्ञानों का यथावत् ज्ञान प्राप्त किये बिना राजनीति विज्ञान एवं राज्य का पूर्ण ज्ञान ठीक उसी प्रकार प्राप्त नहीं कर सकते जिस प्रकार गणित के बिना यन्त्र विज्ञान और रसायनशास्त्र के बिना जीव विज्ञान का यथावत ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।" —गार्नर

राजनीति विज्ञान की अन्य सामाजिक विज्ञानों पर निर्भरता

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसके सामाजिक जीवन के विविध पक्ष होते हैं, जैसे राजनीतिक आर्थिक, नैतिक ऐतिहासिक इत्यादि। इन विविध पक्षों का अध्ययन विभिन्न समाज विज्ञानों के द्वारा किया जाता है। उदाहरण के लिए, राजनीति विज्ञान मानव जीवन के राजनीतिक पक्ष का अध्ययन करता है तो अर्थशास्त्र उसके आर्थिक पक्ष का अध्ययन करता है। इतिहास उसके भूतकालीन जीवन का अध्ययन करता है तो नीतिशास्त्र उसके जीवन को श्रेष्ठ बनाने पर विचार करता है। मानव जीवन के सभी पक्ष एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होते हैं, अतः उन पक्षों का अध्ययन करने वाले समाज विज्ञानों में भी परस्पर घनिष्ठता रहना स्वाभाविक है। वस्तुतः सभी समाज विज्ञान ज्ञान रूपी एक ही वृक्ष की *विभिन्न शाखाओं के समान हैं, जिन सबकी एक ही जड़ है—मनुष्य का सामाजिक* जीवन। ये सभी समाज विज्ञान आपस में एक दूसरे पर इतने निर्भर हैं कि दूसरों से पृथक रहकर किसी भी एक का पूर्ण अध्ययन नहीं किया जा सकता। इसी उद्देश्य से *आजकल अन्तर्शास्त्रीय दृष्टिकोण* (Interdisciplinary Approach) को विशेष महत्त्व दिया जाने लगा है तथा सभी समाज विज्ञानों में समान अध्ययन पद्धतियों का भी प्रयोग किया जाने लगा है।

अतः यह स्पष्ट है कि अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की रक्षा करते हुए भी राजनीति विज्ञान अन्य समाज विज्ञानों से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। अब यह विचार बल पकड़ता जा रहा है कि राजनीति विज्ञान का अध्ययन अन्य समाज विज्ञानों की वृहत् परिधि का पूरा ध्यान रखते हुए ही होना चाहिए। गुन्नार हेक्शर (Gunnar Heckscher) का यह कथन सही है कि राजनीति विज्ञान किसी भी दृष्टि से आत्म-निर्भर नहीं है। प्रसिद्ध फ्रांसीसी विचारक पॉल जेनेट ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "राजनीति विज्ञान का अनेक समाज विज्ञानों के साथ निकट का सम्बन्ध है यथा राजनीतिक अर्थशास्त्र अथवा सम्पत्ति विज्ञान से, कानून से चाहे वह प्राकृतिक हो अथवा मानवीय जो नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन करता है, इतिहास से जो उसके लिए आवश्यक सामग्री जुटाता है, दर्शनशास्त्र से और विशेषकर नीतिशास्त्र से जिससे इसे कुछ सिद्धान्त प्राप्त होते हैं।'[1] प्रसिद्ध विद्वान गार्नर ने भी इसी प्रकार का मत प्रकट करते हुए लिखा है कि "हम दूसरे सहायक विज्ञानों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त किये बिना राजनीति विज्ञान एवं राज्य का पूर्ण ज्ञान ठीक उसी प्रकार प्राप्त नहीं कर सकते जिस प्रकार गणित के बिना यन्त्र विज्ञान और रसायनशास्त्र के बिना जीव विज्ञान का यथावत् ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।"[2] उन्होंने सिजविक (Sidgwick) के विचारों का समर्थन करते हुए आगे लिखा है कि "प्रत्येक विज्ञान एवं ज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि वह दूसरे विज्ञानों के साथ सम्बन्ध स्थापित करे और यह निर्णय करे कि उन विज्ञानों के कौन कौन से तर्क उनसे अपने लिए ग्रहण करना उपयोगी होगा और वह स्वयं उनको क्या दे सकेगा। इस प्रकार राजनीति विज्ञान को अपना सामान्य लक्ष्य प्राप्त करने के लिए दूसरे सहायक समाज विज्ञानों के साथ एक भागीदार की तरह कार्य करना चाहिए।"[3] प्रो० राजसेक आदि के द्वारा भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये गये हैं। उनके अनुसार

1 "Political Science is closely connected with Political Economy of the science of wealth, with law either natural or positive which occupies itself principally with the relation of citizens to one another, with history, which furnishes the facts of which it has need, with philosophy and especially with morals which gives to it a part of its principles" —Paul Janet

2 "We can not understand Political Science, as the science of the totality of state phenomena without a knowledge of the allied science or disciplines than we can comprehend biology without chemistry or mechanics without mathematics "—Garner J W *Political Science and Government* p 26-27

3 Garner, J W *Political Science and Government* (Hindi Ed), पृ० 20.

"राजनीतिक जीवन की आधारभूत समस्याओं की उचित समीक्षा करने तथा राजनीतिक प्रक्रियाओ की प्रकृति की उचित जानकारी प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि अर्थशास्त्र, मानवशास्त्र, समाजशास्त्र, इतिहास, मनोविज्ञान एवं भूगोल से घनिष्ठता कायम की जाए।"[1]

अत इस अध्याय मे हम यह अध्ययन करेंगे कि राजनीति विज्ञान का अन्य समाज विज्ञानो से क्या सम्बन्ध है।

राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्र
(Political Science and Sociology)

राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्र के बीच बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योकि समाजशास्त्र सब सामाजिक विज्ञानो का जनक है। समाजशास्त्र के अध्ययन की सामग्री मे समस्त सामाजिक संस्थाओ की उत्पत्ति और उनके स्वरूप आ जाते है। राज्य भी उनमे से एक संस्था है। इस तरह राजनीति विज्ञान समाजशास्त्र का ही एक भाग है क्योकि उसका सम्बन्ध सामाजिक जीवन के राजनीतिक पहलू से है। राजनीति विज्ञान के अध्ययन का विषय राज्य है जो समाज का ही एक अग है। अत राज्य एक राजनीतिक संस्था होने के साथ-साथ एक सामाजिक संस्था भी है। जैसा कि रेट्जन-होफर (Ratzen Hofer) ने कहा है कि "राज्य अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे एक राजनीतिक संस्था की अपेक्षा एक सामाजिक संस्था ही अधिक थी।" अत समाजशास्त्र और राजनीति विज्ञान म घनिष्ठ सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। प्रसिद्ध विद्वान गार्नर ने इन दोनो विषयो के घनिष्ठ सम्बन्धो की चर्चा करते हुए लिखा है कि "समाजशास्त्र को राजनीति विज्ञान के द्वारा राज्य के सगठन एव कार्यों के सम्बन्ध मे ज्ञान प्राप्त होता है जबकि राजनीति विज्ञान को समाजशास्त्र से पर्याप्त मात्रा मे राजसत्ता के प्रादुर्भाव तथा सामाजिक नियन्त्रण के नियमो का ज्ञान प्राप्त होता है।"[2]

इन दोनो विषयो मे सम्बन्धो का अध्ययन अग्रलिखित रूपो मे किया जा सकता है

---

1 "Familiarity with economics, anthropology, sociology, history psychology and geography is essential to the proper understanding of the nature of political processes and to a genuine appreciation of the basic problems of political life." —Roucek & Others *Introduction to Political Science*, p [illegible]

2 "Sociology derives from Political Science knowledge of the facts regarding the organization and activities of the state, while Political Science derives in large measure from Sociology its knowledge of the origin of political authority and the laws of social control" —Garner *Political Science and Government* (Hindi Ed), p 22-23

समाजशास्त्र की राजनीति विज्ञान को देन—समाजशास्त्र राजनीति विज्ञान को राज्य की मूलभूत बातों तथा उसकी सामाजिक आधारशिला का ज्ञान कराता है। समाजशास्त्र हमें राज्य की प्रारम्भिक स्थितियों का ज्ञान कराता है। वह राज्य तथा अन्य राजनीतिक संस्थाओं की उत्पत्ति एवं विकास का ज्ञान कराता है। वह राजनीतिक शक्ति सत्ता, राजनीतिक आदर्शों, विचारधाराओं एवं शासन प्रणालियों के मूल स्रोतों का ज्ञान कराता है। अतः समाजशास्त्र के बिना राजनीति विज्ञान का अध्ययन नहीं किया जा सकता। प्रो० गिडिंग्स ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि 'समाजशास्त्र के प्राथमिक सिद्धान्तों से अनभिज्ञ व्यक्तियों को राज्य के सिद्धान्तों की शिक्षा देना ठीक वैसा ही है जैसा कि न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त से अपरिचित व्यक्तियों को खगोल विद्या (Astronomy) अथवा उष्णता तथा यन्त्र विद्या (Thermodynamics) से सम्बन्धित ज्ञान की शिक्षा देना है।'[1]

यही नहीं बल्कि समाजशास्त्र ने राजनीति विज्ञान के अध्ययन को आधुनिक युग में [illegible] प्रभावित किया है। जैसा कि बार्नेस का कथन है कि "समाजशास्त्र तथा आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त के सम्बन्ध में सबसे ब[illegible] विशेष बात यह है कि राजनीतिक सिद्धान्तों में पिछले तीस वर्षों में जो भी परिवर्तन हुए हैं, वे समाज विज्ञान द्वारा बताये गये तरीकों से तथा उसके द्वारा निर्दिष्ट विकास की दिशा में ही हुए हैं।"[2] इस तरह हम कह सकते हैं कि समाजशास्त्र के बिना राजनीति विज्ञान का ज्ञान अधूरा ही रहेगा। गार्नर का यह कथन सत्य है कि "राजनीतिक सिद्धान्त सामाजिकता में गड़े हुए हैं और यदि राजनीति विज्ञान समाजशास्त्र से भिन्न है तो यह इस कारण है कि उसके विस्तृत क्षेत्र के समुचित विवेचन के लिए विशेषज्ञों की आवश्यकता होती है, इसलिए नहीं कि राजनीति विज्ञान तथा समाजशास्त्र के बीच कोई सुनिश्चित विभाजन रेखा है।"[3]

---

1 "To teach the theory of the state to men who have not learned the first principles of sociology is like teaching astronomy or thermodynamics to men who have not learned the Newtonian Laws of Motion"—H Giddings *Principles of Sociology*, p 37.

2 "The most significant thing about sociology and modern political theory is that most of the changes which have taken place in political theory in the last thirty years have been along the line of development, suggested and marked out by sociology."—Barnes *Sociology and Political Theory*, p 24

3 "Political theory is embodied in the social and if Political Science remains distinct from sociology, it will be because the breadth of the field calls for the specialist and not because they are any well-defined boundaries marking it off from sociology"—Garner *Political Science and Government* (Hindi ed), p 22.

राजनीति विज्ञान की समाजशास्त्र को देन—राजनीति विज्ञान भी समाजशास्त्र को उसके अध्ययन में महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान करता है। समाजशास्त्र में मानव-जीवन के विभिन्न पक्षों का अध्ययन किया जाता है। इनमें से राजनीतिक पक्ष भी एक है। राज्य क्या है, इसकी उत्पत्ति कैसे हुई, उसका सगठन कैसे होता है, उसका क्या ध्येय है, उसके क्या-क्या कार्य हैं आदि सब बातों का अध्ययन समाजशास्त्र में किया जाता है और समाजशास्त्र को राज्य सम्बन्धी यह समस्त जानकारी राजनीति विज्ञान से ही प्राप्त होती है। गैटल का यह कथन सही है कि **"समाजशास्त्र राज्य के सगठन और कार्यों के सम्बन्ध में राजनीति विज्ञान से ही तथ्य एव विचार एकत्रित करता है।"**

उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट है कि दोनों सामाजिक विज्ञान एक-दूसरे को सहयोग देते हैं। इसीलिए यह कहा गया है कि एक राजनीतिक वैज्ञानिक को समाजशास्त्री होना चाहिए तथा एक समाजशास्त्री को राजनीति वैज्ञानिक।

राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्र में अन्तर—यद्यपि राजनीति विज्ञान तथा समाजशास्त्र में काफी साम्य पाया जाता है परन्तु फिर भी दोनों विज्ञानों में कुछ भिन्नताएँ भी हैं। ये भिन्नताएँ निम्नलिखित हैं

(1) क्षेत्र में अन्तर—समाजशास्त्र का क्षेत्र राजनीति विज्ञान की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। समाजशास्त्र अपने व्यापक अर्थ में समाज के सभी स्वरूपों तथा पक्षों का अध्ययन करता है जबकि राजनीति विज्ञान केवल राज्य और उसकी शासन पद्धति का अध्ययन करता है। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि समाजशास्त्र मनुष्य के सभी सामाजिक सम्बन्धों तथा सभी प्रकार के मानवीय समुदायों का विवेचन करता है जबकि राजनीति विज्ञान मनुष्य के केवल राजनीतिक सम्बन्धों तथा राजनीतिक समुदायों का ही विवेचन करता है। इस तरह राजनीति विज्ञान समाजशास्त्र का एक विशिष्ट अंग मात्र है। गिलक्राइस्ट के शब्दों में "समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है राजनीति विज्ञान राज्य अथवा राजनीतिक समाज का विज्ञान है। समाजशास्त्र मनुष्य का एक सामाजिक प्राणी के रूप में अध्ययन करता है, और चूँकि राजनीतिक सगठन एक विशेष प्रकार का सामाजिक सगठन है इसलिए राजनीति विज्ञान समाजशास्त्र की अपेक्षा अधिक विशिष्ट शास्त्र है।"[1]

(2) अध्ययन सामग्री में अन्तर—(a) समाजशास्त्र सगठित तथा असगठित

1 "Sociology is the science of society, Political Science is the science of the state or political society Sociology studies man as a social being and as political organisation is a special kind of social organisation Political Science is a more specialised science than Sociology" —Gilchrist

सभी प्रकार के समुदायो का अध्ययन करता है जबकि राजनीति विज्ञान केवल राजनीतिक रूप से सगठित समुदाय का ही अध्ययन करता है ।

(b) समाजशास्त्र मनुष्यो के चेतन तथा अचेतन सभी प्रकार के कार्यों का अध्ययन करता है जबकि राजनीति विज्ञान मनुष्य के केवल चेतन कार्यों का ही अध्ययन करता है ।

(c) राजनीति विज्ञान केवल विधि पर आधारित राजनीतिक सम्बन्धो का ही अध्ययन करता है जबकि समाजशास्त्र विधियो के अलावा धार्मिक प्रथाओ, परम्पराओं तथा सामाजिक आचार विचारो आदि का भी अध्ययन करता है ।

(d) समाजशास्त्र मे अध्ययन की इकाई व्यक्ति है जबकि राजनीति विज्ञान मे अध्ययन की इकाई राज्य है ।

(e) राजनीति विज्ञान यह मानकर चलता है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है जबकि समाजशास्त्र इसके पहले की स्थिति का विवेचन करता है कि मनुष्य किस प्रकार तथा किन अवस्थाओ मे सामाजिक प्राणी बना ।

उद्देश्य मे अन्तर—समाजशास्त्र एक वर्णनात्मक विज्ञान (Descriptive Science) है जबकि राजनीति विज्ञान एक आदर्शपरक विज्ञान (Normative Science) है । दूसरे शब्दो मे, हम यह कह सकते हैं कि समाजशास्त्र केवल इस बात का अध्ययन करता है कि क्या हो चुका है तथा क्या हो रहा है । वह इस बात का अध्ययन नही करता कि क्या होना चाहिए । परन्तु राजनीति विज्ञान इस बात की भी विवेचना करता है कि भविष्य मे क्या होना चाहिए । उसका लक्ष्य एक आदर्श स्वरूप की प्राप्ति है ।

राजनीति विज्ञान और इतिहास
(Political Science and History)

दोनों एक-दूसरे के पूरक—राजनीति विज्ञान का इतिहास मे भी घनिष्ठ सम्बन्ध है । एक के अभाव मे दूसरे का अध्ययन निरर्थक एव सारहीन है । राजनीति विज्ञान को भलीभाँति समझने के लिए हमे राजनीतिक सस्थाओ का ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करना चाहिए । इसी प्रकार इतिहास को भलीभाँति हृदयगम करने के लिए हमे उसका राजनीतिक दृष्टि से अध्ययन करना चाहिए । इस तरह अध्ययन की दृष्टि से दोनो एक दूसरे के सहायक तथा पूरक हैं । फ्रीमैन ने तो यहाँ तक कहा है कि "इतिहास भूतकालीन राजनीति है और राजनीति वर्तमानकालीन इतिहास है ।"[1] इन दोनो विषयो की पारस्परिक निर्भरता तथा घनिष्ठ सम्बन्धो की चर्चा करते हुए प्रो० सीले ने लिखा है कि "यदि इतिहास द्वारा राजनीति को उदार न बनाया जाए तो वह उच्छृंखल हो जाती है और यदि इतिहास राजनीति से अपना सम्बन्ध विच्छेद

---

1 "History is nothing but past politics and politics is nothing but current history." —Freeman

करले तो वह कोरा साहित्य मात्र ही रह जाता है।"[1] बर्गेस का भी यही मत है कि "यदि राजनीति विज्ञान और इतिहास को एक-दूसरे से पृथक कर दिया जाए तो उनमे से एक मृत नहीं तो पगु अवश्य हो जायेगा और दूसरा आकाश-पुष्प अथवा मृग-मारीचिका बनकर रह जायेगा।'[2] इतिहास और राजनीति विज्ञान की पारस्परिक निर्भरता के सम्बन्ध मे प्रो॰ सीले का यह कथन उल्लेखनीय है कि "राजनीति विज्ञान के बिना इतिहास फलरहित है तथा इतिहास के बिना राजनीति विज्ञान जड़रहित अथवा निराधार है।"[3] प्राय सभी विचारक दोनो विषयो के घनिष्ठ सम्बन्धो को स्वीकार करते है। दोनो का यह सम्बन्ध हम निम्नलिखित रूपो मे देख सकते हैं :

इतिहास की राजनीति विज्ञान को देन—राजनीति विज्ञान अनेक रूपो मे इतिहास का ऋणी है। इतिहास ने राजनीति विज्ञान को निम्नलिखित रूपो मे सहायता प्रदान की है

(क) *राजनीति विज्ञान का अध्ययन इतिहास पर निर्भर*—राजनीति विज्ञान का समुचित अध्ययन इतिहास पर निर्भर है। इतिहास राजनीति विज्ञान को अध्ययन की सामग्री प्रदान करता है। जैसाकि सीकॉक ने कहा है कि 'इतिहास के बिना राजनीति विज्ञान का अस्तित्व ही नहीं होता, क्योंकि राजनीति विज्ञान को अपने भवन का निर्माण करने के लिए इतिहास ही सामग्री प्रदान करता है।' वस्तुत राज्य एव राजनीतिक सस्थाऐं विकास का परिणाम होती हैं। उनके भली प्रकार अध्ययन मे उनके ऐतिहासिक विकास की पृष्ठभूमि बहुत काम आती है। यही नही, प्राचीन युग के राजनीतिक विचार भी उसी काल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे भली-भाँति समझे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए प्लेटो और अरस्तू के राजनीतिक विचारो को समझने के लिए प्राचीन यूनान की ऐतिहासिक व्यवस्था को समझना अत्यन्त आवश्यक है। अत वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन इतिहास के आधार पर ही किया जा सकता है। जेलिनेक ने कहा है कि 'यह आजकल सर्वमान्य सत्य है कि *राजनीतिक सामाजिक एव कानूनी सस्थाओं का समुचित ज्ञान प्राप्त करने के लिए उनके ऐतिहासिक अध्ययन की आवश्यकता होती है।*"

---

1 'Politics is vulgar when not liberalized by History and History fades into mere literature when it loses sight of its relation to politics."—Seeley *Introduction to Political Science*, p 4.

2 'Separate them and the one becomes a cripple if not a corpse, the other a will of the wisp"—Burgess · *Annual Report American Historical Association*, Vol I, p 211

3 "History without Political Science has no fruit, Political Science without History has no root"—Seeley *Introduction to Political Science*, p 4.

(ख) राजनीति विज्ञान के आदर्शों तथा सिद्धान्तों के निर्धारण में सहायता—इतिहास राजनीति विज्ञान के भावी आदर्शों तथा सिद्धान्तों को निर्धारित करने में भी सहायता प्रदान करता है। भविष्य के लिए आदर्श राजनीतिक व्यवस्था का चित्रण इतिहास के बिना नहीं किया जा सकता। जब तक राजनीतिक व्यवस्था के आदर्शों तथा सिद्धान्तों को दृढ़ ऐतिहासिक आधार नहीं मिलेगा, तब तक वे केवल कोरी कल्पना ही रहेगी। इतिहास द्वारा हमें तुलना तथा अनुमान के लिए वह सामग्री प्राप्त होती है जिसकी सहायता से हम आदर्श राजनीतिक व्यवस्था के ढाँचे का निर्माण कर सकते हैं।

(ग) इतिहास राजनीति की प्रयोगशाला तथा मार्गदर्शक—इतिहास राजनीति विज्ञान की प्रयोगशाला तथा मार्गदर्शक के रूप में है? इतिहास मनुष्य की सफलताओं तथा असफलताओं का संग्रह है। अतीत में मानव जाति ने क्या भूलें की हैं, किस नीति को अपनाने का क्या परिणाम हुआ है इन सब बातों की जानकारी हमें इतिहास से मिलती है। अतीत में किये गये ये सारे कार्य राजनीतिक प्रयोग ही हैं और इन प्रयोगों से लाभ उठाकर राजनीतिज्ञ भविष्य के लिए सचेत हो जाता है तथा अतीत की त्रुटियों को दुहराने से बच जाता है। इस तरह इतिहास राजनीतिज्ञों के लिए मार्गदर्शक के रूप में कार्य करता है। उदाहरण के लिए, हम कह सकते हैं कि इतिहास में किस नीति को अपनाने के कारण अकबर को सफलता मिली तथा औरंगजेब को विफलता मिली, भारत लम्बे समय तक परतन्त्र क्यों रहा, देश में राजनीतिक अव्यवस्था क्यों रही, आदि बातों ने भारतीय संविधान निर्माताओं को धर्म निरपेक्ष राज्य, शक्तिशाली केन्द्र तथा संघात्मक शासन व्यवस्था अपनाने की प्रेरणा दी।

उपरोक्त बातों के आधार पर हम कह सकते हैं कि इतिहास राजनीति विज्ञान का आधार है। इस सम्बन्ध में लॉर्ड एक्टन के ये शब्द उल्लेखनीय हैं कि **"इतिहास की धारा में राजनीति का विज्ञान उसी भाँति संचित है, जिस प्रकार नदी की रेत में सोने के कण।"**[1] इस सम्बन्ध में विलोबी ने भी कहा है कि **"इतिहास राजनीति विज्ञान की तीसरी दिशा दर्शाता है।"**[2]

राजनीति विज्ञान की इतिहास को देन—यह आदान प्रदान एकपक्षीय नहीं है। यदि इतिहास राजनीति विज्ञान को कुछ देता है तो दूसरी ओर वह राजनीति विज्ञान से कुछ ग्रहण भी करता है। राजनीति विज्ञान से ग्रहण किये बिना इतिहास

---

1 "The science of politics is the one science, that is deposited by the stream of history like the grains of gold in the sands of a river." —**Lord Acton**

2 "History offers the third dimension of Political Science." —**Willoughby**

अपेक्षाकृत निर्धन हो जायेगा। अतः इतिहास भी राजनीति विज्ञान का ऋणी है राजनीति विज्ञान निम्नलिखित रूपों में इतिहास की सहायता करता है

(क) इतिहास के अध्ययन को सारगर्भित बनाना—राजनीति विज्ञान इतिहास के अध्ययन को सारगर्भित बनाता है। राजनीतिक घटनाएँ इतिहास को निर्धारित करती हैं। राजनीतिक क्षेत्र में जो कुछ होता है वही आगे चलकर इतिहास बन जाता है। यदि राजनीतिक घटनाओं, आन्दोलनों एवं विचारधाराओं का सही मूल्यांकन न किया जाए तो हमारा इतिहास सम्बन्धी अध्ययन सारहीन एवं अर्थहीन हो जाएगा। इसके अतिरिक्त किसी भी युग के इतिहास का पूर्ण अध्ययन उस युग के राजनीतिक विचारों तथा संस्थाओं के अध्ययन के अभाव में कभी भी सम्भव नहीं है। उदाहरणार्थ, 19वीं शताब्दी के यूरोप के इतिहास का अध्ययन तब तक अपूर्ण माना जायेगा, जब तक कि उस समय के यूरोप में प्रचलित राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद, व्यक्तिवाद, समाजवाद तथा ऐसी ही अन्य विचारधाराओं का अध्ययन न किया जाए। इसी प्रकार भारतीय स्वतन्त्रता के इतिहास का अध्ययन व्यर्थ और महत्त्वहीन हो जाएगा, यदि हम भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से लेकर स्वतन्त्रता प्राप्ति तक की प्रमुख घटनाओं तथा उन सबके राजनीतिक परिणामों की सम्यक रूप से व्याख्या न करें। इसी तरह यदि हम स्वतन्त्र भारत के इतिहास का अध्ययन करना चाहते हैं तो यह अध्ययन तब तक अपूर्ण माना जाएगा, जब तक कि अन्य बातों के अलावा स्वतन्त्रता प्राप्ति से लेकर अब तक की प्रमुख राजनीतिक घटनाओं (जैसे भारतीय संविधान का निर्माण, भारत में अब तक हुए आम चुनाव, संविद सरकारों का निर्माण एवं उनका पतन, सन् 1975 में की गई आपातकाल की घोषणा एवं उसका महत्त्व, संविधान में 44वें संशोधन की आवश्यकता एवं उसका महत्त्व, इत्यादि) की विवेचना न की जाए। इस तरह हम कह सकते हैं कि राजनीतिक घटनाएँ बहुत कुछ हद तक इतिहास के मार्ग का निर्माण करती हैं। लीकॉक के अनुसार, "एक अन्तर्निहित राजनीति विज्ञान के अभाव में इतिहास का सारा महत्त्व नष्ट हो जाएगा।"[1]

लॉर्ड ब्राइस ने भी इस सम्बन्ध में कहा है कि "राजनीति विज्ञान इतिहास और राजनीति के बीच की कड़ी है और वह अतीत को वर्तमान से जोड़ता है। यह इतिहास अपनी सामग्री प्राप्त करता है और राजनीति में उस सामग्री का प्रयोग करता है।"[2]

---

1 Leacock *The Elements of Political Science*, London, p. 6

2 "Political Science stands midway between History and Politics, between the past and present II has drawn its material from the one and it has to apply them to the other"—Lord Bryce, Quoted by E Asirvathan *Political Theory* p 7

राज० मूल तत्त्व, 5

(ख) राजनीतिक विचारधाराओं द्वारा ऐतिहासिक घटनाओं को जन्म देना— राजनीति इतिहास को इस रूप में भी प्रभावित करती है कि राजनीतिक विचारधाराएँ ऐतिहासिक घटनाओं को जन्म देती हैं। उदाहरणार्थ, हम यह कह सकते हैं कि रूसो के विचारों ने फ्रांस की राज्यक्रान्ति को, कार्ल मार्क्स के विचारों ने रूस की क्रान्ति को तथा महात्मा गांधी के विचारों ने भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन को काफी प्रभावित किया। इसी तरह आज भी लोकतान्त्रिक समाजवाद की विचारधारा अनेक देशों में नई नई घटनाओं को जन्म दे रही है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि इतिहास और राजनीति विज्ञान दोनों *एक दूसरे के पूरक हैं तथा दोनों अन्योन्याश्रित हैं।* दोनों विषयों के पारस्परिक सम्बन्धों की विवेचना करते हुए सीले ने लिखा है कि "राजनीति विज्ञान के बिना इतिहास का अध्ययन अपूर्ण तथा खण्डित है और दूसरी ओर इतिहास के बिना राजनीति विज्ञान खोखला और निराधार है।"

राजनीति विज्ञान तथा इतिहास में अन्तर—इसमें कोई सन्देह नहीं कि राजनीति विज्ञान और इतिहास में घनिष्ठ सम्बन्ध है परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि *दोनों विषय एक ही हैं और एक के बिना दूसरे का कोई अस्तित्व नहीं है।* हम फ्रीमैन के इस कथन को स्वीकार नहीं कर सकते कि "इतिहास अतीत की राजनीति है और राजनीति वर्तमान इतिहास है।" वस्तुतः इन दोनों विषयों में कुछ मौलिक अन्तर हैं जो निम्नलिखित हैं

(1) **क्षेत्र में अन्तर**—राजनीति विज्ञान की तुलना में इतिहास का क्षेत्र बहुत अधिक व्यापक है। इतिहास सामाजिक जीवन के धार्मिक, आर्थिक, *राजनीतिक सांस्कृतिक, नैतिक इत्यादि सभी पक्षों का अध्ययन करता है* जबकि राजनीति विज्ञान केवल उसके राजनीतिक पक्ष का ही अध्ययन करता है। इसके अन्तर्गत ऐसी बातों का अध्ययन किया जाता है जिनका सम्बन्ध राज्य तथा अन्य राजनीतिक संस्थाओं की उत्पत्ति, उनके स्वरूप, उनके विकास तथा उन पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालने वाले तथ्यों से होता है। इस तरह राजनीति विज्ञान का क्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित है किन्तु इस सीमित क्षेत्र में वह गहराई के साथ अध्ययन करता है।

(2) **अध्ययन पद्धति में अन्तर**—राजनीति विज्ञान तथा इतिहास में अध्ययन पद्धति का भी भेद है। इतिहास की अध्ययन पद्धति वर्णनात्मक है। उसमें सभी घटनाओं का ज्यों का त्यों उनके कालक्रम के अनुसार वर्णन किया जाता है। उसमें घटनाओं का चयन नहीं किया जाता। इसके विपरीत राजनीति विज्ञान चिन्तनमूलक है। उसमें केवल उन तथ्यों का चयन कर लिया जाता है जिनका सम्बन्ध लोगों के राजनीतिक जीवन से होता है, फिर पर्यवेक्षणात्मक तथा विचारात्मक पद्धति के

आधार पर उनका अध्ययन किया जाता है। इस तरह पर्यवेक्षण के आधार पर यह कुछ सामान्य नियमों एवं राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है।

(3) उद्देश्य में अन्तर—दोनों विज्ञानों के उद्देश्य में भी भिन्नता है। इतिहास वर्णनात्मक होता है। उसका अध्ययन यथार्थवादी होता है। उसमें दार्शनिकता नहीं होती। उसका काम नैतिक निर्णय देना नहीं है। वह केवल यह बता सकता है कि राज्य वर्तमान में कैसा है और अतीत में कैसा था परन्तु वह यह नहीं बता सकता कि भविष्य में राज्य को कैसा होना चाहिए। इस तरह इतिहास आदर्शात्मक नहीं होता। इसके विपरीत राजनीति विज्ञान एक आदर्शात्मक विज्ञान (Normative Science) है। उसमें दार्शनिकता होती है। वह केवल यह अध्ययन ही नहीं करता कि राज्य अतीत में कैसा था तथा वर्तमान में कैसा है अपितु इस बात पर भी विचार करता है कि भविष्य में राज्य को कैसा होना चाहिए। इस तरह राजनीति विज्ञान उन आदर्शों की भी खोज करता है जो राज्य का मार्गदर्शन कर सकें।

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि यद्यपि इतिहास तथा राजनीति विज्ञान में परस्पर अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। वे एक-दूसरे के पूरक तथा अन्योन्याश्रित हैं परन्तु फिर भी वे दोनों एक दूसरे से पृथक तथा स्वतन्त्र विज्ञान हैं।

राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र
(Political Science and Economics)

राजनीति विज्ञान तथा अर्थशास्त्र में घनिष्ठ सम्बन्ध—राजनीति विज्ञान का अर्थशास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अर्थशास्त्र के प्रारम्भिक लेखकों ने इसे राजनीति विज्ञान की ही एक शाखा माना था। यूनानी विद्वान इसे राजनीतिक अर्थशास्त्र (Political Economy) कहते थे और इसकी परिभाषा 'राज्य के लिए आय एकत्रित करने वाली कला' कहकर करते थे। सीनियर (Senior) के अनुसार 18वीं शताब्दी तक राजनीतिक अर्थशास्त्र राजनीतिज्ञता की एक शाखा मात्र था। यहाँ तक कि राजनीति विज्ञान के जन्मदाता अरस्तू के ग्रन्थ 'राजनीति' में ऐसे ही विषयों का विवेचन मिलता है जिन्हें आजकल अर्थशास्त्र की पुस्तकों में स्थान दिया जाता है। इंगलैण्ड के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री एडम स्मिथ ने भी अर्थशास्त्र को जनता तथा राजा को समृद्धिशाली बनाने वाला शास्त्र बताया है। प्राचीन भारत के प्रसिद्ध राजनीतिक विचारक कौटिल्य ने राजनीति पर लिखे गये अपने ग्रन्थ का नाम 'अर्थशास्त्र' रखा। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री पुराने दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं। वे अर्थशास्त्र को एक स्वतन्त्र विज्ञान के रूप में मान्यता देते हैं। आज अर्थशास्त्र धन अथवा सम्पत्ति का अध्ययन करने वाला एक स्वतन्त्र शास्त्र माना जाता है जिसके अन्तर्गत उत्पादन, उपभोग, विनिमय तथा वितरण का अध्ययन किया जाता है। इस तरह वर्तमान अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र को ज्ञान की एक पृथक शाखा मानते हैं।

दोनों विषय एक दूसरे के सहायक एवं पूरक—यद्यपि वर्तमान समय में

राजनीति विज्ञान तथा अर्थशास्त्र को एक दूसरे से पृथक मान लिया गया है, परन्तु फिर भी इसमे कोई सन्देह नही है कि इन दोनो विषयो मे परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा दोनो एक-दूसरे के सहायक एव पूरक हैं । डॉ० बेनीप्रसाद का विचार है कि "राजनीति विज्ञान को यदि अर्थशास्त्र से पृथक कर दिया जाय तो वह खण्डित हो जायगा ।"[1] इसी प्रकार चार्ल्स बीयर्ड का मत है कि "*अर्थशास्त्र के बिना राजनीति विज्ञान अवास्तविक एव सारहीन ढांचा मात्र है ।*"[2]

इन दोनो विषयो की घनिष्ठता को देखते हुए अप्रैल सन् 1952 ई० मे यूनेस्को के तत्वावधान मे आयोजित केम्ब्रिज राउण्ड टेबिल (Cambridge Round Table) ने यह सिफारिश की थी कि " राजनीति विज्ञान के किसी भी पाठ्यक्रम में अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो को अनिवार्य रूप से सम्मिलित किया जाना चाहिए ।" दूसरी ओर अर्थशास्त्र के शिक्षको और विद्वानो ने भी अपनी यूनेस्को की रिपोर्ट मे यह विचार प्रकट किया कि "*अर्थशास्त्र के पाठ्यक्रम मे राजनीति के सिद्धान्तो और संस्थाओं का अध्ययन अवश्य सम्मिलित होना चाहिए ।*"[3] विलियम एसलिंगर (William Eslinger) ने सही कहा है कि पाठ्यक्रमो और विचारगोष्ठियो के द्वारा अर्थशास्त्र तथा राजनीति विज्ञान मे आवश्यक तालमेल अथवा एकीकरण होना चाहिए । वस्तुत राजनीति विज्ञान का अर्थशास्त्र से जितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, उतना घनिष्ठ सम्बन्ध किसी अन्य विषय से नही है ।

दोनो के उद्देश्य तथा अध्ययन विषय मे समानता—राजनीति विज्ञान तथा अर्थशास्त्र मे घनिष्ठ सम्बन्ध होने का एक प्रमुख कारण यह भी है कि दोनो समान रूप से मनुष्य का अध्ययन करते हैं तथा दोनों का उद्देश्य मानव कल्याण है । अर्थशास्त्र का उद्देश्य मानव का आर्थिक कल्याण अथवा आर्थिक समृद्धि है तथा राजनीति विज्ञान का उद्देश्य उसे राजनीतिक दृष्टि से सुखी बनाना है । मानव की आर्थिक समृद्धि के लिए समाज मे शान्ति एव व्यवस्था का होना अत्यन्त आवश्यक है । अत राज्य का यह प्रमुख कर्तव्य हो जाता है कि वह समाज मे ऐसी व्यवस्था कायम करे जिससे मनुष्य इस दिशा मे आगे बढ सके ।

दोनो विषयो के बीच मे घनिष्ठ सम्बन्ध का एक अन्य कारण यह भी है कि दोनों के अध्ययन विषय मे भी समानता है । वर्तमान समय मे लोक कल्याणकारी

---

1 Dr Beni Prasad *The Democratic Process*, p 3

2 ' Political Science with Economics left out is an unreal and ghostly formalism "—Charles Beard *The Economic Basis of Politics*.

3 See W A Robson, Ed , 'The University Teaching of Social Sciences', *Political Science*, UNESCO, Paris, 1954, p 19.

राज्य की धारणा का सम्बन्ध समान रूप से राजनीति विज्ञान तथा अर्थशास्त्र दोनों से है। इसी तरह सार्वजनिक राजस्व तथा समाजवाद एवं पूंजीवाद जैसी राजनीतिक विचारधाराओं का अध्ययन दोनों में ही किया जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि इन दोनों विषयों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

अर्थशास्त्र की राजनीति विज्ञान को देन—आर्थिक परिस्थितियों ने निम्न लिखित रूपों में राजनीति को प्रभावित किया है

(क) राजनीतिक घटनाओं को प्रभावित करना—किसी भी देश के सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन के मूल में आर्थिक परिस्थितियाँ ही काम करती हैं। आर्थिक परिस्थितियाँ राजनीतिक क्षेत्र की अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं को प्रभावित करती हैं। वे राजनीति को दिशा देती हैं। वस्तुतः राजनीतिक असन्तोष का मूल कारण प्रायः आर्थिक असन्तोष होता है। उदाहरण के लिए फ्रांस की राज्य-क्रान्ति का एक *प्रमुख कारण आर्थिक असन्तोष ही था। इसी प्रकार रूस में साम्यवाद तथा जर्मनी* में नाजीवाद के उदय का प्रमुख कारण आर्थिक विषमता तथा आर्थिक दुर्दशा ही थी। यूरोपीय साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद के पीछे भी मूल कारण औद्योगिक क्रान्ति अथवा आर्थिक गतिविधियाँ ही थी। वर्तमान समय में पिछड़े हुए देशों में साम्यवाद के विकास का मुख्य कारण आर्थिक असन्तोष ही है।

(ख) राज्य एवं शासन के स्वरूप को प्रभावित करना—राज्य एवं शासन के स्वरूप पर भी आर्थिक अवस्थाओं का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। वर्तमान युग के विशाल राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना का मूल कारण औद्योगिक क्रान्ति अथवा आर्थिक गतिविधियाँ ही रही हैं। राज्य के अतिरिक्त शासन के स्वरूप, संगठन तथा संविधान आदि पर भी आर्थिक परिस्थितियों का काफी प्रभाव पड़ता है। पूंजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद जैसी अनेक विचारधाराओं के मूल में आर्थिक विचार ही होते हैं। शासन की कुछ मौलिक समस्याएँ आर्थिक अवस्थाओं के कारण ही पैदा होती हैं। वास्तव में, शासन-प्रबन्ध का पूरा सिद्धान्त अधिकांश में आर्थिक ही है।[1] कार्ल मार्क्स के अनुसार तो 'किसी युग के सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के स्वरूप का निश्चय आर्थिक परिस्थितियाँ ही करती हैं।' प्रसिद्ध विद्वान गार्नर का मत है कि "राज्य-समाजवाद के आधारभूत सिद्धान्त राजनीतिक होने के साथ-साथ आर्थिक भी हैं और जब उन्हें कार्य रूप में परिणत किया जाता है तो जिन समस्याओं को उसे हल करना पड़ता है, वे अधिकतर आर्थिक ही होती हैं।"[2]

(ग) राज्य के कार्यों व नीतियों को प्रभावित करना—आर्थिक दशाएँ केवल *राज्य एवं शासन के स्वरूप तथा संगठन को ही प्रभावित नहीं करती अपितु राज्य* के कार्यों तथा उसके द्वारा अपनायी जाने वाली नीतियों पर भी वे व्यापक प्रभाव

1 Nicholson *Principles of Political Economy*, p 13

2 Garner : राज्य विज्ञान और शासन, p. 25.

डालती हैं। उदाहरण के लिए, 18वी शताब्दी में यूरोपीय देशों ने जो साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद की नीति अपनाई, उसके पीछे मूल कारण औद्योगिक क्रान्ति थी। इसी तरह जब हिटलर ने यूरोप पर अपना आर्थिक प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न किया तो उसके परिणामस्वरूप विश्व युद्ध हुआ।

वर्तमान समय में आर्थिक परिस्थितियाँ विभिन्न देशों के कानूनों तथा विधानों पर भी पर्याप्त प्रभाव डालती हैं। भारत सरकार द्वारा जो नीति अपनाई जा रही है तथा जो कदम उठाये जा रहे है, उनके पीछे आर्थिक समानता का दृष्टिकोण ही काम कर रहा है। आज का विवेकशील नागरिक राजनीतिक संस्थाओं तथा उनके कार्यों का मूल्यांकन इस आधार पर करता है कि वे उसके आर्थिक कल्याण में कहाँ तक सहायक हो रही हैं। संक्षेप में, हम यह कह सकते है कि समस्त राजनीतिक शक्तियों का आधार आर्थिक ही है।

राजनीति विज्ञान की अर्थशास्त्र को देन —राजनीतिक अवस्थाएँ भी काफी हद तक *आर्थिक जीवन को निम्नलिखित ढंग से प्रभावित करती हैं*

(क) धन का उत्पादन एवं वितरण शासन के स्वरूप पर निर्भर—किसी भी देश में धन का उत्पादन एवं वितरण बहुत कुछ सीमा तक शासन के स्वरूप पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए साम्यवादी एवं समाजवादी राज्यों में आर्थिक व्यवस्था पूँजीवादी राज्यों से भिन्न होती है। साम्यवादी राज्यों में उत्पादन के साधनों तथा वितरण व्यवस्था पर राज्य का नियन्त्रण रहता है जबकि पूँजीवादी राज्यों में इन पर स्वतन्त्र व्यक्तियों का नियन्त्रण होता है। अतः जैसा शासन का स्वरूप होता है वैसी ही आर्थिक व्यवस्था होती है।

(ख) अर्थव्यवस्था शासन की नीतियों पर निर्भर— किसी भी राज्य की अर्थ-व्यवस्था पर उस राज्य की सरकार की नीतियों का व्यापक प्रभाव पड़ता है। सरकार द्वारा कर व्यवस्था, चुंगी दर, आयात निर्यात, आवश्यक वस्तुओं की बिक्री एवं मूल्य, मुद्रा प्रणाली उद्योग तथा कृषि आदि के सम्बन्ध में जो नीति अपनाई जाती है, वह राज्य की अर्थव्यवस्था को प्रभावित करती है। उदाहरण के लिए भारत सरकार द्वारा बैंकों का राष्ट्रीयकरण, राजाओं के प्रिवीपर्स की समाप्ति, शहरी सम्पत्ति का *सीमाकरण, काले धन्धे की रोकथाम तथा हाल ही में अपनाये गये बीस सूत्री कार्यक्रम,* इत्यादि ने देश की अर्थव्यवस्था को निश्चित रूप से प्रभावित किया है। इसी प्रकार स्वतन्त्रता से पूर्व ब्रिटिश सरकार द्वारा अपनायी जाने वाली नीति ने भारतीय अर्थ-व्यवस्था को काफी नुकसान पहुँचाया।

(ग) आर्थिक समस्याओं का समाधान राज्य पर निर्भर—आज के युग में अधिकांश आर्थिक समस्याओं का समाधान राज्य के कार्य एवं नीतियों द्वारा ही होता है। उत्पादन, वितरण, कर पद्धति, मुद्रा नियन्त्रण आदि समस्याएं राज्य के द्वारा ही सुलझाई जा सकती हैं। बजट निर्माण, सार्वजनिक ऋण, विदेशी सहायता, उद्योगों की रक्षा, कृषि की प्रगति आदि अनेक ऐसी आर्थिक समस्याएँ हैं जिन पर राज्य

का नियन्त्रण रहता है। बेरोजगारी को दूर करने के लिए राज्य के द्वारा रोजगार की व्यवस्था की जाती है। नियोजन के द्वारा जनसाधारण के कष्टों का निवारण किया जाता है। अत आर्थिक विकास एव समृद्धि बहुत कुछ राज्य की नीतियों पर ही निर्भर करता है।

राजनीति विज्ञान एव अर्थशास्त्र मे अन्तर—यद्यपि राजनीति विज्ञान तथा अर्थशास्त्र मे काफी घनिष्ठ सम्बन्ध है परन्तु फिर भी इन दोनो विज्ञानो मे कुछ मौलिक अन्तर हैं। ये अन्तर निम्नलिखित हैं

अध्ययन सामग्री मे अन्तर—अर्थशास्त्र मनुष्य के आर्थिक जीवन से सम्बन्धित है जबकि राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध उसके राजनीतिक जीवन से है। राजनीति विज्ञान के अध्ययन का मुख्य विषय राज्य है तथा अर्थशास्त्र के अध्ययन का मुख्य विषय धन अथवा सम्पत्ति है। इन दोनो विषयो के अन्तर को स्पष्ट करते हुए आइवर ब्राउन ने कहा है कि **'अर्थशास्त्र का सम्बन्ध वस्तुओ से है तथा राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध व्यक्तियों से है। एक का सम्बन्ध भावो तथा कीमतों से है और दूसरे का सम्बन्ध मूल्यो से है।"**[1]

प्रकृति मे अन्तर—राजनीति विज्ञान एक आदर्शात्मक विज्ञान (Normative Science) है जो नैतिकता तथा आदर्श पर जोर देता है जबकि अर्थशास्त्र एक वर्णनात्मक (Descriptive) विज्ञान है। यह नैतिकता तथा आदर्श पर ध्यान नही देता। डॉ॰ आशीर्वादम् ने लिखा है कि किसी ने विनोद मे ठीक ही कहा है कि **'अर्थशास्त्री वह व्यक्ति है जो दाम तो सब वस्तुओं का जानता है परन्तु महत्व एक का भी नहीं।"**[2]

राजनीति विज्ञान और नीतिशास्त्र
(Political Science and Ethics)

राजनीति विज्ञान तथा नीतिशास्त्र मे घनिष्ठ सम्बन्ध—राजनीति विज्ञान का नीतिशास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है। नीतिशास्त्र का सम्बन्ध मानव आचरण से है। वह हमे उचित तथा अनुचित का ज्ञान कराता है और उचित आचरण करने की शिक्षा देता है। यह मनुष्य की नैतिकता का भी अध्ययन करता है। डीवी (Dewey) के अनुसार, "नीतिशास्त्र आचरण का वह विज्ञान है जिसमे मानव आचरण के औचित्य, अनौचित्य तथा अच्छाई और बुराई पर विचार किया जाता है।" मेकेंजी के शब्दो मे, "नीतिशास्त्र मानव आचरण मे निहित आदर्शों का अध्ययन है।' नीतिशास्त्र के

1 "Economics is concerned with things, while Political Science is concerned with people The one deals with prices and the other with values " —Ivor Brown

2 "An economist is one who knows the price of everything but the value of nothing '—quoted by E. Ashirvathan, p 11.

समान राजनीतिक विज्ञान का सम्बन्ध भी नैतिकता से है। यह सार्वजनिक नैतिकता का अध्ययन करता है। नीतिशास्त्र का कर्तव्य सदाचारी जीवन के लिए नैतिक नियमों तथा आदर्शों का निर्माण करना है तथा राजनीति विज्ञान का कर्तव्य उन नियमों तथा आदर्शों को लागू करके मनुष्य को सदाचारी बनाना है। अत प्राचीनकाल मे ही *राजनीति विज्ञान तथा नीतिशास्त्र मे घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।* यूनानी विचारक इन दोनो को एक ही शास्त्र के दो पक्ष मानते थे।

दोनो का सम्बन्ध इतना गहरा है कि प्लेटो राजनीति विज्ञान को नीतिशास्त्र की ही एक शाखा मानते थे। उसके अनुसार, "राज्य का सबसे ब ा उद्देश्य नागरिकों को सदाचारी एव सच्चरित्र बनाना है।"[1] अरस्तू ने यद्यपि राजनीति विज्ञान को नीतिशास्त्र से पृथक माना है परन्तु उसने भी यह स्वीकार किया कि इन दोनो शास्त्रो मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसके अनुसार, 'राज्य का उद्देश्य मनुष्य के जीवन को श्रेष्ठ बनाना है और वह सद्जीवन के लिए ही कायम है।'[2] आधुनिक युग के प्रारम्भ मे मेकियावली तथा हॉब्स जैसे विचारकों ने राजनीति विज्ञान को नीतिशास्त्र से पृथक करने का प्रयत्न किया परन्तु उन्हें इसमे विशेष सफलता नही मिली। बाद के आदर्शवादी दार्शनिकों, जैसे—काण्ट, हीगल, ग्रीन, बोसाके, बैंडले इत्यादि, ने राज्य को एक नैतिक संस्था माना है। बीसवी शताब्दी मे महात्मा गांधी ने नैतिकता और राजनीति के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध बताते हुए कहा कि "धर्मविहीन राजनीति कोई राजनीति नहीं है। धर्म से पृथक राजनीति मृत्यु जाल है जो आत्मा का हनन करती है।' पिछले कुछ वर्षों में लासवेल तथा जुविनैल जैसे विचारको ने यह मांग की है कि 'एक मूल्यरहित राजनीति का विज्ञान' बनाया जाए परन्तु वास्तविकता तो यह है कि राजनीतिक अध्ययन से मूल्यो को पृथक नही किया जा सकता। इसी कारण *आधुनिक विचारक सामान्यत राजनीति विज्ञान और नीतिशास्त्र मे घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये रखने के पक्ष मे हैं।* यह सम्बन्ध निम्नलिखित रूपो मे देखा जा सकता है

नीतिशास्त्र को राजनीति विज्ञान को देन—नीतिशास्त्र ने निम्नलिखित रूपों मे राजनीति विज्ञान को प्रभावित किया है तथा कर रहा है और आगे भी करता रहेगा

(क) राज्य के उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायता देना—प्रसिद्ध विचारक अरस्तू के अनुसार राज्य का उद्देश्य मनुष्य को सद्गुणी तथा सदाचारी बनाना है। राज्य अपने इस उद्देश्य की प्राप्ति नीतिशास्त्र की सहायता से ही कर सकता है।

---

1 "State ■ a community of souls rationally and necessarily united for the pursuit of moral end" —Plato

2 'State came into being for the sake of life but it continues for the sake of good life." —Aristotle

इसके अतिरिक्त राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत राज्य के केवल अतीत तथा वर्तमान स्वरूप का ही अध्ययन नहीं किया जाता अपितु राज्य के आदर्श स्वरूप का भी अध्ययन किया जाता है। राज्य के आदर्श स्वरूप की कल्पना नैतिक मान्यताओं के आधार पर ही की जा सकती है। इसीलिए लॉर्ड एक्टन ने कहा है कि "नीतिशास्त्र के अध्ययन के बिना राजनीति का अध्ययन व्यर्थ है।" वह तो यहाँ तक कहते है कि "मुख्य समस्या यह नहीं है कि सरकारें क्या करती हैं बल्कि यह है कि उन्हें क्या करना चाहिए।"[1] केटलिन का भी यही मत है कि 'नीतिशास्त्र के बिना राजनीति विज्ञान का अध्ययन बालू की नींव पर दीवार खड़ा करना जैसा होगा।"

(ख) राज्य के लिए शिक्षक के रूप में कार्य करना—राज्य के कर्तव्य क्या होने चाहिए, राज्य के नागरिकों के हित में क्या करना चाहिए, राज्य का उचित कार्यक्षेत्र क्या है, राज्य किस प्रकार आदर्श स्वरूप को प्राप्त कर सकता है, इन सब बातों का निश्चय नैतिकता के आधार पर ही किया जा सकता है। फॉय ने ठीक ही कहा है कि 'जो बात नैतिक दृष्टि से गलत है वह राजनीतिक दृष्टि से कभी सही नहीं हो सकती।"[2]

(ग) राजनीति नैतिकता का ही वृहत रूप—राजनीति नैतिकता का ही वृहत् रूप है। नीतिशास्त्र का सम्बन्ध व्यक्तिगत बातों तथा व्यक्तिगत नैतिकता से है। लेकिन जब उन्हीं बातों का सम्बन्ध समाज से हो जाता है तथा व्यक्तिगत नैतिकता को सामाजिक जीवन में लागू किया जाता है तब वह राजनीति विज्ञान का विषय बन जाता है। इसलिए आइवर ब्राउन ने कहा है कि 'आदर्शों को व्यक्ति से समाज में ले जाने के लिए नीतिशास्त्र को राजनीति में बदलना होगा।"[3] उन्होंने यह भी कहा है कि 'नीतिशास्त्र तथा राजनीति विज्ञान में केवल मात्रा का अन्तर है, गुण का नहीं। नीतिशास्त्र का विस्तृत रूप ही राजनीति है।"[4]

(घ) कानूनों का आधार नैतिक मान्यताएँ—नीतिशास्त्र राजनीति को इस रूप में भी प्रभावित करता है कि राज्य के द्वारा जिन कानूनों का निर्माण किया

---

1 *"Political theory is idle without ethical theory The great question is to discover not what governments prescribe, but what they ought to prescribe"* —Lord Acton

2 "If a thing is morally wrong, it can never be politically right" —Foy

3 "We must pass our ethics to politics for extending our ideals *from man to society*" —Ivor Brown

4 "The *difference* between Politics and Ethics is one of quantity *and not of quality because Politics is but Ethics writ large*" —Ivor Brown

जाता है उनका आधार प्रचलित नैतिक मान्यताएँ ही होती हैं। नैतिक मान्यताओं को ठुकराकर कानून का पालन नहीं कराया जा सकता। अतः कानूनों का निर्माण करते समय राज्य को समाज की नैतिक मान्यताओं को अवश्य ही ध्यान में रखना होता है। गेटल ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "जब नैतिक विचार स्थायी तथा व्यापक रूप से प्रचलित हो जाते हैं तो समय पाकर वे ही कानून का रूप धारण कर लेते हैं। इसके विपरीत जो कानून समाज से मान्यता लिये बिना नैतिक सिद्धान्तों को लागू करने की चेष्टा करते हैं, उनको जनता द्वारा मनवाना बहुत कठिन होता है।"

उपरोक्त बातों के अतिरिक्त नीतिशास्त्र ने राजनीति विज्ञान के अन्य क्षेत्रों को भी प्रभावित किया है। उदाहरण के लिए, राजनीति विज्ञान की एक शाखा अन्तर्राष्ट्रीय विधि अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता पर आधारित है। इसने विभिन्न देशों के संविधानों को भी प्रभावित किया है। भारत तथा आयरलैण्ड के संविधानों में 'नीति निर्देशक तत्वों' का समावेश इसका उदाहरण है।

राजनीति विज्ञान को नीतिशास्त्र की देन—नीतिशास्त्र भी निम्नलिखित रूपों में राजनीति विज्ञान का आभारी है

(क) राज्य द्वारा नैतिक मूल्यों को साकार रूप प्रदान करना—प्लेटो, अरस्तू आदि राजनीतिक विचारकों ने नैतिक आदर्शों को व्यावहारिक रूप प्रदान किया। नैतिक आदर्शों को क्रियात्मक रूप देना राज्य के कानूनों का ही काम है। कानून नैतिकता को परिष्कृत करते हैं। अधिकार, कर्तव्य, न्याय, दण्ड के सिद्धान्त आदि सभी नैतिक विचार हैं जिन्होंने राजनीतिक क्षेत्र में आधारभूत सिद्धान्तों का रूप ले लिया है। इस तरह राज्य के कानून नैतिकता अथवा नैतिक मूल्यों को साकार रूप प्रदान करते हैं।

(ख) राज्य द्वारा नैतिक जीवन के लिए परिस्थितियाँ कायम करना—नीतिशास्त्र का मुख्य उद्देश्य मनुष्य को सच्चरित्र तथा सद्गुणी बनाना है। नीतिशास्त्र अपने इस लक्ष्य की प्राप्ति राजनीति विज्ञान की सहायता के बिना नहीं कर सकता। राज्य का मुख्य कार्य शान्ति एवं व्यवस्था कायम करना, बाहरी आक्रमण से रक्षा तथा समाज विरोधी व्यक्तियों के कार्यों का दमन करना है। इन कार्यों के द्वारा राज्य ऐसी परिस्थितियों तथा वातावरण का निर्माण करता है जिसमें सभी मनुष्य अपने जीवन को नैतिक बना सकें तथा नैतिक जीवन व्यतीत कर सकें।

उपरोक्त विचारों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि राजनीति विज्ञान तथा नीतिशास्त्र दोनों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। आइवर ब्राउन का कथन है कि "राजनीतिक सिद्धान्तों के अभाव में नैतिक सिद्धान्त अपूर्ण हैं क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और वह समाज से अलग नहीं रह सकता। नैतिक सिद्धान्तों के अभाव में राजनीतिक सिद्धान्त अर्थहीन हैं क्योंकि उनका अध्ययन और उनके परिणाम मुख्य रूप से हमारे नैतिक मूल्यों की व्यवस्था पर तथा हमारी उचित एवं अनुचित

सम्बन्धी धारणाओं पर निर्भर करते हैं।"[1] एक अन्य लेखक ने कहा है कि 'नीति शास्त्र से अलग होकर राजनीति विज्ञान बालू की खिसकती हुई नींव पर खड़ा हो जाता है तथा *राजनीति विज्ञान से पृथक होकर नीतिशास्त्र* संकीर्ण एवं भाव-सूक्ष्म हो जाता है।"[2]

राजनीति विज्ञान और नीतिशास्त्र में अन्तर—अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी इन दोनों शास्त्रों में निम्नलिखित मौलिक अन्तर हैं

अध्ययन सामग्री में अन्तर – राजनीति विज्ञान मानव जीवन के राजनीतिक पक्ष का अध्ययन करता है जबकि नीतिशास्त्र उसके नैतिक पक्ष का अध्ययन करता है। राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध राज्य, राजनीतिक संस्थाओं तथा राजनीतिक जीवन से है तथा नीतिशास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य के आचरण तथा नैतिकता से है।

क्षेत्र में अन्तर—नीतिशास्त्र का क्षेत्र राजनीति विज्ञान की तुलना में अधिक व्यापक है। नीतिशास्त्र अच्छाई-बुराई के आधार पर मनुष्य के समस्त आचरणों का अध्ययन करता है जबकि राजनीति विज्ञान मनुष्य के केवल राजनीतिक आचरण तथा राजनीतिक कार्यों का ही अध्ययन करता है।

प्रकृति में अन्तर—दोनों शास्त्रों की प्रकृति में भी मौलिक अन्तर है—(i) राजनीति विज्ञान एक वर्णनात्मक एवं व्यावहारिक विज्ञान है जबकि नीतिशास्त्र केवल आदर्शात्मक तथा सैद्धान्तिक शास्त्र है। (ii) राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध उन बातों से है जो साकार, मूर्त और प्रत्यक्ष हैं जबकि नीतिशास्त्र का सम्बन्ध उन बातों से है जो निराकार, अमूर्त एवं अप्रत्यक्ष हैं। (iii) राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध मनुष्य के बाहरी जीवन तथा कार्यों से है जबकि नीतिशास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य के आन्तरिक जीवन तथा नैतिकता से है। (iv) राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध तथ्यों से है तथा नीतिशास्त्र का सम्बन्ध मूल्यों से है।

राजनीति विज्ञान एवं मनोविज्ञान
(Political Science and Psychology)

मनोविज्ञान वह विज्ञान है जिसका सम्बन्ध मनुष्य के मानसिक कार्यों तथा बाहरी व्यवहार से है। परिस्थितियाँ मानसिक क्रियाओं पर क्या प्रभाव डालती हैं

---

1 'Ethical theory is incomplete without political theory because man is an associative creature and cannot live fully in isolation. Political theory is idle without ethical theory, because its study and its results depend fundamentally on our scheme of moral values, our conception of right and wrong.'

—*Ivor Brown*

2 "Politics divorced from Ethics rests on a foundation of shifting sand, Ethics divorced from Politics is narrow and abstract."

तथा मनुष्य के कार्यों के प्रेरक और प्रयोजन क्या होते हैं, यही मनोविज्ञान का विषय है। वुडवर्थ ने मनोविज्ञान की परिभाषा इन शब्दों में दी है कि "मनोविज्ञान व्यक्ति की परिस्थितियों से सम्बन्धित क्रियाओं का विज्ञान है।"[1] मेक्डूगल के अनुसार, "मनोविज्ञान मानव-मन का सकारात्मक तथा अनुभवमूलक विज्ञान है।"[2] वार्ड के शब्दों में, "मनोविज्ञान व्यक्ति के अनुभव का विज्ञान है।"[3] वाटसन के अनुसार, "मनोविज्ञान व्यवहार का सकारात्मक अध्ययन है।"[4] इन सब परिभाषाओं से यही निष्कर्ष निकलता है कि मनोविज्ञान मानव आचरण एवं व्यवहार का विज्ञान है। इसमें मनुष्य के आचरण को प्रभावित करने वाले विभिन्न कारकों, जैसे विवेक बुद्धि, भावनाओं (Sentiments), सहज प्रवृत्तियों (Instincts), मनोवेगों (Emotions) इत्यादि, का भी अध्ययन किया जाता है।

मनोविज्ञान राजनीति की आधारशिला—आधुनिक समय में राजनीति विज्ञान एवं मनोविज्ञान में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया है। सामान्यतः अब यह माना जाने लगा है कि सामाजिक कार्यकलापों के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए मनोवैज्ञानिक आधार अत्यन्त आवश्यक है। आजकल के अनेक विचारक राजनीतिक समस्याओं का समाधान ढूँढ़ने के लिए मनोवैज्ञानिक साधनों का सहारा लेने लगे हैं। बार्कर ने इस सम्बन्ध में कहा है कि 'मानवीय कार्यों की पहेलियों का हल निकालने के लिए मनोवैज्ञानिक साधनों का प्रयोग करना आजकल एक रिवाज बन गया है। यदि हमारे पूर्वज जीव-विज्ञान के दृष्टिकोण से विचार करते थे, तो अब हम मनोवैज्ञानिक ढंग से विचार करते हैं।'[5] लॉर्ड ब्राइस ने तो यहाँ तक कहा है कि "मनोविज्ञान ही राजनीति का आधार है।"[6] ग्राहम वालास ने भी कहा है कि 'राजनीति बहुत कम अंश में सचेत बुद्धिमत्ता का परिणाम है। यह अधिकतर तो आदत और सहज प्रवृत्ति तथा सुझाव और अनुकरण जैसी अर्द्ध-चेतन प्रक्रियाओं की उपज है।'[7]

---

1 'Psychology is the science of the activities of the individual in relation to the environment' —Woodworth

2 'Psychology may be defined as the positive and empirical science of the human mind' —McDougall

3 ' Psychology is the science of individual experience " —Ward

4 "Psychology is the positive science of behaviour ' —Watson

5 "The application of the psychological clue to the riddles of human activity has indeed become the fashion of the day If our fore-fathers thought biologically, we think psychologically " —E Barker

6 "Politics has its root in Psychology " —Lord Bryce

7 "Politics is only in slight degree the product of conscious reason, it is largely a matter of sub conscious process of habit and instinct, suggestion and imitation "—Graham Wallas

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य विचारकों ने भी राजनीतिक एवं सामाजिक घटनाओं की *व्याख्या मनोवैज्ञानिक नियमों के आधार पर करने का प्रयत्न किया है।* इन विचारकों में बेजहाट (Bagehot), टार्डे (Tarde), दुर्खीम (Durkheim), ली बॉन (Le Bon), मेक्डूगल (McDougall) बाल्डविन (Bald ..) आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इस तरह हम यह मानते हैं कि आधुनिक राजनीतिज्ञ तथा राजनीतिक विचारक को सामाजिक मनोविज्ञान का ज्ञाता होना चाहिए।

मनोविज्ञान की राजनीति विज्ञान को देन —मनोविज्ञान ने राजनीति को निम्नलिखित रूपों में प्रभावित किया है

(क) *राजनीति विज्ञान को समझने में सहायता*—आधुनिक सामाजिक मनोविज्ञान के सिद्धान्तों से राजनीति विज्ञान को समझने में पर्याप्त सहायता मिली है। सामाजिक मनोविज्ञान ने राजनीति विज्ञान को महत्वपूर्ण तथ्य प्रदान किए हैं। उसने राजनीतिशास्त्रियों को राजनीतिक आचरण का आनुभविक अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया है। उसने इस बात पर भी जोर दिया है कि राज्य और अन्य राजनीतिक संस्थाएँ मानव मस्तिष्क की उपज हैं और उन्हें मानव मस्तिष्क के अध्ययन द्वारा ही सर्वोत्तम रीति से समझा जा सकता है। जब तक हम यह न समझ लें कि मनुष्य व्यक्तिगत रूप में तथा समूह के सदस्य के रूप में विभिन्न परिस्थितियों में किस प्रकार का व्यवहार करता है तब तक हम राजनीति विज्ञान [redacted] अध्ययन में सफल नहीं हो सकते। *मानव-व्यवहार को ठीक ठीक समझने के लिए हमें विवेक* के अलावा आदत प्रवृत्ति, अनुकरण संवेग, सुझाव आदि के महत्व को समझना आवश्यक होगा जो उसको प्रभावित करते हैं।

(ख) *राजनीतिक अनुसन्धान में सहायता*—सामाजिक मनोविज्ञान की सहायता से राजनीतिक अनुसन्धानकर्ता के लिए अब यह सम्भव हो गया है कि वह लोकमत और मतदाताओं के आचरण के सम्बन्ध में अनुसन्धान कर सके। वह सर्वेक्षण और विश्लेषण के आधार पर आगामी चुनाव के सम्बन्ध में पूर्व अनुमान लगा सकता है। वह इस बात का भी अनुमान लगा सकता है कि किसी आयोजित कानून की प्रतिक्रिया जनता पर क्या होगी?

(ग) *राजनीतिज्ञों को नया दृष्टिकोण प्रदान करना*—*सामाजिक मनोविज्ञान* ने राजनीतिज्ञों को यह जानकारी भी दी है कि विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं की सफलता व्यक्तियों के स्वभाव पर निर्भर करती है। इसने राजनीतिज्ञों को यह भी सिखाया कि किसी भी सरकार की लोकप्रियता या कानून की दृढ़ता या नीति की सफलता जनता की नैतिक मान्यताओं तथा मानसिक धारणाओं पर निर्भर करती है। डॉ० गार्नर ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि "सरकार के स्थायित्व एवं लोकप्रियता के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी जनता के मानसिक भावों एवं

नैतिक विचारों को अभिव्यक्त एवं प्रतिबिम्बित करे।"[1] ली बॉन के शब्दों में, सरकार को जाति की मानसिक प्रकृति के अनुरूप होना चाहिए।"[2] बेजहॉट ने ग्रेट ब्रिटेन का उदाहरण देते हुए यह बताया कि वहाँ की संवैधानिक व्यवस्था की सफलता का कारण उसका वहाँ के लोगों के स्वभाव के अनुकूल होना है।

(घ) लोकतन्त्रीय प्रक्रियाओं के खतरों से सावधान रहने की चेतावनी—मनोविज्ञान के अध्ययन ने राजनीतिज्ञों को लोकतन्त्रीय प्रक्रियाओं के खतरों से सावधान रहने की चेतावनी भी दी है। ये खतरे इसलिए उत्पन्न होते हैं कि नागरिक अज्ञानी, अशिक्षित एवं अविवेकी होते हैं। ऐसी दशा में वे बड़ी आसानी से भावनाओं एवं संवेगों में आकर बहक जाते हैं। इससे यह भी पता चलता है कि किस प्रकार लगातार प्रचार द्वारा मानवीय भावनाओं को उकसाकर लोकमत को अपने पक्ष में किया जा सकता है तथा मानवीय भावनाओं को किस प्रकार नियात्मक मोड़ दिया जा सकता है। वर्तमान राजनीतिक जीवन की एक बहुत बड़ी शक्ति राष्ट्रीयता है जिसके निर्माण में भावनाओं एवं संवेगों का प्रमुख हाथ होता है।

इस तरह हम देखते हैं कि राजनीतिशास्त्री सामाजिक मनोविज्ञान के प्रति कृतज्ञ हैं कि उसने उन्हें मानव मन तथा मानव-आचरण को समझने की क्षमता प्रदान की है। व्यवहार में भी राजनीतिक क्षेत्र में वस्तुतः वे ही व्यक्ति सफलता प्राप्त कर सके हैं *जिन्होंने अपने देश के लोगों के मन और मस्तिष्क को अच्छी प्रकार समझ* लिया था। उदाहरण के लिए महात्मा गांधी ने देशवासियों की मनोवृत्ति पहचानकर उसके अनुरूप ही कार्य किया, इसीलिए वे सफल रहे।

राजनीति विज्ञान की मनोविज्ञान को देन—यदि एक ओर राजनीति विज्ञान मनोविज्ञान का ऋणी है तो दूसरी ओर वह भी मनोविज्ञान को प्रभावित करता है। यह प्रभाव निम्नलिखित है

(क) मनोविज्ञान को अध्ययन सामग्री प्रदान करना—राजनीति विज्ञान मनोविज्ञान के लिए अध्ययन सामग्री प्रदान करता है। मनोविज्ञान व्यवहार का ज्ञान है। मानव के राजनीतिक व्यवहार से सम्बन्धित तथ्यों का संग्रह करने के लिए, मनोविज्ञान को राजनीति विज्ञान की सहायता लेनी होती है। अतः राजनीति विज्ञान के ज्ञान के अभाव में मनोविज्ञान का अध्ययन अधूरा रह जायेगा।

(ख) सामाजिक मनोविज्ञान को प्रभावित करना—राजनीति विज्ञान समाज अथवा समूह के मनोविज्ञान को भी प्रभावित करता है। किसी भी देश में शासन

---

1 "Government to be stable and really popular must reflect and express the mental ideals and moral sentiments of those who are subject to its authority."—Garner, *Political Science and Governments*, p 38

2 "Government must be in harmony with the mental constitution of a race" —Le Bon

प्रणाली का जो रूप होता है, वह उस देश के लोगों के व्यवहार तथा सोचने और विचार करने के तौर-तरीकों पर प्रभाव डालता है। उदाहरण के लिए, प्रजातन्त्र शासन प्रणाली में लोगों का व्यवहार निरकुश शासन के अन्तर्गत रहने वाले लोगों से भिन्न होता है। अत कोई भी मनोवैज्ञानिक राजनीतिक अध्ययन की उपेक्षा नहीं कर सकता।

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि राजनीति विज्ञान तथा मनोविज्ञान में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

राजनीति विज्ञान तथा मनोविज्ञान में अन्तर—दोनों शास्त्रों में निकट सम्बन्ध होते हुए भी कुछ बातों में मौलिक अन्तर हैं जो निम्नलिखित हैं

विषय सामग्री में अन्तर—(i) राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध मनुष्य के राजनीतिक सगठनों एव कार्यों से है परन्तु मनोविज्ञान का सम्बन्ध विभिन्न मानसिक अवस्थाओं में मनुष्य के आचरण एव व्यवहार से है। (ii) मनोविज्ञान में मनुष्य की चेतन, अचेतन, अर्द्धचेतन आदि सभी मानसिक अवस्थाओं का अध्ययन किया जाता है जबकि राजनीति विज्ञान में केवल चेतन सम्बन्धी बातों का अध्ययन होता है। (iii) मनोविज्ञान का सम्बन्ध मनुष्य की भावनाओं प्रवृत्तियों तथा सवेगों आदि से है परन्तु राजनीति विज्ञान में व्यावहारिक कार्यों का अध्ययन किया जाता है। (iv) मनोविज्ञान में व्यक्ति का व्यक्ति के रूप में तथा राजनीति विज्ञान में व्यक्ति का सामाजिक जीवन के रूप में अध्ययन किया जाता है। कैटलिन ने लिखा है कि 'मनोविज्ञान मानसिक क्रियाओं का अध्ययन है जबकि राजनीति विज्ञान सकल्पपूर्वक किये गये कार्यों का अध्ययन है।'

प्रकृति में अन्तर—मनोविज्ञान मूल्यों एव आदर्श से सम्बन्ध नहीं रखता। वह मानव व्यवहार एव स्वभाव का यथार्थ स्थिति में ही अध्ययन करता है। इसके विपरीत राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध आदर्श से है। वह 'क्या था' और 'क्या है' के साथ साथ 'क्या होना चाहिए' का भी अध्ययन करता है।

अत यह स्पष्ट है कि राजनीति विज्ञान को सामाजिक मनोविज्ञान के निष्कर्ष ग्रहण करने में काफी सोच विचार से काम लेना चाहिए।

राजनीति विज्ञान एव भूगोल
(Political Science and Geography)

राजनीति विज्ञान राज्य नामक सगठन का अध्ययन करता है। राज्य का निर्माण करने वाले तत्त्वों में भूखण्ड भी एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। भूखण्ड का अध्ययन भूगोल के अन्तर्गत भी किया जाता है। अत राजनीति और भूगोल में परस्पर सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। यह सम्बन्ध निम्न रूपों में देखा जा सकता है

राजनीतिक जीवन पर भूगोल का प्रभाव—अनेक विचारकों ने इस बात का समर्थन किया है कि किसी देश की भौगोलिक दशाओं तथा भौतिक परिस्थितियों का प्रभाव उस देश के निवासियों के चरित्र तथा राष्ट्रीय जीवन के साथ-साथ वहाँ की

सरकार की नीतियों तथा सरकार के कार्यों पर पड़ता है। सर्वप्रथम, अरस्तू ने राजनीतिक स्थिति पर भूगोल के महत्त्व को स्पष्ट किया। उसके अनुसार राजनीतिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए भूगोल का ज्ञान आवश्यक है। बोदाँ (Bodin) पहला आधुनिक लेखक था जिसने राजनीति विज्ञान और भूगोल में घनिष्ठ सम्बन्ध बताते हुए भिन्न-भिन्न देशों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की शासन व्यवस्था का उल्लेख किया है। उसके बाद रूसो ने शासन के प्रकारों में तथा जलवायु के प्रकारों में घनिष्ठ सम्बन्ध कायम किया। उसके अनुसार उष्ण जलवायु में निरंकुश राजतन्त्र शीत जलवायु में बर्बर शासन तथा सम जलवायु में श्रेष्ठ शासन की स्थापना होती है। मॉण्टेस्क्यू (Montesquieu) ने पर्वतीय प्रदेशों तथा शीत जलवायु को दासता एवं निरंकुश शासन की उत्पत्ति में अनुकूल बताया है। बकल ने 'सभ्यता का इतिहास' (History of Civilization) नामक अपनी पुस्तक में प्राकृतिक परिस्थितियों तथा राष्ट्रीय चरित्र के आपसी सम्बन्ध को बहुत ही बढ़ा-चढ़ा कर बताया है। उन्होंने जोरदार शब्दों में यह कहा कि लोगों के जातीय चरित्र और संस्थाओं के निर्माण में भूगोल का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। आधुनिक काल में ब्लुश्ली, ट्रीटस्के, रिटर, मैकाइवर आदि विचारकों ने भी राजनीतिक जीवन पर भौगोलिक परिस्थितियों के प्रभाव के महत्त्व को स्वीकार किया है।

भूगोल के प्रभाव के परिणामस्वरूप जर्मनी में तो भू-राजनीति (Geo-Politics) नामक एक नये विज्ञान का विकास हुआ है जो भौगोलिक तत्त्वों के उन राजनीतिक प्रभावों का अध्ययन करता है जो विशेष रूप से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और विदेश नीति पर पड़ते हैं। वस्तुतः शान्ति और युद्ध दोनों समय राज्यों की विदेश नीतियाँ भौगोलिक स्थिति को ध्यान में रखकर ही निश्चित की जाती है। एक देश की भौगोलिक स्थिति विशेषकर उसकी प्राकृतिक बनावट, जलवायु, प्राकृतिक साधन खनिज पदार्थ तथा तेल स्रोत, आदि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसकी शक्ति व महत्त्व के मापदण्ड बन जाते हैं। गार्नर का तो यह कथन है कि "एक बहुत बड़ी मात्रा में राष्ट्रीय नीतियों पर तथा कुछ सीमा तक राष्ट्रीय संस्थाओं के निर्माण पर भौगोलिक अवस्थाओं का प्रभाव पड़ता है।" उदाहरण के लिए, भौगोलिक स्थिति के कारण ही प्राचीन यूनान में नगर राज्यों का तथा जर्मनी और इटली में सर्वाधिकारवादी राज्यों का विकास हुआ। स्विट्जरलैण्ड में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की सफलता का आधार वहाँ की भौगोलिक स्थिति ही है। आज मध्य-पूर्व (Middle-East) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का जो केन्द्र बना हुआ है, इसका प्रमुख कारण इस क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति तथा खनिज पदार्थों की प्रचुरता है। इसी तरह आज अमरीका तथा सोवियत रूस संसार की महान् शक्तियों में गिने जाते हैं तथा अफ्रीका के अनेक देश राजनीतिक दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए हैं, इसका प्रमुख कारण भूगोल ही है। प्रो॰ सेलिगमैन ने तो यहाँ तक कहा है कि "तथाकथित अंग्रेजी व्यक्तिवाद वहाँ की

जलवायु सम्बन्धी अवस्थाओं का ही परिणाम है।"[1] मोर्गेन्थू भी भूगोल को राज्य की शक्ति का सर्वाधिक स्थायी आधार मानते हैं।[2]

प्रभाव में कमी—इसमें कोई सन्देह नहीं कि राजनीति विज्ञान के अध्ययन में भूगोल का महत्त्वपूर्ण स्थान है परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि केवल भौगोलिक परिस्थितियाँ ही राजनीतिक जीवन का निर्धारण करती हैं। ऐसा कहना अत्यधिक अतिशयोक्तिपूर्ण होगा। आज वैज्ञानिक प्रगति के कारण मनुष्य प्राकृतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त करता जा रहा है और उन पर नियन्त्रण रखने की क्षमता पा गया है जिससे परिणामस्वरूप राजनीति पर भौगोलिक परिस्थितियों के प्रभाव का महत्त्व काफी कम हो गया है। आज भौगोलिक दशाओं का शासन की प्रणाली से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया। जिन देशों में कभी निरंकुश शासन था आज वहाँ भी लोकतन्त्र पनप रहा है। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि सभ्यता की प्रगति के साथ-साथ राजनीति पर भूगोल का प्रभाव कम होता जा रहा है।

राजनीति विज्ञान तथा भूगोल में अन्तर दोनों शास्त्रों में घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए कुछ मूलभूत अन्तर हैं जो निम्नलिखित हैं

(i) राजनीति विज्ञान एक मानवीय विज्ञान है। इसकी अध्ययन सामग्री राज्य नामक मानवीय संगठन है। भूगोल एक भौतिकीशास्त्र है जिसकी अध्ययन सामग्री पृथ्वी, जलवायु आदि है।

(ii) राजनीति विज्ञान एक अनिश्चित विज्ञान है जबकि भूगोल एक निश्चित विज्ञान है।

(iii) राजनीति विज्ञान एक आदर्शपरक विज्ञान है तथा भूगोल तथ्यों का अध्ययन करने वाला एक वास्तविक विज्ञान है।

राजनीति विज्ञान तथा लोक प्रशासन
(Political Science and Public Administration)

राजनीति विज्ञान एवं लोक प्रशासन के सम्बन्ध में राजनीतिक विचारकों में परस्पर मतभेद है। कुछ विचारक दोनों विषयों को ज्ञान की दो पृथक् शाखाएँ मानते हैं जबकि कुछ अन्य इन दोनों विषयों को एक ही मानते हैं।

लोक प्रशासन की राजनीति विज्ञान से पृथक्ता—*19वीं* शताब्दी के अन्त तक लोक प्रशासन एक पृथक् विषय न होकर राजनीति विज्ञान की एक शाखा ही माना जाता था। परन्तु बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अमरीका के विश्वविद्यालयों में इसे ज्ञान की एक स्वतन्त्र शाखा माना जाने पर जोर दिया गया। इसके परिणामस्वरूप अनेक विचारक राजनीति विज्ञान तथा लोक प्रशासन को ज्ञान की दो पृथक् शाखाएँ

1 Prof Seligman : *Principles of Economics*, p 36

2 H J Morgenthau *Politics among Nations*, pp 110-12.

दर्शनशास्त्र तथा नीतिशा त्र सभी विषयो से सम्बन्धित है। इस कथन का परीक्षण कीजिए।

3 "राजनीति विज्ञान सभी सामाजिक शास्त्रो से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है।" इतिहास और अर्थशास्त्र से सम्बन्धो के उदाहरण लेते हुए इस कथन का विवेचन कीजिए। (राजस्थान विश्व०, 1979)

4 राजनीति विज्ञान को परिभाषित कीजिए। समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा मनोविज्ञान से उसके सम्बन्धो का विवेचन कीजिए।
(राजस्थान विश्वविद्यालय, 1974)

5 इस दृष्टिकोण की विवेचना कीजिए कि यदि इतिहास की अवहेलना हो तो राजनीति विज्ञान सारहीन रह जायेगा।

6 "इतिहास राजनीति विज्ञान के बिना फलरहित है तथा राजनीति विज्ञान इतिहास के बिना जड़रहित है।" इस कथन की विवेचना कीजिए।

7 इस दृष्टिकोण को स्पष्ट कीजिए कि राजनीति विज्ञान एव अर्थशास्त्र दो ऐसे सामाजिकशास्त्र हैं जिनका अध्ययन पृथक रूप मे नहीं हो सकता।

8 आप इस दृष्टिकोण से कहाँ तक सहमत हैं कि आज राजनीति विज्ञान समाजशास्त्र से इतना अधिक सम्बद्ध है कि राजनीति विज्ञान को राजनीति समाजशास्त्र कहा जाना चाहिए ?

9 राजनीति विज्ञान का मनोविज्ञान, भूगोल तथा सांख्यिकीशास्त्र से सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए।

10. "आर्थिक जीवन का निर्माण राजनीतिक सस्थाओ और विचारो से होता है तथा राजनीतिक घटनाओ पर आर्थिक कारणो का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है।" इस कथन के सम्बन्ध मे राजनीति विज्ञान तथा अर्थशास्त्र का सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए।

11 इस कथन का परीक्षण कीजिए कि 'इतिहास के बिना राजनीति का कोई आधार नही, राजनीति के बिना इतिहास का कोई फल नही।'
(राजस्थान विश्वविद्यालय, 1977)

12. "राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र एव समाजशास्त्र से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है।" इस कथन का उदाहरण सहित परीक्षण कीजिए।
(राजस्थान विश्वविद्यालय, 1976)

4

राज्य एवं उसके मूल तत्त्व
[THE STATE AND ITS ESSENTIAL ELEMENTS]

'राज्य का जन्म मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के कारण होता है और मनुष्य स्वभाव से ही राज्य के अन्दर रहने वाला प्राणी है। जो व्यक्ति राज्य के अन्दर नहीं रहता वह या तो पशु है अथवा देवता।'[1]

—अरस्तू

राज्य का स्वरूप

राजनीति विज्ञान में शायद ही किसी दूसरे शब्द ने इतना अधिक भ्रम पैदा किया हो जितना कि राज्य शब्द ने। राजनीति विज्ञान में प्रायः हर लेखक ने राज्य शब्द की अपनी परिभाषा दी है। शायद ही कोई दो विचारक ऐसे हों जो राज्य के सम्बन्ध में एक मत हों। आर० एम० मैकाइवर ने कहा है कि "यह बड़े आश्चर्य की बात है कि राज्य जैसे स्पष्ट शब्द की परिभाषाएँ विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से की हैं।" यह मतभेद मुख्य रूप से राज्य के स्वरूप के प्रति विभिन्न दृष्टिकोणों और विचारों के कारण है जिनका प्रभाव उनकी परिभाषाओं पर भी पड़ा है। कुछ विचारक, जैसे ओपेनहीमर तथा कार्ल मार्क्स राज्य को एक वर्ग संगठन मानते हैं जबकि कुछ दूसरे विचारक उसे समस्त समाज का प्रतिनिधित्व करने वाला संगठन मानते हैं। इसी प्रकार कुछ विचारक उसे शक्ति का प्रतीक मानते हैं जबकि कुछ अन्य विचारक उसे एक लोक-कल्याणकारी संस्था मानते हैं। कुछ विचारक ऐसे हैं जो राज्य को एक बीमा कम्पनी जैसी संस्था मानते हैं जिसका उद्देश्य पारस्परिक सुरक्षा है जबकि दूसरी ओर कुछ अन्य विचारक उसे एक नैतिक संस्था मानते हैं जिसके बिना मनुष्य का नैतिक विकास सम्भव नहीं है। कुछ विचारक उसे केवल एक कानूनी संगठन

1 "The polis belongs to the class of things that exist by nature, and man is by nature an animal intended to live in a polis. He who is without a polis, is either a poor sort of being, or a being higher than man."—Aristotle: *Politics*, Translated by Barker, p. 5.

मानते हैं जबकि कुछ अन्य विचारक उसे राष्ट्र तथा समाज का ही दूसरा रूप मानते हैं। इसी प्रकार जहाँ व्यक्तिवादी विचारक राज्य को एक आवश्यक बुराई मानते हैं, वहाँ दूसरी ओर आदर्शवादी विचारक उसे ईश्वर का रूप मानते है तथा बहुलवादी विचारक राज्य को एक निगम (Corporation) जैसी संस्था मानते हैं।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य के स्वरूप के सम्बन्ध में राजनीतिक विचारकों के दृष्टिकोणों में पर्याप्त भेद है और इस भेद के कारण ही राज्य की परिभाषाओं में भी विविधता आ गई। जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान सुल्जे (Schulze) ने ठीक ही कहा है कि 'राज्य शब्द की उतनी ही परिभाषाएँ हैं, जितने राजनीति-विज्ञान के लेखक हैं।'

राज्य की परिभाषा

'राज्य' शब्द की जो परिभाषाएँ की गई हैं उनको हम मोटे रूप में दो भागों में बाँट सकते हैं—राज्य की प्राचीन एवं मध्ययुगीन परिभाषाएँ तथा राज्य की आधुनिक परिभाषाएँ।

राज्य की प्राचीन एवं मध्ययुगीन परिभाषाएँ—प्राचीन विचारकों ने राज्य की जो परिभाषा की है उनमें दो बातों पर मुख्य रूप से जोर दिया गया है। प्रथम तो, राज्य एक मानव समुदाय है, तथा द्वितीय, राज्य का उद्देश्य मानव का अधिकतम कल्याण करना है। प्राचीन एवं मध्य युग के कुछ मुख्य विचारकों द्वारा दी गई परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं

अरस्तू—"राज्य परिवारों तथा ग्रामों का एक ऐसा समुदाय है जिसका उद्देश्य पूर्ण और आत्मनिर्भर जीवन की प्राप्ति है।"[1]

सिसरो—"राज्य एक ऐसा बहुसंख्यक समाज है जो अधिकारों की सामान्य भावना एवं लाभों में परस्पर सहयोग द्वारा संयुक्त है।"[2]

ग्रोशियस—"राज्य ऐसे स्वतन्त्र मनुष्यों का एक पूर्ण समाज है जो अधिकार के उपभोग के लिए तथा सामान्य उपयोगिता के लिए आपस में बँधे हुए हैं।"

बोदाँ—'राज्य अपनी सामान्य सम्पत्ति सहित परिवारों का एक ऐसा समुदाय है जो सर्वोच्च सत्ता और विवेक बुद्धि द्वारा नियन्त्रित है।"[3]

अरस्तू तथा सिसरो की परिभाषाएँ यथार्थवादी न होकर केवल आदर्शवादी हैं। ये परिभाषाएँ राज्य के उद्देश्य पर तो कुछ प्रकाश अवश्य डालती हैं परन्तु ये

---

1 'The State is a union of families and villages having for its end perfect and self-sufficient life" —Aristotle

2 "The State is a numerous society united by common sense of right and natural participation in advantages" —Cicero

3 "State is an association of families and their common possessions governed by a supreme power and by reason" —Bodin

राज्य के स्वरूप को स्पष्ट बिल्कुल नहीं करती। ग्रोशियस की परिभाषा में राज्य के अनिवार्य तत्त्व सरकार तथा सम्प्रभुता का और बोदाँ की परिभाषा में भूमि तथा सम्प्रभुता का उल्लेख नहीं है।

राज्य की आधुनिक परिभाषाएँ—आधुनिक विचारकों की परिभाषाएँ राज्य के वस्तुनिष्ठ तत्त्वों के विवरण पर आधारित हैं। इनमें राज्य के कुछ प्रमुख तत्त्वों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। इनमें से कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं

बर्गेस—"राज्य संगठित इकाई के रूप में मानव समुदाय का एक विशिष्ट भाग है।"[1]

ब्लुन्शली—"किसी निश्चित भू भाग पर राजनीतिक रूप में संगठित जनता का नाम ही राज्य है।"[2]

वुड्रो विल्सन—"एक निश्चित भू-भाग के अन्तर्गत कानून रूप से संगठित जनसमुदाय का नाम ही राज्य है।"[3]

गौर्नर—"राज्य एक निश्चित भू भाग में जनता द्वारा कानून की स्थापना के लिए एक संगठित समूह का नाम है।"

हॉलैण्ड—"राज्य मनुष्यों का एक ऐसा बहुसंख्यक समुदाय है जो साधारणतया एक निश्चित भू-भाग पर निवास करता हो तथा जिसमें बहुमत अथवा एक निश्चित वर्ग के व्यक्तियों की इच्छा, उस बहुमत अथवा वर्ग की शक्ति के कारण, उसके विरोधियों पर अपनी प्रधानता रखती हो।"[4]

विलोबी—"राज्य मनुष्यों के उस समाज को कहते हैं जिसमें एक सर्वोच्च सत्ता पाई जाती है जो अपने अन्तर्गत व्यक्तियों तथा व्यक्ति समूहों के कार्यों पर नियन्त्रण रखती हो, परन्तु वह स्वयं किसी भी नियन्त्रण से मुक्त हो।"[5]

---

1 'The State is a particular portion of mankind viewed as an *organized unit*" —Burgess

2 '*The State is the politically organized people of a definite territory*" —Bluntschli

3 "The State is a people organized for law, within a definite territory" —Wilson

4 'The State is a numerous assemblage of human beings, generally occupying a certain territory, amongst whom the will of the majority or of an ascertainable class or persons, is by the strength of such a majority or class, is made to prevail against any of their number who oppose it" —Holland

5 "The State exists whenever there can be discovered in any community of men a supreme authority exercising a control over the social action of individuals and groups of individuals and itself subject to no such regulation" —Willoughby

मेकाइवर—"राज्य एक ऐसा संघ है जो सरकार द्वारा घोषित ऐसे नियमों के अनुसार कार्य करता है जिन्हें पालन कराने की सरकार को शक्ति प्राप्त होती है तथा जो किसी निश्चित भू भाग के अन्दर सामाजिक व्यवस्था की सर्वमान्य बाह्य अवस्थाओं को बनाये रखता है।"[1]

लास्की— "राज्य एक प्रादेशिक समाज है जो सरकार और प्रजा में विभाजित है और जो अपने निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में अन्य सभी संस्थाओं पर सर्वोच्च सत्ता रखता है।"[2]

उपरोक्त परिभाषाओं में से कोई भी परिभाषा पूर्ण नहीं है। वर्गेस, ब्लुशली, वुडरो विल्सन सीकार तथा हालैण्ड की परिभाषाओं में राज्य के सबसे प्रमुख तत्व सम्प्रभुता का कोई उल्लेख नहीं किया गया है और विलोबी मेकाइवर तथा लास्की की परिभाषाओं में केवल आन्तरिक सम्प्रभुता का ही विवेचन किया गया है, बाहरी सम्प्रभुता का नहीं।

राज्य की सर्वमान्य परिभाषाएँ—अब तक राज्य की जितनी भी परिभाषाएँ की गई हैं उनमें फिलिमोर, विचकाइल्ट तथा गार्नर की परिभाषाएँ श्रेष्ठ तथा सर्वमान्य हैं। ये परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं

फिलिमोर—"राज्य मनुष्यों का वह समुदाय है जो स्थायी रूप से एक निश्चित भू-भाग पर निवास करता हो जो सामान्य कानून, रीति-रिवाज तथा परम्पराओं के द्वारा एक राजनीतिक संगठन में बंधा हो और जो एक संगठित सरकार द्वारा उस क्षेत्र के समस्त व्यक्तियों तथा वस्तुओं पर अपना प्रभुत्व एवं नियन्त्रण रखता हो और जो संसार के अन्य राष्ट्रों के साथ युद्ध करने तथा शान्ति की स्थापना करने एवं अन्य सभी प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता रखता हो।"[3]

---

1 "The State is an association, which acting through law as promulgated by a government endowed to this end with coercive power, maintains within a community territorially demarcated the universal external conditions of social order." —MacIver

2 "The State is a territorial society divided into government and subjects claiming within its alloted physical area, a supremacy over all other institutions." —H J Laski

3 "A people permanently occupying a fixed territory, bound together by common laws, habits and customs in one body politic exercised through the medium of an organised Government, independent sovereignty and control over all persons and things within its boundaries, capable of making war and peace and of entering into all international relations with the communities of the globe." —Philimore *International Law*, p 81

गिलक्राइस्ट—"राज्य उसे कहते हैं जहाँ कुछ लोग एक निश्चित भू-भाग में एक सरकार के अधीन संगठित होते हैं। यह सरकार आन्तरिक मामलों में अपनी जनता की प्रभुसत्ता को प्रकट करती है तथा बाहरी मामलों में अन्य सरकारों से स्वतन्त्र होती है।"[1]

गार्नर—"राज्य न्यूनाधिक बहुसंख्यक व्यक्तियों का एक ऐसा समुदाय है जो स्थायी रूप से एक निश्चित भू भाग पर निवास करता हो, जो बाहरी नियन्त्रण से स्वतन्त्र अथवा लगभग स्वतन्त्र हो और जिसकी एक ऐसी संगठित सरकार हो जिसके आदेशों का पालन नागरिकों का विशाल समुदाय स्वभावत करता हो।"[2]

उपर्युक्त तीनों परिभाषाएँ राज्य की श्रेष्ठ परिभाषाएँ मानी जाती हैं परन्तु इनमें भी गार्नर की परिभाषा अधिक श्रेष्ठ मानी जाती है क्योंकि उसमें राज्य के चारों तत्त्वों—जनसंख्या, निश्चित भू भाग, सरकार तथा सम्प्रभुता—का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। अत वर्तमान समय में गार्नर द्वारा की गई परिभाषा ही राज्य की श्रेष्ठ एवं सर्वमान्य परिभाषा मानी जाती है।

राज्य के तत्त्व

परिभाषाओं के समान राज्य के आवश्यक तत्त्वों के बारे में भी विद्वान एकमत नहीं हैं। विलोबी ने राज्य के तीन तत्त्व बताये हैं—जनता, शासनतन्त्र तथा संविधान। सिजविक के अनुसार राज्य के तीन तत्त्व होते हैं—सरकार, भू-भाग तथा जनता। ब्लुन्शली ने राज्य के चार तत्त्व बताये हैं—भू भाग, जनता एकता तथा संगठन। पैनोक और स्मिथ ने छ तत्त्वों का उल्लेख किया है—जनसंख्या, भूमि, अनिवार्य सदस्यता सम्प्रभुता, कानूनी स्वतन्त्रता तथा कानून। डा० गार्नर के अनुसार, राज्य के चार तत्त्व हैं जो इस प्रकार हैं—(1) मानव-समुदाय, (2) एक प्रदेश, जिस पर वह स्थायी रूप से निवास करता हो, (3) आन्तरिक सम्प्रभुता तथा बाहरी नियन्त्रण से स्वतन्त्रता (4) एक राजनीतिक संगठन, जिसके द्वारा जनता की

---

1 'The State is a concept of Political Science which exists where a number of people living on a definite territory, are united under a Government which in internal matters, is the organ for expressing their sovereignty and in external matters is independent of other Governments —R N Gilchrist : *Principles of Political Science* p 17

2 "The State is a community of persons more or less numerous, permanently occupying a definite portion of territory, independent or nearly so of external control and possessing an organized Government to which the great body of inhabitants render habitual obedience —Garner *Political Science and Government*, p. 49

सामूहिक इच्छा की अभिव्यक्ति होती है और उसके अनुसार कार्य सम्पन्न होता है। इसी प्रकार गेटेल ने भी जनता, प्रदेश सरकार तथा सम्प्रभुता ये चार राज्य के आवश्यक तत्त्व माने है।

आधुनिक सभी लेखक गार्नर अथवा गेटेल के विचार को ही स्वीकार करते हैं तथा जनता, भू-भाग सरकार और सम्प्रभुता को ही राज्य के आवश्यक तत्त्व मानते हैं। यह विचार तर्कसंगत भी है। यदि इनमे से एक भी तत्त्व की कमी हो तो हम ऐसे जन समुदाय को राज्य नही कहते। अब हम राज्य के इन चारो तत्त्वो पर विस्तार से विचार करेंगे।

(1) जनसंख्या (Population)—मनुष्यों के बिना कोई मानव समुदाय नही बन सकता। अतः राज्य के लिए जनसंख्या का होना एक मूलभूत आवश्यकता है जिसके बिना राज्य की कल्पना ही नही की जा सकती। पृथ्वी का कोई क्षेत्र जीवित मनुष्यों के बिना राज्य नही बन सकता। गार्नर के शब्दो में, "राज्य के अस्तित्व के लिए जनता रूपी भौतिक तत्त्व की निरपेक्ष आवश्यकता है। जनता के अभाव मे राज्य की कल्पना सम्भव नहीं। उसके बिना न तो शासक हो सकते हैं और न शासित।" अतः राज्य के लिए यह भी आवश्यक है कि उसमे काफी संख्या मे व्यक्ति हो, कम से कम इतने अवश्य हो कि उन्हे शासक और शासित वर्ग मे बाँटा जा सके।

अब प्रश्न यह उठता है कि एक राज्य के निर्माण के लिए कितनी जनसंख्या होनी चाहिए। प्रसिद्ध यूनानी विचारक प्लेटो के अनुसार एक आदर्श राज्य मे नागरिको की संख्या 5040 होनी चाहिए। अरस्तू ने राज्य के लिए कोई निश्चित जनसंख्या नही बताई। उसका विचार था कि एक आदर्श राज्य की जनसंख्या न तो बहुत कम होनी चाहिए और न बहुत अधिक बल्कि इतनी होनी चाहिए कि वह स्वावलम्बी हो सके तथा उसकी शासन व्यवस्था ठीक प्रकार से चल सके। यूनानी विचारको के समान रूसो भी छोटे-छोटे गणराज्यों का समर्थक था। प्रत्यक्ष लोकतन्त्र मे उसकी आस्था थी। उसके अनुसार एक आदर्श राज्य की जनसंख्या लगभग 10,000 होनी चाहिए।

उपरोक्त विचारको के विचारो का महत्त्व तत्कालीन परिस्थितियों मे भले ही कुछ रहा हो परन्तु वर्तमान समय मे जनसंख्या के आकार का महत्त्व राज्य के जीवन मे नाममात्र को रह गया है। आधुनिक काल मे विज्ञान की प्रगति तथा आवागमन के साधनो के विकास के कारण परिस्थितियाँ बिलकुल बदल गई हैं। प्रतिनिधि प्रणाली तथा संघात्मक शासन व्यवस्था को अपना लिए जाने के कारण जनसंख्या का प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण नही रहा है। जनसंख्या के विचार से आजकल के राज्यो मे इतना अधिक अन्तर है कि जहाँ एक ओर भारत, चीन, अमेरिका तथा रूस जैसे करोडो जनसंख्या वाले राज्य हैं, वहाँ दूसरी ओर मोनाको तथा सेन मेरिनो जैसे छोटे राज्य भी हैं जिनकी जनसंख्या केवल कुछ हजार ही है। अतः जनसंख्या के सम्बन्ध मे कोई भी नियम नहीं बनाया जा सकता। गार्नर का विचार है कि जनसंख्या के सम्बन्ध मे

यही कहना उचित होगा कि "राज्य मे जनसख्या इतनी पर्याप्त होनी चाहिए कि उसका सगठन ठीक प्रकार से कायम रह सके और वह इतनी अधिक भी नहीं होनी चाहिए कि उस भूमि के समस्त साधनो से भी उसके पालन-पोषण की व्यवस्था भली प्रकार न हो सके।"[1] सोल्टाऊ ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि "जनता की सख्या का सम्बन्ध तीन बातो से होना चाहिए—प्रयोग की जाने वाली वस्तुओ की उपलब्धि, वांछित जीवन स्तर तथा सुरक्षा एव उत्पादन की आवश्यकताएं।"[2]

जनसख्या के सम्बन्ध मे उसके आकार की अपेक्षा नागरिको के गुणो का अधिक महत्त्व है। किसी भी राज्य की पहचान उसके नागरिको के गुणो से होती है। राज्य की शक्ति वस्तुत जनता की शक्ति होती है। अत यह आवश्यक है कि राज्य के नागरिक चरित्रवान तथा सद्गुणी हो और वे शारीरिक, बौद्धिक, सांस्कृतिक एव आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत हो। उनमे बौद्धिक शक्ति विवेक, परिश्रम की क्षमता, त्याग, देशभक्ति आदि गुणो का होना आवश्यक है। राजनीतिक जीवन की श्रेष्ठता नागरिको के गुणो पर ही निर्भर करती है। अरस्तू ने ठीक ही कहा है कि "नागरिकों के चरित्र की श्रेष्ठता ही राज्य को श्रेष्ठता प्रदान करती है।

(2) **निश्चित भू-भाग (Territory)**—राज्य का दूसरा आवश्यक तत्त्व भूमि है। जब तक कोई मानव समुदाय किसी निश्चित भूमि पर स्थायी रूप से नही बस जाता, तब तक उसे राज्य नही कहा जा सकता। अत राज्य के लिए एक निश्चित भू भाग आवश्यक है। परन्तु पहले के कुछ राजनीतिक विचारको ने, जिनमे ड्यूग्वी, हॉल तथा सीले प्रमुख हैं भूमि का राज्य का आवश्यक तत्त्व नहीं माना। लियोन ड्यूग्वी के मतानुसार, "राज्य के निर्माण मे भूमि कोई अनिवार्य तत्त्व नहीं है। राज्य शासक तथा शासित के भेद से बनता है और यह भेद किसी प्रदेश में स्थायी रूप से न बसे हुए समाज मे भी हो सकता है।"[3] अन्तर्राष्ट्रीय कानून के एक प्रसिद्ध लेखक हॉल ने लिखा है कि 'ऐसा कोई कारण नहीं जान पड़ता है कि एक घूमने-फिरने वाली जाति या मानव-समुदाय अपने आपको एक प्रदेश मे स्थायी रूप से रहने वाले समाज

1 "The population must be sufficient in number to maintain a state organization and that it *ought not to be greater than the* territorial area and resources of the State are capable of supporting."—Garner *Political Science and Government*, p 77

2 "Population numbers have to be related to three factors, amount of supplies available, standard of living expected, and needs of defence and production" R H Soltau *An Introduction to Politics*, p 24

3 'Territory is not an indispensable element in the formation of a state" —Leon Duguit

की भांति अन्य समुदायो के साथ व्यवहार के निश्चित नियमो द्वारा बँधा हुआ क्यों न समझे ।"[1]

परन्तु आधुनिक विचारक जिओन ड्युग्वी, हॉल तथा सीले के विचारो को स्वीकार नही करते । वे इस बात पर एकमत है कि जब तक मनुष्यो का समुदाय स्थायी रूप से एक निश्चित क्षेत्र मे निवास नही करेगा, तब तक उसे राज्य नही कहा जायेगा । इस सम्बन्ध मे ब्लुशली ने कहा है कि "जैसे राज्य का वैयक्तिक आधार जनता है, उसी प्रकार उसका भौतिक आधार भूमि है । जनता उस समय तक राज्य का रूप धारण नहीं कर सकती जब तक उसका कोई निश्चित प्रदेश न हो ।[2] प्रसिद्ध विद्वान गार्नर का मत है कि व्यावहारिक दृष्टि से और कम से कम राज्य की आधुनिक धारणा के अनुसार एक खानाबदोश जाति को जिसका अपना कोई निश्चित प्रदेश न हो, किस प्रकार एक राज्य कहा जा सकता है । उन्होंने आगे लिखा है कि "ऐसी अवस्था के लोग राज्य के निर्माण के पथ पर हो सकते हैं परन्तु वे तब तक राज्य नहीं कहला सकते जब तक कि वे एक निश्चित प्रदेश पर स्थायी रूप से बस नही जाते ।[3] ड्युग्वी ने भी यह स्वीकार किया है कि "आधुनिक सभ्य समाज एव जातियाँ वस्तुत. निश्चित प्रदेशो पर ही स्थायी रूप से निवास करती हैं ।" हॉल ने यह भी माना है कि "आधुनिक सभ्यता की परिस्थितियाँ एक निश्चित भूमि पर अधिकार को राज्य की एक व्यावहारिक आवश्यकता बना देती हैं ।" इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण यह है कि जब तक यहूदी लोग सारे ससार मे बिखरे रहे तथा किसी निश्चित भू-भाग पर नही बसे, तब तक वे कोई राज्य नही बना सके और जब सन् 1948 मे वे स्थायी रूप से एक भू भाग पर बस गए तो इजरायल के रूप मे उनका एक राज्य बन गया । अत यह स्पष्ट हो जाता है कि एक निश्चित भू-भाग का होना राज्य का एक अनिवार्य तत्त्व है ।

भूमि का विस्तार—जिस प्रकार जनसख्या के सम्बन्ध मे कोई नियम नही बनाया जा सकता, उसी प्रकार एक राज्य के पास कम से कम कितनी भूमि होनी चाहिए, इस सम्बन्ध मे भी कोई नियम नही बनाया जा सकता । आधुनिक राज्यो का

---

1 "There is no reason why even a wandering tribe or society should not feel itself bound stringently as a settled community, by definite rules of conduct towards other communities "—**Hall** *International Law*, p 19

2 Bluntschli *Theory of the State*, p 231

3 "A people under such conditions may be a State in the making, but they do not become a State until their migration has ceased and they have established themselves permanently on a definite portion of territory "—**Garner** *Political Science and Government*, p 81.

क्षेत्रफल बहुत असमान है। एक ओर सोवियत रूस, चीन, भारत तथा अमेरिका जैसे विशाल क्षेत्र वाले राज्य हैं तो दूसरी ओर सेनमेरिनो (इटली के प्रदेश से घिरा हुआ एक छोटा सा राज्य) तथा मोनाको (फ्रांस के दक्षिण में) जैसे छोटे राज्य भी हैं जिनका क्षेत्रफल क्रमश 61 वर्ग किलो मील तथा 370 एकड़ है। ब्लुशली ने ठीक ही कहा है कि "एक राज्य का कम से कम तथा अधिक से अधिक कितना विस्तार हो, इस सम्बन्ध में कोई नियम बनाने का प्रयत्न करना निरर्थक होगा।"

राज्य के पास कितनी भूमि होनी चाहिए इस सम्बन्ध में विचारकों ने भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त किये हैं। प्लेटो तथा अरस्तू छोटे आकार वाले राज्यों के पक्ष में थे। अठारहवीं शताब्दी में रूसो ने भी इसी विचार का समर्थन किया। रूसो के मतानुसार छोटे राज्य बड़े राज्य की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली तथा जनतन्त्र के अधिक अनुकूल होते हैं। मॉन्टेस्क्यू का भी यही विचार था कि छोटे राज्यों के लिए गणतन्त्र शासन, मध्यम आकार वाले राज्यों के लिए एकतन्त्र शासन तथा बड़े राज्यों के लिए निरंकुश शासन अधिक उपयुक्त होता है। डी० टाकविल ने भी छोटे राज्यों के लिए गणतन्त्र प्रणाली को उपयुक्त बताया। उपरोक्त विचारकों ने जो विचार व्यक्त किये थे, वे उस समय की परिस्थितियों के अनुसार बिलकुल सही थे। उस समय यातायात के साधनों का विकास नहीं हुआ था। उस युग में विकेन्द्रीकरण, संघ शासन तथा स्थानीय स्वराज्य के सिद्धान्तों का भी लोगों को ज्ञान नहीं था। परन्तु वर्तमान समय में यातायात तथा सन्देशवाहन के साधनों तथा प्रतिनिधि प्रजातन्त्र, संघवाद तथा स्थानीय स्वराज्य के विकास ने बड़े राज्यों में शासन-प्रबन्ध की कठिनाई को दूर कर दिया है। वर्तमान परिस्थितियों में सुरक्षा की दृष्टि से भी छोटे राज्यों का अस्तित्व सदैव खतरे में रहता है। इसके अतिरिक्त छोटे आकार वाले राज्य आर्थिक दृष्टि से भी आत्मनिर्भर नहीं हो सकते। विशाल राज्यों के प्राकृतिक साधन भी अधिक होते हैं। आज राज्यों का विशाल आकार आर्थिक तथा सैनिक शक्ति का साधन बन गया है। अत वर्तमान समय में प्रायः सभी विचारक बड़े राज्यों के पक्ष में हैं।

किसी भी राज्य की जनसंख्या का उसके क्षेत्र से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। *यदि राज्य की जनसंख्या अधिक हो तथा उसका क्षेत्र कम हो तो अनेक कठिनाइयाँ* उत्पन्न हो जायेंगी। दूसरी ओर यदि जनसंख्या कम हो तथा क्षेत्र बहुत बड़ा हो तो *राज्य के प्राकृतिक साधनों का समुचित उपयोग नहीं हो सकेगा।* अतः राज्य की जनसंख्या और क्षेत्र में कोई अनुपात अवश्य होना चाहिए।

भूमि से तात्पर्य एवं उसका महत्त्व—उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि निश्चित भू-भाग अथवा भूमि राज्य का एक आवश्यक तत्त्व है। परन्तु यहाँ भूमि से तात्पर्य केवल भू-खण्ड से नहीं है बल्कि इसके अन्तर्गत निम्नलिखित बातें शामिल हैं—(1) राज्य के क्षेत्र में आने वाला भूमि प्रदेश, (2) राज्य के क्षेत्र में आने वाली *नदियाँ, झीलें, पर्वत, खनिज पदार्थ, आदि,* (3) राज्य के समुद्र तट से

12 मील तक का समुद्री अधिकार क्षेत्र, (4) राज्य के क्षेत्र में आने वाला आकाश अथवा वायुमण्डल।

भूमि के अन्तर्गत मानी जाने वाली उपरोक्त वस्तुओं का राज्य की स्थिति पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। यदि किसी राज्य में खनिज-पदार्थों की प्रचुरता है अथवा वह विद्युत शक्ति से सम्पन्न है तो उस राज्य के आर्थिक तथा औद्योगिक विकास की सम्भावनाएँ भी उतनी अधिक बढ़ जाती हैं। राज्य की भौगोलिक स्थिति का उसकी सुरक्षा पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। ब्रिटेन और जापान के स्वतन्त्र अस्तित्व का कारण उन देशों का स्वतन्त्र समुद्र-तट है। इसी तरह जलवायु का भी राज्य की स्थिति तथा उसके नागरिकों के चरित्र पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। जिन राज्यों की जलवायु बहुत अधिक ठण्डी होती है वहाँ राजनीतिक विकास नहीं होता क्योंकि वहाँ के लोग अपनी जीविका में ही व्यस्त रहते हैं और जिन राज्यों की जलवायु बहुत गरम होती है, वहाँ के लोग आलसी और विलासी होते हैं। यही नहीं, राज्य की भौगोलिक स्थिति उसकी विदेश नीति के निर्धारण में भी सहायक होती है।

(3) सरकार (Government) – राज्य का तीसरा महत्वपूर्ण तत्व शासन अथवा सरकार है जिसके बिना राज्य का निर्माण पूर्ण नहीं हो सकता। यह राज्य का संगठनात्मक तत्व है। किसी निश्चित प्रदेश पर बसा हुआ मानव समुदाय तब तक राज्य का रूप धारण नहीं कर सकता जब तक वह राजनीतिक दृष्टि से संगठित न हो। अतः राज्य कहलाने के लिए उसका राजनीतिक संगठन होना अत्यन्त आवश्यक है। सरकार के बिना राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि सरकार ही वह साधन है जिसके द्वारा राज्य अपने लक्ष्य एवं नीतियों को पूरा करता है। सरकार राज्य का व्यावहारिक पहलू है जिसके माध्यम से राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति होती है। राज्य एक अमूर्त संस्था है और सरकार इस अमूर्त संस्था का मूर्त रूप है। राज्य में सरकार का होना इसलिए भी आवश्यक है कि उसके बिना सभ्य समाज का अस्तित्व सम्भव नहीं है। गार्नर के अनुसार "सरकार राज्य का वह साधन या यन्त्र है जिसके द्वारा राज्य की सामान्य नीतियों का निर्धारण तथा सामान्य हितों की पूर्ति होती है और जिसके द्वारा राज्य के सामान्य कार्यों का नियमन अथवा प्रबन्ध किया जाता है। सरकार के बिना जनता असंगठित तथा अराजक जनसमूह के रूप में ही होगी जो सामूहिक रूप में कोई कार्य करने में अशक्त रहेगा।"[1] मोण्टाऊ के शब्दों में, "सरकार से हमारा तात्पर्य उन व्यक्तियों तथा साधनों से होता है

1 "Government is the agency or machinery through which common policies are determined and by which common affairs are regulated and common interests promoted Without government the population would be an incoherent, unorganised mass, with no means of collective action"—Garner *Political Science and Government*, p 93

जिनके द्वारा राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति होती है तथा उसे क्रियान्वित किया जाता है।"

प्राचीनकाल में सरकार का संगठन साधारण तथा सरल था। उसमें थोड़े से विभाग तथा राज-कर्मचारी होते थे। उसके कार्य भी सीमित थे तथा शासन की समस्त शक्तियों का प्रयोग एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह के द्वारा किया जाता था। परन्तु वर्तमान समय में सरकार का संगठन जटिल हो गया है। आज सरकार के मुख्यतया तीन अंग होते हैं—व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका। आज राज्य का कार्यक्षेत्र बढ़ जाने के कारण सरकार के कार्यों में भी काफी वृद्धि हो गई है। इसके अतिरिक्त सरकार के विभिन्न रूप होते हैं, जैसे राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र, अधिनायकतन्त्र, लोकतन्त्र इत्यादि। सरकार का कोई ऐसा निश्चित रूप नहीं है जो सभी राज्यों को समान रूप से मान्य हो। परन्तु वर्तमान समय में लोकतन्त्र को अन्य शासन-प्रणालियों की तुलना में अधिक श्रेष्ठ माना जाता है।

(4) **सम्प्रभुता (Sovereignty)**—राज्य का सबसे अधिक महत्वपूर्ण तत्व सम्प्रभुता है। इसे राज्य का जीवन अथवा उसकी आत्मा कहा जा सकता है। सम्प्रभुता का अर्थ सर्वोच्च शक्ति अथवा सत्ता है। यह शक्ति केवल राज्य में निवास करती है। राज्य के अलावा अन्य संघों के पास जनता, भू-भाग तथा शासन जैसा कोई संगठन भी हो सकता है परन्तु फिर भी उन सबको राज्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनके पास सम्प्रभुता नहीं होती। गेटल के शब्दों में, **"सम्प्रभुता ही राज्य का वह तत्व और लक्षण है जो उसे अन्य समुदायों से पृथक करता है।"** लास्की ने भी लिखा है कि **'अपनी सम्प्रभुता के कारण ही राज्य अन्य सभी प्रकार के मानव-समुदायों से भिन्न है।'**[1] अतः सम्प्रभुता के अभाव में राज्य का अस्तित्व सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए, 15 अगस्त सन् 1947 से पूर्व भारत एक राज्य नहीं था क्योंकि जनसंख्या निश्चित भू-भाग तथा सरकार के होते हुए भी वह सम्प्रभुतासम्पन्न नहीं था। सम्प्रभुता भारत के पास न होकर ब्रिटिश सरकार के पास थी और भारत ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग मात्र था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ जब भारत को सम्प्रभुता प्राप्त हुई तभी उसे सही अर्थ में राज्य का रूप प्राप्त हुआ।

सम्प्रभुता से हमारा तात्पर्य दो बातों से है—आन्तरिक सम्प्रभुता एवं बाह्य सम्प्रभुता। आन्तरिक सम्प्रभुता का अर्थ यह है कि अपनी सीमा के अन्तर्गत राज्य की सत्ता सर्वोपरि हो तथा अपने क्षेत्र के अन्तर्गत सभी व्यक्तियों एवं समुदायों पर उसे सर्वोच्च कानूनी अधिकार प्राप्त हो। सभी उसकी आज्ञाओं का पालन करने के लिए बाध्य हों। बाह्य सम्प्रभुता से तात्पर्य यह है कि राज्य सभी प्रकार के बाहरी नियन्त्रणों से मुक्त हो तथा वह अन्य राज्यों के साथ इच्छानुसार सम्बन्ध स्थापित करने

---

1 'It is by the possession of sovereignty that the state is distinguished from all other forms of human association."—**Laski**, *The State in Theory and Practice*, Chapter 21.

मे स्वतन्त्र हो। यदि कोई राज्य अन्य राज्यो के साथ सन्धि अथवा समझौते के फल-स्वरूप स्वेच्छा से अपने ऊपर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध स्वीकार कर लेता है तो इससे उस राज्य की सम्प्रभुता किसी भी रूप मे न तो खण्डित होती है और न सीमित होती है। अत सम्प्रभुता सम्पन्न राज्य आन्तरिक एव बाह्य दोनो क्षेत्रो मे सर्वोच्च सत्ताधारी होता है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन मे यह स्पष्ट हो जाता है कि जनसख्या, निश्चित भू भाग, सरकार तथा सम्प्रभुता राज्य के अनिवार्य तत्व हैं। इनमे मे किसी भी एक तत्व के अभाव मे राज्य की स्थापना सम्भव नही है। इन प्रमुख तत्वो के अतिरिक्त विद्वान लेखको ने समय समय पर कुछ अन्य तत्वो का भी उल्लेख किया है, जैसे आज्ञा-पालन, अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता तथा राज्यो मे सह-जीवन इत्यादि। परन्तु यह तत्व ऐसे नही हैं जो राज्य के अस्तित्व अथवा उसके बने रहने के लिए अत्यन्त आवश्यक हो।

क्या सयुक्त राष्ट्र एक राज्य है ?

कभी-कभी यह प्रश्न लोगो को भ्रम मे डाल देता है कि क्या सयुक्त राष्ट्र एक राज्य है ? यह सत्य है कि सयुक्त राष्ट्र का अपना एक विधान है, उसके 6 प्रमुख अग हैं, उसके अन्तर्गत अनेक सस्थाएँ कार्य कर रही हैं, उसका अपना एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय है, उसकी राजधानी है उसके अपने कर्मचारी हैं, उसका अपना एक कोष है, वह अपने आय व्यय का बजट तैयार करता है, उसके अपने भवन तथा सम्पत्ति है परन्तु फिर भी उसे एक राज्य नही कहा जा सकता है। इसका कारण यह है कि सयुक्त राष्ट्र के पास अपनी कोई जनता अथवा प्रजा नही है, उसका अपना कोई प्रदेश नही है जो उसके अधिकार मे हो तथा सबसे मुख्य बात यह है कि उसके पास सम्प्रभुता नही है। वस्तुत सयुक्त राष्ट्र एक सम्प्रभु अन्तर्राष्ट्रीय राज्य नहीं है बल्कि यह ससार के स्वतन्त्र एव सम्प्रभुता-सम्पन्न राज्यो का ऐच्छिक सघ है। इसमे सम्प्रभुता सयुक्त राष्ट्र के पास नही है बल्कि सदस्य राज्यो के पास है। सयुक्त राष्ट्र के आदेशो का पालन करना सदस्य राज्यों की इच्छा पर निर्भर करता है। अत यह स्पष्ट है कि सयुक्त राष्ट्र एक राज्य नही है।

क्या सघ की इकाइयाँ राज्य हैं ?

भारत तथा अमेरिका के सविधानो मे सघ की इकाइयो को राज्य कहा जाता है, जैसे भारत मे बिहार राज्य, राजस्थान राज्य, हरियाणा राज्य तथा अमेरिका मे न्यूयार्क राज्य, ओहियो राज्य, इत्यादि। परन्तु वास्तव मे इनको राज्य कहना सही नही है। ये स्वतन्त्र राज्य न होकर एक राज्य के उप-खण्ड अथवा इकाइयाँ मात्र हैं। इनमे राज्य के तीन तत्व तो पूर्ण रूप से पाये जाते हैं परन्तु इनमे राज्य के चौथे तत्व अर्थात् सम्प्रभुता का अभाव है। इन्हे आन्तरिक क्षेत्र मे तो सीमित सम्प्रभुता प्राप्त है तथा बाहरी क्षेत्र मे इन्हें सम्प्रभुता बिलकुल ही प्राप्त नही है। अत सम्प्रभुता के अभाव के कारण हम सही रूप मे इन्हे राज्य नही कह सकते।

इसके विपरीत हम नेपाल, बगलादेश, बर्मा, श्रीलका पाकिस्तान आदि को

राज्य कहेंगे क्योंकि इनमें राज्य का निर्माण करने वाले चारों प्रमुख तत्त्व विद्यमान हैं। ये राज्य अपने आन्तरिक क्षेत्र में भी सर्वोच्च हैं तथा ये सभी प्रकार के बाहरी नियन्त्रण से भी मुक्त हैं। अतः इन्हें आन्तरिक तथा बाहरी दोनों क्षेत्रों में सम्प्रभुता प्राप्त है।

क्या वेटिकन शहर एक राज्य है ?

वेटिकन शहर रोम (इटली) का एक भाग है जिसका क्षेत्रफल लगभग 160 एकड़ है। रोमन कैथोलिक चर्च का धर्म-गुरु पोप इसी नगर में रहता है। इस नगर का प्रबन्ध आदि सब पोप के हाथों में है। पोप की अपनी ही सरकार तथा अपना न्यायालय है। उसने दूसरे देशों में अपने प्रतिनिधि नियुक्त किए हैं तथा दूसरे देशों के राजदूत अपने यहाँ स्वीकार किए हैं। परन्तु फिर भी हम राजनीतिक अर्थ में पोपशाही (Papacy) को एक राज्य नहीं कह सकते। उसने दूसरे देशों में अपने जो राजदूत भेजे हैं अथवा दूसरे देशों ने वेटिकन में अपने जो राजदूत भेजे हैं, वे केवल धार्मिक मामलों तथा हितों के सम्बन्ध में काम करने के लिए भेजे गये हैं। पोप के द्वारा किये जाने वाले समस्त कार्य धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित हैं। अतः पोपशाही अथवा वेटिकन शहर सही अर्थों में एक राज्य नहीं है।

क्या राष्ट्रमण्डल एक राज्य है ?

द्वितीय महायुद्ध तक संसार के अनेक प्रदेशों पर ब्रिटिश सरकार का नियन्त्रण था तथा ये प्रदेश ब्रिटिश साम्राज्य के अंग थे। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् एशिया तथा अफ्रीका के अनेक प्रदेश धीरे-धीरे स्वतन्त्र होते गए। ऐसे स्वतन्त्र देशों ने इंग्लैण्ड के साथ मिलकर राष्ट्रमण्डल (Commonwealth of Nations) नाम का एक संगठन बनाया है। यह राष्ट्रमण्डल एक स्वतन्त्र एवं सम्प्रभु राज्य नहीं है बल्कि स्वतन्त्र एवं सम्प्रभुतासम्पन्न राज्यों का एक ऐच्छिक संगठन है। राष्ट्रमण्डल में लिये गये निर्णयों का पालन करना सदस्य राज्यों की इच्छा पर निर्भर करता है। अतः राष्ट्रमण्डल को हम एक राज्य नहीं कह सकते।

राज्य तथा समाज में अन्तर

विभिन्न विचारकों ने समाज और राज्य के बीच सम्बन्ध स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। प्राचीन यूनानी विचारक प्लेटो तथा अरस्तू राज्य और समाज में अन्तर नहीं मानते थे। उनके लिए समाज ही राज्य था तथा राज्य ही समाज था। उनके अनुसार मनुष्य एक सामाजिक प्राणी के साथ साथ एक राजनीतिक प्राणी भी है। उनकी इस मान्यता का कारण यह था कि प्राचीन यूनान में नगर-राज्य थे। हर नगर-राज्य आकार में छोटा तथा आबादी में सघन था। नागरिकों के हितों में समानता थी। उस समय नगर राज्य मानव के सम्पूर्ण जीवन के केन्द्र बने हुए थे। अतः नगर-राज्य केवल एक राजनीतिक संगठन ही नहीं था अपितु वह एक धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक तथा आर्थिक संगठन भी था। ऐसी स्थिति में उस समय राज्य और समाज में कोई अन्तर न मानना स्वाभाविक ही था। प्लेटो तथा अरस्तू के समान हीगल,

काण्ट तथा मुसोलिनी जैसे आदर्शवादी विचारकों ने भी राज्य और समाज में कोई अन्तर नहीं माना है। हीगल ने राज्य को सर्वव्यापी तथा सर्वोपरि बताया। मुसोलिनी का कहना था कि "सभी कुछ राज्य के अन्तर्गत है, राज्य के बाहर तथा राज्य के विरुद्ध कुछ भी नहीं है।"[1] निरंकुश शासकों ने भी राज्य तथा समाज के अन्तर को कभी स्वीकार नहीं किया। वे मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हस्तक्षेप करना अपना अधिकार समझते थे। परन्तु राज्य और समाज को एक मानना सही नहीं है। मैकाइवर के अनुसार, "सर्वप्रथम, हमें राज्य और समाज के बीच भेद स्पष्ट कर लेना चाहिए। सामाजिकता को राजनीति के साथ मिलाना एक बहुत बड़ी भूल करने का दोषी बनना है, जिसके कारण समाज अथवा राज्य दोनों में से किसी को भी समझने में बहुत बड़ी बाधा उपस्थित हो जायेगी।"[2] इस सम्बन्ध में विल्सन ने ठीक ही लिखा है कि 'जो लेखक राज्य के कार्यों को महत्ता प्रदान करना चाहते हैं, वे राज्य तथा समाज को पर्यायवाची मानते हैं, जबकि वे लेखक जो राज्य के कार्यों को कम करना चाहते थे, उसे सामाजिक संगठन का एक ऐसा रूप समझते हैं, जिसके अन्तर्गत भौतिक नियन्त्रण की व्यवस्था सर्वोच्च बन जाती है। सामाजिक को राजनीतिक के साथ एक रूप करने से न तो राज्य को ही स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है और न समाज को ही।"[3]

इससे पहले कि हम समाज और राज्य के अन्तर को समझें, हमारे लिए यह जान लेना आवश्यक है कि **समाज क्या है**? मोटे रूप में किसी सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए संगठित मनुष्यों के समुदाय को समाज कहते हैं। दूसरे रूप में हम यह कह सकते हैं कि जब सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मनुष्य संगठित होकर साथ-साथ रहते हैं, तब समाज का निर्माण होता है। इस तरह मानव-समूह, सामान्य उद्देश्य तथा सामान्य इच्छा समाज के अनिवार्य तत्त्व हैं। समाज का आकार छोटा भी हो सकता है तथा बहुत बड़ा भी अर्थात् यह एक गाँव से लेकर पूरे विश्व तक का

1 "All within the state, nothing outside the state and nothing against the state" —Mussolini

2 "In the first place, we must distinguish the state from society To identify the social with the political is to be guilty of the grossest of all confusions, which completely bars any understanding of either society or the state"—**MacIver** · *The New State*, p. 5

3 "Those writers who tend to exalt the function of the State, think of the State and society as synonymous, while students who minimize the function of the State view it merely as one form of social organization, the form in which the machinery of physical control is developed to its highest point To identify the social with the political would bar any clear understanding of the state or society"—**Wilson** *Elementary of Modern Politics*, p 53.

हो सकता है। मैकाइवर के शब्दों मे, "समाज मनुष्यों के समस्त ऐच्छिक सम्बन्धो का योग है।" सोरोकिन के अनुसार, "समाज शब्द से हमारा तात्पर्य केवल राजनीतिक सम्बन्धो से नहीं है किन्तु उन समस्त मानवीय सम्बन्धो और सामूहिक कार्यों से है जो अपने ताने-बाने से मनुष्यो को एक-दूसरे से बाँधे रहते हैं।" कोल ने "समाज को जन समुदाय के अन्तर्गत सगठित समुदायो तथा संस्थाओ की ग्रन्थि" बताया है। राइट के शब्दो मे, "समाज मनुष्यों का एक समूह नही है अपितु विभिन्न समूहों के बीच सम्बन्धो की व्यवस्था है।"[1] समाज की परिभाषा करते हुए बार्कर ने लिखा है कि "समाज से हमारा तात्पर्य अनेक उद्देश्यो तथा अनेक संस्थाओ वाले उन सब ऐच्छिक समूहो तथा समुदायो से होता है जो किसी राष्ट्र के अन्तर्गत होते हैं अथवा उसके बाहर तक फैल जाते हैं। सामूहिक रूप से ये ही समुदाय उस सामाजिक ढाँचे का निर्माण करते हैं जिसे हम समाज के नाम से पुकारते हैं।"

समाज और राज्य के अन्तर की व्याख्या निम्नलिखित बिन्दुओ के अन्तर्गत की जा सकती है

(1) उत्पत्ति का अन्तर—उत्पत्ति की दृष्टि से समाज का जन्म राज्य से पहले हुआ है। मनुष्य प्रारम्भ से ही समाज मे रहता आया है। यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि परिवार, धार्मिक सगठन, सामाजिक परम्पराओ आदि का जन्म राज्य से पूर्व हुआ है। समाज इन सबको उसी प्रकार आबद्ध करता है जैसे कि एक वृक्ष अपनी शाखाओ को करता है। अतः यह कहा जा सकता है कि समाज राज्य से प्राचीन है।

(2) प्रदेश का अन्तर—राज्य के लिए निश्चित भू-भाग अथवा प्रदेश आवश्यक है परन्तु समाज के लिए निश्चित भू-भाग की कोई आवश्यकता नहीं है। राज्य की एक निश्चित सीमा होती है परन्तु समाज की कोई निश्चित सीमा नहीं होती। समाज का क्षेत्र एक परिवार से लेकर सम्पूर्ण ससार तक विस्तृत हो सकता है।

(3) रचना अथवा संगठन का अन्तर—सगठन की दृष्टि से भी समाज और राज्यो मे अन्तर है। राज्य एक सुसगठित संस्था है परन्तु समाज सगठित तथा असगठित दोनो प्रकार का हो सकता है। समाज का सगठन बहुमुखी होता है। वह ऐसे समुदायो का समूह होता है जिनके लक्ष्य भिन्न होते हैं तथा जो समाज के विभिन्न लक्ष्यो को प्राप्त करने का कार्य करते हैं। इसके विपरीत, राज्य के सगठन में एकता पाई जाती है। यद्यपि राज्य के विविध अग होते हैं परन्तु उन सबमे एकरूपता पाई जाती है। मैकाइवर के अनुसार, 'राज्य का अस्तित्व समाज के अन्तर्गत है

1 "It is not a group of people, it is the system of relationship that exists between the individuals of the group." —Wright

किन्तु वह समाज का प्रतिरूप तक नहीं है।"[1] राज्य वस्तुतः समाज का उपकरण मात्र है उसका जीवन नहीं।

(4) उद्देश्य का अन्तर—उद्देश्य की दृष्टि से समाज व्यापक तथा राज्य संकुचित होता है। समाज अनेक संस्थाओं से बनने के कारण मानव-जीवन के विविध उद्देश्यों को पूरा करने की कोशिश करता है। उसका उद्देश्य मानव व्यक्तित्व के सभी पक्षों, जैसे नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक, इत्यादि को समुन्नत करना है। इसके विपरीत राज्य का केवल एक ही परम उद्देश्य होता है और वह है—समाज में शान्ति और व्यवस्था को बनाये रखना तथा उन्हें लागू करना। अतः राज्य का उद्देश्य समाज की तुलना में सीमित होता है। बार्कर ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "उद्देश्य की दृष्टि से वे भिन्न हैं। राज्य का अस्तित्व केवल एक ही महान उद्देश्य के लिए होता है जबकि समाज का अस्तित्व अनेक उद्देश्यों के लिए होता है जिनमें कुछ महान तथा कुछ साधारण होते हैं परन्तु वे सब मिलकर व्यापक तथा गहरे हो जाते हैं।"[2]

(5) कार्यक्षेत्र का अन्तर—राज्य का कार्यक्षेत्र भी समाज के कार्यक्षेत्र से सीमित है। समाज में मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन और वे सब सामाजिक बन्धन समाविष्ट होते हैं, जो मनुष्यों को आपस में बाँधे रहते हैं—जैसे परिवार, जाति, धर्म इत्यादि। राज्य का सम्बन्ध केवल उन सामाजिक सम्बन्धों से है जो सरकार के माध्यम द्वारा अपने आपको व्यक्त करते हैं। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि सामाजिक जीवन के अनेक ऐसे पक्ष हैं जिनका राज्य से कोई सम्बन्ध नहीं होता। राज्य का कार्यक्षेत्र तो मनुष्य के केवल बाहरी कार्यों तथा सम्बन्धों तक ही सीमित है। प्रेम, सहानुभूति, सहयोग तथा सहायता जैसे सामाजिक बन्धनों से राज्य का कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसके विपरीत समाज का सम्बन्ध मानव-जीवन के आन्तरिक एवं बाहरी कार्यों तथा सभी प्रकार के सम्बन्धों से होता है।

(6) सम्प्रभुता का अन्तर—राज्य और समाज के बीच में एक प्रमुख अन्तर यह है कि राज्य के पास सम्प्रभुता शक्ति होती है। राज्य एक सम्प्रभुता-सम्पन्न संस्था है। वह बलपूर्वक लोगों से अपने आदेशों तथा कानूनों का पालन करा सकता है, वह शक्ति का प्रयोग कर सकता है तथा आज्ञापालन के लिए लोगों को बाध्य कर सकता है परन्तु समाज को यह शक्ति प्राप्त नहीं होती। उसके पास केवल नैतिक

---

1 "The State exists within society but it is not even the form of *society* —*MacIver*

2 "In purpose they are different, the state exists for one great, but single purpose, society exists for a number of purposes, *some great and some small but all in their aggregate deep as well as broad.*" —Barker, *Principles of Social and Political Theory*, p. 42.

बल होता है। वह लोगो को किसी कार्य के लिए बाध्य नही कर सकता। वह केवल उनकी भावना से अपील कर सकता है और इस तरह समाज लोगो को केवल सद्भावना के आधार पर अपना काम निकालता है।

(7) निर्माणकारी तत्वों का अन्तर—निर्माणकारी तत्वो की दृष्टि से भी राज्य तथा समाज में महत्त्वपूर्ण अन्तर है। राज्य का निर्माण चार आवश्यक तत्वो से होता है—जनसख्या, निश्चित भू भाग, सरकार तथा सम्प्रभुता। परन्तु समाज के सृजन के लिए केवल जनसख्या तथा भू-भाग दो ही तत्व आवश्यक होते हैं। इस प्रकार सरकार और सम्प्रभुता राज्य के दो ऐसे तत्त्व हैं जिनका समाज से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

सक्षेप मे, हम यह कह सकते हैं कि राज्य समाज के अन्तर्गत सगठित समुदायो मे से एक समुदाय है जिसका क्षेत्र समाज के क्षेत्र से सीमित है। मेकाइवर ने लिखा है कि "राज्य एक ऐसा सगठन है जो न तो समाज का समवयस्क है और न समाज के समान व्यापक है अपितु उसका निर्माण समाज के अन्तर्गत एक निश्चित व्यवस्था के रूप मे कुछ विशेष उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए किया गया है।'[1] राज्य और समाज के अन्तर को स्पष्ट करते हुए प्रो॰ बार्कर ने लिखा है कि "समाज का क्षेत्र सहयोग है उसकी शक्ति सदभावना की शक्ति है तथा लचीलापन उसकी कार्य पद्धति है जबकि राज्य का क्षेत्र यान्त्रिक कार्यवाही है, उसका बल सैन्य शक्ति है तथा कठोरता उसकी कार्य पद्धति है।"[2]

यद्यपि राज्य तथा समाज मे कई बातो मे महत्त्वपूर्ण अन्तर है परन्तु फिर भी दोनो मे बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। वस्तुत राज्य तथा समाज दोनो एक-दूसरे पर आश्रित हैं तथा एक के बिना दूसरे के सफल अस्तित्व की कल्पना नही की जा सकती। एक ओर राज्य शान्ति तथा सुव्यवस्था कायम करके उन परिस्थितियो को बनाये रखता है जिनके बिना समाज का अस्तित्व खतरे मे पड सकता है तो दूसरी ओर समाज राज्य की आधारशिला के रूप मे काम करता है। समाज के लिए राज्य के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए बार्कर ने लिखा है कि "समाज राज्य द्वारा सम्बद्ध है,

1 "The state is a structure not coeval and co extensive with society, but built within it as a determinate order for the attainment of specific ends"—**MacIver** . *The Modern State*, p 40.

2 "The area of society is voluntary co-operation, its energy is that of good will and its method is elasticity, while the area of the state is rather that of mechanical action, its energy is force and its method is rigidity"—**Barker** . *Political Thought in England*, p 67.

यदि राज्य आधुनिक समाज को सम्बद्ध करके न रखे तो इससे उसका अस्तित्व ही खतरे मे पड जायगा।"[1]

राज्य और सरकार मे अन्तर

साधारणतया राज्य और सरकार इन दोनो शब्दो का प्रयोग एक-दूसरे के लिए किया जाता है। सामान्य बोलचाल की भाषा मे भी राज्य और सरकार के बीच के भेद को प्राय भुला दिया जाता है। कुछ ऐसे राजनीतिक विचारक भी हुए हैं जिन्होंने राज्य और सरकार दोनो को एक ही माना है। फास का सम्राट लुई चौदहवाँ कहा करता था कि मैं ही राज्य हूँ (I am the state)। हॉब्स जैसे राजनीतिक विचारकों ने भी राज्य और सरकार का समान अर्थ मे ही प्रयोग किया है। इसी तरह कोल (G D H Cole) ड्यिवी (Duguit) सुमनर (W G Sumner) तथा केलर (A G Keller) आदि विचारको ने भी राज्य और सरकार मे कोई भेद नही माना है। कोल के अनुसार, "राज्य एक समुदाय की शासन व्यवस्था (सरकार) के अतिरिक्त कुछ नही है।" परन्तु राज्य और सरकार को एक मान लेना भारी भूल होगा। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं कि सरकार राज्य का एक अनिवार्य तत्व है। वह एक ऐसी एजेन्सी है जिसके द्वारा राज्य अपने उद्देश्यो की पूर्ति का प्रयत्न करता है। सरकार के माध्यम से राज्य की इच्छा निर्मित होती है, अभिव्यक्त होती है तथा पूर्ण होती है परन्तु फिर भी उसे राज्य का पर्यायवाची नहीं कहा जा सकता। जैसा कि प्रो० लास्की ने लिखा है कि 'सरकार राज्य का प्रतिनिधि, अथवा एजेण्ट मात्र है। उसका अस्तित्व राज्य के उद्देश्यो की पूर्ति के लिए होता है। वह स्वय दबाव डालने वाली सर्वोच्च सत्ता नही है, वह तो केवल शासन का एक यन्त्र है जो सर्वोच्च सत्ता के उद्देश्यो को कार्यरूप प्रदान करता है।"[2]

राज्य और सरकार मे मुख्य रूप से निम्नलिखित अन्तर हैं

(1) **राज्य प्रधान सरकार प्रतिनिधि**—राज्य प्रधान है और सरकार उसकी प्रतिनिधि मात्र है। राज्य मनुष्यो का एक ऐसा समुदाय है जो सम्प्रभुता-सम्पन्न है तथा सरकार राज्य का वह यन्त्र है जो राज्य की ओर से उसके उद्देश्यों को कार्यरूप मे परिणत करता है। सम्प्रभुता शक्ति राज्य मे निहित है, सरकार मे नहीं। सरकार तो सम्प्रभुता-सम्पन्न राज्य की प्रतिनिधि अथवा एजेण्ट मात्र है जो राज्य की

---

1 "Society is held together by the state, and if it were not thus held together, it could not exist."—**Barker** *Political Thought in England*, pp 118-19

2 "The Government is an agent of the state It exists to carry out the purposes of the state It is not itself supreme coercive power, it is simply the mechanism of administration which gives effect to the purposes of that power"—**Laski**: *The State in Theory and Practice*, p. 23

ओर से उसकी सम्प्रभुता-शक्ति का प्रयोग करती है। राज्य की शक्तियाँ मौलिक होती हैं जबकि सरकार को शक्ति राज्य द्वारा प्राप्त होती है। इस तरह हम कह सकते हैं कि राज्य स्वामी है तथा सरकार उसकी सेवक है। गिलक्राइस्ट ने लिखा है, "सरकार की शक्ति इस कारण है कि वह राज्य से सम्बन्धित है। सरकार सम्प्रभुता-सम्पन्न नहीं है। उसके पास जो भी शक्ति है वह उसे राज्य ने प्रदान की है।"

(2) राज्य स्थाई सरकार अस्थाई—राज्य और सरकार के बीच में एक महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि राज्य स्थाई है जबकि सरकार अस्थाई होती है। राज्य एक स्थायी व शाश्वत संगठन है जबकि सरकारें परिवर्तनशील होती हैं। उदाहरणार्थ, इंगलैण्ड में कभी मजदूर दल की सरकार बनती है तो कभी अनुदार दल की। इसी प्रकार अमेरिका में राष्ट्रपति कभी डेमोक्रेटिक पार्टी का चुना जाता है तो कभी रिपब्लिकन पार्टी का। भारत में यदि स्वतन्त्रता प्राप्ति से सन् 1977 के चुनाव से पूर्व तक कांग्रेस दल की सरकार थी तो अब जनता (एस) पार्टी की सरकार है। लोकतान्त्रिक देशों में प्राय सरकारें समय-समय पर बदलती रहती हैं परन्तु राज्य के स्थायित्व पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस प्रकार संस्था के रूप में राज्य स्थायी तथा सरकार अस्थायी होती है। इंगलैण्ड में राज्य और सरकार के अन्तर को इन शब्दों में स्पष्ट किया गया है कि "राजा मर गया है, राजा चिरायु हो।"[1]

(3) राज्य पूर्ण सरकार अंग—राज्य एक पूर्ण कल्पना है तथा सरकार उसका केवल एक अंग है। राज्य का निर्माण चार तत्त्वों—जनसंख्या, निश्चित भू-भाग, सरकार तथा सम्प्रभुता—से मिलकर होता है। सरकार राज्य के चारों तत्त्वों में से केवल एक तत्त्व है। राज्य एक पूर्ण मानव-शरीर के समान है तथा सरकार उस शरीर के केवल एक अंग के समान है। सरकार का अस्तित्व राज्य के अस्तित्व पर ही निर्भर करता है। राज्य तथा सरकार के इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए मैकाइवर ने लिखा है कि "जब हम राज्य के विषय में बात करते हैं तब हमारा अर्थ उस संगठन से होता है जिसका प्रशासकीय अंग सरकार होता है। राज्य का एक संविधान होता है, नियमों का संग्रह होता है, सरकार के निर्माण की विधि होती है तथा नागरिकों का एक समूह होता है। जब हम इस सम्पूर्ण ढाँचे के विषय में विचार करते हैं तब हम राज्य पर विचार करते हैं।"[2]

(4) राज्य व्यापक सरकार संकुचित—राज्य सरकार की अपेक्षा व्यापक है। इसकी सदस्यता अनिवार्य होती है। राज्य में निवास करने वाले सभी नागरिक इसके

---

1 "The King is dead, long live the King"

2 "When we speak of the State, we mean the organization of which the Government is the administrative organ A State has a constitution, a code of laws, a way of setting up its government, a body of citizens When we think of whole structure, we think of the State" —MacIver

सदस्य होते हैं। इसके विपरीत सरकार के अन्तर्गत केवल वे ही थोड़े से व्यक्ति आते हैं जिनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से शासन सचालन से होता है। इस तरह राज्य की तुलना मे सरकार की सदस्यता सकुचित है।

(5) राज्य निराकार सरकार साकार—राज्य और सरकार के स्वरूप मे भी भेद होता है। राज्य एक निराकार अथवा अमूर्त सस्था है। यह केवल एक विचार है जिसका कोई भौतिक अथवा स्थूल रूप नहीं है जिसे हम देख सकें। इसके विपरीत सरकार एक स्पष्ट तथा साकार सगठन है। यह एक मूर्त यन्त्र है जिसे हम देख सकते हैं। राज्य और सरकार मे वही भेद है जो आत्मा तथा शरीर मे होता है। आत्मा के समान राज्य अदृश्य है तथा शरीर के समान सरकार दृश्य है।

(6) राज्य स्वाभाविक सरकार कृत्रिम—राज्य एक प्राकृतिक समुदाय है जिसका धीरे-धीरे विकास हुआ है। दूसरे शब्दो मे, हम कह सकते हैं कि राज्य का कभी निर्माण नहीं किया गया बल्कि यह तो निरन्तर विकास का परिणाम है। गार्नर ने ठीक ही कहा है कि "राज्य एक कृत्रिम यान्त्रिक रचना नहीं है बल्कि एक ऐसी सस्था है जिसका स्वाभाविक रूप से विकास हुआ है।"[1] इसके विपरीत सरकार एक कृत्रिम सगठन है, जिसका निर्माण मनुष्यो के द्वारा अपनी इच्छा से किया जाता है। इस तरह हम कह सकते है कि प्रकृति की दृष्टि से राज्य स्वाभाविक है तथा सरकार कृत्रिम।

(7) राज्य के रूप मे एकता सरकारो के रूप मे भिन्नता—राज्य एक ऐसा सगठन है जिसका रूप सामान्यतया एकसा ही रहता है। सभी राज्यो के आवश्यक तत्त्व एक समान होते हैं—जनसख्या, भू-भाग, सरकार तथा सम्प्रभुता। लेकिन सरकारों के रूप विभिन्न प्रकार के होते हैं, जैसे अधिनायकवाद अथवा लोकतन्त्रात्मक, ससदीय अथवा अध्यक्षात्मक, एकात्मक अथवा सघात्मक, इत्यादि। हर राज्य अपनी सुविधानुसार सरकार के इन रूपो मे से अपने लिए कोई रूप चुन लेता है।

(8) राज्य की सत्ता असीमित सरकार की सीमित—राज्य की सत्ता असीमित तथा अनियन्त्रित होती है जबकि सरकार की सत्ता सीमित तथा नियन्त्रित होती है। राज्य एक सम्प्रभुतासम्पन्न सस्था है। सम्प्रभुता राज्य का एक अनिवार्य तत्त्व है परन्तु सरकार के लिए यह तत्त्व आवश्यक नही है। इसके अतिरिक्त यदि सरकार के द्वारा कोई अनुचित कार्य किया जाता है तो नागरिको द्वारा उसकी आलोचना की जा सकती है तथा उसका विरोध किया जा सकता है परन्तु नागरिक न तो राज्य का विरोध कर सकते हैं और न राज्य के विरुद्ध उनके कोई अधिकार ही हो सकते हैं। राज्य का विरोध राज द्रोह अथवा देश द्रोह माना जाता है परन्तु सरकार का विरोध ऐसा नही माना जाता।

---

1 'The State is not an artificial mechanical creation but an institution of natural growth or historical evolution."—Garner : *Political Science and Government*

(9) अन्य अन्तर—बिना 'सरकार' के राज्य नहीं हो सकता। सरकार का चाहे कोई रूप हो उसकी उपस्थिति राज्य के अस्तित्व के लिए अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु, इसके विपरीत 'सरकार' बिना राज्य के भी हो सकती है जैसे कि स्थानीय सरकार अथवा कोई अन्तर्राष्ट्रीय सगठन, इत्यादि। इसके अतिरिक्त निश्चित भू-भाग राज्य का एक आवश्यक तत्त्व है परन्तु सरकार के लिए इस तत्त्व की आवश्यकता नहीं है। वह तो स्वय राज्य का एक तत्त्व है।

सयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय ने राज्य और सरकार के अन्तर को स्पष्ट करते हुए अपने एक निर्णय मे कहा था कि 'राज्य स्वय एक आदर्श व्यक्ति है जो अस्पृश्य, अदृश्य तथा स्थिर है। सरकार उसकी एजेण्ट अथवा अभिकर्ता है जो एक निश्चित सीमा के अन्दर राज्य की पूर्ण प्रतिनिधि है किन्तु उससे बाहर उसकी सत्ता एक गैर-कानूनी अधिकार के समान है।"[1]

यद्यपि राज्य तथा सरकार मे अन्तर माना जाता है परन्तु फिर भी इतना तो मानना ही होगा कि इन दोनो मे परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा दोनो एक-दूसरे पर आश्रित हैं। एक के बिना दूसरे के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि राज्य की सम्प्रभुता तथा वैधानिक सत्ता का प्रयोग सरकार के द्वारा ही किया जाता है। सोल्टाऊ (Soltau) ने ठीक ही कहा है कि "शासनतन्त्र का स्वरूप ही राज्य के राजनीतिक स्वरूप मे अन्तर को स्थिर करता है। जब हम यह कहते है कि ब्रिटेन एक सवैधानिक राज्य है तब हमारा तात्पर्य राज्य और शासनतन्त्र दोनो से होता है।"

राज्य तथा अन्य समुदायों मे अन्तर

समाज मे मनुष्यो के विभिन्न हित तथा उद्देश्य होते हैं। इन विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मनुष्य विभिन्न प्रकार के सगठनो का निर्माण करते हैं। ऐसे ही सगठनो को समुदाय कहा जाता है। अत समुदाय मानव का वह सगठन होता है जिसका निर्माण मनुष्यो के द्वारा किसी विशेष उद्देश्य की प्राप्ति के लिए स्वेच्छापूर्वक किया जाता है। सामान्यतया, समुदाय के दो प्रमुख लक्षण माने जाते हैं—प्रथमत, उसका सगठन किसी निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किया जाता है, द्वितीयतः, उसका निर्माण स्वेच्छा से किया जाता है, अत उसकी सदस्यता ऐच्छिक होती है। समुदाय की परिभाषा देते हुए मैकाइवर ने लिखा है कि "समुदाय एक ऐसा समूह होता है जो सामान्य रूप से किसी सामान्य हित या हितो के समूह की पूर्ति के लिए

---

1 "*The State itself is an ideal personal, intangible, invisible, immutable* The government is an agent and within the sphere of the agency a perfect representative but outside of that, it is a lawless usurpation "—*114 U S 270*, Poindexter *Vs.* Green Show.

सगठित होता है।"[1] कोल (Cole) ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है कि "समुदाय ऐसे व्यक्तियो का समूह है जिनके एक या अनेक उद्देश्य समान होते हैं। वे अपने सहयोगी कार्यों द्वारा इन उद्देश्यो को पूरा करना चाहते हैं। इस हेतु वे सामूहिक कार्यवाही के लिए कुछ नियम निर्धारण कर लेते है।" बहुलवादी विचारक तो राज्य को भी इन समुदायो के समान एक समुदाय मानते हैं किन्तु बहुलवादी विचारकों की इस मान्यता को स्वीकार नही किया जा सकता क्योंकि राज्य समुदाय होते हुए भी एक विशिष्ट समुदाय है जो अपनी प्रकृति मे अन्य समुदायो से सर्वथा भिन्न तथा उच्च है।

राज्य तथा अन्य समुदायो मे मुख्य अन्तर निम्नलिखित हैं

(1) सदस्यता सम्बन्धी अन्तर—(i) समुदायों की सदस्यता विशुद्ध रूप से ऐच्छिक होती है। यह मनुष्य की इच्छा पर निर्भर करता है कि वह किसी समुदाय का सदस्य बने या न बने और कोई भी व्यक्ति जब चाहे तब समुदाय की सदस्यता को त्याग सकता है परन्तु राज्य की सदस्यता व्यक्ति के लिए अनिवार्य होती है। उसे जीवनपर्यन्त किसी न किसी राज्य का नागरिक रहना ही पड़ता है। नागरिक राज्य की सदस्यता का परित्याग उसी समय कर सकता है जब वह देश से निर्वासित हो। (ii) कोई व्यक्ति एक समय में एक से अधिक समुदायो का सदस्य बन सकता है, यदि वे परस्पर विरोधी न हों परन्तु व्यक्ति एक समय मे एक से अधिक राज्यो का सदस्य नही बन सकता। वह एक राज्य की सदस्यता का परित्याग करने पर ही दूसरे राज्य की सदस्यता को ग्रहण कर सकता है।

(2) सीमा सम्बन्धी अन्तर—राज्य की अपनी एक निश्चित सीमा होती है। उसका अधिकार उस सीमा के अन्तर्गत ही होता है, उसके बाहर नही परन्तु अन्य समुदायो की कोई निश्चित प्रादेशिक सीमा नही होती। अनेक संस्थाएँ तो ऐसी भी हैं जिनका कार्यक्षेत्र सारा ससार है, जैसे रेडक्रास सोसायटी। अत समुदायो के कार्य-क्षेत्र स्थानीय से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय तक हो सकते हैं।

(3) उद्देश्य सम्बन्धी अन्तर—राज्य का उद्देश्य बहुमुखी तथा व्यापक होता है जबकि समुदाय का उद्देश्य विशिष्ट तथा सीमित होता है। वर्तमान समय मे राज्य का स्वरूप लोककल्याणकारी हो गया है। राज्य का सम्बन्ध समस्त जनता के सामान्य हितो तथा लोक कल्याण से होता है। वह अपनी जनता की भलाई के लिए सभी प्रकार के कार्य करता है जबकि एक समुदाय अपने सदस्यो के कुछ विशिष्ट हितो की पूर्ति के लिए ही कार्य करता है। उदाहरण के लिए, आर्थिक समुदाय अपने सदस्यो के आर्थिक हितो तथा शैक्षणिक समुदाय केवल शैक्षणिक हितो की पूर्ति के लिए ही कार्य करते हैं। राज्य और समुदाय के अन्तर को स्पष्ट करते हुए विल्सन ने लिखा है कि

1 "We define an association, then as a group organised for the pursuit of an interest or a group of interests in common"

—MacIver

"अवश्य ही, राज्य के कार्य तथा हित किसी एक समुदाय से अधिक होते हैं। पिछले कुछ समय से राज्य के कार्यों में हुई वृद्धि से यह ज्ञात होता है कि राज्य के कार्यों तथा हितों का योग समस्त निजी समुदायों के कार्यों तथा हितों के योग से बढ़कर है।"[1]

(4) अवधि सम्बन्धी अन्तर—राज्य एक स्थायी संगठन है जबकि समुदाय अस्थायी होते हैं तथा बनते-बिगड़ते रहते हैं। जब एक समुदाय अपना उद्देश्य अथवा कार्य पूरा कर लेता है, तब वह समाप्त हो जाता है। बहुत से समुदायों का आपसी फूट या अन्य कारणों से अन्त हो जाता है परन्तु राज्य एक शाश्वत और स्थायी समुदाय है जिसका अन्त नहीं होता। सरकारें बदलती रहती हैं परन्तु राज्य बराबर कायम रहता है।

(5) सम्प्रभुता सम्बन्धी अन्तर—राज्य तथा अन्य समुदायों में एक मौलिक अन्तर यह है कि राज्य के पास सम्प्रभुता शक्ति होती है जबकि समुदायों के पास ऐसी शक्ति नहीं होती। राज्य कानूनी शक्ति द्वारा अपने आदेशों का पालन करवा सकता है और जो उसकी आज्ञाओं का पालन न करें, उन्हें वह दण्ड भी दे सकता है परन्तु समुदायों के पास अपने आदेशों का पालन कराने के लिए कोई कानूनी सत्ता नहीं होती। वे केवल समझा बुझाकर अपना काम चलाते हैं और उनका आदेश न मानने पर वे व्यक्ति पर या तो जुर्माना कर सकते हैं या अधिक से अधिक उसकी सदस्यता समाप्त कर सकते हैं परन्तु वे बलपूर्वक अपने नियमों का पालन उनसे नहीं करा सकते।

(6) नियन्त्रण सम्बन्धी अन्तर—राज्य के पास समुदायों के कार्य-कलापों को नियन्त्रित करने की शक्ति होती है। राज्य समुदायों पर नियन्त्रण रखने के उत्तरदायित्व को नहीं छोड़ सकता। कोई भी राज्य अपनी सीमा के अन्तर्गत समुदायों को मनमाने ढंग से व्यवहार करने की छूट नहीं दे सकता और न ही ऐसे समुदाय बनाने अथवा बने रहने देने की आज्ञा दे सकता है जिनका उद्देश्य अनैतिक हो अथवा जिनके उद्देश्य राज्य की सार्वजनिक नीति तथा सामान्य हित के विपरीत हों। अतः राज्य को इन समुदायों के ऊपर नियन्त्रण भी रखना पड़ता है तथा इनमें समन्वय स्थापित करने का कार्य भी करना होता है।

(7) उत्तरदायित्व सम्बन्धी अन्तर—राज्य के ऊपर कुछ ऐसे कार्यों का उत्तरदायित्व होता है जिन्हें किसी भी समुदाय को नहीं सौंपा जा सकता। ऐसे कार्यों में राज्य की बाहरी सुरक्षा तथा आन्तरिक शान्ति और व्यवस्था प्रमुख हैं। मैकाइवर

1 "Certainly, the State does have more function of the Government in single association The increases in the function of the Goverament in the last few decades might indicate that totality of State functions and interests is greater than the totality of all private associations"—Wilson *Elements of Modern Politics*, p 59

ने लिखा है कि "राज्य का वह विशिष्ट कार्य जो इसे अन्य समुदायों से पृथक करता है, सुरक्षा की स्थापना और उसको बनाये रखना है। अन्य समुदाय न तो इस कार्य को करने का दावा ही कर सकते हैं, और न वे कर ही सकते हैं।"

राज्य तथा अन्य समुदायों का अन्तर स्पष्ट करते हुए गार्नर ने लिखा है कि "राज्य एक आवश्यक समुदाय है, दूसरे समुदाय ऐसे नहीं हैं। मनुष्य किसी संस्था का सदस्य बने बिना रह सकता है और वास्तव में बहुत से मनुष्य ऐसे मिलेंगे भी परन्तु कोई भी मनुष्य राज्य से बाहर नहीं रह सकता।"

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि राज्य अन्य समुदायों के समान एक समुदाय है परन्तु वह अपनी प्रकृति तथा लक्ष्य के कारण एक विशेष तथा सर्वोच्च समुदाय होता है। उसका कार्य अन्य सभी समुदायों पर नियन्त्रण रखना, उनमें समन्वय करना तथा उनके बीच सन्तुलन रखना है। बार्कर ने लिखा है, "राज्य का साधारण रूप में यह कर्तव्य है कि वह समुदायों का स्वयं अपने साथ, अन्य समुदायों के साथ तथा अपने सदस्यों के साथ सम्बन्धों का आवश्यक रूप से संयोजन करे।"[1]

अभ्यास के प्रश्न

1. राज्य के अर्थ एवं तत्वों का परीक्षण कीजिए।
2. राज्य की परिभाषा बतलाइये तथा इसके प्रमुख तत्वों का परीक्षण कीजिए। क्या आप राजस्थान, संयुक्तराष्ट्र, बंगला देश, वेटिकन शहर को राज्य मानेंगे ? कारणों सहित स्पष्ट कीजिए। (राजस्थान विश्व०, 1974, 76)
3. परम्परावादी तथा आधुनिक राजनीतिक विचारकों ने 'राज्य' शब्द की जो व्याख्या की है, उसकी विवेचना कीजिए।
4. निम्नलिखित के अन्तर को स्पष्ट कीजिए
   (अ) राज्य एवं समाज, (ब) राज्य एवं राष्ट्र,
   (स) राज्य एवं सरकार, (द) राज्य एवं समुदाय।
5. राज्य अन्य ऐच्छिक समुदायों से किस प्रकार भिन्न है ? स्पष्ट कीजिए।
6. राज्य की परिभाषा कीजिए और यह समझाइए कि यह समाज से किस प्रकार भिन्न है ? (राजस्थान विश्व०, 1979)

---

1 "The State as a general and embracing scheme of life must necessarily adjust the relation of association to itself, to other associations and to their own members."—Barker · *Political Thought in England*, p 156.

5
राष्ट्र, राष्ट्रीयता तथा राज्य
[NATION, NATIONALITY AND STATE]

"एक राज्य में कई राष्ट्रों का सह-अस्तित्व उसकी स्वतन्त्रता की परीक्षा तथा उसकी सर्वोत्तम सुरक्षा है। यह सभ्यता का मुख्य यन्त्र भी है और इसलिए यह प्राकृतिक एवं ईश्वरीय है तथा उस राष्ट्रीय एकता से अधिक उन्नत अवस्था की ओर संकेत करता है, जो आधुनिक स्वतन्त्रता का आदर्श है।"[1]
—लॉर्ड एक्टन

प्रायः राज्य और राष्ट्र इन दोनों शब्दों का प्रयोग साधारण बातचीत में एक ही अर्थ में किया जाता है। इसी प्रकार राष्ट्र तथा राष्ट्रीयता के अर्थ के विषय में भी विचारकों के मत भिन्न भिन्न हैं तथा इन दोनों शब्दों में कोई स्पष्ट भेद नहीं किया गया है लेकिन वास्तव में, इन शब्दों में पर्याप्त अन्तर है। अतः यहाँ हम इस बात को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे कि राष्ट्र तथा राष्ट्रीयता क्या है और वे राज्य से किस प्रकार भिन्न हैं ?

राष्ट्र क्या है ?—'राष्ट्र' शब्द अंग्रेजी भाषा के शब्द 'नेशन' (Nation) का हिन्दी रूपान्तर है। 'नेशन' शब्द लैटिन भाषा के 'नेशियो' (Natio) से निकला है जिसका अर्थ जन्म या जाति होता है। अतः शब्द उत्पत्ति की दृष्टि से राष्ट्र से तात्पर्य उस जनसमूह से है जो जन्म, जाति या नस्ल के बन्धन से परस्पर बँधा हुआ हो। बर्गेस ने राष्ट्र की परिभाषा इसी आधार पर करते हुए लिखा है कि "राष्ट्र जातीय एकता के सूत्र में बँधी हुई वह जनता है जो भौगोलिक एकता से युक्त किसी

1 'The co-existence of several nations under the same State is a test as well as the best security of its freedom It is also one of the chief instruments of civilization, and as such it is the natural prudential order and indicates a greater advancement than the national unity which is the ideal of modern liberation."—Lord Acton : *History of Freedom & Other Essays*, pp 289-98.

भू-खण्ड पर निवास करती हो।"[1] उसने आगे लिखा है कि "जातीय एकता से तात्पर्य ऐसी जनता से है जिसकी भाषा, संस्कृति, साहित्य, इतिहास, परम्परा, रीति-रिवाज तथा उचित-अनुचित की सामान्य भावना अथवा चेतना हो।" लीकॉक ने भी राष्ट्र शब्द की व्याख्या मूल रूप से वंश के आधार पर ही की है। लेकिन राष्ट्र को सिर्फ जातीय संगठन के रूप में ही नहीं देखा जा सकता है। राष्ट्र का यह अर्थ बहुत ही संकीर्ण अर्थ है।

कुछ विचारकों ने राष्ट्र शब्द का प्रयोग एक राजनीतिक संगठन के अर्थ में किया है। उनके अनुसार राजनीतिक रूप से संगठित समुदाय ही राष्ट्र है। इस धारणा के अनुसार राष्ट्र की परिभाषा करते हुए लॉर्ड ब्राइस ने लिखा है कि 'राष्ट्र एक ऐसी राष्ट्रीयता है जिसने अपना संगठन एक राजनीतिक संस्था के रूप में कर लिया है और जो स्वतन्त्र है अथवा स्वतन्त्रता की इच्छुक है।"[2] गिलक्राइस्ट ने भी राष्ट्र की परिभाषा ऐसी ही धारणा के अनुसार की है। उसके अनुसार, "राष्ट्र अपने अर्थ में राज्य के बहुत निकट है तथा इसका व्यापक महत्त्व है। यह राज्य तथा कुछ अन्य दूसरी चीजों से मिलकर बनता है अर्थात् यह एक राज्य के रूप में संगठित लोगों की एकता से बनता है।'[3] प्रो० हॉलैण्ड रोज (Holland Rose) ने भी राजनीतिक दृष्टि से संगठित जनता को ही राष्ट्र कहा है। राष्ट्र की ये परिभाषाएँ भी एकपक्षीय हैं। राष्ट्र अनिवार्य रूप से राज्य से बँधा हुआ नहीं होता। एक राष्ट्र राज्य [redacted] बिना भी अपने व्यक्तित्व की रक्षा कर सकता है। उदाहरणार्थ, स्कॉटलैण्ड को राष्ट्र कहा जाता है परन्तु वह राज्य नहीं है। इसी प्रकार पोलैण्ड तथा फिनलैण्ड प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व राष्ट्र थे। परन्तु वे राज्य नहीं थे।

कुछ राजनीतिक विचारक इस बात पर जोर देते हैं कि राष्ट्र का निर्माण एक दिन में नहीं हुआ है बल्कि इसका धीरे धीरे विकास हुआ है। भाषा, निवास, धर्म, संस्कृति आदि की समानता तथा एकता की अनुभूति ऐसी विशेषताएँ हैं जो राष्ट्र के स्वरूप का निर्माण करती हैं। इस धारणा [redacted] अनुसार राष्ट्र से तात्पर्य उस मानव समूह से है जो भाषा, धर्म, निवास, परम्परा, संस्कृति आदि बन्धनों के फल-

---

1 "Nation is a population of an ethenic unity inhabiting a territory of geographic unity"—Burgess : *Political Science and Constitutional Law*, Vol I, p 1

2 "A nation is a nationality which has organised itself into a political body either independent or desiring to be independent"—Lord Bryce *Impressions of South America*, p. 424.

3 'Nation is very near in meaning to State, the former has a broader signification It is the State plus something else, viz, that of the unity of the people organised in one State." —Gilchrist . *Principles of Political Science*, p 25.

स्वरूप एकता के सूत्र मे बँध जाता है। विभिन्न विद्वानो ने विभिन्न तत्त्वो पर जोर देते हुए राष्ट्र की परिभाषा इस प्रकार की है .

जे० एस० मिल के शब्दो मे, "राष्ट्र मानव जाति का एक ऐसा भाग है जो दूसरे लोगो की तुलना मे आपस मे एक दूसरे से समान सहानुभूतियो के बन्धनो से बँधा हुआ हो तथा जिनमे एक ही समान सरकार के अधीन रहने की तीव्र इच्छा हो।"[1]

हॉउजर के अनुसार, "राष्ट्र का निर्माण जनता की साथ-साथ मिलकर रहने की इच्छा से होता है, भाषा तथा जाति की एकता से नहीं।"[2]

गार्नर के शब्दों मे, "राष्ट्र सास्कृतिक दृष्टि से सगठित एकरूपीय सामाजिक समुदाय है जो आध्यात्मिक जीवन और उसकी अभिव्यक्ति की एकता के प्रति सचेत एव दृढ निश्चयी होता है।"[3]

बार्कर के अनुसार, 'राष्ट्र ऐसे व्यक्तियो का समुदाय है जो एक निश्चित प्रदेश मे निवास करते हों और जिनमे एक ही भूमि पर निवास करने के कारण परस्पर प्रेम हो।"[4]

स्टालिन ने राष्ट्र की परिभाषा करते हुए कहा है कि 'राष्ट्र ऐतिहासिक रूप से निर्मित जनता की वह दृढ एकता है जिसका निर्माण एक सामान्य भाषा, भू-भाग, आर्थिक जीवन तथा सामान्य सस्कृति के रूप मे व्यक्त सामान्य मनोविचारो के आधार पर होता है।'[5]

सक्षेप मे, हम यह कह सकते है कि राष्ट्र का निर्माण उस आध्यात्मिक एकता की भावना से होता है जो जन-समुदाय को साथ-साथ रहने, बाहरी आक्रमणकारियो

---

1 "A nation is a portion of mankind united by common sympathies with each other, rather than other people with a desire *to be under the same government*"—**J S Mill** *On Liberty*, p 38.

2 "It is the will of the people to live together and not race or language, which makes a nation" —**M Hauser**

3 "A nation is a culturally homogeneous social group which is at once conscious and tenacious of its unity of psychic life and expression"—**Garner** *Political Science and Government*, p 112

4 "The nation is a body of persons inhabiting a definite territory and thus united together by the primary fact of living together on common land" —**Barker**

5 "A nation is historically constituted, stable community of people formed on the basis of a common language, territory, economic life and psychological make up manifested in a common culture"—**J. V. Stalin** : *Works*, Vol II, p. 30.

का मिलकर सामना करने तथा समाज की उन्नति के लिए मिलकर प्रयास करने के लिए प्रेरित करती है।

राष्ट्रीयता क्या है ?—राष्ट्रीयता शब्द के भी विभिन्न विचारकों ने भिन्न भिन्न अर्थ लगाये हैं। थोड़े समय पहले तक राष्ट्र तथा राष्ट्रीयता, इन दोनों शब्दों का प्रयोग प्राय एक ही अर्थ में किया जाता था परन्तु अब इनका भिन्न अर्थों में प्रयोग किया जाने लगा है। किन्तु जिन विद्वानों ने इन शब्दों में भेद माना है, वे भी उस भेद के सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं। इसका कारण यह है कि राष्ट्र (Nation) के समान राष्ट्रीयता (Nationality) शब्द की उत्पत्ति भी लेटिन भाषा के शब्द नेशियो *(Natio) से हुई है, जिसका अर्थ जन्म या वंश होता है। इस प्रकार उत्पत्ति की दृष्टि* से राष्ट्र और राष्ट्रीयता का एक ही अर्थ होता है परन्तु वास्तव में इन दोनों में अन्तर है।

वर्तमान समय में राष्ट्र का अर्थ निश्चित रूप से राजनीतिक हो गया है। राष्ट्र का तात्पर्य राजनीतिक रूप से संगठित मानव समुदाय से माना जाता है जो या तो स्वतन्त्र हो चुका हो या स्वतन्त्र होना चाहता हो। इसके विपरीत राष्ट्रीयता मुख्य रूप से एक अराजनीतिक धारणा है। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि राष्ट्रीयता एक सांस्कृतिक, आध्यात्मिक तथा एक आन्तरिक भावना है जो मनुष्यों को एकता के सूत्र में बाँधती है। इसी अर्थ में राष्ट्रीयता की परिभाषा विभिन्न विचारकों के द्वारा इस प्रकार की गयी है :

जिमर्न के अनुसार, "राष्ट्रीयता मेरे लिए एक राजनीतिक प्रश्न बिलकुल नहीं है। यह मुख्य रूप से तथा आवश्यक रूप से एक आध्यात्मिक प्रश्न है। राष्ट्रीयता धर्म के समान आत्म परक, मनोवैज्ञानिक, मन की एक अवस्था, एक आध्यात्मिक *धारणा तथा अनुभव करने, विचार करने एवं रहने का एक तरीका है।"*[1]

बार्न्स (Barnes) के शब्दों में, "राष्ट्रीयता एक सामूहिक नाम है, जो उन मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक तत्वों की ग्रन्थि को दिया जाता है जो राष्ट्र को एकता के सूत्र में बाँधने वाला सिद्धान्त प्रस्तुत करती है।"

ब्राइस के अनुसार, 'राष्ट्रीयता वह जनसंख्या है जो भाषा एवं साहित्य, विचारों, प्रथाओं तथा परम्पराओं जैसे बन्धनों से परस्पर बँधी हुई हो।"[2]

---

1 "Nationality to me is not a political question at all It is primarily and essentially a spiritual question, Nationality like *religion is subjective, psychological*, a condition of mind, a spiritual possession a way of feeling thinking and living" —Zimmern : *Nationality and Government*, p 59.

2 "Nationality is a population held together by certain ties, *e g*, language and literature, ideas, customs and traditions"

—*Bryce*

ब्लुंशली के शब्दों में, "राष्ट्रीयता वह मानव समाज है जिसमें विभिन्न व्यवसायों के लोग सम्मिलित हो, जिसके समान विचार तथा समान भावनाएँ हो, जिसका जातीय मूल एक हो, जिसकी भाषा, रीति रिवाज तथा सभ्यता समान हो तथा जिसमें एकता की भावना हो और जो सभी विदेशियों से अपने आपको भिन्न समझता हो।"

गिलक्राइस्ट ने राष्ट्रीयता की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक भावना अथवा सिद्धान्त है जिसकी उत्पत्ति उन लोगो मे होती है जो सामान्यतया एक जाति के होते हैं, जो एक भू-भाग पर रहते हैं, जिनकी एक भाषा, एक धर्म, एक सा इतिहास, एक-सी परम्पराएँ तथा एक समान हित होते हैं तथा जिनकी एक-सी राजनीतिक संस्थाएं और राजनीतिक एकता के एक-से आदर्श होते हैं।"[1]

उपर्युक्त परिभाषाओं मे राष्ट्रीयता की भावनामूलक एकता पर जोर दिया गया है जबकि कुछ अन्य विद्वान राष्ट्रीयता मे मानव-समूह के तत्व को प्रधानता देते हैं। लेकिन वास्तविकता तो यह है कि राष्ट्रीयता की सही परिभाषा में इन दोनो तत्वों पर समान जोर दिया जाना चाहिए क्योंकि राष्ट्रीयता के निर्माण के लिए मानव समूह तथा भावनात्मक एकता दोनों आवश्यक हैं। रोज की परिभाषा मे इन दोनो तत्वों का समन्वय मिलता है। उसके अनुसार, "राष्ट्रीयता एक जनसंख्या है जो राजनीतिक रूप में अभी संगठित नहीं है तथा यह अपने भावात्मक रूप में एक संगठित राष्ट्र के रूप में रहने की इच्छुक है।"[2] उन्होंने राष्ट्रीयता की परिभाषा करते हुए एक स्थान पर लिखा है कि "यह हृदयों की एक ऐसी एकता है जो एक बार बनकर फिर कभी नहीं बिगड़ती।"[3]

राष्ट्र और राष्ट्रीयता मे भेद—राष्ट्र और राष्ट्रीयता में कुछ मौलिक अन्तर हैं जो निम्नलिखित हैं .

(1) राष्ट्र एक राजनीतिक धारणा है जबकि राष्ट्रीयता मूल रूप से एक आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक धारणा है। यह एक आन्तरिक भावना है।

---

1 "Nationality is a spiritual sentiment or principle arising among a number of people usually of the same race, resident of the same territory, sharing a common language, the same religion, similar history and traditions common interest, common political associations and common ideals of political unity" —Gilchrist - *Principles of Political Science*, p 26

2 "A nationality (in the common sense) is a people which has not yet become organised politically. In an ideal sense it is an aspiration towards united national existence" —Rose

3 "It is a union of hearts once made, never unmade." —Rose

(2) राष्ट्र का अर्थ राजनीतिक रूप से संगठित मानव समुदाय से समझा जाता है। जबकि राष्ट्रीयता का अर्थ एक ऐसी भावना से लिया जाता है जो लोगों का एकता के सूत्र में बांधती है। अतः दोनो मे अन्तर राजनीतिक संगठन का है।

(3) राष्ट्र राष्ट्रीयता पर आधारित है परन्तु राष्ट्रीयता राष्ट्र पर आधारित नही है।

(4) राष्ट्र राष्ट्रीयता की अगली सीढ़ी है तथा राष्ट्रीयता राष्ट्र की प्रारम्भिक अवस्था है। यह एक बनता हुआ राष्ट्र है।

राष्ट्र तथा राष्ट्रीयता के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लॉर्ड ब्राइस ने लिखा है कि "राष्ट्रीयता उस जन-समूह का नाम है जो भाषा, साहित्य, विचार, रीति रिवाज, परम्परा इत्यादि बन्धनों में इस प्रकार बंधा हो कि वह अपने को इसी प्रकार के दूसरे जन-समूह से भिन्न अनुभव करे और राष्ट्र वह राष्ट्रीयता है जो राजनीतिक रूप से संगठित हो गई है और जो या तो स्वतन्त्र हो या स्वतन्त्र होने की इच्छा रखती हो।"[1]

राज्य तथा राष्ट्र में अन्तर

सामान्यतया राज्य और राष्ट्र शब्दो का प्रयोग समान अर्थ मे किया जाता है। उदाहरणार्थ, हम भारत राज्य के लिए अनेक बार 'भारत राष्ट्र' शब्द का प्रयोग करते हैं। इसी तरह संसार के विभिन्न राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को 'संयुक्त राष्ट्र संघ' का नाम दिया गया है जबकि वास्तव मे इसे 'संयुक्त राज्य संघ' कहना अधिक सही होगा। व्यवहार मे भले ही राज्य तथा राष्ट्र शब्दो का प्रयोग समान अर्थ में किया जाता हो परन्तु राजनीति विज्ञान के दृष्टिकोण से यह गलत है। वस्तुतः राज्य तथा राष्ट्र में कुछ मौलिक अन्तर है जो निम्नलिखित हैं

(1) विषय-सामग्री मे अन्तर—राज्य पूर्णतया एक राजनीतिक संगठन है जिसका सम्बन्ध मनुष्यो के बाहरी कार्यों से है। इसका उद्देश्य मनुष्यो की भौतिक आवश्यकताओं को पूर्ण करके व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास मे सहायता प्रदान करना है। इसके विपरीत राष्ट्र एक आध्यात्मिक एवं मानसिक संगठन है जिसका सम्बन्ध मनुष्य की भावनात्मक तथा आध्यात्मिक एकता से होता है। राष्ट्र के सम्बन्ध मे

1 "A nationality is a population held together by certainties, *e. g.*, language, literature, ideas, customs and traditions in such a way so to feel itself a coherent unity distinct from other populations similarly held together by like ties of their own. A nation is a nationality which has organised itself into a *political body either independent or desiring to be independent.*" —Bryce

स्पेंगलर ने ठीक ही कहा है कि "राष्ट्र न तो भाषायी होते हैं, न राजनीतिक और न जैविक बल्कि वे आध्यात्मिक इकाइयाँ होते हैं।"[1]

(2) निर्माणकारी तत्त्वों की स्थिति का अन्तर—राज्य के निर्माणकारी तत्त्व निश्चित होते हैं अर्थात् जनसंख्या, निश्चित भू-भाग, सरकार तथा सम्प्रभुता से मिलकर ही राज्य का निर्माण होता है परन्तु राष्ट्र के निर्माणकारी तत्त्व निश्चित नहीं होते। इसके अतिरिक्त राज्य के तत्त्व स्थिर होते हैं जबकि राष्ट्र के निर्माणकारी तत्त्व सदैव बदलते रहते हैं। उदाहरणार्थ जाति, धर्म, भाषा, इतिहास, परम्पराएँ तथा प्रदेश आदि की समानता राष्ट्र के निर्माण में सहायक होती हैं। परन्तु इनमें से प्रत्येक तत्त्व की उपस्थिति राष्ट्र के विकास के लिए नितान्त आवश्यक नहीं है। सभी राष्ट्रों का विकास समान तत्त्वों के आधार पर नहीं हुआ। इस सम्बन्ध में मैकाइवर ने लिखा है कि "शायद ही ऐसे कोई दो राष्ट्र होंगे जिनका विकास एक ही प्रकार के वस्तुनिष्ठ तत्त्वों के कारण हुआ हो।"

(3) सम्प्रभुता का अन्तर—राज्य एक सम्प्रभु सत्ता है। सम्प्रभुता राज्य का एक अनिवार्य तत्त्व है परन्तु राष्ट्र के निर्माण के लिए सम्प्रभुता आवश्यक नहीं है। सम्प्रभुता के कारण राज्य अपने नागरिकों से बलपूर्वक अपनी आज्ञाओं का पालन करवा सकता है तथा आज्ञाएँ न मानने पर उनको दण्ड दे सकता है परन्तु राष्ट्र के पास ऐसी कोई दण्डकारी शक्ति नहीं होती है जिससे वह लोगों को नियमों का पालन करने के लिए बाध्य कर सके। उसके पास केवल नैतिक बल होता है। वह लोगों को समझा-बुझाकर तथा उनसे नैतिक अपील करके ही नियमों का पालन करवाता है।

(4) अस्तित्व में अन्तर—यदि एक राज्य किसी दूसरे राज्य के अधीन हो जाता है तो उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। कोई भी राज्य किसी दूसरे राज्य के अधीन रहकर अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकता, परन्तु एक राष्ट्र किसी दूसरे राज्य की अधीनता में रहकर भी अपने अस्तित्व को बनाये रख सकता है। उदाहरणार्थ, सन् 1947 से पूर्व भारत यद्यपि ब्रिटेन के अधीन था, परन्तु फिर भी वह एक राष्ट्र था।

(5) सरकार की आवश्यकता का अन्तर—सरकार राज्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसे राज्य की आत्मा कहा जाता है, परन्तु राष्ट्र के लिए सरकार जैसे राजनीतिक संगठन की कोई आवश्यकता नहीं है।

(6) संगठन में अन्तर—राज्य एक सुसंगठित संस्था है परन्तु राष्ट्र संगठित तथा असंगठित दोनों में से किसी प्रकार का हो सकता है। इसके अतिरिक्त राज्य का एक

1 *"Nations are neither linguistic nor political nor biological but spiritual entities."* —*Spengler*

निश्चित अर्थ होता है परन्तु राष्ट्र के अर्थ में ऐसी निश्चयात्मकता का अभाव पाया जाता है।

राज्य और राष्ट्र के अन्तर को स्पष्ट करते हुए हेज ने लिखा है कि "एक राष्ट्रीय राज्य सदैव राष्ट्रीयता पर आधारित रहता है परन्तु राष्ट्रीयता राष्ट्रीय राज्य के बिना भी कायम रह सकती है। राज्य आवश्यक रूप से राजनीतिक होता है जबकि राष्ट्रीयता मुख्य रूप से सांस्कृतिक होती है और केवल संयोगवश ही राजनीतिक हो जाती है।"[1] जिमर्न ने भी बहुत ही सुन्दर शब्दों में राज्यत्व तथा राष्ट्रीयता के अन्तर को इस प्रकार स्पष्ट किया है कि "राष्ट्रीयता धर्म के समान आत्म-परक है, राज्यत्व वस्तु-परक है, राष्ट्रीयता मनोवैज्ञानिक है, राज्यत्व राजनीतिक है; राष्ट्रीयता मन की एक अवस्था है, राज्यत्व एक कानूनी स्थिति है, राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक विचार है, राज्यत्व एक अनिवार्य उत्तरदायित्व है, राष्ट्रीयता विचार करने अनुभव करने एवं जीवन की एक विधि है, राज्यत्व जीवन के समस्त सभ्य तरीकों से अविच्छिन्न एक अवस्था है।"[2]

राष्ट्रीयता के मूल तत्त्व
(Essential Elements of Nationality)

राजनीति विज्ञान के विचारकों ने ऐसे तत्त्वों का विस्तृत विवेचन किया है जिनसे राष्ट्रीयता का निर्माण होता है। किन्तु वे सब यह स्वीकार करते [redacted] कि उन्होंने जितने तत्त्वों का विवेचन किया है उनमें से एक भी ऐसा नहीं है जो राष्ट्रीयता के लिए अनिवार्य हो लेकिन उनमें से कुछ के बिना सच्ची राष्ट्रीयता सम्भव नहीं है। अतः राष्ट्रीयता के निर्माणक तत्त्वों के सम्बन्ध में कोई सर्वमान्य तथा सार्वभौम नियम नहीं बनाया जा सकता। राष्ट्रीयता के विकास में समय समय पर तथा विभिन्न देशों में जिन तत्त्वों ने योग दिया है, उनमें से कुछ तत्त्व इस प्रकार हैं

(1) भौगोलिक एकता—राष्ट्रीयता के निर्माण एवं विकास में भौगोलिक एकता

1 "A national state is always based on nationality, but a nationality may exist without a national state. A state [redacted] essentially political, nationality is primarily cultural and only incidentaly political."—C. J. H. Hayes: *Essays on Nationalism*, p. 5.

2 "Nationality like religion is subjective, statehood is objective, nationality is psychological, statehood is political, nationality [redacted] a condition of mind, statehood is a condition in law, nationality is a spiritual possession, statehood is an enforceable obligation, nationality is a way of feeling, thinking and living, statehood is a condition inseparable from all civilized ways of living."—Zimmern: *Nationality and Government*, p. 51.

का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। सर्वप्रथम तो भौगोलिक स्थिति तथा जलवायु का मनुष्यों के चरित्र और शारीरिक गठन पर निश्चित रूप से प्रभाव पड़ता है। इसके फलस्वरूप ऐसे मानसिक तथा मनोवैज्ञानिक गुण पैदा होते है जिनसे भौगोलिक सीमा के अन्दर बसे हुए लोगो में पारस्परिक सहयोग तथा सहानुभूति पैदा हो जाती है। द्वितीय, हर मनुष्य के हृदय में अपनी जन्मभूमि के प्रति अगाध प्रेम होता है। मनुष्य जिस देश मे जन्म लेता है तथा जहाँ की मिट्टी मे खेल खेलकर वह बड़ा होता है उस भूमि के प्रति उसके हृदय म प्रेम होना स्वाभाविक है। इसी को देश-प्रेम की भावना कहते हैं। एक देश में रहने वाले लोगों की एक सामान्य संस्कृति होती है तथा उनमे एकता की अनुभूति होती है जिसे राष्ट्रीयता का सार कहा जा सकता है। आधुनिक राष्ट्रीयता के आध्यात्मिक जन्मदाता मैजिनी ने लिखा है कि "हमारा देश ही हमारा घर है, ऐसा घर जो परमात्मा ने हमें दिया है जिसमे उसने अनेक परिवार रखे हैं, जो परिवार हमें प्यार करते हैं तथा जिन परिवारों को हम प्यार करते हैं।" उसने आगे लिखा है कि "भौगोलिक एकता की भावना के बिना राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत नहीं हो सकती।" गिलक्राइस्ट ने भी इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं। उनके अनुसार, "एक निश्चित भू भाग पर निरन्तर एक साथ रहना राष्ट्रीयता के विकास के लिए आवश्यक है।" प्रो० रेम्जे म्योर (Ramsay Muir) ने भी राष्ट्रीयता के विकास का एक कारण भौगोलिक एकता माना है।

परन्तु इसके कुछ अपवाद भी हैं। उदाहरणार्थ, सन् 1948 से पूर्व यहूदियों के पास अपना कोई देश नहीं था परन्तु फिर भी उनमे राष्ट्रीयता की प्रबल भावना विद्यमान थी। ऐसे अपवादो के बावजूद भी यह मानना होगा कि भौगोलिक एकता राष्ट्रीयता के निर्माण मे बहुत अधिक सहायक सिद्ध होती है।

(2) जातीय एकता—राष्ट्रीयता के निर्माण तथा उसके विकास म जातीय एकता भी एक प्रमुख तत्त्व है। नस्ल अथवा रक्त की एकता किसी भी जन समुदाय को एकता के सूत्र मे बाँधने मे अत्यन्त सहायक होती है। जिमर्न के अनुसार, जातीय एकता राष्ट्रीयता के विकास के लिए सर्वप्रमुख तत्त्व है। गिलक्राइस्ट का भी यही मत है कि "एक नस्ल मे उत्पत्ति के प्रति विश्वास, चाहे वह वास्तविक हो या अवास्तविक, राष्ट्रीयता का बन्धन होता है।"[1]

यह सत्य है कि जातीय एकता राष्ट्रीयता के निर्माण मे बहुत बड़ा योग देती है परन्तु आज संसार म कोई भी देश ऐसा नहीं है जहाँ केवल एक ही जाति के लोग निवास करते हो। आधुनिक काल म कहीं भी रक्त की शुद्धता दिखाई नहीं देती। सभी आधुनिक राष्ट्रों का निर्माण अनेक नस्लों तथा जातियो के सम्मिश्रण से हुआ

1 "Belief in common origin, either real or fictitious is a bond of nationality" —Gilchrist

है। इसलिए अनेक विद्वान राष्ट्रीयता के निर्माण मे जातीय एकता को अधिक महत्त्व नही देते। हेज के अनुसार, "जाति की एकता आधुनिक काल मे राष्ट्रीयता के निर्माण के लिए महत्त्वपूर्ण तत्त्व नही रही है क्योकि रक्त की पवित्रता यदि कही है तो वह केवल असभ्य जातियो मे ही है।" रोज का कहना है कि "राष्ट्रीयता बहुत अविकसित रूप में ही जाति पर निर्भर रहती है।" पिल्जबरी के अनुसार, "साधारणतया राष्ट्रीयता के निर्माण मे जाति का अब कोई महत्त्व नही है। किसी भी राष्ट्र मे शुद्ध जाति नही है। मनुष्य आज सब जगह वर्णसंकर (mongrel) है। रैम्जे म्योर का भी यही मत है कि "संसार मे एक भी राष्ट्र ऐसा नहीं है जिसमे जातीय मिश्रण न हो और आज तक ऐसी कोई जाति नहीं हुई जिसने अपने सदस्यों को एक ही राष्ट्रीय एकता मे बाँधकर रखा हो।"[1]

अतः आज राष्ट्रीयता के विकास मे जातीय एकता का महत्त्व नही के बराबर रह गया है। स्विट्जरलैण्ड, कनाडा, अमेरिका, सोवियत रूस, भारत आदि देशो मे विभिन्न जातियो के लोग एक साथ रहते हैं परन्तु फिर भी इन देशो मे राष्ट्रीय एकता पाई जाती है। बर्नार्ड जोसफ का यह कथन सही है कि "राष्ट्रीयता वास्तव मे जाति को चीरकर पार निकल जाती है।"[2]

(3) धार्मिक एकता—राष्ट्रीयता के निर्माण तथा विकास मे धर्म का बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। धार्मिक एकता किसी समय राष्ट्रीयता का एक प्रधान लक्षण मानी जाती थी। प्राचीन काल मे धर्म ही सामाजिक और राष्ट्रीय संगठन का मुख्य आधार था। समान धार्मिक विश्वासो और रीतियो ने मनुष्यो मे एकता की भावना का विकास किया। धार्मिक भावना के फलस्वरूप उत्पन्न एकता ने राष्ट्रीयता की भावना को विशेष रूप से जाग्रत किया है। धर्म ने सैकडो वर्षों तक अतीत मे राष्ट्रो को दृढ बनाने मे बहुत सहायता दी है। आधुनिक युग मे भी धर्म कुछ राष्ट्रो का आधार रहा है। पाकिस्तान के निर्माण का आधार धर्म ही था।

परन्तु वर्तमान समय मे राष्ट्रीयता के लिए धार्मिक एकता आवश्यक नही मानी जाती। इतिहास इस बात का साक्षी है कि धार्मिक एकता के अभाव मे भी राष्ट्र विकसित हुए हैं। स्विट्जरलैण्ड मे विभिन्न धर्मों के मानने वाले लोग रहते हैं किन्तु इससे उनकी राष्ट्रीयता मे कोई बाधा नहीं पडती। संयुक्त राज्य अमेरिका मे तो धर्म जनता के राष्ट्रीय जीवन मे कभी प्रवेश ही नही कर पाया है। हेज का यह कथन सत्य है कि "अधिकांश आधुनिक राष्ट्रीयताएँ धार्मिक विश्वास अथवा धार्मिक

---

1 "There is no nation in the world that is not of mixed race and there has never been a race which has succeeded in including its members within a single national unity"

—Ramsay Muir

2 'Nationality actually cuts through and across race" —Joseph

व्यवहार की एकरूपता पर जोर दिये बिना ही फल-फूल रही हैं।"[1] अतः धार्मिक सहिष्णुता की आधुनिक भावना के कारण अब राष्ट्रीयता के निर्माण में धर्म का कोई महत्त्व नहीं रह गया है। बर्गेस ने ठीक ही लिखा है कि "किसी समय में समान धर्म राष्ट्रीयता का महान तत्त्व था किन्तु अब धार्मिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त के कारण धर्म का राष्ट्रीयता के क्षेत्र में बहुत ही कम महत्त्व रह गया है।" सन् 1971 में पाकिस्तान के विघटन तथा बंगला देश की स्थापना ने इस तथ्य को और स्पष्ट कर दिया है।

(4) **सांस्कृतिक एकता**—राष्ट्रीयता के विकास में विचारों तथा आदर्शों की एकता का भी बहुत महत्त्व है। संस्कृति के अन्तर्गत सामान्य साहित्य, परम्पराएँ, रीति रिवाज, आध्यात्मिक विचार, रहन-सहन, लोक कथाएँ, काव्य और कला आदि शामिल हैं। इन तत्वों की समानता लोगों के विचारों में एकरूपता का विकास करके उन्हें एकता के सूत्र में बाँधती है और इस सांस्कृतिक एकता के आधार पर ही राष्ट्रीयता का विकास सम्भव होता है। डॉ० आशीर्वादम् के शब्दों में, "विचारों और आदर्शों की एकता लोगों को परस्पर समीप खींच लाती है और उनमें सहयोग की एक ऐसी भावना पैदा कर देती है जो आसानी से नष्ट नहीं की जा सकती।" राष्ट्रीय साहित्य तथा परम्पराएँ भी राष्ट्रीयता की भावना के विकास में महत्त्वपूर्ण योग देते हैं। जे० एस० मिल के अनुसार, **"सामान्य सांस्कृतिक परम्पराएँ तथा इतिहास राष्ट्रीयता के एकमात्र आवश्यक तथा अपरिहार्य तत्त्व हैं। इनके बिना राष्ट्रीयता की भावना का विकास सम्भव नहीं है।"**

(5) भाषा की एकता—भाषा की एकता भी राष्ट्रीयता के निर्माण का एक आवश्यक तत्त्व मानी जाती है। भाषा वह माध्यम है जिसके द्वारा मनुष्य अपने भावों एवं विचारों का आदान-प्रदान करते हैं तथा आपस में एक-दूसरे से सम्पर्क रख सकते हैं। वस्तुतः सामान्य भाषा लोगों के विचारों एवं भावों में समानता लाती है तथा समान भाषा एवं विचारों की समानता द्वारा ही राष्ट्रीयता का निर्माण सम्भव होता है। फिक्टे के अनुसार, "सामान्य भाषा राष्ट्र के सदस्यों में एकता का मुख्य बन्धन है।" रैम्जे म्योर के शब्दों में, "राष्ट्र के निर्माण में जाति की अपेक्षा भाषा का महत्त्व कहीं अधिक है। विभिन्न जातियों और नस्लों को प्रेम के बन्धन में बाँधने वाली मुख्य शक्ति केवल भाषा ही है।" गार्नर के अनुसार, "सामान्य भाषा लोगों में सामान्य चेतना तथा सामान्य आदर्शों का विकास करती है जो राष्ट्रीयता की भावना का निर्माण करने के लिए बहुत आवश्यक है।"

परन्तु भाषा की एकता राष्ट्रीयता का अपरिहार्य तत्त्व नहीं है। सामान्य भाषा के बिना भी राष्ट्रीयता का विकास सम्भव हो सकता है। उदाहरणार्थ, भारत, स्विट्जरलैण्ड तथा सोवियत रूस में अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं परन्तु फिर भी

---

1 "Most modern nationalities manage to flourish without insisting upon uniformity of religion, belief or practice." —Hayes

ये एक राष्ट्र है। इस पर भी हमें यह मानना पड़ेगा कि भाषा की एकता राष्ट्रीयता की भावना पैदा करने में एक प्रमुख तत्व है।

(6) सामान्य आर्थिक हित—आर्थिक हितों की समानता भी बहुत से देशों में वहाँ के निवासियों को एकता के सूत्र में बाँधने में सहायक सिद्ध हुई है। आज के भौतिकवादी युग में आर्थिक हितों की समानता का बहुत महत्त्व है। सामान्य आर्थिक हित मनुष्यों में अपने हितों के प्रति चेतना उत्पन्न करके उन्हें एकबद्ध रहने के लिए प्रेरित करते हैं। अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया आदि देशों के लोगों में राष्ट्रीय एकता की भावना पैदा करने में सामान्य आर्थिक हित ने काफी योग दिया है। किसी जाति को एक सूत्र में बाँध रखने में सामान्य आर्थिक हितों का चाहे कितना ही महत्त्व हो परन्तु यह मानना सही नहीं है कि केवल आर्थिक हित ही राष्ट्रीयता की भावना पैदा करते हैं। रेनन (Renan) का यह कथन ठीक ही है कि **"आर्थिक हितों की एकता एक कस्टम संघ (Custom Union) का निर्माण तो कर सकती है परन्तु एक राष्ट्र का नहीं।"**

(7) समान शासन तथा राजनीतिक एकता—राष्ट्रीयता के विकास में समान शासन तथा राजनीतिक एकता जैसे तत्त्वों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। जब विभिन्न रूपों की जनसंख्या काफी लम्बे समय तक एक राज्य में रहती है और राज्य अपनी नीति में सबके प्रति सहिष्णु होता है तो समय बीत जाने पर ये भिन्न-भिन्न रूपों के लोग एक राष्ट्रीयता में लीन हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, कनाडा में फ्रांसीसी अंग्रेज, जर्मन आदि जातियों के लोग सैंकड़ों वर्षों से साथ-साथ रह रहे हैं। आज वे सभी अपने आपको अलग अलग राष्ट्रीयताओं के व्यक्ति न मानकर कनाडा का ही राष्ट्रीय निवासी मानते हैं। राजनीतिक एकता भी लोगों को एकता के सूत्र में बाँधती है जिससे उनमें राष्ट्रीय भावना जाग्रत होती है, जैसा कि अंग्रेजों के शासन में भारत में हुआ।

(8) सामान्य राजनीतिक आकांक्षाएं—सामान्य राजनीतिक आकांक्षाएं भी राष्ट्रीयता के विकास में महत्त्वपूर्ण योग देती हैं। समान लक्ष्य को प्राप्त करने वाले व्यक्तियों में घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है। उसी प्रकार सामान्य राजनीतिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए व्यक्ति में राष्ट्रीय एकता का भाव उत्पन्न हो जाता है। इसका प्रमुख उदाहरण भारत का राष्ट्रीय जीवन है। हम सभी जानते हैं कि अंग्रेजी शासन से छुटकारा तथा स्वाधीन राजनीतिक जीवन की आकांक्षा ने किस प्रकार भारतीयों को राष्ट्रीय एकता के सूत्र में बाँधकर उन्हें अंग्रेजी शासन के विरुद्ध खड़ा कर दिया। इससे भारत में राष्ट्रीयता के विचार को बल मिला। यह सत्य है कि राजनीतिक तत्व राष्ट्रीयता के विकास में महत्त्वपूर्ण योग देता है परन्तु हम यह नहीं मान सकते कि उसके बिना राष्ट्रीयता का निर्माण हो ही नहीं सकता।

(9) सामान्य अधीनता एवं कष्ट—राष्ट्रीयता के विकास में सामान्य अधीनता तथा कष्टों ने भी बड़ा शक्तिशाली योग दिया है। अंग्रेजों के सुदृढ़ शासन

ने काफी हद तक भारतीय राष्ट्रीयता का विकास किया है। इसी प्रकार जर्मनी तथा इटली आदि देशों में भी हिटलर और मुसोलिनी की सुदृढ़ सरकारों ने राष्ट्रीय भावना उत्पन्न करने में सहायता की है। इसके अतिरिक्त अत्याचारों अथवा कष्टों ने भी राष्ट्रीयता को बढ़ावा दिया है। जिमर्न का कहना है कि "यूरोप में राजनीतिक अत्याचारों के फलस्वरूप ही राष्ट्रीयता की भावना प्रबल हो उठी है।" अंग्रेजों के अत्याचारों ने भारत तथा अफ्रीका के अनेक देशों में राष्ट्रीयता की भावना को जाग्रत किया। इसके अतिरिक्त समान संकट भी लोगों में राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करता है। परन्तु अत्याचार तथा कष्ट सदैव ही राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करने में सफल सिद्ध नहीं होते।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि राष्ट्रीयता का निर्माण अनेक तत्त्वों द्वारा होता है परन्तु यह कहना कठिन है कि इनमें से कौनसा तत्त्व उसके निर्माण में अधिक सहायक होता है तथा कौनसा कम। वस्तुतः राष्ट्रीयता की उपमा हम एक ऐसे ताने-बाने से दे सकते हैं जो अनेक धागों से बुना जाता है तथा जिसमें यह बताना अत्यन्त कठिन होता है कि किस धागे ने दूसरे की तुलना में उस ताने-बाने को अधिक मजबूत बनाया है। इसका कारण यह है कि राष्ट्रीयता मूलतः एक आध्यात्मिक तथा आत्मिक भावना है।

क्या भारत एक राष्ट्र है ?—पश्चिमी देशों के अनेक विद्वान भारत को एक राष्ट्र नहीं मानते हैं। उनके विचार से भारत एक राष्ट्र न होकर राष्ट्रों का समूह है जहाँ यूरोप की भाँति विभिन्न नस्लों, भाषाओं, धर्मों तथा संस्कृतियों के लोग रहते हैं। यह देश अनेक भौगोलिक इकाइयों में बँटा हुआ है। इसमें विभिन्न जातियों, जैसे आर्य, द्रविड़, यवन, हूण, शक, कोल, किरात इत्यादि का सम्मिश्रण है। इसमें हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, पारसी आदि अनेक धर्मों के अनुयायी पाये जाते हैं। यहाँ 15 मुख्य भाषाएँ तथा अनेक बोलियाँ हैं। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी पंजाब तथा गुजरात आदि के लोगों के बीच एकता का बहुत अभाव है। ब्रिटिश शासन से पूर्व, कुछ राजाओं को छोड़कर, भारत में राजनीतिक एकता का भी अभाव था। यहाँ छोटे-छोटे राज्य थे जो आपस में लड़ते रहते थे। इन्हीं आधारों पर अनेक विचारकों ने इस मत का प्रतिपादन किया है कि भारत एक राष्ट्र न होकर राष्ट्रों का समूह अथवा एक उप महाद्वीप है जिसमें अनेक राष्ट्रीयताओं के लोग रहते हैं। अमरीकी विचारक सेलिग हेरीसन (Celig Harrison) ने अपनी पुस्तक *India—The Most Dangerous Decades Ahead* में इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं।

वस्तुतः जो विचारक भारत को एक राष्ट्र नहीं मानते हैं, उन्होंने भारत में पाई जाने वाली विभिन्नताओं को ही अधिक महत्त्व दिया है। उन्होंने भारतीय संस्कृति की एकता को महत्त्व नहीं दिया। भारतीय संस्कृति तथा इतिहास का गहराई से अध्ययन करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारतीयों में एक ऐसी एकता पाई जाती है जिससे हम भारत को एक राष्ट्र कह सकते हैं। वास्तव में भारत में

विभिन्नताओं में एकता (Unity in diversities) की भावना छुपी हुई है। यह एकता हमें निम्नलिखित रूपों में दिखाई देती है

(1) भौगोलिक एकता—भौगोलिक दृष्टि से भारत एक इकाई है जो अपनी प्राकृतिक सीमाओं से काफी हद तक सुरक्षित रहा है। हमारे प्राचीन ग्रन्थों में भौगोलिक एकता का वर्णन मिलता है। यह भौगोलिक एकता यहाँ के निवासियों में मातृभूमि के प्रति प्रेम तथा एकता की भावना भरती है।

(2) भाषा की एकता—प्राचीन काल से ही भारत में भाषा की एकता रही है। प्राचीन काल में संस्कृत यहाँ की मुख्य भाषा थी जिसने लोगों को एकता के सूत्र में बाँधे रखा। अंग्रेजों के काल में लोगों का आपसी सम्पर्क अंग्रेजी के माध्यम से बना रहा तथा आज हिन्दी के द्वारा आपसी सम्पर्क बना हुआ है। भारत में प्रचलित विभिन्न भाषाओं का मूल स्रोत भी संस्कृत ही है।

(3) धार्मिक सहिष्णुता—भारत में यद्यपि विभिन्न धर्मावलम्बी रहते हैं परन्तु वे सभी भारतीय संस्कृति के रंग में रंगे हुए हैं। भारत में रहने वाले मुसलमान तथा ईसाई अपने आचार विचार में दूसरे देशों के मुसलमानों तथा ईसाइयों की अपेक्षा भारत के हिन्दुओं के अधिक निकट हैं। इसके अतिरिक्त अनेक धर्मों के होते हुए भी भारत में यूरोप के समान धार्मिक झगड़े कभी नहीं हुए। भारत में आज भी धार्मिक सहिष्णुता पर्याप्त मात्रा में देखने को मिलती है।

(4) सांस्कृतिक एकता—भारत में प्राचीन काल से ही सांस्कृतिक एकता रही है। भारत के चार कोनों पर चार धाम स्थित हैं—उत्तर में बद्रीनाथ, पूर्व में जगन्नाथपुरी, दक्षिण में रामेश्वरम् तथा पश्चिम में द्वारकापुरी। ये चारों धाम भारत में सांस्कृतिक एकता के ज्वलन्त प्रतीक हैं। प्राचीन ग्रन्थों में इन चार धामों के अतिरिक्त सात नदियों (गंगा, यमुना, सरस्वती, गोदावरी, नर्मदा, कावेरी तथा सिन्धु) का भी उल्लेख मिलता है। ये नदियाँ किसी एक प्रान्त की नहीं हैं बल्कि सम्पूर्ण देश की नदियाँ हैं जिनका सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए समान रूप से महत्त्व है। इनके अतिरिक्त भारत के विभिन्न प्रान्तों में स्थित अन्य तीर्थस्थानों, देश के महापुरुषों तथा धर्मग्रन्थों के प्रति श्रद्धा तथा भारतीय संस्कृति की समन्वयता ने भी भारत को एकता के सूत्र में बाँधने में योग दिया है।

इसके अतिरिक्त भारत में राष्ट्रीयता की भावना भी रही है। भारत में अंग्रेजी सत्ता का विरोध करने के लिए महात्मा गांधी के नेतृत्व में जो राष्ट्रीय आन्दोलन चला वह भारत की राष्ट्रीयता का ही प्रतीक है। भारत में प्राचीन काल से ही समय-समय पर राजनीतिक एकता कायम करने के भी प्रयत्न होते रहे हैं। आज सम्पूर्ण भारत राजनीतिक दृष्टि से एक सूत्र में बँधा हुआ है। इस तरह हम कह सकते हैं कि विभिन्नताओं के होते हुए भी भारत निस्सन्देह एक राष्ट्र है। भारत की इस आधारभूत एकता को भारतीयों के अतिरिक्त अनेक विदेशी विचारक भी स्वीकार करते हैं। सर हरबर्ट रिजले ने लिखा है कि "भारत में धर्म, रीति-रिवाज, भाषा तथा अनेक प्रकार

की सामाजिक और भौतिक विभिन्नताओं के होते हुए भी, हिमालय से लेकर कन्या कुमारी तक यहाँ के जीवन में एकरूपता देखी जा सकती है। वास्तव में भारत का एक अलग चरित्र तथा व्यक्तित्व है जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती है।"[1]

राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का सिद्धान्त

(Theory of National Self determination)

एक राष्ट्र, एक राज्य का सिद्धान्त—राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का अर्थ यह है कि प्रत्येक राष्ट्रीयता को अपने राजनीतिक भाग्य का निर्णय स्वयं करने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। उसे अपना संविधान बनाने शासन का स्वरूप निश्चित करने तथा शासक चुनने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि प्रत्येक राष्ट्रीयता का एक स्वतन्त्र राज्य होना चाहिए *अथवा एक राज्य में एक ही राष्ट्रीयता या राष्ट्र होना चाहिए।* इसी को हम एक राष्ट्र, एक राज्य का सिद्धान्त कहते हैं। इस सिद्धान्त का राष्ट्रीय आत्मनिर्णय की विचारधारा से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

उन्नीसवीं शताब्दी में एक राष्ट्र, एक राज्य का सिद्धान्त यूरोपीय राजनीति पर छाया रहा। अमेरिका के राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ने इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप प्रदान किया। इस सिद्धान्त के प्रबल समर्थक जे० एस० मिल का कहना है कि "स्वतन्त्र संस्थाओं की सामान्यतया यह एक आवश्यक शर्त है कि राज्यों तथा राष्ट्रों की सीमाएँ एक होनी चाहिए। विभिन्न राष्ट्रीयताओं वाले देश में स्वतन्त्र संस्थाओं का पनपना बिल्कुल असम्भव है। जहाँ कहीं राष्ट्रीयता की भावना शक्तिशाली रूप में विद्यमान हो, वहाँ उस राष्ट्रीयता के समस्त लोगों को उन्हीं के स्वयं के शासन के अधीन एकत्रित कर देना चाहिए। इसका प्रयोजन केवल यही है कि शासन के प्रश्न का निर्णय शासितों के द्वारा ही तय होना चाहिए।"[2]

---

1 "Beneath the manifold diversity of physical and social type, language, custom, religion, which strikes the observers in India, there can still be discerned a certain underlying uniformity of life from Himalaja to Cape Comorin There is, infact, an Indian character, a general Indian personality which we cannot resolve into its component elements."—Sir Herbert Risley. *People of India*

2 "It is in general a necessary condition of free institutions that the boundaries of government should coincide in the main with those of nationalities Free institutions are next impossible in a country made up of *different nationalities* Wherever the sentiment of nationality exists in any force, there is a prima facie case for uniting all members of the nationality under the same government and a government to themselves apart This is merely saying that the question of government *ought to be decided by the governed* '—J. S Mill *Representative Government*, Chapter XVI

मिल के समान मेजिनी, कार्ल मार्क्स, ऐंगिल्स तथा लेनिन ने भी 'स्वभाग्य-निर्णय के अधिकार' के रूप में इस सिद्धान्त को अपना प्रबल समर्थन दिया। प्रथम महायुद्ध के समय राष्ट्रपति विल्सन ने इसके समर्थन में अपनी शक्तिशाली आवाज उठाई। उन्होंने कहा था कि "आत्म-निर्णय कोई एक शब्द समूह मात्र नहीं है वरन् यह एक आवश्यक क्रियात्मक सिद्धान्त है जिसकी उपेक्षा राजनीतिज्ञ अब अपने खतरे के मूल्य पर ही कर सकेंगे।"[1] संयुक्त राष्ट्र के घोषणा पत्र में भी इस सिद्धान्त को मान्यता दी गई है।

राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के समर्थकों का यह विचार है कि प्रत्येक राज्य के अन्तर्गत विद्यमान विभिन्न राष्ट्रीयताओं को कम से कम तीन अधिकार अवश्य प्राप्त होने चाहिए—जीवित रहने अथवा अपने अस्तित्व को कायम रखने का अधिकार, अपनी भाषा तथा साहित्य की उन्नति का अधिकार तथा अपने धर्म, रीति-रिवाज एवं प्रथाओं को बनाये रखने का अधिकार। इस सिद्धान्त के प्रभाव के फलस्वरूप एक ओर तो टर्की, रूस, आस्ट्रिया तथा हंगरी जैसे बड़े राज्य राष्ट्रीयता के आधार पर कई छोटे छोटे स्वतन्त्र राज्यों में बंट गये तथा दूसरी ओर, एक ही राष्ट्रीयता के कई छोटे छोटे राज्यों ने आपस में मिलकर जर्मनी और इटली जैसे राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण किया। प्रथम और द्वितीय महायुद्धों के बाद तो यूरोप, एशिया तथा अफ्रीका महाद्वीपों में राष्ट्रीयता के आधार पर अनेक नये-नये राज्यों की नींव पड़ी है।

सिद्धान्त के पक्ष में तर्क—एक राष्ट्र एक राज्य के सिद्धान्त के पक्ष में निम्न-लिखित तर्क दिये जाते हैं

(1) **भाईचारे की भावना**—मिल के अनुसार एक राष्ट्रीय राज्य के निवासियों में भाईचारे की भावना पाई जाती है। ऐसे राज्य में राष्ट्रीय भावना की प्रबलता के कारण लोग छोटे छोटे स्वार्थों को भूलकर राष्ट्र की भलाई के कार्य में जुट जाते हैं। लोग सार्वजनिक हित में ही अपना व्यक्तिगत हित मानते हैं। इसके विपरीत अनेक राष्ट्रीयताओं वाले राज्य में मनुष्यों में आपसी मन मुटाव, द्वेष, ईर्ष्या तथा आपस में खींचातानी अधिक पाई जाती है जिसके फलस्वरूप लोग एकजुट होकर राष्ट्र की सेवा में नहीं लग पाते और राष्ट्र की उन्नति रुक जाती है।

(2) **प्रतिनिधि शासन की सफलता**—मिल ने इसके पक्ष में दूसरा तर्क यह दिया है कि एक राष्ट्रीय राज्य का सिद्धान्त प्रतिनिधि शासन की सफलता के लिए अधिक उपयुक्त होता है। प्रतिनिधि शासन वहीं सफल हो सकता है जहां के निवासियों में एकता की भावना पाई जाती है। एक देश के निवासियों के हितों में

---

1 'Self-determination is not merely a phrase, it is imperative principle of action, which statesmen will henceforth ignore at their peril"— Wilson, *Quoted by Garner*, p 134.

जितनी अधिक एकता तथा साम्य होगा, उस देश में प्रतिनिधि शासन की सफलता की सम्भावना उतनी ही अधिक बढ़ जायेगी। हितों की एकता एक राष्ट्रीय राज्य में ही सम्भव होती है क्योंकि उसमें एक ही राष्ट्रीयता के लोग निवास करते हैं। मिल ने लिखा है कि "जिन लोगों में परस्पर भाईचारा नहीं है, विशेषकर यदि वे भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलते तथा लिखते हैं तो उनमें प्रतिनिधि शासन के लिए आवश्यक संयुक्त लोकमत का निर्माण सम्भव नहीं है।"[1]

(3) अधिक शक्तिशाली राज्य—एक राष्ट्र वाले राज्य स्वभाव से ही शक्तिशाली होते हैं। एक ही राष्ट्रीयता के लोगों के विचारों तथा हितों में समानता होने के कारण ऐसे राज्य अच्छी प्रकार संगठित होते हैं तथा संगठन में ही शक्ति निहित होने के कारण वे बहुत अधिक शक्तिशाली भी होते हैं। नागरिक राष्ट्रीय भावना से ओत प्रोत होते हैं तथा राज्य के प्रति उनके मन में अपनत्व की भावना होती है। फलस्वरूप वे राज्य के हितों को साधना और उसकी रक्षा के लिए एक-जुट होकर कार्य करते हैं तथा उसके लिए वे किसी भी प्रकार का बलिदान करने के लिए तत्पर रहते हैं।

(4) स्वतन्त्रता का घोषणा पत्र—आत्म निर्णय अथवा एक राष्ट्र, एक राज्य के सिद्धान्त को स्वतन्त्रता का घोषणा-पत्र समझा जाता है। इस सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि विभिन्न राष्ट्रीयताएँ जो एक राज्य के अधीन हैं अथवा जो पराधीनता की जंजीरों में जकड़ी हुई हैं, उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। विभिन्न राष्ट्रीयताओं को स्वतन्त्रता मिल जाने पर साम्राज्यवाद का स्वत ही अन्त हो जायगा। मिल ने इसीलिए यह कहा था कि शासितों को अपने शासक चुनने अथवा भाग्य का निर्णय करने का अधिकार होना चाहिए। इस सिद्धान्त ने द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् एशिया तथा अफीका के अनेक पराधीन देशों को स्वतन्त्रता प्राप्त कराने में बहुत सहायता दी है।

(5) अल्पसंख्यकों की समस्या का समाधान—इस सिद्धान्त के पक्ष में एक बात यह कही जाती है कि यदि एक ही राष्ट्रीयता के आधार पर एक राज्य का निर्माण हो तो अल्पसंख्यकों की समस्या का स्वत ही समाधान हो जायेगा क्योंकि ऐसे राज्य में अल्पसंख्यक होंगे ही नहीं। दूसरे, इस सिद्धान्त के आधार पर अल्पसंख्यकों के भी अपने अलग-अलग राज्य बन जायेंगे फलस्वरूप उन्हें भी अपनी उन्नति के पर्याप्त अवसर प्राप्त हो सकेंगे।

सिद्धान्त के विपक्ष में तर्क—एक राष्ट्र, एक राज्य के सिद्धान्त की अनेक विद्वानों ने कटु आलोचना की है। इस सिद्धान्त की आलोचना करने वालों में ब्लुश्ली, हॉकिंग, बर्नार्ड जोसफ, डॉ० पियर्स हिगिन्स तथा लॉर्ड एक्टन आदि अधिक

1 "Among people without a fellow feeling, especially if they read and speak different languages, the united public opinion necessary to the working of representative government cannot exist."—J S Mill. *Representative Government*, Chapter XVI.

प्रमुख है। लॉर्ड एक्टन (1834-1902) ने इस सिद्धान्त की कड़ी आलोचना करते हुए कहा है कि "राष्ट्रीयता का सिद्धान्त समाजवाद के सिद्धान्त से भी अधिक अर्थहीन एवं अपराधी है। कोई भी परिवर्तन का सिद्धान्त या कोई भी राजनीतिक कल्पना का रूप इससे अधिक स्वेच्छाचारी तथा विनाशकारी नहीं हो सकता। यह लोकतन्त्र का खण्डन करता है क्योंकि यह जनता की इच्छा के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाता है।"[1]

इस सिद्धान्त के विपक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं :

(1) लाभों का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन—इस सिद्धान्त के आलोचकों का कहना है कि एक राष्ट्रीय राज्य के समर्थकों ने उसके लाभों का जो वर्णन किया है, वह अतिशयोक्तिपूर्ण है। बहु राष्ट्रीयता वाले राज्यों में उसकी तुलना में अधिक लाभ दिखाई देते हैं। गम्प्लाविज (Gumplowicz) का मत है कि "इस विचार का कोई ऐतिहासिक तथा समाज विज्ञान सम्बन्धी आधार नहीं है कि एक राष्ट्र द्वारा संगठित राज्य अनेक राष्ट्रीयताओं द्वारा संगठित राज्य की अपेक्षा आवश्यक रूप से अधिक शक्तिशाली होता है।" उसने बड़े दावे के साथ यह कहा कि "जिन राज्यों में अनेक राष्ट्रीयताएँ होती हैं, उनमें उन राज्यों की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रता होती है जिनमें जनता एक ही जाति अथवा नस्ल की होती है।" इसके समर्थन में उसने स्विट्जरलैण्ड का उदाहरण दिया है। ब्लु शली ने भी इसके विचारों का समर्थन करते हुए लिखा है कि "राज्य में बाहरी तत्वों के सम्मिलित होने के कारण उसमें विशदता तथा विविधता आती है जिससे दूसरे राज्यों की जनता के साथ परस्पर घनिष्ठता एवं सम्पर्क कायम करने तथा उसे बनाये रखने में सहायता मिलती है।"

(2) प्रगतिशीलता में बाधक—यह कहा जाता है कि एक राष्ट्रीय राज्य अनेक राष्ट्रीयताओं वाले राज्य की तुलना में कम प्रगतिशील होता है। एक राष्ट्रीयता वाले राज्य के लोगों के विचार अन्य राष्ट्रीयताओं से सम्पर्क के अभाव के कारण संकुचित हो जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप उस राज्य की प्रगति रुक जाती है। लॉर्ड एक्टन ने इस सम्बन्ध में कहा है कि "एक राज्य के अन्तर्गत विभिन्न राष्ट्रीयताओं का सम्मिलन सभ्यता की उसी प्रकार एक आवश्यक शर्त है जिस प्रकार समाज में विविध प्रकार के मनुष्यों का मिलन। एक राज्य के अन्तर्गत विभिन्न जातियों के मिलन के फलस्वरूप मानव-जाति के एक भाग का ओज, ज्ञान तथा उसकी योग्यता दूसरे भाग के लिए सुलभ होती है। जहाँ राष्ट्रीय एवं राजनीतिक सीमाएं एक हो जाती हैं, वहाँ समाज की प्रगति रुक जाती है और राष्ट्रों की स्थिति वैसी ही हो

---

1 "There is no principle of change, no phase of political speculation conceivable *more subversive or more arbitrary* than this. It is a computation of democracy, because, it sets limits to the exercise of the popular will." — Lord Acton

जाती है जैसी उन मनुष्यों की जिनका अपने साथियों के साथ सम्पर्क टूट जाता है।" *उन्होंने आगे कहा है कि "एक ही राज्य में बौद्धिक दृष्टि से उच्च जातियों के सम्पर्क में रहने से निम्नकोटि की जातियाँ भी उन्नति करती हैं। अत यह मानव सभ्यता* का एक प्रमुख साधन है। जिन राज्यों में विभिन्न जातियों का सम्मिश्रण नहीं है, वे अपूर्ण हैं तथा जिनमें विभिन्न जातियों के मिश्रण का प्रभाव नष्ट हो गया है, वे निर्बल हैं।"[1]

(3) **विश्व शान्ति के लिए घातक**—इस सिद्धान्त को अपना लेने का परिणाम यह होगा कि ससार में छोटे-छोटे राज्यों की सख्या में वृद्धि हो जायेगी। छोटे-छोटे राज्यों के कारण ससार में अनेक राजनीतिक समस्याएँ उठ खड़ी होंगी। छोटे राज्य अपनी रक्षा करने में भी समर्थ नहीं होते तथा उनमें पारस्परिक सघर्ष की सम्भावना भी बढ़ जाती है। ऐसी स्थिति में बड़ी शक्तियों को उनमें हस्तक्षेप करने का अवसर आसानी से मिल जाता है। अत राष्ट्रीयता के आधार पर छोटे-छोटे राज्यों का निर्माण विश्व-शान्ति के लिए घातक है। बर्नार्ड जोजफ ने कहा है कि "एक राष्ट्र, एक राज्य का सिद्धान्त एक खतरनाक सिद्धान्त है तथा विश्व की प्रगति में मुख्य बाधा है। ससार में शान्ति और व्यवस्था की आशा इस सिद्धान्त के मानने में है कि अनेक राष्ट्रीयताएँ एक राज्य में सहयोग और शान्ति से रहें।"[2]

(4) **सकुचित राष्ट्रीयता के विकास की सम्भावना**—यदि आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के अनुसार राज्यों का निर्माण किया जाये, तो इस बात की सम्भावना अधिक है कि राष्ट्रीयता सकुचित राष्ट्रीयता का रूप धारण कर लें। सकुचित राष्ट्रीयता का तात्पर्य अपने को श्रेष्ठ समझना तथा दूसरों को हीन समझना है। यह भावना ही ससार में उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद तथा विश्वयुद्ध को जन्म देती है। हिटलर तथा मुसोलिनी के नेतृत्व में जर्मनी और इटली में ऐसी ही भावना पनपी थी। इसके विपरीत अनेक राष्ट्रीयता वाले राज्यों के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीयता को बढ़ावा मिलने की सम्भावना अधिक रहती है।

(5) **आर्थिक समृद्धि के मार्ग में बाधक**—इस सिद्धान्त को अपनाने पर ऐसे अनेक छोटे-छोटे राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना होगी जिनका आकार छोटा होगा तथा जिनके प्राकृतिक साधन भी बहुत सीमित होंगे। ऐसे छोटे राज्य अपनी जनता की आर्थिक समृद्धि में सहायक नहीं हो सकते। आर्थिक समृद्धि के अभाव में उनकी राजनीतिक स्थिति भी डाँवाडोल रहती है। एशिया तथा अफ्रीका में ऐसे अनेक राज्यों का उदय हुआ है जो आर्थिक दृष्टि से बहुत कमजोर हैं।

(6) **तानाशाही एवं सैनिक प्रवृत्ति पनपने का भय**—एक राष्ट्रीयता वाले राज्यों की जनता में अपनी जाति अथवा नस्ल की श्रेष्ठता के अहम् भाव को जाग्रत

1 **Lord Acton** : *History of Freedom and Other Essays*, p 289-98.
2 **Bernard Joseph** : *Nationality*, p 331.

करके सरलता से तानाशाही की स्थापना की जा सकती है और इस प्रकार लोगो की स्वतन्त्रता कभी भी खतरे में पड सकती है। इस प्रकार की सम्भावना अनेक राष्ट्रीयताओ वाले राज्य मे कम रहती है। इसके अतिरिक्त हर राष्ट्रीय राज्य सुरक्षा के लिए अपनी सैन्य शक्ति को बढाने का प्रयत्न करता है। निजी सुरक्षा की खोज पारस्परिक सन्देह एवं युद्ध के वातावरण को जन्म देती है। इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए प्रो० लास्की ने ठीक ही लिखा है कि **"राष्ट्रीय राज्यों की व्यवस्था तोपखाने जैसी मालूम होती है।"**[1]

(7) सिद्धान्त का पालन अव्यावहारिक एवं खतरनाक—अन्त मे, यह कहा जा सकता है कि एक राष्ट्रीय राज्य का सिद्धान्त अव्यावहारिक एवं खतरनाक है। इस सिद्धान्त को अपनाने का परिणाम यह होगा कि ससार के अनेक विद्यमान प्राचीन राज्य छिन्न भिन्न हो जायेंगे। जैसा कि गार्नर ने लिखा है कि **"इस सिद्धान्त को अपनाने का परिणाम यह होगा कि ब्रिटिश साम्राज्य से स्कॉटलैण्ड तथा वेल्स को पृथक करना होगा, बेल्जियम को वेलून तथा फ्लेमिश दो राज्यों में बाँटना होगा तथा स्विट्ज़रलैण्ड को तीन भागों में बाँटना होगा।"** इस प्रकार इस सिद्धान्त को अपनाने पर यूरोप मे लगभग 68 नये राज्यो का निर्माण करना होगा।

अत एक राष्ट्र, एक राज्य के सिद्धान्त के आलोचक बहुराष्ट्रीय राज्यो के समर्थक हैं। उनके अनुसार बहुराष्ट्रीय राज्यो में मानवता और सभ्यता दोनो की ही उन्नति होती है। ऐसे राज्य स्वतन्त्रता और सुरक्षा दोनो दृष्टियो से सर्वोत्तम हैं।

निष्कर्ष – उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि एक राष्ट्रीय राज्य का सिद्धान्त तथा बहुराष्ट्रीय राज्य का सिद्धान्त दोनो पूर्णतया दोषमुक्त नहीं हैं। एक ओर एक राष्ट्रीय राज्य के समर्थकों की यह धारणा कि प्रत्येक बहुराष्ट्रीय राज्य अवश्य निरंकुश होगा भ्रमपूर्ण प्रतीत होती है तो दूसरी ओर उसके विरोधियों की यह धारणा भी उचित प्रतीत नहीं होती कि बहुराष्ट्रीय राज्य ही स्वतन्त्रता की रक्षा की सर्वोत्तम गारण्टी है। यदि हम अन्तर्राष्ट्रीयता के आधार पर विचार करें तो हम कह सकते हैं कि बहुराष्ट्रीय राज्य श्रेष्ठ है और यदि हम सुरक्षा, आर्थिक समृद्धि तथा विश्वशान्ति के आधार पर विचार करें तो हम कह सकते हैं कि एक राष्ट्रीय राज्य श्रेष्ठ है। ऐसी स्थिति में सर्वोत्तम उपाय यही है कि मध्यम मार्ग अपनाया जाये। हमारे विचार से यदि एक राज्य मे किसी राष्ट्रीयता के लोगो की सख्या काफी अधिक है और वे यदि अपना पृथक राज्य बनाना चाहते हैं तो उन्हे ऐसा करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए और दूसरी ओर यदि वे उचित समझें तो समानता के आधार पर अन्य राष्ट्रीयताओ के साथ मिलकर एक बहुराष्ट्रीय राज्य सगठित कर लें। दोनो ही

1 "So organized, the distribution of nation states resembles nothing so much as a powder magazine."—**Laski** : *A Grammar of Politics*, p 224,

अवस्थाओं में वैयक्तिक स्वतन्त्रता, अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा और निर्बल राष्ट्रीयताओं के संरक्षण का समुचित प्रबन्ध होना चाहिए। सन् 1923 में लॉर्ड कर्जन ने लॉसेन *(Lausane)* शान्ति सम्मेलन में बोलते हुए ठीक ही कहा था कि "आत्म-निर्णय का सिद्धान्त एक दुधारी तलवार के समान है और इसे कुछ सीमाओं के साथ ही स्वीकार किया जा सकता है।"[1]

प्रो० हॉकिंग ने इस सम्बन्ध में अधिक व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाते हुए यह कहा कि एक राष्ट्रीयता को तभी अपना पृथक राज्य बनाने का अधिकार दिया जाय, जब वह इन शर्तों को स्वीकार करता हो (1) उसके पास प्राकृतिक साधन तथा अपनी पूंजी का विकास करने की क्षमता हो, (2) उसमें अच्छे कानून बनाने तथा न्याय की उचित व्यवस्था करने की क्षमता हो, (3) उसमें एक अच्छी शासन व्यवस्था कायम करने की क्षमता हो, (4) उसमें व्यापार करने तथा अपने ऋणों की अदायगी करने की क्षमता हो, (5) उसमें अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने की क्षमता हो, तथा (6) उसमें इतना सामर्थ्य हो कि वह विदेशी आक्रमणों से अपनी रक्षा कर सके।

अभ्यास के प्रश्न

1 राष्ट्र किसे कहते हैं ? राष्ट्र, राज्य तथा राष्ट्रीयता में क्या अन्तर है ?
2 राष्ट्रीयता अथवा राष्ट्रवाद की परिभाषा दीजिए। इनके मूल तत्त्व क्या हैं ?
3. राष्ट्रवाद के अर्थ एवं तत्त्वों का परीक्षण कीजिए। उन कारणों तथा परिस्थितियों को स्पष्ट कीजिए जिनके फलस्वरूप राष्ट्रवाद एक वरदान के स्थान पर अभिशाप में परिणत हो सकता है।
4 इस दृष्टिकोण की विवेचना कीजिए कि राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रवाद का एक निर्बल विकल्प है।
5 इस दृष्टिकोण का मूल्यांकन कीजिए कि धार्मिक राष्ट्रवाद एक अभिशाप है।
6 राष्ट्रीय आत्म निर्णय के सिद्धान्त से क्या तात्पर्य है ? इसके गुण तथा दोषों की विवेचना कीजिए। (राज० विश्व० पूरक, 1975)
7 राष्ट्रीय आत्म-निर्णय की अवधारणा का मूल्यांकन कीजिए।
8 राष्ट्रीय आत्म-निर्णय का सिद्धान्त एक दुधारी तलवार के समान है जो दोनों ओर काटता है। यह समाज को संगठित तथा असंगठित दोनों करता है। इसकी विवेचना कीजिए।
9 "एक ही राज्य में अनेक राष्ट्रीयताओं का साथ-साथ निवास करना उसकी स्वतन्त्रता की कसौटी तथा उसकी सुरक्षा की सर्वश्रेष्ठ गारण्टी है।" (लॉर्ड एक्टन) इस कथन की विवेचना कीजिए।
10. क्या भारत एक राष्ट्र है ? स्पष्ट कीजिए।

---

1 "The right of self-determination is like a two-edged sword and it can be admitted only with reservation." —Lord Curzon
राज० मूल तत्त्व, 9

6
राज्य तथा धर्म
[STATE AND RELIGION]

"धर्म निरपेक्ष होने का तात्पर्य अधर्मी होना अथवा संकुचित धार्मिकता पर चलना नहीं होता वरन् उसका तात्पर्य पूर्णतः आध्यात्मिक होना होता है।"
—डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन

धर्म का मानव जीवन में अत्यधिक प्रभाव रहा है। व्यक्ति का सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन, उसकी विचारधाराएँ तथा उसके कार्यकलाप धार्मिक भावनाओं से सर्वैव ही प्रेरित तथा प्रभावित रहे हैं। राजनीतिक इतिहास के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म एवं राज्य का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में अवश्य रहा है। धर्म और राज्य के सम्बन्ध को निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है :

प्राचीन एवं मध्ययुग में धर्म और राज्य का सम्बन्ध—*प्राचीन तथा मध्ययुग* में राज्यों पर धर्म का गहरा प्रभाव रहा है। प्राचीन यूनान के नगर राज्य धर्म पर आधारित थे। प्लेटो ने लिखा है कि **"राज्य को राज-धर्म की घोषणा कर देनी चाहिए और जो उसको मानने से इन्कार करे उसे दण्ड देना चाहिए।"** मिस्र में भी राजा को स्वयं ईश्वर अथवा उसका पुत्र (Vicar) माना जाता था। रोम के सम्राट को भी ईश्वर के समान मानकर उसकी पूजा की जाती थी। रोम के प्रारम्भिक कानून धार्मिक रीति-रिवाजों पर ही आधारित थे। प्राचीन काल में राज्यों का स्वरूप मुख्य रूप से धार्मिक (Theocratic) था। ऐसे राज्यों में राजा जिस धर्म का अनुयायी होता था प्रजा को उसी धर्म का पालन करना पड़ता था। राज-धर्म के अनुयायी ही राज्य के पूर्ण नागरिक समझे जाते थे और केवल उन्हें ही सभी नागरिक तथा सामाजिक अधिकार प्राप्त होते थे। जो लोग राज-धर्म को स्वीकार नहीं करते थे उन्हें भारी यातनाएँ सहनी पड़ती थीं। उनके ऊपर अनुचित कर लगाये जाते थे तथा उनकी स्वतन्त्रताओं को सीमित कर दिया जाता था। सारांश यह है कि प्राचीन काल में राजनीति पर धर्म की प्रधानता थी तथा धर्म की परिधि के बाहर राजनीति का कोई मूल्य नहीं था। मध्ययुग में भी राज्य के ऊपर धर्म अथवा चर्च या पोप की प्रधानता रही। मध्ययुग के एक प्रमुख विचारक टॉमस एक्वीनास का यह विचार था कि **"धर्म के विरुद्ध कार्य करने पर पोप राजा को भी दण्डित कर सकता है।"**

धर्म एवं राज्य के गठबन्धन का प्रभाव—धर्म और राज्य के इस गठबन्धन का व्यक्ति, राज्य तथा धर्म सभी पर ही बुरा प्रभाव पड़ा। धर्म के नाम पर राजाओं के द्वारा निर्दोष जनता पर भारी अत्याचार किये गये, उसका शोषण किया गया तथा उसे राज्य की उचित एवं अनुचित सभी आज्ञाओं को ईश्वरीय आज्ञा के रूप में पालन करने के लिए बाध्य किया गया। इस तरह धर्म के नाम पर व्यक्ति के व्यक्तित्व और उसकी स्वतन्त्रता का दमन किया गया। राज्य तथा धर्म के गठबन्धन का दूसरा बुरा परिणाम यह हुआ कि अन्य धर्मों के मानने वाले लोग राज्य के प्रति उदासीन हो गये। राज्य के ऊपर धर्माधिकारियों का अनुचित प्रभाव रहने के कारण राज्यों का स्वतन्त्र विकास रुक गया।

इसके अतिरिक्त इस गठबन्धन का तीसरा बुरा परिणाम यह हुआ कि राज्य के आश्रय में रहने के कारण धर्म का रूप भी विकृत हो गया। लोक धर्म के वास्तविक स्वरूप को भूल गये तथा आडम्बरों, अन्धविश्वासों एवं धर्माधिकारियों की आज्ञाओं को ही धर्म मानने लगे। इस तरह हम देखते हैं कि धर्म और राजनीति का सम्मिश्रण व्यक्ति, राज्य तथा धर्म सभी के लिए अहितकर सिद्ध हुआ।

आधुनिक युग में धर्म एवं राज्य का सम्बन्ध—पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप राज्य के कार्यों में धर्म के अनावश्यक हस्तक्षेप के विरुद्ध आवाज उठने लगी। मैकियावली पहला विचारक था जिसने राजनीति को धर्म से पृथक किया। मार्टिन लूथर तथा जॉन काल्विन ने भी राजनीति में धर्म के हस्तक्षेप की निन्दा की। अठारहवीं शताब्दी में फ्रांसीसी विचारक मॉण्टेस्क्यू (Montesquieu) ने धार्मिक सहिष्णुता पर जोर देकर धर्म निरपेक्ष विचारों को प्रोत्साहन दिया। सम्प्रभुता के सिद्धान्त के विकास ने राजनीति को धर्म से केवल पृथक ही नहीं किया बल्कि धर्म को राजनीति के अधीन बना दिया। वर्तमान समय में समाजवादी विचारकों ने धर्म निरपेक्षता के सिद्धान्त को और अधिक बल प्रदान किया है। अब प्रायः सभी इस बात को मानने लगे हैं कि राज्य और धर्म एक-दूसरे से स्वतन्त्र रहने चाहिए। इन विचारों के आधार पर अब राज्य के जिस स्वरूप का विकास हुआ है, उसे धर्म निरपेक्ष राज्य कहा जाता है।

धर्म निरपेक्षता एक ऐसा सिद्धान्त है जो देश के नागरिकों में किसी भी आधार पर कोई भेद-भाव नहीं करता और जो सभी को किसी भी धर्म को अपनाने [redacted] छोड़ने का अधिकार देता है। लॅयबजी ने ठीक ही कहा है कि "धर्म निरपेक्षता एक ऐसा बृहद घेरा है जिसके अन्तर्गत कई रंग, रूप तथा सुगन्ध [redacted] हजारों फूल खिलते हैं।' आधुनिक काल में धर्म निरपेक्षता के प्रबल समर्थकों में थोरो, जॉन रस्किन, महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

धर्म-निरपेक्ष राज्य
(Secular State)

धर्म-निरपेक्ष राज्य का स्वरूप—धर्म निरपेक्ष राज्य में तीन सिद्धान्त निहित

है—प्रथम तो धर्म निरपेक्ष राज्य वह राज्य होता है जो धर्म तथा राजनीतिक की पृथकता में विश्वास करता है तथा जिसमें राज्य का अपना कोई धर्म नहीं होता अर्थात् राज्य न तो किसी धर्म विशेष को मान्यता ही देता है और न किसी धर्म का विरोध ही करता है। राज्य की दृष्टि में सब धर्म समान होते हैं तथा राज्य की नीतियाँ किसी धर्म द्वारा निर्धारित नहीं होती बल्कि सामाजिक कल्याण द्वारा निर्धारित होती हैं। द्वितीय धर्म निरपेक्ष राज्य में व्यक्ति को किसी भी धर्म का पालन करने अथवा उसे छोड़ने का अधिकार होता है। ऐसा राज्य धर्म को आत्मिक विश्वास की वस्तु मानता है जिससे राज्य का कोई सम्बन्ध नहीं होता। धर्म के क्षेत्र में राज्य की नीति व्यक्ति को स्वतन्त्र छोड़ देने की (the doctrine of Laissez Faire) होती है। तृतीय, धर्म निरपेक्ष राज्य में नागरिकता किसी धर्म के आधार पर प्रदान नहीं की जाती बल्कि सभी धर्मों के लोगों को समान रूप से प्रदान की जाती है।

उपरोक्त सिद्धान्तों के आधार पर धर्म निरपेक्ष राज्य की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि "धर्म-निरपेक्ष राज्य वह राज्य होता है जिसमें न तो किसी धर्म विशेष को संरक्षण प्रदान किया जाता है और न राज्य द्वारा किसी धर्म का प्रचार, प्रसार, नियन्त्रण व निषेध ही किया जाता है। राज्य की दृष्टि में सब धर्म समान होते हैं तथा धर्म के प्रति राज्य का दृष्टिकोण धार्मिक सहिष्णुता का होता है। राज्य सभी नागरिकों को बिना किसी प्रकार के धार्मिक भेदभाव के समान सुविधाएँ प्रदान करता है।"

धर्म निरपेक्ष राज्य की परिभाषा—विभिन्न विचारकों के द्वारा धर्म निरपेक्ष राज्य की जो परिभाषाएँ की गई हैं, वे निम्नलिखित हैं :

(1) वेंकटारमण के शब्दों में, "धर्म-निरपेक्ष राज्य वह राज्य है जो न तो धार्मिक होता है न अधार्मिक होता है और न धर्मविरोधी होता है बल्कि वह धार्मिक कार्यकलापों तथा विभिन्न मत-मतान्तरों से पूर्णतया पृथक रहता है और इस प्रकार वह धार्मिक मामलों में तटस्थ रहता है।"[1]

(2) हरिविष्णु कामथ के शब्दों में "एक धर्म निरपेक्ष राज्य न तो ईश्वर-रहित राज्य ही है, न वह अधर्मी राज्य ही है और न वह धर्मविरोधी राज्य ही है।"

(3) पं० जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में "धर्म-निरपेक्ष राज्य का अर्थ है धर्म और आत्मा की स्वतन्त्रता, जिनका कोई धर्म नहीं उनके लिए भी स्वतन्त्रता, इसका तात्पर्य सब धर्मों के लिए स्वतन्त्रता से है। इसका अर्थ सामाजिक और राजनीतिक समानता है।"

---

1 "A secular polity is neither religious nor irreligious, nor anti-religious but is wholly detached from religious dogmas and activities and is thus neutral in religious matters."

—Venkataraman

(4) सी० राजगोपालाचारी ने संविधान सभा में कहा था कि "धर्म-निरपेक्ष राज्य का अर्थ यह है कि राज्य किसी धर्म को न तो प्रोत्साहित करेगा, न किसी भी धर्म का विरोध करेगा, बल्कि सभी धर्मों और विचारों के प्रति निष्पक्षता का दृष्टिकोण अपनायेगा।"

(5) लक्ष्मीकान्त मैत्र ने भी संविधान सभा में इस सम्बन्ध में यह कहा था कि "धर्म निरपेक्ष राज्य से मेरा तात्पर्य यह है कि ऐसा राज्य धर्म या जाति के आधार पर किसी भी व्यक्ति के विरुद्ध कोई भेदभाव नहीं करता। दूसरा अर्थ यह है कि राज्य की ओर से किसी धर्म विशेष को मान्यता प्रदान नहीं की जायेगी।"

(6) डोनाल्ड ई० स्मिथ के शब्दों में, "धर्म निरपेक्ष राज्य व्यक्तिगत और सामूहिक रूप में धार्मिक स्वतन्त्रता की गारण्टी देता है। वह व्यक्ति के साथ, उसके धर्म का विचार किये बिना, एक नागरिक के रूप में व्यवहार करता है। संवैधानिक दृष्टि से वह किसी भी धर्म से सम्बन्धित नहीं होता तथा न तो वह किसी धर्म की उन्नति के लिए प्रयत्न करता है और न ही धर्म में हस्तक्षेप करता है।"[1]

धर्म-निरपेक्ष राज्य की उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि धर्म निरपेक्ष राज्य न तो अधार्मिक होता है और न धर्मविरोधी। ऐसे राज्य के नागरिकों अथवा सरकारी कर्मचारियों को ईश्वर में विश्वास रखने, किसी भी धर्म को मानने तथा उसका पालन करने की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। टी० के० टोप ने ठीक ही लिखा है कि "भारत के धर्म-निरपेक्ष होने का यह अर्थ नहीं है कि इसमें ईश्वर के अस्तित्व को नहीं माना जाता। भारतीय संविधान में ईश्वर के अस्तित्व को मान्यता प्रदान की गई है। देश के प्रमुख पदाधिकारी पद ग्रहण करते समय ईश्वर के नाम पर शपथ ले सकते हैं।"

धर्म-निरपेक्ष राज्य की विशेषताएँ

धर्म निरपेक्ष राज्य की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

(1) राज्य का अपना कोई धर्म नहीं होता—धर्म निरपेक्ष राज्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि राज्य का अपना कोई धर्म नहीं होता। धर्म के सम्बन्ध में प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। राज्य की दृष्टि में सभी धर्म समान होते हैं। राज्य न तो किसी धर्म को संरक्षण देता है और न किसी का विरोध करता है। सभी धर्मों के अनुयायियों को शान्तिपूर्वक अपने धर्म का प्रचार करने की स्वतन्त्रता रहती है। अतः धर्म-निरपेक्ष राज्य धर्म के मामलों में तटस्थ रहता है।

---

1 'The Secular State is a state which guarantees individual and corporate freedom of religions, deals with the individual as a citizen irrespective of his religion, who is not constitutionally connected to a particular religion nor, does it seek either to promote or interfere with religion."—**Donald E. Smith**, *India as a Secular State*, p. 4

(2) **यह अधार्मिक या धर्मविरोधी नहीं होता**—यद्यपि धर्म-निरपेक्ष राज्य धार्मिक मामलों में तटस्थ रहता है परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ऐसा राज्य ईश्वरविरोधी या नास्तिक, अधार्मिक या धर्मविरोधी होता है ऐसे राज्य को हम भौतिकवादी, अनाचारी तथा अनैतिक भी नहीं कह सकते । वस्तुतः धर्म-निरपेक्ष राज्य सत्य, अहिंसा, प्रेम, विश्व बन्धुत्व आदि उच्च कोटि के आध्यात्मिक सिद्धान्तों में अटूट आस्था रखता है । ये सिद्धान्त ऐसे नैतिक आदर्श हैं जिनका धर्म से गहरा सम्बन्ध है परन्तु जिन्हें धर्म निरपेक्ष होते हुए भी राज्य अपना सकता है ।

(3) **धर्म को आन्तरिक विश्वास की वस्तु मानता है**—धर्म-निरपेक्ष राज्य धर्म को व्यक्ति के आन्तरिक विश्वास की वस्तु मानता है । ऐसा राज्य धर्म को समाज तथा राज्य का कार्य न मानकर व्यक्ति का निजी कार्य मानता है । यह इस सिद्धान्त में विश्वास करता है कि धर्म राज्य द्वारा नियन्त्रित अथवा सचालित नहीं होना चाहिए । धर्म के क्षेत्र में ऐसा राज्य व्यक्ति को स्वतन्त्र छोड़ देने की नीति का अनुसरण करता है ।

(4) **धार्मिक कट्टरता का विरोध करता है**—धर्म निरपेक्ष राज्य धार्मिक सहिष्णुता का समर्थन होने के कारण धार्मिक कट्टरता का विरोध करता है । यह धार्मिक कट्टरता (bigotry) को राष्ट्रीय एकता तथा सार्वजनिक कल्याण के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा मानता है । अत यह राष्ट्रीय हित में धर्मान्धता को पनपने नहीं देता और यदि कोई धर्म समाज अथवा राष्ट्रहित के विपरीत धर्मान्धता को बढ़ावा देता है तो राज्य ऐसे धर्म के मामलों में हस्तक्षेप करना अपना कर्तव्य समझता है ।

(5) **सर्वाधिकारवाद का विरोध करता है**—सर्वाधिकारवाद का तात्पर्य यह है कि राज्य को व्यक्ति के जीवन के सभी क्षेत्रों में हस्तक्षेप करने, उन पर नियन्त्रण रखने तथा इनका सचालन करने का अधिकार है । धर्म-निरपेक्ष राज्य इस प्रकार की सर्वाधिकारवादी धारणा का विरोध करता है । उसकी मान्यता यह है कि धर्म व्यक्ति के आन्तरिक विश्वास की वस्तु है । इसका सम्बन्ध उसके व्यक्तिगत जीवन से है, अत व्यक्ति को उसमें पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए । राज्य व्यक्ति के धार्मिक जीवन में तब तक हस्तक्षेप न करे, जब तक कि ऐसा करना सार्वजनिक हित में आवश्यक न हो जाय । दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि धर्म-निरपेक्ष राज्य का आदर्श इस मान्यता पर आधारित है कि राज्य का अधिकार-क्षेत्र सर्वव्यापी न होकर सीमित होना चाहिए ।

(6) **धार्मिक सहिष्णुता के विचार पर आधारित होता है**—धर्म-निरपेक्ष राज्य की एक विशेषता यह है कि वह धार्मिक सहिष्णुता अथवा बहुजातीयता के विचार पर आधारित होता है । प्राय प्रत्येक राज्य में अनेक जातियाँ निवास करती हैं जिनके अपने अलग अलग धर्म अथवा धार्मिक विश्वास होते हैं । ये सभी धार्मिक विश्वास उचित रूप से पनप सकें तथा व्यक्ति के उत्थान में अपना योग दे सकें, इसके

लिए यह आवश्यक है कि राज्य तथा उसके समस्त नागरिक सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता की नीति अपनाएँ। हर धर्म के अनुयायी दूसरे धर्मों के प्रति आदर व सम्मान का भाव रखें और किसी के प्रति असहिष्णुता न बरतें। गांधीजी के शब्दों मे "ससार के सभी धर्म एक विशाल वृक्ष की पत्तियों के समान हैं और विभिन्न धर्मों [redacted] अनुयायी आपस मे एक दूसरे के साथ प्रसन्नतापूर्वक रह सकते हैं।"

(7) धर्म-निरपेक्ष राज्य मौलिक रूप से लोकतन्त्रात्मक है—धर्म-निरपेक्ष राज्य का आदर्श मौलिक रूप से लोकतन्त्रात्मक है। वस्तुत इसे 'आध्यात्मिक लोकतन्त्र' का नाम दिया जा सकता है। लोकतन्त्र ही एक ऐसी व्यवस्था है जिसमे व्यक्ति की समानता तथा स्वतन्त्रता पर जोर दिया जाता है। धर्म-निरपेक्ष राज्य लोकतन्त्र के इन दोनों आधारभूत सिद्धान्तों को कार्य रूप प्रदान करता है। धर्म-निरपेक्ष राज्य सभी धर्मों को समान समझता है तथा धर्म के आधार पर किसी भी नागरिक के साथ कोई भेदभाव नही करता। इसके अतिरिक्त वह धर्म के क्षेत्र मे व्यक्ति को आत्म-निर्णय का अधिकार प्रदान करता है कि व्यक्ति जिस धर्म को चाहे उसका पालन तथा प्रचार करें। इस तरह धर्म-निरपेक्ष राज्य धर्म के क्षेत्र मे समानता तथा स्वतन्त्रता के आदर्शों पर जोर देता है।

(8) लोककल्याण पर आधारित होता है—धर्म निरपेक्ष राज्य अपने सभी नागरिकों के कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहता है। यह बिना किसी प्रकार [redacted] भेदभाव [redacted] समस्त नागरिको के कल्याण के लिए योजनाएँ बनाता है तथा लोक कल्याणकारी संस्थाओं की स्थापना करता है। ऐसा राज्य अपने समस्त नागरिकों के जीवनस्तर को ऊँचा उठाने के लिए कार्यरत रहता है। अत धर्म निरपेक्ष राज्य का मुख्य लक्ष्य जनकल्याण होता है।

(9) सभी नागरिकों को समान अधिकार प्रदान करता है—धर्म निरपेक्ष राज्य में सभी नागरिकों को बिना किसी प्रकार के भेदभाव के समान रूप [redacted] सामाजिक तथा राजनीतिक अधिकार प्रदान किए जाते हैं। ऐसे राज्य मे नागरिकता किसी धर्म विशेष के अनुयायी को ही प्रदान नही की जाती। सरकारी नौकरियाँ तथा शासन [redacted] उच्च पद सभी जातियों तथा धर्मों के लोगों को समान रूप से प्राप्त करने का अधिकार होता है। डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने इस सम्बन्ध मे लिखा है कि "नागरिक या राजनीतिक अधिकारो के उपभोग, सार्वजनिक क्षेत्र मे नियुक्ति, सम्मान प्राप्ति या उद्योगों के सचालन आदि के सम्बन्ध मे धार्मिक मतमतान्तर के आधार पर कोई भेदभाव नही किया जाता।"[1]

(10) राज्य द्वारा धार्मिक शिक्षा प्रदान नहीं की जाती—धर्म निरपेक्ष राज्य स्वय धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था नही करता तथा यह उन संस्थाओं को आर्थिक सहायता भी प्रदान नही करता जिनके पाठ्यक्रम मे धार्मिक शिक्षा का समावेश रहता

---

1 Dr Radha Kumud Mukerjee *Problems of Minorities*, p 84

है । यदि राज्य के द्वारा पाठ्यक्रम में किसी धर्म विशेष की शिक्षाओं का समावेश कर दिया जाय तो इसके परिणामस्वरूप विभिन्न धर्मावलम्बियों में मतभेद तथा संघर्ष की सम्भावना बढ़ जाएगी । अतः धर्म-निरपेक्ष राज्य न तो स्वयं ऐसी शिक्षण संस्थाओं की स्थापना करता है और न ऐसी शिक्षण संस्थाओं को अनुदान ही देता है जो धार्मिक शिक्षा प्रदान करती हैं । धार्मिक शिक्षा के अभाव में राज्य को नागरिकों के नैतिक विकास के लिए पाठ्यक्रम में नैतिक शिक्षा का समावेश अवश्य करना चाहिए ।

(11) सभी धर्म राज्य के कानून के अधीन होते हैं—धर्म-निरपेक्ष राज्य का तात्पर्य यह नहीं है कि सभी धर्मों को मनमानी करने की छूट है । यदि किसी धर्म के प्रचारक या अनुयायी दूसरे धर्मों के प्रति घृणा फैलाते हैं या कोई ऐसा कार्य करते हैं जो सार्वजनिक हित के विपरीत हो तो राज्य कानून द्वारा ऐसे प्रचार तथा कार्यों पर प्रतिबन्ध लगा सकता है । इसी तरह यदि किसी धर्म के पदाधिकारी अनुचित साधनों से धन एकत्रित करते हैं या धर्म की सम्पत्ति का दुरुपयोग करते हैं या अनैतिकता को बढ़ावा देते हैं तो ऐसी स्थिति में भी राज्य को उन पर नियन्त्रण लगाने का पूरा अधिकार है अतः धर्म-निरपेक्ष राज्य में सभी धर्म, उनके पदाधिकारी, उन धर्मों की सम्पत्ति इत्यादि सभी राज्य के कानूनों के अधीन होते हैं ।

धर्म निरपेक्ष राज्य के आदर्श का मूल्यांकन

विपक्ष में तर्क—राज्य की धर्म-निरपेक्षता के सिद्धान्त की कटु आलोचना की जाती है । जिन आधारों पर इस सिद्धान्त की आलोचना की गई है, वे निम्नलिखित हैं

(1) राज्य का आधार भौतिक होता है—धर्म-निरपेक्ष राज्य के बारे में यह कहा जाता है कि धर्म से पृथक होने के कारण ऐसा राज्य भौतिकता पर आधारित होता है । इस प्रकार के राज्य में मनुष्यों के केवल भौतिक हितों की ही साधना होती है तथा मानव-जीवन के आध्यात्मिक और नैतिक पहलुओं की उपेक्षा की जाती है । प्रो० पुणताम्बेकर (Puntambekar) ने तो यहां तक कहा है कि "इसके अन्तर्गत किसी धर्म अथवा नैतिकता के लिए कोई स्थान नहीं होता और उन्हें विश्वास एवं आस्था की वस्तु समझा जाता है । ' धर्म निरपेक्ष राज्य आदर्शवादी राज्य हो ही नहीं सकता' " यह न तो प्राचीन धार्मिक विचारधाराओं पर हो सकता है और न आधुनिक सांस्कृतिक विचारधाराओं पर ही ।"

(2) धार्मिक शिक्षा के अभाव में मनुष्य का पतन हो जाता है—धर्म निरपेक्ष राज्य में राज्य के द्वारा धार्मिक शिक्षा प्रदान नहीं की जाती है । धार्मिक शिक्षा के अभाव में व्यक्ति के मन में धर्म अथवा ईश्वर का भय जैसी चीज नहीं रहती और इसके अभाव में व्यक्ति भ्रष्ट, बेईमान, अकर्मण्य तथा अनैतिक बन जाता है । ऐसी स्थिति में नैतिक अथवा अनैतिक किसी भी प्रकार के साधनों से अपने भौतिक हितों की साधना करना ही मनुष्य का लक्ष्य बन जाता है । वह सार्वजनिक हित के कार्यों से हटकर निजी स्वार्थ-पूर्ति के कार्यों में लग जाता है ।

(3) **राज्य के छिन्न भिन्न होने का भय रहता है**—धर्म निरपेक्ष राज्य पर एक आरोप यह लगाया जाता है कि ऐसे राज्य में सभी लोगों को अपनी इच्छानुसार कोई भी धर्म मानने तथा उसका प्रचार करने की स्वतन्त्रता होती है। धार्मिक मतभेदों के कारण राज्य में धार्मिक एकता का अभाव रहता है। धार्मिक एकता के अभाव में, जो राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधे रहती है, राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने का भय बना रहता है। आलोचकों का यह विश्वास है कि यदि राज्य एक ही धर्म को मान्यता दे तो उसके कारण राज्य में धार्मिक एकता रहेगी। धार्मिक एकता के फलस्वरूप राष्ट्रीय एकता कायम होगी, जिससे राज्य को स्थायित्व प्राप्त होगा।

(4) **राज्य अधिनायकवादी बन सकता है**—धर्म निरपेक्ष राज्य पर एक आरोप यह लगाया जाता है कि ऐसे राज्य में धार्मिक तथा नैतिक भावनाओं का पोषण न होने के कारण यह सरलतापूर्वक विकृत हो सकता है तथा अवसर पाकर तानाशाही अथवा अधिनायकवादी बन सकता है। धर्म का अंकुश राज्य के संचालकों को सदैव नियन्त्रण में रखता है। धर्म का अंकुश हट जाने पर शासक नैतिकता जैसी उच्च भावनाओं की परवाह नहीं करते। ऐसी स्थिति में यह आशंका रहती है कि अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के नाम पर कोई एक व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह सत्ता को अपने हाथ में ले ले और मनमाने ढंग से शासन करने लगे।

(5) **ऐसा राज्य लोककल्याणकारी नहीं बन सकता**—धर्म निरपेक्ष राज्य की एक आलोचना यह की जाती है कि ऐसा राज्य कभी भी लोक-कल्याणकारी राज्य नहीं हो सकता। इसका कारण यह बताया जाता है कि व्यक्ति में समाज सेवा अथवा लोक-कल्याण की भावना का जन्म नैतिक आदर्शों और धार्मिक मान्यताओं की प्रेरणा से होता है। परन्तु धर्म-निरपेक्ष राज्य धार्मिक विषयों तथा नैतिक आदर्शों के प्रति उदासीन रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि धर्म निरपेक्ष राज्य में व्यक्ति के अन्दर लोककल्याण की भावनाओं के स्थान पर स्वार्थपूर्ण भावनाओं का विकास होता है। इसलिए यह कहा जाता है कि धर्म निरपेक्ष राज्य लोककल्याणकारी नहीं हो सकता।

(6) **बहुसंख्यक वर्ग की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँचती है**—धर्म निरपेक्ष राज्य पर एक आरोप यह लगाया जाता है कि ऐसे राज्य में धर्म की दृष्टि से बहु-संख्यक तथा अल्पसंख्यक दोनों वर्गों को समान स्तर पर रखा जाता है तथा अल्प-संख्यकों के हित में बहुसंख्यकों की भावना और हितों की अवहेलना की जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि बहुमत धर्म वाले लोग जो राज्य में अपने लिए विशेष स्थान की कामना करते हैं, अपनी भावनाओं की उपेक्षा किए जाने पर धर्म-निरपेक्ष राज्य के कार्यों के प्रति उदासीन हो जाते हैं तथा राज्य के प्रति उनकी निष्ठा भी कम हो जाती है।

पक्ष में तर्क—धर्म निरपेक्ष राज्य की उपर्युक्त आलोचनाओं में कोई सार नहीं है। वस्तुतः धर्म-निरपेक्ष राज्य आधुनिक युग की सबसे बड़ी माँग है, जिसके बिना

लोकतन्त्र और लोककल्याण के लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। उपर्युक्त आलोचनाओं का खण्डन करते हुए धर्म-निरपेक्ष राज्य के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते हैं

(1) **राज्य का आधार भौतिक नहीं होता**—धर्म निरपेक्ष राज्य के विरोध में यह कहा गया है कि उसका आधार भौतिक होता है तथा उसमें नैतिक एवं आध्यात्मिक हितों की उपेक्षा की जाती है। यह आलोचना इस त्रुटिपूर्ण धारणा पर आधारित है कि शायद आलोचक धर्म-निरपेक्ष राज्य को अधार्मिक या धर्मविरोधी समझते हैं। वस्तुतः धर्म-निरपेक्ष राज्य धर्मविरोधी नहीं होता। यद्यपि राज्य का अपना कोई धर्म नहीं होता परन्तु वह सभी धर्मों को इस बात का पूर्ण अवसर प्रदान करता है कि वे व्यक्ति के नैतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान में अपना योगदान दे सकें। अतः वास्तविकता तो यह है कि धर्म निरपेक्ष राज्य में ही उच्चकोटि की नैतिक भावनाओं, जैसे प्रेम, सत्य, अहिंसा, विश्व-बन्धुत्व, इत्यादि, का विकास सम्भव हो सकता है।

(2) **राष्ट्रीय एकता को सम्भव बनाता है**—धर्म निरपेक्ष राज्य पर एक आरोप यह लगाया जाता है कि इसमें धार्मिक एकता के अभाव के कारण राष्ट्रीय एकता नहीं रह पाती। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि सच्ची राष्ट्रीय एकता धर्म-निरपेक्ष राज्य में ही सम्भव होती है। इसका कारण यह है कि यदि राज्य किसी धर्म विशेष को अपनाकर उसी को संरक्षण प्रदान करे तो अन्य धर्मों के अनुयायी उससे ईर्ष्या करने लगेंगे। इसके परिणामस्वरूप धार्मिक एकता के स्थान पर धार्मिक वैमनस्य एवं धार्मिक संघर्ष को बढ़ावा मिलेगा और राष्ट्रीय एकता खतरे में पड़ जायेगी। इसके विपरीत धर्म निरपेक्ष राज्य सभी धर्मों को स्वतन्त्रता तथा समानता का स्तर प्रदान करके राष्ट्रीय एकता को सम्भव बनाता है। भारतीय संविधान-निर्माताओं की यही धारणा थी कि धर्म-निरपेक्षता ही राज्य की एकता को बनाये रख सकती है, इसीलिए संविधान में भारत को एक धर्म निरपेक्ष राज्य घोषित किया गया है।

(3) **अधिनायकवाद का विरोधी एवं लोकतन्त्र का पूरक है**—आलोचकों ने यह आरोप लगाया है कि धर्म निरपेक्ष राज्य विकृत होकर सरलता से तानाशाही अथवा अधिनायकवाद का रूप ग्रहण कर लेता है। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि धर्म निरपेक्ष राज्य की अपेक्षा धर्म प्रधान राज्य के ही अधिनायकवादी बनने की सम्भावना अधिक रहती है। धर्म-निरपेक्ष राज्य का शासन के स्वरूप से कोई सम्बन्ध नहीं होता। शासन का रूप चाहे लोकतन्त्रात्मक हो या अधिनायकवादी हो, चाहे राजतन्त्र हो या कुलीनतन्त्र हो, चाहे अध्यक्षात्मक हो या संसदीय हो, सभी रूपों में धर्म निरपेक्षता के उद्देश्य को प्राप्त किया जा सकता है। धर्म-निरपेक्षता का सम्बन्ध आध्यात्मिक तथा धार्मिक स्वतन्त्रता से है। जहाँ तक राज्यों के विकृत अथवा अधि-नायकवादी होने का सम्बन्ध है उसकी सम्भावना धर्म प्रधान राज्य में इसलिए अधिक

रहती है कि ऐसे राज्य मे शासक अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि बताकर मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे हस्तक्षेप करना तथा अन्य धर्मों के अनुयायियो पर अत्याचार करना अपना दैवी अधिकार समझता है। इसके विपरीत धर्म निरपेक्ष राज्य का विचार मूल रूप मे लोकतन्त्रात्मक है, क्योंकि धर्म निरपेक्ष राज्य का आधार सभी धर्मों को समानता का स्तर प्रदान करना तथा सभी व्यक्तियो को धर्म की स्वतन्त्रता प्रदान करना है।

(4) लोक कल्याण धर्म-निरपेक्ष राज्य मे ही सम्भव है—धर्म-निरपेक्ष राज्य के आलोचकों का यह कथन, कि ऐसा राज्य लोककल्याणकारी राज्य नही बन सकता, वास्तविकता के विपरीत है। वस्तुत लोककल्याण एक धर्म-निरपेक्ष राज्य मे ही सम्भव हो सकता है। धर्म-निरपेक्ष राज्य अपने नागरिकों के साथ धर्म के आधार पर कोई भेद-भाव नही करता तथा सभी नागरिकों के विकास के लिए समानरूप से प्रयत्नशील रहता है, जबकि धर्म-प्रधान राज्य अपने व्यक्तियो के बीच भेद करता है। इसके अतिरिक्त सभी धर्मों को विकास का समान अवसर प्रदान करके धर्म-निरपेक्ष राज्य अप्रत्यक्ष रूप से अपने नागरिकों के नैतिक और आध्यात्मिक गुणो के विकास मे सहायक होता है। अत लोककल्याण धर्म निरपेक्ष राज्य का लक्ष्य एव आदर्श है। डा० उमाकान्त सक्सेना के शब्दो मे, "धर्म-निरपेक्ष राज्य एक लोककल्याणकारी राज्य होता है और अनेक धर्मों वाले राज्य मे तो लोककल्याण की सिद्धि इसी से सम्भव है।"

(5) विश्वबन्धुत्व की भावना का विकास करता है—धर्म निरपेक्ष राज्य का आदर्श विश्वबन्धुत्व की भावना का विकास करता है। धर्म निरपेक्ष राज्य सभी धर्मों की स्वतन्त्रता तथा समानता के सिद्धान्त पर जोर देता है और इस प्रकार वह विभिन्न धर्मों के अनुयायियो मे आपस मे प्रेम, सेवा, सहयोग, सहिष्णुता, दया आदि गुणों का विकास करता है। ये ही गुण विश्वबन्धुत्व की भावना मे सहायक होते हैं। यदि एक राज्य मे सभी धर्मों के मानने वाले लोग प्रेमपूर्वक तथा शान्ति के साथ आपस मे मिलकर रह सकते हैं तो ससार के सभी राज्यो तथा सभी धर्मों के लोग भी इसी आधार पर प्रेमपूर्वक तथा शान्ति के साथ मिलकर क्यो नही रह सकते? अत धर्म निरपेक्ष राज्य का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीयता, विश्वबन्धुत्व तथा विश्व राज्य का मार्ग प्रशस्त करता है।

(6) धार्मिक अत्याचार की सम्भावना नहीं रहती—इतिहास मे ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जब धर्म प्रधान राज्यो के शासको ने दूसरे धर्म के अनुयायियों पर भारी अत्याचार किये। किन्तु धर्म-निरपेक्ष राज्य मे इस प्रकार के अत्याचारो की सम्भावना नहीं रहती। इसका कारण यह है कि धर्म-निरपेक्ष राज्य का सविधान किसी एक जाति या धर्म के लिए नही होता। उसमे नागरिकता किसी धर्म विशेष के आधार पर प्रदान नही की जाती। उसमे राज्य के उच्च पद तथा सरकारी नौकरियों को प्राप्त करने का सभी को समान अधिकार होता है। अत ऐसी स्थिति मे बहुमत धर्म के लोगो द्वारा अल्पमत धर्म के लोगो पर अत्याचार करने की सम्भावना

नही रहती। फिर भी यदि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाए तो राज्य के कानूनों द्वारा अल्पमतों के विश्वासों तथा हितों की रक्षा की जाती है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि धर्म-निरपेक्ष राज्य में अल्पमत धर्मों के लोग भी अपने आपको पूर्ण सुरक्षित समझते हैं तथा उनसे राष्ट्रीय एकता को कोई खतरा नही रहता। राज्य की धर्म निरपेक्षता वर्तमान युग की मांग तथा उसका आदर्श है। धर्म निरपेक्षता किसी राज्य को सच्चा लोकतन्त्र और लोककल्याणकारी राज्य बनाने मे सहायक होती है।

भारत एक धर्म-निरपेक्ष राज्य

भारत के संविधान मे भारत को एक धर्म निरपेक्ष राज्य का स्वरूप प्रदान किया गया है। इसका अर्थ यह है कि पाकिस्तान की तरह भारत गणराज्य का अपना कोई धर्म नही। भारत प्राचीनकाल से ही विभिन्न धर्मों के बीच आपसी सद्भाव का समर्थक रहा है। इसलिए स्वतन्त्रता के पश्चात् राज्य द्वारा किसी एक धर्म को मान्यता अथवा संरक्षण प्रदान करना उचित नही समझा गया। भारत मे सभी धर्मों की समानता के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। राज्य धार्मिक मामलो मे तटस्थ तथा निष्पक्ष है। धर्म लोगो का निजी मामला है। भारत के सभी नागरिको को अपनी इच्छानुसार किसी भी धर्म को मानने तथा उसके अनुसार आचरण करने की पूरी स्वतन्त्रता है। भारत मे धर्म के आधार पर नागरिको के साथ कोई भेद-भाव नही किया जाता। नागरिकता की प्राप्ति का आधार कोई धर्म विशेष नही है। इसके अतिरिक्त साम्प्रदायिक या पृथक निर्वाचन प्रणाली को समाप्त कर दिया गया है तथा उसके स्थान पर संयुक्त निर्वाचन प्रणाली को अपनाया गया है।

धर्म निरपेक्षता के आदर्श को प्राप्त करने के लिए भारतीय संविधान मे निम्न लिखित व्यवस्थाएँ अपनाई गई है

(1) संविधान की प्रस्तावना—अभी तक संविधान मे कही पर भी भारत को स्पष्ट रूप से धर्म निरपेक्ष राज्य घोषित नही किया गया था परन्तु संविधान के 42वें संशोधन के द्वारा संविधान की प्रस्तावना मे 'धर्म निरपेक्ष' शब्द जोड़ दिया गया है। अब भारतीय संविधान की प्रस्तावना के अनुसार "**भारत एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न, लोकतन्त्रात्मक, धर्म निरपेक्ष समाजवादी गणराज्य**" होगा। संविधान की प्रस्तावना मे सभी नागरिको को विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म तथा उपासना की स्वतन्त्रता प्रदान की गई है।

(2) कानून के समक्ष समानता—संविधान के अनुच्छेद 14 के अनुसार भारत क्षेत्र मे राज्य किसी भी व्यक्ति को कानून के समक्ष समानता या कानून के समान संरक्षण से वंचित नही करेगा।

(3) सामाजिक समानता—संविधान म सामाजिक समानता की भी स्थापना की गई है। संविधान के अनुच्छेद 15 के अनुसार राज्य के द्वारा किसी भी व्यक्ति

के साथ धर्म के आधार पर कोई भेद-भाव नहीं किया जायेगा। सार्वजनिक स्थानों के उपयोग करने का सभी धर्मों के लोगों को समान अधिकार होगा।

(4) **सरकारी नौकरियों में समान अवसर**—अनुच्छेद 16 के अनुसार सब नागरिकों को सरकारी नौकरियाँ तथा पद प्राप्त करने के समान अवसर प्राप्त होंगे और इस सम्बन्ध में धर्म के आधार पर कोई भेद-भाव नहीं किया जायेगा।

(5) **अस्पृश्यता का अन्त**—अनुच्छेद 17 के द्वारा अस्पृश्यता अथवा छुआछूत का अन्त कर दिया गया है। जो व्यक्ति किसी भी रूप में छुआछूत का व्यवहार करेगा, वह कानून के अनुसार दण्ड का भागी होगा।

(6) **धार्मिक स्वतन्त्रता**—अनुच्छेद 25 के द्वारा सभी लोगों को अन्तःकरण की स्वतन्त्रता प्रदान की गई है तथा सभी को कोई भी धर्म मानने, उसका पालन करने एवं उसका प्रचार करने का अधिकार होगा।

(7) **धार्मिक मामलों का प्रबन्ध करने की स्वतन्त्रता**—अनुच्छेद 26 के द्वारा सभी धर्मों के लोगों को धर्म सम्बन्धी निजी मामलों की स्वयं ही व्यवस्था करने, धार्मिक संस्थाएँ कायम करने, धार्मिक उद्देश्यों के लिए चल एवं अचल सम्पत्ति ग्रहण करने तथा उक्त सम्पत्ति का प्रबन्ध करने का अधिकार होगा।

(8) **धार्मिक कार्यों के लिए दिये जाने वाला धन करमुक्त**—अनुच्छेद 27 में कहा गया है कि राज्य किसी भी व्यक्ति को किसी धर्म विशेष की उन्नति या पोषण के लिए कर देने के लिए बाध्य नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त धार्मिक या परोपकारी कार्यों के लिए खर्च की जाने वाली सम्पत्ति पर कोई कर नहीं लगाया जायेगा।

(9) **धार्मिक शिक्षा का विरोध**—अनुच्छेद 28 में कहा गया कि सरकारी शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा नहीं दी जायेगी। सरकार से आर्थिक सहायता प्राप्त करने वाली गैर-सरकारी शिक्षण संस्था द्वारा भी किसी को उसकी इच्छा के विरुद्ध धार्मिक शिक्षा ग्रहण करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता।

(10) **सांस्कृतिक स्वतन्त्रता**—अनुच्छेद 29 के द्वारा सभी वर्गों को अपनी भाषा, लिपि तथा संस्कृति को बनाये रखने तथा उसका विकास करने का अधिकार है। अनुच्छेद 30 के अनुसार अल्पसंख्यकों को अपनी इच्छानुसार शिक्षण संस्थाएँ स्थापित करने का अधिकार है।

(11) **नागरिकता का अधिकार**—भारतीय नागरिकता अधिनियम, 1955 के अनुसार धर्म के आधार पर नागरिकता की शर्तों में कोई भेद नहीं किया जाता।

संविधान के उपरोक्त उपबन्धों से यह स्पष्ट है कि भारत एक धर्म-निरपेक्ष राज्य है। संविधान सभा में यह बात स्पष्ट कर दी गई थी कि धर्म-निरपेक्षता का तात्पर्य अधार्मिक या धर्मविरोधी होना नहीं है। जैसा कि डा० राधाकृष्णन् ने कहा है कि "भारत राज्य वास्तव में धार्मिक राज्य है जो सभी धर्मों के सार मानव धर्म में

विश्वास करता है।" भारत के सर्वोच्च पदाधिकारी पद ग्रहण करते समय ईश्वर के नाम पर शपथ ले सकते हैं तथा धार्मिक उपासना में भाग ले सकते हैं। भारत सच्चे अर्थों में एक धर्म-निरपेक्ष राज्य इसलिए है कि भारत सरकार ने समय समय पर सभी धर्मों के सम्मेलनों उत्सवों तथा समारोहों को सफल बनाने में सब प्रकार की सहायता तथा सहयोग दिया है।

अभ्यास के प्रश्न

1. धर्म एवं राजनीति में क्या सम्बन्ध होना चाहिए ? इस सन्दर्भ में, धर्म-निरपेक्ष राज्य की अवधारणा का परीक्षण करें।
2. धर्म-निरपेक्ष राज्य की परिभाषा कीजिए। क्या धर्मविरोधी राज्य धर्म-निरपेक्ष राज्य हो सकता है ? (राज० विश्व०, 1975)
3. धर्म-निरपेक्ष राज्य की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
4. धर्म-निरपेक्ष राज्य के पक्ष और विपक्ष में तर्क दीजिए।
5. क्या आप इस मत से सहमत हैं कि केवल एक धर्म-निरपेक्ष राज्य ही व्यापक जनकल्याण का संरक्षक हो सकता है ? अपने दृष्टिकोण के समर्थन में तर्क दीजिए।
6. धर्म-निरपेक्ष राज्य के सिद्धान्त की समीक्षा कीजिए। भारतीय परिस्थितियों के आधार पर अपने उत्तर में उदाहरण दीजिए।

   (राज० विश्व०, 1973 पूरक)
7. क्या भारत एक धर्म-निरपेक्ष राज्य है ? सिद्ध कीजिए।

7

राज्य का स्वरूप

[NATURE OF STATE]

"राज्य की उत्पत्ति, स्वरूप, क्षेत्र, कार्य एवं उद्देश्य के सम्बन्ध में प्रत्येक विचारधारा कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों का समर्थन करती है और ये सिद्धान्त रूप एवं तथ्य की दृष्टि से प्रायः एक दूसरे से भिन्न हैं।"[1]

—गार्नर

राज्य के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोण

राज्य के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया गया है। उदाहरणार्थ, जीवशास्त्री राज्य को एक प्राणी के समान मानते हैं, समाजशास्त्री उसे एक सामाजिक संगठन या सामाजिक तथ्य मानते हैं, मनोवैज्ञानिक उसे एक मानसिक रचना मानते हैं, इतिहासकार उसे ऐतिहासिक विकास का परिणाम मानते हैं, आदर्शवादी उसे जनता की यथार्थ इच्छा का प्रतीक मानते हैं, राजनीतिशास्त्री उसे एक राजनीतिक संस्था मानते हैं जिसकी स्थापना शान्ति, व्यवस्था और शासन के लिए हुई है, नीतिशास्त्री उसे एक ऐसी संस्था मानते हैं जिसका ध्येय नैतिक लक्ष्य की प्राप्ति है, यथार्थवादी उसे शक्ति अथवा बल प्रयोग का प्रतीक मानते हैं, विधिशास्त्री उसे एक ऐसी संस्था मानते हैं जिसका उद्देश्य कानून की रचना करना, कानूनी अधिकारों की रक्षा करना तथा अधिकारों एवं कर्तव्यों में सामंजस्य स्थापित करना है, और मार्क्सवादी उसे शासक वर्ग द्वारा दूसरे वर्गों पर आधिपत्य जमाने का एक साधन मानते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न विज्ञानों के विद्वानों में राज्य के स्वरूप के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। उन्होंने राज्य के सम्बन्ध में अपने-अपने

---

1 "Each is partisan of particular theories regarding the origin, nature, sphere, function and ends of the state and their various theories often differ, one from another in form and substance."
—Garner : *Political Science and Government*, pp 187-88

दृष्टिकोणों से विचार किया है तथा अपने अपने दृष्टिकोणों के अनुसार राज्य के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इन सिद्धान्तों में से यहाँ हम कुछ अधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का वर्णन करेंगे।

विधि-शास्त्रीय सिद्धान्त
(The Juridical Theory)

विधि विशेषज्ञों के विचार—विधिशास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार राज्य का स्वरूप कानूनी है। उनके अनुसार राज्य एक ऐसी संस्था है जिसका उद्देश्य कानूनों का निर्माण करना, उनकी व्याख्या करना तथा उनको कार्यरूप में परिणत करना है। राज्य स्वयं भी कानून के अनुसार तथा कानून के द्वारा कार्य करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य कानूनों का आदि स्रोत है क्योंकि न्यायालय केवल उसी नियम को काम में लायेंगे, जो राज्य द्वारा कानून का रूप धारण कर चुका है। इसके अनुसार केवल वे ही बातें वैध हैं जो राज्य के कानून द्वारा मान्य होती हैं। कानून निर्माण के सम्बन्ध में राज्य की शक्ति असीम होती है तथा उसका क्षेत्र सर्वव्यापक होता है, कानूनों की व्याख्या करने का एकमात्र अधिकार उसका ही होता है तथा उसे यह भी अधिकार होता है कि कानूनों का उल्लंघन करने वालों को वह दण्ड दे सके। साधारण शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि 'राज्य कानून है तथा कानूनों का एकमात्र स्रोत राज्य है।"

राज्य का कानूनी व्यक्तित्व—राज्य के स्वरूप को कानूनी मानने के साथ-साथ विधिशास्त्री यह निष्कर्ष भी निकालते हैं कि राज्य का एक कानूनी व्यक्तित्व (Legal personality) होता है जो उसके निवासियों के सामूहिक व्यक्तित्व तथा उनके अलग अलग व्यक्तित्व से भिन्न होता है। राज्य का अपना व्यक्तित्व, अपनी इच्छा, अपने हित तथा अधिकार होते हैं जो उसके व्यक्तियों के अधिकारों तथा हितों से भिन्न होते हैं। वे यह भी मानते हैं कि राज्य का कानूनी व्यक्तित्व काल्पनिक या कृत्रिम नहीं होता अपितु उसी प्रकार वास्तविक होता है जिस प्रकार एक मनुष्य का व्यक्तित्व। व्यक्तियों के समान राज्य की अपनी सम्पत्ति होती है जिसे वह बेच सकता है तथा और सम्पत्ति खरीद सकता है। वह व्यक्तियों पर मुकदमा चला सकता है तथा व्यक्ति उस पर मुकदमा चला सकते हैं। राज्य के हित एवं अधिकार उसकी प्रजा के हितों एवं अधिकारों से इसलिए भिन्न होते हैं क्योंकि राज्य एक स्थायी तथा सनातन संस्था है, जबकि व्यक्ति अस्थायी होते हैं। वह केवल वर्तमान प्रजा [illegible] हितों एवं अधिकारों का ही संरक्षक नहीं है वरन् उसे भावी पीढ़ियों के अधिकारों तथा हितों की भी रक्षा करनी होती है। इसके अतिरिक्त व्यक्तियों के हित परस्परविरोधी होते हैं जबकि राज्य का हित सामूहिक हित होता है। अतः राज्य का पृथक कानूनी व्यक्तित्व होता है।

राज्य के कानूनी व्यक्तित्व की कल्पना सर्वप्रथम 19वीं शताब्दी में जर्मनी के विचारक स्टाल (Stahl), स्टीन (Stein) गर्बर (Gerber), गियर्के (Gierke),

ट्रीटश्के (Treitschke), ब्लुन्त्ली (Bluntschli) तथा जेलिनेक आदि ने की थी। गियर्क का तो यह विचार था कि केवल राज्य का ही नहीं वरन् अन्य मानव-संस्थाओं का भी कानूनी तथा वास्तविक व्यक्तित्व होता है। अंग्रेज विचारक मेटलैण्ड ने भी गियर्क के विचारों का समर्थन किया है। ब्लुन्त्ली ने कानूनी अर्थ में राज्य को एक परम श्रेष्ठ व्यक्ति मानते हुए कहा है कि "राज्य की अपनी कानूनी इच्छा होती है जो उसके निवासियों की सामूहिक इच्छा से भिन्न होती है। राज्य में अपनी इच्छा को शब्दों एवं कार्यों में अभिव्यक्त करने की शक्ति होती है। वह अधिकारों का जन्मदाता है तथा उसके अपने पृथक अधिकार होते हैं। राज्य का व्यक्तित्व एक कानूनी कल्पना तथा रूपक नहीं है बल्कि वह वास्तविक है।"

आलोचना—विधिशास्त्रीय सिद्धान्त की कड़ी आलोचना करने वालों में प्रो० ड्यूग्वी (Duguit) तथा लॉ फर (La Fur) अधिक प्रमुख हैं। ड्यूग्वी का विचार है कि "राज्य के व्यक्तित्व की कल्पना एक आध्यात्मिक भावना है तथा प्राचीन विद्वानों के विचारों पर निर्भर है जिनका आज कोई मूल्य नहीं है। यह कल्पना अवैज्ञानिक भी है।" राज्य के व्यक्तित्व के सबसे प्रबल विरोधी प्रो० लॉफर का विचार है कि "राज्य के कानूनी व्यक्तित्व की बात कोरी कल्पना है जिसमें वास्तविकता का तनिक भी अंश नहीं है। इसे कोई वास्तविक शक्ति अथवा अधिकार देने की बात करना नितान्त अनुचित है। यह मिथ्या और भयंकर है।" आलोचकों ने इस बात को स्वीकार नहीं किया है कि राज्य कानूनों का आदि स्रोत है। ड्यूग्वी के अनुसार, "कानून राज्य के अस्तित्व से पहले का होने के कारण राज्य की इच्छा से स्वतन्त्र है। अतः राज्य कानून से बाध्य है और वह उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता।" जर्मनी के बाहर के अनेक विधि विशेषज्ञ राज्य के वास्तविक व्यक्तित्व की धारणा को सही नहीं मानते।

इस सम्बन्ध में वास्तविकता तो यह है और जिससे अधिकांश विधिशास्त्री सहमत हैं कि जब वे राज्य को एक कानूनी व्यक्तित्व मानकर उसका वर्णन करते हैं तो इससे उनका आशय यह नहीं होता कि राज्य एक वास्तविक व्यक्ति है बल्कि यह होता है कि राज्य एक प्रभुत्व-सम्पन्न संस्था है तथा एक संस्था के रूप में उसकी भी सामूहिक इच्छा, कानूनी क्षमता और सामूहिक कार्य करने की सत्ता होती है जो उसमें रहने वाले व्यक्तियों की इच्छा, क्षमता एवं सत्ता से उसी प्रकार भिन्न होती है जैसे एक निजी संस्था के अधिकार तथा दायित्व उसके हिस्सेदारों के दायित्वों एवं अधिकारों से भिन्न होते हैं। जो गुण व्यक्ति में होते हैं वे कानून की कल्पना के अनुसार राज्य में भी आरोपित कर दिये गये हैं। अतः राज्य एक व्यक्ति के रूप में माना जाता है, वह वास्तव में व्यक्ति नहीं है।

सिद्धान्त का महत्व—विधिशास्त्रीय सिद्धान्त का महत्व वस्तुतः इस बात में है कि इसके द्वारा हमें राज्य के स्वरूप को समझने में सहायता मिलती है। यदि हम विचारपूर्वक देखें तो हमें राज्य का स्वरूप अनेक बातों में व्यक्ति जैसा दिखाई देगा

है। उदाहरणार्थ, राज्य की अपनी सम्पत्ति होती है जिस पर उसका पूर्ण अधिकार होता है, राज्य के अपने लक्ष्य होते हैं जिनकी प्राप्ति के लिए वह प्रयत्नशील होता है, राज्य स्वयं दूसरों पर मुकदमा चला सकता है तथा दूसरे उस पर मुकदमा चला सकते हैं, इत्यादि। राज्य की ये सब विशेषतायें व्यक्ति से मिलती हैं। अतः तुलना की दृष्टि से यह सिद्धान्त विशेष उपयुक्त है। इससे राज्य के पहन यन्त्र को ठीक-ठीक समझने में सहायता मिलती है।

सावयव अथवा आंगिक सिद्धान्त—
(Organic Theory)

सावयव सिद्धान्त का अर्थ—सावयव सिद्धान्त राज्य को एक जीव या प्राणी के रूप में मानता है। इसके अनुसार राज्य एक जीवित शरीर है। राज्य और व्यक्ति में वही आत्मीय सम्बन्ध है जो जीवधारी और उसके विविध अंगों में होता है। यह सम्बन्ध चार रूपों में स्पष्ट किया जा सकता है (i) जिस प्रकार एक प्राणी-शरीर के अनेक अंग होते हैं तथा उनसे मिलकर एक पूर्ण शरीर बनता है, उसी प्रकार राज्य के विभिन्न अंग व्यक्ति होते हैं जिनसे मिलकर राज्य का निर्माण होता है। (ii) जिस प्रकार शरीर से पृथक होकर उसके अंगों का कोई अस्तित्व नहीं रहता, उसी प्रकार राज्य से पृथक होकर व्यक्तियों का भी कोई अस्तित्व नहीं रहता है। (iii) जिस प्रकार प्राणी शरीर उसके विभिन्न अंगों का केवल समूह मात्र ही नहीं है बल्कि उन अंगों से पृथक उसका अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व होता है, उसी प्रकार राज्य भी व्यक्तियों का समूह मात्र नहीं है बल्कि उन व्यक्तियों से पृथक भी उसका अपना अस्तित्व होता है। (iv) इसके अतिरिक्त जिस प्रकार प्राणी शरीर विकासशील होता है तथा धीरे धीरे उसका विकास होता है, उसी प्रकार राज्य का भी विकास होता रहता है। इस तरह सावयव सिद्धान्त विधिशास्त्रीय सिद्धान्त के समान राज्य को एक काल्पनिक कानूनी व्यक्ति न मानकर उसे एक वास्तविक व्यक्ति मानता है। गार्नर ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "राज्य का सावयव सिद्धान्त एक जीवशास्त्रीय कल्पना है जिसके अनुसार राज्य को एक जीवधारी व्यक्ति माना जाता है तथा राज्य [illegible] व्यक्तियों को जीवधारी के कोष्ठों (cells) के समान समझा जाता है। राज्य तथा व्यक्तियों के बीच ठीक वैसा ही अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है जैसा सम्बन्ध शरीर और उसके अंगों [illegible] बीच होता है।"[1]

---

1 "The Organismic theory is a biological conception which describes a state in terms of natural science, views the individuals who compose it as analogous to the cells of a plant or animal and postulates a relation of interdependence between them and society, [illegible] exists between the organs and parts of a biological organism and the whole structure."—Garner *Political Science and Government*, pp 194-95.

सिद्धान्त का विकास—राज्य के स्वरूप के सम्बन्ध में जितने भी सिद्धान्त हैं, उनमें सावयव सिद्धान्त सबसे अधिक प्राचीन तथा सबसे अधिक प्रसिद्ध है। प्लेटो ने राज्य की तुलना एक विराट मनुष्य से की है अर्थात् उसके अनुसार व्यक्ति राज्य का छोटा रूप है तथा राज्य व्यक्ति का बड़ा रूप है। उसने मानव आत्मा के तीन गुणों—*विवेक, साहस तथा सांसारिक इच्छा अथवा तृष्णा*—के आधार पर समाज को तीन वर्गों—शासक, सैनिक तथा उत्पादक—में विभाजित किया है। अरस्तू ने भी राज्य के गठन की तुलना व्यक्ति के शरीर के गठन से की है। रोमन विचारक सिसरो ने भी राज्य की तुलना व्यक्ति के शरीर से की है। उसने राज्य के प्रधान को मानव शरीर पर शासन करने वाली आत्मा के समान बताया था। अनेक मध्यकालीन विचारकों, जैसे—जॉन ऑफ सेलिसबरी, सन्त टॉमस एक्वीनास, मार्सीलियो ऑफ पेडुवा, एल्थूसियस (Althusius) इत्यादि—ने राज्य और मानव शरीर के बीच ऐसी ही तुलनाएँ की हैं। आधुनिक युग के प्रारम्भ में हॉब्स ने राज्य को लेवियाथन (Leviathan) अर्थात् एक विशालकाय काल्पनिक महामानव माना है। उसने राज्य की प्रभुत्व शक्ति की तुलना मानव की आत्मा से, मजिस्ट्रेटों की तुलना शरीर के जोड़ों से तथा राज्य की दुर्बलताओं की तुलना मानव शरीर के रोगों से की है। इसी प्रकार रूसो ने भी मानव शरीर से राज्य की समता दिखाई है। उसने राज्य की विधायी शक्ति की तुलना मनुष्य के हृदय से तथा कार्यपालिका शक्ति की तुलना उसके मस्तिष्क से की है।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में सावयव सिद्धान्त को एक नया रूप प्राप्त हुआ। प्राचीन और मध्ययुग के विचारकों ने राज्य और मानव शरीर के बीच केवल समानता ही बताई थी। उनका यह विचार था कि राज्य जीवधारी या मानव शरीर से मिलता जुलता है परन्तु 19वीं शताब्दी के विचारक तो इससे आगे बढ़ गये और उन्होंने राज्य को स्वयं एक जीवधारी या मानव शरीर ही बता दिया। इस नवीन विचारधारा का जन्म जर्मनी में हुआ और वहाँ इसे अन्य विचारकों के साथ-साथ फिक्टे (Fichte) तथा ब्लुश्ली जैसे विचारकों का भी भारी समर्थन प्राप्त हुआ। ब्लुश्ली ने इस सिद्धान्त को उच्चतम शिखर पर पहुँचा दिया। उसने बतलाया कि 'राज्य मानव शरीर की प्रतिमूर्ति ही है।'[1] उसकी दृष्टि में राज्य कोई जीवनरहित कृत्रिम यन्त्र नहीं है अपितु वह सजीव जीवात्मा है। उसने तो इस तुलना में यहाँ तक कह डाला कि व्यक्तियों के समान राज्य में भी लिंग-भेद होता है। उसके अनुसार राज्य पुल्लिंग अर्थात् पुरुषोचित गुणों से युक्त तथा चर्च स्त्रीलिंग अर्थात् स्त्रियोचित गुणों से युक्त है। वह राज्य को एक जीवित आध्यात्मिक प्राणी मानता है। उसके शब्दों में, 'जिस प्रकार एक तैल चित्र तेल के बिन्दुओं मात्र से अधिक कुछ और वस्तु है, जिस प्रकार पत्थर की मूर्ति संगमरमर के टुकड़ों से अधिक कुछ और है, जिस

1 "The state is the very image of human organism."—Bluntschli

प्रकार एक मनुष्य जीवाणुओं तथा रक्त कणों का योग मात्र न होकर उससे अधिक कुछ और होता है, उसी प्रकार राष्ट्र नागरिकों के समूह मात्र से तथा राज्य बाहरी नियमों के संग्रह मात्र से अधिक कुछ और होता है।"

(1) हरबर्ट स्पेन्सर एवं सावयव सिद्धान्त—यद्यपि सावयव सिद्धान्त एक बहुत प्राचीन सिद्धान्त है परन्तु आधुनिक युग में इस सिद्धान्त की सबसे विशद व्याख्या इंगलैण्ड के विचारक हरबर्ट स्पेन्सर ने की है और इस कारण यह सिद्धान्त स्पेन्सर के नाम के साथ जुड़ गया है। उसने समाज की जीवधारी के शरीर से विस्तृत तुलना की है। उसके मतानुसार समाज एक प्राकृतिक शरीर है जो अन्य जीवधारियों से मुख्य बातों में भिन्न नहीं है। उसने अपनी पुस्तक 'समाजशास्त्र के सिद्धान्त' तथा अन्य रचनाओं में राज्य और प्राणी शरीर के बीच अनेक समानताएँ बताई हैं जो निम्नलिखित हैं

समानताएँ—(1) जन्म में समानता—प्राणी शरीर तथा राज्य दोनों का ही प्रारम्भ एक जीवाणु के रूप में होता है जिनका आकार समान तथा सरल होता है।

(2) विकास में समानता—राज्य तथा प्राणी शरीर दोनों का विकासक्रम एक समान है। दोनों ही समानता तथा सरलता से असमानता और जटिलता की दिशा में बढ़ते हैं। जैसे जैसे जीवों के अंगों का विकास होता है, वैसे-वैसे उनकी बनावट में जटिलता आती जाती है। सबसे क्षुद्र जीव के शरीर की बनावट बिल्कुल साधारण होती है। इसी प्रकार समाज अपनी प्रारम्भिक अवस्था में एक साधारण समुदाय था। समय की गति के साथ बढ़ते बढ़ते उसका स्वरूप जटिल तथा मिश्रित होता गया जिसमें श्रम विभाजन की आवश्यकता पड़ने लगी। अतः जीव के विकास की भाँति समाज में भी अलग अलग काम करने वाले नवीन अंगों का विकास होता है।

(3) अंगों की पारस्परिक निर्भरता—जीवधारी शरीर तथा राज्य दोनों में अंग प्रत्यंग एक दूसरे पर आश्रित होते हैं। सुचारु रूप से कार्य करने के लिए राज्य भी व्यक्तियों पर उसी प्रकार निर्भर है जैसे कि जीवधारी शरीर अपने अंगों पर निर्भर है। जिस प्रकार जीवधारी का स्वास्थ्य एवं सुरक्षा उसके अंगों के स्वास्थ्य पर निर्भर करती है उसी प्रकार राज्य का स्वास्थ्य, शक्ति तथा समृद्धि उसके व्यक्तियों तथा वर्गों पर निर्भर करती है। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंगों द्वारा ठीक प्रकार से कार्य न किये जाने पर सारे शरीर को हानि पहुँचती है, उसी प्रकार समाज में यदि लुहार अपना काम न करें, किसान अन्न का उत्पादन न करें तथा व्यापारी अन्न-वस्त्र का वितरण ठीक प्रकार से न करें तो पूरे समाज को हानि पहुँचेगी।

(4) संगठन में समानता—प्राणी शरीर तथा राज्य के संगठन में भी एक-रूपता पाई जाती है। शरीर में जैसे पोषण एवं अन्न पाचन की क्रिया होती है, वैसे ही समाज में उत्पादन की प्रणाली होती है। जिस प्रकार शरीर में रक्तवाहिनियाँ होती हैं उसी प्रकार समाज में यातायात के साधन होते हैं तथा शरीर में जिस प्रकार

स्नायु-मण्डल (मस्तिष्क) काम करता है उसी प्रकार राज्य मे सरकार एव सेना होती है। इस प्रकार मनुष्य के शरीर के समान राज्य मे भी पोषण, वितरण और नियन्त्रण की व्यवस्थाएँ होती हैं।

(5) विनाशक्रम में समानता—राज्य एव प्राणी शरीर मे परिवर्तन क्रम की भी समानता है। जिस प्रकार प्राणी शरीर मे कोष्ठ तथा रक्ताणु निरन्तर बदलते रहते हैं जिससे शरीर नष्ट होता रहता है और बनता रहता है, उसी प्रकार राज्य मे भी मनुष्य मरते रहते हैं तथा उनके स्थान पर नवीन व्यक्ति जन्म लेते रहते हैं और राज्य-सगठन सदैव कायम रहता है।

इस प्रकार स्पेन्सर के अनुसार, राज्य और प्राणी शरीर दोनो की उत्पत्ति, विकास और क्षय के एक समान नियम हैं।

असमानताएँ—मानव शरीर तथा राज्य मे इतनी समानताएँ होते हुए भी स्पेन्सर ने यह स्वीकार किया है कि इन दोनो मे दो आधारभूत असमानताएँ हैं। ये असमानताएँ निम्नलिखित हैं

(1) अगो की पारस्परिक निर्भरता में अन्तर—प्राणी शरीर के अग एक-दूसरे के साथ तथा सम्पूर्ण शरीर के साथ अभिन्न रूप से सम्बद्ध होते हैं, उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही होता तथा शरीर से पृथक कर देने पर वे स्वत नष्ट हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, हाथ या पैर को शरीर से अलग कर देने पर उसका कोई अस्तित्व और महत्व नही रहता परन्तु राज्य के अग अर्थात् व्यक्ति राज्य के साथ इतने अटूट रूप म सम्बद्ध नहीं होते। उनका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। यदि उन्हे राज्य से पृथक कर दिया जाये अथवा राज्य नष्ट हो जाये तो भी उनका अस्तित्व बना रहेगा, वे मर नही जायेंगे।

(2) चेतना शक्ति का अन्तर—दोनो मे एक दूसरा महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि प्राणी शरीर मे चेतना शक्ति एक स्थान पर अर्थात् मस्तिष्क मे केन्द्रित होती है और शरीर के सभी भाग उस चेतना शक्ति के पूर्ण रूप से अधीन होते हैं। शरीर के अगो की अपनी पृथक-पृथक चेतना शक्ति नही होती। इसके विपरीत राज्य मे चेतना का कोई सामान्य केन्द्र नहीं होता तथा प्रत्येक व्यक्ति की अपनी पृथक-पृथक चेतना शक्ति होती है जो दूसरो से पूर्णतया स्वतन्त्र होती है।

उपर्युक्त असमानताओ के आधार पर स्पेन्सर यह निष्कर्ष निकालना चाहता है कि यद्यपि राज्य एक जीवधारी शरीर के समान है परन्तु व्यक्ति का राज्य मे वह स्थान नहीं हो सकता जो शरीर के एक अग का समूचे शरीर म होता है। स्पेन्सर व्यक्तिवाद मे विश्वास करता था। अत वह इन असमानताओ को बताकर इस परिणाम पर पहुँचना चाहता है कि समाज अपने सदस्यों के हित के लिए बना है, सदस्य समाज के हित के लिए नहीं है तथा अपने सदस्यों से पृथक समाज का कोई अस्तित्व नहीं है।

स्पेन्सर के अतिरिक्त कुछ अन्य विचारको ने भी सावयव सिद्धान्त का समर्थन

किया है, इनमे आस्ट्रिया के विचारक एलबर्ट शेफले (Schaffle), रूसी विचारक पॉल लिलियनफेल्ड (Lilienfeld) तथा फ्रांसीसी विचारक ऑगस्ट कॉम्टे (Comte), फौली (Fouille), रेने वार्म्स (Rene Worms) आदि अधिक प्रमुख हैं ।

सावयव सिद्धान्त की आलोचना—प्राणी शरीर तथा राज्य की तुलना अथवा राज्य को एक जीवधारी मानना चाहे जितना आकर्षक तथा सुन्दर लगे परन्तु वास्तविकता यह है कि राज्य तथा प्राणी शरीर में केवल ऊपरी समानता है। यह सिद्धान्त राज्य के स्वरूप की वैज्ञानिक व्याख्या नहीं करता तथा इसके आधार पर अनेक भ्रमपूर्ण निष्कर्ष निकाल लिए जाते हैं। अनेक विचारकों ने इस सिद्धान्त के प्रयोग में सतर्कता बरतने की चेतावनी दी है। लॉर्ड एक्टन ने इस प्रकार की समानताओं, रूपकों तथा अलंकारों के मायाजाल के विरुद्ध जो चेतावनी दी है, उसका सदैव ध्यान रखा जाना चाहिए। जेलिनेक का तो ऐसा मत है कि "इस सिद्धान्त को बिल्कुल अस्वीकार कर देना चाहिए, अन्यथा इसमें जो कुछ सत्य है उपमाओं के असत्य द्वारा उसके छिप जाने का अन्देशा है।" वस्तुतः यह सिद्धान्त केवल तुलना के आधार पर ही खड़ा किया गया है। इस सिद्धान्त की आलोचना निम्नलिखित आधारों पर की जाती है

(1) दोनों में समानता केवल ऊपरी है— राज्य के व्यक्तियों की प्राणी शरीर के कोषों से समानता केवल ऊपरी है, वास्तविक नहीं। शरीर के कोष पदार्थ के केवल टुकड़े मात्र हैं, उनका न तो कोई पृथक अस्तित्व ही होता है और न कोई स्वतन्त्र विचार, चेतना तथा इच्छा शक्ति ही होती है। इसके विपरीत व्यक्ति एक विवेकशील प्राणी होता है, उसमें पृथक चेतना, इच्छा शक्ति तथा आत्मसंयम की क्षमता होती है और उनका जीवन बहुत कुछ राज्य के जीवन से स्वतन्त्र होता है। इस सम्बन्ध में बार्कर ने ठीक ही कहा है कि "राज्य एक प्राणी नहीं है, वह केवल प्राणी के समान है। वह प्राणी इसलिए नहीं है क्योंकि उसका कोई भौतिक शरीर नहीं है।"

(2) अंगों की सम्बद्धता समान नहीं है—शरीर के विभिन्न अंग एक-दूसरे से तथा पूरे शरीर से इतने घनिष्ठ होते हैं कि न तो वे स्वयं ही एक-दूसरे से पृथक हो सकते हैं और न वे शरीर से ही पृथक हो सकते हैं। यदि शरीर के किसी अंग को काट डाला जाये तो उसका अस्तित्व कायम नहीं रह सकेगा, परन्तु राज्य के अंग अर्थात् व्यक्तियों में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं होता। यदि राज्य से कोई व्यक्ति अलग हो जाय तो उसका अस्तित्व नहीं मिट जाता, वह राज्य से अलग हो जाने पर भी व्यक्ति तो बना ही रहेगा।

इसके अतिरिक्त शरीर के अंगों का बाहरी वस्तुओं अथवा प्राणियों से कोई स्वतन्त्र सम्पर्क नहीं होता, किन्तु यह बात व्यक्तियों के ऊपर लागू नहीं होती। उनके कार्य और जीवन राज्य की परिधि तक सीमित नहीं होते।

(3) जन्म का सिद्धान्त भिन्न है—एक प्राणी शरीर के जन्म के लिए दो

प्राणियों के सहयोग की आवश्यकता है, परन्तु राज्य के जन्म के लिए दो राज्यों का सहयोग आवश्यक नहीं है।

(4) व्यक्ति अपना स्थान स्वयं निर्धारित करता है—शरीर के सभी अंग अपने-अपने स्थान पर स्थायी रूप से जमे [illegible] हैं। प्रत्येक अंग का स्थान एवं कार्य कुछ प्राकृतिक शक्तियों द्वारा निर्धारित किया जाता है, न कि स्वयं अंगों द्वारा। इसके विपरीत, प्रत्येक व्यक्ति एक सीमा तक स्वयं अपने भाग्य का निर्माता होता है तथा समाज में उसके स्थान का निर्धारण राज्य नहीं करता और न उसके कार्यों का नियमन ही पूर्णतया राज्य के द्वारा किया जाता है।

(5) विकास, ह्रास तथा मृत्यु सम्बन्धी नियम भिन्न हैं—विकास, ह्रास तथा मृत्यु सम्बन्धी नियम जो एक मानव शरीर के ऊपर लागू होते हैं, वे राज्य के ऊपर लागू नहीं होते। मानव शरीर के विकास के निश्चित स्तर होते हैं जैसे बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था तथा अन्त में मृत्यु, किन्तु इस प्रकार के विकास के निश्चित स्तर राज्य में नहीं पाये जाते और न वह व्यक्ति के समान वृद्ध होकर मृत्यु को प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त, शरीर की वृद्धि एवं विकास प्राकृतिक नियमों के अनुसार स्वतः तथा आन्तरिक रूप से होता है। शरीर की वृद्धि में मनुष्य की इच्छा-शक्ति का कोई हाथ नहीं होता। उसके अंगों में यह शक्ति नहीं होती कि वे शरीर की वृद्धि तथा विकास की गति को बदल सकें या उसके आकार में कुछ जोड़ सकें। इसके विपरीत राज्य में परिवर्तन होता है, वृद्धि नहीं और यह परिवर्तन बाहरी होता है तथा इसमें मनुष्यों की इच्छा शक्ति एवं उनके प्रयत्नों का बहुत योग रहता है। जेलिनेक ने कहा है कि "विकास पतन तथा मृत्यु राज्य के जीवन की आवश्यक प्रक्रियायें नहीं हैं यद्यपि प्राणी-शरीर के जीवन से इन्हें अलग नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार एक वृक्ष या प्राणी शरीर नया जन्म ग्रहण करता है, उस प्रकार राज्य का जन्म या पुनरुद्धार नहीं होता।"[1]

(6) अस्पष्ट तथा लचीला सिद्धान्त है—सावयव सिद्धान्त बहुत ही अस्पष्ट तथा लचीला सिद्धान्त है। इसके आधार पर राज्य के कार्यक्षेत्र का निर्धारण करना बहुत कठिन है। भिन्न-भिन्न लेखकों ने इस सिद्धान्त के आधार पर राज्य के कार्यों के विषय में परस्पर विरोधी निष्कर्ष निकाले हैं। उदाहरणार्थ, स्पेन्सर ने इस सिद्धान्त का उपयोग व्यक्तिवाद के समर्थन के लिए किया है परन्तु हक्सले (*Hurley*) तथा बार्कर ने उसके निष्कर्षों को गलत बताते हुए यह कहा कि इस सिद्धान्त का परिणाम निरंकुश शासन तथा समाजवाद के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। गेटेल ने ठीक

1 "Growth, decline and death are not the necessary processes of state life though they are inseparable from the life of organism The State does not originate or renew itself, as a plant or an animal does."
— Jellineck

ही कहा है कि "सावयव सिद्धान्त राज्य के स्वरूप की कोई सन्तोषजनक व्याख्या नहीं है और न वह राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में एक विश्वसनीय मार्गदर्शक ही है।"[1]

(7) सावयव सिद्धान्त के खतरनाक परिणाम हो सकते हैं—यदि सावयव सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाय तो व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए इसके खतरनाक परिणाम निकलेंगे। जिस प्रकार शरीर में उसके अंगों का स्थान गौण होता है, उसी प्रकार राज्य में भी व्यक्ति का स्थान गौण तथा साधनमात्र रह जायेगा। इस सिद्धान्त के फलस्वरूप व्यक्ति की स्वतन्त्रता उसका स्वतन्त्र अस्तित्व तथा उसके अधिकारों का महत्त्व समाप्त हो जायेगा और राज्य के व्यक्तित्व में उसका व्यक्तित्व विलीन हो जायेगा। ये मान्यतायें अप्रजातान्त्रिक हैं तथा निश्चित रूप में तानाशाही को जन्म देने वाली हैं। इन मान्यताओं के परिणामस्वरूप ही जर्मनी में नाजीवाद तथा इटली में फासिज्म का उदय हुआ। बार्कर के शब्दों में, "यह सिद्धान्त राज्य की सत्ता की वृद्धि के साथ-साथ नागरिक अधिकारों की रक्षा का असफल प्रयत्न करता है।"

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि हरबर्ट स्पेन्सर ने सावयव सिद्धान्त का प्रयोग व्यक्तिवाद के समर्थन के लिए किया परन्तु वास्तविकता तो यह है कि सावयव सिद्धान्त तथा व्यक्तिवाद में कोई तालमेल नहीं है। बार्कर ने ठीक ही लिखा है कि "जीव-विज्ञान तथा व्यक्तिवाद दो ऐसे बेमेल घोड़े सिद्ध हुए हैं जो गाड़ी को दो विरोधी दिशाओं में खींचते हैं।"[2]

सावयव सिद्धान्त का महत्त्व—उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद भी सावयव सिद्धान्त का अपना एक मूल्य और महत्त्व है। वस्तुतः राज्य के स्वरूप तथा व्यक्ति एवं राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध को समझने के लिए यह सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी है। इसने राज्य की एकता पर तथा व्यक्तियों की अन्योन्याश्रितता पर जोर दिया और इस बात का प्रतिपादन किया कि राज्य से अलग होकर मनुष्य सभ्य एवं व्यवस्थित जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। जैसा कि लीकॉक ने लिखा है कि "शरीर के साथ हाथ का अथवा पेड़ के साथ पत्तों का जो सम्बन्ध है वही सम्बन्ध समाज के साथ मनुष्य का है। मनुष्य का अस्तित्व समाज में है तथा समाज का मनुष्य में है।"[3] इस सिद्धान्त ने 18वीं शताब्दी की व्यक्तिवादी विचारधारा पर

---

1 "The organismic theory is neither a satisfactory explanation of the nature of the state, nor a trustworthy guide to state activity."—Gettell *Introduction to the Political Science*, p. 112.

2 "Biology and individualism proved to be two unwilling horses, each pulling in the opposite direction." —Barker

3 "As is the relation of the hand to the body or the leaf to the tree, so is the relation of man to society. He exists in it and it in him." —Leacock

विचार का भी खण्डन किया कि राज्य एक कृत्रिम रचना है तथा इस बात का प्रतिपादन किया कि राज्य एक स्वाभाविक संस्था है जिसका किसी एक दिन मे निर्माण नहीं हुआ है अपितु जो एक क्रमिक विकास का परिणाम है।

गेटेल ने सावयव सिद्धान्त मे जो गुण बतलाये हैं वे इस प्रकार है—(1) यह सिद्धान्त राज्य को एक कृत्रिम वस्तु न मानकर उसे ऐतिहासिक विकास का परिणाम मानता है। (2) यह राज्य और उसके नागरिको की पारस्परिक निर्भरता पर जोर देता है। (3) यह इस बात में विश्वास करता है कि मनुष्य स्वभाव से ही एक सामाजिक प्राणी है तथा उसकी सामाजिक प्रवृत्ति ही राज्य को जन्म देती है। (4) यह सामाजिक जीवन की मौलिक एकता और समाज के विभिन्न अगो के आपसी सम्बन्धो पर जोर देता है। (5) यह इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि समाज बिखरे हुए व्यक्तियो का केवल एक समूह मात्र नहीं है। व्यक्ति समाज पर निर्भर रहते हैं तथा समाज व्यक्तियो पर निर्भर रहता है। (6) यह प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण के प्रभावो पर जोर देता है।

निष्कर्ष—सावयव सिद्धान्त के सम्बन्ध म ऊपर जिन विचारों का वर्णन किया गया है, उनको हम दो भागो मे बाँट सकते हैं। एक विचारधारा तो वह है जो राज्य को प्राणी शरीर के समान मानती है तथा जिसका प्रतिपादन प्राचीन और मध्यकाल के अनेक विचारको ने किया है तथा दूसरी विचारधारा वह है जो राज्य को स्वय एक प्राणी शरीर मानती है और जिसका प्रतिपादन मुख्य रूप से ब्लुश्ली तथा स्पेन्सर ने किया है। वस्तुत हम पहली विचारधारा को तो स्वीकार कर सकते हैं कि राज्य एक मानव शरीर के समान है परन्तु स्पेन्सर की विचारधारा को नही मान सकते कि राज्य स्वय एक जीवित शरीर है।

सामाजिक समझौते का सिद्धान्त
(Social Contract Theory)

सामाजिक समझौते का सिद्धान्त यद्यपि मुख्य रूप से राज्य की उत्पत्ति की व्याख्या करता है परन्तु उसका प्रयोग राज्य के स्वरूप एव उसके उद्देश्य को भी स्पष्ट करने के लिए किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य प्रारम्भ म प्राकृतिक अवस्था मे रहते थे। यह प्राकृतिक अवस्था पूर्व-राजनीतिक अर्थात् राज्य से पहले की अवस्था है। मनुष्यो ने स्वेच्छा से आपस म मिलकर एक समझौता किया जिसके परिणामस्वरूप राज्य की स्थापना हुई। अत. इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक ऐसा कृत्रिम संगठन है जिसका निर्माण मनुष्यो के द्वारा किन्हीं निश्चित उद्देश्यो अथवा प्रयोजनो की प्राप्ति के लिए किया गया है। इस सिद्धान्त मे यह बात भी निहित है कि यदि राज्य उन उद्देश्यो अथवा उत्तरदायित्वों को पूरा करने मे असफल रहता है जिनके लिए समझौता किया गया है तो ऐसी स्थिति मे मनुष्यों को यह अधिकार मिल जाता है कि वे राज्य की आज्ञाओ तथा उसके कानूनो का विरोध कर सकें तथा उसे कर इत्यादि न दें। अत इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक स्वाभाविक

प्राकृतिक समुदाय नहीं है अपितु अन्य मानव-समुदायों के समान एक ऐसा समुदाय है जिसका निर्माण मनुष्य के हित-साधन के लिए किया गया है तथा जिसके स्वरूप में मनुष्य के द्वारा इच्छानुसार परिवर्तन किया जा सकता है जिसे कोई नया रूप दिया जा सकता है तथा जिसे पूर्णतया समाप्त भी किया जा सकता है।

मूल्यांकन—सामाजिक समझौते के सिद्धान्त को 18वीं शताब्दी में अत्यधिक मान्यता प्राप्त हुई। इस सिद्धान्त ने स्वेच्छाचारी तथा अनुत्तरदायी शासकों के अत्याचारों का प्रतिरोध करने के लिए जनता को एक प्रबल शस्त्र प्रदान करके अपने समय में बड़ा उपयोगी काम किया है। इस सिद्धान्त में से ही यह सिद्धान्त निकला कि राजा अपनी शासन-सत्ता जनता से प्राप्त करते हैं वे जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं और वे यदि अपने उत्तरदायित्वों का पालन न करें तो वे जनता द्वारा पदच्युत भी किये जा सकते हैं। परन्तु सामाजिक समझौते के सिद्धान्त को आधुनिक युग में कोई मान्यता प्राप्त नहीं है। यदि हम राज्य को समझौते पर आधारित एक कृत्रिम संगठन मान लें तो फिर हमें राज्य के सम्बन्ध में अपनी समस्त धारणाओं तथा भावों को बदलना होगा। ऐसी स्थिति में राज्य एक ऐसा संगठन माना जायेगा जिसकी सदस्यता अनिवार्य न होकर ऐच्छिक होगी तथा जिसकी आज्ञाओं का पालन करना मनुष्य की इच्छा पर निर्भर करेगा, परन्तु इन बातों का वास्तविकता से कोई मेल नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि राज्य एक कृत्रिम संगठन न होकर एक प्राकृतिक संस्था है जिसका किसी एक निश्चित समय पर निर्माण नहीं हुआ है बल्कि जिसका धीरे-धीरे विकास हुआ है। यह मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति का परिणाम है।

आदर्शवादी सिद्धान्त
(Idealistic Theory)

सिद्धान्त की व्याख्या—राज्य के उत्पत्ति के सम्बन्ध में आदर्शवादी सिद्धान्त एक प्राचीन तथा महत्वपूर्ण राजनीतिक विचारधारा है। यह सिद्धान्त राज्य की आदर्शवादी व्याख्या करता है। इस सिद्धान्त को अनेक नामों से पुकारा जाता है, जैसे दार्शनिक सिद्धान्त (Philosophical Theory), आध्यात्मिक सिद्धान्त (Metaphysical Theory) तथा निरपेक्ष अथवा निरकुंशतावादी सिद्धान्त (Absolutist Theory) इत्यादि। इस सिद्धान्त की उत्पत्ति प्लेटो तथा अरस्तू के इन विचारों से हुई है कि राज्य एक सर्वोच्च, पूर्ण तथा आत्म निर्भर संस्था है तथा व्यक्ति राज्य के अन्तर्गत ही अपने जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है। इस सिद्धान्त ने एक ऐसे दार्शनिक विचार को जन्म दिया जिसने राज्य को देवता के समान एक उच्च स्थान पर आसीन कर दिया तथा जिसने राज्य का एक आदर्श बताकर साधन की अपेक्षा साध्य बना दिया और जिसने राज्य को सर्वशक्तिमान तथा सब प्रकार से समर्थ माना है।

गार्नर के शब्दों में, 'यह सिद्धान्त बतलाता है कि राज्य कोई अनुचित कार्य नहीं कर सकता और उसका आदेश, चाहे अच्छा हो या बुरा, सदैव पालन करने योग्य

है तथा राज्य की सत्ता का विरोध अथवा उसके विरुद्ध विद्रोह, चाहे राज्य कितना ही अन्यायी एवं अत्याचारी हो, अधर्म है।" उन्होंने आगे लिखा है कि "सिद्धान्त की दृष्टि से *राज्य का अस्तित्व उन व्यक्तियों से भिन्न एवं अलग है जिनसे मिलकर वह* बना है। राज्य की अपनी इच्छाशक्ति, अपने हित एवं अधिकार तथा आचरण के अपने आदर्श होते हैं जो व्यक्तियों की इन सब बातों से, यहाँ तक कि व्यक्तियों की इच्छाओं के योग से भी, भिन्न एवं अलग हैं। 'राज्य ही वास्तव में समस्त सभ्यता एवं प्रगति का आदि स्रोत है।"

आदर्शवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन मुख्य रूप से काण्ट, हीगल, ग्रीन, ब्रेडले, बोसान्वे आदि विचारकों के द्वारा किया गया है। हीगल ने अपने दर्शन में इस सिद्धान्त को चरमसीमा पर पहुँचा दिया। आदर्शवादी विचारधारा के दो रूप हैं—(1) उग्र आदर्शवाद, (2) उदार आदर्शवाद। इन दोनों रूपों में मुख्य अन्तर निम्नलिखित हैं :

उग्र आदर्शवाद—उग्र आदर्शवाद का प्रतिपादन जर्मनी के प्रसिद्ध विचारक *हीगल ने किया है। उग्र आदर्शवाद के प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं*

(1) राज्य की उत्पत्ति ईश्वरीय है—हीगल राज्य की उत्पत्ति को दैवी अथवा ईश्वरीय मानता है। उसका कहना था कि 'राज्य पृथ्वी पर ईश्वर का प्रयाण है। वह सर्वशक्तिमान है वह कभी कोई गलती या पाप नहीं कर सकता तथा वह अपने हितों के लिए व्यक्ति से सभी प्रकार के बलिदान की माँग करने का अधिकारी होता है।[1] इस तरह हीगल की दृष्टि में राज्य ईश्वरीय राज्य (God state) है। उसने आगे लिखा है कि 'अपने अति श्रेष्ठ चरित्र त्याग बलिदान तथा सर्वशक्तिमान प्रकृति *के कारण राज्य स्वार्थी प्रकृति वाले व्यक्तियों को ऊँचा उठाता है उन्हें श्रेष्ठ बनाता* है तथा उसे सार्वलौकिक जीवन की ओर ले जाता है।'

(2) राज्य एक पूर्ण सावयवी है—हीगल की दृष्टि में राज्य स्वयं एक असाधारण तथा श्रेष्ठ व्यक्ति है। उसके हित अधिक महान तथा अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। राज्य की अपनी पृथक इच्छा तथा पृथक व्यक्तित्व होता है जो व्यक्तियों की सामूहिक इच्छा तथा व्यक्तित्व से भिन्न एवं श्रेष्ठ होता है। राज्य से परे या राज्य के विरुद्ध व्यक्ति की न तो पृथक इच्छा हो सकती है, न पृथक व्यक्तित्व, अपितु *व्यक्ति का वास्तविक रूप राज्य के अन्तर्गत उसके सदस्य के रूप में ही प्रकट होता है।* राज्य ही व्यक्ति की इच्छा का सच्चा प्रतिनिधित्व करता है।

(3) राज्य सर्वशक्तिमान है—राज्य पृथ्वी पर ईश्वर का रूप होने के कारण सर्वशक्तिमान है। राज्य स्वयं साध्य है तथा व्यक्ति उसका साधन है। अत व्यक्ति

1. "State is the march of God upon earth It is in incapable of doing wrong, infallible, omnipotent and entitled to every sacrifice which its interest may require of the individual" —Hegal

पूर्णतया राज्य के अधीन होता है, राज्य से पृथक उसकी कोई सत्ता नहीं होती तथा उसका अस्तित्व केवल इसलिए होता है कि वह राज्य रूपी ध्येय का साधन बने। अत मनुष्य का यह पवित्र कर्तव्य है कि वह राज्य की आज्ञा का पूर्ण पालन करे।

(4) राज्य व्यक्ति के अधिकारों तथा स्वतन्त्रता का स्रोत है—हीगल के अनुसार राज्य ही व्यक्ति के अधिकारों तथा स्वतन्त्रता का स्रोत है। उसके मत से राज्य से पूर्व, राज्य के परे तथा राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के कोई अधिकार या स्वतन्त्रताएं नहीं हो सकती। राज्य स्वयं ही उनका सृष्टा है। व्यक्ति की वास्तविक स्वतन्त्रता राज्य के आदेशों तथा कानूनों का पालन करने में निहित है। हीगल के शब्दों में, "राज्य के बिना व्यक्ति अपनी वास्तविक स्वतन्त्रता को प्राप्त नहीं कर सकता है।"[1]

(5) राज्य ही नैतिकता का स्रोत है—हीगल के अनुसार राज्य स्वयं नैतिकता का सृष्टा है। उसके ऊपर नैतिक नियमों का कोई बन्धन नहीं है। राज्य स्वयं नागरिकों के लिए नैतिकता के मानदण्ड निश्चित करता है। राज्य ही इस बात का निर्णय करता है कि कौन सा कार्य उचित है तथा कौन सा अनुचित। उचित-अनुचित का बन्धन केवल व्यक्तियों पर ही लागू होता है, राज्य पर नहीं। वह अपने समस्त नागरिकों की सामाजिक नैतिकता का प्रतिनिधित्व करता है। हीगल के अनुयायी बोसांक्वे के शब्दों में, "राज्य विश्वव्यापी नैतिक संगठन का अंग न होकर समस्त नैतिक जगत का संरक्षक है।"[2]

(6) व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार नहीं—राज्य मनुष्यों की सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है। उसका कोई कार्य ऐसा नहीं होता जिसमें नागरिकों की इच्छा निहित न रहती हो। वह जो कुछ भी करता है उसमें व्यक्तियों की वास्तविक इच्छा की ही अभिव्यक्ति होती है। इसका अर्थ यह निकलता है कि जब व्यक्ति राज्य के आदेशों का पालन करता है तब वास्तव में वह अपनी सद्इच्छाओं का ही पालन करता है। इसलिए हीगल के अनुसार, राज्य की आज्ञाओं का विरोध करना अनुचित तथा अनैतिक है क्योंकि राज्य की आज्ञाओं के विरोध का अर्थ ईश्वर की आज्ञा का विरोध है। अत मनुष्य का कर्तव्य राज्य की आज्ञाओं को दैवी मानकर पूर्णतया उनका पालन करना है।

(7) राज्य ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का निर्णायक है—हीगल के अनुसार अन्य राज्यों के साथ अपने सम्बन्धों का निर्धारण करने में राज्य पूर्णतया स्वतन्त्र है।

1 "Nothing short of the state, it is the actualization of freedom."
—Hegal

2. "State is the guardian of the whole moral world and not a factor within an organized moral world." —Bosanquet

उसके ऊपर न तो कोई नैतिक बन्धन है और न कोई कानूनी बन्धन है। यहां तक कि अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों के पालन में भी राज्य का अपना हित सर्वोपरि होता है। इसके अतिरिक्त हीगल युद्ध को एक अच्छाई मानता है। राष्ट्रों के बीच निरन्तर शान्ति सामाजिक वातावरण को उसी प्रकार दूषित कर देती है जिस प्रकार स्थिर जल वाले तालाब का पानी दूषित हो जाता है। युद्ध राज्य की बुराइयों को दूर करके उसे ऊंचा उठाता है।

इस प्रकार उग्रआदर्शवाद के सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक सर्वोच्च, सर्वशक्तिमान तथा पूर्णसस्था है जो नैतिक मूल्यों का रक्षक है। उसका स्वरूप आन्तरिक एवं बाह्य दृष्टि से अमर्यादित है।

उदारवादी आदर्शवाद—उदार आदर्शवादी विचारधारा का प्रतिपादन ग्रीन, ब्रेडले तथा बोसांक्वे आदि अंग्रेज विचारकों के द्वारा किया गया। इनमें से किसी भी विचारक ने हीगल के इस विचार को स्वीकार नहीं किया कि राज्य सर्वशक्तिमान, निरंकुश तथा पृथ्वी पर ईश्वर का रूप है। इस विचारधारा ने निःसन्देह राज्य को एक साध्य माना है परन्तु इसने हीगल के समान व्यक्ति को पूरी तरह राज्य रूपी साध्य का साधनमात्र नहीं माना। इस विचारधारा [redacted] मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित हैं

(1) राज्य एक प्राकृतिक सस्था है—उदारवादी आदर्शवाद राज्य को सामाजिक समझौते के सिद्धान्त के समान न तो एक कृत्रिम संस्था मानता है और न हीगल के समान दैवी सस्था ही मानता है बल्कि वह उसे एक प्राकृतिक अथवा नैसर्गिक सस्था मानता है। यह मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति का सर्वोत्कृष्ट रूप है। राज्य व्यक्ति के लिए एक अनिवार्य सस्था भी है क्योंकि इसके बिना व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं कर सकता है। अतः राज्य स्वाभाविक एव अनिवार्य दोनों है। व्यक्ति के लिए राज्य की स्वाभाविकता बताते हुए ग्रीन ने लिखा है कि "*मानव चेतना स्वतन्त्रता चाहती है, स्वतन्त्रता में अधिकार निहित हैं और अधिकार, राज्य की मांग करते हैं।*"[1]

(2) राज्य एक नैतिक सस्था है—इस विचारधारा के अनुसार राज्य का स्वरूप नैतिक होता है। ग्रीन के मतानुसार राज्य स्वय तो व्यक्ति को नैतिक नहीं बना सकता, क्योंकि नैतिकता व्यक्ति की आत्मा से सम्बन्धित है परन्तु राज्य व्यक्ति के नैतिक जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करके ऐसी परिस्थितियाँ अवश्य कायम कर सकता है जिससे व्यक्ति को नैतिक जीवन व्यतीत करने में सहायता मिले। इस तरह राज्य का अस्तित्व सदाचार की स्थापना के लिए है।

(3) व्यक्ति तथा राज्य दोनों एक-दूसरे पर निर्भर हैं—आदर्शवादी सिद्धान्त

1 "Human consciousness postulates liberty, liberty involves rights and rights demand the state." —T. H Green

राज्य को एक सावयवी मानता है, अत उसके अनुसार राज्य तथा व्यक्ति मे वही सम्बन्ध है जो शरीर तथा उसके अंगो मे होता है। इस विचारधारा के अनुसार व्यक्ति तथा राज्य के हितो मे कोई पारस्परिक विरोध नही हो सकता क्योंकि दोनो के हित वस्तुत एक ही हैं। व्यक्ति का हित सार्वजनिक हित पर निर्भर करता है, अत व्यक्ति के लिए राज्य के आदेशो का पालन करना आवश्यक है। परन्तु जब सरकार सार्वजनिक हित साधन करने मे असमर्थ हो तो ग्रीन के अनुसार व्यक्ति को सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार है।

(4) राज्य का आधार शक्ति नहीं, इच्छा है—उग्रआदर्शवाद के अनुसार राज्य का आधार शक्ति है परन्तु उदार आदर्शवाद के अनुसार राज्य का आधार मानवी इच्छा है। ग्रीन के शब्दो मे, 'राज्य शक्ति पर नहीं, मानवीय इच्छा पर आधारित होता है।" इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्ति राज्य की आज्ञाओं [redacted] पालन किसी भय या दबाव के कारण नही करते अपितु अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण करते हैं। वे यह जानते हैं कि राज्य के हित मे उनका हित निहित है।

संक्षेप मे, हम यह कह सकते हैं कि उदारवादी आदर्शवाद के अनुसार राज्य की सत्ता बाहर तथा भीतर दोनो क्षेत्रो मे सीमित है।

आदर्शवादी सिद्धान्त की आलोचना आदर्शवादी सिद्धान्त की आलोचना करने वालो मे हॉबहाउस, लास्की, जोड तथा मेकाइवर आदि अधिक प्रमुख हैं। इन विचारको के द्वारा उदार-आदर्शवाद के स्थान पर उग्र आदर्शवाद की अधिक आलोचना की गई है। जिन आधारो पर इस सिद्धान्त की आलोचना की गई है, वे निम्नलिखित हैं

(1) यह सिद्धान्त राज्य को निरकुश बना देता है—उग्र आदर्शवाद आन्तरिक एव बाहरी दोनो क्षेत्रो मे राज्य को सर्वोच्च तथा सर्वशक्तिमान मानता है। उसके अनुसार मनुष्य की स्वतन्त्रता, नैतिकता तथा उसके अधिकारो का स्रोत राज्य है। राज्य के ऊपर नैतिकता का कोई बन्धन नही है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भी यह सिद्धान्त कोई नियन्त्रण स्वीकार नही करता। इसके अनुसार राज्य को अपनी इच्छानुसार युद्ध का मार्ग अपनाने का अधिकार है। यह शक्तिशाली राज्य को ही सर्वश्रेष्ठ तथा ईश्वर का रूप बताता है। अत इस विचारधारा के परिणामस्वरूप राज्यो को निरकुश तथा अनुत्तरदायी बनने को प्रोत्साहन मिला जिसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे युद्ध, सघर्ष तथा हिंसा को बढ़ावा मिला। हम सभी जानते [redacted] कि जर्मनी ने इस सिद्धान्त को अपनाकर सारे ससार के ऊपर युद्ध थोप दिया। जोड (C. E. M. Joad) के अनुसार, "इस विचारधारा के कारण राज्यो को वैदेशिक मामलो में और अधिक अनैतिक तथा अविवेकपूर्ण कार्य करने का अधिकार मिल जाता है।"

(2) यह सिद्धान्त मानव-स्वतन्त्रता का अन्त कर देता है—यह सिद्धान्त व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा उसकी स्वतन्त्रता का अन्त कर देता है। यह सिद्धान्त इस बात पर जोर देता है कि व्यक्ति का राज्य से पृथक न तो कोई मूल्य है और न उसका

जीवन ही है। इसके अनुसार राज्य का अन्ध भक्त होकर उसके आदेशों का पालन करने का नाम ही स्वतन्त्रता है। यह वस्तुतः स्वतन्त्रता नहीं, स्वतन्त्रता का हनन है। हॉबहाउस ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "इस विचारधारा का उद्देश्य स्वतन्त्रता और कानून को एक बताकर स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को कुण्ठित कर देना तथा व्यक्ति को राज्य में विलीन करके मानवता का नाश कर देना था।" जोड का भी यह मत है कि "आदर्शवादी सिद्धान्त व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए घातक है क्योंकि जब कभी व्यक्ति तथा राज्य में संघर्ष होता है तो इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य को ही सदैव अनिवार्य रूप से सही माना जाता है।"

(3) राज्य साध्य न होकर एक साधन है—यह सिद्धान्त राज्य को साध्य तथा व्यक्ति को साधन मात्र मानता है और इस प्रकार व्यक्ति के व्यक्तित्व को राज्य में समाहित कर देता है। यह सत्य है कि राज्य से पृथक रहकर व्यक्ति का पूर्ण विकास नहीं हो सकता परन्तु इस आधार पर राज्य को निरंकुश तथा सर्वशक्तिमान बना देना एवं मनुष्य को पूर्णतया उसके अधीन कर देना किसी भी दृष्टि से न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः राज्य स्वयं एक साध्य नहीं है अपितु वह एक साधन मात्र है जिसका उद्देश्य मनुष्य का अधिकतम कल्याण करना है। जोड के शब्दों में, "राज्य का अस्तित्व व्यक्तियों के लिए है, व्यक्तियों का अस्तित्व राज्य के लिए नहीं है।" हॉबहाउस ने भी इस सम्बन्ध में लिखा है कि "जब हम राज्य को व्यक्ति से भिन्न और एक पृथक सत्ता के रूप में मान लेते हैं तो यह एक कृत्रिम देवता बन जाता है, जिसकी पूजा ऐसे होने लगती है तथा यह पूजा अभिशाप बन जाती है।"

(4) यह विचारधारा समाज और राज्य में भेद नहीं करती—यह विचारधारा समाज और राज्य में तथा राज्य और सरकार में कोई भेद नहीं करती तथा दोनों को एक मान लेती है। यह एकता राज्य के कार्यक्षेत्र को निरंकुश बना देती है। इससे राज्य को समस्त सामाजिक जीवन पर नियन्त्रण का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इसमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है तथा उसके व्यक्तित्व का विकास रुक जाता है।

(5) यथार्थ और आदर्श इच्छा का भेद अवास्तविक है—मनोवैज्ञानिकों का मत है कि राज्य को एक व्यक्ति मानना अथवा यह कहना कि राज्य की अपनी इच्छा होती है जो सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है तथा जिसमें सभी मनुष्यों की इच्छा निहित होती है, विचारों में उलझन पैदा कर देना है। जोड और मेकाईवर जैसे विद्वान यथार्थ और आदर्श इच्छा के भेद को सैद्धान्तिक रूप से विकृत तथा व्यावहारिक रूप से निरर्थक मानते हैं।

वस्तुतः आदर्शवादी विचारधारा एक दोषपूर्ण तथा खतरनाक विचारधारा है। इसने राज्य को अत्यधिक एवं अनुचित महत्त्व दिया है। हॉबहाउस का मत है कि "इससे अधिक खतरनाक अन्य कोई सिद्धान्त नहीं बना जिसने व्यक्ति के अधिकारों

की इतनी उपेक्षा की हो और निरंकुशता का इतना खुलकर समर्थन किया हो।" आज प्राय सभी राजनीतिक विचारक आदर्शवाद के सिद्धान्तो के प्रबल विरोधी हैं।

आदर्शवादी सिद्धान्त का महत्त्व—इन आलोचनाओ के होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि आदर्शवादी सिद्धान्त की अधिकाश आलोचनाएँ अनुचित एव अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। इसकी निन्दा अधिकाश मे इसके विकृत रूप तथा अनुचित निष्कर्षों के कारण हुई है। वस्तुत आदर्शवाद ने हमारे सम्मुख कई अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये हैं। गार्नर ने इन विचारो का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "राज्य समस्त मानव सस्थाओं से ऊँचा है तथा श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति के लिए उसकी सदस्यता अनिवार्य है और इस कारण नागरिकों को राज्य के प्रति भक्ति रहनी चाहिए, राज्य अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए उनसे बलिदान की आशा कर सकता है, राज्य ही कानूनों तथा अधिकारों का आदि स्रोत है और राज्य मे ही व्यक्ति अपने लक्ष्य की पूर्ण प्राप्ति कर सकते हैं और राज्य के बिना मानव-प्रगति तथा सभ्यता का विकास असम्भव है; ये विचार सर्वथा उचित एव प्रशसनीय हैं।"

अभ्यास के प्रश्न

1. 'राज्य एक सावयवी अथवा शरीर है।' स्पेन्सर के इस विचार की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
2. राज्य के आगिक सिद्धान्त की समीक्षा कीजिए।
(राज० विश्व०, 1973 एव पूरक 1975)
3. राज्य के सावयव/आगिक सिद्धान्त को स्पष्ट कोजिए तथा उसकी सीमाओ का उल्लेख कीजिये। (राज० विश्व०, 1977)
4. "सावयव सिद्धान्त राज्य की प्रकृति की न तो सन्तोषजनक व्याख्या है और न ही राज्य के कार्यों के बारे मे विश्वसनीय पथ-प्रदर्शक है।"—गेटल। इस कथन की व्याख्या कीजिये।
5. राज्य के स्वरूप के सम्बन्ध मे विधिशास्त्रीय सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।
6. राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध मे आदर्शवादी सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।
7. राज्य के स्वरूप के सम्बन्ध मे प्रतिपादित विभिन्न सिद्धान्तो की समीक्षा कीजिये।

8

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त

[THEORY OF ORIGIN OF THE STATE]

"उत्पत्ति के सम्बन्ध में मनुष्यों को सदैव जिज्ञासा रही है। विगत रहस्यों के उद्घाटन और वस्तुएं कैसे और क्यों बनीं—इन समस्याओं का समाधान करने वाली व्याख्याएं भी युग की मान्यताओं के साथ बदलती रही हैं।"

—ई० एम० सेट

राज्य की उत्पत्ति कब और कैसे हुई, यह एक रहस्यपूर्ण तथा विवादास्पद प्रश्न है। *मानव-विज्ञान (Anthropology), जाति-विज्ञान (Ethnology)* तथा तुलनात्मक भाषा विज्ञान (Philology) जैसे आधुनिक विज्ञान भी, जिन्होंने हमारे विगत जीवन की अनेक महत्त्वपूर्ण बातों की खोज की है, इस विषय पर प्रकाश डालने में असमर्थ हैं। इतिहास से भी हमें राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई सही जानकारी नहीं मिलती। इसका कारण यह है कि राज्य की उत्पत्ति इतिहास से भी पूर्व काल में हुई है जिसकी जानकारी इतिहास को नहीं है। अतः इस सम्बन्ध में इतिहास के असफल हो जाने के कारण विचारकों द्वारा कल्पना का आश्रय लिया गया। जैसा कि गिलक्राइस्ट ने लिखा है कि "राजनीतिक चेतना के उदय की परिस्थितियों के विषय में हमें इतिहास से बहुत कम अथवा बिलकुल भी जानकारी नहीं मिलती। जहाँ इतिहास असफल हो जाता है वहाँ हम कल्पना का आश्रय लेते हैं।"[1]

ऐतिहासिक तथ्यों के अभाव में कल्पना के आधार पर राजनीतिक विचारकों ने समय समय पर अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इनमें से कुछ प्रमुख सिद्धान्त इस प्रकार हैं—दैवी सिद्धान्त, शक्ति सिद्धान्त, सामाजिक समझौते का सिद्धान्त, पैतृक

---

1 "Of the circumstances surrounding the dawn of political consciousness, we know little or nothing from history Where history fails, we must resort to speculation "—R N. Gilchrist : *Principles of Political Science*, p. 48

तथा मातृक सिद्धान्त और विकासवादी सिद्धान्त। अब हम इन सिद्धान्तों पर विस्तार-पूर्वक विचार करेंगे।

दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त
(The Theroy of Divine Origin)

सिद्धान्त की व्याख्या—राज्य की उत्पत्ति का यह सिद्धान्त सबसे प्राचीन है। जब किसी वस्तु की उत्पत्ति के कारण स्पष्ट नहीं होते, तब प्रायः उसे 'दैवी' कह दिया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार मानव-जाति के हित और कल्याण के लिए ईश्वर ने राज्य का निर्माण किया है। इस प्रकार राज्य मानवीय रचना न होकर ईश्वरीय अथवा दैवी संस्था है। ईश्वर राज्य में या तो स्वयं शासन करता है अथवा इस कार्य के लिए किसी प्रतिनिधि को नियुक्त करता है जो ईश्वर की ओर से शासन करता है। इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार राजा पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है। वह अपने कार्यों के लिए केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है। ईश्वर का प्रतिनिधि होने के कारण राजा की आज्ञा का पालन करना धार्मिक कर्तव्य है तथा उसका विरोध करना पाप है। राजा की आज्ञा ही विधि अथवा कानून है और उसके कार्य सदैव न्यायपूर्ण तथा जनता के हित में होते हैं। इस सिद्धान्त की मान्यता इतिहास में बहुत काल तक रही है, जैसा कि गैटल ने कहा है कि "मानव इतिहास के एक दीर्घकाल तक राज्य ईश्वरकृत या दैवी समझा जाता था और सरकार का स्वरूप धार्मिक था।"[1]

दैवी सिद्धान्त की विशेषतायें—राज्य की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त ने मध्य काल में राजाओं के दैवीय अधिकार का रूप धारण कर लिया। अपनी सत्ता को स्थापित करने तथा स्वेच्छाचारी बनने की दृष्टि से मध्ययुग के राजाओं ने दैवी अधिकार के सिद्धान्त का सहारा लिया। उन्होंने इस मत का प्रचार किया कि राजा ईश्वर का प्रतिनिधि होता है तथा उसे शक्ति ईश्वर से ही प्राप्त होती है। राजाओं के दैवी अधिकार के सिद्धान्त की मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित हैं

(1) राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है। वह अपनी शक्ति ईश्वर से प्राप्त करता है।

(2) राज्य मानवीय रचना नहीं वरन् ईश्वरीय सृष्टि है।

(3) राजसत्ता वंशानुगत तथा पैतृक होती है अर्थात् पिता की मृत्यु के बाद उसका पुत्र राजसत्ता का अधिकारी होता है।

(4) राजा केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी होता है जनता के प्रति नहीं।

(5) राजा के कार्य सदैव न्यायपूर्ण तथा जनहित में होते हैं, अतः राजा के

---

1 "During a large part of human history the State was viewed as of direct divine creation and its government was theocratic in nature."—Gettle : *Political Science*, p. 72.

प्रति विद्रोह करना अथवा उसकी आज्ञा की अवज्ञा करना केवल अपराध ही नहीं अपितु एक पाप है।

दैवी सिद्धान्त का समर्थन एवं विकास—*राज्य की उत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त* सबसे प्राचीन सिद्धान्त है। अनेक प्राचीन धर्म ग्रन्थ राज्य की उत्पत्ति के इस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। मनुस्मृति मे कहा गया है कि ससार की रक्षा और कल्याण के लिए ईश्वर ने राजा को उत्पन्न किया और राज्य की नीव डाली। महाभारत के शान्ति पर्व मे कहा गया है कि जब अराजकता असह्य हो उठी तो मनुष्यो ने भगवान से प्रार्थना की और उनकी विनती से प्रसन्न होकर भगवान ने मनु को उनके ऊपर शासन करने के लिए नियुक्त किया।[1] भारत के प्राचीन धर्म ग्रन्थों मे इस बात का प्रतिपादन किया गया है कि राजा का निर्माण इन्द्र, वरुण, मित्र यम आदि देवताओ के अश से हुआ है तथा राजा इस पृथ्वी पर ईश्वर का अवतार है।

यहूदियो के धर्मग्रन्थ पुराना टेस्टामेण्ट (Old Testament) मे यह कहा गया है कि राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है, उसकी शक्ति का स्रोत ईश्वर है तथा वह ईश्वर के प्रति ही उत्तरदायी होता है। ईसाइयों के धर्मग्रन्थ बाइबिल मे भी कहा गया है कि "प्रत्येक आत्मा को उच्चतर शक्तियो के अधीन होना चाहिए क्योंकि ईश्वर की शक्ति के अतिरिक्त और कोई शक्ति नहीं है। सभी सांसारिक शक्तियां ईश्वर की दी हुई हैं, अत जो कोई उनकी अवज्ञा करता है वह ईश्वर की आज्ञा की अवज्ञा करता है और जो लोग ऐसा करते है, उन पर ईश्वर का श्राप पड़ेगा।"[2] इस तरह ईसाई धर्म भी यह मानता है कि राज्य ईश्वर की सृष्टि है तथा राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है और उसकी आज्ञाएँ मानना प्रजा का धर्म है। प्राचीन मिस्र, फारस, चीन, जापान आदि में भी लोग राज्य की दैवी उत्पत्ति मे विश्वास करते थे। मिस्र मे राजा को 'सूर्य पुत्र' समझा जाता था तथा जापान मे तो आज तक वहाँ के लोग राजा मिकाडो को 'सूर्य देवता का पुत्र' मानते हैं।

प्राचीन यूनान व रोम मे भी दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त को मान्यता दी गई थी। *मध्यकालीन यूरोप मे सेण्ट आगस्टाइन जैसे ईसाई विचारको ने इसी सिद्धान्त का* सहारा लेकर राज्य पर चर्च की सर्वोपरिता सिद्ध करने का प्रयत्न किया। मध्यकाल मे यह एक आम धारणा थी कि सभी सत्ताएँ ईश्वर प्रदत्त हैं। धर्म सुधार के काल मे भी लूथर, ज्विगली तथा काल्विन जैसे धर्मसुधारको ने राजा की सत्ता की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए राज्य की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का समर्थन किया।

1 Ghoshal : *History of Hindu Political Theories*, p 175

2 "Let every soul be subject unto the highers powers, for there is no power but of God, the powers that are ordained of God Whosoever, therefore, resisteth the power, resisteth the ordinance of God, and they that resist shall receive to themselves damnation." —St. Paul to Romans : *Romans XIII*, 1-7.

इस सिद्धान्त का पूर्ण विकास 17वीं शताब्दी में हुआ, जब राजाओं ने अपने स्वेच्छाचारी शासन की पुष्टि करने के लिए इस सिद्धान्त का आश्रय लिया। इंगलैंड में सर रॉबर्ट फिल्मर और जेम्स प्रथम ने तथा फ्रांस में बूजे ने इस सिद्धान्त का प्रबल समर्थन किया। इंगलैंड के राजा जेम्स प्रथम की यह धारणा थी कि "राजा तथा ईश्वर में इतनी समानता है कि राजा को ईश्वर कहना ही उचित है।" उसने लिखा है कि "राजा लोग पृथ्वी पर ईश्वर की श्वास लेती हुई मूर्तियाँ हैं और इसलिए उनके आदेशों की अवज्ञा करना ईश्वर की अवज्ञा है।"[1] उसने तो यहाँ तक कहा कि "राजा कभी दुराचारी नहीं हो सकता। यदि कोई राजा दुराचारी हो तो इसका अर्थ यह है कि ईश्वर ने उसे जनता को उसके पापों का दण्ड देने [redacted] लिए भेजा है। ऐसे दुष्ट राजा से भी छुटकारा पाने की जनता की कोशिश अनुचित तथा कानून के विरुद्ध मानी जायेगी।"[2] उसके अनुसार, "किसी व्यक्ति द्वारा यह प्रश्न उठाया जाना कि राजा क्या कर सकता है और क्या नहीं कर सकता, ईश्वर-विरोध तथा घोर पाप है।" रॉबर्ट फिल्मर ने अपनी पुस्तक पैट्रिआर्का (Patriarchia) में यह प्रतिपादित किया कि राजा जेम्स को शक्ति ईश्वर से प्राप्त हुई है। फ्रांस में लुई चौदहवें के स्वेच्छाचारी शासन का समर्थन करते हुए बूजे ने कहा था कि "राजा का राज्य में वही स्थान है जो पिता का परिवार में होता है। राजा ईश्वर [redacted] प्रतिबिम्ब है।"

दैवी सिद्धान्त का पतन जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस सिद्धान्त का 16वीं तथा 17वीं शताब्दी में बहुत प्रभाव रहा। 17वीं शताब्दी के अन्त तक लोग इस सिद्धान्त के दोषों और दुष्परिणामों से भली भाँति परिचित हो गये थे और वे राज्य की उत्पत्ति के अन्य किसी सन्तोषजनक सिद्धान्त की खोज में संलग्न हो गये। विज्ञान की प्रगति तथा राष्ट्रवाद एवं लोकतन्त्रवाद की भावना के विकास के कारण इस सिद्धान्त का पतन प्रारम्भ हो गया। आज इस सिद्धान्त को पूर्णतः गलत माना जाता है। गिलक्राइस्ट के मतानुसार इस सिद्धान्त के पतन के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं—

(1) सामाजिक समझौते के सिद्धान्त के उदय ने इस मान्यता को जन्म दिया कि राज्य ईश्वर की सृष्टि न होकर एक मानव-कृत संस्था है।

(2) धर्म तथा राज्य के पृथक्करण ने लौकिक विषयों के महत्त्व को प्रमुखता प्रदान की।

1 "Kings are the breathing images of God on earth."

2 " King can never be monstrously vicious. Even if a king is wicked, it means God has sent him as a punishment for people's sins and it is unlawful to shake off the Gurden which God has laid upon them."
—James I

(3) राष्ट्रवाद के उदय एवं लोकतन्त्रवाद के विकास के कारण निरंकुश शासन का विरोध प्रारम्भ हो गया।

(4) विवेकवाद के विकास ने अन्धविश्वासों पर आधारित राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त पर कड़ा प्रहार किया। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति ने इस सिद्धान्त की जड़ों को हिला दिया।

दैवी सिद्धान्त की आलोचना—दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों आधारों पर कड़ी आलोचना की गई है। इसकी आलोचना के मुख्य आधार निम्नलिखित हैं

(1) **मानव के योगदान की उपेक्षा**—यह सिद्धान्त राजनीतिक विकास में मनुष्य के योगदान की उपेक्षा करता है। इतिहास बताता है कि राज्य का निर्माण ईश्वर ने नहीं किया अपितु यह एक मानवीय संस्था है जिसको विकसित करने में मनुष्य का बहुत बड़ा हाथ रहा है। विकसित होने के बाद भी, राज्य के स्वरूप में जो परिवर्तन हुए हैं, वे भी ईश्वरकृत न होकर मनुष्यों द्वारा किये गये हैं। अतः मनुष्यों के योगदान की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

(2) *तर्क विरुद्ध सिद्धान्त*—*यह कथन तर्क-संगत नहीं लगता कि राज्य का* निर्माण ईश्वर ने किया है। यदि यह मान भी लिया जाय कि अच्छा एवं सुयोग्य राजा ईश्वर का प्रतिनिधि होता है तो क्या निर्दयी तथा अत्याचारी राजा भी ईश्वर के प्रतिनिधि माने जाएँ जिन्होंने अपनी जनता पर मनमाने अत्याचार किये हैं। ऐसी स्थिति में यह मानना पड़ेगा कि या तो ईश्वर दयालु नहीं है [illegible] निर्दयी राजा उसके प्रतिनिधि नहीं हैं। इसी तरह यदि राजतन्त्र का निर्माण ईश्वर ने किया है तो क्या यह मान लिया जाए कि ईश्वर की इच्छा एक ही प्रकार का शासन बनाने की थी। ऐसी स्थिति में शासन के अन्य रूपों का विकास और प्रचलन कैसे हो पाता। अतः यह सिद्धान्त युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

(3) **अनैतिहासिक सिद्धान्त**—यह सिद्धान्त इतिहास सम्मत भी नहीं है। इतिहास में इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि राज्य का निर्माण ईश्वर ने किया है। गिलक्राइस्ट का कथन है कि "यह धारणा कि ईश्वर इस या उस मनुष्य को राजा बनाता है, अनुभव एवं साधारण ज्ञान [illegible] सर्वथा विपरीत है।"[1] अनेक प्राचीन धर्म ग्रन्थों में भी इस सिद्धान्त का स्पष्ट समर्थन नहीं मिलता है। उदाहरणार्थ, न्यू टेस्टामेण्ट (New Testament) में ऐसे अनेक उद्धरण हैं जिनमें राज्य को एक मानवीय संगठन बताया गया है। ईसा मसीह ने एक स्थान पर कहा है कि "जार की वस्तुओं को जार को सौंप दो और परमात्मा को

---

1 "To say that God selects this or that man as ruler [illegible] contrary to experience and common sense." — Gilchrist

वस्तुएँ परमात्मा को।"[1] ईसा के इस कथन से भी इस सिद्धान्त की सत्यता प्रमाणित नहीं होती।

(4) **निरकुशता को प्रोत्साहन**—इस सिद्धान्त ने राजाओं को निरकुश तथा स्वेच्छाचारी बनाया है। इसका एक उदाहरण लुई चौदहवें का यह वाक्य है कि 'मैं ही राज्य हूँ।' इस सिद्धान्त के अनुसार राजा ईश्वर की जीवित प्रतिमूर्ति होते हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि अपने आपको ईश्वर का प्रतिनिधि समझने वाले राजाओं ने अपनी जनता पर कितने भारी अत्याचार किये तथा किस प्रकार जनता को अपने अधिकारों से वंचित रखा। गिलक्राइस्ट के शब्दों में, "इस सिद्धान्त का मुख्य लक्ष्य निरकुशतावाद का समर्थन करना था, राज्य की उत्पत्ति बतलाना तो इसके लिए गौण बात थी।"

(5) **प्रगति का विरोधी**—यह सिद्धान्त रूढ़िवादी अथवा प्रतिक्रियावादी है। यह राज्य को दैवी तथा पवित्र बताकर व्यक्ति के व्यक्तित्व और उसकी स्वतन्त्रता पर आघात करता है। यदि हम यह मान लें कि राज्य का निर्माण ईश्वर ने किया है तो इसका अर्थ यह निकलता है कि मनुष्य को उसमें परिवर्तन करने का कोई अधिकार नहीं है। इस धारणा से जनता के आगे बढ़ने में बाधा पड़ती है। अतः इसे प्रगति-विरोधी कहना अनुचित नहीं होगा।

(6) **अवैज्ञानिक**—डार्विन ने विकासवादी सिद्धान्त के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि संसार की सभी वस्तुएँ ईश्वर द्वारा निर्मित नहीं हैं वरन् सभी का धीरे-धीरे विकास हुआ है। अतः वे ऐतिहासिक विकास का परिणाम हैं। यह सिद्धान्त अन्धविश्वासों पर आधारित है, तर्क पर नहीं।

(7) **लोकतन्त्रविरोधी सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त ने अयोग्य और भ्रष्ट शासकों को भी भगवान का रूप बनाकर धर्म के साथ साथ मानव-बुद्धि का भी अपमान किया है। इसके अनुसार राजा की नियुक्ति ईश्वर के द्वारा की जाती है तथा राजा जनता के प्रति उत्तरदायी न होकर ईश्वर के प्रति उत्तरदायी होता है। ये विचार वर्तमान युग की लोकतन्त्रात्मक भावना के विरुद्ध हैं। वर्तमान समय में अधिकांश राज्यों के प्रमुख जनता द्वारा निर्वाचित होते हैं। ऐसी स्थिति में यह सिद्धान्त अवास्तविक एवं काल्पनिक लगने लगता है। गिलक्राइस्ट के शब्दों में, "आधुनिक राष्ट्रपति, जो जनता द्वारा चुना जाता है, के इस बात को स्वीकार करना कठिन है कि उसे अपने अधिकार दैवी शक्ति से मिले हैं।"

(8) **मानव-प्रकृति के विरुद्ध**—मनुष्य स्वभाव से एक सामाजिक प्राणी है। वह अपनी प्रकृति से ही किसी समुदाय या संगठन के अन्तर्गत रहना चाहता है।

1 "Render unto Caesar the things that are Caesar's and unto God the things that are God's "
—Christ

राज्य उसकी सामाजिक प्रवृत्ति का ही परिणाम है। अत यह कहना कि राज्य ईश्वर की रचना है, मनुष्य की प्रकृति के विपरीत है।

(9) यह सिद्धान्त धार्मिक है, राजनैतिक नहीं—राज्य की उत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त धार्मिक है, राजनीतिक कम। धर्म का क्षेत्र राजनीति के क्षेत्र से भिन्न होता है। ईश्वर का सम्बन्ध धर्म से है, राजनीति से नही। धर्म तथा ईश्वर से सम्बन्धित मामलों मे मनुष्य श्रद्धा, भक्ति एव अन्धविश्वास से काम लेता है जबकि राज्य म सम्बन्धित मामलों म वह विवेक-बुद्धि स काम लेता है। यह सिद्धान्त अन्धविश्वास पर अधिक ज़ोर देता है, विवेक-बुद्धि पर कम।

उपर्युक्त कारणो स यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति की तर्कसगत व्याख्या नही करता और विवेकपूर्ण व्यक्तियो क लिए इस मानना सम्भव नहीं है।

दैवी सिद्धान्त का महत्त्व—यद्यपि राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त को अस्वीकार किया जा चुका है परन्तु फिर भी इस सिद्धान्त का कुछ मूल्य है। सर्वप्रथम, इस सिद्धान्त ने इतिहास के प्रारम्भिक काल मे अशान्ति और अराजकता को दूर करके समाज म शान्ति एव व्यवस्था स्थापित करने मे पर्याप्त सहायता दी। द्वितीय, इसने मनुष्यो मे आज्ञापालन, सहयोग, कर्तव्य, उत्तरदायित्व तथा कानून के प्रति निष्ठा की भावना को जन्म दिया। तृतीय इस सिद्धान्त ने राज्य को नैतिकता प्रदान की। इसने राज्य को ईश्वर की कृति बताकर उसे एक श्रेष्ठ रूप प्रदान किया तथा नागरिकों के हृदय मे राज्य के प्रति श्रद्धा और भक्ति का भाव उत्पन्न किया। चतुर्थ इस सिद्धान्त से हम यह भी पता चलता है कि किसी समय धर्म का मानव जीवन पर कितना अधिक प्रभाव था। इसने व्यक्तियो को एकसूत्र म बाँधने में कितना महत्त्वपूर्ण योग दिया और कैसे राज्य के विकास को सम्भव बनाया। गैटल ने इस सम्बन्ध मे लिखा है कि "जब लोग अपने ऊपर शासन करने मे समर्थ नहीं थे, उस समय इस सिद्धान्त ने उन्हें आज्ञापालन का पाठ पढ़ाया।"[1] गिलक्राइस्ट का भी यही मत है कि 'यह सिद्धान्त चाहे कितना भी गलत तथा विवेकशून्य क्यों न हो, अराजकता का अन्त करने का श्रेय इसे अवश्य प्राप्त है। प्राचीन काल से जब तक धार्मिक कानून का डरावना स्वरूप मनुष्य के मन को आज की अपेक्षा अधिक भयभीत करता रहा, तब तक दैवी उत्पत्ति का यह सिद्धान्त व्यवस्था बनाये रखने के एक साधन के रूप में बड़ा उपयोगी रहा।'[2]

1 "It taught men to obey when they were not yet ready to govern themselves" —Gettell

2 "*In the days when the terrible nature of religious law* appealed to men more than it does now the idea of divine origin was useful as a factor in preserving order" —R N. Gilchrist : *Principles of Political Science*, p 79.

शक्ति सिद्धान्त
(The Force Theory)

सिद्धान्त की व्याख्या—शक्ति सिद्धान्त के अनुसार राज्य की उत्पत्ति शक्ति अथवा बल प्रयोग के कारण हुई है। इसके अनुसार राज्य तथा शासन शक्ति पर आधारित हैं। राज्य सर्वोच्च शारीरिक शक्ति का परिणाम है और इसकी उत्पत्ति शक्तिशाली व्यक्तियों द्वारा निर्बल व्यक्तियों को अपने अधीन कर लेने की प्रवृत्ति से हुई है। इस सिद्धान्त के समर्थकों की यह धारणा है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होते हुए भी स्वभावतः झगड़ालू होता है। उसमें अधिकार के लिए लालसा होती है। अतः शक्तिशाली व्यक्ति स्वभावतः ही निर्बल लोगों पर अपना प्रभुत्व जमाने का प्रयत्न करते हैं। मानव विकास की प्रारम्भिक अवस्था में एक शक्तिशाली व्यक्ति निर्बल लोगों को अपने अधीन कर लेता था और इस प्रकार अपने अनुयायियों का एक दल बना लेता था। धीरे धीरे अपने अनुयायियों की संख्या में वृद्धि करके यह एक कबीले अथवा जनपद का मुखिया बन जाता था। उस समय विभिन्न कबीलों अथवा जनपदों में संघर्ष होता रहता था और इस प्रकार शक्तिशाली कबीला निर्बल कबीलों को जीतता हुआ अपने अधिकार क्षेत्र का विस्तार करता जाता था। इसी प्रक्रिया से राज्य की उत्पत्ति हुई। इस सिद्धान्त के अनुसार शक्ति केवल राज्य की उत्पत्ति तथा विकास का कारण ही नहीं है अपितु राज्य के अस्तित्व अथवा उसके जीवन का आधार भी शक्ति ही है। ह्यूम के शब्दों में, "राज्य की उत्पत्ति उस समय हुई जब किसी मानव दल के नेता ने शक्तिशाली और प्रभावशाली होकर अपने अनुयायियों पर अधिकार जमा कर उन पर अपनी सत्ता लादी होगी।"

इतिहास इस बात का साक्षी है कि अतीत तथा वर्तमान में अनेक राज्यों और साम्राज्यों की स्थापना शक्ति द्वारा हुई है। लीकॉक ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "राज्य का प्रारम्भ मनुष्य द्वारा मनुष्य को बन्दी तथा दास बनाये जाने, निर्बल कबीलों को विजयी तथा अधीन करने से एवं श्रेष्ठ शारीरिक बल प्रयोग द्वारा अपना प्रभुत्व स्थापित करने से हुआ है। कबीले से राज्य तथा राज्य से साम्राज्य का विकास इसी प्रक्रिया का परिणाम मात्र है।"[1] वाल्टेयर का यह कथन कि 'प्रथम राजा एक भाग्य-शाली योद्धा था।'[2] इस बात की ओर संकेत करता है कि राज्य की उत्पत्ति

1 "The beginning of the state is to be sought in the capture and enslavement of man by man, in the conquest and subjugation of feebler tribes and generally speaking, in the self seeking domination acquired by superior physical force. The progressive growth from tribe to kingdom and from kingdom to empire is but a continuation of the same process." —Leacock

2 "The First King was a fortunate warrior." —Voltair

शक्ति द्वारा हुई है। इस सम्बन्ध मे प्रसिद्ध विचारक जैक्स ने भी लिखा है कि "ऐतिहासिक दृष्टि से यह सिद्ध करने मे थोड़ी सी भी कठिनाई नहीं है कि आधुनिक प्रकार के समस्त राजनीतिक समुदायों का अस्तित्व सफल युद्धों के कारण ही है।"[1] राज्य का अस्तित्व भी शक्ति पर ही आधारित है इस बात को स्पष्ट करते हुए ब्लुशली ने लिखा है कि "शक्ति के बिना न तो कोई राज्य उत्पन्न होता है और न स्थायी रह सकता है।"[2]

शक्ति सिद्धान्त के मूल तत्त्व — उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि शक्ति सिद्धान्त के तीन मूल तत्त्व हैं, जो निम्नलिखित हैं

(1) राज्य की उत्पत्ति बलवानों द्वारा निर्बलों पर अपना अधिकार तथा प्रभुत्व जमाने के कारण हुई है।

(2) राज्य का अस्तित्व शक्ति पर ही निर्भर करता है।

(3) राज्य का उद्देश्य शक्ति को बनाये रखना तथा उसका विस्तार करना है।

शक्ति सिद्धान्त का विकास—शक्ति सिद्धान्त बहुत प्राचीन सिद्धान्त है। प्राचीन काल म यूनान के सोफिस्ट विचारकों ने राज्य की उत्पत्ति का कारण शक्ति को ही माना था। प्लेटो ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रिपब्लिक' मे इस बात का उल्लेख किया है कि थ्रेसीमेकस के अनुसार "न्याय शक्तिशाली के हित के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।" मध्ययुग मे चर्च और राजसत्ता के बीच संघर्ष के समय ईसाई धर्म प्रचारकों ने चर्च की सत्ता को राज्य से श्रेष्ठ बताते हुए यही तर्क दिया कि राज्य की उत्पत्ति का कारण तथा उसका आधार पाशविक शक्ति है। पोप ग्रेगरी सप्तम ने भी यही कहा था कि राजाओं तथा सामन्तों की उत्पत्ति का कारण उद्दण्डता, लूटमार, कपट, हत्या तथा अपराध करने की प्रवृत्ति ही है। आधुनिक काल के प्रारम्भ मे मैकियावेली ने भी राज्य का मूल आधार शक्ति माना है। 19वीं तथा 20वीं शताब्दी मे जिन विचारकों ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया, उनम गमप्लोविज (Gumplowics), रैटजनहाफर (Retzenhoffer) ओपेनहीमर (Oppenheimer), जेंक्स, वार्ड तथा स्माल के नाम अधिक उल्लेखनीय हैं। ओपेनहीमर के अनुसार "राज्य एक वर्गीय संगठन है जिसका जन्म युद्ध के द्वारा हुआ है।"

आधुनिक काल म अनेक राजनीतिक विचारधाराओं ने राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध म शक्ति सिद्धान्त का समर्थन किया है। व्यक्तिवादी विचारधारा राज्य को

---

1 "Historically speaking there is not the slightest difficulty in proving that all political communities of the modern type owe their existence to successful warfare —Jenks *A Short History of Politics*, p 71

2 ' Without force a State can neither come into being nor continue, *force is required within as well as without* ' —Bluntschli

शक्ति पर आधारित मानती है और इस कारण राज्य को एक आवश्यक बुराई समझती है। अराजकतावादी विचारधारा राज्य को शक्तिमूलक संस्था मानती है। उसके अनुसार राज्य एक अनावश्यक बुराई है जिसका शीघ्र अन्त हो जाना चाहिए। साम्यवादी विचारधारा के समर्थकों के अनुसार राज्य बल प्रयोग पर आधारित है और इसका विकास बलवान वर्गों द्वारा शक्तिहीन वर्गों का शोषण करने से हुआ है। इसलिए वे वर्ग विहीन तथा राज्यविहीन समाज में आस्था रखते हैं। साम्यवाद के प्रणेता लेनिन ने कहा है कि "राज्य पूँजीपतियों के हाथ में शोषण का एक ऐसा साधन है जिससे वे जनता के बहुसंख्यक भाग पर शासन करते हैं।"[1]

इसके अतिरिक्त निरंकुशता तथा अधिनायकतन्त्र में विश्वास रखने वाले जर्मन विचारकों ने दार्शनिक आधार पर शक्ति के सिद्धान्त का समर्थन किया है। ट्रीटस्के के शब्दों में, "राज्य आक्रमण और प्रतिरक्षा की सार्वजनिक शक्ति है जिसका मुख्य कार्य युद्ध करना और न्याय की व्यवस्था करना है।"[2] उन्होंने आगे कहा है कि इतिहास का महत्व राष्ट्रों के निरन्तर संघर्ष में निहित है और हथियारों के प्रति प्रेम इतिहास के अन्त तक जारी रहेगा।' जर्मनी के जनरल वॉन बर्नहार्ड का कथन है कि "शक्ति ही सर्वोच्च सत्य है, और सत्य क्या है, इस बात का निर्णय युद्ध द्वारा ही किया जाता है।"[3] गैलकिंग ब्रेनस का भी यही मत है कि "सबसे प्राचीन कानून जो ईश्वर से लेकर पशुओं तक व्याप्त है, यही है कि शक्तिशाली निर्बलों पर राज्य करे।"[4] वर्तमान समय में शक्ति सिद्धान्त का सबसे बड़ा प्रवर्तक ओपेनहीमर है। उसके अनुसार, "राज्य एक वर्गीय संगठन है, इसका जन्म उस समय हुआ है, जब शक्तिशाली समूह के द्वारा निर्बल समूहों पर विजय प्राप्त करके उन्हें अपने अधीन बना लिया गया था।"[5] नीत्शे ने भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया है :

---

1 "The State is the instrument of exploitation in the hands of capitalists who rule over the majority of population." —Lenin

2 "The State is the public power of offence and defence, the first task of which is the making of war and administration of justice." —Treitschke

3 "Might is the supreme right and the dispute as to what is right is decided by the arbitrament of war." —General Von Bernhardt

4 "The most ancient of all law which extends from the God to the beasts gives to the stronger rule over the weaks." —Gallicking Brennus

5 "The State may be defined as an organisation of one class organisation can come about in one way only, namely through conquest and the subjection of ethnic groups by the dominating group." —Oppenheimer

इस सिद्धान्त का व्यवहार मे हिटलर तथा मुसोलिनी ने अपनाया । इन दोनो ने शक्ति को राज्य का आधार माना तथा साम्राज्य विस्तार के लिए युद्ध का मार्ग अपनाया । साम्यवादी चीन ने भी इस सिद्धान्त का खुलकर समर्थन किया है। माओ-त्से तुग के अनुसार, "शक्ति बन्दूक की नली से निकलती है ।' [1]

शक्ति सिद्धान्त की आलोचना—शक्ति सिद्धान्त भी राज्य की उत्पत्ति की सन्तोषजनक व्याख्या नही करता । इस सिद्धान्त की जिन आधारो पर आलोचना की जाती है, वे निम्नलिखित हैं

(1) राज्य की उत्पत्ति का एकमात्र तत्व शक्ति नहीं—*यह मानना उचित नही है कि राज्य की उत्पत्ति केवल शक्ति से ही हुई है तथा शक्ति ही राज्य का एकमात्र तत्त्व है । वस्तुत राज्य की उत्पत्ति तथा विकास मे रक्त सम्बन्ध, धार्मिक एकता तथा आर्थिक हित आदि अन्य तत्त्वों ने भी शक्ति के समान ही महत्त्वपूर्ण योग दिया है ।* लीकॉक के शब्दो मे, **' शक्ति सिद्धान्त की भूल यह है कि समाज के विकास में जो तत्त्व केवल एक कारण रहा है, उसे यह समाज के विकास का एकमात्र नियामक तत्त्व मान लेता है ।'** [2] सीले ने भी इसी प्रकार के विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि "राज्य की उत्पत्ति केवल शक्ति के द्वारा नही हुई है, यद्यपि उसके विस्तार मे शक्ति ने निस्सन्देह रूप से भाग लिया है ।' [3] अत इस सिद्धान्त का एक प्रमुख दोष यह है कि यह एक तत्त्व पर अनुचित जोर देता है ।

(2) शक्ति राज्य का आधार नहीं— इस सिद्धान्त मे एक दोष यह है कि यह शक्ति को राज्य का आधार भी मानता है । *वस्तुत शक्ति राज्य की स्थायी आधार कभी भी नहीं हो सकती और न यह राज्य को दृढता एव स्थायित्व ही प्रदान कर सकती है ।* **राज्य का वास्तविक आधार जनता की सामान्य इच्छा अथवा जन सहयोग है ।** इतिहास इस बात का साक्षी है कि जन सहयोग के अभाव मे बड़े बड़े साम्राज्य नष्ट भ्रष्ट हो गये जबकि शक्ति का उनके पास अभाव नही था । लोग राज्य की आज्ञा का पालन शक्ति के भय के कारण नही करते वरन् इस कारण करते हैं कि ऐसा करना उनके स्वय के हित मे भी है । बोदा ने ठीक ही कहा है कि **"शक्ति केवल डाकुओं के गिरोह का ही सगठन कर सकती है राज्य का नहीं ।"** [4] ग्रीन के शब्दो मे

1 "Power comes out of the barrel of the gun" —Mao Tse Tung

2 "The theory of force errs in magnifying what has been only one factor in the evolution of society into the sole controlling force **Leacock** *Elements of Political Science*, p 33

3 "The emergence of the State was not due to force, although in *the process of expansion force has undoubtedly played a part* " — **Seeley** *Introduction to Pol. Sc*, pp 73-75

4 ' Superior force may make a band of robbers, but not of a state" —**Bodin**

कहा जा सकता है कि "राज्य का आधार शक्ति नहीं इच्छा है।"[1] दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि राज्य का आधार नैतिक बल होना है भौतिक बल नहीं। इस सम्बन्ध में गिलक्राइस्ट ने लिखा है कि "औचित्य के बिना शक्ति क्षणिक होती है औचित्य तथा शक्ति का संयोग राज्य का स्थायी आधार होता है। शक्ति औचित्य का निर्माण नहीं करती।"[2]

(3) निर्बलों की स्वतन्त्रता का अन्त—यदि शक्ति को राज्य का आधार मान लिया जाये तो इसका अर्थ यह है कि समाज में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत चरितार्थ होगी जिसके परिणामस्वरूप दुर्बल लोगों की स्वतन्त्रता खतरे में पड़ जायगी। वास्तविकता तो यह है कि आज राज्य सबलों की रक्षा के लिए नहीं, बल्कि निर्बलों की रक्षा के लिए स्थापित है। उसका लक्ष्य निष्पक्ष रूप से सभी के हितों तथा अधिकारों की रक्षा करना और सभी को समान अवसर प्रस्तुत करना है। अतः औचित्यरहित शक्ति व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की विरोधी होती है।

(4) विश्वशान्ति के लिए खतरनाक—यदि शक्ति को ही सर्वोच्च अधिकार मान लिया जाए और क्या सही है तथा क्या गलत है इसका निर्णय केवल युद्ध के द्वारा ही किया जाए तो इससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति कायम नहीं रह सकती। प्रत्येक राज्य अपने आपको अधिक शक्तिशाली सिद्ध करने के लिए दूसरे राज्यों के साथ निरन्तर संघर्ष की स्थिति में रहेगा जिसके परिणामस्वरूप सदैव युद्ध की अवस्था बनी रहेगी। यह निश्चित रूप से अशान्ति की अवस्था है जो विश्वशान्ति और सुरक्षा को खतरे में डालने वाली है।

(5) लोकतान्त्रिक परम्परा के विरुद्ध—यह सिद्धान्त लोकतान्त्रिक परम्परा तथा बन्धुत्व की भावना के विरुद्ध है। यह सिद्धान्त सबल तथा निर्बल के बीच भेद करता है जबकि लोकतन्त्र में सभी व्यक्तियों की समानता पर बल दिया जाता है। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य का आधार शक्ति है जबकि लोकतन्त्र का आधार स्वतन्त्रता, समानता, बन्धुत्व तथा न्याय की भावना है। यदि शक्ति को ही समस्त सम्बन्धों का आधार मान लिया जाये तो स्वतन्त्रता और बन्धुत्व नाम की चीज समाप्त हो जायेगी।

(6) मनुष्य के सद्गुणों की उपेक्षा—यह सिद्धान्त हिंसा और पाशविक शक्ति पर आधारित है। यह मानव प्रकृति की निम्न प्रवृत्तियों पर अत्यधिक जोर देता है। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य प्रकृति से स्वार्थी, दुष्ट तथा कृतघ्न है और उसमें प्रेम, उदारता, सहानुभूति सहिष्णुता आदि सद्गुणों को कोई स्थान नहीं है। मनुष्य

1 "Will not force, is the basis of the state" — T H Green

2 "Might without right can at best be only temporary Might without right is the permanent basis of the state Force does not creat right" — Gilchrist

की प्रकृति मे जहाँ एक ओर कुछ बुराइयाँ होती हैं, वहाँ दूसरी ओर कुछ अच्छाइयाँ भी होती हैं। इससे के शब्दों मे, "मानव-जगत में सहयोग और सहकारिता की भावना का स्थान प्रमुख है तथा पशु शक्ति और बल का स्थान गौण है।" यह सिद्धान्त मानव प्रकृति के केवल बुरे पक्ष पर जोर देता है और इस तरह उसके सद्गुणों की उपेक्षा करता है।

(7) शक्ति की अस्पष्ट व्याख्या—शक्ति सिद्धान्त के समर्थकों ने शक्ति की स्पष्ट व्याख्या नहीं की है। उन्होंने 'शक्ति' का प्रयोग केवल शारीरिक शक्ति के अर्थ मे ही किया है जबकि शारीरिक शक्ति से अधिक महत्त्व बौद्धिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक शक्ति का होता है। अतः वही राज्य स्थायी एवं शक्तिशाली हो सकता है जो पाशविक बल के स्थान पर नैतिक बल पर आधारित हो। इसके अतिरिक्त वर्तमान समय मे शारीरिक बल की अपेक्षा बुद्धि-बल को अधिक महत्त्व दिया जाता है। मनुष्य बुद्धि बल के आधार पर ही प्रकृति पर विजय प्राप्त करता जा रहा है। अतः वास्तविक शक्ति शारीरिक बल मे नहीं बल्कि नैतिक तथा बौद्धिक बल मे निहित है जिसकी यह सिद्धान्त उपेक्षा करता है।

संक्षेप मे, हम यह कह सकते हैं कि राज्य की उत्पत्ति का कारण शक्ति ही नहीं वरन मानव चेतना भी है जिसने नैतिक आदर्श को ग्रहण कर लिया है। गिलक्राइस्ट के शब्दों मे, "राज्य, सरकार तथा सभी संस्थाएँ वास्तव मे मानव चेतना के परिणाम हैं।"

शक्ति सिद्धान्त का महत्त्व—उपर्युक्त आलोचनाओं के होते हुए भी इस सिद्धान्त मे सत्य का पर्याप्त अंश है। ब्लुशली के अनुसार राज्य के उदय एवं विकास मे शक्ति का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। यह सिद्धान्त हमारा ध्यान इस बात की ओर भी आकर्षित करता है कि राज्य के अस्तित्व के लिए शक्ति का होना अत्यन्त आवश्यक है। शक्ति का प्रयोग राज्य की आज्ञाओं तथा कानूनों को मनवाने के लिए भी किया जाता है तथा इसी के द्वारा राज्य मे शान्ति और व्यवस्था रहती है। शक्ति के अभाव मे राज्य की सत्ता कायम नहीं रह सकती। फिर भी, हम रूसो के इस मत की उपेक्षा नहीं कर सकते कि शक्ति के सम्मुख व्यक्ति आज्ञापालन के लिए विवश हो सकता है किन्तु शक्ति पर स्थापित किसी संस्था को न तो स्थायी रखा जा सकता है और न उसका कोई नैतिक आधार ही होता है।

पितृसत्तात्मक एवं मातृसत्तात्मक सिद्धान्त
(Patriarchal and Matriarchal Theories)

परिवार राज्य का प्रारम्भिक स्वरूप—प्रायः अधिकांश विचारक इस बात पर सहमत हैं कि राज्य का उदय क्रमिक विकास का परिणाम है। परिवार के विस्तार-क्रम से ही राज्य अस्तित्व में आया है। परिवार समस्त मानवीय संस्थाओं मे सबसे प्राचीन संस्था है, यह सामाजिक जीवन की सर्वप्रथम इकाई है, अतः राज्य के जन्म के पीछे निश्चित रूप से परिवार का मुख्य हाथ रहा है। अरस्तू के शब्दों

मे, "सर्वप्रथम, परिवार का जन्म होता है। जब अनेक परिवार संयुक्त हो जाते हैं तथा उसका उद्देश्य दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति से कुछ अधिक होता है, तब ग्राम का जन्म होता है। जब अनेक ग्राम मिलकर एक ऐसे समाज का रूप धारण कर लेते हैं जो पूर्णत: या लगभग आत्मनिर्भर हो तब राज्य का उदय होता है।"[1] अरस्तू के इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि परिवार से ग्राम तथा ग्राम से राज्य की उत्पत्ति होती है। मेकाइवर के अनुसार भी "परिवार ही प्रथम सामाजिक इकाई था और इसी मे हमको प्रथम सरकार के कीटाणु दिखाई देते हैं।" इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि राज्य के विकास मे मूल रूप से परिवार ही उत्तरदायी है। दूसरे शब्दो मे, हम यह कह सकते हैं कि परिवार का विस्तृत तथा विकसित रूप ही राज्य है।

राज्य के परिवार-मूलक सिद्धान्त के दो पक्ष हैं—पैतृक सिद्धान्त तथा मातृक सिद्धान्त। इन दोनों में मुख्य भेद यह है कि प्रारम्भिक परिवार का स्वरूप पितृसत्तात्मक था अथवा मातृसत्तात्मक। यहाँ हम दोनो स्वरूपों का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

पितृसत्तात्मक सिद्धान्त

सिद्धान्त की व्याख्या—इस सिद्धान्त के अनुसार प्राचीन समय मे समाज व्यक्तियो का समूह न होकर परिवारो का समूह होता था तथा परिवार ही समाज की इकाई थे। राज्य का निर्माण परिवार के विकास से ही हुआ है। ये परिवार पितृसत्तात्मक थे अर्थात् इसमे वंशगणना पुरुषों के नाम से होती थी और परिवार के सबसे वृद्ध पुरुष को असीमित अधिकार प्राप्त थे। परिवार के प्रमुख का शासन निरंकुश होता था और कहीं कहीं तो इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि वह परिवार के सदस्यों को मृत्यु-दण्ड तक दे सकता था। उसकी मृत्यु के पश्चात् परिवार की सत्ता अगले वृद्ध पुरुष के हाथो में आ जाती थी। आरम्भ मे परिवार का स्वरूप बहुत छोटा था। धीरे धीरे परिवारो के विकास मे कुल, कुलों से कबीला तथा कबीलो के समूह से राज्य का जन्म हुआ। इस सिद्धान्त के प्रबल समर्थक सर हेनरी मेन ने लिखा है कि "प्रारम्भिक समूह परिवार है जो सबसे बड़े पुरुष पूर्वज की सामान्य अधीनता से बँधा हुआ होता है। परिवारों के योग से कुल बनता है। कुलों के योग से जाति या कबीला बनता है। कबीलों का योग राज्य का निर्माण

1 "The family arises first,. ... when several families are united and the association aims at something more than the supply of daily needs then comes into existence the village When several villages are united in a single community perfect and large enough to be nearly or quite self sufficing, the state comes into existence."

—Aristotle

करता है।"[1] लीकॉक ने भी राज्य के विकास-क्रम का वर्णन करते हुए लिखा है कि "पहले एक गृहस्थी, उसके बाद एक पितृ-प्रधान परिवार, उसके बाद एक वंश के लोगों का कबीला और फिर अन्त में एक राष्ट्र—इस आधार पर सामाजिक क्रम का निर्माण होता है।"[2]

इस सिद्धान्त की पाँच आधारभूत धारणाएँ हैं जो निम्नलिखित हैं

(1) पितृसत्तात्मक परिवार का आधार स्थायी विवाह और,गोत्र सम्बन्ध था।

(2) इस सिद्धान्त में पैतृकता मुख्य तत्व है।

(3) वंशावली केवल पुरुषों के नाम से ही चलती थी। स्त्री पक्ष का कोई भी उत्तराधिकारी परिवार में शामिल नहीं किया जाता था।

(4) राज्य ऐसे व्यक्तियों का समूह था जो प्रारम्भिक परिवार के एक सामान्य पूर्वज के वंशज थे।

(5) परिवार के प्रधान को व्यापक तथा असीमित अधिकार प्राप्त थे। उसके अधिकार क्षेत्र में परिवार के सभी सदस्य आ जाते थे। मरते समय यह प्रधान अपने समस्त अधिकार अपने उत्तराधिकारी को सौंप जाता था।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि पितृसत्तात्मक सिद्धान्त के सबसे प्रबल समर्थक सर हेनरी मेन थे। इन्होंने इस सिद्धान्त के समर्थन में हिब्रू, यूनानी, रोमवासी तथा भारतीय आर्यों के पारिवारिक जीवन के उदाहरण दिये हैं। इन सभी जातियों में परिवार में पिता की सत्ता की प्रधानता होती थी। समय बीतने पर परिवार बढ़कर नागरिक साम्राज्य बन गया और पिता या सबसे बड़ा पुरुष व्यक्ति राजा बन गया। वर्तमान समय में फ्रांसीसी विचारक ड्यूग्वी ने इस सिद्धान्त का जोरदार समर्थन किया है। उसके अनुसार, 'पिता परिवार का स्वाभाविक मुखिया होता है वह छोटे से राज्य का शासक होता है तथा उसके परिवार के लोग उसकी प्रजा होते हैं। प्राचीन नगर परिवारों का केवल एक संघ होता था जिसमें राजनीतिक शक्ति पिता के हाथों में होती थी।'[3]

—

1 'The elementary group is the family connected by common subjection to the highest male ascendent. The aggregation of the families forms the gens or houses. The aggregation of houses makes the tribe The aggregation of tribes constitutes the commonwealth.' —**Sir Henry Maine**

2 "First a household, then a patriarchal family, then a tribe of persons of kindred descent and finally a nation—so runs the social series erected on this basis"—**Leacock** *Elements of Political Science*, p 380

3 "He (the male parent) is the natural chief, the Governor of the little state of which the members of the family themselves are the governed The ancient city was merely a union of families in which political power belonged to the father" —**Duguit**

सिद्धान्त की आलोचना—*पितृसत्तात्मक सिद्धान्त की आलोचना करने वालों* मे मैक्लेनान, मोर्गन तथा जेंक्स (Mclennan, Morgan and Jenks) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस सिद्धान्त की आलोचना निम्नलिखित आधारो पर की जाती है

(1) **पितृसत्तात्मक व्यवस्था सार्वभौमिक नहीं थी**—मैक्लेनान तथा जेंक्स का विचार है कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था सार्वभौमिक नही थी। उनके अनुसार पितृसत्तात्मक पद्धति से पूर्व *मातृसत्तात्मक पद्धति प्रचलित थी। उस काल मे* एक स्त्री एक से अधिक पुरुषो के साथ विवाह करती थी। उस समय पिता का पता लगाना बहुत कठिन था क्योकि एक स्त्री के कई पति होते थे। ऐसी स्थिति मे वंशावली पिता के बजाय माता के नाम पर मानी जाती थी। अत इन विचारको के अनुसार मातृ-प्रधान परिवार पितृ प्रधान परिवार से अधिक पुराने हैं।

(2) **सामाजिक इकाई परिवार न होकर कबीला थी**—जेंक्स का कथन है कि हेनरीमेन का यह विचार कि परिवारो ने वंश को जन्म दिया है तथा वंशो ने कबीले को जन्म दिया है उल्टा है। उसके अनुसार वास्तविकता तो यह है कि समाज की प्रारम्भिक इकाई परिवार न होकर कबीला थी तथा कबीले के वंश और वंशो से परिवार का *जन्म हुआ है। अपने इस मत के समर्थन मे जेंक्स ने आस्ट्रेलिया और मलाया द्वीप* समूह की प्राचीन जातियो के समाजो के कुछ उदाहरण दिये हैं।

(3) **राज्य की उत्पत्ति पर सही प्रकाश नहीं डालता**—पितृसत्तात्मक सिद्धात का एक दोष यह भी है कि राज्य की उत्पत्ति पर सही प्रकाश नही डालता। यह सिद्धात केवल यह अनुमान करता है कि समाज का और विशेष रूप से परिवार का विकास किस प्रकार हुआ।

(4) **समाज का प्रारम्भिक सगठन सरल नहीं था**—यह सिद्धान्त बहुत ही सरल रूप मे राज्य की उत्पत्ति की व्याख्या करता है। वस्तुत समाज का प्रारम्भिक सगठन इतना सरल नही था जैसा इस सिद्धात के समर्थक मानते हैं। समाज निर्माण के तत्व इसकी तुलना म कही अधिक जटिल रहे हैं। सर जे० जी० फ्रेजर ने अपनी पुस्तक दी गोल्डन बफ (The Golden Bough) म यह बताया है कि "जो कोई सस्थाओ के इतिहास की खोज करता है उसे उन विषयों की असीम जटिलता को निरन्तर ध्यान मे रखना चाहिए जिनसे मानव समाज का निर्माण हुआ है।"

मातृसत्तात्मक सिद्धान्त

सिद्धान्त की व्याख्या—इस सिद्धान्त के प्रमुख समर्थको मे मैक्लेनान, मोर्गन तथा जेंक्स के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानो का मत है कि प्रारम्भ मे परिवार का रूप पितृसत्तात्मक न होकर मातृसत्तात्मक था। उस समय स्थायी विवाह जैसी कोई चीज नही थी। उस समय बहुपतित्व प्रणाली प्रचलित थी अर्थात् एक स्त्री के कई पति होते थे। उस समय के समाज म स्वच्छन्द यौन सम्बन्ध थे। ऐसी स्थिति में उत्पन्न होने वाली किसी भी सन्तान के पिता के सम्बन्ध मे पता लगाना बहुत

कठिन था, उसको केवल माँ को ही जाना जा सकता था। अत पिता का कोई निश्चित ज्ञान न होने के कारण वंशगणना माता के नाम से चलती थी। परिवार की समस्त *सम्पत्ति तथा सन्तान पर माता का ही अधिकार होता था। इन परिवारो मे प्रमुख पुरुष न* होकर स्त्रियाँ ही होती थी। इस कारण इन परिवारो को मातृसत्तात्मक कहा गया है।

मोर्गन के अनुसार, "प्रारम्भिक कुल मातृ-प्रधान रूप मे संगठित था, जो वंशानुगत तथा एकपक्षीय इकाई था। एकपक्षीय इसलिए कि इस प्रणाली के अधीन बच्चे अपनी माता के होते थे जिसके साथ पिता के कुल का कोई सम्बन्ध नहीं होता था।" *स्विस विचारक जे॰ जे॰ बैशेफन (J J Bachofen) का मत है कि* **"प्रारम्भिक समाज मे केवल वंश-परम्परा ही माता से नहीं होती थी बल्कि सम्पत्ति पर अधिकार भी माता का ही होता था तथा समाज में स्त्रियों की स्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी।"** **जैंक्स** ने आस्ट्रेलिया के आदिम निवासियो के जीवन का अध्ययन करने के पश्चात् हेनरीमेन की इस धारणा को ठुकरा दिया कि पितृसत्तात्मक परिवारो [redacted] विस्तार से कुल, कुलो के विस्तार से कबीले तथा कबीलो के विस्तार से राज्य का जन्म हुआ है। उसके अनुसार मातृ-प्रधान समाज की रचना का विकासक्रम इससे भिन्न है। ऐसे समाज मे सबसे *पुराना तथा प्रारम्भिक जन समूह परिवार न होकर 'टोटम अथवा कबीला होता था।* समय के साथ साथ एक कबीला कई कुलो म बँट गया, कुल कुनबो मे बँट गये तथा कुनबो के अन्तर्गत परिवारो का जन्म हुआ। अत जैंक्स के अनुसार, **"मातृ-प्रधान सिद्धान्त बड़े समुदाय मे से छोटे समुदाय का जन्म मानता है, छोटे समुदाय मे से बड़े समुदाय का नहीं।"** इस सिद्धान्त के समर्थको का मत है कि भारत की द्रविड जातियो *तथा आस्ट्रेलिया एव मलाया के आदिवासियो मे मातृसत्तात्मक परिवारो के उदाहरण* आज भी मिलते हैं।

मातृसत्तात्मक सिद्धान्त की विशेषताएँ—इस सिद्धान्त की चार प्रमुख विशेषताएँ हैं जो निम्नलिखित हैं :

(1) विवाह सम्बन्ध स्थायी नही थे।
(2) रक्त सम्बन्ध माता से माना जाता था, पिता से नही।
(3) परिवार की स्वामी एव प्रधान माता ही होती थी।
(4) सम्पत्ति का उत्तराधिकार केवल स्त्रियो को ही प्राप्त था।

आलोचना—इस सिद्धान्त की आलोचना निम्न आधारो पर की जाती है

(1) पैतृक सिद्धान्त के समान मातृक सिद्धान्त भी सर्वव्यापी और सार्वभौम नहीं है। इतिहास मे हमे इस बात के कोई ठोस प्रमाण नही मिलते कि प्रारम्भिक परिवार का स्वरूप *मातृ प्रधान ही था।* हमारा *अनुमान* यह है कि किसी जाति मे मातृ प्रधान परिवार रहा होगा तथा किसी मे पितृ-प्रधान परिवार। डा॰ लीकॉक ने ठीक ही लिखा है कि **"कहीं मातृ प्रधान सिद्धान्त और कहीं पितृ प्रधान सिद्धान्त का नियम दिखाई देता है, अत. परिवार के सम्बन्ध मे दोनों मे से किसी एक स्वरूप को स्वीकार करना उचित नहीं है।"**

(2) पैतृक सिद्धान्त के समान यह सिद्धान्त भी **राज्य की उत्पत्ति की सही व्याख्या नहीं करता।** यह सिद्धान्त भी राजनीतिक होने के बजाय सामाजिक अधिक है क्योंकि यह राज्य की उत्पत्ति के बजाय परिवार और वंश के निर्माण की प्रक्रिया का वर्णन करता है।

(3) पैतृक सिद्धान्त के समान यह सिद्धान्त भी परिवार को ही राज्य का आधार मानता है परन्तु वास्तविकता तो यह है कि राज्य की उत्पत्ति तथा विकास का एकमात्र कारण परिवार नहीं है। परिवार के अतिरिक्त कई अन्य तत्वों ने भी राज्य की उत्पत्ति में योग दिया है। वस्तुत परिवार और राज्य दोनों के **संगठन, कार्यों और उद्देश्यों में बहुत बड़ा अन्तर है।** अत यह कहना कि परिवार से राज्य बने, युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। विलोबी का कथन है कि "**यह विचार कि राज्य परिवार का ही विराट स्वरूप है, उचित नहीं क्योंकि दोनों संगठनों के उद्देश्यों में महान अन्तर है।**"

निष्कर्ष—उपरोक्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि इन दोनों सिद्धान्तों में से कोई भी राज्य की उत्पत्ति की सही व्याख्या नहीं करता परन्तु फिर भी ये दोनों सिद्धान्त वंश अथवा रक्त सम्बन्ध के महत्त्व की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। ये सिद्धान्त हमें यह बताते हैं कि रक्त सम्बन्धों ने सामाजिक बन्धनों को किस प्रकार सुदृढ़ बनाने में योग दिया है जिनके बिना राज्य का उदय सम्भव नहीं होता।

सामाजिक समझौते का सिद्धान्त
(The Social Contract Theory)

सिद्धान्त की व्याख्या—राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्तों में सामाजिक समझौते का सिद्धान्त सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। 17वीं तथा 18वीं शताब्दी की राजनीतिक विचारधारा में इसी सिद्धान्त की प्रधानता रही। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य दैवी अथवा ईश्वरीय रचना नहीं है बल्कि यह एक मानवीय संस्था है जिसका निर्माण प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले मनुष्यों ने अपनी इच्छा से पारस्परिक समझौते के द्वारा किया है। इस तरह इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य की शक्ति का स्रोत भी दैवी न होकर मानवीय इच्छा होती है। विलोबी ने इस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए लिखा है कि '**सामाजिक समझौते का सिद्धान्त राज्य को समाज के उन व्यक्तियों द्वारा किये गये समझौते का परिणाम मानता है जो इसके निर्माण के पूर्व सब प्रकार के राजनीतिक नियन्त्रण से पूर्णतया मुक्त थे।**'[1] सामाजिक सिद्धान्त के समर्थकों ने इस सिद्धान्त की व्याख्या तीन तत्त्वों के आधार पर की है—(1) **प्राकृतिक अवस्था,**

---

1 "Contract theory founds the state upon an original agreement entered into by the individuals of a society who prior to that time, have been entirely independent of political control"

—Willoughby

(2) समझौता, (3) नागरिक समाज अथवा राज्य। परन्तु इन तीनों के स्वरूप के सम्बन्ध मे इस सिद्धान्त के समर्थकों के विचारों मे काफी अन्तर हैं जो निम्न हैं

(1) **प्राकृतिक अवस्था (State of Nature)**—इस सिद्धान्त के समर्थक राज्य के निर्माण से पहले की अवस्था को **प्राकृतिक अवस्था** का नाम देते हैं। इस अवस्था के सम्बन्ध मे उनके विचारों मे काफी भिन्नता है। कुछ विचारक इस अवस्था को **पूर्व-राजनीतिक** (Pre-political) मानते हैं तथा कुछ इसे अराजनीतिक होने के साथ-साथ असामाजिक अथवा **पूर्व-सामाजिक** (Pre social) भी मानते हैं। इसी प्रकार कुछ विचारकों के अनुसार यह अवस्था बहुत ही अन्धकारपूर्ण तथा कष्ट-दायक अवस्था थी जिसमें चारों ओर अराजकता तथा अशान्ति व्याप्त थी और मनुष्यों का जीवन सुरक्षित नहीं था जबकि इसके विपरीत कुछ अन्य विचारकों के अनुसार यह सुख, सरलता, शान्ति और पारस्परिक आदर एवं मित्रता की अवस्था थी। इस अवस्था मे न कोई शासक था और न कोई शासित, न कोई कानून था और न नियमित जीवन। इस अवस्था मे मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन अस्पष्ट प्राकृतिक नियमों द्वारा होता था। प्राकृतिक अवस्था के स्वरूप के सम्बन्ध में विचारकों मे चाहे जितना मतभेद हो परन्तु इस बात से प्राय सभी सहमत हैं कि कुछ कठिनाइयों के *कारण उन्हे प्राकृतिक अवस्था को छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा तथा पारस्परिक* समझौते द्वारा राज्य की स्थापना की। इस समझौते के फलस्वरूप व्यक्ति को अपनी प्राकृतिक स्वतन्त्रता आंशिक या पूर्ण रूप मे छोड़नी पड़ी तथा इसके बदले मे उसे राज्यों और उसके कानूनों द्वारा सुरक्षा प्राप्त हुई। अब प्राकृतिक कानूनों का स्थान मानव द्वारा बनाये हुए कानूनों ने तथा प्राकृतिक अधिकारों का स्थान सामाजिक अधिकारों ने लिया। इस प्रकार समझौते द्वारा मनुष्यों ने प्राकृतिक अवस्था के विशेषाधिकारों के स्थान पर सामाजिक उत्तरदायित्वों को ग्रहण किया।

(2) **समझौता**—इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्यों ने समझौते द्वारा राज्य की स्थापना की है परन्तु समझौते के स्वरूप, शर्तों एवं परिणामों के सम्बन्ध मे विचारकों मे मतभेद है। कुछ विचारकों के अनुसार केवल एक समझौता हुआ जिससे समाज का जन्म हुआ, इसलिए यह **सामाजिक समझौता** कहलाता है परन्तु कुछ अन्य विचारकों के अनुसार समझौते दो हुए, एक से समाज तथा दूसरे से सरकार का निर्माण हुआ। अतः सामाजिक समझौते के अतिरिक्त एक **राजनीतिक समझौता** भी हुआ। कुछ विचारक इस समझौते को एक **ऐतिहासिक** घटना मानते हैं जबकि कुछ अन्य विचारक इसे एक कल्पना-मात्र मानते हैं जिसका उद्देश्य एक दार्शनिक सत्य का प्रतिपादन करना है। इसके अतिरिक्त समझौते की व्याख्या भी भिन्न भिन्न प्रकार से की गई है। हॉब्स ने इसके आधार पर निरंकुश राजतन्त्र का, लॉक ने इसके आधार पर वैधानिक राजतन्त्र का तथा रूसो ने इसके आधार पर जनतन्त्र का प्रतिपादन किया।

(3) **नागरिक समाज**—इस सिद्धान्त के समर्थक यह मानते हैं कि समझौते के द्वारा प्राकृतिक अवस्था का अन्त हो गया और एक सामाजिक तथा राजनीतिक

संगठन की स्थापना हुई। इस संगठन के स्वरूप तथा उसकी सत्ता के सम्बन्ध में भी विद्वान एकमत नहीं हैं। अब प्राकृतिक कानूनों का स्थान मानवीय कानूनों ने ले लिया।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त की विस्तृत बातों के सम्बन्ध में विचारकों के विचारों में भिन्नता है। इसका मूल कारण निश्चित ऐतिहासिक तत्वों का अभाव है। इन्हीं बातों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि "सामाजिक समझौता एक ऐसी सुनम्य कल्पना (plastic fiction) है जिसे लेखकों ने इच्छानुसार मोड़कर अपने विचारों के अनुकूल ढाल लिया है।" इस सिद्धान्त का निचोड़ यह है कि शासन सत्ता तभी न्यायसंगत है जब उसे शासितों का समर्थन प्राप्त हो।

समझौता सिद्धान्त का इतिहास—सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है तथा भारत और अनेक पश्चिमी देशों में इस सिद्धान्त को व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ है। महाभारत के शान्तिपर्व में इस बात का उल्लेख मिलता है कि पहले राज्य नहीं था जिसके कारण चारों ओर अशान्ति तथा अराजकता फैली हुई थी और लोगों का जीवन कष्टमय था। शक्तिशाली लोग निर्बलों को सताया करते थे। ऐसी स्थिति से तंग आकर मनुष्यों ने आपस में समझौता किया तथा ब्रह्मा के परामर्श से मनु को अपना शासक और राजा स्वीकार किया। चाणक्य ने अपने ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' में इस सिद्धान्त का समर्थन करते हुए लिखा है कि "बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को निगल जाती हैं, इस कहावत के अनुसार अराजकता [redacted] पीड़ित प्रजा ने सर्वप्रथम वैवस्वत मनु को अपना राजा चुना और अपने धान्य का छठा भाग तथा अपनी व्यापारिक वस्तुओं एवं स्वर्ण का दसवाँ भाग राजसत्ता को देना स्वीकार किया। इस धन की सहायता से राजा ने अपने प्रजाजनों की सुरक्षा और शान्ति को बनाये रखने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया।"[1] जैन तथा बौद्ध साहित्य में भी इस बात का उल्लेख मिलता है कि राज्य के निर्माण से पूर्व अराजकता की स्थिति व्याप्त थी जिसका अन्त करने के लिए लोगों ने शक्तिशाली व्यक्ति के साथ एक समझौता करके उसे अपना राजा बनाया।

पश्चिम में इस सिद्धान्त का सर्वप्रथम प्रतिपादन आज से लगभग 2400 वर्ष पूर्व यूनान में सोफिस्ट विचारकों द्वारा किया गया। उनके मतानुसार राज्य प्राकृतिक न होकर मानवकृत संस्था है जिसका निर्माण मनुष्यों ने आपस में मिल-जुलकर किया है। राज्य की उत्पत्ति भय तथा मनुष्य की स्वार्थपूर्ण प्रवृत्ति से हुई है। उनके पश्चात् एपीक्यूरियन विचारकों ने भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया। उनका विचार था कि राज्य मनुष्य की स्वार्थ परायणता पर आधारित है तथा मनुष्य कानून का पालन इसीलिए करते हैं कि इसमें उनकी सुरक्षा तथा भलाई निहित है। रोम में भी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। रोमन विचारकों के अनुसार राजनीतिक सत्ता

1 *Arthshastra*, Bk 1, Chapter XII

जनता में निवास करती है। जनता ने समझौते के द्वारा सरकार को अपनी समस्त शक्तियाँ सौंप दी हैं तथा जनता सरकार को नहीं हटा सकती है। मध्ययुग में भी यह सिद्धान्त काफी मान्य रहा है। ट्यूटनों (Tutons) का विचार था कि राजा की शक्ति जनता से प्राप्त होती है तथा वह जनता के हित में शासन करने के लिए वचनबद्ध होता है। मध्यकाल में यूरोप में सामन्तवादी व्यवस्था प्रचलित थी। इस व्यवस्था का आधार भी समझौता ही था। 11वीं शताब्दी में मेनगोल्ड (Manegold) ने इस मत का समर्थन करते हुए यह कहा कि "यदि राजा उस समझौते को भंग करता है जिसके अनुसार उसे राजा चुना गया था तो उसे अपने पद से हटाया जा सकता है।" 13वीं शताब्दी में प्रसिद्ध ईसाई विचारक सन्त टॉमस एक्वीनास ने भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया है।

16वीं तथा 17वीं शताब्दी में सामाजिक समझौते का सिद्धान्त बहुत लोकप्रिय हुआ। अंग्रेज विचारक रिचार्ड हूकर (Richard Hooker) पहला वैज्ञानिक लेखक था जिसने सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की तर्कपूर्ण व्याख्या की। उसने लिखा है कि मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था अशान्ति एवं संघर्ष की अवस्था थी, इसलिए मनुष्यों ने समझौता करके राज्य की नींव डाली। अल्थूसियस (Althusius) तथा डच न्यायाधीश ह्यूगो ग्रोशियस ने भी समाज तथा राज्य को सामाजिक समझौते पर आधारित बताया है। प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने भी राज्य की शक्ति का मूल स्रोत जनता को माना है। जर्मनी के विचारक सेम्युएल प्यूफेण्डार्फ (Samuel Pufendarf) के अनुसार मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था बहुत ही कष्टप्रद अवस्था थी जिससे छुटकारा पाने के लिए मनुष्यों ने समझौते द्वारा राज्य की स्थापना की। स्पिनोजा (Spinoza) ने भी इसी मत का समर्थन किया है। परन्तु इस सिद्धान्त का सबसे प्रबल समर्थन हॉब्स, लॉक तथा रूसो के द्वारा किया गया है। सामाजिक समझौते के सिद्धान्त पर विचार करते समय हमारा मुख्य सम्बन्ध इन तीनों विचारकों के राजनीतिक दर्शन से है। इन तीनों विचारकों को सामूहिक रूप से अनुबन्धवादी या समझौतावादी कहा जाता है।

थॉमस हॉब्स (1588-1679)
(Thomas Hobbes)

जीवन-परिचय—हॉब्स इंगलैण्ड का महान दार्शनिक था। उसके राजनीतिक दर्शन पर दो बातों की छाप स्पष्ट दिखाई देती है—भय तथा निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन। इस दार्शनिक का जन्म उस वर्ष हुआ जब स्पेन के अजेय जलबेड़े 'आर्मेडा' के आक्रमण से इंगलैण्ड निवासी बहुत भयभीत हो रहे थे। ऐसा कहा जाता है कि इस भय से आतंकित होकर ही उसकी माँ ने अवधि के पहले ही उसको जन्म दे दिया था। फलस्वरूप भय जीवन भर हॉब्स की प्रकृति में समाया रहा। उसने कहा भी है कि "वह और भय दोनों जुड़वाँ पैदा हुए हैं।" बड़े होने पर हॉब्स ने इंगलैण्ड में गृह-युद्ध की विभीषिका का अनुभव किया। इस घटना से भी उसके मन पर भय का एक आतंक सा छा गया। इस कारण कुछ विचारक हॉब्स को 'भय से आतंकित दार्शनिक'

कहते हैं। हॉब्स ने अपने जीवन काल में इंगलैण्ड में गृहयुद्ध (1642-49) देखा जिसमें वहाँ के राजा चार्ल्स प्रथम को मौत की सजा दी गयी। गृह युद्ध से उत्पन्न अराजकता और अत्याचारों को देखकर हॉब्स इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि शक्तिशाली राजा के बिना देश में शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना नहीं हो सकती। वैसे भी उसका झुकाव प्रारम्भ से ही राजतन्त्र की ओर था, फलस्वरूप उसने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ **लेवियाथन** (Leviathan, 1651) में निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन किया।

हॉब्स की विशेषता यह है कि उसने निरंकुश राजतन्त्र के समर्थन के लिए पहले से चले आ रहे राजाओं के दैवी अधिकार के सिद्धान्त का सहारा नहीं लिया बल्कि उसने सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का सहारा लिया जिसका प्रयोग अभी तक राजाओं की सत्ता का विरोध करने वाले लोगों के द्वारा किया जा रहा था। इस प्रकार हॉब्स ने राजतन्त्र विरोधी शस्त्र का प्रयोग उसी के समर्थन में किया। उसके सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की व्याख्या निम्नलिखित है

मानव-स्वभाव—हॉब्स मनुष्य को असामाजिक प्राणी मानता है। वह मानव-स्वभाव के बुरे पक्ष को प्रधानता देता है। उसके अनुसार मनुष्य मुख्य रूप से स्वार्थी, अहंकारी, लोभी तथा एक दूसरे का विरोधी होता है। उसमें दया, सहानुभूति, सहयोग, परोपकार तथा प्रेम आदि सद्गुणों का अभाव होता है और यदि कभी उसमें इन सद्गुणों का उदय होता भी है तो यह भी केवल स्वार्थसिद्धि के लिए होता है। मनुष्य सदैव अपनी स्वार्थमयी इच्छाओं की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है। अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए वह शक्ति-संचय करने का प्रयत्न करता है। जब सभी मनुष्य शक्ति-संचय का प्रयत्न करते हैं तथा एक ही वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं तो ऐसी स्थिति में वे एक दूसरे के शत्रु हो जाते हैं। वे आपस में संघर्ष करने लगते हैं तथा एक दूसरे को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। हॉब्स के शब्दों में, **"हम मानव-स्वभाव में झगड़े के तीन मुख्य कारण देखते हैं—पहला प्रतिस्पर्धा, दूसरा पारस्परिक अविश्वास तथा तीसरा यश। प्रतिस्पर्धा के कारण वे लाभ के लिए, आपसी अविश्वास के कारण वे सुरक्षा के लिए तथा यश प्राप्त करने के कारण वे प्रसिद्धि के लिए परस्पर झगड़ते हैं।"**[1] अतः ऐसे स्वभाव वाले मनुष्यों को कोई शक्ति ही वश में रख सकती है।

प्राकृतिक अवस्था—हॉब्स मानव स्वभाव के समान प्राकृतिक अवस्था का भी अन्धकारपूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है। इस अवस्था में समाज तथा राज्य जैसा कोई संगठन नहीं था। मनुष्य के स्वार्थपूर्ण स्वभाव तथा शक्ति के अभाव [redacted] कारण यह

---

1 'So that in the nature of man, we find three principal causes of quarrel—first competition second diffidence, thirdly glory The first maketh man invade for gain, the second for safety, the third for reputation' —**Hobbes** *Leviathan* Part I, Chapter 13

अशान्ति, अराजकता तथा युद्ध की अवस्था थी। यह निरन्तर युद्ध तथा संघर्ष की अवस्था थी। इसमें "प्रत्येक व्यक्ति का हर दूसरे व्यक्ति के साथ युद्ध होता था।"[1] इसमें 'मनुष्य का जीवन एकाकी, निर्धन, घृणित, पाशविक एवं क्षणिक होता है।"[2] इस तरह प्राकृतिक अवस्था के मनुष्य भूखे भेड़ियों के समान हैं जिनमें से हर एक दूसरे को निगल जाना चाहता है। इस अराजकतापूर्ण अवस्था में "जिसकी लाठी उसकी भैंस" तथा "जिसे मार सकते हो, उसे मार डालो तथा जिसे छीन सकते हो, उसे छीन लो" का नियम प्रचलित था। इस अवस्था में उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय, सत्य असत्य तथा अच्छाई-बुराई का कोई ज्ञान नहीं था। हॉब्स के शब्दों में, 'ऐसी दशा में उद्योग, संस्कृति, जल परिवहन, भवन, निर्माण, यातायात के साधनों, ज्ञान, समाज आदि का कोई स्थान नहीं है।"[3] दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि इस अन्धकारपूर्ण अवस्था में सभ्यता, संस्कृति, कला तथा साहित्य आदि का विकास सम्भव नहीं था।

समझौते [redacted] कारण—हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था में न तो जीवन की सुरक्षा थी और न ही सम्पत्ति की। ऐसी अवस्था से ऊबकर उसे समाप्त करने के लिए मनुष्यों ने एक समझौता किया। परन्तु यहाँ यह प्रश्न उठता है कि प्राकृतिक अवस्था की इस असहनीय स्थिति से छुटकारा पाने के लिए असभ्य मनुष्यों के मस्तिष्क में एकाएक समझौते की कल्पना कैसे आई? हॉब्स के अनुसार मनुष्य को मृत्यु से भय लगता है। उसका एकमात्र उद्देश्य आत्म-रक्षा है। मनुष्य का विवेक उसे समझाता है कि आत्म-रक्षा के लिए ऐसी स्थिति बने रहने देना वांछनीय नहीं है। उसका विवेक शान्तिपूर्ण जीवन सम्भव बनाने के लिए कुछ 'आचरण के नियम' भी सुझाता है। इन नियमों को हॉब्स ने प्राकृतिक नियमों की संज्ञा दी है। उसने इस प्रकार के 19 प्राकृतिक नियमों का उल्लेख किया है। इन नियमों का सार यह है कि जैसे भी सम्भव हो अपने जीवन की रक्षा करो और ऐसा कोई कार्य न करो जिससे प्राण-हानि का भय हो। इन प्राकृतिक नियमों का पालन कराने के लिए शक्तिशाली शासक आवश्यक था। इस शासक के निर्माण के लिए ही मनुष्यों ने आपस में समझौता किया।

समझौते का स्वरूप—नागरिक समाज का निर्माण करने के लिए मनुष्यों ने प्राकृतिक अवस्था में समस्त अधिकार एक सर्वमान्य नेता को सुपुर्द कर दिये। हॉब्स के अनुसार यह समझौता प्रत्येक का सबके साथ तथा सबका प्रत्येक के साथ हुआ। इसमें प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से यह कहता है कि 'मैं अपने ऊपर शासन करने

1 "It was a war of every man against every man" — Hobbes

2 "The life of man was solitary, poor, nasty, brutish and short" —Hobbes

3 "In such condition there is no place for industry, no culture, no navigation, no commodious building, no instruments of moving, no knowledge, no letters, no society"—Hobbes *Leviathan*, Part I, Chapter 13, pp 112-113

[illegible] अपने अधिकार को इस व्यक्ति अथवा व्यक्तियो के समूह को इस शर्त पर सौंपता हूं कि आप सब भी अपने समस्त अधिकार इसको सौंप दे और इस प्रकार उसे सभी कार्यों के लिए प्राधिकार दे दें।"[1]

इस प्रकार इस समझौते के द्वारा सभी व्यक्तियो ने अपने प्राकृतिक अधिकारो को एक व्यक्ति विशेष अथवा मनुष्यो की सभा को समर्पित कर दिया। जिस व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह को ये सारे अधिकार सौंपे गये, वह प्रभुसत्ता से विभूषित होकर शासक बन गया तथा शेष सभी व्यक्ति उसकी प्रजा बन गय। इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति होती है।

समझौते की विशेषताएँ—हॉब्स के सामाजिक समझौते की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित है

(1) यह समझौता एक ही साथ सामाजिक एव राजनीतिक दोनो प्रकार का है। एक ही समझौते से सगठित समाज की स्थापना हुई तथा उसी से राजसत्ता की स्थापना हुई।

(2) शासक इस समझौते म भाग नही लेता। वह केवल सत्ता प्राप्त करता है तथा उसके बदले मे कोई शर्त स्वीकार नही करता। अत उसकी शक्ति असीमित है तथा उसके अधिकार निरकुश है।

(3) समझौता सब व्यक्तियो ने अपनी स्वतन्त्र इच्छा से किया है, अत एक बार अपनी प्राकृतिक शक्ति को सौपने के पश्चात् वे न तो इस समझौते को भग ही कर सकते हैं और न उसमे अलग ही हो सकते है।

(4) राजसत्ता समझौता करने वाले व्यक्तियो के प्रति उत्तरदायी नही होती। अत न तो इस सत्ता का विरोध किया जा सकता है और न उसकी आज्ञा का उल्लघन ही किया जा सकता है। ऐसा करना समझौते के विरुद्ध होगा जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति वापस प्राकृतिक अवस्था मे पहुँच जायेगा जिससे निकलने के लिए उन्होने समझौता किया था।

(5) नियम अथवा विधि राजसत्ता का आदेश है तथा प्रभुसत्ता ही विधियो का स्रोत है।

(6) राजसत्ता के नियमो को अनैतिक अथवा अवैध नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि विधि या नियम सम्पूर्ण विवेक है। इसके अतिरिक्त उसके कार्यों को कभी भी गलत तथा न्याय विरुद्ध नही ठहराया जा सकता। प्रजा उसे किसी प्रकार का दण्ड भी नही दे सकती है।

---

1 "I authorize and give up my right of governing myself to this man or to this assembly of men on this condition that thou give up thy right to him and authorize all his actions in like manner' —**Hobbes** · *Leviathan*, Part I, Chapter 17, p 89.

(7) नियम बनाने की सम्पूर्ण शक्ति राजसत्ता के पास है जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति यह जान सकता है कि वह किन वस्तुओ तथा किन अधिकारो का उपभोग कर सकता है। इस तरह प्रजाजन अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग शासन के नियमो के अधीन रहते हुए ही कर सकते हैं।

(8) प्रभुसत्ता की शक्ति असीम, अविभाज्य तथा अनियन्त्रित होती है। वह आन्तरिक एव बाह्री दोनो क्षेत्रों मे सर्वोच्च होती है।

(9) न्याय करने का अन्तिम अधिकार भी राजसत्ता को ही प्राप्त है।

(10) हॉब्स राज्य तथा सरकार के बीच कोई भेद नही करता तथा वह सरकार के अन्त को ही राज्य का अन्त मान लेता है।

राज्य का स्वरूप—समझौते के आधार पर हॉब्स ने निरकुश राजतन्त्र का समर्थन किया है। उसके अनुसार समझौते से जो राज्य बनता है उसमे एक सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न सत्ता होती है। ऐसी सत्ता के बिना राज्य नहीं बन सकता। यह सत्ता सर्वोच्च तथा असीमित होती है। सत्ताधारी के अधिकार निरकुश होते हैं। वही कानूनो का निर्माता तथा उनका व्याख्याता है। वही न्याय और नैतिकता का स्रोत है। अतः नैतिकता के आधार पर राजसत्ता का कभी विरोध नही किया जा सकता। राजसत्ता द्वारा कभी कोई नैतिक तथा कानूनी अपराध भी नहीं किया जा सकता। धर्म के क्षेत्र मे भी हॉब्स राजसत्ता को विशेषाधिकार प्रदान करता है। उसके अनुसार धर्म के नियमो की अधिकृत व्याख्या करने का अधिकार सर्वोच्च सत्ताधारी को ही होना चाहिए। हॉब्स के अनुसार राजसत्ताधारी पर कोई भी कानूनी, नैतिक, राजनीतिक तथा धार्मिक प्रतिबन्ध नहीं लगाये जा सकते। इस तरह उसने प्रभुसत्ता को निरकुश बना दिया है।

परन्तु हॉब्स के अनुसार मनुष्यो ने समझौते के द्वारा आत्म-रक्षा अथवा जीवन के अधिकार को समर्पित नही किया। अत यदि राज्य ऐसी आज्ञा दे जिससे व्यक्ति के जीवन का अन्त होता हो तो व्यक्ति ऐसी राजाज्ञा का पालन करने के लिए बाध्य नही है।

हॉब्स के सिद्धान्त की आलोचना—हॉब्स के विचारो की अनेक विद्वानों ने कटु आलोचना की है। जनता, राजतन्त्रवादी तथा चर्च के समर्थकों आदि सभी ने हॉब्स के विचारो का घोर विरोध किया है। उसने अपने दर्शन मे जनता की स्वतन्त्रता तथा अधिकारो की कोई चर्चा नहीं की, उसने राजतन्त्रवादियो के समान राजसत्ता को दैवी नहीं माना तथा धर्म सम्बन्धी उसके विचार चर्च की सत्ता के विरोधी थे। अत सभी ने उसके विचारो की कड़ी निन्दा की। राजतन्त्र के समर्थक क्लेरेण्डन ने तो हॉब्स की पुस्तक लेवियाथन को जलाकर यहाँ तक कहा कि 'मैंने कभी कोई ऐसी पुस्तक नहीं पढ़ी जिसमे इतना राजद्रोह विश्वासघात और धर्म द्रोह

भरा हो।"[1] साधारणतया हॉब्स के विचारों की आलोचना निम्नलिखित आधारों पर की जाती है :

(1) मानव-स्वभाव का एकांगी चित्रण—हॉब्स ने मनुष्य को स्वभाव से स्वार्थी, डरपोक, अहंकारी, झगड़ालू तथा समाज विरोधी बताया है। मानव-प्रकृति का यह चित्रण अनुचित तथा एकपक्षीय है। मनुष्य में जहाँ एक ओर कुछ बुराइयाँ होती है वहाँ दूसरी ओर उसमें कुछ अच्छाइयाँ भी होती है। अरस्तू के अनुसार मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसमें दया, सहानुभूति, सहयोग तथा प्रेम आदि गुण भी पाये जाते हैं। उसमें दूसरों के हित के लिए त्याग करने की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। हॉब्स मानव स्वभाव के इस अच्छे पक्ष की उपेक्षा करता है।

(2) प्राकृतिक अवस्था का काल्पनिक चित्रण—हॉब्स ने मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था का जो चित्रण किया है, वह न तो ऐतिहासिक ही है और न वास्तविक ही है। उसने प्राकृतिक अवस्था को असामाजिक तथा अराजनीतिक कहा है। ऐतिहासिक खोजों से यह पता चलता है कि व्यक्ति कभी भी इस प्रकार अकेले नहीं रहे, वे सदैव किसी न किसी प्रकार के समाज में रहते आये है। यदि प्राकृतिक अवस्था का व्यक्ति हॉब्स के अनुसार वस्तुत: जंगली था तो क्या वह कभी भी समाज का निर्माण कर सकता था। हमें ऐसा लगता है कि हॉब्स ने समकालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, उसके दोषों को विकृत रूप देकर, प्राकृतिक अवस्था का चित्रण कर दिया है जो निश्चित रूप से अनैतिहासिक है।

(3) प्राकृतिक अधिकारों की धारणा काल्पनिक—हॉब्स के अनुसार मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक अधिकारों का उपभोग करता था। उसकी यह धारणा कोरी काल्पनिक है। अधिकार सदैव समाज में उत्पन्न होते है। जब प्राकृतिक अवस्था में समाज ही नहीं था तो अधिकारों का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके अतिरिक्त प्रत्येक अधिकार के साथ कोई न कोई कर्तव्य जुड़ा हुआ होता है परन्तु प्राकृतिक अवस्था में मनुष्यों के पास अधिकार तो थे लेकिन उनका कोई कर्तव्य नहीं था। अतः ऐसी अवस्था में 'अधिकार' शब्द को संज्ञा देना उचित प्रतीत नहीं होता।

(4) समझौते सम्बन्धी विचार तर्कसगत नहीं—समझौते के स्वरूप के सम्बन्ध में हॉब्स के विचार तर्कसगत नहीं हैं। प्रथम तो, हॉब्स ने मनुष्य के स्वभाव का जो चित्रण किया है, उसे यदि स्वीकार भी कर लें तो प्रश्न यह उठता है कि इस प्रकार के असामाजिक व्यक्ति में जो निरन्तर दूसरों से लड़ता रहता है तथा जिसके मन में दूसरों के प्रति कोई आदर का भाव नहीं है, एकाएक समझौते द्वारा राज्य का निर्माण करने की भावना का उदय कैसे हो गया? क्या मानव स्वभाव का एकदम बदल जाना सम्भव है? इस सम्बन्ध में वॉहन (Vaughan) ने ठीक ही लिखा है कि

1 'I never saw any book which contains so much sedition, treason and impiety" —Clerendon

'जिस प्रकार एक हब्शी अपनी चमड़ी का रंग नहीं बदल सकता, उसी प्रकार एक रक्तपिपासु व्यक्ति, जिसका वर्णन हॉब्स ने अपनी पुस्तक के प्रारम्भिक अध्यायों में किया है, कभी भी शान्तिप्रिय श्रमिक नहीं बन सकता।"[1]

द्वितीय, समझौता सदैव दो पक्षों में होता है। यह एकपक्षीय नहीं हो सकता। हॉब्स राजसत्ता को समझौते में एकपक्ष नहीं मानता, साथ ही वह समझौते को अविच्छिन्न मानता है जिसे भंग नहीं किया जा सकता। तर्क की दृष्टि से यह असंगत प्रतीत होता है।

तृतीय, हॉब्स का कथन है कि लोग प्रकृति से स्वार्थी थे और उन्होंने अपने सारे अधिकार राजसत्ताधारी को सौंप दिये। स्वार्थी लोगों से ऐसी आशा नहीं की जा सकती। इसी तरह हॉब्स के विचार उस समय भी असंगत हो जाते हैं जब एक ओर तो वह यह कहता है कि मनुष्यों ने अपने समस्त अधिकार राजसत्ताधारी को दे दिये और दूसरी ओर वह यह कहता है कि आत्मरक्षा का अधिकार उन्होंने अपने पास रख लिया।

(5) भय और स्वार्थ राज्य की स्थापना के आधार नहीं—हॉब्स के अनुसार मनुष्यों ने अपने जीवन के भय तथा स्वार्थ की पूर्ति के कारण राजसत्ता की स्थापना की है। परन्तु राज्य जैसी संस्था को भय एवं स्वार्थ जैसी हीन भावनाओं पर आधारित बताना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है। वस्तुतः राज्य अथवा समाज भय तथा स्वार्थ पर नहीं बल्कि मनुष्यों की सद्भावना, सहयोग तथा सामाजिकता की प्रवृत्ति पर आधारित है। इसके अतिरिक्त यदि राज्य का आधार भय मान लिया जाय तो हॉब्स के राज्य की स्थिति एक पुलिस राज्य के समान हो जायेगी जिसका उद्देश्य केवल आन्तरिक शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखना तथा बाहरी आक्रमण से रक्षा करना है। इस तरह हॉब्स के अनुसार राज्य का कार्य-क्षेत्र अत्यन्त संकुचित हो जाता है। गूच ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि **"लेवियाथन केवल ऐसे मानवीय आकार का एक पुलिसमैन है जो अपने हाथ में डण्डा लिए हुए है, उसका राज्य एक आवश्यक बुराई तथा दबाव का यन्त्र है, वह स्वतन्त्र तथा विकासोन्मुख सभ्यता की प्राप्ति का एक अनिवार्य साधन नहीं है।"[2]**

1 "The Ethopian cannot change his skin Nor could the crafty cut throat, the machiavelliantilla of the opening chapters ever have become the peaceful labourer, still less the dinging belot of the close" —Vaughan

2 "Leviathan is simply a policeman of such human size with a truncheon in his hand—His state is a necessary evil, an organ of coercion, not an indispensable instrument for the attainment of a free and progressive civilization"—**Gooch** *Studies in Diplomacy and Statecraft*, **p 71.**

(6) राज्य तथा सरकार में भेद नहीं माना—हॉब्स ने राज्य तथा सरकार दोनों को एक ही मान लिया है तथा दोनों में कोई अन्तर नहीं किया है। विलोबी के शब्दों में, "हॉब्स के सिद्धान्त की सबसे बड़ी भूल यह है कि उसने राज्य और सरकार में कोई भेद नहीं माना है।"[1] वस्तुतः वह सरकार के विरुद्ध किये गये जनता के विद्रोह को राज्य के प्रति विद्रोह मान लेता है। उसके इस विचार को उचित नहीं कहा जा सकता है।

(7) निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी शासन का समर्थन—हॉब्स का सिद्धान्त निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी शासन को जन्म देता है। राज्य की उत्पत्ति के पश्चात् व्यक्तियों की इच्छाओं पर सत्ताधारी की इच्छा लाद दी जाती है तथा व्यक्तियों को राज्य के कार्यों में भाग लेने का कोई अधिकार नहीं होता। इस तरह सत्ताधारी की इच्छा पूर्णतः सर्वोच्च एवं निरंकुश होती है। उस पर न तो किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध तथा नियन्त्रण ही होता है और न जनता के प्रति उसका कोई उत्तरदायित्व ही होता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति की न तो स्वतन्त्रता ही सुरक्षित रहती है और न उसकी सम्पत्ति ही तथा राज्य के अन्दर व्यक्ति की स्थिति एक ऐसे दास के समान हो जाती है जिसका अपना कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं होता।

उपरोक्त वर्णन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि हॉब्स का सिद्धान्त दोषपूर्ण तथा भयंकर है। लॉक ने हाब्स के विचारों का उपहास करते हुए यह व्यंग किया है कि "क्या मनुष्य इतने मूर्ख हैं कि वे जंगली बिल्लियों तथा लोमड़ियों की शरारतों से बचने के लिए शेरों द्वारा निगला जाना अधिक सुरक्षित समझते हैं।"[2]

महत्त्व—उपर्युक्त आलोचनाओं के होते हुए भी राजनीतिक दर्शन के इतिहास में हॉब्स की कई महत्त्वपूर्ण देनें हैं जो इस प्रकार हैं—प्रथम, हॉब्स ही पहला विचारक है जिसने तर्कपूर्ण ढंग से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि राज्य दैवी संस्था न होकर एक मानवीय संस्था है। द्वितीय, हॉब्स का यह मत एक शाश्वत सत्य है कि राज्य में शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए एक सुदृढ़ तथा शक्तिशाली शासन की आवश्यकता होती है। तृतीय, उसने इस बात का भी प्रतिपादन किया कि प्रभुसत्ता सर्वोच्च तथा अविभाज्य होती है और उसके आदेशों का पालन करना जनता के लिए अनिवार्य होता है। चतुर्थ, उसने सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के लिए कानून और व्यवस्था को अत्यन्त आवश्यक बताया। पंचम, विलोबी

1* "The cardinal fault of Hobbes is the utter failure to distinguish between the two conceptions of State and Government." —Willoughby : *The Nature of State*, p. 73

2 "Are men so foolish that they take care to avoid what mischiefs may be done to them by polecats and foxes, but are content, nay think it safety to be devoured by lions." —Locke

के मतानुसार अपने प्राकृतिक कानून तथा नागरिक कानून में भेद करके विश्लेषणात्मक विधि-शास्त्र (Analytical Jurisprudence) की नींव डाली। मैक्सी ने लिखा है कि "हॉब्स अंग्रेज जाति का एक महान राजनीतिक विचारक था जिसका नाम तब तक रहेगा जब तक मनुष्य राजनीतिक मामलों पर विचार करने का कष्ट करते रहेंगे।"[1]

जॉन लॉक (1632-1704)
(John Locke)

जीवन परिचय—महान् दार्शनिक जॉन लॉक का जन्म सन् 1632 ई० में इंगलैण्ड में एक मध्यम-वर्गीय परिवार में हुआ। उसका पालन-पोषण बहुत ही उदार वातावरण में हुआ था। उसके विचार अत्यन्त उदार थे। उसकी विचारधारा पर कई तत्वों का गहरा प्रभाव पड़ा। उसके ऊपर सबसे पहला प्रभाव उसके पिता का पड़ा। उसके पिता ने उसके साथ सदैव स्नेहपूर्ण तथा मित्रता का व्यवहार किया। शिक्षा-प्राप्ति के काल में उसके अनेक लोग घनिष्ठ एवं प्रिय मित्र हो गये थे। जब वह बड़ा हुआ तो वह ह्विग दल के संस्थापक लॉर्ड ऐशले (Lord Ashley), जिसे अर्ल ऑफ शेफ्ट्सबरी की उपाधि प्राप्त थी, के सम्पर्क में आया। अर्ल ऑफ शेफ्ट्सबरी ने सदैव उसके साथ मित्रता का व्यवहार किया। शेफ्ट्सबरी के पतन के पश्चात् जब वह हॉलैण्ड चला गया तो वहाँ भी उसे अनेक मित्रों की सहानुभूति तथा प्रेम मिला। लेडी मैशम उसकी घनिष्ठ मित्र थी। उसके यहाँ उसने अपने जीवन के अन्तिम दिन बहुत ही सुख तथा शान्तिपूर्वक व्यतीत किये। इन सबके कारण उसमें यह विश्वास उत्पन्न होना स्वाभाविक था कि मनुष्यों में प्रेम, दया, सहानुभूति आदि के स्वाभाविक गुण होते हैं।

यद्यपि निर्वासित व्यक्ति के समान जीवन व्यतीत करते समय उसे मानव-स्वभाव की दुष्टताओं का भी कटु अनुभव हुआ परन्तु उसकी इस मूल धारणा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ कि मनुष्य स्वभाव से अच्छे होते हैं। सन् 1688 ई० की इंगलैण्ड की गौरवपूर्ण क्रान्ति ने लॉक की मानव स्वभाव सम्बन्धी धारणा को और बल प्रदान किया। उसने देखा कि इंगलैण्ड की जनता तथा संसद ने रक्तपात किये बिना जेम्स द्वितीय को सिंहासन से उतारकर विलियम और मेरी को राजसिंहासन पर बैठा दिया है। इस घटना से मानव स्वभाव के विषय में उसका यह विचार और दृढ़ हो गया कि मनुष्य एक सामाजिक तथा विवेकशील प्राणी है और उसको नियन्त्रण में रखने के लिए बल प्रयोग की आवश्यकता नहीं है। साथ ही वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि शासन का आधार जनता की सहमति तथा शासन का उद्देश्य जन-कल्याण होना चाहिए। इस कारण उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'शासन पर दो निबन्ध'

1 "Hobbes was one of the great political thinkers of the English race, one whose name will endure as long as men trouble their minds about matters political."—Maxey : *Political Philosophies*, p. 235.

(Two Treatises on Government, 1690) में निरंकुश राजतन्त्र के स्थान पर वैधानिक अथवा सीमित राजतन्त्र का समर्थन किया है। लॉक के सामाजिक समझौते की व्याख्या निम्नलिखित है :

मानव-स्वभाव—मानव-स्वभाव सम्बन्धी लॉक के विचार हॉब्स के विचारों से बिलकुल भिन्न हैं। इस सम्बन्ध में जोन्स (W T Jones) ने लिखा है कि "मानव स्वभाव के सम्बन्ध में हॉब्स के समान मानव-द्वेषी दृष्टिकोण अपनाने के बजाय लॉक का विश्वास है कि मनुष्य मूल रूप में अच्छे, शान्तिप्रिय, सामाजिक और स्वशासन की योग्यता वाले होते हैं।" लॉक के विचार में मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसके अनुसार मनुष्य विवेकशील, शान्तिप्रिय एवं नैतिक होता है। इसीलिए वह नैतिक नियमों को स्वीकार करता है तथा उनके अनुसार आचरण करता है। उसमें प्रेम, दया, सहयोग, सहानुभूति तथा सामाजिकता के गुण होते हैं। इस तरह जोन्स के शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि "यह मानने के बजाय कि मनुष्य केवल एक पशु है, लॉक यह मानता है कि मनुष्य नैतिक और सामाजिक प्राणी है।"[1] इसके अतिरिक्त लॉक मानव समानता पर विशेष जोर देता है। उसके शब्दों में, "सब मनुष्य प्राकृतिक रूप से समानता की अवस्था में होते हैं।"[2]

समानता से लॉक का तात्पर्य यह नहीं है कि मनुष्य शारीरिक और बौद्धिक शक्तियों में समान है अपितु इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक मनुष्य एक स्वतन्त्र इकाई है और नैतिक दृष्टि से वह दूसरे मनुष्य के समान है और उसे दूसरों के बराबर अधिकार प्राप्त है।

प्राकृतिक अवस्था—लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था निरन्तर संघर्ष की अवस्था नहीं थी अपितु जैसाकि सेबाइन ने लिखा है कि "प्राकृतिक अवस्था शान्ति, सद्भावना, पारस्परिक सहयोग तथा सुरक्षा की अवस्था है।"[3] यह स्वतन्त्रता और समानता की अवस्था थी। इसमें मनुष्य स्वतन्त्रतापूर्वक जीवन व्यतीत करते थे परन्तु स्वतन्त्र होने पर भी उन्हें मनमानी करने की छूट नहीं थी। इस प्रकार यह स्वतन्त्रता की अवस्था तो थी परन्तु स्वच्छन्दता की नहीं थी। इसमें सभी व्यक्ति समान माने जाते थे तथा उनमें छोटे-बड़े का कोई अन्तर नहीं था। इस अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति के कुछ प्राकृतिक अधिकार थे जिनमें जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकार प्रमुख थे। प्राकृतिक अवस्था में तर्क तथा विवेक पर आधारित कुछ प्राकृतिक नियम भी थे जिनका पालन करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक था। सभी मनुष्य

1 "Instead of maintaining that man is merely an animal, Locke holds that man is a moral and social animal" —W. T. Jones

2 "All men are naturally in a state of equality" —Locke

3 "The State of nature is one of peace, goodwill, mutual assistance and preservation." —G H. Sabine

प्राकृतिक नियमों का पालन करते हुए एक दूसरे के अधिकारों का सम्मान करते थे तथा अपने अधिकारों का इस प्रकार उपभोग करते थे जिससे दूसरे के अधिकारों में कोई बाधा न पड़े। इस प्रकार प्राकृतिक अवस्था नैतिकता, सामाजिकता तथा कर्तव्य भावना से युक्त अवस्था थी। डनिंग के शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि *"लॉक ने जिस प्राकृतिक अवस्था की कल्पना की है वह अराजनीतिक थी, असामाजिक नहीं।"*

समझौते के कारण—यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि जब प्राकृतिक अवस्था शान्ति, सद्भावना और सहयोग की अवस्था थी तो इस अवस्था को बदलने की आवश्यकता क्यों आ पड़ी ? लॉक के मतानुसार श्रेष्ठ होते हुए भी प्राकृतिक अवस्था में मनुष्यों को कुछ असुविधाओं का सामना करना पड़ रहा था जिसके कारण वे इस अवस्था को छोड़ने के लिए बाध्य हुए। ये असुविधाएँ मुख्य रूप से तीन थीं—प्रथम तो, कोई स्पष्ट एवं सर्वमान्य कानून नहीं थे जिनके द्वारा उचित तथा अनुचित का निर्णय हो सके। द्वितीय, इन नियमों की व्याख्या करने तथा उनके अनुसार निर्णय देने के लिए निष्पक्ष न्यायाधीश नहीं थे। तृतीय, निर्णयों को कार्यान्वित करने तथा अपराधियों को दण्ड देने वाली कोई सामान्य शक्ति नहीं थी। इन असुविधाओं से बचने के लिए मनुष्यों ने समझौते द्वारा राज्य का निर्माण किया।

समझौते का स्वरूप—हॉब्स के अनुसार, राज्य का निर्माण करने के लिए मनुष्यों ने केवल एक समझौता किया परन्तु लॉक के विश्लेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्यों ने दो समझौते किये—पहला, सामाजिक; तथा दूसरा, राजनीतिक। पहले समझौते से नागरिक समाज की स्थापना होती है तथा दूसरे के द्वारा सरकार की स्थापना होती है। सर्वप्रथम, प्राकृतिक अवस्था की असुविधाओं से बचने के लिए सब मनुष्य सामाजिक समझौते के द्वारा नागरिक समाज का निर्माण करते हैं। चूँकि प्राकृतिक अवस्था में सब मनुष्य समान और स्वतन्त्र हैं इसलिए यह समझौता प्रत्येक मनुष्य का सब मनुष्यों के साथ होता है। इस दृष्टि से इस समझौते का स्वरूप सामाजिक है। इस समझौते के अनुसार मनुष्य केवल उन प्राकृतिक अधिकारों को समाज को समर्पित करते हैं जिनके कारण प्राकृतिक अवस्था में अशान्ति तथा अव्यवस्था फैलती है। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि प्राकृतिक नियमों की व्याख्या करने, उनको कार्यान्वित करने तथा उनको भंग करने वालों को दण्ड देने के अधिकार को ही व्यक्ति समाज को सौंपते हैं, शेष अधिकार वे अपने पास ही रखते हैं। दूसरा समझौता नागरिक समाज तथा सरकार के बीच होता है, इसलिए इसे राजनीतिक समझौता कहा जा सकता है। इस समझौते के द्वारा पहले समझौते की शर्तों को क्रियान्वित करने के लिए नागरिक समाज द्वारा सरकार का निर्माण किया जाता है। अतः सरकार की शक्तियाँ निश्चित, सीमित तथा मर्यादित होती हैं। यदि सरकार उन उद्देश्यों की प्राप्ति में असफल रहती है, जिनके लिए उसकी स्थापना की गई है अथवा सार्वजनिक हित के विपरीत शासन करती है तो समाज को यह अधिकार होगा कि

वह उस सरकार को पदच्युत कर दे तथा उसके स्थान पर नई सरकार का निर्माण कर दे। इस प्रकार यह दूसरा समझौता पहले समझौते के अधीन होता है।

समझौते की विशेषताएँ—लॉक द्वारा प्रतिपादित सामाजिक समझौते की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

(1) लॉक के सिद्धान्त के विश्लेषण से यह पता चलता है कि उसके अनुसार दो समझौते हैं। पहले समझौते से राजनीतिक समाज की स्थापना होती है तथा दूसरे समझौते से सरकार की स्थापना होती है।

(2) समझौते में मनुष्य प्राकृतिक अवस्था के अपने कुछ अधिकारों को किसी एक व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह को समर्पित नहीं करते बल्कि सम्पूर्ण समाज को समर्पित करते हैं।

(3) समझौते के परिणामस्वरूप समाज का यह दायित्व हो जाता है कि वह मनुष्यों के अधिकारों की रक्षा करे तथा उनके हितों का ध्यान रखे।

(4) मनुष्य ने स्वेच्छा से तथा आपस में मिलकर समझौते द्वारा राज्य का निर्माण किया है अतः राज्य मनुष्यों की सहमति का परिणाम है।

(5) लॉक के समझौता सिद्धान्त में शासक भी समझौते में शामिल है, अतः समझौते की शर्तें शासक पर भी अनिवार्य रूप से लागू होती हैं जिनका पालन करना उसके लिए आवश्यक है।

(6) लॉक समझौते के द्वारा निरकुंश तथा स्वेच्छाचारी शासन की स्थापना नहीं करता बल्कि सीमित अथवा वैधानिक शासन का समर्थन करता है।

(7) समझौते के अनुसार जनता को अत्याचारी शासक अथवा सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार भी प्राप्त है।

(8) समझौते में राज्य और सरकार के बीच अन्तर को स्पष्ट किया गया है।

राज्य का स्वरूप—राज्य के स्वरूप के सम्बन्ध में तीन बातें मुख्य हैं : **सर्वप्रथम,** लॉक के अनुसार, समझौते के परिणामस्वरूप सम्प्रभुता अथवा अन्तिम शक्ति जनता में निवास करती है। इस शक्ति का प्रयोग जनता की ओर से बहुसंख्यकों के द्वारा किया जाता है। इस तरह लॉक बहुमत के शासन का समर्थन करता है। उसके अनुसार मनुष्य बहुमत के निर्णय को स्वीकार करने तथा उसके अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य हैं। द्वितीय, सरकार के अधिकारों का स्रोत जनता है तथा वह समाज के नियन्त्रण में कार्य करती है। लॉक का विचार है कि सरकार का रूप चाहे कैसा भी हो, परन्तु उसका मुख्य उद्देश्य व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकारों की रक्षा करना तथा जनता के हित में शासन करना है। सरकार एक ट्रस्ट के समान है। यदि वह अपने उद्देश्य में असफल रहती है अथवा अपनी सीमाओं का उल्लंघन करती है तो समाज को उसे पदच्युत करने का अधिकार है। वह सरकार पर दोहरा नियन्त्रण रखने की व्यवस्था करता है। उस पर पहला नियन्त्रण तो प्राकृतिक अधिकारों का है तथा दूसरा नियन्त्रण प्राकृतिक नियमों का है, जिनके विरुद्ध

वह कोई कार्य नही कर सकती । इस तरह वह सरकार के कार्यों को सीमित कर देता है । तृतीय, वह राज्य के अन्दर व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के पृथक अस्तित्व को स्वीकार करता है । वह व्यवस्थापिका को राज्य की सर्वोच्च सत्ता स्वीकार करते हुए भी उसे प्रभुतासम्पन्न नही मानता । वह व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के बीच **शक्तियों के पृथक्करण** का समर्थन करता है जिससे सरकार निरकुश न बन सके । *संक्षेप मे, हम यह कह सकते हैं कि वह सीमित अथवा वैधानिक* राजतन्त्र का समर्थन करता है ।

लॉक के सिद्धान्त की आलोचना—लॉक के समझौता सिद्धान्त की आलोचना निम्नलिखित आधारो पर की जाती है

(1) **मानव-स्वभाव का एकपक्षीय वर्णन**—लॉक ने मानव स्वभाव के केवल गुणो को ही प्रधानता दी है । मानव स्वभाव के प्रति उसका यह दृष्टिकोण एकपक्षीय होने के कारण दोषपूर्ण है । वास्तविकता तो यह है कि मनुष्य मे जहाँ एक ओर अच्छाइयाँ होती है, वहाँ दूसरी ओर कुछ बुराइयाँ भी होती है । मानव स्वभाव सद्‌गुणो तथा दुर्गुणो का मिश्रण होता है ।

(2) **प्राकृतिक अवस्था का चित्रण काल्पनिक**—लॉक ने प्राकृतिक अवस्था का जो चित्रण किया है वह अवास्तविक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से असत्य है । इतिहास मे हमे कही इस बात का प्रमाण नही मिलता है कि मानव विकास की प्रारम्भिक अवस्था इतनी अधिक नैतिक तथा शान्तिमय थी, जैसा लॉक ने वर्णन किया है । यदि प्राकृतिक अवस्था मे प्राकृतिक नियम प्राकृतिक अधिकार, नैतिकता, शान्ति आदि सभी कुछ थे तो क्या हम यह मानें कि मनुष्यो ने राज्य की रचना करके विकास की दिशा मे एक *उल्टा कदम उठाया है ? वास्तविकता तो यह है कि प्राकृतिक अवस्था* का चित्रण उसके मस्तिष्क की कोरी कल्पना है ।

(3) **प्राकृतिक नियम तथा प्राकृतिक अधिकारों की धारणा युक्तिसगत नहीं**—लॉक की प्राकृतिक नियम तथा प्राकृतिक अधिकारो की धारणा युक्तिसगत नही है । यह कहना कि प्राकृतिक नियम शाश्वत तथा अटल हैं इतिहास और अनुभव का विरोध करता है । इसमे एक कठिनाई यह भी है कि कोई भी व्यक्ति प्राकृतिक नियम के नाम पर राजकीय नियमो को मानने से इन्कार कर सकता है । इससे समाज मे अव्यवस्था फैल जाने का भय है । इसके अतिरिक्त लॉक यह भी भूल जाता है कि अधिकार प्राकृतिक नही होते अपितु उनका जन्म समाज तथा राज्य मे ही होता है ।

(4) **राज्य सम्बन्धी विचार दोषपूर्ण**—लॉक के अनुसार व्यक्तियो ने जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति की रक्षा के लिए राज्य का निर्माण किया है । इसका तात्पर्य यह है कि राज्य और समाज का सम्बन्ध मनुष्यो के नैतिक तथा मानसिक विकास से न होकर केवल उसके भौतिक विकास से है । ऐसी स्थिति मे लॉक का राज्य एक **'लिमिटेड कम्पनी'** के अतिरिक्त और कुछ नही है जिसमे प्रत्येक व्यक्ति अपने हित के अनुसार रुचि लेता है । राज्य के सम्बन्ध मे यह दृष्टिकोण सही नही है ।

(5) राज्य का आधार केवल सहमति नहीं—लॉक के मतानुसार पारस्परिक सहमति के आधार पर राज्य का निर्माण हुआ है। इसमे केवल आंशिक सत्यता है क्योंकि सहमति के अतिरिक्त शक्ति ने भी राज्य के विकास मे महत्वपूर्ण योगदान दिया है। आज भी शक्ति राज्य का प्रमुख आधार है।

(6) निरन्तर क्रान्ति की सम्भावना—लॉक के अनुसार यदि सरकार अत्याचार करती है अथवा जनहित के विरुद्ध कार्य करती है तो जनता को उसके विरुद्ध विद्रोह करने तथा उसे पदच्युत करने का अधिकार है। ऐसी स्थिति मे राज्य के विरुद्ध निरन्तर क्रान्ति की सम्भावना बनी रहती है और राज्य अपनी रक्षा के लिए व्यक्ति पर निर्भर हो जाता है। इसमे ऐसा लगता है कि लॉक जनता को राज्य के विरुद्ध 'विद्रोह का लाइसेन्स' प्रदान कर देता है। इसीलिए यह कहा जाता है कि लॉक ने सरकार के सिद्धान्त का नहीं बल्कि क्रान्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

(7) सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार अस्पष्ट—लॉक ने सम्प्रभुता को विभाजित कर दिया है। सम्प्रभुता व्यक्तियो तथा शासक मे बँटी हुई है, किन्तु वास्तव में सम्प्रभुता विभाजित नही होती। इसके अतिरिक्त सम्प्रभुता के विषय मे भी लॉक के विचार स्पष्ट नहीं हैं। जैसाकि बार्कर ने लिखा है कि "सम्प्रभुता की प्रकृति तथा निवास के सम्बन्ध मे लॉक के विचार स्पष्ट नहीं हैं। कभी तो वह जनता की सर्वोच्च सत्ता की बात करता है और कभी वह व्यवस्थापिका को सर्वोच्च सत्ताधारी बनाता है।[1]

(8) कानूनी राजसत्ता की उपेक्षा—लॉक के सिद्धान्त मे एक मुख्य दोष यह है कि उसने कानूनी राजसत्ता की धारणा को कोई महत्त्व नहीं दिया है। गिलक्राइस्ट ने ठीक ही लिखा है कि "हॉब्स ने राजनीतिक राजसत्ता की शक्ति तथा अस्तित्व को अस्वीकार करते हुए कानूनी राजसत्ता का प्रतिपादन किया है, लॉक ने राजनीतिक राजसत्ता की शक्ति को तो स्वीकार किया है परन्तु कानूनी राजसत्ता को उचित मान्यता नहीं दी है।"[2]

महत्व—उपर्युक्त आलोचनाओ के होते हुए भी राजनीतिक दर्शन के लिए लॉक की देन अमूल्य रही है। ये देन इस प्रकार हैं प्रथम तो, राजनीतिक दर्शन के लिए

---

1 "Locke had no clear view of the nature or residence of sovereignty He spoke of the supreme power of the people, yet at another time he attributed the supreme power to the legislature" —Barker

2 "Hobbes gives a theory of sovereignty without recognising the existence and power of political sovereignty Locke recognises the force of political sovereignty but does not give adequate recognition to legal sovereignty."—Gilchrist *Principles of Political Science*, p 61

लॉक की सबसे प्रमुख देन उसका प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त है जिसके आधार पर वर्तमान समय मे मौलिक अधिकारो की धारणा का प्रतिपादन हुआ। द्वितीय, उसने जनता की सहमति तथा बहुमत पर आधारित सवैधानिक शासन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसने इस बात का प्रतिपादन करके कि सम्प्रभुता जनता मे निवास करती है तथा सरकार जनता के अधीन है, आधुनिक प्रजातन्त्र के विकास मे बहुत बड़ा योगदान दिया है। तृतीय, लॉक ने ही सर्वप्रथम स्पष्ट रूप मे शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसके विचारो के आधार पर ही मॉण्टेस्क्यू ने इस सिद्धान्त का विकास किया तथा अमरीकी सविधान निर्माताओ ने उसे सविधान मे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। चतुर्थ, 18वी शताब्दी की राजनीतिक विचारधाराओ तथा राजनीतिक आन्दोलनों पर भी उसके विचारों की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। उसने बेन्थम के उपयोगितावाद तथा मिल के व्यक्तिवाद को विशेष रूप से प्रभावित किया। फ्रास की राज्य-क्रान्ति तथा अमेरिका के स्वतन्त्रता सग्राम को उसके विचारो से काफी प्रेरणा प्राप्त हुई। पचम, लॉक ने सहिष्णुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस कारण वह इगलैण्ड मे दार्शनिक उदारवाद का जन्मदाता माना जाता है।

लॉक के विचारो के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए मैक्सी ने लिखा है कि "निर्माण करने वाला हाथ चाहे वालपोल का रहा हो, चाहे जेफरसन का, चाहे गेम्बेटा का या कैबूर का, परन्तु प्रेरणा निश्चित रूप से लॉक की ही थी।"[1]

जीन जेकस रूसो (1712-1778)

(Jean Jacques Rousseau)

जीवन-परिचय—रूसो का जन्म सन् 1712 ई० मे जेनेवा में हुआ था। बाल्यावस्था मे उसका समुचित रूप से पालन-पोषण नही हुआ। उसका प्रारम्भिक जीवन बहुत ही अव्यवस्थित रहा। उसने किसी भी विद्यालय मे नियमित रूप से शिक्षा प्राप्त नहीं की परन्तु अपने स्वाध्याय तथा प्रतिभा के बल पर वह विश्व का एक महान् दार्शनिक बन गया। समाज के द्वारा दिये गये कष्टों तथा अत्याचारो के कारण उसकी आत्मा विद्रोही हो गई और इसलिए उसने सभ्य कहे जाने वाले समाज पर कठोरतम प्रहार किये। सन् 1750 मे उसने अपने पहले लेख Discourse on the Moral Effects of Arts and Sciences' मे समाज को दोषी बताते हुए इस बात पर जोर दिया कि सभ्यता की प्रगति ने मनुष्य को भ्रष्ट तथा बुरा बना दिया है। उसने सन् 1754 मे अपने दूसरे लेख 'Discourse on the Origin of Inequality' मे व्यक्तिगत सम्पत्ति और राज्य पर कटु प्रहार किये। उसने यह

1 "The shaping hand was that of a Walpole, a Jafferson, a Gembetta or a Cavour, the voice was invariably the voice of Locke" —Maxey

बताया कि असमानता का मूल कारण व्यक्तिगत सम्पत्ति है तथा राज्य की स्थापना इसकी रक्षा करने के लिए हुई है। उसके अनुसार राज्य मनुष्य के पतन का चिह्न है। इस पतन से बचने का एक ही उपाय है कि मनुष्य प्राकृतिक अवस्था को लौट जाए। सन् 1762 ई० मे उसने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सामाजिक संविदा' (The Social Contract) लिखा जिसमे उसने राजाओ के दैवी अधिकार के सिद्धान्त की कटु आलोचना की। इसी मे उसने सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का वर्णन किया है।

यद्यपि रूसो ने सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का प्रतिपादन किसी खास उद्देश्य से नहीं किया और न ही वह किसी निश्चित मत का अनुगामी था परन्तु उसकी शिक्षाओ ने फ्रांस की राज्यक्रान्ति को प्रेरणा प्रदान की। अपने समय की परिस्थितियो के विपरीत उसने संसार को स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृत्व का सन्देश दिया जिसके कारण वह आधुनिक प्रजातन्त्र का अग्रदूत माना जाता है।

मानव स्वभाव—रूसो के मानव स्वभाव सम्बन्धी विचार हॉब्स तथा लॉक दोनो के विचारो से भिन्न हैं। उसके अनुसार मनुष्य के स्वभाव का निर्माण करने मे दो भावनाएँ सहायक होती हैं—प्रथम, आत्म हित या आत्म रक्षा की भावना, और द्वितीय, दया, सहानुभूति या पारस्परिक सहायता की भावना। इन भावनाओ के कारण रूसो आदिम मनुष्य को दुष्ट, पापी और पतित न मानकर स्वभावतः अच्छा, निर्दोष तथा निष्पाप मानता है। उसका कहना है कि मनुष्य स्वभाव से भोला तथा निष्कपट होता है। सभ्य समाज मे पाये जाने वाले दुर्गुण—भय, कपट, घृणा, सन्देह, ईर्ष्या, क्रूरता, इत्यादि—मानव स्वभाव के जन्मजात दुर्गुण नहीं हैं। वह स्वभाव से पाप और पुण्य के विचारो से रहित सहज भावना से काम करने वाला सरल हृदय प्राणी है।

प्राकृतिक अवस्था—रूसो प्रारम्भिक अवस्था को सभ्य सामाजिक अवस्था से कहीं अधिक श्रेष्ठ मानता है। उसने प्राकृतिक अवस्था को दो भिन्न चरणों में बाँटा है। पहले चरण मे, मनुष्य एकाकी और स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करता था। उसकी आवश्यकताएँ बहुत कम थी और वे सुगमतापूर्वक पूरी हो जाती थी। अत वह सन्तुष्ट, सुखी, स्वस्थ तथा आत्मनिर्भर था। मनुष्य की न कोई इच्छाएँ थी और न वह भविष्य की चिन्ता करता था। वह पूर्णत स्वतन्त्र था और आनन्दपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करता था। वह अबोध था और पाप-पुण्य, ऊँच नीच तथा अच्छाई बुराइयो के विचारो से सर्वथा अपरिचित था। उसमे बुद्धि और विवेक का अभाव था। कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि प्रारम्भिक अवस्था का मनुष्य श्रेष्ठ बर्बर (Noble Savage) था जो असभ्य होते हुए भी नेक, सज्जन तथा शान्तिप्रिय था।

रूसो के मतानुसार आदिम प्राकृतिक अवस्था अधिक काल तक नही रह सकी। प्राकृतिक अवस्था के दूसरे चरण मे जनसंख्या की वृद्धि से इसमे परिवर्तन आने लगे। लोगों की आवश्यकताएँ बढने लगीं, उनमे ज्ञान की वृद्धि होने लगी, पारिवारिक

जीवन की शुरुआत हुई जिसके कारण लोगों में स्वार्थ और मोह आने लगा और इन सबके परिणामस्वरूप लोग अपने खाने-पीने तथा काम में आने वाली चीजों पर अपना अधिकार जमाने का प्रयत्न करने लगे। इस तरह सभ्यता और संस्कृति के विकास के परिणामस्वरूप मानव में सम्पत्ति का विचार आया और ऊँच-नीच, धनी-निर्धन तथा मेरे-तेरे की भावना का उदय हुआ। रूसो ने लिखा है कि "सभ्य समाज का वास्तविक जन्मदाता वह पहला व्यक्ति था जिसने भूमि के एक टुकड़े को घेरकर यह कहा कि यह मेरी भूमि है और जिसे उसके इस कथन के प्रति विश्वास करने वाले सरल व्यक्ति मिल गये।"[1] इस तरह व्यक्तिगत सम्पत्ति के कारण आदिम अवस्था की सुख और शान्ति नष्ट हो गई तथा समाज में असमानता, अन्याय, अत्याचार और उत्पीड़न का बोलबाला हो गया। इसके कारण मनुष्यों के स्वभाव में संघर्ष, द्वेष, ईर्ष्या तथा अहंकार आदि दुर्गुणों का उदय हुआ।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि रूसो मानव के पतन के लिए सभ्य समाज को दोषी मानता है। इस सम्बन्ध में रूसो का यह कथन उल्लेखनीय है कि "मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न होता है परन्तु वह सब जगह बन्धनों से जकड़ा हुआ है।"[2]

समझौते का स्वरूप—इस प्रकार व्यक्तिगत सम्पत्ति के प्रादुर्भाव के कारण प्रारम्भिक अवस्था की शान्ति, समानता तथा प्रसन्नता समाप्त हो गई और चारों ओर युद्ध तथा संघर्ष की स्थिति व्याप्त हो गई। अराजकता की इस अवस्था से अत्यन्त दुःखी होकर इससे छुटकारा पाने के लिए मनुष्यों ने पारस्परिक समझौते द्वारा एक ऐसे समाज की स्थापना का निश्चय किया जो उसके हितों की रक्षा कर सके। रूसो का मत है कि समाज की स्थापना करने की इच्छा से प्रेरित होकर, मनुष्य एक स्थान पर सामूहिक रूप से एकत्र होते हैं और अपने समस्त प्राकृतिक अधिकारों को समर्पित करते हुए कहते हैं कि **"हम में से प्रत्येक अपने व्यक्तित्व और अपनी सम्पूर्ण शक्ति को सामान्य प्रयोग के लिए सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन में रखता है और हम सामूहिक रूप में प्रत्येक व्यक्ति को सम्पूर्ण समाज का अविभाज्य अंग स्वीकार करते हैं।'**[3]

इस प्रकार समझौते द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपने को समाज में पूर्ण रूप से विलीन

1 'The first man, who, after enclosing a piece of grouud, without himself to say, this is mine and found people simple enough to believe him, was the real founder of civil society" —Rousseau

2 "Man is born free, however, he is everywhere in chains" —Rousseau

3 'Each of us puts his person and all his power to common use under the supreme direction of the General Will, and as a body we receive each member as an indivisible part of the whole"—**Rousseau** *The Social Contract*

करके, उसका निर्माण करता है। सब मनुष्य अपने अधिकारों को किसी व्यक्ति विशेष को न सौंपकर, सम्पूर्ण समाज को समर्पित करते हैं। फलस्वरूप, उनके पास कोई अधिकार नहीं रह जाता है। इस प्रकार की अधिकारहीनता उनमें समानता स्थापित कर देती है और चूँकि सब मनुष्य अपने अधिकारों को सम्पूर्ण समाज को समर्पित करते हैं, इसलिए उनकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता भी सुरक्षित रहती है। इस प्रकार अधिकारों के समर्पण से सभी व्यक्तियों को लाभ होता है। समझौते के परिणामस्वरूप एक सामान्य इच्छा उत्पन्न होती है और सभी व्यक्ति उसके अधीन रहते हुए अपना कार्य करते हैं।

समझौते की विशेषताएँ—रूसो के सामाजिक समझौते की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

(1) यह समझौता प्राकृतिक अवस्था के अन्तिम चरण की अराजकता का अन्त करने और मनुष्यों की समानता एवं स्वतन्त्रता को पुनः स्थापित करने के लिए किया जाता है।

(2) समझौते के अन्तर्गत व्यक्ति के दो रूप दिखाई देते हैं—व्यक्तिगत रूप एवं समूहगत रूप। व्यक्तिगत रूप में प्रत्येक व्यक्ति सम्पूर्ण समाज को अपने समस्त अधिकारों का समर्पण कर देता है तथा समूहगत रूप में समाज का अभिन्न अंग होने के कारण वह उन अधिकारों को पुनः प्राप्त कर लेता है।

(3) समझौते से उत्पन्न होने वाला समाज या राज्य प्रभुसत्तासम्पन्न होता है। प्रत्येक व्यक्ति इस प्रभुसत्तासम्पन्न समाज का अविभाज्य अंग होता है।

(4) समझौते के द्वारा जिस सामान्य इच्छा का निर्माण होता है, वह सभी व्यक्तियों के लिए सर्वोच्च होती है। इस प्रकार सब व्यक्ति सामान्य इच्छा के अधीन हो जाते हैं। यह सामान्य इच्छा असीमित, अविभाज्य, विधि का स्रोत एवं आदर्श होती है।

(5) सामान्य इच्छा सदैव ही न्याययुक्त होती है तथा जनता का हित करना ही उसका लक्ष्य होता है। मनुष्य प्रायः सदैव ही यह नहीं जानता कि उसका हित क्या है? अतः सामान्य इच्छा के निर्देशन में ही कार्य करने से उसका वास्तविक हित सम्भव है।

(6) समझौते के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाला समाज या राज्य का स्वरूप सावयविक होता है। प्रत्येक व्यक्ति राज्य का अविभाज्य अंग होने के कारण न तो किसी प्रकार उससे अपना सम्बन्ध विच्छेद कर सकता है और न राज्य के विरुद्ध किसी प्रकार का कार्य कर सकता है।

(7) इस समझौते के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली एकता अधिक से अधिक पूर्ण होती है। रूसो के अनुसार, यह सामूहिक एकता ही राज्य, प्रभु शक्ति, जनता, नागरिक एवं प्रजा सब कुछ है।

(8) इस समझौते में प्रत्येक व्यक्ति को लाभ ही होता है, किसी को हानि नहीं होती। मनुष्य व्यक्तिगत रूप में जो कुछ खोता है, समाज के सदस्य के रूप में

वह उसे प्राप्त कर लेता है। रूसो के शब्दों में, "समझौते से मनुष्य जो कुछ खोता है वह है प्राकृतिक स्वतन्त्रता तथा किसी भी वस्तु को पाने का असीमित अधिकार। जो कुछ वह पाता है, वह है सामाजिक स्वतन्त्रता और अपनी वस्तुओं पर स्वामित्व।"[1]

(9) रूसो के अनुसार, यह समझौता केवल सामाजिक है राजनीतिक नहीं। *समझौते से सामान्य इच्छा पर आधारित एक प्रभुसत्तासम्पन्न समाज का निर्माण होता है, सरकार का नहीं।* सरकार का निर्माण करना समाज का काम है। वह समाज की एजेन्टमात्र होती है। यदि सरकार निरंकुश बनने का प्रयत्न करे तो समाज के द्वारा उसे हटाया जा सकता है। राज्य में सम्प्रभुता सामान्य इच्छा में निहित है।

राज्य का स्वरूप—रूसो के सामाजिक समझौते के फलस्वरूप एक ऐसे समाज की स्थापना होती है जिसमें पूर्ण एकता और सामंजस्य रहता है। रूसो इसे 'राज्य, सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न सत्ता और शक्ति' ये तीन नाम देता है जो इसके विभिन्न रूपों के परिचायक हैं। इसी प्रकार राज्य के जनसमुदाय को भी वह जनता, नागरिक तथा प्रजा की संज्ञाएँ देता है जो व्यक्तियों के विभिन्न पहलुओं को प्रकट करती हैं। रूसो के अनुसार प्रभुसत्ता किसी व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह में निहित न होकर सामूहिक रूप से सम्पूर्ण जनता में निहित होती है। जनता किसी दशा में भी प्रभुसत्ता को अपने से पृथक् नहीं कर सकती और न इस प्रभुसत्ता का प्रतिनिधित्व ही किया जा सकता है। ऐसे समाज में प्रत्येक व्यक्ति शासक और शासित दोनों होता है तथा शासन का कार्य सामान्य इच्छा के अनुसार किया जाता है। सामान्य इच्छा के विपरीत कार्य करने पर जनता को सरकार को पदच्युत करने का अधिकार होता है। इस तरह रूसो सामाजिक समझौते के सिद्धान्त के द्वारा प्रत्यक्ष लोकतन्त्र का समर्थन करता है।

रूसो के सिद्धान्त की आलोचना—रूसो के सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की आलोचना निम्नलिखित आधारों पर की जाती है

(1) **प्राकृतिक अवस्था का चित्रण काल्पनिक**—रूसो ने जिस प्राकृतिक अवस्था का चित्रण किया है वह निराधार एवं काल्पनिक है। उसने प्राकृतिक अवस्था के पहले चरण को स्वर्गीय आनन्द की अवस्था माना है परन्तु ऐतिहासिक तथ्यों द्वारा यह सिद्ध नहीं होता कि मनुष्य इतना शान्तिपूर्ण एवं सुखी जीवन व्यतीत करते थे। अतः रूसो की प्राकृतिक अवस्था उसके मस्तिष्क की कोरी कल्पना है जो वास्तविकता से बहुत दूर है।

---

1 "What man loses by the Social Contract is his natural liberty and an unlimited right to whatever he can get and hold on to what he gains is civil liberty and the ownership of all that he possesses."—Rousseau *The Social Contract*

(2) समझौता तर्कसंगत नहीं—रूसो का समझौता तर्कसंगत नहीं है। उसमें विरोधाभास तथा असंगति है। एक ओर तो वह यह कहता है कि समझौता व्यक्ति और समाज में होता है और दूसरी ओर वह यह विचार प्रकट करता है कि समाज समझौते का परिणाम है। ये दोनों बातें परस्परविरोधी हैं।

(3) व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा अधिकारों का बलिदान—रूसो के अनुसार, मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता तथा अधिकार समाज को समर्पित कर देता है। समझौते के बाद वह स्वतन्त्रता और अधिकारों से रहित हो जाता है। इस तरह रूसो सामाजिक एकता की वेदी पर व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा अधिकारों का बलिदान कर देता है। रूसो का यह मत भी पूर्णतः निराधार है कि व्यक्ति सामूहिक रूप में अपनी स्वतन्त्रता तथा अधिकारों को पुनः प्राप्त कर लेता है। *मैक्सी ने ठीक ही लिखा है कि* **"जब व्यक्ति राजनीतिक समाज को अपने सब अधिकार समर्पित कर देता है तब उसके पास किसी भी प्रकार की स्वतन्त्रता का अधिकार कैसे हो सकता है?"**

(4) अस्पष्ट एवं भ्रमपूर्ण विचार—रूसो का सिद्धान्त बहुत ही अस्पष्ट एवं भ्रमपूर्ण है। उसका यह कथन कि प्रत्येक नागरिक प्रभुसत्ता का आंशिक भागीदार है, उसके इस विचार के प्रतिकूल है कि प्रभुसत्ता अखण्ड और अविभाजित होती है। इसी तरह उसका यह विचार कि जो व्यक्ति स्वतः सामान्य इच्छा का पालन न करे, उसे बलपूर्वक उसका पालन करने के लिए बाध्य किया जायगा, स्वतन्त्रता का उपहास लगता है। इसी प्रकार उसका यह कथन कि जब राज्य सत्ता के द्वारा किसी व्यक्ति को दण्ड दिया जाता है तो उस व्यक्ति को यह दण्ड उसकी स्वयं की इच्छा से मिलता है, अत्यन्त हास्यास्पद सा प्रतीत होता है। ये सब बातें साधारण व्यक्ति की समझ से परे हैं। **रूसो ने स्वयं यह कहा है कि "जो सामाजिक समझौते को पूरा समझ ले, वह मुझसे अधिक बुद्धिमान है।"**

(5) सामान्य इच्छा की धारणा निरकुश एवं स्वेच्छाचारी—रूसो ने प्रभुसत्ता को सामान्य इच्छा में निहित माना है परन्तु उसने सामान्य इच्छा की जो व्याख्या की है वह उसको निरकुश तथा स्वेच्छाचारी बना देती है। सामान्य इच्छा के नाम पर शासक प्रजाजनों पर मनमाने अत्याचार कर सकता है। इस प्रकार सामान्य इच्छा की आड़ में निरकुशता तथा अन्याय को बढ़ावा मिलता है। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि रूसो की सामान्य इच्छा हॉब्स का **'सिररहित लेवियाथन'** है।

महत्व—उपर्युक्त आलोचनाओं के होते हुए भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि राजनीतिक दर्शन को रूसो की अमूल्य देन रही है। **सर्वप्रथम,** रूसो ने राज्य तथा सरकार में स्पष्ट अन्तर किया। **द्वितीय,** उसने स्वतन्त्रता और समानता पर जोर देकर निरकुश राजतन्त्र का विरोध किया। **तृतीय,** उसने शासन को सामान्य इच्छा पर आधारित बताकर लोकतन्त्र के विकास में महान् योगदान दिया। **चतुर्थ,** उसने जनता की स्वतन्त्रता तथा उसके अधिकारों का प्रबल समर्थन किया। उसके इन विचारों ने फ्रांस की राज्यक्रान्ति, अमरीकी स्वतन्त्रता संग्राम तथा निरकुशता के विरुद्ध अन्य

आन्दोलनों को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रेरणा प्रदान की। पंचम, उसकी सामान्य इच्छा की कल्पना ने आधुनिक आदर्शवादी विचारधारा को जन्म दिया है।

डनिंग के शब्दों में, "रूसो की मृत्यु के पश्चात् हलचल के युग की दार्शनिक प्रणालियों तथा शासन संगठनों में सभी ओर उसकी आत्मा तथा उसके विचार दृष्टिगोचर होते हैं, चाहे उनका रूप कितना ही अदृश्य तथा परिवर्तित हो।"[1] रूसो के प्रभाव का वर्णन करते हुए जे० एन० कोहन ने ठीक ही लिखा है कि "दो शताब्दियों तक यूरोपीय विचारधारा पर जितना प्रभाव रूसो का पड़ा, उतना अन्य किसी व्यक्ति का नहीं।"[2]

रूसो की सामान्य इच्छा
(General Will)

रूसो के सामाजिक समझौते का एक विशिष्ट तत्त्व यह है कि समझौते के फलस्वरूप व्यक्ति की इच्छा समाज की सामान्य इच्छा में विलीन हो जाती है। रूसो की सामान्य इच्छा की धारणा राजनीतिक चिन्तन को उसकी सबसे बड़ी महत्त्वपूर्ण देन है। इस सम्बन्ध में हरमॉन का यह कथन उल्लेखनीय है कि "रूसो की सामान्य इच्छा की धारणा मौलिक और अत्यधिक विचारपूर्ण है।"[3]

सामान्य इच्छा का स्वरूप सामान्य इच्छा का वर्णन करते समय रूसो यह मानकर चलता है कि प्रत्येक व्यक्ति की दो मुख्य इच्छाएँ होती हैं—यथार्थ इच्छा एवं आदर्श इच्छा। अतः सामान्य इच्छा के स्वरूप को समझने के लिए हमें इन दोनों इच्छाओं के अन्तर को स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है। इन दोनों शब्दों का प्रयोग दो विभिन्न विचारों को प्रकट करने के लिए किया गया है। इस कारण इन दोनों शब्दों का प्रयोग एक दूसरे के लिए करना उचित नहीं है। हॉबहाउस ने यह कहकर कि "जो यथार्थ है वही आदर्श है और जो आदर्श है वही यथार्थ है।"[4] ऐसी ही भूल की है।

(1) यथार्थ इच्छा (Actual Will)—रूसो के अनुसार यथार्थ इच्छा स्वार्थ

---

1 "Rousseau's spirit and dogmas, however disguised and transformed, are seen everywhere both in the speculative systems and in the government organisations of the stirring era that followed his death."—**Dunning** *A History of Political Theory*, Vol III, pp 108-110

2 "No one had as much influence as he on the two centuries"—**J. M Cohen** *Introduction to Rousseau's Confessions*

3 'Rousseau's Concept of the General Will in original and highly provocative"—**Harmon** *Political Thought from Plato to the Present*, p 315

4 "What is actual is real and what is real is actual"—*Hobhouse*

पर आधारित तथा भावना प्रधान होती है। अत यह इच्छा सकुचित, स्वार्थपूर्ण एव अविवेकपूर्ण होती है। यह मनुष्य की क्षण-क्षण पर बदलने वाली इच्छा है। यह केवल वर्तमान के बारे मे ही सोचती है, पूरे जीवन का यह बिल्कुल ध्यान नही रखती। यह वैयक्तिक हित पर आधारित होती है और सम्पूर्ण समाज के हित से इसका कोई सम्बन्ध नही होता है। डॉ० आशीर्वादम् के शब्दो मे, "यह व्यक्ति की समाजविरोधी परिवर्तनशील व तुच्छ इच्छा है। यह इच्छा सकीर्ण तथा आत्मविरोधी है।"

(2) आदर्श इच्छा (Real Will)—आदर्श इच्छा मनुष्य की वह इच्छा होती है जो व्यक्तिगत स्वार्थ की अपेक्षा समाज के हित को प्रधानता देती है। इसका उद्देश्य सम्पूर्ण समाज का कल्याण होता है। यह इच्छा स्थाई होती है और मनुष्य को आत्म सन्तोष प्रदान करती है। यह इच्छा स्वार्थ की बुराई से मुक्त होने के कारण शुद्ध अथवा परिष्कृत होती है। यह मनुष्य की सद् इच्छा है क्योकि इसका उद्देश्य सामाजिक हित होता है। यह मनुष्य की विवेकपूर्ण इच्छा है। यह व्यक्ति तथा समाज दोनो के हितो का ध्यान रखती है और दोनो के हितो मे सामजस्य स्थापित करती है।

सामान्य इच्छा का अर्थ एव परिभाषा—व्यक्तियों की आदर्श इच्छा के आधार पर ही विद्वानो ने सामान्य इच्छा के अर्थ को स्पष्ट किया है। उनके अनुसार समाज के विभिन्न व्यक्तियो की आदर्श इच्छाओ का पूर्ण योग अथवा निचोड़ ही सामान्य इच्छा है। यह न तो बहुमत की इच्छा है और न यह सब व्यक्तियो की इच्छा है बल्कि यह तो सामान्य हित पर आधारित मनुष्यो की सद्-इच्छा है। विभिन्न विचारको के द्वारा इसकी जो परिभाषा की गई है, वह निम्नलिखित है

बोसांके के शब्दो मे, "सामान्य इच्छा सम्पूर्ण समाज अथवा समस्त व्यक्तियों की ऐसी इच्छा है जिसका लक्ष्य सामान्य हित होता है।"[1]

ग्रीन के अनुसार, 'सामान्य इच्छा सामान्य हित की सामान्य चेतना है।"[2]

डॉ० आशीर्वादम् के शब्दो मे, "सामान्य इच्छा समाज का निर्माण करने वाले व्यक्तियों की आदर्श इच्छाओ का योग अथवा सगठन अथवा उनका समन्वय है।"[3]

वेपर के अनुसार, "सामान्य इच्छा नागरिकों की वह इच्छा है जिसका उद्देश्य

1 "General will is the will of the whole society as such or the will of all individuals in so far as they aim at the common end"—Bosanquet *Philosophical Theory of the State*, p 99

2 'General will is the common consciousness of the common end" —T H Green

3 "General will may be defined as the sum total or better still, an organization or synthesis of the real will of the individuals comprising society" —Dr Ashirvatham

व्यक्तिगत स्वार्थ न होकर सर्वसाधारण की भलाई है। यह सभी के हित के लिए सभी की आवाज है।"[1]

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि रूसो की सामान्य इच्छा के दो तत्व हैं—व्यक्तियों की सख्या और सार्वजनिक हित। इन दोनो में से रूसो सख्या की अपेक्षा हित पर अधिक जोर देता है। रूसो ने इस सम्बन्ध में कहा है कि "सामान्य इच्छा सब व्यक्तियों की इच्छा होती है और सब पर लागू होती है। इस इच्छा को सामान्य बनाने मे मतदाताओं की सख्या की अपेक्षा सामाजिक हित अधिक प्रमुख होता है जो व्यक्तियों को एकता के सूत्र मे बांधता है।"[2]

सामान्य इच्छा एव सर्वसम्मति (will of all) मे अन्तर—साधारणतया सामान्य इच्छा और सर्वसम्मति दोनो को एक मान लिया जाता है, परन्तु दोनो को एक समझना उचित नही है। दोनो मे मुख्य अन्तर निम्नलिखित है

(1) सर्वसम्मति व्यक्तियों की यथार्थ इच्छाओं का योग है जबकि सामान्य इच्छा उनकी आदर्श इच्छाओं का निचोड अथवा सार है।

(2) सर्वसम्मति समाज के सभी व्यक्तियो की इच्छा होती है। यह सख्या पर जोर देती है जबकि सामान्य इच्छा उद्देश्य पर जोर देती है। सामान्य इच्छा के लिए सख्या महत्वपूर्ण नहीं। वह किसी एक व्यक्ति, कुछ व्यक्तियो अथवा सभी व्यक्तियो की इच्छा हो सकती है।

(3) सर्वसम्मति कभी कभी वर्ग विशेष के हितो से भी सम्बन्धित हो सकती है, परन्तु सामान्य इच्छा सदैव सार्वजनिक हित से सम्बन्धित होती है।

(4) सामान्य इच्छा समाज की एकता को व्यक्त करती है क्योंकि यह समाज की सगठित सामाजिक इच्छा है। इसके विपरीत सर्वसम्मति असगठित और विशिष्ट इच्छाओ का समूह है, इसलिए यह समाज की एकता को व्यक्त नही करती।

रूसो ने इन दोनो का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'सामान्य इच्छा और सबकी इच्छा में प्राय बहुत अधिक अन्तर होता है। सामान्य इच्छा का सम्बन्ध केवल सामान्य हितों से होता है जबकि सबकी इच्छा का सम्बन्ध व्यक्तिगत हितों से होता है। सबकी इच्छा विशिष्ट इच्छाओं का योग मात्र है।"

सामान्य इच्छा तथा बहुमत—कही कही रूसो का यह मत है कि सामान्य

---

1 'The General will is thus the Will of the citizens when they are willing not their one private interest but the general good It is the voice of all for the good of all'

2 "General will is the will which must both come from all and apply to all and what makes it general is less the number of voters than the common interest uniting them"—Rousseau *Social Contract*, Book II, Chapter 4

इच्छा बहुमत की इच्छा है किन्तु कहीं वह यह भी कहता है कि ऐसा अर्थ तभी लिया जा सकता है, जब सामान्य इच्छा की सभी विशेषताएँ बहुमत की इच्छा में भी पाई जाती हों। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि जब बहुमत का उद्देश्य सामान्य हित होता है तब बहुमत की इच्छा सामान्य इच्छा होती है परन्तु जब बहुमत का उद्देश्य बहुसंख्यक लोगों का हित करना होता है, तब उसकी सामान्य इच्छा नहीं होती। इस प्रकार सामान्य इच्छा का सिद्धान्त व्यावहारिक तौर पर लोकतन्त्रीय सरकार की स्थापना करता है परन्तु यह कुलीनतन्त्र तथा राजतन्त्र में भी व्यक्त हो सकती है, यदि उसका लक्ष्य सामाजिक हित है।

सामान्य इच्छा का निर्माण—रूसो के अनुसार किसी भी समाज में हम समाज के सदस्यों की व्यक्तिगत इच्छाओं से प्रारम्भ करते हैं। जब कभी जनता के सामने कोई सार्वजनिक प्रश्न उपस्थित होता है तो समाज का हर सदस्य उस पर अपने ढंग से विचार करता है। परन्तु यदि समाज सभ्य तथा सुसंस्कृत है और उसमें नागरिकता की भावना विद्यमान है तो व्यक्तियों की इच्छाओं के स्वार्थपूर्ण तत्त्व एक-दूसरे को नष्ट कर देते हैं और इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप सामान्य इच्छा का उदय होता है। इस प्रकार सबकी इच्छाएँ सामान्य इच्छा में बदल जाती हैं। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि "वाद विवाद तथा विचार-विमर्श के फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा परिष्कृत, पवित्र तथा विशाल हो जाती है और इससे जो इच्छा प्रकट होती है, वह सामान्य इच्छा है।[1] इस प्रकार हम सबकी इच्छा से प्रारम्भ करते हैं तथा सामान्य इच्छा पर पहुँचते हैं।

सामान्य इच्छा की विशेषताएँ—रूसो की सामान्य इच्छा की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

(1) एकता—सामान्य इच्छा की पहली विशेषता उसकी एकता अथवा अखण्डता है। वह विवेकयुक्त होने के कारण कभी आत्म विरोधी नहीं होती है। यह समाज के विभिन्न सदस्यों की इच्छाओं का पूर्ण योग होने के कारण विभिन्नता में एकता स्थापित करती है। रूसो का कथन है कि 'सामान्य इच्छा राष्ट्रीय चरित्र की एकता का निर्माण करती है और उसे स्थिर रखती है। एक राज्य के नागरिकों में जो गुण होने की हम आशा करते हैं, वे सामान्य गुण इससे उत्पन्न होते हैं।"

(2) स्थायित्व—सामान्य इच्छा की दूसरी विशेषता उसका स्थायित्व है। यह इच्छा मनुष्य की भावनाओं तथा आवेशों पर आधारित न होकर उसके विवेक का परिणाम होती है। वह सुविचारित तर्क पर आधारित होती है। यह मनुष्यों के

---

1 "As a result of discussion and deliberation, every body's will becomes modified, purified and enlarged" —Dr Ashirvatham

चरित्र मे निहित होती है। अत. यह क्षणिक न होकर स्थायी होती है। रूसो का कथन है कि "सामान्य इच्छा सदैव स्थायी, अपरिवर्तनशील एवं पवित्र होती है।"[1]

(3) अदेयता—सामान्य इच्छा की तीसरी विशेषता उसकी अदेयता है। इसका तात्पर्य यह है कि सामान्य इच्छा प्रभुसत्ता के समान अदेय होती है। जिस प्रकार व्यक्ति अपना जीवन किसी दूसरे को नहीं दे सकता, उसी प्रकार सामान्य इच्छा एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह को हस्तान्तरित नही की जा सकती है। रूसो के अनुसार, "सामान्य इच्छा कभी हस्तान्तरित नहीं की जा सकती। वास्तव में शक्ति को हस्तान्तरित किया जा सकता है, सामान्य इच्छा को नहीं।"

(4) अविभाज्यता—सामान्य इच्छा प्रभुसत्ता के समान अविभाज्य होती है। यह छोटे-छोटे समूहो मे विभाजित नही होती है। इसे सरकार के विभिन्न अंगो मे विभाजित नही किया जा सकता। इसे विभाजित करने का अर्थ इसे नष्ट कर देना है। रूसो ने लिखा है कि "सामान्य इच्छा या तो सामान्य होती है या होती ही नहीं है।"

(5) प्रभुसत्ता-सम्पन्न एव अप्रतिनिधित्वता—सामान्य इच्छा सम्प्रभु होती है क्योकि प्रभुसत्ता सामान्य इच्छा मे निहित होती है। इसको सम्प्रभुता से पृथक करना सम्भव नही है। इसके अतिरिक्त किसी अन्य के द्वारा इसका प्रतिनिधित्व भी नहीं किया जा सकता है। रूसो के शब्दो मे, "प्रभुसत्ता अनिवार्य रूप से सामान्य इच्छा मे निहित होती है। सामान्य इच्छा सब व्यक्तियों की सामूहिक इच्छा है, इसलिए इसके अतिरिक्त और कोई इसका प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता है।"

(6) न्यायोचित—सामान्य इच्छा सदैव शुभ, सत्य और न्यायोचित होती है। यह सम्भव है कि व्यक्तियो के निर्णय तथा उनकी इच्छाएं गलत हो सकती हैं परन्तु विवेक पर आधारित होने के कारण सामान्य इच्छा न तो कभी गलत होती है और न इसकी उपस्थिति मे गलत निर्णय ही होते हैं। इसमे कोई नैतिक दुर्भावना नहीं होती। रूसो ने लिखा है कि "सामान्य इच्छा सदैव न्यायोचित होती है, लेकिन इसका मार्गदर्शन करने वाला विवेक सदैव समझदार अथवा प्रबुद्ध नहीं होता।"[2]

(7) लोक कल्याणकारी—सामान्य इच्छा की एक प्रमुख विशेषता उसका लोक कल्याणकारी होना है। सामान्य इच्छा व्यक्तियो की आदर्श इच्छाओ का योग अथवा सार है। आदर्श इच्छाएं व्यक्तियो की श्रेष्ठ इच्छाएं होती है, अत: सामान्य इच्छा का लक्ष्य सदैव सम्पूर्ण समाज का हित अथवा कल्याण होता है। सामान्य

---

1 "General Will is always constant, unalterable and pure" —Rousseau

2 "The General Will is always in the right, but the judgement which guides it, is not always enlightened" —Rousseau

इच्छा सामाजिक हितों का ही दूसरा रूप है । रूसो के शब्दों में, "सामान्य इच्छा सदैव ठीक ही होती है और इसमे सदैव सार्वजनिक हित की प्रवृत्ति रहती है ।"

(8) सर्वोच्च एव सर्वशक्तिमान—सामान्य इच्छा सर्वोच्च एव सर्वशक्तिमान होती है। इस पर किसी भी प्रकार के नियमो तथा कानूनो का कोई बन्धन नही होता। यह स्वय ही कानूनो का स्रोत होती है। उसकी आज्ञा का पालन करने पर ही व्यक्ति के लिए सच्ची नैतिक स्वतन्त्रता सम्भव है। रूसो के अनुसार, "कोई उसकी आज्ञा का विरोध नहीं कर सकता। जो कोई सामान्य इच्छा की आज्ञाओं का पालन नहीं करता, उसे ऐसा करने के लिए बाध्य किया जायेगा।"

सामान्य इच्छा की आलोचना—रूसो की सामान्य इच्छा की धारणा की काफी आलोचना हुई है। यह आलोचना निम्नलिखित आधारों पर की गई है

(1) जटिल एवं अस्पष्ट—रूसो की सामान्य इच्छा का सिद्धान्त अत्यन्त जटिल एवं अस्पष्ट है। रूसो ने न तो स्पष्ट रूप से यह बताया कि सामान्य इच्छा का निवास कहाँ होता है और न उसने इस बात पर ही प्रकाश डाला कि उसका भौतिक रूप क्या है? कही तो रूसो सामान्य इच्छा का निवास सबकी इच्छा मे मानता है, कहीं वह सामान्य इच्छा को बहुमत की इच्छा मानता है और कही पर वह यह कहता है कि समाज के सब व्यक्तियों की इच्छाओं के जोड़ घटाव के बाद जो इच्छा शेष रह जाती है वही सामान्य इच्छा है। इस प्रकार सामान्य इच्छा के सम्बन्ध मे उसके विचारों मे विरोधाभास है। मैक्सी ने लिखा है कि "रूसो सामान्य इच्छा की स्पष्ट रूप से परिभाषा नहीं करता और इसका वर्णन प्रायः अस्पष्ट है।"

(2) अव्यावहारिक—रूसो के सामान्य इच्छा के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने मे दो कठिनाइयाँ हैं। प्रथम तो, यदि सामान्य इच्छा को बहुमत की इच्छा माना जाए तो इससे अल्पसंख्यकों के हितों की उपेक्षा होती है। द्वितीय, यदि सामान्य इच्छा को नैतिक अथवा भावात्मक दृष्टिकोण माना जाए तो कोई भी व्यक्ति अपने को सामान्य इच्छा का प्रतिनिधि बताकर आसानी से तानाशाह बन सकता है। अतः यह अव्यावहारिक है।

(3) यथार्थ और आदर्श इच्छाओं का भेद अनुचित—रूसो ने मनुष्य की यथार्थ और आदर्श इच्छाओं के बीच भेद किया है जो उचित नहीं है। मनुष्य की इन दोनों इच्छाओं के बीच भेद करना अथवा इनको एक-दूसरे से पृथक करना सम्भव नही है क्योंकि मनुष्य मे व्यक्तिगत स्वार्थ तथा लोक हित की भावनाएँ साथ-साथ पाई जाती हैं। हॉबहाउस (Hobhouse) ने ठीक ही कहा है कि "यथार्थ इच्छा तथा आदर्श इच्छा का अन्तर व्यवहार मे सही नहीं होता है।"

(4) विशाल राज्यों के लिए अनुपयुक्त—रूसो की सामान्य इच्छा का सिद्धान्त प्राचीन यूनान के छोटे छोटे नगर राज्यों के लिए उपयुक्त हो सकता है परन्तु यह आधुनिक विशाल राज्यो के लिए उपयुक्त नही है। आधुनिक विशाल राज्यो मे यह सम्भव नहीं है कि सभी व्यक्ति प्रभुसत्ता के प्रयोग मे प्रत्यक्ष तथा सक्रिय भाग

ले सके। इसके अतिरिक्त आधुनिक राज्यों में अनेक प्रकार की विषमताएँ होने के कारण सामान्य इच्छा के निर्माण में बाधा उपस्थित होती है। जोन्स (W. T. Jones) ने ठीक ही लिखा है कि "इस बात में सन्देह है कि आधुनिक विशाल राज्यों में, जिनमें सामाजिक और आर्थिक विषमता होती है, सामान्य इच्छा का उदय हो सकता है।"

(5) सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व सम्भव—रूसो का यह विचार कि सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व नहीं किया जा सकता, सही नहीं है। आधुनिक प्रजातान्त्रिक राज्यों में विभिन्न राजनीतिक दल, संगठन तथा व्यवस्थापिकाएँ सामान्य इच्छा का निर्माण करने तथा उसका प्रतिनिधित्व करने में योग देते हैं। जोन्स का कथन है कि "रूसो सामान्य इच्छा के प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में अत्यन्त संकुचित दृष्टिकोण अपनाता है।"

(6) सामान्य हित की व्याख्या असम्भव—रूसो की सामान्य इच्छा का आधार सामान्य हित है, परन्तु सामान्य हित की व्याख्या करना कठिन है। एक निरंकुश शासक भी अपने कार्यों को सामान्य हित के नाम पर उचित ठहरा सकता है। इसके अतिरिक्त किसी कार्य को करने से पहले यह बताना बड़ा कठिन है कि उस कार्य का परिणाम निश्चित रूप से जन-कल्याण ही होगा। हित अथवा अहित का निर्णय तो उसके परिणाम से ही किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त एक कठिनाई यह है, जैसाकि मरे (Murray) ने लिखा है कि "जिस बात को बहुमत सामान्य हित समझता है, हो सकता है कि अल्पमत उसे सामान्य हित न समझे।" अतः सामान्य हित की व्याख्या करना सम्भव नहीं है।

(7) निरंकुशता कायम हो जाने का भय—रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त से राज्य में निरंकुशता कायम हो जाने का भय है। रूसो के अनुसार व्यक्ति अपने समस्त अधिकार समाज को समर्पित कर देता है तथा उसे किसी भी परिस्थिति में राज्य का विरोध करने का अधिकार नहीं रहता। इस प्रकार सामान्य इच्छा का सिद्धान्त व्यक्ति के व्यक्तित्व को राज्य में विलीन करके एक ऐसी निरंकुशता को प्रोत्साहन देता है जिसमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। कोई भी शासक सामान्य इच्छा की आड़ में अपने कार्यों को नैतिक दृष्टि से उचित बताकर जनता पर अत्याचार कर सकता है तथा तानाशाही का रूप धारण कर सकता है। ए० डाइड (A. Dide) के शब्दों में, "रूसो सामान्य इच्छा को आड़ में बहुमत की निरंकुशता का प्रतिपादन तथा समर्थन करता है।" जोन्स (W. T. Jones) ने भी इस सम्बन्ध में लिखा है कि "रूसो की सामान्य इच्छा की धारणा के प्रयोग करने में मुख्य भय यह है कि इससे राज्य में निरंकुश शासन की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि रूसो की सामान्य इच्छा के विचार बहुत ही अस्पष्ट हैं तथा उसमें अनेक अन्तर्विरोध हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि एक अलंकार-शास्त्री के समान रूसो को शायद अन्तर्विरोध अच्छे लगते थे।

सामान्य इच्छा के सिद्धान्त का महत्त्व—उपर्युक्त आलोचनाओं के होते हुए भी रूसो ने सामान्य इच्छा के सिद्धान्त की राजनीतिक विचारधारा के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण देन है। यह देन निम्नलिखित है

(1) सामान्य इच्छा का सिद्धान्त इस तथ्य की पुष्टि करता है कि राज्य का आधार शक्ति नहीं वरन् जन स्वीकृति तथा जनता की इच्छा है। अतः शासन में जनता का सहयोग होना चाहिए तथा सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी होनी चाहिए।

(2) यह सिद्धान्त इस बात की घोषणा करता है कि राज्य कृत्रिम न होकर एक स्वाभाविक संस्था है और इसका आधार मनुष्य की इच्छा व आवश्यकता है। कोल के शब्दों में, 'राज्य के प्रति हमें इसलिए आज्ञाकारी होना चाहिए क्योंकि यह हमारे व्यक्तित्व का स्वाभाविक विस्तृत रूप है।"[1]

(3) यह सिद्धान्त समाज अथवा राज्य को एक सावयवी के समान मानता है। इस प्रकार यह समाज तथा व्यक्ति में शरीर और उसके अंगों का सम्बन्ध स्थापित करके सामाजिक एकता को सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न करता है।

(4) यह सिद्धान्त व्यक्ति तथा समाज के हितों में सामंजस्य स्थापित करके समाज के हित को व्यक्ति के हित से उच्चतर स्थान प्रदान करता है।

(5) इस सिद्धान्त ने प्रभुसत्ता को जनता में निहित बताकर प्रजातन्त्र के सिद्धान्त का विकास किया तथा फ्रांस की राज्यक्रान्ति को प्रेरणा प्रदान की।

(6) इस सिद्धान्त ने इस मत पर जोर दिया कि स्वस्थ लोकतन्त्र का सच्चा आधार सक्रिय सामान्य इच्छा है, न कि बहुमत की शक्ति।

(7) इस सिद्धान्त ने यह धारणा प्रदान की है कि राज्य का उद्देश्य अपने समस्त नागरिकों का हित करना है और उसके सब कार्य इसी उद्देश्य से प्रेरित होने चाहिए।

(8) यह सिद्धान्त हॉब्स के निरंकुशवाद तथा लॉक के संविधानवाद में समन्वय कायम करता है।

इस प्रकार सामान्य इच्छा का सिद्धान्त हमारे सामने एक ऐसा राजनीतिक आदर्श प्रस्तुत करता है जिसकी प्राप्ति सदैव हमारा लक्ष्य होना चाहिए। सामान्य इच्छा के महत्त्व का वर्णन करते हुए जोन्स ने लिखा है कि "रूसो की सामान्य इच्छा की धारणा उसके सिद्धान्त का न केवल सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विचार है अपितु यह उसकी सबसे अधिक मौलिक, सबसे अधिक रुचिकर एवं ऐतिहासिक दृष्टि से राजनीतिक सिद्धान्त को उसकी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण देन है।"[2]

---

1 "The State exists and claims our obedience because it is a natural extension of our personality" —G D H Cole

2 "The notion of the General Will is not only the most central concept of Rousseau's theory, it is also the most original, the most interesting and historically the most important contribution, which he made to political theory"—W T Jones; *Masters of Political Thought*, ■ 318.

हॉब्स, लॉक तथा रूसो की तुलना

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे सामाजिक समझौते का सिद्धान्त एक सुतम्य कल्पना (Plastic fiction) है। अतएव, हॉब्स, लॉक तथा रूसो ने इसे अपनी इच्छानुसार तोडा मरोडा है और जिन विचारो की वे स्थापना करना चाहते थे उसके अनुकूल उसे ढाल लिया है। परिणामस्वरूप, इन विचारकों के विचारो मे अनेक असमानताएँ पायी जाती हैं। इन तीनो विचारको के विचारो की तुलना निम्नलिखित प्रकार से की जा सकती है

(1) **मानव स्वभाव**—हॉब्स के अनुसार मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी, असामाजिक, झगडालू, असहयोगी, अहकारी, युद्धप्रिय तथा एक दूसरे का शत्रु होता है। लॉक ने हॉब्स के बिलकुल विपरीत मानव स्वभाव का चित्रण किया है। उसके अनुसार मनुष्य सामाजिक, सहयोगी, शान्तिप्रिय, नैतिक, विवेकशील और स्वतन्त्रता प्रेमी होता है। रूसो ने मानव-स्वभाव का जो चित्रण किया है, वह लॉक से मिलता जुलता है। रूसो के अनुसार मनुष्य स्वभावत अच्छा, स्वतन्त्र, समान तथा आत्मनिर्भर होता है। उसमे छल, कपट, घृणा, द्वेष, अहकार आदि का अभाव होता है।

(2) **प्राकृतिक अवस्था**—हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक अवस्था निरन्तर सघर्ष तथा युद्ध की अवस्था है। इसमे मनुष्य का जीवन एकाकी, निर्धन, अपवित्र, घृणित व क्षणिक होता है। इस अवस्था मे निरन्तर सघर्ष के कारण मनुष्यो का जीवन तथा उनकी सम्पत्ति सुरक्षित नही। इस अवस्था मे मनुष्यो को न्याय अन्याय, पाप पुण्य, झूठ-सच, अच्छाई बुराई आदि का कोई ज्ञान नही था। हॉब्स के विपरीत लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था शान्ति, सहयोग, समानता, स्वतन्त्रता और सामाजिकता की अवस्था है। इस अवस्था मे व्यक्ति को जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति जैसे महत्वपूर्ण प्राकृतिक अधिकार प्राप्त थे। रूसो ने प्राकृतिक अवस्था का जो चित्रण किया वह लॉक से मिलता जुलता है। रूसो के अनुसार प्राकृतिक अवस्था स्वतन्त्रता, समानता, आत्मसन्तोष एव आत्मनिर्भरता की अवस्था है। वह इसे आदर्श अवस्था मानता है जिसमे मनुष्य शान्तिपूर्वक रहते हुए स्वर्गीय आनन्द का अनुभव करते थे।

(3) **प्राकृतिक नियम**—हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक अवस्था मे मनुष्य का एकमात्र उद्देश्य आत्मरक्षा है। इस अराजकतापूर्ण अवस्था मे "जिसकी लाठी उसकी भैंस" (Might is right) तथा जिसे मार सकते हो उसे मार डालो तथा जिसे छीन सकते हो, उसे छीन लो" का नियम प्रचलित था। इसके विपरीत लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था मे तर्क तथा विवेक पर आधारित कुछ प्राकृतिक नियम थे जिनका पालन करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक था। सभी मनुष्य प्राकृतिक नियमों का पालन करते हुए एक-दूसरे के अधिकारो का सम्मान करते थे। रूसो के अनुसार, प्राकृतिक अवस्था मे मनुष्य मे बुद्धि तथा विवेक का अभाव था। ऐसी अवस्था मे कोई कानून नही था तथा मनुष्य सहज-भावनाओ से प्रेरित होकर कार्य करता था।

(4) *समझौते के कारण*—*हॉब्स के अनुसार,* प्राकृतिक अवस्था मे मनुष्यों का जीवन तथा सम्पत्ति सुरक्षित नहीं थी। वह हर समय मृत्यु के भय से भयभीत रहता था। इन कारणों से *मनुष्यों ने प्राकृतिक अवस्था को त्यागने के लिए* एक समझौता किया और एक ऐसे शासक की अधीनता स्वीकार की जो उनसे जीवन और सम्पत्ति की रक्षा कर सके। *लॉक के अनुसार, प्राकृतिक अवस्था* अच्छी होते हुए भी असुविधाजनक थी। इसी अवस्था मे नियमों की व्याख्या करने, नियमों को लागू करने तथा उन्हे तोड़ने वालो को दण्ड देने के लिए कोई शक्ति नहीं थी। इन असुविधाओं से बचने के लिए ही मनुष्यों ने राज्य की स्थापना हेतु आपस मे समझौता किया। रूसो के अनुसार, सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ-साथ मानव का पतन होने लगा और उसमे स्वार्थ, अहंकार, द्वेष, संघर्ष, असमानता और आपसी भेद-भावों का उदय हुआ अतः इस अवस्था से छुटकारा पाने के लिए तथा जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की रक्षा के लिए मनुष्यों ने समझौते द्वारा समाज अथवा राज्य की स्थापना की।

(5) समझौते का स्वरूप—हॉब्स के अनुसार, केवल एक ही समझौता हुआ जिसे सामाजिक समझौता कहा जा सकता है। इस समझौते से ही संगठित समाज तथा राजसत्ता की स्थापना हुई। हॉब्स राज्य तथा सरकार के बीच कोई भेद नहीं करता। इस समझौते के द्वारा मनुष्यों ने प्राकृतिक अवस्था के समस्त अधिकारों को एक व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह को सौंप दिया। यह समझौता प्रत्येक का सबके साथ और सबका प्रत्येक के साथ हुआ। शासन इस समझौते मे शामिल नहीं है, इसलिए इसे राजनीतिक समझौता नहीं कहा जा सकता।

इसके विपरीत लॉक के विश्लेषण के अनुसार समझौते दो प्रकार के हुए हैं—पहला, सामाजिक तथा दूसरा, राजनीतिक। पहले समझौते से नागरिक समाज की स्थापना होती है तथा दूसरे समझौते से सरकार की स्थापना होती है। पहला समझौता प्रत्येक मनुष्य का सब मनुष्यों के साथ होता है तथा दूसरा समझौता नागरिक समाज तथा सरकार के बीच होता है। इस समझौते से व्यक्ति अपने केवल कुछ अधिकार *ही सम्पूर्ण समाज को समर्पित करते हैं। समझौते मे शासक* भी शामिल होता है तथा उसकी सत्ता सीमित होती है।

रूसो के अनुसार मनुष्यों के बीच केवल एक ही समझौता होता है जिससे राजनीति समाज की स्थापना होती है। उसके अनुसार समझौते के अन्तर्गत व्यक्ति के दो रूप दिखाई देते हैं—एक, व्यक्तिगत तथा दूसरा, समूहगत। व्यक्तिगत रूप में प्रत्येक व्यक्ति सम्पूर्ण समाज को अपने समस्त अधिकारों का समर्पण कर देता है तथा समूहगत रूप मे समाज का अभिन्न अंग होने के कारण वह उन शक्तियों को पुन प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार यह समझौता मनुष्य के व्यक्तिगत पक्ष और उसके सामाजिक पक्ष के बीच होता है। समझौते के परिणामस्वरूप एक सामान्य इच्छा उत्पन्न होती है और सभी व्यक्ति उसके अधीन रहते हुए अपना कार्य करते हैं।

सामान्य इच्छा से ही मनुष्यों में नैतिकता की भावना आती है। इस प्रकार रूसो लॉक के समान राज्य तथा सरकार में भेद करता है।

(6) राजसत्ता का स्वरूप—हॉब्स के सिद्धान्त के अनुसार, समझौते से जिस राजसत्ता का प्रादुर्भाव होता है वह सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न सत्ता होती है। इस सत्ता के बिना राज्य नहीं बन सकता। यह सत्ता सर्वोच्च तथा असीमित होती है। सत्ताधारी के अधिकार निरंकुश होते हैं। वही कानूनों का निर्माता तथा व्याख्याता है। वही न्याय और नैतिकता का स्रोत है। जनता के द्वारा किसी भी स्थिति में राजसत्ता का विरोध नहीं किया जा सकता। राजसत्ताधारी की शक्ति पर न तो कोई प्रतिबन्ध है और न वह किसी के प्रति उत्तरदायी होता है।

इसके विपरीत लॉक के अनुसार, सम्प्रभुता जनता में निवास करती है। सरकार के अधिकारों का स्रोत जनता होती है तथा उसकी शक्तियाँ सीमित होती हैं। उसके अनुसार शासक भी समझौते में एक पक्ष होता है, अतः वह भी समझौते की शर्तों से बाध्य है। यदि सरकार जनता के हित में शासन नहीं करती तो जनता उसके विरुद्ध विद्रोह करके उसे पदच्युत कर सकती है।

रूसो के अनुसार, राजसत्ता किसी एक व्यक्ति अथवा व्यक्तिसमूह में निहित न होकर सामूहिक रूप से सम्पूर्ण जनता में निहित होती है। रूसो ने इसे सामान्य इच्छा का नाम दिया है। सामान्य इच्छा के विपरीत कार्य करने पर जनता को सरकार को पदच्युत करने का अधिकार होता है। यह सामान्य इच्छा सदैव ही शुभ, सत्य, नैतिक, न्यायोचित और लोककल्याणकारी होती है। यही कानूनों का स्रोत है।

(7) उद्देश्य—हॉब्स का उद्देश्य निरंकुश राजतन्त्र की स्थापना करना था। इसका समर्थन करने के लिए ही उसने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। लॉक का उद्देश्य इंगलैण्ड की गौरवपूर्ण क्रान्ति को न्यायसंगत सिद्ध करना था। अतः उसने सीमित राजतन्त्र के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। रूसो लोकतन्त्र का महान् समर्थक था। वह निरंकुश राजतन्त्र का अन्त करना चाहता था। इसलिए उसने लोकप्रिय सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

निष्कर्ष—उपरोक्त तीनों विचारकों की विचारधारा के तुलनात्मक अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हॉब्स तथा लॉक का समझौता सिद्धान्त एक दूसरे के बिलकुल विपरीत है तथा रूसो ने अपने सिद्धान्त की कुछ बातें हॉब्स से और कुछ बातें लॉक से ग्रहण की हैं। इस प्रकार रूसो हॉब्स के निरंकुशवाद तथा लॉक के संविधानवाद में समन्वय स्थापित करता है। उसके सिद्धान्त का प्रारम्भ तो लॉक की भाँति होता है तथा उसका अन्त हॉब्स की भाँति होता है।

(1) रूसो ने सामान्य इच्छा की जो विशेषताएँ बताई हैं वे हॉब्स के सत्ताधारी से मिलती-जुलती हैं। हॉब्स के सत्ताधारी के समान रूसो की सामान्य इच्छा भी प्रभुसत्तासम्पन्न, अखण्ड, स्थायी, अविभाज्य, असीम, हस्तान्तरणीय, न्यायोचित, सर्वोच्च एवं निरंकुश होती है। जिस प्रकार हॉब्स के अनुसार व्यक्ति समझौते द्वारा

अपने समस्त अधिकार सत्ताधारी को समर्पित कर देता है तथा उसके पास कोई अधिकार शेष नहीं रहता, उसी प्रकार रूसो के अनुसार भी व्यक्ति समझौते द्वारा अपने समस्त अधिकार सामान्य इच्छा को समर्पित कर देता है। समझौते के फलस्वरूप उत्पन्न रूसो की सामान्य इच्छा उतनी ही निरकुश है जितना कि हॉब्स का सत्ताधारी। कुछ बातो मे तो रूसो हॉब्स से भी अधिक निरकुश हो जाता है। हॉब्स आत्म-रक्षा के नाम पर व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार प्रदान करता है परन्तु रूसो किसी भी स्थिति मे व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार प्रदान नहीं करता। उसके अनुसार सामान्य इच्छा कभी भी गलती नही कर सकती। रूसो के शब्दो मे, 'जिस प्रकार प्रकृति ने मनुष्य को उसके शरीर के विभिन्न अगों पर पूर्ण नियन्त्रण का अधिकार प्रदान किया है, ठीक उसी प्रकार सामाजिक समझौते ने सामान्य इच्छा को व्यक्ति के ऊपर पूर्ण निरकुश अधिकार प्रदान किये हैं।"

इस प्रकार रूसो की सामान्य इच्छा हॉब्स के सत्ताधारी के समान है। दोनो मे अन्तर केवल यह है कि हॉब्स का सम्प्रभु एक विशाल मानव है जबकि रूसो के अनुसार सम्प्रभु सामान्य इच्छा है। वाहन का यह कथन सही है कि "यदि हॉब्स के विशाल मानव (लेवियाथन) का सिर काट दिया जाए तो रूसो की सामान्य इच्छा ही होगी।"[1]

(2) लॉक के समान रूसो भी यह मानता है कि सरकार समाज की एजेण्ट मात्र है। सरकार का उद्देश्य जन-हित मे शासन करना है। यदि सरकार निरकुश बनने की कोशिश करे तो समाज के द्वारा उसे पदच्युत किया जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि रूसो ने हॉब्स से प्रभु-सत्ता की निरकुशता का विचार ग्रहण किया तथा लॉक से यह ग्रहण किया कि जनता का हित ही अच्छे शासन की कसौटी है। रूसो की सामान्य इच्छा मे हमे ये दोनों गुण देखने को मिलते हैं। तीनो विचारकों के विचारो की समीक्षा करते हुए गिलक्राइस्ट ने लिखा है कि 'जिस प्रकार हॉब्स का सिद्धान्त निरकुश प्रभुसत्ता का तथा लॉक का सिद्धान्त सवैधानिक शासन का समर्थन करता है, ठीक उसी प्रकार रूसो का सिद्धान्त लोकप्रिय सम्प्रभुता का समर्थन करता है।"[2]

सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की आलोचना

सत्रहवी तथा अठारहवी शताब्दी मे सामाजिक समझौते के सिद्धान्त को बहुत अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई परन्तु अठारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा उन्नीसवीं

1 "Hobbes's Leviathan is Rousseau's General Will, with his head chopped off" —Vaughan

2 "Just as Hobbes's theory supports absolutism and Locke upholds constitutional government, Rousseau's theory supports popular sovereignty"— Gilchrist. *Principles of Political Science*, p 63

शताब्दी में अनेक राजनीतिक विचारकों के द्वारा इस सिद्धान्त की बड़ी आलोचना की गई। इसकी आलोचना करने वालों में ह्यूम, बेन्थम बर्क, वॉन हालर, ऑस्टिन, सर हेनरीमेन, फ्रेडरिक पोलक, ब्लुश्ली, वाहन आदि विचारक प्रमुख हैं। अंग्रेज दार्शनिक ह्यूम के अनुसार, "शासक और शासितों के बीच सम्बन्धों के आधार के रूप में समझौता असत्य है तथा ऐतिहासिक तथ्यों के साथ यह मेल नहीं खाता।" बेन्थम ने कहा है कि "मैं मौलिक समझौते को अभिवादन के साथ छोड़ता हूँ और मैं इसे उन लोगों के मनोरंजन के लिए छोड़ता हूँ जो यह सोचते हैं कि उन्हें इसकी आवश्यकता है।' सर हेनरीमेन का मत है कि "हॉब्स ने समाज और सरकार की उत्पत्ति का जो स्वरूप दिया है, उससे बढ़कर निरर्थक और कुछ नहीं हो सकता।" ब्लुश्ली ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि *"यह सिद्धान्त अत्यधिक भयंकर है* क्योंकि यह राज्य तथा उसकी संस्थाओं को व्यक्तिगत चंचलता की उपज बताता है।" वाहन के अनुसार, "सामाजिक समझौते का सिद्धान्त न तो इतिहास को ही समझने का उचित साधन है और न ही किसी ठोस राजनीतिक दर्शन का उदाहरण है।"[1] ग्रीन ने 'कपोल कल्पना', वूल्जे ने 'सरासर झूठ' तथा सर फ्रेडरिक पोलक ने 'सर्वाधिक सफल एवं घातक राजनीतिक छल' कहकर इसकी आलोचना की है।

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त का अब कोई मूल्य नहीं रहा। इस सिद्धान्त की आलोचना ऐतिहासिक, दार्शनिक, वैधानिक तथा तार्किक आधारों पर की जाती है।

ऐतिहासिक आधार पर आलोचना

(1) **समझौता ऐतिहासिक दृष्टि से असत्य**— ऐतिहासिक दृष्टि से समझौते का सिद्धान्त *कोरी कल्पना है। वस्तुतः इस सिद्धान्त का कोई ऐतिहासिक आधार* नहीं है। इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं है जब राजनीतिक जीवन से सर्वथा *अनभिज्ञ व्यक्तियों ने मिलकर समझौते द्वारा राज्य का निर्माण किया हो। सामाजिक* समझौते के सिद्धान्त के समर्थक अपने पक्ष में 11 नवम्बर, सन् 1620 ई० के **'मेफ्लावर समझौते'** *(Mayflower Compact) का उदाहरण* देते हैं, जिसमें 'मेफ्लावर' नामक जहाज में बैठकर इंगलैण्ड से अमरीका जाने वाले 101 अंग्रेज प्रवासियों *ने यह समझौता किया कि "हम लोग सुखी और शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करने* के उद्देश्य से एक राजनीतिक समाज का निर्माण करेंगे।" किन्तु यह सही उदाहरण नहीं है *क्योंकि 'मेफ्लावर समझौता' प्राकृतिक अवस्था में* रहने वाले लोगों द्वारा नवीन राज्य की स्थापना के लिए किया गया समझौता नहीं है। उन यात्रियों को पहले से *ही राज्य और शासन का अनुभव था। उन मनुष्यों* को पहले से ही राजनीतिक संस्थाओं की क्रियान्विति का ज्ञान था। उन्होंने तो राजनीतिक संस्थाओं को केवल

---

1 "The contract theory gives neither a satisfactory clue to history, nor a sound political philosophy" —*Vaughan*

एक देश से जाकर दूसरे देश में प्रतिष्ठित किया था। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त के समर्थन में और कोई दूसरा उदाहरण नहीं दिया जा सकता है। इस सम्बन्ध में डॉ० गार्नर ने ठीक ही लिखा है कि "इतिहास में ऐसा कोई भी प्रामाणिक उदाहरण नहीं मिलता जिसके अनुसार ऐसे मनुष्यों द्वारा आपसी समझौते से राज्य की स्थापना की गई हो जिन्हें पहले से राजनीतिक सत्ता का कोई अनुभव नहीं था।"[1]

(2) **प्राकृतिक अवस्था की धारणा काल्पनिक**—इस सिद्धान्त के समर्थकों ने मानव इतिहास को दो भागों में बाँटा है—एक, प्राकृतिक अवस्था तथा दूसरी, सामाजिक अवस्था। उन्होंने प्राकृतिक अवस्था का चित्रण एक ऐसी अवस्था के रूप में किया है जिसमें किसी प्रकार का समाज तथा राज्य नहीं था किन्तु यह ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य नहीं है। इतिहास तथा मानवशास्त्र के अनुसन्धानों से हमें यह पता चलता है कि 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है' और वह सदा से ही समाज में रहता आया है। ऐसा कभी नहीं रहा जब मनुष्य किसी न किसी प्रकार के सामाजिक संगठन में न रहा हो। अतः प्राकृतिक अवस्था की धारणा काल्पनिक एवं अनैतिहासिक है।

(3) **आदिम समाज की इकाई व्यक्ति नहीं**—ऐतिहासिक खोजों से हमें यह भी पता चलता है कि आदिम युग में समाज की इकाई व्यक्ति न होकर क्रमशः टोटम, कुल, कुनबा और परिवार थे। व्यक्ति तो कहीं आधुनिक युग में आकर समाज की स्वतन्त्र इकाई बना है किन्तु इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने प्राकृतिक अवस्था का चित्रण इस प्रकार किया है जैसे उस अवस्था में व्यक्ति ही सब कुछ हो। अतः व्यक्ति का स्वेच्छा से समझौता करके राज्य का निर्माण करना युक्तिसंगत बात नहीं लगती है।

(4) **राज्य विकास का परिणाम**—इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्यों ने समझौते द्वारा यकायक राज्य का निर्माण कर लिया, यह ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि राज्य का धीरे-धीरे विकास हुआ है। उसकी उत्पत्ति यकायक एक दिन में नहीं हुई और न ही एक दिन में मनुष्यों में राजनीतिक चेतना उत्पन्न हो गयी। स्वभाव से ही सामाजिक प्राणी होने के कारण मनुष्य सबसे पहले परिवारों में संगठित हुआ, फिर परिवारों से कुल, कुलों से कबीले, कबीलों से जनपद तथा जनपदों से मिलकर राज्य बना है। ला फर (La Fur) ने कहा है कि "परिवार के समान राज्य भी समाज के लिए आवश्यक है। वह उसके समान ही समझौते का परिणाम नहीं है बल्कि वस्तुस्थिति के प्रभाव का परिणाम है।"

दार्शनिक आधार पर आलोचना

(1) **राज्य की सदस्यता अनिवार्य**—इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्यों ने

---

1 "History does not afford a single well authenticated instance of a state, which came into existence through deliberate and voluntary agreement among men who were not already accustomed to political authority."—Dr Garner: *Introduction to Political Science*, p. 109.

स्वेच्छा से समझौते द्वारा राज्य का निर्माण किया है। इससे यह अर्थ निकलता है कि व्यक्ति और राज्य के बीच का सम्बन्ध स्वेच्छा का सम्बन्ध है तथा राज्य की सदस्यता व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है। लेकिन वास्तविकता तो यह है कि राज्य की सदस्यता मनुष्य के लिए ऐच्छिक न होकर अनिवार्य होती है। व्यक्ति जिस प्रकार अनिवार्य रूप से एक परिवार का सदस्य होता है, उसी प्रकार वह राज्य का भी सदस्य होता है। राज्य कोई व्यापारिक कम्पनी या क्लब नहीं है जिसकी सदस्यता ग्रहण करना तथा सदस्यता से सम्बन्ध विच्छेद करना मनुष्य की इच्छा पर निर्भर करता हो। इस सम्बन्ध में एडमण्ड बर्क ने ठीक ही कहा है कि **"राज्य को काली मिर्च और कॉफी, वस्त्र या तम्बाकू** *अथवा ऐसे ही अन्य* **घटिया व्यापार की साझेदारी के समझौते के समान नहीं समझना चाहिए जिसे अस्थाई स्वार्थ के लिए कर लिया गया हो और जब दोनों पक्षों में से कोई एक पक्ष न चाहे तो उसे भंग किया जा सके। इसे सम्मान की दृष्टि से देखा जाना चाहिए। यह तो समस्त विज्ञान, समस्त कला, समस्त गुणों और समस्त पूर्णता के बीच एक साझेदारी है। यह साझेदारी पीढ़ी दर-पीढ़ी चलती रहती है। इसमें वे सभी व्यक्ति सम्मिलित होते हैं जिनकी मृत्यु हो चुकी है, जो जीवित हैं और जिनका आगे चलकर जन्म होने वाला है।"**[1]

(2) **राज्य कृत्रिम न होकर स्वाभाविक संस्था**—यह सिद्धान्त राज्य को समझौते का परिणाम बताकर एक कृत्रिम संस्था मानता है। यह वास्तविकता के प्रतिकूल है। राज्य मनुष्य द्वारा निर्मित एक कृत्रिम संस्था नहीं है, बल्कि यह तो मानव की स्वाभाविक, सामाजिक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति है। मालबर्ग का कथन है कि **"राज्य व्यक्तियों के बीच स्वेच्छा से किये गये समझौते से नहीं बना है। मनुष्य को उन सामाजिक आवश्यकताओं से मजबूर होकर राज्य में रहना पड़ा जिनसे वह बच नहीं सकता था।"**

(3) **राजनीतिक भक्ति का** *आधार समझौता नहीं*—*इस सिद्धान्त के अनुसार* व्यक्ति की राज्य के प्रति भक्ति उसके द्वारा किये गये समझौते का परिणाम है। यह

1 "The State ought not to be considered as nothing than a partnership agreement in a trade of pepper and coffee, calico or tobacco or some other such low concern, to be taken up for a little temporary interest, and to be dissolved by the fancy of the parties It is to be looked on with reverence It is a partnership in all science, a partnership in all art, a partnership in every virtue and in all perfection As the end of such a partnership can not be obtained in many generations, it becomes a partnership not only between those who are living but between those who are dead and those who are to de born '

—Edmund Burke

तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः व्यक्ति और राज्य के बीच पारस्परिक सम्बन्ध तथा राज्य के प्रति भक्ति किसी समझौते पर नहीं अपितु मानवीय स्वभाव पर आधारित है। जैसाकि डॉ० गार्नर ने लिखा है कि "जिस प्रकार हम एक परिवार में बालक की सदस्यता और माता पिता के प्रति उसके आज्ञापालन को समझौते का विषय नहीं मान सकते, उसी प्रकार राजभक्ति को भी समझौते का विषय नहीं माना जा सकता।" जर्मन लेखक वॉन हालर (Von Haller) का मत है कि "राज्य और व्यक्ति के बीच समझौते की बात वैसी ही है, जैसे यह कहना कि मनुष्य और सूर्य में यह समझौता हुआ है कि सूर्य मनुष्य को गर्मी पहुँचायेगा।"

(4) प्राकृतिक अधिकारों की धारणा तर्कहीन—प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक अधिकारों और प्राकृतिक स्वतन्त्रता का विचार तर्कहीन एवं भ्रमपूर्ण है। प्राकृतिक अवस्था में जिसे इसके समर्थक पूर्व राजनीतिक तथा पूर्व-सामाजिक कहते हैं, कोई नागरिक नियम प्रचलित नहीं थे। नियम अथवा कानून स्वतन्त्रता की मुख्य शर्त है जिसके बिना स्वतन्त्रता का अस्तित्व सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त, अधिकारों की उत्पत्ति समाज में होती है तथा समाज में रहकर ही व्यक्ति अपने अधिकारों का उपभोग कर सकता है। प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रीन ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "प्राकृतिक अवस्था में, जो कि एक सामाजिक अवस्था नहीं थी, प्राकृतिक अधिकारों का विचार एक विरोधाभास है।"[1] उसने आगे चलकर लिखा है कि "समझौते के सिद्धान्त में वास्तविक दोष यह नहीं है कि यह अनैतिहासिक है, वरन् यह है कि इसके अनुसार समाज से पृथक भी अधिकारों तथा कर्तव्यों का अस्तित्व स्वीकार किया गया है।"[2]

(5) अराजकता को प्रोत्साहन—यह सिद्धान्त राज्य को व्यक्ति की इच्छा का परिणाम बताकर विद्रोह तथा अराजकता को प्रोत्साहन देता है क्योंकि व्यक्ति राज्य की आज्ञा का पालन तभी करेंगे जब वह उनके व्यक्तिगत हित में हो। ब्लुंशली ने कहा है कि "सामाजिक समझौता सिद्धान्त अत्यन्त घातक है, क्योंकि यह राज्य और उसकी संस्थाओं को व्यक्तिगत सनक की उपज बताता है।"[3] गार्नर ने भी इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं। उनके अनुसार, "राज्य की उत्पत्ति का सामाजिक

---

1 "Natural right as right in a State of Nature which is not a State of society, is a contradiction." —Green

2 "The real flaw in the theory of contract is not that it is unhistorical, but that it implies the possibility of rights and obligations independently of society." —Green

3 'The Social Contract Theory is highly dangerous since it makes the State and its institutions as product of individual's caprice." —Bluntschli : *Theory of the State*, p 295

समझौता का सिद्धान्त राज्य को मन की चंचलता का विषय बना देता है और यदि इसे पूर्ण रूप मे मान लिया जाए तो इससे राज्य की समस्त सत्ता ही नष्ट हो जायेगी और सम्भवत स्वय राज्य का भी विघटन हो जायेगा ।"

(6) **प्राकृतिक अवस्था मे व्यक्ति समान नहीं**—इस सिद्धान्त के समर्थको के अनुसार प्राकृतिक अवस्था मे सब लोग समान थे परन्तु यह धारणा गलत है । जर्मन विचारक वॉन हालर का मत है कि समानता नही, बल्कि असमानता प्राकृतिक है ।

वैधानिक आधार पर आलोचना

(1) **शक्ति के अभाव मे समझौता महत्वहीन**—यदि यह मान भी लिया जाय कि आदिम मनुष्य मे इतनी राजनीतिक तथा सामाजिक चेतना थी कि जिससे वह ऐसा समझौता कर सके, तो भी वैधानिक दृष्टि से इस समझौते का कोई महत्त्व नहीं है । प्रत्येक समझौते के लिए उसे पालन कराने वाली कोई न कोई शक्ति आवश्यक है जिसके बिना समझौते का कोई उचित आधार नही रह जाता । विधि की शक्ति के अभाव मे किसी भी समझौते को वैधानिक नही माना जा सकता है । किन्तु इस सिद्धान्त के अनुसार प्राकृतिक अवस्था मे सामाजिक समझौते के पीछे कोई शक्ति नही थी । अत वैधानिक दृष्टि से इस समझौते का कोई महत्त्व नही है ।

इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि जब मूल समझौता ही वैध नही है तो उस समझौते से प्राप्त समस्त अधिकार स्वत ही अवैध एव अमान्य हो जाते हैं ।

(2) **समझौता भावी पीढ़ियों पर लागू नहीं**—इस सिद्धान्त के विरोध मे एक तर्क यह भी दिया जाता है कि कोई भी समझौता केवल उन्ही लोगो पर लागू होता है जिन्होने उसमे भाग लिया हो अथवा जिन्होने उसके लिए अपनी अनुमति दी हो । इस आधार पर अतीत मे कुछ लोगो के द्वारा किये गये समझौते को उनकी आगे आने वाली पीढियाँ मानने के लिए कानूनी रूप से बाध्य नही हैं क्योकि उन्होने उसके लिए अपनी कोई अनुमति नही दी थी । परन्तु राज्य के साथ ऐसा नहीं है, अत. *वैधानिक आधार पर समझौते के सिद्धान्त का कोई महत्त्व नही है ।* बेन्थम ने बहुत ही सुन्दर शब्दो मे कहा है कि **"मेरे लिए राज्य की आज्ञा-पालन आवश्यक है परन्तु इसलिए नहीं कि मेरे दादा ने जार्ज तृतीय के दादा के साथ कोई समझौता किया था वरन् इसलिए कि विद्रोह से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है ।"**

तार्किक आधार पर आलोचना

सामाजिक समझौते का सिद्धान्त तार्किक आधार पर भी राज्य की उत्पत्ति की सही व्याख्या नहीं करता । इस सिद्धान्त के अनुसार प्राकृतिक अवस्था के मनुष्यो ने एकाएक समझौता किया जिसके परिणामस्वरूप समाज तथा राज्य की उत्पत्ति हुई । लेकिन यह बात समझ मे नही आती कि प्राकृतिक अवस्था के मनुष्यो मे, जिन्हे राज्य तथा शासन का कोई ज्ञान नहीं था, एकाएक राजनीतिक चेतना का उदय कैसे हो गया और कैसे उन्होंने राज्य के निर्माण की बात सोच ली । कहा जाता है कि

जिस प्रकार 'एक चीता रात भर में अपना रंग नहीं बदल सकता',[1] उसी प्रकार प्राकृतिक अवस्था का असभ्य कहा जाने वाला मनुष्य एक दिन में राज्य जैसी महान् संस्था का निर्माण कैसे कर सकता है। अतः प्राकृतिक अवस्था के व्यक्तियों की स्थिति में एकाएक इतना क्रान्तिकारी परिवर्तन तर्क के आधार पर युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। वास्तविकता तो यह कि राजनीतिक चेतना का सम्बन्ध मनुष्य के सामाजिक जीवन से है।

समझौते के सिद्धान्त का महत्त्व

यद्यपि राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामाजिक समझौते का सिद्धान्त आज अस्वीकृत हो गया है परन्तु फिर भी राजनीतिक चिन्तन के लिए इस सिद्धान्त का व्यावहारिक महत्त्व है। इस सिद्धान्त में कुछ ऐसे सत्य हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

सर्वप्रथम, इस सिद्धान्त ने इस बात पर जोर दिया है कि राज्य का आधार जनता की इच्छा अथवा सहमति है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि राज्य एक साधन मात्र है जिसका निर्माण व्यक्तियों के कल्याण के लिए हुआ है। यह सिद्धान्त इस सत्य का भी प्रतिपादन करता है कि शासक अपनी शक्ति जनता से प्राप्त करता है तथा वह जनता के प्रति उत्तरदायी है। अतः शासक निरंकुश नहीं हो सकता है। सर हेनरीमेन का कथन है कि "इस सिद्धान्त ने राज्य को मानवीय संस्था बताकर निरंकुश शासन का विरोध किया है और प्रजातन्त्रीय शासन के विकास में योग दिया है।"

द्वितीय, इस सिद्धान्त ने राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त पर जोरदार प्रहार किया तथा इस बात का प्रतिपादन किया कि राज्य दैवी नहीं वरन् एक मानवीय संस्था है। इसने राजाओं के दैवी अधिकारों के सिद्धान्त का भी खण्डन किया जिसके अनुसार राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था। डॉ० गार्नर ने लिखा है कि "समझौता सिद्धान्त ने अनुत्तरदायी शासकों के प्रतिरोध तथा अत्याचार का विरोध करने के लिए जनता को एक प्रबल शस्त्र प्रदान करके अपने समय में बड़ा उपयोगी कार्य किया है।" गिलक्राइस्ट ने भी 'दैवी सिद्धान्त का मुख्य शत्रु अनुबन्ध सिद्धान्त' माना है।

तृतीय, समझौता सिद्धान्त ने प्रभुसत्ता की आधुनिक धारणा के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। हॉब्स के विचारों के आधार पर ऑस्टिन ने वैधानिक प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, लॉक के विचारों ने राजनीतिक प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को प्रेरणा प्रदान की तथा रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त ने लोकप्रिय प्रभुसत्ता का मार्ग प्रशस्त किया।

1 "A leopard cannot change his colour overnight."

सक्षेप मे, हम यह कह सकते हैं कि समझौता ‌सिद्धान्त सामान्य रूप से लोकतन्त्र के उदय तथा विकास मे सहायक रहा है।

ऐतिहासिक अथवा विकासवादी सिद्धान्त
(The Historical or Evolutionary Theory)

सिद्धान्त की व्याख्या—अब तक हमने राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे जिन सिद्धान्तो का विवेचन किया है, उन सभी मे कुछ न कुछ दोष हैं तथा उनमे से कोई भी सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति की सही व्याख्या नही करता। ये सभी सिद्धान्त एकागी, अनैतिहासिक तथा अवैज्ञानिक हैं। इन सभी सिद्धान्तो का विवेचन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राज्य न तो दैवी रचना है, न यह केवल शक्ति का ही परिणाम है, न वह समझौते से ही बना है और न वह परिवार का ही विस्तृत रूप है। वास्तविकता तो यह है कि राज्य का किसी विशेष समय मे निर्माण नहीं हुआ अपितु उसका धीरे धीरे विकास हुआ है। डॉ० गार्नर ने इस सम्बन्ध मे ठीक ही कहा है कि "राज्य न तो ईश्वर की सृष्टि है, न वह उच्च कोटि [redacted] शारीरिक बल का परिणाम है, न किसी प्रस्ताव अथवा समझौते की रचना है और न वह परिवार का ही विस्तृत रूप है। राज्य एक कृत्रिम यान्त्रिक रचना मात्र नहीं है बल्कि एक ऐसी सस्था है जिसका स्वाभाविक रूप से धीरे-धीरे विकास हुआ है।"[1]

राज्य विकास का परिणाम—राज्य की उत्पत्ति की सही व्याख्या ऐतिहासिक अथवा विकासवादी सिद्धान्त के द्वारा ही की गई है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य विकास का परिणाम है। यह विकास धीरे धीरे बहुत लम्बे समय से निरन्तर चलता चला आ रहा है और इसने वर्तमान समय मे राष्ट्रीय राज्य का स्वरूप ग्रहण कर लिया है। इस तरह राज्य निरन्तर विकास के बाद ही एक पूर्ण सगठन बन पाया है। बर्गेस ने इस सम्बन्ध मे ठीक ही लिखा है कि "राज्य मानव समाज का निरन्तर विकास है जिसका प्रारम्भ अत्यन्त अधूरे और विकृत रूप मे हुआ है किन्तु जो उन्नतशील रूपों मे अभिव्यक्त होकर मनुष्यो के एक पूर्ण एव सार्वभौम सगठन की ओर विकसित हुआ है।"[2] लीकॉक का भी यही मत है कि "राज्य की उत्पत्ति एक

---

1 "The State is neither the handiwork of God, nor the result of superior physical force, nor the creation of resolution or convention, nor a mere expansion of the family The State is not merely an artificial mechanical creation but an institution of natural growth or historical volution "—**Garner** *Introduction to Political Science*, p 87.

2 "The State is a continuous development of human society out of a grossly imperfect beginning through crude but improving forms of manifestation towards a perfect and universal organization of mankind "—**Burgess** *Political Science and Constitutional Law*, p 59

क्रमिक विकास के आधार पर हुई है। इसका इतिहास मानव जाति के ज्ञात तथा अज्ञात काल तक फैला हुआ है।[1]

वस्तुत निश्चित रूप से यह बतलाना कि राज्य कब और किस प्रकार अस्तित्व मे आया बहुत कठिन है। *अन्य सामाजिक संस्थाओ के समान ही अनेक परिस्थितियों* तथा तत्त्वो से प्रभावित अज्ञात रूप से इसका उद्भव हुआ है। जैसा कि सुमनर और केलर ने कहा है कि "यह कहना कि राज्य का उद्भव सबसे पहले किस समय हुआ, उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार यह बताना असम्भव है कि नैतिक प्रथाएँ कब कानून बने या बालक किस समय युवक हुआ या युवक कब प्रौढ बना।"[2] इसी तरह राज्य के विकास का क्रम सब स्थानो पर एक जैसा नही रहा है। परिस्थितियो की भिन्नता के कारण, विभिन्न स्थानो तथा विभिन्न समयो मे राज्य के विकास का क्रम भी भिन्न भिन्न रहा है। वस्तुत, जिस प्रकार राजनीतिक चेतना एकाएक जाग्रत नही हुई उसी प्रकार राज्य की उत्पत्ति भी एक दिन मे नही हो गई। राज्य का विकास धीरे धीरे हुआ है। इसके विकास मे अनेक तत्त्वो ने सहयोग दिया है। गैटल के शब्दो मे, "रक्त सम्बन्ध, धर्म तथा सुरक्षा एव व्यवस्था की आवश्यकताओ ने एक ऐसे सगठन की स्थापना मे योग दिया है जिससे राज्य का विकास हुआ है।"[3]

राज्य के विकास मे जिन तत्त्वो ने योग दिया है, उनमे 6 तत्त्व प्रमुख हैं : (1) रक्त-सम्बन्ध, (2) धर्म, (3) शक्ति, (4) *आर्थिक आवश्यकताएँ*, (5) राजनीतिक चेतना, तथा (6) स्वाभाविक प्रवृत्ति।

(1) रक्त-सम्बन्ध (Kinship)—प्राय सभी विद्वान इस मत से सहमत हैं कि सामाजिक सगठन का प्राचीनतम रूप रक्त सम्बन्ध पर आधारित था। रक्त-सम्बन्ध ने ही प्राचीनकाल मे जातियों और कुलो को एकता के बन्धन मे बाँधकर उन्हें सगठन तथा दृढता प्रदान की। सामान्य उत्पत्ति की भावना ने आदिम अवस्था के लोगो को एक सगठन के रूप मे सगठित किया, जैसाकि सर हेनरीमेन ने लिखा है कि "समाज के प्राचीनतम इतिहास की आधुनिकतम खोजें इस बात की ओर सकेत करती हैं कि

---

1 "The State is a growth, an evolution, the result of a gradual process, running throughout all the known history of man and reading into remote and unknown past" —Leacock

2 "It is impossible to say at what point the State first appears, as it is to determine when morals become law, or at what hour the child becomes youth or the youth a man"—Sumner & Keller *The Science of Society*, Vol I, p 695

3 "Kinship, religion and the need for order and protection contributed to the organisation from which the state eventually emerged" —Gettell

मनुष्यों को एकता के सूत्र में बाँधने वाला प्रारम्भिक बन्धन रक्त-सम्बन्ध ही था।"[1] इस रक्त सम्बन्ध की प्रारम्भिक इकाई परिवार था, यद्यपि विद्वानो मे इस बात पर मतभेद है कि सामाजिक सगठन की प्राचीनतम इकाई परिवार था अथवा कुल तथा परिवार का स्वरूप पितृसत्तात्मक था अथवा मातृसत्तात्मक, परन्तु यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि 'रक्त-सम्बन्ध के बन्धन से परस्पर अधीनता एव एकता के भाव प्रबल हुए जो राजनीतिक जीवन के लिए अनिवार्य हैं।'

एक परिवार मे समान रक्त अथवा समान उत्पत्ति से सम्बन्धित व्यक्ति सगठित हो गये। धीरे धीरे जनसख्या की वृद्धि के कारण परिवार का आकार बढने लगा। परिवारों के विस्तार से कुल और कुलो के विस्तार से कबीले बने। कबीले के अन्तर्गत एक सामान्य पूर्वज से वशगणना करने वाले सभी व्यक्ति आ जाते थे। प्रत्येक कबीले का एक प्रमुख होता था जिसको सैनिक, न्यायिक और धार्मिक शक्तियाँ प्राप्त थीं। परिवार के समान प्रत्येक कबीले के मनुष्यो मे आज्ञापालन, अनुशासन और सामूहिक जीवन की भावना पाई जाती थी जो राज्य के अस्तित्व के लिए एक आवश्यक तत्त्व है। मेकाइवर के अनुसार, "कबीले के प्रमुख की स्वाभाविक सत्ता धीरे धीरे प्रशासनिक रूप धारण करने लगी और राज्य का जन्म हुआ।' इस प्रकार रक्त-सम्बन्ध ही वह मूल तत्त्व है जिसने आदिम अवस्था के मनुष्यो को एकता तथा सगठन के सूत्र मे बाँधने का कार्य किया। इसी सम्बन्ध ने परिवार की नीव डाली तथा समाज और राज्य का विकास किया। मेकाइवर का कथन है कि "रक्त-सम्बन्ध समाज की रचना करता है और समाज अन्तत. राज्य की रचना करता है।"[2]

(2) धर्म (Religion)—रक्त सम्बन्ध के अतिरिक्त धर्म ने भी सामाजिक चेतना को बढाने मे महत्वपूर्ण योग दिया और राज्य की उत्पत्ति मे सहायता दी। प्रारम्भिक समाज मे रक्त सम्बन्ध के समान धर्म ने भी परिवारो तथा कबीलो को एकता के सूत्र मे बाँधने का कार्य किया। जो लोग एक ही रक्त सम्बन्ध से जुडे होते थे, उनके कुल देवता भी एक ही हुए जो अधिकतर उनके पूर्वज होते थे। विल्सन ने लिखा है कि "प्रारम्भिक समाज मे धर्म समान रक्त का प्रतीक, उसकी एकता, पवित्रता और दायित्व की अभिव्यक्ति था।"[3] गैटल ने इस सम्बन्ध मे लिखा है कि "रक्त-

---

1 "The most recent researches into the primitive history of society point to the conclusion that the earliest tie which knitted man together in communities was consanguinity or kinship" —Sir Henry Maine *The History of Institutions*, pp 64-65

2 "Kinship creates society and society at length creates the state"—MacIver : *The Modern State*, p 33

3 "Religion was the sign and seal of common blood, the expression of the oneness its sanctity, its obligations" —Wilson

सम्बन्ध और धर्म एक ही वस्तु के दो रूप थे और समूह की एकता तथा उसके कर्तव्यों को धार्मिक मान्यता प्राप्त थी।"[1]

प्राचीनकाल मे जब मनुष्य जगली अवस्था मे था तथा उसमे बुद्धि का विकास नहीं हुआ था, उस समय वह बहुत अधिक धर्मभीरु था। वह प्रकृति को समझने में असमर्थ था। वह प्राकृतिक शक्तियों की ओर बड़े भय और आतक के साथ देखता था। प्रकृति उसके लिए भूत प्रेत इत्यादि से भरी हुई थी तथा पेड़, पहाड़, नदी आदि में वह देवताओं का निवास मानता था। वह ऋतुओ के परिवर्तन तथा जन्म मरण आदि के रहस्य को समझने मे असमर्थ था। वह आकाश, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, तारे, अग्नि आदि को भगवान का रूप मानता था। वह भीषण वर्षा, तूफान, बिजली की गड़गड़ाहट आदि जैसी प्राकृतिक घटनाओ को दैवी-प्रकोप मानता था। सक्षेप में, प्रकृति उसके लिए भय का कारण बनी हुई थी और प्रकृति की प्रत्येक शक्ति उसके लिए देवता बन गई थी। वह प्राकृतिक शक्तियो से भयभीत रहने लगा तथा उनको प्रसन्न करने के लिए वह उनकी पूजा करने लगा। अत- प्रकृति पूजा उस समय के धर्म का एक मुख्य रूप था।

उस समय के धर्म का एक दूसरा रूप पूर्वजो की पूजा था। मनुष्य का विचार था कि शरीर नष्ट हो जाने पर भी आत्मा शेष रहती है और यदि यह आत्मा अप्रसन्न हो जाय तो मनुष्य को अधिक दु ख तथा कष्ट झेलने होगे। अत अपने पूर्वजो की मृत आत्मा को प्रसन्न करने के विचार से मनुष्यो ने पितृ-पूजा प्रारम्भ की। इस पितृ पूजा ने प्राचीनकाल मे परिवारो और कबीलों को एकता के सूत्र मे बाँधा। एक ही रक्त-सम्बन्ध से जुड़े हुए लोगो के देवता भी समान होते थे जो प्राय उनके पूर्वज ही होते थे। जैक्स का कथन है कि "परिवार के सगठन मे सभी मनुष्य एक ही देवता की पूजा करते थे, एक ही धर्म को मानते थे और मिल-जुलकर धार्मिक कार्य करते थे। परिवारों, कबीलो और समुदायों मे एक ही धर्म को माना जाता था। उस समय धर्म ही कानून था।"

इसके साथ-साथ प्रारम्भिक समाज मे अन्धविश्वासो तथा जादू-टोनो का भी प्रादुर्भाव हुआ। धीरे धीरे जादू टोना करने वाले तान्त्रिक अत्यन्त महत्वपूर्ण बन गए। लोग यह विश्वास करने लगे कि तान्त्रिक अपने जादू के कारण असीम शक्ति रखते हैं। ये भूत प्रेत तथा प्रकृति की शक्तियो को, जिनसे मनुष्य डरता था, अपने वश मे रखते हैं। सर जेम्स फ्रेजर (James G Frazer) ने लिखा है कि "उस समय ऐसा विश्वास किया जाता था कि देश में वर्षा या सूखा, उपज या अकाल, बीमारी, युद्ध और समृद्धि सभी कुछ तान्त्रिक की कुशलता या उसकी जादूगरी पर

---

[1] "Kinship and religion were, therefore, two aspects of the same thing and the unity and obligations of the group were given religious sanction."—Gettell ; *Political Science*, p. 64.

निर्भर है।" धीरे धीरे ये तान्त्रिक ही अपने कबीले के पुरोहित-राजा बन गए तथा सम्पूर्ण शक्ति उनके हाथ में आ गयी। तान्त्रिक धर्म तथा शासन दोनों का प्रधान बन गया। गिलक्राइस्ट ने यहाँ तक कहा है कि "प्रमुख जादूगर से राजा बनने का मार्ग सरल है।"[1]

इस तरह धर्म ने मनुष्य की असगठित अवस्था में सामाजिक एकता को दृढ़ता प्रदान की तथा सामाजिक व्यवस्था को स्थापित करने में योग दिया। इसने उस समय के लोगो मे आज्ञा-पालन और अनुशासन की भावना पैदा की। गैटल ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "राजनीतिक विकास के प्राचीनतम कठिन समय में केवल धर्म ही बर्बरतापूर्ण अराजकता का अन्त कर सका और मनुष्यों को आदर भाव तथा आज्ञा-पालन की शिक्षा दे सका।"[2] इस प्रकार राज्य के विकास में धर्म के प्रभाव ने बहुत महत्त्वपूर्ण योग दिया है। धर्म का राजनीति पर प्रभाव केवल प्राचीन तथा मध्यकाल तक ही सीमित नही रहा अपितु आज भी हमे ससार के अनेक राज्यों में धर्म का प्रभाव देखने को मिलता है।

(3) शक्ति (Force)—कुछ विचारकों के अनुसार राज्य की उत्पत्ति तथा उसके विकास में शक्ति का भी महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। सामाजिक अवस्था को राजनीतिक सगठन में परिवर्तित करने का कार्य युद्ध के द्वारा ही किया गया। जैक्स ने कहा भी है कि "जन समाज का राजनीतिक समाज में परिवर्तन शान्तिपूर्ण उपायों से नहीं हुआ, यह परिवर्तन युद्ध द्वारा हुआ है।"[3] यह एक प्रसिद्ध कहावत भी है कि 'युद्ध ने राजा को जन्म दिया है' (War begets the king)।

यह मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह दूसरो पर अपना आधिपत्य जमाना चाहता है। मनुष्य मे यह प्रवृत्ति प्राचीनकाल से ही देखने को मिलती है। मनुष्य जब भ्रमणशील जीवन को छोड़कर कृषि तथा व्यवसाय करने के उद्देश्य से एक निश्चित स्थान पर बस गये, तब उनमें निजी सम्पत्ति की धारणा का उदय हुआ। जो शक्तिशाली व्यक्ति थे वे निर्बल व्यक्तियों की सम्पत्ति को छीनने लगे तथा उन्हें अपना दास बनाने लगे। ऐसी स्थिति मे लोग अपने जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए शक्तिशाली व्यक्ति की अधीनता स्वीकार करने लगे। प्रत्येक कबीले के लोग अपने सरदार की अधीनता मे दूसरे कबीले के लोगो की भूमि तथा सम्पत्ति पर

---

1 "From chief magician the step to chief or king is simple"
—Gilchrist

2 "In the earliest and most difficult periods of political development, religion alone could subordinate barbaric anarchy and teach reverence and obedience"
—Gettell

3 "In the formation of the modern state, the conspicuous immediate causes are closely related facts of migration and conquest"
—Jenks

आधिपत्य जमाने का प्रयत्न करने लगे। इस संघर्ष में जो कबीला विजयी हुआ, उसका नेता हारे हुए कबीले के लोगों का भी शासक या सरदार बन गया तथा हारे हुए कबीले के लोगों ने उसकी प्रभुसत्ता स्वीकार कर ली। इस प्रकार शक्ति अथवा बल प्रयोग ने प्रभुसत्ता का रूप धारण कर लिया जो राज्य का सबसे प्रमुख तत्त्व है। इस तरह हम देखते हैं कि संघर्ष, युद्ध, विजय, शक्ति एवं शक्ति पर आधारित प्रभुत्व की इच्छा ने राज्य की उत्पत्ति एवं विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। सोल्टाऊ के अनुसार, "ऐतिहासिक दृष्टि से संघर्ष और युद्ध राज्य के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग देते हैं। यह सत्य है कि किन्हीं दो समूहों का मेल, चाहे ही वह विजय पर आधारित हो, धीरे-धीरे एकता और सामान्य भावना को जन्म देता है।"[1]

परन्तु युद्ध तथा शक्ति को राज्य की उत्पत्ति का एकमात्र तत्त्व बतलाना उचित नहीं है। यद्यपि यह सत्य है कि राज्य की उत्पत्ति में युद्धों का भी प्रमुख हाथ रहा है। मैकाइवर का कथन उचित ही है कि "यह सही है कि राज्य की उत्पत्ति का मूल कारण शक्ति अथवा बल नहीं, फिर भी राज्य के विकास की प्रक्रिया में शक्ति का पर्याप्त हाथ रहा है।"[2]

(4) आर्थिक आवश्यकताएँ (Economic Activities)—राज्य की उत्पत्ति तथा विकास में आर्थिक तत्त्व का भी प्रमुख योगदान रहा है। गैटल ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि 'आर्थिक गतिविधियाँ जिनके द्वारा मनुष्य ने भोजन तथा निवास जैसी मौलिक आवश्यकताओं को सन्तुष्ट किया है और बाद में सम्पत्ति तथा धन का संचय किया, राज्य के निर्माण में महत्त्वपूर्ण तत्त्व रही हैं।"[3] अत सम्पत्ति की आवश्यकता तथा उसकी सुरक्षा ने राज्य को जन्म दिया है। प्लेटो, मेकियावली, हॉब्स, लॉक, रूसो, मॉण्टेस्क्यू आदि विचारकों ने इस बात को स्वीकार किया है कि राज्य की उत्पत्ति तथा उसके विकास में आर्थिक क्रियाओं ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। परन्तु इन सबसे आगे बढ़कर कार्ल मार्क्स ने तो यहाँ तक कह दिया कि समस्त सामाजिक संगठन का आधार आर्थिक सम्बन्ध ही होते हैं। उसके अनुसार, "राज्य आर्थिक परिस्थिति की ही अभिव्यक्ति है' अर्थात् जैसी आर्थिक परिस्थितियाँ होती हैं, वैसा ही राज्य तथा शासन का स्वरूप होता है इसलिए आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन के साथ-साथ सम्पूर्ण सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था में भी परिवर्तन होते रहते हैं।

आदिम काल से लेकर मानव समाज अब तक तीन आर्थिक अवस्थाओं से

1 Soltau *An Introduction to Politics*, p 53.
2 "The emergence of state is not the force although the process of expansion, force undoubtedly played a part" — MacIver
3 "The economic activities by which man secured food and shelter, and later accumulated property and wealth, were important factors in state building." —Gettell

गुजर चुका है तथा चौथी अवस्था से गुजर रहा है। प्रथम अवस्था शिकारी अवस्था थी। शिकारियों का जीवन कठोर तथा श्रमणशील था। व्यक्तिगत सम्पत्ति के नाम पर उनके पास केवल हथियार तथा औजार थे। द्वितीय अवस्था पशुपालन की अवस्था थी। इस अवस्था मे निजी सम्पत्ति का प्रादुर्भाव हुआ। सम्पत्ति के आधार पर समाज मे वर्ग बनने लगे तथा समाज मे पुरुषो का प्रभुत्व बढने लगा। तृतीय अवस्था कृषि अवस्था थी। इस अवस्था में मनुष्य स्थायी रूप से एक साथ रहने लगे। जब जनसंख्या बढ़ने लगी तो भूमि पर दबाव भी बढने लगा। फलस्वरूप भूमि के आधार पर झगडे बढने लगे। झगडो को सुलझाने के लिए तथा निर्णयो को लागू करने के लिए कानून, न्यायालय तथा राजनीतिक सत्ता की स्थापना आवश्यक हो गई। इस प्रकार जब मनुष्य स्थायी रूप से किसी निश्चित प्रदेश पर बस गये तब राज्य का प्रारम्भ हुआ। चतुर्थ अवस्था वर्तमान औद्योगिक अवस्था है जिसमे मनुष्य का आर्थिक जीवन अत्यन्त जटिल हो गया। इसके परिणामस्वरूप वर्तमान राज्य का स्वरूप भी काफी जटिल हो गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्थिक गतिविधियो ने राजनीतिक सगठन के परिवर्तन तथा राज्य के विकास मे महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

(5) राजनीतिक चेतना (Political Consciousness)—उपर्युक्त तत्त्वो के अतिरिक्त राज्य की उत्पत्ति तथा विकास मे राजनीतिक चेतना का भी महत्वपूर्ण योग रहा है। गिलक्राइस्ट के शब्दों मे, 'राज्य निर्माण के सभी तत्त्वों की तह मे जिनमे रक्त सम्बन्ध और धर्म भी सम्मिलित है, राजनीतिक चेतना है और वह सबसे मुख्य तत्त्व है।"[1] राजनीतिक चेतना से हमारा तात्पर्य ऐसे सामान्य हितो और उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए जागरूकता से है जो राजनीतिक सगठन के माध्यम से ही प्राप्त किये जा सकते हैं। ब्लुशली का मत है कि सामाजिक जीवन की इच्छा ही राज्य के निर्माण का कारण होती है।

जब मनुष्य अपनी जीविकोपार्जन के लिए शिकारी तथा श्रमणशील जीवन को छोडकर एक निश्चित प्रदेश पर स्थायी रूप से निवास करने लगे, तब उनके सामाजिक और आर्थिक जीवन मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया। जनसख्या बढने लगी तथा निजी सम्पत्ति का प्रादुर्भाव हुआ। अब मनुष्य एक ऐसे सगठन तथा शक्ति की आवश्यकता अनुभव करने लगे जो उनके जीवन और सम्पत्ति की रक्षा कर सके, जो समाज में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करे, जो उनके आपसी झगडो का निर्णय कर सके तथा जो सामाजिक सम्बन्धो को नियमित कर सके। इस आवश्यकता ने मनुष्यो में पारस्परिक सहयोग, अनुशासन, नियमों तथा उस सगठन के नेता की आज्ञा का पालन करने की प्रवृत्ति को जन्म दिया। यही राजनीतिक चेतना का मूल था।

1 "Underlying all other elements in state formation including kinship and religion, is political consciousness, the supreme element."—Gilchrist : *Principles of Political Science*, p 88.

प्रारम्भ में राजनीतिक चेतना अचेतन, अविकसित तथा आन्तरिक अनुभूति के रूप में थी परन्तु सभ्यता के विकास के साथ साथ राजनीतिक चेतना विकसित होती गई। आन्तरिक शान्ति और व्यवस्था, बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा तथा कानून की आवश्यकता आदि ने राजनीतिक चेतना को अधिक स्पष्ट कर दिया। इन सब बातों ने एक कबीले के अन्दर सैनिक नेतृत्व को जन्म दिया। सैनिक नेता की सत्ता ही राजसत्ता थी जिसकी अधीनता सबने स्वीकार की। उस सैनिक नेता ने अपने कबीले में रक्षा और व्यवस्था के लिए किसी न किसी प्रकार की सरकार तथा कानूनों का निर्माण किया। इस प्रकार राज्य के चारों तत्त्व जनता, निश्चित प्रदेश, सरकार तथा प्रभुसत्ता आविर्भूत हुए। यही राज्य का उदय था।

(6) **स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्ति** *(Natural Social Instinct)*—राज्य की उत्पत्ति तथा विकास में सम्भवतः सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व मनुष्य की स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्ति है। राज्य मनुष्य की प्रकृति का ही परिणाम है। अरस्तू के अनुसार, "**मनुष्य स्वभावतः एक सामाजिक प्राणी है। जो मनुष्य समाज से बाहर रहता है अथवा जिसे समाज की आवश्यकता नहीं है, वह या तो देवता है अथवा पशु।" वुडरो विलसन** का भी यही मत है कि '**संगठन की भावना स्वाभाविक है और वह मनुष्य तथा परिवार के साथ उत्पन्न हुई है।**' सामाजिक जीवन में मनुष्यों में पारस्परिक संघर्ष की सम्भावना रहती है जिसके कारण समाज में शान्ति और व्यवस्था भंग हो जाने का खतरा बना रहता है। ऐसी स्थिति में मनुष्यों के लिए श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति सम्भव नहीं है। अतः श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति के उद्देश्य से सामाजिक जीवन का नियमन और नियन्त्रण आवश्यक हो गया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही राज्य का स्वाभाविक रूप से उदय हुआ है। अरस्तू ने कहा भी है कि "**राज्य का उदय जीवन के लिए हुआ है परन्तु वह जीवन को श्रेष्ठ बनाने के उद्देश्य से ही अब विद्यमान है।**"[1] प्रारम्भ में सामाजिक जीवन सरल होने के कारण राज्य का स्वरूप भी *सरल था परन्तु जैसे जैसे सामाजिक जीवन जटिल होता गया, वैसे-वैसे राज्य का* स्वरूप भी जटिल तथा व्यापक बनता गया।

निष्कर्ष—राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऊपर जिन सिद्धान्तों का वर्णन *किया गया है, उनमें ऐतिहासिक अथवा* विकासवादी सिद्धान्त ही तर्क-संगत होने के कारण सर्वाधिक उपयुक्त सिद्धान्त माना जाता है। वस्तुतः राज्य के विकास में किसी एक तत्त्व ने नहीं अपितु सभी तत्त्वों—रक्त सम्बन्ध, धर्म, शक्ति, आर्थिक आवश्यकताएँ, राजनीतिक चेतना, स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्ति ने सामूहिक रूप से योग दिया है। राज्य इन सभी तत्त्वों के सामूहिक सहयोग का परिणाम है। डॉ० गार्नर ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि "**इनमें से अकेले किसी भी एक तत्त्व के कारण राज्य**

---

1 "State came into existence for the sake of mere life but it continues to exist for the sake of good life." —**Aristotle**

का उदय नहीं हुआ है, वरन् न्यूनाधिक रूप में इन सबके सामूहिक रूप से कार्य करने के परिणामस्वरूप ही अराजकता का अन्त हुआ और राज्य अस्तित्व मे आया।"[1] पारिवारिक अनुशासन के अन्दर ही सरकार का उदय हो चुका था। धर्म ने पारिवारिक अनुशासन को कठोर बनाया। जब मनुष्यों की आर्थिक आवश्यकताएँ बढ़ीं तब राज्य की स्थापना आवश्यक हो गई। शक्ति और राजनीतिक चेतना ने राज्य को दृढ़ता तथा स्पष्टता प्रदान की। इस प्रकार राज्य का उदय हुआ तथा धीरे धीरे विकास करते हुए वर्तमान समय मे उसका स्वरूप जटिल हो गया है।

अभ्यास के प्रश्न

1. राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे दैवी सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए। यह सिद्धान्त कहाँ तक ठीक है ?
2. राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे शक्ति सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।
3. राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे पितृसत्तात्मक तथा मातृसत्तात्मक सिद्धान्तों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
4. राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धान्त का परीक्षण कीजिए तथा उसकी सीमाओं का उल्लेख कीजिए।
5. इस दृष्टिकोण की विवेचना कीजिए कि राज्य की उत्पत्ति दैवी-इच्छा अथवा सामाजिक समझौते के परिणामस्वरूप नही हुई है बल्कि ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे, व्यक्ति द्वारा सुरक्षा एव व्यवस्था की खोज मे राज्य की उत्पत्ति को देखा जा सकता है।
6. प्राय: यह कहा जाता है कि सामाजिक समझौते के सम्बन्ध मे अपने विचारों की सीमाओं के बावजूद, हॉब्स, लॉक एव रूसो ने राजनीतिक विचारो के विकास मे महत्वपूर्ण योगदान दिया है। आप इस विचार से कहाँ तक सहमत हैं ? तर्क सहित स्पष्ट कीजिए।
7. हॉब्स, लॉक तथा रूसो द्वारा प्रतिपादित राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धान्त सम्बन्धी विचारो का परीक्षण कीजिए।
8. रूसो द्वारा प्रतिपादित राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धान्त विषयक विचारों का परीक्षण कीजिए। (राजस्थान विश्व०, 1978)

---

1 "No one of these elements alone accounts for the existence of the state, but all working together, some more prominently than others and all aided by the forces of history and the natural tendencies of mankind, enter into the process by which uncivilized people are brought out of anarchy and subjected to the authority of the state "—**Garner** : *Introduction to Political Science*, p 122

9 इस दृष्टिकोण का मूल्यांकन कीजिए कि राज्य की उत्पत्ति उन कारणों एवं परिस्थितियों के फलस्वरूप हुई है जो ऐतिहासिक विकास से सम्बद्ध रहे हैं।

10 रूसो की सामान्य इच्छा सम्बन्धी अवधारणा का मूल्यांकन कीजिए। (राजस्थान विश्व०, 1977)

11 'हॉब्स ने निरंकुश राजतन्त्र, लॉक ने संवैधानिक राजतन्त्र तथा रूसो ने लोकप्रिय सम्प्रभुता का प्रतिपादन किया है।" इसकी व्याख्या कीजिए।

12 'सामाजिक समझौता सिद्धान्त ने लोकतन्त्र के लिए मार्ग का निर्माण किया।" इस कथन का स्पष्टीकरण कीजिए। (राजस्थान विश्व०, 1973)

13 'राज्य का विकास हुआ है, निर्माण नहीं।' इस कथन की विवेचना कीजिए तथा राज्य के विकास में जिन तत्त्वों ने योग दिया है, उन्हें स्पष्ट कीजिए।

14 सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। यह राज्य की उत्पत्ति की कहाँ तक सही-सही व्याख्या कर पाता है?

15 राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विकासवादी सिद्धान्त की विवेचना कीजिए। (राजस्थान विश्व०, 1975)

16 प्राकृतिक अवस्था एवं सामाजिक समझौते पर हॉब्स, लॉक और रूसो के विचारों का परीक्षण कीजिए। (राजस्थान विश्व०, 1976)

17 'राज्य का आधार शक्ति नहीं, इच्छा है।' विवेचना कीजिए। (राजस्थान विश्व०, 1975)

18 'राज्य का आधार इच्छा है, शक्ति नहीं।' (ग्रीन) उपर्युक्त कथन को राज्य की उत्पत्ति के शक्ति सिद्धान्त के सन्दर्भ में समझाइए। (राजस्थान विश्व०, 1974)

19 "राज्य न तो ईश्वर की कृति है, न किसी उच्च शक्ति का परिणाम है, न किसी प्रस्ताव अथवा सम्मेलन की सृष्टि है और न ही किसी परिवार का विस्तार मात्र है।" (गार्नर) इस कथन को ध्यान में रखते हुए राज्य की उत्पत्ति के विकासवादी सिद्धान्त (ऐतिहासिक सिद्धान्त) का विवेचन कीजिए। (राजस्थान विश्व०, 1979)

9

राज्य का ऐतिहासिक विकास

[HISTORICAL DEVELOPMENT OF STATE]

"यूनान ने बिना एकता के प्रजातन्त्रवाद का विकास किया था, रोम ने बिना प्रजातन्त्रवाद के एकता की प्राप्ति की थी।"[1]

राज्य का ऐतिहासिक विकास

राज्य का विकास नियमित रूप से नहीं हुआ तथा सब स्थानों पर उसका रूप भी समान नहीं रहा है। कुछ विचारकों का मत है कि राज्य के रूप एक निश्चित क्रम से बदलते रहते हैं और अपकर्ष पर पहुँचकर पुनः परिवर्तन का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। परन्तु यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण है। वस्तुतः राज्य का विकास किसी निश्चित रेखाकार क्रम से नहीं हुआ है। संसार के विभिन्न क्षेत्रों में परिस्थितियों तथा मानव स्वभाव की भिन्नता ने विभिन्न प्रकार की आकृति और स्वरूप वाले राज्यों को विकसित किया है। आधुनिक राष्ट्रीय राज्य को आदि काल से लेकर अपने वर्तमान स्वरूप तक पहुँचने में अनेक अवस्थाओं तथा रूपों से गुजरना पड़ा। यह कहना कठिन है कि राज्य के विकास की ये अवस्थाएँ कौन-कौन सी थीं। फिर भी संसार के सभी राज्यों के विकास के विश्लेषण के आधार पर मोटे रूप में हम यह कह सकते हैं कि राज्य के विकास की अवस्थाएँ इस प्रकार रही हैं—कबायली राज्य, प्राच्य साम्राज्य, नगरराज्य, वैदिक काल के गणराज्य, रोमन साम्राज्य, सामन्ती राज्य, आधुनिक राष्ट्रीय राज्य तथा विश्व संघ।

(1) कबायली राज्य (The Tribal State)—परिवार मनुष्य का प्राचीनतम सामाजिक संगठन है तथा कबीला मनुष्य का प्राचीनतम राजनीतिक संगठन है। अतः राज्य का प्राचीनतम स्वरूप कबायली संगठन था। ये संगठन जनसंख्या और क्षेत्रफल में छोटे थे और सामान्य बन्धुत्व की भावना से बँधे रहते थे। कुछ कबीले निरन्तर घूमते रहते थे और कुछ एक निश्चित भू-भाग पर स्थाई रूप से निवास करने

1 "Greece had developed democracy without unity, Rome secured unity without democracy."—Gettell : *Political Science*, p. 86.

लगे थे। कबीले का मुखिया ही उस सगठन का शासक होता था। सगठन के सभी सदस्यो को उसकी आज्ञा का पालन करना होता था। कबीले के मुखिया को उसकी आज्ञा का उल्लघन करने वाले व्यक्ति को दण्ड देने का अधिकार था। कुछ कबीलो मे मुखिया की सत्ता निरकुश तथा स्वेच्छाचारी थी और कुछ मे मुखिया की सत्ता पर योद्धाओ की सभा का नियन्त्रण रहता था। अत नेतृत्व और आज्ञा-पालन के गुण जो राज्य और शासन के प्रमुख लक्षण हैं, कबायली राज्य मे मौजूद थे। कुछ कबीलो मे मुखियो की सत्ता पैतृक आधार पर प्राप्त होती थी तथा कुछ मे निर्वाचन की प्रथा भी प्रचलित थी। इन कबायली सगठनो मे कोई लिखित कानून नही थे बल्कि उनकी प्रथाएँ तथा परम्पराएँ ही कानून समझे जाते थे। कभी-कभी अनेक कबीले मिलकर एक परिसघ बना लेते थे। ये कबीले आपस मे लड़ते रहते थे तथा शक्तिशाली कबीले का सरदार निर्बल कबीलो को जीतकर उन पर भी राज्य करने लगता था। परन्तु, जैसा कि मैकाइवर ने लिखा है कि '**इस प्रकार के कबायली सगठन राज्यों के रूप में बहुत कम विकसित हुए तथा इन सगठनो मे समाज और राज्य के बीच कोई भेद भी नहीं था।**''

(2) प्राच्य साम्राज्य (Oriental Empire)—प्रारम्भिक काल मे भ्रमण करने वाले कबीले सामान्यत उन प्रदेशो मे बसे जहाँ उनकी आवश्यकताएँ आसानी से पूरी हो सकती थी। इन भ्रमणशील कबीलो ने भारत मे गगा और सिन्धु नदी, चीन मे ह्वागहो तथा यांग्टीसीक्याग नदी, इराक तथा सीरिया मे दजला और फरात नदी तथा मिस्र मे नील नदी की घाटियो को अपना निवासस्थान बनाया। अत इन घाटियो मे ही प्राचीन सभ्यताओ ने जन्म लिया और इन्ही मे प्राचीन काल के साम्राज्यो की स्थापना हुई। इस प्रकार के साम्राज्य सुमेरिया, असीरिया, फारस, मिस्र, चीन और भारत मे स्थापित हुए।

इन साम्राज्यो की कुछ प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार थीं पहला, इन सभी साम्राज्यो मे प्रायः राजतन्त्र प्रचलित था। कहीं-कहीं विशेष प्रकार की प्रतिनिधि सस्थाएँ भी पायी जाती थीं। दूसरा, राजा प्राय निरकुश होता था तथा उसे असीमित शक्तियाँ प्राप्त थीं। तीसरा, राजा राजनीतिक शक्तियो के अतिरिक्त धार्मिक शक्तियो से भी सम्पन्न होता था। धर्म की स्वीकृति तथा राजा की आज्ञा ही राज्य के नियम थे। चौथा, राजा की आज्ञाओं का पालन करना ही प्रजाजनों का पवित्र कर्तव्य था। प्रजाजन अपने अधिकारो तथा स्वतन्त्रता के विषय मे कुछ नही जानते थे। पांचवां, इन राज्यो मे वाणिज्य तथा व्यापार की उन्नति हुई, मनुष्यो के कार्यों के आधार पर जातियाँ विकसित हुई और विभिन्न जातियो के बीच आर्थिक तथा सामाजिक विषमताएँ बढ़ने लगीं। छठा, इन राज्यो का समाज प्राय दो वर्गों मे बँट गया था—उच्च वर्ग तथा निम्न वर्ग। उच्च वर्ग मे राजा, पुरोहित, राजनीतिज्ञ, दरबारी और सैनिक पदाधिकारी शामिल थे तथा निम्न वर्ग मे साधारण जनता आती थी। सातवां, धन, शक्ति, सत्ता तथा सम्मान प्राप्त करने की लालसा ने राज्य मे दरबारियों और उच्च

पदाधिकारियों के वर्ग को जन्म दिया। आठवाँ, इन राज्यों में एक स्थायी सैन्य व्यवस्था कायम हो गई। नवाँ, निरन्तर युद्धों के परिणामस्वरूप इन राज्यों में दास प्रथा का प्रचलन हुआ। दासों का जीवन बहुत ही कष्टमय था।

कुछ विचारकों के मतानुसार ये साम्राज्य राजनीतिक दृष्टि से असगठित तथा अत्यन्त अपूर्ण थे। इनमें सम्राट की सत्ता भय और निरंकुशता पर आधारित थी। फारस के अतिरिक्त अन्य सभी साम्राज्यों का काम अधिकतर राजस्व वसूल करना तथा सैनिकों की भर्ती करना था। सचार और यातायात के साधन बहुत ही पिछड़े हुए होने के कारण इन साम्राज्यों में एक दृढ़ और शक्तिशाली केन्द्रीय शासन की स्थापना सम्भव नहीं थी। अतः ये प्रारम्भिक साम्राज्य बहुत ही अस्थिर थे और वे बनते-बिगड़ते रहते थे। इनमें न तो एकता थी और न ही दृढ़ सगठन। इनमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा वास्तविक राजनीतिक प्रगति के लिए भी कोई अवसर नहीं था। जब भी सत्तारूढ़ राजवंश निर्बल होता था, तभी कोई शक्तिशाली व्यक्ति उसके विरुद्ध विद्रोह करके राजसत्ता पर अपना अधिकार कर लेता था।

ऐसी अवस्था में इन राज्यों की स्थिति बहुत ही डाँवाडोल तथा अस्त व्यस्त रहती थी। गैटल के शब्दों में, **"भय पर आधारित होने के कारण जनता [illegible] लिए प्राचीन राज्यों का स्वरूप दासों के स्वामी तथा कर सग्रह करने वाले के रूप में था। ऐसी परिस्थिति में राज्य में सगठन और व्यक्ति के लिए स्वतन्त्रता दोनों ही असम्भव थीं।"**[1] प्रो० सोल्टाऊ ने तो इन साम्राज्यों के विषय में यहाँ तक कहा है कि **'राजनीति विज्ञान के विद्यार्थी के दृष्टिकोण से इन साम्राज्यों का महत्त्व बहुत कम है। उनमें बहुत कम ऐसी महत्त्वपूर्ण संस्थाओं का उदय हुआ जो अध्ययन के योग्य हों तथा उन सबकी विशेषता यह थी कि वे सब आन्तरिक दृष्टि से अस्वस्थ एवं पगु थे।"**[2]

प्राचीन राज्यों का यह विवरण अपूर्ण है। वस्तुतः कृषि, उद्योग, व्यापार, कला, विज्ञान, साहित्य आदि सभी क्षेत्रों में ये साम्राज्य काफी उन्नति कर चुके थे। उनके इस महत्त्व को उनकी आलोचना करते हुए भी गैटल ने स्वीकार किया है तथा कहा है कि **"इन महान साम्राज्यों ने संस्कृति की आधारशिला रखने में, कबायली**

---

1 *"Based on fear, the Oriental States represented to the people* only the slave-driver and the tax-collector. Neither unity in the State nor liberty for the individuals was possible under such conditions" —**Gettell : *Political Science*, pp 79-80**

2 'From the point of view of the student of politics, those empires offer, however, little interest Few of them evolved any significant institution that would repay study, and they were all characterized by an internal inertia amounting to something like paralysis"—***R H Soltau An Introduction to Political Science*, p 61**

संगठनों के सकुचित एव स्थानीय आधार को तोडने मे तथा मानव जाति को व्यापक राजसत्ता से परिचित कराने मे महत्त्वपूर्ण योग दिया है।"[1] प्रो० सोल्टाऊ ने भी इन साम्राज्यो की कुछ अच्छाइयो को स्वीकार करते हुए लिखा है कि 'हमे प्रथम तो यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि इन साम्राज्यो की निरकुशता व्यवहार में प्रथाओं, परम्पराओ एव धर्म से नियन्त्रित रहती थी तथा द्वितीय यह कि इन्होने पृथ्वी के बहुत बडे भाग मे शान्ति एव व्यवस्था बनाये रखी। इसके अस्तित्व की लम्बी शताब्दियां यह सिद्ध करती हैं कि "उन दिनों की परिस्थितियों मे वे अपने कार्य लिए पूर्ण रूप से उपयुक्त थे।"[2]

(3) ब्रूनानी नगर राज्य (The Greek City States)—राज्य के विकास की तीसरी महत्त्वपूर्ण अवस्था यूनान म मिलती है। यूनान देश की भौगोलिक परिस्थितियां राजनीतिक अधिकार और उनके उपयोग के लिए बहुत उपयुक्त हैं। सम्पूर्ण देश पर्वतो और समुद्र के कारण अनेक घाटियो और द्वीपो मे बंटा हुआ है। इन्ही घाटियो और द्वीपो म यूनान के प्राचीन कबीलो ने छोटे-छोटे नगर-राज्यो की स्थापना की। धर्म तथा जीवन के बारे मे यूनानियो के विचार प्राकृतिक थे। उनके मन मे देवी-देवताओ के प्रति कोई भय नही था, इस कारण प्रगति के मार्ग मे कोई बाधा नही थी।

आधुनिक दृष्टिकोण से यूनानी नगर-राज्य वास्तविक राज्य था जिसमे लोगों का राजनीतिक, आर्थिक, आध्यात्मिक और नैतिक जीवन नगर-राज्य पर केन्द्रीभूत था। ये नगर राज्य स्वशासित तथा स्वावलम्बी थे। यूनानी नागरिक अपने राज्य के प्रति बहुत वफादार होता था। नगर के जीवन मे पूर्ण रूप से भाग लेना उसके जीवन का एक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य था। यूनानियो की दृष्टि मे एक राज्य का नागरिक होने का तात्पर्य केवल करो को चुकाना तथा मतदान का अधिकार प्राप्त करना मात्र नही था बल्कि राज्य के समस्त कार्यों मे प्रत्यक्ष और सक्रिय रूप से भाग लेना शामिल था। प्रत्येक नागरिक सामान्यतया एक सिपाही, एक न्यायाधीश तथा शासन करने वाली सभा का एक सदस्य था। अत नागरिकता उसके लिए एक कर्तव्य और लगभग एक

---

1 "The great empires performed valuable services in establishing the beginning of culture, in breaking down the narrow local basis of tribal organization and in familiarizing mankind with widespread authority" —Gettell

2 'We must remember, first, that their autocracy was limited in practice by custom, tradition and religion, next that it kept large areas of the world in comparative order and quite . ....The long centuries of their predominance show that under the circumstances of those days, it was on the whole adequate to its function" —R. H. Soltau

व्यवसाय थी। प्रत्येक नगर-राज्य के अलग-अलग देवता थे जिनके उत्सवों में शामिल होना नागरिक के लिए अनिवार्य था। इस तरह राज्य और समाज पृथक नहीं थे। यूनानी नगर एक ही समय में राज्य, चर्च और विद्यालय सब कुछ था। वस्तुत नगर-राज्य सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का केन्द्र था। यूनानियों का विश्वास था कि राज्य से अलग रहकर कोई भी व्यक्ति अपने जीवन का पूर्ण विकास नहीं कर सकता। अत यूनानियों का दृष्टिकोण आरम्भ से अन्त तक सामाजिक था। नगर-राज्यों के सामूहिक नागरिक जीवन की महत्ता का वर्णन करते हुए बर्क ने लिखा है कि "नगर-राज्यों की नागरिकता विज्ञान, कला, गुणों एवं पूर्णता की दृष्टि से मानव-जीवन के प्रत्येक पक्ष की सर्वतोन्मुखी साझेदारी थी।"[1]

यूनानियों ने अपने नगर-राज्यों में कई प्रकार के राजनीतिक संगठनों को विकसित किया। यूनान के नगर-राज्य प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के आदर्श उदाहरण थे, क्योंकि सभी नागरिक राज्य के शासन के साथ प्रत्यक्ष रूप से जुड़े हुए थे। केवल स्पार्टा को छोड़कर जो बराबर रूढ़िवादी बना रहा, अन्य सभी राज्यों में शासन-प्रणालियों का स्वरूप निरन्तर बदलता रहता था। यह परिवर्तन साधारणतया राजतन्त्र से कुलीनतन्त्र, कुलीनतन्त्र से निरंकुशतन्त्र, निरंकुशतन्त्र से लोकतन्त्र और लोकतन्त्र से फिर राजतन्त्र की ओर होता रहता था।

इस तरह यूनानी नगर-राज्य सभ्यता और राजनीतिक विकास के दृष्टिकोण से बहुत ऊँचे उठे हुए थे। इन्होंने स्वशासन तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता का आदर्श प्रस्तुत किया। इन नगर-राज्यों की संसार को सबसे बड़ी देन सुकरात, प्लेटो और अरस्तू का दर्शन है। वस्तुतः यूनानी नगर-राज्यों की स्थापना से ही राजनीति विज्ञान का अध्ययन प्रारम्भ होता है। परन्तु इतना सब होते हुए भी नगर राज्यों में कुछ कमियाँ भी थीं। प्रथम तो, ये नगर राज्य दास-प्रथा पर आधारित थे जिसके कारण इनका सामाजिक जीवन पारस्परिक द्वेष एवं अविश्वास की भावना से भरा हुआ था। द्वितीय, इन नगर-राज्यों ने अपने नागरिकों में स्थानीय प्रेम तथा संकीर्णता की मनोवृत्ति को जन्म दिया। इसके कारण उनमें राष्ट्रीय एकता की भावना विकसित नहीं हो पायी। ये नगर-राज्य आपस में एक-दूसरे से लड़ते रहते थे जिसके कारण इनकी शक्ति क्षीण होती चली गयी और अन्त में पहले मैसीडोनिया ने तथा बाद में रोम ने इन पर अधिकार करके इनके स्वतन्त्र अस्तित्व को समाप्त कर दिया।

(4) वैदिक-कालीन गणराज्य (Republics of Vedic Age)—जिन दिनों यूनान में नगर-राज्यों का अस्तित्व था, उन दिनों भारत में भी छोटे-छोटे गणराज्य पनप रहे थे। इन भारतीय गणराज्यों के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान वैदिक साहित्य पर

---

1 "It was all inclusive partnership in every aspect of human existence, in all science, in all arts, in every virtue and in all perfection" —Burke

ही आधारित है। महाभारत और बौद्ध साहित्य में भी गणराज्यों का उल्लेख मिलता है। सिकन्दर के आक्रमण के समय पंजाब में मालव, शूद्रक और शिवि गणराज्यों का उल्लेख मिलता है। ये गणराज्य दो प्रकार के थे। प्रथम प्रकार के गणराज्य तो वे थे जिनमें उस गण के सब नागरिक प्रत्यक्ष रूप से शासन के कार्यों में भाग लेते थे। वे 'सभा' नाम की संस्था में एकत्रित होकर राज्य-कार्य का संचालन करते थे तथा सभी मिलकर गण के मुखिया अर्थात् गण प्रमुख का निर्वाचन करते थे। दूसरे प्रकार के गणराज्य वे थे जिनमें कुछ प्रमुख परिवारों के मुखिया मिलकर राज्य-कार्य का संचालन करते थे। इन गणराज्यों का सबसे बड़ा दोष इनकी सैनिक दृष्टि से निर्बलता थी तथा ये आपस में एक दूसरे से लड़ते रहते थे। जिस प्रकार यूनान के नगर-राज्य रोम के सार्वभौम साम्राज्य में विलीन हो गये, उसी प्रकार मौर्य साम्राज्य के उदय के पश्चात् ये वैदिककालीन गणराज्य उसमें विलीन हो गये और बड़े बड़े साम्राज्यों का इतिहास आरम्भ हुआ।

(5) **रोमन साम्राज्य (Roman Empire)**—यूनान के नगर राज्यों के समान प्रारम्भ में रोम भी एक नगर-राज्य था। यह नगर-राज्य इटली की एकमात्र जहाज-रानी के योग्य महत्त्वपूर्ण नदी टाइबर के किनारे पर स्थित था तथा चारों ओर पहाड़ियों से घिरा हुआ होने के कारण अधिक सुरक्षित था। आरम्भ में इस नगर-राज्य का कोई विशेष महत्त्व नहीं था परन्तु अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण यह बहुत शीघ्र ही इटली का एक प्रधान राज्य बन गया। इसमें रहने वाले विभिन्न कबीले एक सामान्य धार्मिक उपासना के कारण एकता की भावना में बँधे हुए थे। धीरे-धीरे यह नगर राज्य बहुत शक्तिशाली होता गया और इसने अपने क्षेत्र का विस्तार करना प्रारम्भ कर दिया। इसने सबसे पहले अपने पड़ोसी इटली के नगर-राज्यों को अपने में मिलाया और इसके पश्चात् इसने इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, स्पेन, आस्ट्रिया, बलकान, यूनान, एशिया माइनर आदि सुदूरवर्ती प्रदेशों को जीतकर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। इस प्रकार रोम का नगर राज्य एक विशाल साम्राज्य का स्वामी बन गया और वहीं से सम्पूर्ण साम्राज्य का शासन प्रबन्ध होने लगा।

रोम के राज्य का शासनतन्त्र क्रमिक रूप से बदलता रहा। प्रारम्भ में 510 ई० पू० तक वहाँ का शासन राजतन्त्रीय था। राजा ही शासक, न्यायाधीश तथा धर्म-गुरु होता था। राजा की शक्तियाँ असीमित मानी जाती थी परन्तु फिर भी उससे यह आशा की जाती थी कि वह राज्य की वृद्धजन परिषद् की सलाह से शासन के सारे कार्य करेगा। शासन के कार्यों में केवल कुलीन वर्ग के लोगों को ही भाग लेने का अधिकार था तथा साधारण लोगों को किसी प्रकार के राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे।

510 ई० पू० में रोम में राजतन्त्र का अन्त हो गया और उसके स्थान पर गणतन्त्र की स्थापना हो गई। शासन के समस्त अधिकार दो अधिकारियों को सौंप

दिये गये जिनका निर्वाचन प्रतिवर्ष होता था। इन अधिकारियों को बाद में कॉन्सल्स (Consuls) कहा जाने लगा। साधारण जनता को अभी भी शासन-सम्बन्धी अधिकार प्राप्त नहीं थे परन्तु दो शताब्दियों तक संघर्ष करने के पश्चात् आगे चलकर उसे भी कुछ अधिकार प्राप्त हो गये। रोम का गणतन्त्र चार सिद्धान्तों पर आधारित था—(1) विभाजित राजसत्ता, (2) राज्य के अधिकारियों की अल्प-अवधि, (3) कॉन्सल्स के सीमित सैनिक अधिकार, तथा (4) महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के निर्णय का लोगों को अन्तिम अधिकार।

लगभग दूसरी शताब्दी के मध्य में जब रोम के साम्राज्य का विस्तार बहुत दूर दूर के प्रदेशों तक हो गया तब रोम में गणतन्त्र के स्थान पर निरंकुश राजतन्त्र का उदय हुआ। साम्राज्य की शासन-व्यवस्था का वर्णन करते हुए डॉ० आशीर्वादम ने लिखा है कि "साम्राज्य को एक सूत्र में बाँधे रखने के लिए एक प्रभावपूर्ण केन्द्रीय शासन और नियन्त्रण की व्यवस्था की गई। जीते हुए भू भाग प्रदेशों में बाँट दिये गये। हर प्रदेश में एक रोमन अधिकारी नियुक्त किया जाता था, जिसे 'प्रोकान्सल' (Proconsul) कहते थे। उसे राजनीतिक तथा नागरिक मामलों में सम्पूर्ण अधिकार मिले हुए थे। स्वयं रोम में गणतन्त्र का स्थान तानाशाही सैनिक शासन ने ले लिया था। सम्राट सर्वशक्तिमान बन गया था। जनप्रिय परिषदों का कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं रह गया था। सीनेट को प्रमुख स्थान अवश्य प्राप्त था परन्तु उस पर भी सम्राट का नियन्त्रण रहता था। अन्त में सम्राट के आदेश ही कानून माने जाने लगे।"

उन्होंने आगे लिखा है कि "दूसरी शताब्दी के अन्त तक पुराने सिद्धान्त का सिद्धान्त कि 'शासक को अधिकार प्रजा से प्राप्त होते हैं', दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त' ने ले लिया। सम्राट की सत्ता ईश्वर द्वारा दी गयी मानी जाने लगी। कुछ समय तक तो सम्राट को ईश्वर ही मानकर पूजा गया। बाद में जब ईसाई धर्म को राज्य धर्म स्वीकार कर लिया गया तब सम्राट को पृथ्वी पर परमात्मा का प्रतिनिधि माना जाने लगा। इस प्रकार प्राचीन लोकतन्त्रीय नगर-राज्य एकतन्त्रीय विश्व साम्राज्य बन गया। स्वतन्त्रता, लोकतन्त्र और स्थानीय स्वाधीनता का मान घट गया और उनके स्थान पर एकता व्यवस्था, विश्व-कानून और विश्वबन्धुत्व [redacted] रोमन आदर्शों की प्रतिष्ठा बढ़ गई।"

रोम की देन—रोमन साम्राज्य की राजनीति विज्ञान को कई महत्त्वपूर्ण देनें हैं जो इस प्रकार हैं—(1) संसार को सर्वप्रथम सुव्यवस्थित तथा सुशासन देने का स्थायी गौरव रोम को ही प्राप्त है। (2) रोमन विधि, जिसे रोमन लॉ कहा जाता है, उपनिवेश सम्बन्धी प्रशासन तथा नगरपालिकाओं की शासन-व्यवस्था आधुनिक युग को रोमन साम्राज्य की महत्त्वपूर्ण देनें हैं। (3) रोम ने भाषा, धर्म, कला एवं संस्कृति की एकता स्थापित करने की दिशा में प्रशासकीय प्रयत्न किया। (4) डॉ० आशीर्वादम के अनुसार, "सम्प्रभुता और नागरिकता के सुगठित आदर्श तथा विभिन्न जातियों में राजनीतिक एकता स्थापित करने की पद्धतियाँ रोम की कुछ

महत्त्वपूर्ण सफलताएँ हैं।" (5) मैकाइवर के अनुसार, "आरम्भ से ही रोम के लोग अपनी सूझ के कारण नागरिक अधिकार (विधि के समक्ष समानता का अधिकार) और राजनीतिक अधिकार में स्पष्ट भेद कर सके।" (6) रोम की कानून-प्रणालियों का प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय कानून के ऊपर देखा जा सकता है।

रोमन साम्राज्य के पतन के कारण—उपरोक्त महान सफलताओं के बावजूद भी रोमन साम्राज्य स्थायी नहीं रह सका। इसके पतन के कुछ मुख्य कारण इस प्रकार हैं—(1) रोमन साम्राज्य की शक्ति अत्यन्त अव्यवस्थित तथा अनियन्त्रित थी। साम्राज्य की वास्तविक शक्ति सेनापतियों के हाथों में रहती थी और वे अपनी शक्ति का प्रायः दुरुपयोग करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि रोम का जनतन्त्र अधिनायकतन्त्र में बदल गया और सम्राट का पद वंश-परम्परागत हो गया। (2) रोमन साम्राज्य का एक दूसरा प्रमुख दोष उसमें पायी जाने वाली दास प्रथा थी। जनता का एक बहुत बड़ा भाग शासन में भाग लेने के अधिकार से वंचित था। इसका परिणाम यह हुआ कि जब रोमन साम्राज्य पर बर्बर जातियों के आक्रमण होने लगे तब सम्पूर्ण जनता ने उसकी रक्षा में योग नहीं दिया।

डॉ० आशीर्वादम के अनुसार, "एकता की प्राप्ति के लिए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का बलिदान, शासन की हृदयहीन कुशलता, उच्चवर्गों का नैतिक पतन, महामारियाँ, साम्राज्य का कमजोर आर्थिक आधार, सम्राटों के उत्तराधिकार सम्बन्धी नियमों का अभाव, धार्मिक अव्यवस्था एवं बर्बर जातियों के आक्रमण" रोमन साम्राज्य के पतन के प्रमुख कारण थे। संक्षेप में, हम सोल्टाऊ के शब्दों में यह कह सकते हैं कि **"रोमन पद्धति की निर्बलता यह थी कि वह अत्यन्त रोमन, अत्यन्त केन्द्रित, रोम की इच्छाओं और हितों द्वारा अत्यधिक प्रभावित तथा तत्कालीन सम्राट के व्यक्तित्व पर अत्यधिक अवलम्बित थी।"**[1] यूनान तथा रोम की अपूर्णता की चर्चा करते हुए गैटल ने ठीक ही कहा है कि **'यूनान ने बिना एकता के प्रजातन्त्रवाद का विकास किया था, रोम ने बिना प्रजातन्त्रवाद के एकता की प्राप्ति की थी।'** यद्यपि रोमन साम्राज्य का पतन हो गया परन्तु फिर भी उसने संसार के सामने श्रेष्ठ प्रशासित राज्य का आदर्श उपस्थित किया।

मगध का सार्वभौम साम्राज्य—रोमन साम्राज्य के समान ही भारत में मगध अथवा पाटलिपुत्र का साम्राज्य स्थापित हुआ। पाटलिपुत्र मगध की राजधानी थी। मगध का जनपद सबसे पहले महा जनपद बना और उसके पश्चात उसने भारत

---

1 "The weakness of the system was that it remained to Roman, too centralised, too much dominated by the desires and interest of Rome, too dependent on the personality of the Emperor of the day"—**R. H. Soltau** *An Introduction to Political Science*, p 67.

के अन्य छोटे छोटे जनपदो को जीतकर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। उत्तरी भारत मे तो यह साम्राज्य लगभग एक हजार वर्ष तक बना रहा, परन्तु दक्षिणी भारत भी बहुत समय तक पाटलिपुत्र के साम्राज्य मे सम्मिलित रहा। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से पता चलता है कि सम्राट की शक्तियाँ अपरिमित होती थी परन्तु फिर भी वह धर्म और न्याय की मर्यादा के अनुसार शासन करता था। व्यक्तियो को सामाजिक और धार्मिक स्वतन्त्रता पर्याप्त मात्रा मे प्राप्त थी। विभिन्न जनपदों के कानूनो का आदर किया जाता था तथा साम्राज्य के कानून स्थानीय कानूनो को ध्यान मे रखते हुए बनाये जाते थे। इस तरह विभिन्न जनपदो को पर्याप्त मात्रा मे स्थानीय स्वतन्त्रता प्राप्त थी। इस प्रकार पाटलिपुत्र के साम्राज्य मे केन्द्रीयकरण तथा स्थानीय स्वशासन दोनो को उचित स्थान प्राप्त था। आन्तरिक विद्रोहो तथा विदेशी आक्रमणो ने इस साम्राज्य को समाप्त कर दिया।

(6) सामन्ती राज्य (The Feudal State)—रोमन साम्राज्य के पतन के पश्चात पाँचवीं शताब्दी मे सामन्ती राज्यो का उदय हुआ। रोमन साम्राज्य उत्तरी जर्मनी की बर्बर जातियो के आक्रमणो के परिणामस्वरूप छिन्न भिन्न हो गया। उनके स्थान पर अनेक शक्तिशाली सामन्तो ने अपने-अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये। इस तरह रोमन साम्राज्य के भग्नावशेषो पर अनेक सामन्ती राज्यो की स्थापना हो गयी। *यूरोप मे लगभग एक हजार वर्ष तक इन्हीं सामन्ती राज्यों का* प्रभाव रहा।

सामन्ती राज्यो का संगठन एक शृंखला के समान होता था जिसकी सबसे ऊँची कड़ी प्रधान सामन्त अथवा राजा होता था तथा सबसे नीची कड़ी दास होते थे। सामन्त अपनी जागीर राजा से प्राप्त करते थे परन्तु वे अपनी जागीरो के पूर्ण स्वामी होते थे। उन्हे केवल राजा का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ता था तथा आवश्यकता पड़ने पर उन्हें राजा की सैनिक तथा वित्तीय सहायता करनी पड़ती थी। विशेष अवसरो पर वे राजा को उपहार तथा अन्य प्रकार की सेवाएँ भेंट करते थे। सामन्त अपने दायित्वो को पूर्ण करते रहने तक अपनी जागीर का मालिक बना रहता था और उसकी मृत्यु के पश्चात वह जागीर स्वत उसके उत्तराधिकारी को मिल जाती थी। ये सामन्त राजा के प्रति वफादार रहते थे। कुछ बड़े-बड़े सामन्त अपनी जागीर को अन्य छोटे सामन्तों में बाँट देते थे। ये छोटे सामन्त भी *अपनी जागीर को और छोटे-छोटे जागीरदारो मे बाँट देते थे।* ये जागीरदार वैसी ही शर्तों पर अपनी जागीर को छोटे जागीरदारों, किसानों और दासों मे बाँट देते थे। इन सब वर्गों के पारस्परिक सम्बन्ध वैसे ही होते थे जैसे राजा तथा सामन्तों के बीच होते थे। नीचे के स्तर का भू-स्वामी अपने से ऊपर के स्तर के भू-स्वामी के प्रति वफादार होता था तथा अपने को उसका सेवक मानता था। राजा अथवा प्रधान सामन्त का छोटे जागीरदारों, किसानों व दासों के वर्ग पर अप्रत्यक्ष ही अधिकार होता था। इस प्रकार सामन्ती राज्य की स्थिति एक पिरामिड के समान थी जिसमें

सबसे ऊपर राजा, उसके नीचे बड़े सामन्त, उसके नीचे छोटे सामन्त, जागीरदार, किसान तथा सबसे नीचे दास होते थे।

इस ढाँचे का आधार स्वायत्त शासन तथा वैयक्तिक भक्ति थी। उस समय एक ऐसी सर्वोच्च सत्ता का अभाव था जिसका सब पर प्रभुत्व हो। वस्तुतः ये सामन्ती राज्य वास्तविक अर्थ मे राज्य नहीं थे। उनमे न तो सर्वमान्य नागरिकता थी और न सर्वमान्य नियम ही थे। राज्य में कोई केन्द्रीय अधिकारी नहीं था और लोगों की स्वामिभक्ति पग-पग पर विभाजित थी। व्यक्ति अपने से ऊपर के स्तर के भू-स्वामी के माध्यम से राजा के प्रति वफादार होते थे। राजा सामन्तो की शक्ति पर निर्भर करता था और सामन्त अपने अधीनस्थ सामन्तो तथा जागीरदारो पर निर्भर रहते थे। संक्षेप मे, हम यह कह सकते हैं कि 'सामन्ती प्रथा अपूर्ण, शोषण-प्रधान तथा एक असंगठित अव्यवस्था थी।" इन दोषो के कारण सामन्तवाद का पतन हो गया और उसके स्थान पर राष्ट्रीय राज्यो की स्थापना हुई।

(7) आधुनिक राष्ट्रीय राज्य (The Modern Nation State)—सामन्ती राज्यो के बाद आधुनिक राष्ट्रीय राज्यो का विकास हुआ। राष्ट्रीय राज्यों के विकास मे यूरोप के पुनर्जागरण, धर्म सुधार आन्दोलन, औद्योगिक क्रान्ति तथा सामन्तो के पारस्परिक युद्धों ने महत्त्वपूर्ण योग दिया। व्यापार की वृद्धि, नगरो की स्थापना, मुद्रा के चलन और प्रसार तथा यातायात के साधनों में सुधार आदि से इनकी स्थापना को और प्रोत्साहन मिला। बारूद के आविष्कार तथा स्थाई सेना के निर्माण के कारण राजाओ को अपने सामन्तो पर निर्भर रहने की जरूरत नहीं रह गयी। इन सब कारणों ने आधुनिक राष्ट्रीय राज्यो के मार्ग को प्रशस्त किया। इंगलैण्ड, फ्रांस, स्पेन तथा रूस मे शक्तिशाली राजाओ ने सामन्तों को अपने वश मे करके राष्ट्रीय रूप से संगठित राज्यो की स्थापना की। इन राजाओं ने पोप और चर्च की सर्वोच्चता को चुनौती दी। व्यावसायिक और व्यापारी वर्ग अपने आर्थिक लाभ की दृष्टि से शान्ति तथा व्यवस्था के पोषक बन गये और साथ ही राष्ट्रीय राज्य के प्रबल समर्थक बन गये। उन्होंने राष्ट्रीय राजाओ, राष्ट्रीय सेना और कर व्यवस्था कायम करने मे बहुत सहायता दी।

जिन राज्यो मे शक्तिशाली शासन की स्थापना हुई, उनमें शासन-पद्धति, धर्म, भाषा, रीति रिवाज तथा परम्पराओ आदि की समानता के उदय के कारण एक ऐसी राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास हुआ जिसके आधार पर राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण हुआ। इसी भावना ने एक राष्ट्र-एक राज्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इन राष्ट्रीय राज्यो मे दैवी सिद्धान्त पर आधारित निरंकुश राजतन्त्र की स्थापना हुई। इन राज्यो में यह सिद्धान्त प्रचलित था कि राजा पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है। उसकी आज्ञा का पालन ईश्वर की आज्ञा का पालन है तथा उसका विरोध ईश्वर का विरोध है। उसकी इच्छा ही कानून है।

प्रजातन्त्रात्मक राष्ट्रीय राज्य—राष्ट्रीय राज्यों में निरंकुशता का सिद्धान्त बहुत दिन नहीं चल सका। प्रारम्भ में जनता ने सामन्तों के अत्याचारों से छुटकारा पाने के लिए निरंकुश राजतन्त्र को अपना लिया था। परन्तु जैसे ही सामन्तवाद का अन्त हुआ तथा जनता में राजनीतिक जागृति आई और लोगों को अपनी शक्ति तथा महत्ता का ज्ञान हुआ, वैसे ही जनता राजनीतिक अधिकारों तथा सुविधाओं की माँग करने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि राजनीतिक अधिकारों के लिए राजाओं तथा जनता में एक लम्बा संघर्ष प्रारम्भ हो गया। यह संघर्ष लोकतन्त्र की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था। सबसे पहले यह संघर्ष इंगलैण्ड में प्रारम्भ हुआ जहाँ सन् 1688 ई० की गौरवपूर्ण क्रान्ति के द्वारा राजा की शक्तियों को पूर्णतया सीमित कर दिया गया। इसके पश्चात् अन्य देशों में भी लोकतन्त्र के लिए संघर्ष प्रारम्भ हुआ। फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने लोकतन्त्र के मार्ग को प्रशस्त करने में महत्वपूर्ण योग दिया। इसके पश्चात् अनेक देशों में लोकतन्त्रीय व्यवस्था को अपनाया गया। लोकतन्त्रवाद अपने साथ तीन प्रमुख सिद्धान्त लाया—समानता, लोक प्रभुसत्ता तथा राष्ट्रीयता। अब यह विचार सम्पूर्ण राजनीतिक विचारधारा का सार बन गया है कि एक ही राष्ट्रीयता के लोगों का एक पृथक राज्य होना चाहिए तथा उन्हें अपने शासन के स्वरूप का निर्णय करने एवं अपनी सरकार को चुनने का अधिकार होना चाहिए। इस प्रकार वर्तमान राज्य राष्ट्रीयता और लोक सम्प्रभुता के सिद्धान्तों पर आधारित हैं तथा उनमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता, समानता, नागरिकों के मौलिक अधिकार और राष्ट्रीय एकता को अत्यधिक महत्व दिया जाता है।

(8) राज्य का भावी विकास—विश्व संघ (World Federation)—निस्सन्देह लोकतन्त्रीय राष्ट्रीय राज्य के पक्ष में अनेक तर्क दिये जा सकते हैं किन्तु राज्य के विकास का यह अन्तिम चरण नहीं है। राजनीतिक विकास का क्रम अभी जारी है। इतिहास से यह पता चलता है कि राष्ट्रीयता के आधार पर राज्य निर्माण करने की नीति का परिणाम अवश्यम्भावी रूप से प्रतिस्पर्धा, प्रतियोगिता और कभी कभी युद्ध होता है। औपनिवेशिक साम्राज्य के विनाश से राष्ट्रवाद के पहले के संकुचित विचार नष्ट हो रहे हैं और अब अन्तर्राष्ट्रीयता के विचार उनकी जगह ले रहे हैं। वर्तमान समय में वैज्ञानिक आविष्कारों, यातायात तथा संचार के साधनों की उन्नति, विचारों के आदान प्रदान, परस्पर मेल-जोल, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार और अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की स्थापना ने राष्ट्रीय सम्प्रभुता की संकीर्णता को हटाने तथा अन्तर्राष्ट्रीयता के आन्दोलन को और भी तीव्र गति प्रदान करने में सहायता दी है। यह भी कहा जा सकता है कि यदि हमारे पूर्वज राष्ट्रीय थे तो हम अन्तर्राष्ट्रीय हैं। आज संसार के सभी राज्यों के सामने अनेक समस्याएँ हैं जिनमें से एक प्रमुख समस्या अपनी जनता के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने की है। वर्तमान राष्ट्रीय राज्य पृथक रूप से इन समस्याओं को हल करने की क्षमता नहीं रखते। इसलिए अब अनेक विद्वान बहुराष्ट्रीय राज्य अथवा विश्व-संघ की आवश्यकता पर बल देने लगे हैं।

यह तो भविष्य ही बता सकता है कि इस विश्व-संघ का क्या स्वरूप होगा। परन्तु किसी न किसी रूप में एक विश्व सरकार अवश्यम्भावी जान पड़ती है। विश्व-संघ के महान समर्थक प्रो० लास्की का विचार है कि "अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में राज्य की सम्प्रभुता धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही है क्योंकि अब उसकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी है। आज व्यक्ति को साम्राज्यवाद की धारणा की नहीं, वरन् संघवाद की कल्पना की आवश्यकता है।" सी० ए० स्ट्रीट (C. A Streit) ने अपनी पुस्तक *Union Now* में वर्तमान लोकतन्त्रीय राष्ट्रीय राज्यों [illegible] एक विश्व-संघ की रूपरेखा का चित्रण किया है। अन्त में, हम यही कह सकते हैं कि मानव सभ्यता तथा संस्कृति की रक्षा के लिए विश्व-संघ की इस कल्पना को साकार रूप देना अत्यन्त आवश्यक है।

अभ्यास के प्रश्न

1 राज्य के ऐतिहासिक विकास की संक्षेप में विवेचना कीजिए।
2 प्राचीन काल से वर्तमान काल तक राज्य के विकास का वर्णन कीजिए।
3 आधुनिक काल में राज्य के विकास की विवेचना कीजिए।

10

सम्प्रभुता एवं बहुलवाद
[SOVEREIGNTY AND PLURALISM]

"सम्प्रभुता राज्य के अन्दर सबसे बड़ी शक्ति और सर्वोच्च सत्ता होती है जो विधि या अन्य किसी दूसरी वस्तु से सीमित नहीं होती क्योंकि ऐसा होने पर वह न तो सबसे अधिक शक्तिशाली ही रहेगी और न सर्वोच्च ही।"[1]

—डेनिल्ड एफ० रसैल

राज्य के चारो तत्त्वो मे सम्प्रभुता सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। वस्तुत ़ राज्य का प्राण है जिसके अभाव मे राज्य की कल्पना ही नही की जा सकती है। ही वह तत्त्व है जो राज्य तथा अन्य मानव समुदायो के बीच भेद स्थापित करता है। स्की के शब्दो मे 'सम्प्रभुता के कारण ही राज्य अन्य सभी प्रकार के मानव-दायों से भिन्न है।'[2] इसी शक्ति के कारण राज्य आन्तरिक दृष्टि मे सर्वोच्च तथा ह्य रूप मे स्वतन्त्र होता है। यह शक्ति ही राज्य के निवासियो मे एकता की वना उत्पन्न करती है। अत राजनीति विज्ञान के विद्यार्थी के लिए सम्प्रभुता म्बन्धी विचारो का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

सम्प्रभुता का अर्थ

सम्प्रभुता राजनीति विज्ञान की सबसे महत्त्वपूर्ण धारणाओ मे से एक है। परन्तु यह भी सत्य है कि राजनीति विज्ञान मे और किसी शब्द पर विद्वानो मे इतना मतभेद नहीं है जितना इस शब्द पर है। लॉर्ड ब्राइस के अनुसार, "सम्प्रभुता का प्रश्न

1 "Sovereignty is the strongest power and supreme authority within a state which is unlimited by law or anything else, since otherwise it would be neither strongest nor supreme."
—Donald F. Russel

2 "It is by possession of sovereignty that the state is distinguished from all other forms of human associations" —H J. Laski

राजनीति विज्ञान के सर्वाधिक विवादास्पद और उलझे हुए प्रश्नों में से एक है।" इसका मुख्य कारण यह है कि प्रत्येक ने इसको भिन्न भिन्न दृष्टिकोण से देखा है।

सम्प्रभुता का अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द सॉवरेन्टी (Sovereignty) है जो लेटिन भाषा के शब्द सुपरेनस (Superanus) से बना है जिसका अर्थ उस भाषा में सर्वोच्च शक्ति (Supreme Power) होता है। अत शब्द उत्पत्ति की दृष्टि से सम्प्रभुता का अर्थ राज्य की सर्वोच्च शक्ति अथवा सत्ता है। राज्य की यह सत्ता आन्तरिक क्षेत्र मे सर्वोच्च तथा बाह्य क्षेत्र मे स्वतन्त्र होती है। इस तरह सम्प्रभुता के दो पक्ष होते हैं आन्तरिक सम्प्रभुता तथा बाह्य सम्प्रभुता। सम्प्रभुता के इन दोनो पक्षो की विवेचना निम्नलिखित है

आन्तरिक सम्प्रभुता—आन्तरिक सम्प्रभुता का तात्पर्य यह है कि राज्य अपनी सीमा के अन्तर्गत सभी व्यक्तियो तथा व्यक्ति समुदायो से उच्चतर होता है। वह अपने क्षेत्र के अन्तर्गत सभी व्यक्तियो तथा समुदायो को कानूनो अथवा आदेशो के रूप मे किसी प्रकार की भी आज्ञा दे सकता है। सभी को उसकी आज्ञा का पालन अनिवार्य रूप से करना होता है तथा उसकी आज्ञा का उल्लंघन करने वाला दण्ड का भागी होता है। *दूसरे शब्दो मे हम कह सकते हैं कि सभी व्यक्ति तथा समुदाय राज्य की* सत्ता के अधीन हैं और राज्य के आदेशो को मानने के लिए बाध्य हैं। अपनी सीमा के अन्तर्गत राज्य स्वय किसी की आज्ञा मानने के लिए बाध्य नही है।

राज्य की आन्तरिक सम्प्रभुता का वर्णन करते हुए प्रो० लास्की ने लिखा है, "वह (राज्य) अपने क्षेत्र के अन्तर्गत सभी व्यक्तियों तथा समुदायो को आज्ञा प्रदान करता है और इनमे से कोई उसे आज्ञा नहीं दे सकता है। इसकी इच्छा पर किसी प्रकार का कोई कानूनी बन्धन नहीं होता। किसी विषय मे केवल अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति मात्र से उसे जो वह करना चाहता है, करने का अधिकार *मिल जाता है।*"[1] इस सम्बन्ध म गार्नर ने लिखा है "*प्रत्येक पूर्ण स्वतन्त्र राज्य* मे कोई ऐसा व्यक्ति, सभा या समुदाय होता है जिसे कानूनी रूप से आज्ञा देने तथा उसका पालन कराने की अन्तिम शक्ति प्राप्त होती है।"

बाह्य सम्प्रभुता—बाह्य सम्प्रभुता का तात्पर्य यह है कि राज्य किसी भी बाहरी सत्ता के नियन्त्रण, दबाव अथवा हस्तक्षेप से स्वतन्त्र होता है। उसे इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है कि वह दूसरे देशो से जैसे चाहे वैसे सम्बन्ध स्थापित करे। दूसरे देशो मे उसके सम्बन्धो का निर्धारण किसी बाहरी शक्ति के दबाव द्वारा नही,

1 'It issues orders to all men and all associations within that area It receives orders from none of them, its will is subject to no legal limitations of any kind What it proposes is right by mere announcement of intention' —Laski, *A Grammar of Politics*, p. 44

होता। वह दूसरे देशो के साथ युद्ध, सन्धि, मित्रता अथवा तटस्थता मे से जैसी चाहे वैसी नीति अपना सकता है। वह अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियो, प्रथाओ तथा नियमो को कानूनी रूप से मानने के लिए विवश नही है। यदि राज्य इनका पालन करता है तो इससे उसकी सम्प्रभुता मर्यादित नही होती। प्रो० लास्की ने इस सम्बन्ध मे लिखा है "आधुनिक राज्य प्रभुत्व सम्पन्न राज्य होता है, अतः वह अन्य राज्यों के साथ अपने सम्बन्धों मे स्वतन्त्र होता है। वह उनके सम्बन्ध में अपनी इच्छा को किसी बाहरी शक्ति से प्रभावित हुए बिना ही व्यक्त कर सकता है।"[1]

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि सम्प्रभुता का अर्थ उस शक्ति अथवा सत्ता से होता है जो आन्तरिक क्षेत्र में सर्वोच्च तथा बाहरी क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्र होती है।

सम्प्रभुता की परिभाषाएं

सम्प्रभुता की परिभाषा विभिन्न विचारको ने विभिन्न प्रकार से की है। कुछ महत्वपूर्ण परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं

(1) सम्प्रभुता शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग फ्रांसीसी विचारक बोदाँ ने किया है। उसके अनुसार, "सम्प्रभुता नागरिको व प्रजाजनों के ऊपर राज्य की वह सर्वोच्च शक्ति है जिस पर कानून का कोई बन्धन नहीं है।"[2]

(2) ग्रोशियस के मतानुसार, "सम्प्रभुता उस व्यक्ति मे निहित सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति है जिसके कार्य अन्य किसी के अधीन नहीं होते तथा जिसकी इच्छा का विरोध न किया जा सकता हो।"[3]

(3) आधुनिक फ्रांसीसी लेखक प्रो० ड्यूगी का कहना है कि "सम्प्रभुता राज्य की आदेश देने की शक्ति होती है, यह राज्य के रूप में संगठित राष्ट्र की इच्छा होती है। यह वह अधिकार है जिसके आधार पर राज्य के क्षेत्र में रहने वाले सभी व्यक्तियों को बिना किसी शर्त के आदेश दिये जा सकते हैं।"[4]

---

1 "The modern state is a sovereign state, It is, therefore, independent in the face of other communities It may infue its will towards them with substance which need not be affected by the will of any external power"—Laski *A Grammar of Politics* p 44

2 "Sovereignty is the supreme power of the state over citizens and subjects unrestrained by law" —Jean Bodin

3 "Sovereignty is the supreme political power vested in him, whose acts are not subject to any other and whose will cannot be over-ridden" —Grotius

4 "Sovereignty is the *commanding power of the state*; it is the will of the nation organized in the state; it is the right to give unconditional orders to all individuals in the territory of the state." —Duguit

(4) बर्गेस के अनुसार, "सम्प्रभुता व्यक्तिगत रूप से प्रजाजनों तथा उनके समुदायों के ऊपर राज्य की मौलिक, निरपेक्ष और असीमित शक्ति है।"[1]

(5) पोलक ने सम्प्रभुता की परिभाषा इस प्रकार की है "सम्प्रभुता वह शक्ति है जो न तो अस्थायी होती है, न प्रदत्त होती है, न वह किन्हीं ऐसे विशिष्ट नियमों के अधीन होती है जिन्हें वह स्वयं न बदल सके और न वह पृथ्वी पर किसी दूसरी शक्ति के प्रति उत्तरदायी होती है।"[2]

(6) विलोबी के अनुसार "सम्प्रभुता राज्य की सर्वोपरि इच्छा होती है।"[3]

(7) जेलिनेक के शब्दों में, "सम्प्रभुता राज्य की वह विशेषता है जिसके कारण स्वेच्छा के अतिरिक्त उस पर अन्य कोई कानूनी बन्धन नहीं हो सकता और जिसे उसकी स्वयं की शक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी शक्ति द्वारा सीमित नहीं किया जा सकता।"[4]

सम्प्रभुता की विशेषताएँ अथवा लक्षण
(Attributes of Sovereignty)

उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण के आधार पर सम्प्रभुता की निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं

(1) निरपेक्षता (Absoluteness)—सम्प्रभुता की पहली विशेषता उसकी निरपेक्षता अथवा निरंकुशता है। वह सर्वोपरि अथवा सर्वोच्च होती है। सम्प्रभुता आन्तरिक क्षेत्र में सर्वोच्च तथा निरंकुश एवं बाहरी क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्र होती है। आन्तरिक क्षेत्र में, राज्य के अन्तर्गत समस्त नागरिकों, समुदायों तथा उनकी सम्पत्ति पर सम्प्रभुता का पूर्ण अधिकार होता है। सभी उसकी आज्ञा का पालन करने के लिए बाध्य होते हैं तथा वह शक्ति के बल पर सभी से अपनी आज्ञाएँ मनवा भी सकता है। राज्य के आदेश के विरुद्ध कहीं भी कोई अपील नहीं की जा सकती है। कोई भी मानव राज्य की सम्प्रभुता को सीमित अथवा नियन्त्रित नहीं कर सकता। बाह्य क्षेत्र में भी सम्प्रभुता पूर्णतः स्वतन्त्र होती है। वह दूसरे देशों से जैसे चाहे वैसे सम्बन्ध स्थापित करे। दूसरे राज्य सम्प्रभु राज्य के आन्तरिक तथा बाहरी मामलों

1 "Sovereignty is the original, absolute and unlimited power over the individual subjects and over all associations of subjects " —Burgess

2 "Sovereignty is that power which is neither temporary nor delegated, nor subject to particular rules, which it cannot alter, nor answerable to any other power on earth." —Pollock

3 "Sovereignty is the supreme will of the State " —Willoughby

4 "Sovereignty is that characteristic of the state in virtue of which it cannot be legally bound except by its own will or limited by any other power than itself." —Jellineck

में न तो किसी प्रकार का हस्तक्षेप कर सकते हैं और न उस पर किसी प्रकार का कोई दबाव डाल सकते हैं। सम्प्रभुता स्वेच्छा से जो चाहे वे बन्धन स्वीकार कर ले परन्तु ऐसी कोई बाह्य शक्ति नहीं होती जो कानूनी रूप से उसे कुछ कर सकने के लिए विवश कर सके। अतः वैधानिक दृष्टि से राज्य की सम्प्रभुता आन्तरिक एवं बाह्य क्षेत्र में सभी प्रकार के नियन्त्रण से पूर्णतया मुक्त होती है।

(2) सर्वव्यापकता (All Comprehensiveness)—सम्प्रभुता की दूसरी प्रमुख विशेषता उसकी सर्वव्यापकता है। सर्वव्यापकता से तात्पर्य यह है कि राज्य के अन्तर्गत सभी व्यक्तियों, समुदायों, वस्तुओं तथा प्रदेश पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण रहता है। राज्य के अन्दर कोई भी वस्तु उसके अधिकार क्षेत्र से बाहर नहीं होती। कोई भी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह अपना अधिकार बताकर सम्प्रभुता से मुक्त होने का दावा नहीं कर सकता। परन्तु सम्प्रभुता का एक अपवाद यह बताया जाता है कि विदेशी राजदूतों तथा प्रतिनिधियों को राज्येतर सम्प्रभुता (extra-territorial sovereignty) प्राप्त होती है। अर्थात् किसी भी देश में राजदूतावास उस देश की सम्पत्ति माना जाता है जिसका वह प्रतिनिधित्व करता है। राजदूतावास के सभी दस्य अपने देश की विधियों के अधीन होते हैं। परन्तु जैसाकि गिलक्राइस्ट ने लिखा है कि "यह तो वस्तुतः अन्तर्राष्ट्रीय शिष्टता की बात है और इसे सम्प्रभुता से वास्तविक मुक्ति नहीं कह सकते। यदि कोई राज्य चाहे तो अपनी सम्प्रभुता का उपयोग करते हुए इन विशेषाधिकारों और सुविधाओं को वापस ले सकता है।"

(3) मौलिकता (Originality)—सम्प्रभुता की एक विशेषता उसकी मौलिकता है। सम्प्रभु की शक्तियाँ मौलिक होती हैं, किसी अन्य शक्ति द्वारा प्रदत्त नहीं होतीं। यदि यह मान लिया जाये कि सम्प्रभु की शक्तियाँ प्रदत्त होती हैं तो सम्प्रभुता की सर्वोच्चता का सिद्धान्त स्वतः ही समाप्त हो जाता है। क्योंकि ऐसी *स्थिति में सम्प्रभुता प्रदान करने वाली शक्ति सम्प्रभु से ऊपर तथा श्रेष्ठ मानी जायेगी* और वह अप्रसन्न होने पर सम्प्रभु से अपनी शक्तियाँ को वापस ले सकेगी। परन्तु सम्प्रभुता को सर्वोच्च माना जाता है अतः उसकी शक्तियाँ मौलिक होती हैं।

(4) स्थायित्व (Parmanence)—सम्प्रभुता की एक अन्य विशेषता उसका स्थायित्व है। सम्प्रभुता उतनी ही स्थायी है जितना कि स्वयं राज्य अर्थात् जब तक राज्य बना रहता है तब तक सम्प्रभुता बनी रहती है। सम्प्रभुता का अन्त राज्य के अन्त का लक्षण है। यहाँ पर यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखने योग्य है कि सम्प्रभुता को सरकार का पर्यायवाची मानना ठीक नहीं है। किसी राजा या शासनाध्यक्ष की मृत्यु अथवा उसकी पदच्युति का अर्थ सम्प्रभुता की समाप्ति नहीं है। जैसाकि गार्नर ने लिखा है कि 'प्रभुत्वधारी की मृत्यु अथवा अल्पकालीन पदच्युति तथा राज्य के पुनः संगठन के कारण सम्प्रभुता का नाश नहीं होता, वह तुरन्त ही नये प्रभुत्वधारी के हाथों में पहुँच जाती है।" वस्तुतः यह तो शासन में व्यक्तियों का परिवर्तन है इससे राज्य की निरन्तरता में कोई रुकावट नहीं आती।

(5) अविच्छेद्यता (Inalienability)—अविच्छेद्यता से तात्पर्य यह है कि राज्य स्वयं अपने को नष्ट किये बिना सम्प्रभुता को अपने से पृथक नहीं कर सकता। वस्तुत सम्प्रभुता राज्य रूपी शरीर का प्राण है जिसके अलग होते ही राज्य स्वत समाप्त हो जाता है। अमरीकी विचारक लाइबर (Lieber) का कथन है कि "जिस तरह एक वृक्ष अपने उगने और पनपने के स्वभाव को नहीं छोड सकता अथवा एक व्यक्ति अपने को नष्ट किये बिना अपने जीवन तथा व्यक्तित्व को अपने से पृथक नहीं कर सकता, उसी प्रकार सम्प्रभुता को राज्य से पृथक नहीं किया जा सकता है।"[1] परन्तु यदि कोई राज्य अपने भू प्रदेश के कुछ भाग को किसी दूसरे राज्य को दे देता है तो ऐसी स्थिति मे केवल उस भाग से सम्बन्धित सम्प्रभुता एक राज्य से हटकर दूसरे राज्य के पास चली जाती है। इससे न तो उस राज्य की सम्प्रभुता नष्ट ही होती है और न यह सम्पूर्ण सम्प्रभुता का हस्तान्तरण ही है। गार्नर ने इस सम्बन्ध मे लिखा है कि "सम्प्रभुता राज्य के व्यक्तित्व का सार है। यह राज्य की सर्वोच्च सत्ता तथा उसके जीवन का अमरत्व है और राज्य से उसका अलग होना उसकी आत्महत्या के समान है।"[2] रूसो भी सम्प्रभुता की अदेयता का समर्थक था।

(6) अनन्यता (Exclusiveness)—सम्प्रभुता की एक अन्य विशेषता उसकी अनन्यता है। इसका तात्पर्य यह है कि राज्य मे एक ही ऐसी सर्वोच्च सत्ता होती है जिसे समस्त जनता को आदेश देने तथा उनका पालन कराने का वैध अधिकार होता है। एक राज्य मे एक ही सम्प्रभु हो सकता है, एक से अधिक नही। एक से अधिक सम्प्रभु होने का तात्पय यह है कि राज्य की एकता समाप्त हो चुकी है तथा एक राज्य के अन्दर दूसरा राज्य बन गया है।

(7) अविभाज्यता (Indivisibility)—सम्प्रभुता की एक अन्य विशेषता उसकी अविभाज्यता अथवा अखण्डता है। सम्प्रभुता एक होती है, अनेक नहीं। सम्प्रभुता को टुकडो मे विभाजित करने का अर्थ उसे नष्ट कर देना है। इस सम्बन्ध मे जॉन कॅलहोन ने लिखा है कि "सम्प्रभुता एक सम्पूर्ण वस्तु है, उसे विभाजित करने का अर्थ उसे नष्ट करना है। वह राज्य मे सर्वोच्च सत्ता है। आधी सम्प्रभुता की बात कहना उतना ही असगत है जितना आधे त्रिभुज या आधे वर्ग की बात

1 "Sovereignty can no more be alienated than a tree can alienate its right to sprout or a man can transfer his life and personality without self destruction "—Lieber *Political Ethics*, Vol. I, p 219

2 "Sovereignty is the supreme power of the State, it is the vital element of its being and to alienate it would be tantamount to committing suicide" —Garner

कहना ।"[1] गैटल ने भी लिखा है कि "जहाँ सम्प्रभुता निरपेक्ष नहीं है वहाँ राज्य का अस्तित्व भी नहीं है, यदि सम्प्रभुता विभाजित है तो एक से अधिक राज्यों का अस्तित्व हो जाता है।"[2] कहने का तात्पर्य यह है कि एक राज्य में एक ही सम्प्रभुता अथवा सर्वोच्च सत्ता हो सकती है, दो नहीं।

परन्तु सम्प्रभुता की अविभाज्यता के विचार से अनेक विचारक सहमत नहीं हैं। उदाहरणार्थ, बहुलवादी विचारक सम्प्रभुता को राज्य और अन्य समुदायों में विभाजित मानते हैं। इसके अतिरिक्त लॉवेल ब्राइस तथा फ्रीमैन आदि विचारकों का मत है कि संघ राज्यों में सम्प्रभुता विभाजित होती है। लॉवेल के अनुसार, "एक ही प्रदेश में ऐसी दो सम्पूर्ण-प्रभुत्व सम्पन्न शक्तियाँ हो सकती हैं जो एक ही प्रजाजनों को विभिन्न मामलों में अपने-अपने आदेश दें।"[3] लॉर्ड ब्राइस का भी यही मत है कि "वैधानिक सम्प्रभुता एक-दूसरे से सम्बन्धित दो समान शक्तियों में विभाजित की जा सकती है।" अंग्रेज विचारक फ्रीमैन ने लिखा है कि "संघीय आदर्श की पूर्णता के लिए सम्प्रभुता का पूर्ण विभाजन परम आवश्यक है।"[4] किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इन विद्वान लेखकों ने राज्य और शासन के बीच के भेद को भुला दिया है। संघ राज्यों में शासन की शक्तियों का विभाजन होता है, सम्प्रभुता का नहीं। सम्प्रभुता संघ राज्यों में भी अविभाज्य ही होती है।

सम्प्रभुता के विविध रूप
(Kinds of Sovereignty)

सम्प्रभुता शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया जाता है। इसका कारण सम्प्रभुता की प्रकृति तथा उसका विकास रहा है। इन आधारों पर विचारकों ने सम्प्रभुता के अनेक रूपों का प्रतिपादन किया है। सम्प्रभुता के कुछ प्रमुख रूप निम्नलिखित हैं

(1) नाममात्र की तथा वास्तविक सम्प्रभुता (Nominal and Real Sovereignty)—जिन राज्यों में संसदीय शासन व्यवस्था होती है, उनमें राज्य के

---

1 "Sovereignty is an entire thing To divide it is to destroy it It is the supreme power of the state and we might just as well speak of half a square or half a triangle, as half a sovereignty."
—*Calhoun's Works*, Vol I, p 146

2 "If sovereignty is not absolute, no state exists, if sovereignty is divided, more than one state exists." —Gettell

3 "There can exist within the same territory two sovereigns issuing commands the same subjects touching different matters"
—Lowell

4 "The complete division of sovereignty we may look upon as essential to the absoulte perfection of the federal ideal"
—Freeman

अध्यक्ष को नाममात्र का सम्प्रभु कहा जाता है तथा उसमें निहित सम्प्रभुता को नाममात्र की सम्प्रभुता कहा जाता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से शासन की सम्पूर्ण शक्तियाँ उसी मे निहित रहती हैं लेकिन व्यवहार मे वह स्वय इन शक्तियो का प्रयोग नही करता। व्यवहार मे उन शक्तियो का प्रयोग वास्तविक सम्प्रभु के द्वारा किया जाता है जो पार्लियामेण्ट और मन्त्रिमण्डल होता है। दूसरे शब्दो मे, हम यह कह सकते हैं कि जिसके नाम से शासन के समस्त कार्य किये जाते हैं, लेकिन जो स्वयं अपनी शक्तियो का प्रयोग नही करता, उसको नाममात्र का सम्प्रभु कहा जाता है तथा जिसके द्वारा शासन की समस्त शक्तियो का व्यवहार म प्रयोग किया जाता है, उसे वास्तविक सम्प्रभु कहते है। उदाहरणार्थ, भारत मे राष्ट्रपति को नाममात्र का सम्प्रभु और ससद तथा मन्त्रिमण्डल को वास्तविक सम्प्रभु कहा जा सकता है।

(2) **वैधानिक तथा राजनीतिक सम्प्रभुता (Legal and Political Sovereignty)**—प्राय वैधानिक सम्प्रभुता तथा राजनीतिक सम्प्रभुता मे भेद किया जाता है। एक राज्य के अन्तर्गत कानूनो का निर्माण करने तथा आदेश जारी करने का जिसको अन्तिम और सर्वोच्च अधिकार प्राप्त होता है उसे वैधानिक सम्प्रभु कहा जाता है। इस प्रकार वैधानिक सम्प्रभुता का आशय कानून निर्माण करने वाली सर्वोच्च सत्ता से है। *वैधानिक दृष्टि से यह स्वय किसी कानून या शक्ति द्वारा मर्यादित नही होती है।* न्यायालय इस वैधानिक सत्ता द्वारा निर्मित कानूनो को मान्यता प्रदान करते हैं तथा उन्ही कानूनो के आधार पर न्याय का कार्य करते हैं। डा० गार्नर ने इसकी परिभाषा करते हुए लिखा है कि '**वैधानिक सम्प्रभुता वह निश्चित सत्ता है जो राज्य के सर्वोच्च आदेशो का वैध रूप मे व्यक्त कर सके तथा जो दैवी कानून, नैतिक सिद्धान्तों और जनमत की उपेक्षा कर सके।**" डायसी ने भी लिखा है कि "**वैधानिक सम्प्रभुता कानून बनाने वाली वह शक्ति है जो अन्य किसी भी कानून अथवा विधि से मर्यादित नहीं होती।**" उदाहरण के लिए इगलैण्ड म ससद सहित सम्राट (King in Parliament) को वैधानिक सम्प्रभु कहा जा सकता है। कानून-निर्माण के क्षेत्र मे ब्रिटिश ससद की शक्तियाँ असीमित हैं तथा उन पर कोई प्रतिबन्ध नही है। लोक ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि '**ब्रिटिश ससद केवल स्त्री को पुरुष तथा पुरुष को स्त्री नहीं बना सकती, शेष समस्त कार्य उसकी कानूनी सर्वोच्चता के अधीन हैं।**"

डॉ० आशीर्वादम ने वैधानिक सम्प्रभुता की विशेषताओं का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं (1) यह निश्चयात्मक होती है। (2) यह किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह मे निहित रह सकती है। (3) यह निश्चित रूप से सगठित, स्पष्ट और विधि द्वारा मान्य होती है। (4) वैधानिक शब्दो मे राज्य की इच्छा की घोषणा केवल यही करती है। (5) इसकी आज्ञा का उल्लघन दण्डनीय अपराध है। (6) अधिकारो की उत्पत्ति इसी से होती है और (7) यह निरपेक्ष, असीमित और सर्वोच्च होती है।

राजनीतिक सम्प्रभुता—एक लोकतान्त्रिक देश मे वैधानिक सम्प्रभुता से भी अधिक महत्त्वपूर्ण एक और सम्प्रभुता होती है जिसके समक्ष वैधानिक सम्प्रभुता को

झुकना पड़ता है, उसे राजनीतिक सम्प्रभुता कहा जाता है। राजनीतिक सम्प्रभुता सभी प्रकार की शक्तियों का अन्तिम और सर्वोच्च स्रोत है। यह वह सत्ता है जो वैधानिक सम्प्रभु की शक्ति पर नियन्त्रण रखती है। डायसी के शब्दों में "जिस सम्प्रभु को वकील लोग मानते हैं, उसके पीछे एक दूसरा सम्प्रभु रहता है। इस सम्प्रभु के सामने वैधानिक सम्प्रभु को सिर झुकाना ही पड़ता है।"[1] उसने आगे लिखा है कि "वही शक्ति राजनीतिक सम्प्रभु है जिसकी इच्छा को अन्तिम रूप में राज्य के नागरिक मानते हैं।" गार्नर ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "वैधानिक सम्प्रभुता के पीछे एक दूसरी सत्ता भी है जो वैध रूप में अज्ञात एवं असंगठित है और जिसमें इतनी क्षमता नहीं होती कि वह राज्य की इच्छा को वैध आदेश के रूप में व्यक्त कर सके, परन्तु फिर भी जो ऐसी सत्ता है जिसके समक्ष वैधानिक सम्प्रभुता को नतमस्तक होना पड़ता है और अन्त में जिसकी इच्छा ही राज्य में चलती है, वह राजनीतिक सम्प्रभुता है।"

परन्तु वैधानिक सम्प्रभुता के समान राजनीतिक सम्प्रभुता न तो संगठित ही होती है और न इसे देखा ही जा सकता है। यह अस्पष्ट, अनिश्चित और असंगठित होती है। जिस देश में प्रत्यक्ष या शुद्ध लोकतन्त्र होता है, वहाँ वैधानिक और राजनीतिक सम्प्रभुता प्रायः एक ही हुआ करती है। परन्तु जहाँ अप्रत्यक्ष अथवा प्रतिनिधि लोकतन्त्र होता है, जैसा कि वर्तमान समय में अधिकांश देशों में पाया जाता है, वहाँ वैधानिक सम्प्रभुता और राजनीतिक सम्प्रभुता अलग अलग होती हैं। संकुचित अर्थ में तो निर्वाचक मण्डल ही राजनीतिक सम्प्रभु होता है क्योंकि वही वैधानिक प्रभु अर्थात् पार्लियामेण्ट का निर्वाचन करता है, परन्तु व्यापक अर्थ में इसके अन्तर्गत लोकमत, सामान्य इच्छा, निर्वाचक मण्डल आदि सभी आ जाते हैं जो निश्चित रूप से वैधानिक प्रभुसत्ता पर प्रभाव डालते हैं। गिलक्राइस्ट के शब्दों में, "राजनीतिक सम्प्रभुता एक राज्य के अन्तर्गत उन सभी प्रभावों का योग होता है जो कानूनी सम्प्रभु के पीछे निहित रहते हैं।"[2]

वस्तुतः वैधानिक सम्प्रभुता तथा राजनीतिक सम्प्रभुता दो भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। गिलक्राइस्ट के मतानुसार ये राज्य की सम्प्रभुता के दो विभिन्न पहलू हैं जो निरन्तर एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। अतः श्रेष्ठ शासन की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि इन दोनों के बीच अधिकाधिक सामंजस्य स्थापित हो।

1 "Behind the sovereign which the lawyer recognises there is another sovereign to whom the legal sovereign must bow. That body is politically sovereign, the will of which is ultimately obeyed by the citizens of the state." —Dicey

2 "Political sovereignty is the sum total of influences in a state which lie behind the law." —Gilchrist

(3) लोक सम्प्रभुता (Popular Sovereignty)—लोक सम्प्रभुता के सिद्धान्त के अनुसार प्रभुसत्ता अन्ततः जनता में निहित होती है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन मध्यकालीन युग में मारसीलियो तथा विलियम ऑफ ओकम आदि ने किया था। आधुनिक युग में इस सिद्धान्त के मुख्य प्रतिपादक रूसो थे। रूसो ने इसे अपने राजनीतिक दर्शन का आधारस्तम्भ बनाया। उस समय से आज तक यह सच्चे लोकतन्त्र का सार माना जाता है। ब्राइस के अनुसार, "लोक सम्प्रभुता लोकतन्त्र का आधार तथा आदर्श है।"[1] आधुनिक युग में लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था लोक सम्प्रभुता पर ही आधारित होती है। परन्तु लोक सम्प्रभुता की परिभाषा देना या व्याख्या करना सरल नहीं है क्योंकि इस सिद्धान्त के प्रतिपादक स्पष्ट रूप से यह नहीं बतलाते कि 'जनता' शब्द से उनका तात्पर्य क्या है ? एक अर्थ में जनता से तात्पर्य समस्त असंगठित तथा अनिश्चित जन समूह से भी हो सकता है तथा दूसरे अर्थ में जनता से प्रयोजन जनसंख्या के उस भाग से हो सकता है जिसे मताधिकार प्राप्त है।

पहले अर्थ में लोक सम्प्रभुता का प्रयोग करना सत्य के विपरीत होगा। गार्नर ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि 'असंगठित लोकमत चाहे जितना शक्तिशाली क्यों न हो, वह उस समय तक सम्प्रभु नहीं बन सकता जब तक उसे वैधानिक स्वरूप न दिया जाए और उसकी अभिव्यक्ति विधान द्वारा स्वीकृत रीति से न हो।" गार्नर ने दूसरे अर्थ का समर्थन किया है। उसने लिखा है कि "लोक सम्प्रभुता का तात्पर्य यही है कि जिन राज्यों में वयस्क मताधिकार प्रचलित हैं, उनमें निर्वाचक-मण्डल के बहुमत को अपनी इच्छा व्यक्त करने पर और उस पर अमल करवाने की सत्ता प्राप्त है जिसका वह वैध प्रणाली द्वारा प्रयोग करता है।"[2] कुछ लेखकों के अनुसार, "वर्तमान लोकतन्त्रीय युग में राजनीतिक सम्प्रभुता और लोकप्रिय सम्प्रभुता का भेद लगभग समाप्त हो गया है। किन्तु गिलक्राइस्ट इन दोनों के बीच के अन्तर पर बहुत जोर देते हैं। उनके अनुसार, "लोक सम्प्रभुता का तात्पर्य शासन पर जनता के नियन्त्रण से है।"[3]

(4) वैध और वास्तविक सम्प्रभुता (De jure and De facto Sovereignty)—सम्प्रभुता के दो भेद और किये जाते हैं—वैध सम्प्रभुता व वास्तविक

---

1 "Political sovereignty is the basis and watchword of democracy." —Bryce

2 "The sovereignty of the people, therefore, can mean nothing more than the power of the majority of electorate, in a country where a system of approximate universal sufferage prevails, acting through legally established channels, to express their will and make it prevail." —Garner

3 "Popular control better indicates the idea underlying popular sovereignty." —Gilchrist

सम्प्रभुता। वैध सम्प्रभुता का आधार कानून है। वैध सम्प्रभुता नियम या कानून द्वारा स्वीकृत होती है तथा कानून उसे यह अधिकार देता है कि वह जनता से अपनी आज्ञाओं को मनवाये। इसके विपरीत वास्तविक सम्प्रभुता का आधार किसी व्यक्ति या व्यक्ति समूह का शारीरिक बल होना है। वैध सम्प्रभु जब राज्य में क्रान्ति, विद्रोह या बलपूर्वक परिवर्तन के फलस्वरूप स्थान च्युत हो जाता है, तब उस समय जो सम्प्रभु बनता है, वह वैध नहीं अपितु वास्तविक सम्प्रभु होता है। यह आवश्यक नहीं कि वास्तविक सम्प्रभु वैध सम्प्रभु भी हो। इस तरह वास्तविक सम्प्रभु उसे कहते हैं जो जनता को आदेश देकर उनमें पालन कराने की क्षमता रखता है। लार्ड ब्राइस ने वास्तविक सम्प्रभु के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "वास्तविक सम्प्रभु वह है जिसकी आज्ञाओं और आदेशों का वास्तव में पालन होता है, चाहे उसकी प्रभुसत्ता का आधार वैधानिक हो या न हो।"

सामान्यत वैध सम्प्रभु और वास्तविक सम्प्रभु अलग-अलग नहीं होते किन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में ये दोनों अलग-अलग हो जाते हैं। जब कोई व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह क्रान्ति या शक्ति के द्वारा शासन सत्ता को बदल कर उस पर अपना अधिकार कर लेता है तो ऐसी स्थिति में उसकी सरकार तो वास्तविक सम्प्रभु बन जाती है क्योंकि वह शक्ति के द्वारा जनता से अपनी आज्ञाओं का पालन करवाती है और पुरानी सरकार वैध सम्प्रभु मानी जाती है। यह भेद तब तक रहता है जब तक *उस राज्य की जनता इस नयी सरकार को स्वीकार न करने तथा उसे अन्तर्राष्ट्रीय* मान्यता न मिल जाए। जनता द्वारा स्वीकार कर लिए जाने पर तथा अन्तर्राष्ट्रीय *मान्यता मिल जाने पर वास्तविक सम्प्रभु वैध सम्प्रभु भी बन जाता है।*

वैध और वास्तविक सम्प्रभु के अन्तर को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। जब माओ त्से-तुंग के नेतृत्व में साम्यवादियों ने चीन के शासन पर बलपूर्वक अपना अधिकार कर लिया तथा चीन के तत्कालीन शासक च्यांग-काई शेक को चीन से भागना पड़ा, उस समय यह कहा जा सकता है कि चीन के दो सम्प्रभु थे—च्यांग काई शेक की सरकार उसकी वैध सम्प्रभु थी तथा माओ त्से-तुंग की सरकार वहाँ की वास्तविक सम्प्रभु थी। जब साम्यवादी सरकार को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता मिल गई, तब वह चीन की वैध और वास्तविक सम्प्रभु दोनों बन गई। वस्तुत किसी भी देश में वैध सम्प्रभु और वास्तविक सम्प्रभु अधिक दिनों तक एक-दूसरे से पृथक नहीं रह सकते।

सम्प्रभुता का वास्तविक निवास
(Location of Sovereignty)

सम्प्रभुता के वास्तविक निवास को ज्ञात करना एक कठिन समस्या है। सम्प्रभुता राज्य में कहाँ निवास करती है, इस सम्बन्ध में विभिन्न विचारकों ने विभिन्न मत प्रकट किये हैं। ये विचार निम्नलिखित हैं

(1) राज्य की जनता में निहित—सिसरो, मार्सलीयो, रूसो, जेफरसन

आदि जैसे लोकतन्त्रवादी विचारकों का मत है कि सम्प्रभुता जनता मे निहित होती है। वर्तमान समय मे यह विचार अत्यन्त लोकप्रिय है परन्तु जनता को सम्प्रभु मानने मे दो कठिनाइयाँ हैं प्रथम तो जनता असगठित होती है जबकि सम्प्रभुता सगठित होती है। द्वितीय, यदि केवल निर्वाचक मण्डल को ही सम्प्रभु माना जाए तो वह तो सम्पूर्ण जनता का केवल एक भाग होता है। इसके अतिरिक्त उसे राजनीतिक सम्प्रभु ही माना जा सकता है, वैधानिक सम्प्रभु नही।

(2) **संविधान बनाने तथा उसमे संशोधन करने वाली शक्ति मे निहित**—मध्ययुग के कुछ प्रतिभा सम्पन्न विधिवेत्ताओ ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि सम्प्रभुता सविधान बनाने और उसम सशोधन कर सकने वाली सस्था मे निहित होती है। परन्तु इस विचार को स्वीकार करने मे भी कुछ कठिनाइयाँ है, जो इस प्रकार हैं प्रथम, तो सविधान का निर्माण करने तथा उसमे सशोधन करने वाली सस्थाओ का अधिवेशन निरन्तर नही होता रहता। इस कारण ये सस्थाएँ प्राय. अस्थाई एव अकर्मण्य रहती हैं। राज्य की सम्प्रभुता का निवास इन सस्थाओ मे नही माना जा सकता क्योकि सम्प्रभुता सदैव स्थायी एव क्रियाशील रहती है। द्वितीय, सम्प्रभुता को निरपेक्ष एव असमर्यादित माना जाता है, जबकि इन सस्थाओ की शक्ति मर्यादित एव निश्चित होती है क्योकि उनकी शक्ति केवल सविधान का निर्माण करने एव उसमे सशोधन करने तक ही सीमित रहती है।

(3) **सम्प्रभुता विधानमण्डल मे निहित**—कुछ विचारको के अनुसार सम्प्रभुता विधानमण्डल मे निहित रहती है क्योकि उसके द्वारा निर्मित कानूनो के अनुसार ही कार्यपालिका शासन चलाती है तथा न्यायपालिका न्याय का कार्य करती है। परन्तु इस विचार को स्वीकार करने मे भी कई आपत्तियाँ है, जो इस प्रकार हैं प्रथम तो, विधानमण्डल की शक्तियाँ असीमित एव असमर्यादित नही होती, जबकि सम्प्रभुता असीमित एव असमर्यादित होती है। विधानमण्डल की कानून निर्माण की शक्तियो पर व्यवहार मे सविधान, जनमत, रीति रिवाज, धार्मिक मान्यताओ आदि का बन्धन होता है। द्वितीय, सघात्मक राज्यो मे कानून-निर्माण की शक्ति केन्द्र तथा राज्यो के विधानमण्डलो मे विभक्त रहती है तथा दोनो के ऊपर न्यायपालिका का नियन्त्रण रहता है।

(4) **सम्प्रभुता विधि निर्माण करने वाली सस्थाओं के योग मे निहित**—गैटल, वुडरो विलसन तथा कुछ अन्य विचारको ने इस बात का प्रतिपादन किया है कि सम्प्रभुता विधि निर्माण करने वाली समस्त सस्थाओ के योग मे निहित रहती है। गैटल के अनुसार, इनमे ये सस्थायें शामिल हैं विधानमण्डल, न्यायालय, कार्यपालिका [redacted] अधिकारी, सवैधानिक सम्मेलन और निर्वाचक मण्डल।

गैटल के इस सिद्धान्त मे उपरोक्त सभी सिद्धान्तो की विशेषताओ का समावेश मिलता है। *प्रथम तो, इस सिद्धान्त द्वारा कानूनी सम्प्रभुता के निवास की समस्या का यथेष्ट समाधान हो जाता है। द्वितीय इसमे लोकप्रिय सम्प्रभुता के सिद्धान्त के*

समान यह स्वीकार किया गया है कि आधुनिक लोकतन्त्रीय राज्यों में सम्प्रभुता की शक्तियाँ राज्य के नागरिकों में बंटी हुई हैं और उनके द्वारा उन शक्तियों का उपयोग होती है। तृतीय, संविधान-निर्माण सिद्धान्त के समान यह सिद्धान्त यह प्रतिपादित करता है कि सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार एक कानूनी धारणा है और इसका प्रयोग केवल कानूनी ढंग से तथा कानूनी प्रणाली से ही किया जा सकता है। चतुर्थ, यह सिद्धान्त राज्य तथा सरकार की भिन्नता को स्वीकार करते हुए यह प्रतिपादित करता है कि सम्प्रभुता राज्य में निवास करती है और उसकी अभिव्यक्ति तथा वास्तविक प्रयोग सरकार द्वारा होता है जिसमें उपर्युक्त समस्त संस्थाएँ सम्मिलित होती हैं। अतः सम्प्रभुता के निवास के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त अधिक उपयुक्त है।

ऑस्टिन का सम्प्रभुता-सम्बन्धी सिद्धान्त
(Austin's Theory of Sovereignty)

सिद्धान्त की व्याख्या—सम्प्रभुता की कानूनी दृष्टिकोण से व्याख्या करने वालों में इंगलैण्ड के प्रसिद्ध विधिवेत्ता जॉन ऑस्टिन (1790-1859) का नाम सबसे प्रमुख है। सत्य तो यह है कि सम्प्रभुता की सबसे जोरदार व्याख्या ऑस्टिन ने ही की है। उसकी व्याख्या में वैज्ञानिक स्पष्टता तथा पूर्णता है। उसने सम्प्रभुता-सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'न्यायशास्त्र पर व्याख्यान' (Lectures on Jurisprudence) में किया है जो सन् 1832 में प्रकाशित हुई थी। ऑस्टिन को मुख्य रूप से हॉब्स तथा बेन्थम के विचारों से प्रेरणा मिली। बेन्थम के समान ऑस्टिन का उद्देश्य भी कानून और परम्पराओं के बीच स्पष्ट अन्तर करना तथा परम्पराओं पर कानून की श्रेष्ठता सिद्ध करना था। कानून की प्रकृति के सम्बन्ध में ऑस्टिन के जो विचार थे, उनके आधार पर उसने सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उसके अनुसार 'उच्चतर द्वारा निम्नतर को दिया गया आदेश ही कानून है।'[1] इस आधार पर उसने सम्प्रभुता के सम्बन्ध में लिखा है कि "यदि कोई निश्चित उच्चसत्ताधारी व्यक्ति, जो अपने समान किसी अन्य उच्चसत्ताधारी व्यक्ति की आज्ञा-पालन करने का अभ्यस्त नहीं हो तथा समाज का अधिकांश भाग जिसकी आज्ञा का पालन स्वभावतः करता हो, तो वह उच्चसत्ताधारी व्यक्ति उस समाज में सम्प्रभु होता है तथा वह समाज उस उच्चसत्ताधारी व्यक्ति सहित एक राजनीतिक एवं स्वतन्त्र समाज होता है।'[2]

---

1 "Law is the command of the superiors to the inferiors" —Austin

2 "If a determinate human superior, not in the habit of obedience to a like superior, receives habitual obedience from the bulk of a given society, that determinate superior is the sovereign in that society and the society including the sovereign is a society political and independent." —John Austin

ऑस्टिन की सम्प्रभुता-सम्बन्धी परिभाषा के विश्लेषण से उसकी निम्नलिखित विशेषताएं स्पष्ट होती हैं

(1) प्रत्येक राजनीतिक समाज अथवा राज्य में सम्प्रभु का होना अनिवार्य है। इसके बिना कोई समाज स्वतन्त्र तथा राजनीतिक समाज बन ही नहीं सकता।

(2) सम्प्रभु एक निश्चित मानव श्रेष्ठ होता है। यह मानव श्रेष्ठ एक व्यक्ति भी हो सकता है अथवा एक व्यक्ति समूह भी हो सकता है परन्तु यह आवश्यक रूप से निश्चित होना चाहिए जिसे सब लोग स्पष्ट रूप से देख सकें। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि सम्प्रभुता सामान्य इच्छा समस्त जनता, निर्वाचक मण्डल, नैतिक भावना, लोकमत सामान्य बुद्धि, ईश्वर की इच्छा आदि जैसी काल्पनिक तथा अनिश्चित वस्तुओं में निहित नहीं होती बल्कि यह तो एक निश्चित मानव श्रेष्ठ में ही निहित होती है।

(3) इस निश्चित मानव श्रेष्ठ अथवा सम्प्रभु की शक्तियाँ सर्वोच्च, अनियन्त्रित, असीमित एवं अमर्यादित होती हैं। सम्प्रभु किसी अन्य उच्च सत्ताधारी की आज्ञा पालन नहीं करता।

(4) समाज का बहुसंख्यक भाग इस निश्चित मानव श्रेष्ठ अथवा सम्प्रभु की आज्ञा का पालन यदा-कदा नहीं अपितु स्थायी रूप से करता हो तथा आज्ञा-पालन उसका स्वभाव हो। ऑस्टिन के अनुसार सम्प्रभु के प्रति आज्ञाकारिता स्थिर तथा निरन्तर होनी चाहिए।

(5) सम्प्रभु का आदेश ही कानून होता है। जो उसके आदेशों की अवहेलना करता है, वह दण्ड का भागी होता है।

(6) सम्प्रभुता अविभाज्य अथवा अखण्डित होती है। वह एक इकाई होती है जिसे खण्डित नहीं किया जा सकता। उसे व्यक्तियों तथा समुदायों में विभाजित भी नहीं किया जा सकता। सम्प्रभुता के विभाजन का अर्थ सम्प्रभुता का विनाश है।

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि ऑस्टिन के अनुसार सम्प्रभुता निश्चयात्मक, स्वेच्छाचारी, असीमित, अविभाज्य अविच्छेद्य, सर्वव्यापक एवं स्थायी होती है।

ऑस्टिन के सिद्धान्त की आलोचना—ऑस्टिन के सम्प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त की अनेक विद्वानों ने कटु आलोचना की है। आलोचना करने वालों में सर हेनरी मेन, क्लार्क, सिजविक, लोवॉक, ब्राइस, लॉर्ड ब्लुश्ली तथा लास्की आदि के नाम अधिक उल्लेखनीय हैं। ऑस्टिन के सिद्धान्त की आलोचना निम्नलिखित आधारों पर की गई है

(1) **निश्चित मानव श्रेष्ठ की धारणा तथ्यहीन**—ऑस्टिन के अनुसार सम्प्रभुता एक निश्चित मानव श्रेष्ठ में निवास करती है। सर हेनरी मेन ने उसके इस विचार की कड़ी आलोचना करते हुए अपनी पुस्तक *Early Institutions* में

लिखा है कि 'ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सम्प्रभुता कभी भी निश्चयात्मक नहीं रही।' उन्होंने लिखा है कि पूर्व के अनेक साम्राज्यों में ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं जिसे ऑस्टिन का निश्चित मानव श्रेष्ठ कहा जा सके। मेन ने इस सम्बन्ध में पंजाब के निरंकुश राजा रणजीतसिंह का उदाहरण देते हुए लिखा है कि 'रणजीतसिंह अपनी प्रजा पर निरंकुश अधिकार रखता [redacted]। वह कुछ भी आदेश दे सकता था। उसके आदेशों की थोड़ी भी अवज्ञा करने का दण्ड फाँसी अथवा अंग भंग हो सकता था। फिर भी उसने अपने जीवन काल में एक बार भी ऐसा कोई आदेश जारी नहीं किया जिसे ऑस्टिन के शब्दों में कानून कहा जा सके। प्रजा के जीवन को नियमित करने वाले नियम चिरकालीन रीति रिवाजों से ग्रहण किये जाते थे।" उनके कहने का तात्पर्य यह है कि रणजीतसिंह जैसा निरंकुश शासक भी धार्मिक आज्ञाओं स्थापित रीति-रिवाजों तथा समाज की परम्पराओं के विपरीत आदेश जारी नहीं कर सकता था। हेनरी मेन का यह कहना है कि यह केवल प्राचीन समाज से ही सम्बन्धित नहीं है अपितु आधुनिक सभ्य समाज में भी कोई सम्प्रभु भले ही वह कितना ही निरंकुश क्यों न हो, समाज के सम्पूर्ण इतिहास की उपेक्षा नहीं कर सकता। अतः राज्य के अस्तित्व के लिए निश्चित मानव-श्रेष्ठ अथवा सम्प्रभु का होना आवश्यक नहीं। जान चिपमैन ग्रे का यह कथन सही है कि "समाज के वास्तविक शासकों की खोज नहीं की जा सकती है।"

(2) लोकतन्त्र की भावना के प्रतिकूल—यह सिद्धान्त इस बात का प्रतिपादन करता है कि सम्प्रभु कोई निश्चित व्यक्ति होता है तथा उसमें ही सम्प्रभुता निहित होती है। सम्प्रभुता की यह धारणा आधुनिक लोकतन्त्र की इस भावना के प्रतिकूल है कि सम्प्रभुता अन्ततः जनता में निहित होती है तथा जनता की सामान्य इच्छा ही राज्य में सर्वोपरि होती है। फिर यदि हम ऑस्टिन की कानूनी सम्प्रभुता के विचार को स्वीकार करलें तो इसका परिणाम यह होगा कि हमें लोक सम्प्रभुता तथा राजनीतिक सम्प्रभुता की धारणाओं को अस्वीकृत करना होगा। गार्नर ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "यह सिद्धान्त आधुनिक लोक सम्प्रभुता की भावना के प्रतिकूल है। यह रूसो के उस सिद्धान्त के सर्वथा प्रतिकूल है जिसमें जनता की सामान्य इच्छा ही सम्प्रभु होती है तथा जो आधुनिक लोकतन्त्र राज्य का आधार है।"

(3) कानून सम्प्रभु का आदेश मात्र नहीं—ऑस्टिन ने कानून को एक निश्चित श्रेष्ठतम व्यक्ति द्वारा दिया गया आदेश माना है। उसका यह विचार त्रुटिपूर्ण है। वस्तुतः सम्प्रभु ही कानून का एकमात्र स्रोत नहीं होता अपितु इसके अन्य अनेक स्रोत भी होते हैं। प्रसिद्ध भारतीय विद्वान कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' में लिखा है कि 'सत्य पर आधारित धर्म, न्याय या औचित्य, पारस्परिक व्यवहार की शर्त, परम्परागत नियम तथा प्रथाएँ और राजा के आदेश कानून के स्रोत होते हैं।"

ऑस्टिन ने इन तत्वों में से केवल एक तत्व (राजा या सम्प्रभु का आदेश) को ही स्वीकार किया तथा अन्य तत्वों की उपेक्षा की है।

आधुनिक विचारधारा के अनुसार तो केवल वे ही कानून मान्य होते हैं जिनका आधार परम्परागत न्याय तथा औचित्य हो। यही कारण है कि आधुनिक विचारधारा के अनुसार परम्परागत प्रथाओं, न्याय सम्बन्धी निर्णयों, संवैधानिक टीकाओं तथा औचित्य पर आधारित राजकीय व्यवस्थापन को कानून का स्रोत माना जाता है। कोई भी शासक चाहे वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, ऐसे किसी कानून का निर्माण करने का साहस नहीं कर सकता जिससे देश में स्थापित परम्पराएँ भंग होती हों। मैकाइवर ने ठीक ही कहा है कि "राज्य को परम्परा बनाने की प्रायः बिल्कुल शक्ति नहीं है और शायद उससे भी कम उसे नष्ट करने की शक्ति है।" अतः इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ऑस्टिन का सम्प्रभु कानूनों का एकमात्र निर्माता नहीं है। ड्यूगी ने तो यहाँ तक कहा है कि 'राज्य कानूनों का निर्माण नहीं करता बल्कि कानून ही राज्य की स्थापना करते हैं। कानून तो सामाजिक आवश्यकता की अभिव्यक्ति मात्र है।'

(4) शक्ति पर अत्यधिक जोर—ऑस्टिन ने अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन में शक्ति के तत्व पर अत्यधिक जोर दिया है। इस सिद्धान्त में यह माना गया है कि उच्चसत्ताधारी व्यक्ति अथवा सम्प्रभु शक्ति के आधार पर ही अपने आदेशों का पालन कराने की स्थिति में होता है। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि जनता का बहुसंख्यक भाग कानून के रूप में राज्य के आदेशों का पालन शक्ति के भय के कारण नहीं करता अपितु इसलिए करता है कि कानून जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति है और कानूनों के पालन में उसका स्वयं का कल्याण निहित होता है। अतः ऑस्टिन के सिद्धान्त में 'हवलदारी की गन्ध' आती है।

(5) सम्प्रभुता अविभाज्य न होकर विभाज्य—ऑस्टिन सम्प्रभुता को अविभाज्य मानता है जबकि बहुत से विचारक सम्प्रभुता को विभाज्य मानते हैं। सम्प्रभुता संघात्मक राज्य में तो विभाजित होती ही है परन्तु ब्राइस जैसे विचारक एकात्मक राज्य में भी सम्प्रभुता को विभाजित मानते हैं। उसके अनुसार, 'इंग्लैण्ड में एक सम्प्रभु व्यवस्थापिका है, एक सम्प्रभु कार्यपालिका है तथा एक सम्पूर्ण न्यायपालिका है।" एकात्मक राज्य में सम्प्रभुता विभाजित होती है अथवा नहीं होती, यह विवाद का प्रश्न हो सकता है परन्तु संघात्मक राज्यों में तो सम्प्रभुता निश्चित रूप से केन्द्र तथा राज्यों में विभाजित होती है। जो विचारक संघ राज्यों में भी सम्प्रभुता को अविभाज्य मानते हैं वे यह तर्क देते हैं कि संघ राज्य में सम्प्रभुता संविधान में संशोधन करने वाली संस्था में निहित रहती है। परन्तु इस विचार को स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि संविधान में संशोधन करने वाली संस्था के अधिवेशन निरन्तर नहीं होते। यह संस्था तो प्रायः अकर्मण्य तथा सुप्तावस्था में रहती है।

जबकि सम्प्रभुता का मुख्य लक्षण उसकी निरन्तरता तथा क्रियाशीलता है। अतः ऑस्टिन का सिद्धान्त संघ-राज्यों पर लागू नहीं होता है।

(6) सम्प्रभुता असीमित न होकर सीमित—ऑस्टिन सम्प्रभुता को निरकुश तथा असीमित बतलाता है परन्तु बहुलवादी विचारकों तथा अन्य अनेक विचारकों ने इस धारणा की कड़ी आलोचना की है। वे सम्प्रभुता को मर्यादित एवं सीमित मानते हैं। ब्लुंशली का कथन है कि "राज्य अपने समग्र रूप में सर्वशक्तिमान नहीं हो सकता क्योंकि बाहरी मामलों में वह अन्य राज्यों के अधिकारों से और आन्तरिक मामलों में वह स्वयं अपनी प्रकृति तथा व्यक्तिगत सदस्यों के अधिकारों से सीमित है।"[1] आलोचकों के अनुसार ऐसे तत्त्वों में जो सम्प्रभुता की निरकुशता पर रोक लगाते हैं, नैतिक नियम, धार्मिक नियम, रीति-रिवाज, परम्पराएँ, अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा विभिन्न समुदाय आदि शामिल हैं। बहुलवादी विचारकों के अनुसार सम्प्रभुता राज्य तथा अन्य समुदायों में विभाजित रहती है। राज्य सर्वशक्तिमान सम्प्रभु नहीं है। लास्की अन्तर्राष्ट्रीयता तथा मानवता के हित में सम्प्रभुता को सीमित रखने के पक्ष में थे। उनके अनुसार "निश्चित रूप से एक ऐसे स्वतन्त्र और सर्वशक्तिशाली राज्य की धारणा मानवता के हितों से मेल नहीं खाती जो अपने सदस्यों से सरकार के प्रति पूर्ण भक्ति की माँग करता है और जो अपनी शक्ति से लोगों को निष्ठावान बनाता है।"[2] जेम्स स्टीफेन के शब्दों में, "प्रकृति में निरकुश सम्प्रभु जैसी कोई चीज नहीं है।"

(7) मानव-कल्याण के लिए घातक—अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में निरकुश एवं सर्वोच्च सम्प्रभु की धारणा निश्चित रूप से मानव कल्याण के लिए घातक है। इसलिए विचारकों का मत है कि इसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के साहित्य में से निकाल देना चाहिए। वस्तुतः वर्तमान समय में भोजन, स्वास्थ्य, शिक्षा, जनसंख्या, शान्ति एवं व्यवस्था आदि से सम्बन्धित समस्याएँ स्थानीय न रहकर अन्तर्राष्ट्रीय हो गई हैं। अतः सम्पूर्ण मानवता के कल्याण से सम्बन्धित समस्याओं को किसी एक राज्य की इच्छा पर नहीं छोड़ा जा सकता अपितु इन्हें सभी के पारस्परिक सहयोग के द्वारा ही सुलझाया जा सकता है। लास्की ने ठीक ही लिखा है कि "अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से एक स्वतन्त्र एवं प्रभुत्वसम्पन्न राज्य की धारणा मानवता के कल्याण के लिए घातक है।"

1 "The State as a whole is not almighty, for it is limited externally by the rights of other states and internally by its own nature and by the rights of its individual members" —Bluntschli

2 "Surely, the concept of an absolute and independent sovereign state, which demands an unqualified allegiance to government from its members and enforces the allegiance by power at its command, is incompatible with the interests of hummanity" —Laski

निष्कर्ष जैसा कि हम देखते हैं कि ऑस्टिन के सम्प्रभुता सिद्धान्त की कड़ी आलोचना की गई है। हेनरी मेन ने तो यहाँ तक कह दिया है कि "ऐसी प्रभुसत्ता का उदाहरण केवल ऐसा निरंकुश शासक हो सकता है जिसके मस्तिष्क में कुछ खराबी आ गई हो।" परन्तु वास्तविकता तो यह है कि ऑस्टिन के सिद्धान्त की बहुत सी आलोचनाएं गलत आशंकाओं और धारणाओं के कारण की गई हैं। ऑस्टिन ने वैधानिक दृष्टिकोण के आधार पर सम्प्रभुता के सिद्धान्त की व्याख्या की है और वैधानिक दृष्टिकोण से उसका यह सिद्धान्त निश्चित रूप से सही, स्पष्ट और तर्क-संगत है। गार्नर ने ठीक ही लिखा है कि "सम्प्रभुता की वैधानिक प्रकृति की जैसी धारणा ऑस्टिन ने सामने रखी है, वह स्पष्ट तथा तर्कसंगत है और उसकी आलोचना मुख्य रूप से गलतफहमी के कारण हुई है।"

बहुलवाद
(Pluralism)

सिद्धान्त की व्याख्या—राज्य की सम्प्रभुता के जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन हीगल तथा ऑस्टिन ने किया है, उसे सम्प्रभुता का एकत्ववादी अथवा अद्वैतवादी सिद्धान्त (Monistic View of Sovereignty) कहा जाता है। यह सिद्धान्त राज्य को निरकुंश असीमित सर्वोच्च, अविच्छेद्य और अविभाज्य प्रभुसत्ता से सम्पन्न मानता है। वह यह भी मानता है कि सम्प्रभु समस्त राजनीतिक अथवा समस्त वैधानिक सत्ता का मूल स्रोत होता है तथा मानव जीवन के समस्त पहलुओं का नियमन और नियन्त्रण राज्य के द्वारा ही किया जाता है। इस अद्वैतवादी सिद्धान्त के अनुसार राज्य की सीमा के अन्तर्गत समस्त समुदाय अपनी उत्पत्ति तथा अपने अस्तित्व के लिए राज्य पर निर्भर हैं और वे राज्य द्वारा प्रदत्त शक्तियों का ही प्रयोग करते हैं। इस तरह सभी व्यक्ति तथा समुदाय एक निश्चित क्षेत्र में पूरी तरह राज्य के अधीन होते हैं।

सम्प्रभुता की इस अद्वैतवादी धारणा के विरुद्ध जिस विचारधारा का उदय हुआ, उसे बहुलवाद कहा जाता है। बहुलवादी विचारधारा राज्य की सम्प्रभुता को सर्वोच्च, निरंकुश तथा अविभाज्य नहीं मानती। उसके अनुसार सम्प्रभुता केवल राज्य में ही निहित नहीं रहती अपितु राज्य सहित समाज के विभिन्न समुदायों में विभाजित रहती है। राज्य में समुदायों का अस्तित्व सम्प्रभुता को सीमित कर देता है। ह्सियो ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि 'बहुलवादी राज्य एक ऐसा राज्य है जिसमें सत्ता का केवल एक ही स्रोत नहीं होता है यह विभिन्न क्षेत्रों में विभाजित रहती है तथा इसे विभाजित किया जाना ही चाहिए।'[1] संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि बहुलवाद

1 "The pluralistic state is simply a state in which there exists no single source of authority, it is divisible into parts and should be divided."—Hsiao : *Political Pluralism*, p 1

राज्य के स्वरूप का कायाकल्प करना चाहता है और राज्य को उसके उच्च आसन से हटाकर अन्य समुदायों के समान स्तर तक पहुँचाना चाहता है।

अनेक बहुलवादी विचारकों ने सम्प्रभुता के अद्वैतवादी सिद्धान्त को हानिकारक तथा निरर्थक बतलाया है। कुछ प्रमुख बहुलवादी विचारकों के विचार निम्नलिखित हैं :

प्रो० लिण्डसे के शब्दों में, 'यदि हम तथ्यों पर दृष्टि डालें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य का सिद्धान्त खण्डित हो चुका है।"[1]

प्रो० बार्कर ने लिखा है कि "कोई भी राजनीतिक सिद्धान्त इतना निस्सार और निष्फल नहीं हुआ है जितना कि प्रभुत्व सम्पन्न राज्य का सिद्धान्त हुआ है।"[2]

प्रो० क्रैब का मत है कि "संसार के सभ्य राष्ट्र सम्प्रभुता के सिद्धान्त को अब स्वीकार नहीं करते और इस सिद्धान्त को राजनीतिक दर्शन से निकाल देना चाहिए।"[3]

प्रो० डिग्वी (Duguit) का कथन है कि 'सम्प्रभुता की भावना कल्पना मात्र है जिसमें न तो कोई वास्तविकता है और न जिसका कोई मूल्य ही है। राज्य-प्रभुत्व या तो मर चुका है या मृत्यु शैया पर पड़ा है।'

प्रो० लास्की के शब्दों में, "यदि सम्प्रभुता की सम्पूर्ण धारणा का परित्याग कर दिया जाए तो यह राजनीति विज्ञान के लिए एक स्थायी लाभ की बात होगी।"[4]

बहुलवाद का विकास—19वीं शताब्दी के मध्य तक संसार के प्रायः अधिकांश राज्यों में हीगल और ऑस्टिन के विचारों से प्रभावित होकर निरंकुश प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया था। 19वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में राज्य की निरंकुश प्रभुसत्ता के विरुद्ध एक दूसरी विचारधारा का उदय हुआ जिसने सम्प्रभुता की एकलवादी विचारधारा पर कड़ा प्रहार किया। इस विचारधारा को बहुलवादी विचारधारा कहते हैं। बहुलवादी विचारधारा के विकास में निम्नलिखित तत्वों ने योग दिया है

(1) बहुलवाद राज्य की हीगलवादी तथा ऑस्टिनवादी धारणा के विरुद्ध

---

1 "If we look at the facts, it is clear enough that the theory of sovereign State has been broken down" —A. D. Lindsay

2 "No political common place has become more arid and unfruitful than the doctrine of the sovereign state" —*Ernest Barker*

3 "The notion of sovereignty must be expunged from political theory" —Krabbe

4 "It would be of lasting benefit to political science if the whole concept of *sovereignty is surrendered*." —*Laski*

प्रतिक्रिया का परिणाम है। हीगल ने राज्य को पृथ्वी पर ईश्वर का रूप बताया तथा ऑस्टिन ने राज्य को कानूनी निरकुशता प्रदान की। दोनों ही राज्य की निरकुश, सर्वोच्च तथा असीमित प्रभुसत्ता के समर्थक थे। राज्य की निरकुशता तथा सर्वोपरिता की प्रतिक्रिया के स्वरूप बहुलवाद का उदय हुआ। बहुलवाद राज्य को अन्य समुदायों के समान एक समुदाय मानता है और सम्प्रभुता को राज्य सहित सभी समुदायों में विभाजित मानता है।

(2) आधुनिक लोकतन्त्र की असफलता तथा लोकतन्त्रवादी सगठनों की स्वाभाविक कमजोरी के फलस्वरूप भी बहुलवादी विचारधारा के विकास को बल मिला। वर्तमान प्रतिनिधि-लोकतन्त्र का आधार प्रादेशिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली है। इस प्रणाली में सबसे बड़ा दोष यह है कि इससे विभिन्न वर्गों को प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाता है। अत इसके विरुद्ध बहुलवादी विचारकों ने, विशेषकर कोल (G D H Cole) ने व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की माँग की।

(3) वर्तमान राज्यों की अकुशलता भी बहुलवाद के विकास का कारण रही है। वर्तमान समय में राज्य के कार्य क्षेत्र में बहुत वृद्धि हो गई है। अत्यधिक कार्य भार से दबे रहने के कारण राज्य अपने कार्यों को ठीक प्रकार से नहीं कर पाता। फलस्वरूप राज्य की कार्यकुशलता या क्षमता में कमी आ गई है। वार्ड ने कहा है कि "केन्द्र में आवश्यकता से अधिक रक्त है और सुदूरवर्ती क्षेत्र रक्तहीनता से पीड़ित है।"[1] मैकाइवर का भी कहना है कि "सर्वसामर्थ्य का तात्पर्य अक्षमता और असामर्थ्य है।" अत राज्य की कार्य कुशलता को बढ़ाने की दृष्टि से बहुलवादी राज्य सत्ता के विकेन्द्रीकरण का समर्थन करते है।

(4) मध्यकालीन सघवादी व्यवस्था ने भी बहुलवाद के उदय में महत्वपूर्ण योग दिया है। मध्ययुग में श्रेणी व्यवस्था प्रचलित थी। उस समय व्यापारियों तथा शिल्पियों के सघ (Guild) बने होते थे और इन सघो को अपना प्रबन्ध स्वय करने के व्यापक अधिकार प्राप्त थे। राज्य इन सघो के अधिकार क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करता था। यही स्थिति धर्म सघ अर्थात् चर्च की थी। धर्म सघ का अस्तित्व भी राज्य की कृपा पर निर्भर नहीं था। इससे प्रेरित होकर जर्मन विचारक गियर्क तथा ब्रिटिश लेखक मेटलैण्ड तथा फिगिस ने सामाजिक हित में मध्यकालीन सघवादी व्यवस्था को फिर से ग्रहण करने पर बल दिया।

(5) अन्तर्राष्ट्रवाद की भावना के विकास ने भी बहुलवादी विचारधारा के उदय में बहुत सहायता दी है। जिस प्रकार राष्ट्रीयता की भावना ने राष्ट्रीय राज्यों तथा निरकुश प्रभुसत्ता की स्थापना में योग दिया, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना ने राज्यों की प्रभुसत्ता को सीमित करने तथा प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य की धारणा

1 "There is apoplexy at the centre and anaemia at the extremities" —Ward

को समाप्त करने में योग दिया है। लास्की जैसे बहुलवादी विचारकों का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीयता तथा मानवता के हित में राज्य की सम्प्रभुता को सीमित किया जाना आवश्यक है।

(6) आधुनिक युग में कुछ नवीन विचारधाराओं के जन्म ने भी बहुलवाद के विकास में योग दिया है। व्यक्तिवादी विचारधारा ने राज्य की निरंकुश प्रभुसत्ता का खण्डन करते हुए उसको सीमित करने पर जोर दिया। अराजकतावाद, श्रम-संघवाद तथा साम्यवाद जैसी विचारधाराओं ने राज्य को अनावश्यक एवं अनुपयोगी माना है। उनके अनुसार राज्य अपनी प्रभुसत्ता के कारण एक शोषणकारी संस्था बना हुआ है। अतः राज्य और उसकी निरंकुश प्रभुसत्ता का जितनी जल्दी अन्त हो जाए समाज के लिए उतना ही अधिक हितकर होगा इन विचारधाराओं ने बहुलवाद के उदय के लिए मार्ग प्रशस्त किया है।

बहुलवादियों द्वारा राज्य की सम्प्रभुता की आलोचना

अनेक बहुलवादी विचारकों ने राज्य की सम्प्रभुता के एकलवादी अथवा परम्परागत सिद्धान्तों की तीव्र आलोचना की है। इन विचारकों में गियर्क, मेटलैण्ड, फिगिस, पॉल बकर, लिण्डसे, डिग्वी, क्रेब, एमिल दुर्खीम, अर्नेस्ट बार्कर, मिस फॉलेट, जी० डी० एच० कोल तथा हेरॉल्ड लास्की के नाम अधिक उल्लेखनीय हैं। इन विचारकों के द्वारा सम्प्रभुता के परम्परागत सिद्धान्त की आलोचना निम्नलिखित आधारों पर की गई है

(1) समाज की संरचना के आधार पर—सभी बहुलवादी विचारक समाज की संरचना को संघात्मक मानते हैं। इन विचारकों के अनुसार व्यक्ति का व्यक्तित्व बहुमुखी होता है तथा उसकी आवश्यकताएँ विविध होती हैं। अपनी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति विभिन्न प्रकार के समुदायों की रचना करता है तथा उनके माध्यम से वह अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करता है। ऐसे समुदाय सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक वैज्ञानिक आदि अनेक प्रकार के होते हैं। इन समुदायों का अपना पृथक व्यक्तित्व होता है तथा इनकी अपनी सामूहिक इच्छा होती है। इनमें से कोई समुदाय दूसरे की तुलना में श्रेष्ठता का दावा नहीं कर सकता। मनुष्य के बहुमुखी विकास के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि ये समुदाय राज्य के नियन्त्रण से मुक्त रहकर स्वतन्त्र रूप से कार्य कर सकें। राज्य अकेला मनुष्य के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं कर सकता। लॉस्की के शब्दों में, "सम्पूर्ण व्यक्तित्व के लिए कोई एक संस्था नियमों का निर्माण नहीं कर सकती। जब समाज की प्रकृति संघात्मक है तो सत्ता भी संघात्मक होनी चाहिए।"

अतः बहुलवादी विचारकों के अनुसार राज्य न तो सर्वशक्तिमान है न सर्वव्यापी है, न सबको अपने अन्दर समेट लेने वाला है बल्कि यह तो अन्य समुदायों

के समान एक समुदाय है। मैकाइवर के अनुसार, "राज्य समाज के ही साथ उत्पन्न तथा विस्तृत समुदाय नहीं है अपितु वह समाज के अन्तर्गत कुछ विशिष्ट आदर्शों की प्राप्ति के लिए निर्मित एक संस्था है।" गैटल ने लिखा है कि "बहुलवादी इस बात पर बल देते हैं कि राज्य समुदायों के ऊपर अपनी इच्छा को आरोपित नहीं कर सकता। अतः उनकी सत्ता न तो असीम है और न अविभाज्य है।" संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि बहुलवादी विचारक इस बात को स्वीकार करते हैं कि व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए समुदायों का अस्तित्व तथा उनके अधिकार उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितना राज्य का अस्तित्व तथा उसके अधिकार हैं। इसलिए राज्य की सम्प्रभुता का दावा निराधार है।

(2) **समुदायों की स्वायत्तता के आधार पर**—बहुलवादी विचारक इस धारणा को भी स्वीकार नहीं करते हैं कि समुदायों का निर्माण राज्य की इच्छा से होता है तथा वे अपने अस्तित्व के लिए राज्य पर निर्भर रहते हैं। गियर्क तथा मेटलैण्ड के अनुसार, प्राचीन काल से ही समाज में विविध प्रकार के समुदायों का अस्तित्व रहा है। इन समुदायों की अपनी पृथक चेतना तथा इच्छा होती थी जो राज्य की चेतना तथा इच्छा से भिन्न प्रकृति की होती थी। इन समुदायों के अपने अधिकार तथा दायित्व होते थे जिन्हें वे राज्य की सत्ता से प्राप्त नहीं करते थे बल्कि वे राज्य में स्वतन्त्र रहकर अपने दायित्वों को पूरा करते थे। पॉल बकूर (Paul Bancour) का भी यही मत है कि विभिन्न युगों तथा देशों में व्यावसायिक समुदाय स्वतः ही उत्पन्न हुए हैं तथा वे अपने अस्तित्व के लिए राज्य पर निर्भर नहीं रहे हैं। उसने इस बात पर जोर दिया है कि 'समाज के आर्थिक कार्यकलापों का नियमन व्यावसायिक समुदायों के हाथों में होना चाहिए राज्य के हाथों में नहीं।' फिगिस का भी यही विचार है कि समुदायों का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व होता है जो राज्य के व्यक्तित्व से पृथक होता है। उसके अनुसार सम्प्रभुता का परम्परागत सिद्धान्त एक आदरणीय अन्ध विश्वास (a venerable superstition) मात्र है। दुर्खीम (Emile Durkheim), बार्कर तथा लिण्डसे ने भी राज्य की निरंकुश प्रभुसत्ता का विरोध तथा समुदायों की स्वायत्तता का समर्थन किया है।

लास्की ने भी समुदायों के स्वतन्त्र अस्तित्व तथा उनकी उपयोगिता को स्वीकार करते हुए इस बात पर जोर दिया कि विभिन्न संघों के बीच सम्प्रभुता का विभाजन हो जाना चाहिए। उनका कहना है कि 'असीमित और अनुत्तरदायी राज्य का सिद्धान्त मानवता के हितों से मेल नहीं खाता। इस प्रकार बहुलवादी विचारक समुदायों के स्वतन्त्र अस्तित्व तथा व्यक्तित्व के आधार पर राज्य की सम्प्रभुता को सीमित, नियन्त्रित तथा विभाजित मानते [redacted]।"

(3) **ऐतिहासिक आधार पर**—बहुलवादी विचारकों के अनुसार इतिहास में राज्य का रूप कभी भी उस प्रकार का पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न नहीं रहा जिस प्रकार के रूप का प्रतिपादन परम्परागत सम्प्रभुता के समर्थकों ने किया है। प्राचीन तथा

मध्यकाल में राज्य के ऊपर धर्म, सामाजिक नियमों, परम्पराओं तथा मान्यताओं का बन्धन रहा है। राज्य इनकी अवहेलना नहीं कर सकता था। आधुनिक युग में श्रमिक संघों के उदय ने राज्य की निरंकुश प्रभुसत्ता के प्रयोग पर रोक लगाने का कार्य किया है। इतिहास में इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं जब समुदायों के संगठित विरोध के सामने राज्य को झुकना पड़ा है। लास्की ने बतलाया है कि प्रथम महायुद्ध के समय वेल्स की खानों के श्रमिकों ने ब्रिटिश सरकार को इस बात के लिए विवश कर दिया कि वह अपने 'शस्त्रास्त्र अधिनियम' (Munitions ct) को वापस ले। इसी प्रकार 1916 में अमरीका में रेलवे श्रमिक संघों ने हड़ताल की धमकी देकर सरकार को ऐसा कानून बनाने के लिए विवश किया कि मजदूरों से आठ घण्टे से अधिक काम न लिया जाय। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति और उसके समुदायों के सम्बन्ध के विषय में राज्य सर्वोच्च सर्वशक्तिमान सस्था नहीं है।

(4) **कानून के स्वरूप के आधार पर**—बहुलवादियों ने कानून के स्वरूप के आधार पर भी सम्प्रभुता के एकलवादी सिद्धान्त पर प्रहार किया है। ऑस्टिन के अनुसार राज्य के आदेश ही कानून हैं तथा कानूनों का एकमात्र स्रोत राज्य है। परन्तु डिग्वी, क्रैब तथा लास्की आदि बहुलवादी विचारक इस तर्क एवं मान्यता को स्वीकार नहीं करते। *इन विचारकों के अनुसार राज्य न तो कानूनों का निर्माता है, न कानूनों से उच्च है बल्कि वह कानूनों के अधीन होता है।* फ्रांसीसी विचारक डिग्वी के अनुसार, "कानून राज्य से स्वतन्त्र, उससे पहले का, उससे ऊपर तथा उससे अधिक व्यापक है।"[1] राज्य का कार्य कानूनों का निर्माण करना नहीं है बल्कि पहले से विद्यमान कानूनों को तथ्यों के अनुकूल बनाना है। कानून का पालन इसलिए नहीं किया जाता कि वे सम्प्रभु राज्य द्वारा निर्मित हैं किन्तु इसलिए किया जाता है कि जिससे सामाजिक जीवन के लाभों का सुरक्षित रखा जा सके और उनकी *अभिवृद्धि की जा सके। क्रैब तथा लास्की भी कानूनों का स्रोत राज्य को नहीं मानते* हैं। क्रैब के अनुसार कानूनों का पालन इसलिए होता है कि समाज की नैतिक बुद्धि उसे उचित मानती है। लास्की कानूनों का स्रोत व्यक्ति की अन्तरात्मा को मानते हैं। अतः ये विचारक कानून के माध्यम से राज्य की सर्वोच्च एवं निरंकुश सत्ता का खण्डन करते हैं।

(5) **नैतिक आधार पर**—बहुलवादियों ने नैतिक आधार पर भी राज्य की सम्प्रभुता के सिद्धान्त का खण्डन किया है। उनका कहना है कि व्यक्ति की सम्पूर्ण भक्ति का एकमात्र अधिकारी *राज्य नहीं है अपितु व्यक्ति की भक्ति विभिन्न समुदायों* के प्रति भी होती है लास्की का कथन है कि "राज्य को व्यक्ति की भक्ति प्राप्त करने का केवल वहीं तक अधिकार है जहाँ तक व्यक्ति की अन्तरात्मा सहमत है।

---

1 'Law is independent, superior and anterior to, political organization, and is objective, not subjective" —*Duguit*

मुझ पर सत्ता का दावा उसकी नैतिक अपील की मात्रा के अनुपात में ही उचित है। मेरी भक्ति केवल उसी राज्य के प्रति हो सकती है जिस राज्य में मेरा नैतिक विकास पर्याप्त रूप से होता हो। हमारा प्रथम कर्त्तव्य अपनी अन्तरात्मा के प्रति निष्ठावान होना है।" व्यक्ति को राज्य और विभिन्न समुदायों के प्रति अपने विवेक के अनुसार ही भक्ति निर्धारित करने का अधिकार होना चाहिए। लास्की ने कहा है कि "हम इस विशिष्ट समुदाय (राज्य) को कोई विशेष महत्त्व नहीं देते।"

(6) अन्तर्राष्ट्रीयता के आधार पर—बहुलवादी बाह्य रूप में भी सम्प्रभुता को निरकुश तथा अमर्यादित नहीं मानते हैं। उनके अनुसार राज्य की सम्प्रभुता अन्तर्राष्ट्रीय कानून, अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा सीमित है। आज व्यवहार में कोई भी राज्य अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में पूर्ण सम्प्रभु नहीं होता। उसे कुछ न कुछ सीमाएँ एवं मर्यादाएँ स्वीकार करनी पड़ती हैं। बहुलवादियों का विश्वास है कि सम्प्रभुता का सिद्धान्त युद्ध और संघर्ष को जन्म देता है। अतः विश्व-शान्ति तथा मानवता के हित में आज प्रत्येक राज्य को अपनी आंशिक प्रभुसत्ता का परित्याग करना आवश्यक हो गया है। लास्की राज्य की बाह्य सम्प्रभुता [redacted] कट्टर विरोधी थे। उनके अनुसार, 'अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक स्वतन्त्र प्रभुत्व सम्पन्न राज्य का विचार मानव कल्याण के लिए घातक है। एक राज्य को दूसरे राज्य [redacted] साथ किस प्रकार रहना चाहिए इसका निर्णय करने का अधिकार एकमात्र उसी राज्य को नहीं दिया जा सकता।'[1] अतः आज सम्प्रभुता के असीम एवं अमर्यादित होने की धारणा समाप्त हो चुकी है।

बहुलवाद के प्रमुख सिद्धान्त

(1) राज्य अन्य समुदायों के समान एक समुदाय है—बहुलवादी राज्य की निरकुश प्रभुसत्ता की धारणा का तो विरोध अवश्य करते हैं परन्तु वे अराजकतावाद तथा श्रम संघवाद के समान राज्य का अन्त करने के पक्ष में नहीं हैं। वे मार्क्सवादियों की इस बात को भी स्वीकार नहीं करते कि साम्यवादी समाज की स्थापना हो जाने पर राज्य स्वतः समाप्त हो जायेगा। वस्तुतः बहुलवादी राज्य को तो कायम रखना चाहते हैं परन्तु वे राज्य की निरकुश प्रभुसत्ता को समाप्त करना चाहते हैं। उनके अनुसार समाज में राज्य की स्थिति अन्य समुदायों के समान एक समुदाय के रूप में होगी सर्वोच्च सत्ताधारी समुदाय के रूप में नहीं। लास्की के शब्दों में, "राज्य तो अनेक मानव समुदायों में से केवल एक समुदाय है, अतः वह व्यक्तियों [redacted] अन्य

1 "The notion of an independent sovereign state is on the international side, fatal to the well being of humanity. The way in which a state should live its life in relation to other states is clearly not a matter in what that state is entitled to be the sole judge."

—Laski

समुदायों की तुलना मे अधिक निष्ठा प्राप्त करने का दावा नहीं कर सकता है।"[1] बहुलवादियो के अनुसार राज्य समुदायो का समुदाय (association of associations) *अथवा एक श्रेष्ठ समुदाय तो माना जा सकता है जिसका कार्य विभिन्न* समुदायो मे सामजस्य स्थापित करना है परन्तु उसका कार्य अन्य समुदायो के ऊपर अपना प्रभुत्व बनाये रखना नही है।

बहुलवादियों की धारणा है कि जिस प्रकार मनुष्य ने अपने बहुमुखी जीवन के विभिन्न पहलुओं का विकास करने के लिए समाज मे विभिन्न समुदायो का निर्माण किया है, उसी प्रकार उसने अपने राजनीतिक पहलू का विकास करने हेतु राजनीतिक समुदाय अथवा राज्य का निर्माण किया है। अत राज्य की स्थिति अन्य समुदायो के समान ही है तथा सभी समुदाय अपने अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्र एवं सत्ताधारी होते है। मेटलैण्ड के शब्दो मे, "राज्य इन विभिन्न समुदायों मे से एक समुदाय है।"[2]

(2) राज्य की निरकुश प्रभुसत्ता का विरोध करता है—बहुलवादी ऑस्टिन द्वारा प्रतिपादित राज्य की निरकुश प्रभुसत्ता का विरोध करते हैं और यह मानते हैं कि प्रत्येक समुदाय अपने अपने क्षेत्र मे प्रभुसत्ता सम्पन्न होता है। राज्य अन्य समुदायो के साथ प्रभुसत्ता के प्रयोग मे एक भागीदार मात्र है। राज्य न तो कानूनो का एकमात्र स्रोत है और न वह कानून से ऊपर है। बहुलवादियों के अनुसार राज्य की प्रभुसत्ता आन्तरिक तथा बाह्य दोनो दृष्टियो से सीमित एव मर्यादित है। आन्तरिक क्षेत्र मे राज्य की प्रभुसत्ता जनता तथा विविध समुदायो के अधिकारो द्वारा मर्यादित होती है तथा बाह्य क्षेत्र मे उसकी सत्ता अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो द्वारा मर्यादित होती है। ब्लुंशली ने इस सम्बन्ध मे कहा है कि "राज्य सर्वशक्तिमान नहीं है क्योंकि वह बाहरी क्षेत्र मे अन्य राज्यो के अधिकारो द्वारा सीमित है तथा आन्तरिक क्षेत्र मे वह स्वय अपनी प्रकृति तथा अपने नागरिको के अधिकारो द्वारा सीमित है।"[3] गियर्क तथा *मेटलैण्ड भी राज्य की निरकुश प्रभुसत्ता का विरोध करते हुए कहते हैं कि* 'राज्य को समुदायों की प्रभुसत्ता का अतिक्रमण करने का कोई अधिकार नहीं होता।'

(3) व्यावसायिक लोकतन्त्र का समर्थन करता है—बहुलवादी विचारको ने लोकतन्त्र के प्रतिनिध्यात्मक स्वरूप को वास्तविक बनाने के लिए व्यावसायिक

1 "State is only one among the various human associations and as such it has no claim to higher loyalty from the individual."
—Laski

2 "State is the species of the same genus" —Maitland

3 "The State as a whole is not almighty for it is limited externally by the rights of other states and internally by its own nature and by the rights of its individual members."
—Bluntschli

प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का समर्थन किया है। उन्होंने प्रादेशिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था को इसलिए अनुचित तथा दोषपूर्ण बताया कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत चुने हुए प्रतिनिधि न तो सम्पूर्ण जनता के समस्त हितों का प्रतिनिधित्व ही कर सकते हैं और न वे जनता को निर्वाचन के अवसर पर दिए गए आश्वासनों को पूर्ण करने की क्षमता ही रखते हैं। इस व्यवस्था में पार्लियामेण्ट द्वारा बनाये गये कानून जनता की इच्छा की सही अभिव्यक्ति नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए, किसानों का सच्चा प्रतिनिधित्व कोई किसान, व्यापारियों का सच्चा प्रतिनिधित्व कोई व्यापारी तथा अध्यापकों का सच्चा प्रतिनिधित्व कोई अध्यापक ही कर सकता है, प्रादेशिक प्रतिनिधित्व के आधार पर निर्वाचित कोई वकील इन सबका सही प्रतिनिधित्व करने की क्षमता नहीं रखता अतः बहुलवादी सच्चा लोकतन्त्र उसी को मानते हैं जिसमें प्रतिनिधि व्यावसायिक आधार पर चुने जाएँ।

(4) **राज्य की कानूनी सर्वोच्चता का विरोधी है**—बहुलवादी विचारक इस धारणा के कट्टर विरोधी हैं कि सम्प्रभु राज्य का आदेश ही कानून है। वे कानून को राज्य से स्वतन्त्र तथा उच्च मानते हैं। मेकाइवर का मत है कि "राज्य कानून का निर्माता नहीं, अपितु उसका संरक्षक मात्र है। फ्रांसीसी विचारक ड्विगी के अनुसार '*कानून राजनीतिक संगठन से स्वतन्त्र, उससे श्रेष्ठ तथा उससे पहले का है। यह* सामाजिक आचरण का नियमन करने वाले नियमों का समूह होता है।"[1] जनता कानूनों का पालन इसलिए नहीं करती कि उनका निर्माण सम्प्रभु राज्य ने किया है बल्कि इसलिए करता है कि वे सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक है। डच विचारक क्रेब के विचार ड्विगी से मिलते जुलते हैं। क्रेब केवल कानून की सम्प्रभुता को ही स्वीकार करता है जो राज्य से स्वतन्त्र तथा श्रेष्ठ होता है। उसके शब्दों में, "राज्य कानून का निर्माता नहीं है अपितु कानून ही राज्य का निर्माण करता है।"[2] फ्रांसीसी विचारक ला फर (La Fur) के अनुसार, "राज्य कुछ अंशों में एक ऐसी बाहरी शक्ति द्वारा नियन्त्रित होता है जो राज्य से श्रेष्ठ तथा प्राचीन है। यह उच्चतर शक्ति प्राकृतिक या बौद्धिक कानून है।" अतः बहुलवादी विचारक राज्य को कानूनी दृष्टि से सर्वोच्च तथा सम्प्रभु नहीं मानते हैं।

(5) **व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का समर्थन करता है**—बहुलवाद व्यक्ति को राजनीतिक, आर्थिक एवं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्रदान करने का पक्षपाती है। प्रसिद्ध बहुलवादी विचारक लास्की के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को आजीविका तथा अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए पर्याप्त साधन प्राप्त होना और श्रमिकों को औद्योगिक

---

1 "Law is independent, superior and anterior to political organization and is objective, not subjective" —Duguit

2 "It is not the State which creates the law but on the other *hand, it is the law which creates the states.*" —Krabbe

क्षेत्र में स्वायत्तशासी अधिकार प्राप्त होना ही वास्तविक स्वतन्त्रता है। लास्की व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार के भी समर्थक थे परन्तु वे इसका उपयोग दूसरों का शोषण करने के लिए किया जाना अनुचित मानते थे। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के समर्थन के कारण ही बहुलवादी विचारक राज्य में सत्ता के केन्द्रीयकरण के विरोधी हैं क्योंकि केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति निरंकुशता को बढ़ावा देती है जो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की शत्रु है। ये सत्ता के विकेन्द्रीयकरण तथा विभिन्न समुदायों के बीच में सत्ता के विभाजन का व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक मानते हैं।

(6) अन्तर्राष्ट्रीयता तथा मानवता का समर्थन करता है—बहुलवादी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा के हित में राज्य की प्रभुसत्ता की धारणा का विरोध करते हैं क्योंकि प्रभुसत्ता की धारणा अन्तर्राष्ट्रीय अशान्ति तथा युद्धों को जन्म देती है। लास्की के शब्दों में, एक राज्य को दूसरे राज्यों के साथ किस प्रकार रहना चाहिए, इसका निर्णय करने का अधिकार एकमात्र उसी राज्य को नहीं दिया जा सकता। [redacted] मामलों की व्यवस्था के लिए एक सुसंगठित विश्व संगठन की आवश्यकता है। यदि मनुष्यों को महान मानव समाज में रहना है तो उन्हें आपस में सहयोग करना सीखना होगा। एक विश्व राज्य में, वह चाहे जिस तरह बने और उसमें चाहे जिस मात्रा में विकेन्द्रीकरण हो पृथक सम्प्रभुता के लिए स्थान नहीं है।"

(7) राज्य तथा समाज में भेद करता है—प्रभुसत्ता के अद्वैतवादी सिद्धान्त के समर्थकों तथा आदर्शवादी विचारकों के समान बहुलवादी राज्य तथा समाज को एक नहीं मानते हैं। वे इन दोनों के बीच में भेद करते हैं। उनके अनुसार समाज अपने उद्देश्य तथा संगठन की दृष्टि से राज्य की तुलना में कहीं अधिक व्यापक है तथा राज्य अन्य समुदायों के समान ही एक समुदाय है। समाज के ये समुदाय, समाज के लिए उतने ही स्वाभाविक होते हैं जितना कि स्वयं राज्य। समाज का सम्बन्ध मनुष्य के सामाजिक जीवन के सभी पक्षों से है तथा उसका उद्देश्य मनुष्य के बहुमुखी जीवन का विकास करना है। इसके विपरीत राज्य का सम्बन्ध मनुष्य के केवल राजनीतिक पक्ष से है तथा उसका उद्देश्य मनुष्य के राजनीतिक जीवन का विकास करना है। इस तरह राज्य समाज का एक अंग मात्र है। मैकाइवर ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "राज्य एक ऐसा संगठन है जो न तो समाज का समकालीन है और न समाज के समान व्यापक है बल्कि उसका निर्माण [redacted] समाज के अन्तर्गत एक निश्चित अवस्था के रूप में कुछ विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु किया गया है।"[1]

---

1 "The State [redacted] a structure neither coeval nor co-extensive with society, but built within [redacted] as a determinate order for the attainment of specific ends." —MacIver

बहुलवाद की आलोचना

सम्प्रभुता के अद्वैतवादी सिद्धान्त पर बहुलवादियों ने अनेक दृष्टियों से प्रहार किए हैं परन्तु बहुलवाद स्वयं भी दोषों से मुक्त नहीं है। बहुलवाद की अनेक आधारों पर आलोचना की जाती है। ये आधार निम्नलिखित हैं

(1) **बहुलवाद का तार्किक परिणाम अराजकतावादी व्यक्तिवाद है**— बहुलवाद का अन्तिम निष्कर्ष अराजकतावादी व्यक्तिवाद है। बहुलवादी विभिन्न समुदायों में सम्प्रभु का विभाजन करना चाहते हैं परन्तु सम्प्रभुता को विभाजित करने का अर्थ उसे नष्ट करना है। यदि सम्प्रभुता का विभाजित कर दिया जाए तथा राज्य और अन्य समुदायों को एक ही स्तर पर रखा जाए तो ऐसी स्थिति में समाज में अशान्ति और अव्यवस्था फैल जायेगी तथा व्यक्ति और समुदाय दोनों का अस्तित्व खतरे में पड़ जायेगा। गिलक्राइस्ट ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "यदि राज्य की शक्ति को समाप्त कर दिया जाए तथा उसके स्थान पर स्वायत्त समुदायों की स्थापना कर दी जाए, तो यह सैद्धान्तिक अराजकता की अवस्था होगी जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा अपने कार्यों को स्वयं निर्णायक होगी।"[1]

(2) **बहुलवाद सम्प्रभुता के अद्वैतवादी सिद्धान्त के भाव को ठीक से नहीं समझता**— बहुलवादियों ने सम्प्रभुता के परम्परागत सिद्धान्त की जो आलोचना की है, वह बहुत कुछ काल्पनिक है। हीगल तथा उसके अनुयायियों को छोड़कर प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले अन्य किसी विचारक ने राज्य की निरंकुश सम्प्रभुता का समर्थन नहीं किया है। बोदा, हॉब्स, रूसो, ऑस्टिन आदि किसी भी अद्वैतवादी विचारक ने सम्प्रभुता के सिद्धान्त को शारीरिक, नैतिक, बौद्धिक या सामाजिक दृष्टि से असीमित सत्ता का सिद्धान्त नहीं बनाया है। कोकर (Coker) के शब्दों में, 'इनमें से कोई भी विचारक इस बात का दावा नहीं करता कि राज्य सत्ता की आलोचना करना उसकी अवज्ञा करना अथवा उसका विरोध करना अनैतिक, अधार्मिक, तर्कहीन समाजविरोधी अथवा अव्यावहारिक कार्य है।"[2] वे राज्य को उत्तरदायित्वहीन नहीं मानते वे तो केवल इतना ही मानते हैं कि राज्य किसी ऐसी सत्ता के प्रति उत्तरदायी नहीं हो सकता जो उसी के समान हो। कोकर के अनुसार, सम्प्रभुता के अद्वैतवादी सिद्धान्त के समर्थक केवल इतना ही मानते हैं कि "एक निश्चित प्रदेश में कानून के निमित्त संगठन के रूप में राज्य उस प्रदेश के

1 "If the state is to be abolished and replaced by autonomous association, it is not far removed from a condition of theoretical anarchy, in which each individual's conscience is the arbiter of his actions" — Gilchrist

2 "None of these writers claimed that to criticise or challenge, to disobey or resist the state authority is necessarily immoral, irrational, anti social or even impractical" —F. W. Coker

अन्तर्गत अन्य समस्त समुदायों से कानूनी दृष्टि से सर्वोच्च है।"[1] इसलिए डॉ० आशीर्वादम का यह कथन बिलकुल उपयुक्त है कि "बहुलवादी जिस अद्वैतवादी शत्रु पर प्रहार करते हैं, वह बहुत कुछ हद तक काल्पनिक है।"[2]

(3) सभी बहुलवादी राज्य की सर्वोपरिता को स्वीकार करते हैं—प्राय सभी बहुलवादियों ने राज्य की सर्वोच्च सत्ता के बारे में असंगतिपूर्ण तर्क दिये हैं। एक ओर तो बहुलवादी विभिन्न समुदायों के बीच सम्प्रभुता का विभाजन करने के पक्ष मे हैं और दूसरी ओर, वे राज्य को विभिन्न समुदायों में समन्वय और सन्तुलन स्थापित करने का उत्तरदायित्व सौंपते हैं। किन्तु राज्य के द्वारा इस प्रकार का कार्य तब तक नहीं किया जा सकता है जब तक उसे वैधानिक दृष्टि से सर्वोच्च स्थिति प्राप्त न हो। इस प्रकार प्राय सभी बहुलवादी विचारक राज्य को समन्वय और सन्तुलन का कार्य सौंपकर अप्रत्यक्ष रूप से उसकी सर्वोपरिता तथा सम्प्रभुता को स्वीकार करते हैं।

गियर्क तथा मेटलैण्ड संघों को वास्तविक व्यक्तित्व प्रदान करते हुए भी यह स्वीकार करते हैं कि राज्य अन्य सामाजिक संस्थाओं से अपनी स्थिति की उच्चता के कारण भिन्न है। पॉल बकर राज्य को सार्वजनिक हितों और राष्ट्रीय एकता का एकमात्र प्रतिनिधि मानता है तथा वह सभी समुदायों को राज्यों के अधीन स्थान देता है। डॉ० फिगिस राज्य को समुदायों का समुदाय मानते हैं और उसे समन्वय व सन्तुलन कायम करने वाले साधन के रूप मे विशिष्ट कार्य तथा उच्च सत्ता प्रदान करते हैं। बार्कर ने लिखा है कि 'राज्य को जीवन की एक सामान्य एवं सर्वाङ्गपूर्ण योजना के रूप में, आवश्यक रूप से समुदायों के साथ अपने, दूसरे समुदायों के तथा समुदायों के अपने सदस्यों के सम्बन्धों में सामञ्जस्य स्थापित करना चाहिए।" मिस फॉलेट राज्य तथा व्यक्तियों के मध्य प्रत्यक्ष सम्पर्क को स्वीकार करती हैं और राज्य को व्यक्तियों तथा समुदायों के बीच एकता लाने वाली कड़ी के रूप मे एक आदर्श संस्था मानती हैं। लास्की जैसे बहुलवादी विचारक भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि 'कानूनी दृष्टि से कोई इसे अस्वीकार नहीं कर सकता कि प्रत्येक राज्य मे कोई ऐसा अंग होता है जिसकी सत्ता असीम होती है और सब संस्थाओं मे सरकार सबसे महत्वपूर्ण है।"[3] लास्की राज्य की अन्तिम सुरक्षित सत्ता को स्वीकार

---

1 "In brief the state, as an organization for law within any given territory, is supperior to all other social groups within such territory" - F W Coker

2 "The monistic enemy whom the pluralist attack is to a large extent, an imaginary figure" —Dr. Ashirvatham

3 'Legally no one can deny that there exists in every state some organ whose authority is unlimited" —Laski

करते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बहुलवादी 'संप्रभुता' को सामने के द्वार से बाहर निकालकर पीछे के द्वार से उसे वापस ले आते हैं।'

(4) राज्य सर्वोच्च एवं आवश्यक समुदाय है—राज्य को अन्य समुदायों के समान स्तर का मानना एक भारी भूल है। वस्तुतः राज्य की स्थिति उसकी प्रकृति, उद्देश्य एवं कार्यों के कारण अन्य सभी समुदायों से भिन्न एवं उच्च होती है। बहुलवादी विचारक लिण्डसे ने यह स्वीकार किया है कि राज्य की सदस्यता अनिवार्य एवं व्यापक होती है अर्थात प्रत्येक व्यक्ति के लिए राज्य का सदस्य होना अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त राज्य एक ऐसा समुदाय है जो सबको अपने अन्दर समेट लेता है। वह सभी समुदायों के ऊपर है तथा केवल उसे ही दण्ड प्रदान करने की शक्ति प्राप्त है। राज्य समाज के सदस्यों के समूचे हितों की रक्षा करता जबकि दूसरे समुदाय उनके केवल आंशिक अथवा विशिष्ट हितों की ही रक्षा करते हैं। राज्य ही मनुष्य की विभिन्न निष्ठाओं में समन्वय कायम कर सकता है तथा अव्यवस्था को समाप्त करके व्यवस्था स्थापित कर सकता है। डॉ० गार्नर ने इस सम्बन्ध में लिखा है। 'राज्य में विभिन्न वर्गों तथा आपस में एक दूसरे से प्रतियोगिता करने वाले समुदायों को समुचित सीमा में रखकर एक महत्वपूर्ण सेवा करता है। यह उनके परस्परविरोधी हितों में समन्वय अथवा सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए एक निर्णायक के रूप में कार्य करता है।'[1]

मिस फॉलेट –का कहना है कि राज्य एकता स्थापित करने का एक साधन है तथा राज्य ही मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का प्रतीक है। उसके शब्दों में, "राज्य का निर्माण समुदाय से नहीं हो सकता क्योंकि कोई भी एक या अनेक समुदाय मनुष्य के समूचे व्यक्तित्व का अपने में समावेश नहीं कर सकता। ऐसा केवल राज्य में ही हो सकता है। राज्य की नागरिकता किसी भी व्यावसायिक संघ की सदस्यता की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। हमारी आत्मा का निवास राज्य में ही है।"[2]

(5) बहुलवाद कुछ काल्पनिक धारणाओं पर आधारित है—बहुलवादी यह मानते हैं कि समाज के भीतर विभिन्न समुदाय आपस में समान स्तर के होते हैं, उनका कार्यक्षेत्र एक दूसरे से पृथक होता है, उनके कार्य एक दूसरे से नहीं टकराते तथा वे एक दूसरे के अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण भी नहीं करते। बहुलवादियों की

---

1 'State renders important service of keeping within proper limits classes and struggles between competing groups and performing the role of a refree or umpire and adjusting or reconciling their conflicting interests" —Dr Garner

2 "The State cannot be composed of groups, because no group nor any number of groups can contain the whole of me My citizenship is something bigger than my membership in the vocational groups The home of my soul is in the state" —Mis Follet

यह धारणा भ्रामक एवं दोषपूर्ण है। यदि उनकी धारणा सही होती तो सम्प्रभु राज्य की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। वस्तुतः सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्ष एक दूसरे से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित होते हैं तथा उन्हें एक दूसरे से पूर्णतया पृथक नहीं किया जा सकता। इसलिए विभिन्न समुदायों के कार्य-क्षेत्र का स्पष्ट विभाजन भी सम्भव नहीं है। अतः समाज के वर्तमान संगठन में कार्य क्षेत्र का अतिक्रमण, विभिन्न हितों, स्वार्थों तथा निष्ठाओं में संघर्ष स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में यदि राज्य की सर्वोच्च सत्ता को समाप्त कर दिया जाये तो विभिन्न समुदायों के पारस्परिक संघर्ष के कारण समाज में अशान्ति और अव्यवस्था फैल जायेगी जिसमें कोई भी समुदाय अपने कार्यों का ठीक प्रकार से सम्पादन नहीं कर सकेगा। आलोचकों का यह भी मत है कि राजनीतिक तथा आर्थिक सस्थाओं की सह सम्प्रभुता की धारणा से भी समस्या का समाधान नहीं हो सकता।

(6) बहुलवादी व्यवस्था में भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता सीमित रहती है—बहुलवाद इस भ्रामक धारणा पर आधारित है कि यदि व्यक्ति तथा समुदायों को राज्य के नियन्त्रण से मुक्त कर दिया जाए तो ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं जिनके अन्तर्गत व्यक्ति के व्यक्तित्व का स्वतन्त्र रूप से विकसित होने का अवसर मिलेगा। किन्तु बहुलवादियों की यह धारणा सही नहीं है। अनेक लोग, जो व्यक्ति या समुदाय की स्वतन्त्रता के नाम पर राज्य के नियन्त्रण की निन्दा करते हैं, नियन्त्रण के दूसरे रूपों को शान्ति के साथ सहन कर लेते हैं अथवा उनका जोरदार समर्थन करते हैं। आलोचकों का तो यह मत है कि साधारणतया व्यक्ति के जीवन तथा कार्यों पर राज्य की तुलना में समुदायों का नियन्त्रण अधिक कठोर रहता है। जिमर्न ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "जो व्यक्ति राज्य की निरंकुशता की बात करते हैं वे इस सरल सत्य की उपेक्षा करते हैं कि अपने निकटतम पड़ोसी के अत्याचार के समान दूसरा कोई अत्याचार नहीं है। समुदाय जितना ही छोटा होगा, आपके जीवन तथा कार्यों पर उतना ही कठोर नियन्त्रण होगा।"[1] प्रत्येक समुदाय वास्तव में, राज्य की सर्वोच्च सत्ता को स्वाभाविक रूप से इसलिए स्वीकार करता है जिससे दूसरे समुदायों के हस्तक्षेप से उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा हो सके। यही बात व्यक्तिगत नागरिकों के सम्बन्ध में भी सही है। वे अन्य व्यक्तियों तथा समुदायों के अत्याचारों से बचने के लिए स्वाभाविक रूप से प्रभुसत्ताधारी राज्य का आश्रय लेते हैं। स्थानीय स्वायत्त शासन की कल्पना सम्प्रभु राज्य के अधीन ही की जा सकती है। ईलियट (W. Y Elliott) ने बहुत ही सुन्दर शब्दों में यह लिखा है कि इस बात की क्या

---

1 '*Those who talk of state absolutism are ignoring the simple* truth that there is no tyranny like the tyranny of near neighbours *The smaller the group, the tighter the strangle hold* over your life and activities." —A. E. Zimmern

गारण्टी है कि बहुलवादी व्यवस्था में व्यक्ति के व्यक्तित्व की रक्षा सम्भव होगी क्योंकि ऐसे समाज में राज्य रूपी राक्षस का स्थान समुदाय रूपी राक्षस ले लेंगे।

(7) **बहुलवाद की कानून सम्बन्धी धारणा गलत है** बहुलवादियों के कानून सम्बन्धी विचारों को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। डिग्वी तथा क्रेब जैसे बहुलवादी विचारक कानून को राज्य से स्वतन्त्र, उच्चतर तथा प्राचीनतर मानते हैं और इस प्रकार वे राज्य पर कानून का बन्धन लगाना चाहते हैं, किन्तु कानून को राज्य से उच्च मानना सही नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि जब बहुलवादी राज्य की सम्प्रभुता को कानून के द्वारा सीमित करने का प्रयत्न करते हैं, तब उनके मस्तिष्क में सरकार के विभिन्न अंग रहते हैं, स्वयं राज्य नहीं। यह सत्य है कि कानून का एकमात्र स्रोत राज्य नहीं है परन्तु यह बात भी उतनी ही सत्य है कि कोई भी नियम समाज में चाहे कितना ही मान्य क्यों न हो, उसे वैधानिक मान्यता तभी मिलती है जब राज्य के द्वारा उसे स्वीकार कर लिया जाए। वस्तुतः कानून वही होता है जिसके पीछे राज्य की शक्ति होती है तथा न्यायालय जिसे लागू करते हैं परन्तु बहुलवादी कानून के लिए वैधानिक मान्यता की कोई आवश्यकता नहीं समझते। अतः बहुलवादियों के कानून के सम्बन्ध में कोई ठोस विचार नहीं हैं।

(8) **अन्तर्राष्ट्रीयता के आधार पर सम्प्रभुता का खण्डन सही नहीं है**—बहुलवादी विचारक अन्तर्राष्ट्रीयता के आधार पर भी राज्य की सम्प्रभुता के सिद्धान्त का विरोध करते हैं। उनके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा परम्पराएँ सम्प्रभुता को सीमित एवं मर्यादित करते हैं, किन्तु उनका यह विचार सही नहीं है। नैतिकता की दृष्टि से यह सही है कि राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा परम्पराओं का पालन करना चाहिए परन्तु वह इनका पालन करने के लिए कानूनी दृष्टि से बाध्य नहीं है। यदि राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों तथा अन्तर्राष्ट्रीय परम्पराओं को मानते हुए अपनी सत्ता को मर्यादित करता है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि राज्य की सम्प्रभुता मर्यादित होती है। सम्प्रभु राज्य अपने राष्ट्रीय हित में ही ऐसा करता है। उसकी सम्प्रभुता के ऊपर कोई कानूनी बन्धन नहीं हो सकता। अतः राज्य की बाह्य सम्प्रभुता सर्वोच्च एवं असमर्यादित होती है।

बहुलवाद का महत्त्व—बहुलवाद का विवेचन करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकालना कि यह सिद्धान्त व्यर्थ है, सही नहीं है। वस्तुतः बहुलवाद राज्य के अतिवादी स्वरूप के विरुद्ध एक उचित प्रतिक्रिया है। राज्य की वैधानिक प्रधानता चाहे जितनी हो पर उस पर नैतिक प्रतिबन्ध होने ही चाहिए। गैटल का कथन है कि "बहुलवाद ऑस्टिन के सम्प्रभुता के सिद्धान्त तथा कठोर और हठवादी विधिवादिता के विरुद्ध एक समयिक एवं उचित प्रतिक्रिया है।"[1] डॉ० आशीर्वादम ने बहुलवाद

1 "The pluralist theory is a timely protest against the rigid and the dogmatic legalism associated with the Austinian theory of sovereignty." —*Gettel . Political Science*, p 146.

के महत्व का वर्णन करते हुए लिखा है कि "बहुलवाद अराजनीतिक समुदायों के बढ़ते हुए महत्व की ओर, राज्य द्वारा इन समुदायों के उचित कार्यक्षेत्र में अनावश्यक हस्तक्षेप के खतरे की ओर तथा ऐसे समुदायों को राजनीतिक व्यवस्था में अधिक मान्यता दिये जाने की आवश्यकता की ओर संकेत करता है।"

मिस फॉलेट ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *The New State* में बहुलवाद के गुणों का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं : (1) बहुलवादियों ने राज्य की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को निराधार सिद्ध कर दिया है, (2) वे समुदायों के महत्त्व को स्वीकार करते हैं, और उन्हें राजनीतिक तौर पर मान्यता दिये जाने का समर्थन करते हैं, (3) वे स्थानीय जीवन का पुनरुद्धार करना चाहते हैं, (4) उनका कहना है कि राज्य और उसके विभिन्न अंगों के हित सदैव एकरूप नहीं होते, (5) बहुलवाद जनता के असंगठित समूह रूप की समाप्ति का प्रारम्भ है, तथा (6) बहुलवाद सम शासन को महत्व देता है।

संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि बहुलवाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा समाज में विभिन्न समुदायों के अधिकारों का समर्थन करता है। यह सर्वशक्तिशाली राज्य का विरोध करता है तथा राज्य की शक्तियों के विकेन्द्रीकरण का समर्थन करता है।

निष्कर्ष राज्य की सम्प्रभुता के विरुद्ध बहुलवाद एक उचित एवं सामयिक प्रतिक्रिया है परन्तु फिर भी पूरी तौर से इस विचारधारा को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। वास्तविकता तो यह है कि बहुलवाद के विरोध के पश्चात् भी राज्य की सम्प्रभुता के सिद्धान्त का न तो अभी तक त्याग किया गया है और न भविष्य में ही इसका त्याग किया जा सकता है। डॉ० आशीर्वादम ने बहुलवादी विचारधारा का सही मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि "एक ऐसे सिद्धान्त के रूप में जो सम्प्रभुता के परम्परागत विचारों की त्रुटियों को ठीक करता है और उसकी कमियों को पूरा करता है, बहुलवाद एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। परन्तु जब वह सम्प्रभुता के सिद्धान्त को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न करता है तब यदि व्यर्थ नहीं तो खतरनाक अवश्य हो जाता है।" डॉ० हेसियो (Hasio) ने लिखा है कि "सम्प्रभुता को नष्ट करना व्यर्थ भी है और भयंकर भी है।"

अन्त में, हम सेबाइन के शब्दों में यह कह सकते हैं कि "मैं यथासम्भव एकत्ववादी बनने का अपना अधिकार सुरक्षित रखता हूँ और जब आवश्यकता हो, तो बहुलवादी बनने को तैयार हूँ।"[1]

1 "For my own part, then, I must reserve the right to be a monist when I can and a pluralist when I must."

—George Sabine

अभ्यास के प्रश्न

1. 'सम्प्रभुता राज्य की आत्मा है।' इस कथन की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
2 सम्प्रभुता की परिभाषा दीजिए एव इसके प्रमुख लक्षणो (विशेषताओ) का विवेचन कीजिए। (राजस्थान विश्व०, 1979)
3 ऑस्टिन के सम्प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए। (राजस्थान विश्व०, 1974, 1976, 1978)
4 बहुलवाद द्वारा की गई सम्प्रभुता की आलोचना का परीक्षण कीजिए।
5 बहुलवाद के प्रमुख सिद्धान्तो की विवेचना कीजिए।
6 बहुलवाद की व्याख्या कीजिए। सम्प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त के विरुद्ध इसके क्या तर्क हैं? (राजस्थान विश्व०, 1975)
7 सम्प्रभुता के निम्नलिखित रूपो का परीक्षण कीजिए (अ) लोक सम्प्रभुता, (ब) वैधानिक सम्प्रभुता, (स) ध्वजमात्र अथवा नाममात्र की सम्प्रभुता, (द) राजनीतिक सम्प्रभुता, (य) वास्तविक (De facto) एव वैध (De Jure) सम्प्रभुता।

11

राज्य के उद्देश्य एवं कार्य

[PURPOSES AND FUNCTIONS OF THE STATE]

> "राज्य अपने मौलिक रूप में लोगों के अच्छे जीवन-सम्बन्धी विचारों की अभिव्यक्ति है। इस व्यापक अर्थ में हम फिर भी यह कह सकते हैं कि राज्य का उद्देश्य न्याय की व्यवस्था ही है और इसलिए राज्य मुख्यत एक नैतिक संस्था है।"[1]
>
> —वाइल्ड

राज्य के अस्तित्व का उद्देश्य क्या है ? क्या यह स्वय अपने आप मे एक साध्य है अथवा किन्हीं उद्देश्यो की प्राप्ति का एक साधन मात्र है ? राज्य के कार्य क्षेत्र का निर्धारण करने के लिए इस समस्या का समाधान अत्यन्त आवश्यक है।

राज्य एक साध्य है—प्राचीन यूनानी विचारक राज्य को सामाजिक जीवन का उच्चतम रूप तथा अपने आप में साध्य अथवा उद्देश्य मानते थे। प्लेटो और अरस्तू के मतानुसार राज्य एक महान् नैतिक संस्था है जिसका उद्देश्य व्यक्ति का नैतिक विकास और श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति है। उनके मतानुसार राज्य व्यक्ति से पूर्ववर्ती है तथा व्यक्ति का श्रेष्ठतम जीवन राज्य मे ही सम्भव हो सकता है। अरस्तू के अनुसार व्यक्ति राज्य के अन्दर रह कर ही पशुतुल्य जीवन से ऊपर उठ सकता है और सही अर्थ में मनुष्य बन सकता है। अरस्तू ने राज्य को एक प्राणी शरीर के समान माना है। जिस प्रकार शरीर मे पृथक उसके विभिन्न अगों का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही होता उसी प्रकार राज्य से पृथक उसके विभिन्न अगो अर्थात् व्यक्तियों का भी कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। इसी तरह, जिस प्रकार शरीर के अगों के शरीर से पृथक अथवा उसके विरुद्ध कोई हित नहीं हो सकते, उसी प्रकार राज्य से

---

1 "At bottom the state is the expression of a view of the good life for men. In this larger sense, then, we may still hold that the end of the state is the organisation of justice, and that therefore it is pre eminently a moral institution,"
—N Wilde : *Ethical Basis of the State*, p. 146.

पृथक अथवा राज्य के विरुद्ध भी व्यक्तियों के कोई हित नहीं हो सकते। मानव जीवन का कोई भी भाग राज्य के अधिकार-क्षेत्र से बाहर नहीं समझा जाता था। इस प्रकार प्राचीन यूनानी विचारक राज्य को एक साध्य मानते थे, कुछ विशिष्ट लक्ष्यों की पूर्ति का साधन नहीं।

आधुनिक काल में हीगल तथा बोसांके जैसे विचारकों ने राज्य को साध्य और व्यक्ति को साधन माना है। हीगल के अनुसार, "राज्य पृथ्वी पर ईश्वर का रूप है तथा वह दैवी आत्मा की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है।" राज्य 'अपने में एक पूर्ण निश्चित लक्ष्य' है। राज्य की इच्छा तथा उसके व्यक्तित्व में समस्त व्यक्तियों की इच्छा और उनका व्यक्तित्व विलीन हो जाता है। उसके अनुसार व्यक्ति का अस्तित्व राज्य के लिए है, न कि राज्य का व्यक्ति के लिए। इंगलैण्ड में बोसांके ने भी राज्य को एक साध्य के रूप में माना है तथा व्यक्ति को पूरी तरह राज्य के अधीन बताया है। उसके अनुसार राज्य का हित ही व्यक्ति का हित होता है। जर्मन विचारक ट्रीटस्के ने भी हीगल का अनुसरण करते हुए इस बात पर जोर दिया है कि 'राज्य एक सर्वोत्कृष्ट सामाजिक संगठन है' तथा व्यक्ति के राज्य के विरुद्ध कोई अधिकार नहीं हो सकते। इसी प्रकार के विचारों का प्रतिपादन जर्मनी में नाजीवाद तथा इटली में फासीवाद के द्वारा किया गया। उनका ध्येय था कि 'सब कुछ राज्य के लिए है, राज्य से बाहर तथा राज्य के विरुद्ध कुछ भी नहीं है।' वर्तमान समय में समाजवाद तथा समष्टिवाद जैसी विचारधाराएँ यद्यपि राज्य को एक साध्य तो नहीं मानती परन्तु फिर भी वे व्यक्ति को महत्व न देकर राज्य को ही अधिक महत्व देती हैं।

राज्य एक साधन है—राज्य को एक साधन मानने की परम्परा अति प्राचीन काल से रही है। प्राचीन भारतीय विचारकों के अनुसार राज्य का उद्देश्य लोक-कल्याण है। उनके अनुसार व्यक्ति साध्य है तथा राज्य व्यक्ति के हितों की पूर्ति करने वाला एक साधन है। अनेक विचारकों का यह मत रहा है कि राज्य एक ऐसी मानव-संस्था है जो मनुष्यों के लिए बनी है। अतः वह मनुष्यों से बड़ी अथवा उनके ऊपर नहीं हो सकती। मध्यकाल में जब यूरोप में चर्च का अधिक प्रभाव था, तब मध्यकालीन विचारकों की यह धारणा थी कि राज्य की उत्पत्ति मनुष्य के नैतिक पतन के कारण हुई है तथा राज्य का उद्देश्य मनुष्य की अपूर्णताओं को दूर करना है। उनके अनुसार राज्य को मानव जीवन के सभी क्षेत्रों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है।

अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी में व्यक्तिवादी, उपयोगितावादी, समझौता-वादी तथा बहुलवादी विचारकों ने भी राज्य को साधन तथा व्यक्ति को साध्य माना है। स्पेन्सर तथा मिल जैसे व्यक्तिवादी विचारकों ने यद्यपि राज्य के अस्तित्व को तो स्वीकार किया है परन्तु उन्होंने राज्य को 'एक आवश्यक बुराई' के रूप में माना है। उनके अनुसार समाज की बुराइयों की रोकथाम के लिए एक साधन के रूप में राज्य

की आवश्यकता है। यदि समाज में बुराइयाँ न हों तो राज्य की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। समझौतावादी विचारकों ने राज्य को मानव की एक ऐसी कृति माना है जिसका निर्माण व्यक्तियों के हित के लिए किया गया है। बहुलवादियों के अनुसार राज्य समाज में अन्य समुदायों के समान ही एक समुदाय है। राज्य का स्वयं साध्य होना तो दूर रहा, वह व्यक्ति के सम्पूर्ण हितों का साधक भी नहीं है क्योंकि उसके द्वारा व्यक्ति के केवल राजनीतिक हितों की रक्षा ही की जाती है। इनके अतिरिक्त आज के युग में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण रखने वाले अनेक विचारक राज्य को साध्य न मानकर व्यक्ति के हित एवं कल्याण का साधन मात्र मानते हैं।

राज्य साध्य एवं साधन दोनों है—कुछ विचारकों के अनुसार राज्य स्वयं एक साध्य है और व्यक्ति उसका साधन है जबकि कुछ अन्य विचारकों के अनुसार व्यक्ति साध्य है और राज्य उसके हितों की साधना करने वाला एक साधन है। ये दोनों धारणाएँ एकपक्षीय तथा दोषपूर्ण हैं। ब्लुश्ली ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "प्राचीन लोगों के एकांगी विचार ने, जिसने राष्ट्र में व्यक्ति की उपेक्षा की, उसकी स्वतन्त्रता तथा उसके कल्याण को ही खतरे में डाल दिया और प्रत्यक्ष रूप से राज्य के एक ऐसे सर्वशक्तिमान रूप को जन्म दिया जो सरलतापूर्वक विकृत होकर अत्याचारी राज्य का रूप धारण कर लेता था। आधुनिक लोगों का विचार भी उतना ही एकांगी है जो राज्य की महानता का उचित आदर प्रदान नहीं करता और जो राज्य को व्यक्तियों का एक अव्यवस्थित समूह मानकर अराजकता की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करता है।" इस प्रकार ब्लुश्ली के मतानुसार राज्य एक साधन भी है और साध्य भी है। एक ओर तो राज्य नागरिकों के हित-साधन की एक संस्था है और दूसरी ओर वह स्वयं एक साध्य है तथा व्यक्ति उसकी आज्ञा का पालन करने के लिए बाध्य हैं।

विलोबी ने भी इसी मत का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि 'यदि हम वैयक्तिक दृष्टिकोण से विचार करें तो राज्य एक साधन मात्र ही प्रतीत होता है जिसके द्वारा मानवता का अधिक से अधिक विकास होता है। परन्तु यदि राज्य को एक ऐसी संस्था माना जाए जिसकी सत्ता उसमें रहने वाले नागरिकों से अलग हो, तो राज्य स्वयं साध्य बन जाता है।'[1] ब्लुश्ली ने राज्य के दोहरे स्वरूप को बहुत सुन्दर रूप से इस प्रकार स्पष्ट किया "एक चित्रकार जो चित्र बनाता है वह उसकी जीविकोपार्जन का साधन होता है किन्तु एक ऐसी कला जो चित्रकार के आदर्श और उसकी भावनाओं को साकार रूप देती है, उसका साध्य भी बन जाती है।"

---

1 "It (state) is only a means, instrumentality, or an expedient through which the highest possible development of humanity is obtained But if the state is considered an institution distinct and apart from the citizens who compose it, it is, of course, and in itself.' —Willoughby : *The Nature of the State*.

इस प्रकार वर्तमान समय में राज्य को साध्य एवं साधन दोनों माना जाता है। फिर भी वास्तविकता तो यह है कि राज्य मानव-समाज के कल्याण का एक महत्वपूर्ण साधन है और राज्य को जो इतना अधिक महत्व दिया जाता है, उसका कारण यह है कि मनुष्य का सर्वोत्तम विकास राज्य में ही सम्भव है।

राज्य के उद्देश्य

राज्य के कार्यों का सम्बन्ध राज्य के उद्देश्यों से होता है। अत. राज्य के कार्य क्षेत्र का विवेचन करने से पूर्व उसके उद्देश्यों को जान लेना आवश्यक है। राज्य के उद्देश्यों के सम्बन्ध में विभिन्न विचारकों ने भिन्न भिन्न विचार व्यक्त किये हैं।

प्रसिद्ध यूनानी विचारक अरस्तू के अनुसार, *'राज्य जीवन के हेतु जन्म लेता है और वह श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति के लिए कायम रहता है।'* इस प्रकार अरस्तू के अनुसार राज्य का उद्देश्य नागरिकों में सद्गुणों का विकास करना तथा उनके जीवन को श्रेष्ठ एवं आत्मनिर्भर बनाना है। राज्य के उद्देश्यों के सम्बन्ध में विभिन्न आधुनिक विचारकों ने भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। लॉक के अनुसार राज्य का उद्देश्य सामान्य हित अथवा लोक-कल्याण तथा मनुष्यों की सम्पत्ति की रक्षा करना है। एडम स्मिथ के अनुसार राज्य के तीन विशिष्ट उद्देश्य होते हैं प्रथम, बाह्य आक्रमणों तथा आन्तरिक हिंसा से रक्षा करना, द्वितीय, अन्याय और अत्याचार से व्यक्तियों की रक्षा करना और तृतीय सार्वजनिक संस्थाओं आदि की स्थापना करना। होल्ट्जनडॉर्फ के अनुसार भी राज्य के तीन मुख्य उद्देश्य होते हैं: प्रथम, राज्य की शक्ति का विकास करना, द्वितीय, वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षा करना, तथा तृतीय, सामाजिक उन्नति तथा सभ्यता की प्रगति करना।

प्रसिद्ध अमेरिकन विचारक बर्गेस के अनुसार राज्य के तीन मुख्य उद्देश्य हैं: (1) राज्य का प्राथमिक उद्देश्य शासन-प्रणाली की स्थापना तथा नागरिक स्वतन्त्रता की रक्षा करना है, (2) उसका माध्यमिक उद्देश्य राष्ट्रीयता की पूर्ति तथा राष्ट्रीय प्रतिभा का विकास करना है, (3) इसका अन्तिम उद्देश्य मानवता को प्रोत्साहन तथा संसार में सभ्यता का विकास करना है। विलोबी के मतानुसार राज्य का उद्देश्य शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखना, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा करना तथा सार्वजनिक कल्याण के उद्देश्य से निश्चित और एक समान नियम लागू करना है। गार्नर ने भी राज्य के तीन उद्देश्य बताये हैं सर्वप्रथम, व्यक्ति के हित की वृद्धि करना, द्वितीय, सामाजिक व्यवस्था में व्यक्तियों के सामूहिक हितों की रक्षा एवं प्रगति, तथा तृतीय, संसार को अधिकाधिक सभ्य और प्रगतिशील बनाना।

राज्य के उद्देश्यों के सम्बन्ध में विभिन्न विचारकों ने जो विचार व्यक्त किये हैं, उनमें यद्यपि पर्याप्त अन्तर है परन्तु फिर भी कुछ ऐसे उद्देश्य हैं जिनके बारे में सामान्य रूप से प्रायः सभी विचारक एकमत हैं। सामान्य सहमति के आधार पर राज्य के अग्रलिखित उद्देश्य बतलाये जा सकते हैं .

(1) बाह्य आक्रमण से सुरक्षा तथा आन्तरिक शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना करना।

(2) राज्य की सत्ता तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता के बीच ऐसा सामंजस्य स्थापित करना जिससे व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास करने के लिए पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त हो सके।

(3) सार्वजनिक अथवा राष्ट्रीय हित की वृद्धि करना।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय हित तथा मानव-सभ्यता के विकास को प्रोत्साहन देना।

वास्तविकता तो यह है कि राज्य के स्वरूप तथा संगठन के साथ-साथ उसके उद्देश्य के सम्बन्ध में भी विचारों में परिवर्तन होता रहा है। गेटल के मतानुसार किसी विशिष्ट राज्य के उद्देश्य उसकी सामाजिक स्थिति और आवश्यकताओं पर निर्भर होते हैं। देश और काल की भिन्नता के अनुरूप राज्य के उद्देश्यों में अन्तर होना स्वाभाविक है। उदाहरण के लिए, वर्तमान युग की लोकतान्त्रिक शासन-व्यवस्था के अनुरूप हम एक शब्द में यह कह सकते हैं कि राज्य का उद्देश्य लोक-कल्याण अथवा लोक-हित होता है।

राज्य के कार्य

राज्य के कार्यक्षेत्र के प्रश्न पर दो दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है—पहला, सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से तथा दूसरा, वास्तविक दृष्टिकोण से। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से राज्य के कार्य-क्षेत्र का वर्णन हम आगे करेंगे। वास्तविक दृष्टिकोण के आधार पर राज्य के कार्यों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(1) अनिवार्य कार्य, तथा (2) ऐच्छिक कार्य। विलोबी, गैटल, गार्नर तथा वुड्रो विल्सन आदि विचारकों ने वर्गीकरण के इस आधार को स्वीकार किया है।

राज्य के अनिवार्य कार्य—अनिवार्य कार्यों से तात्पर्य ऐसे कार्यों से है जो राज्य के अस्तित्व के लिए, व्यक्ति की नागरिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए तथा उसके जीवन, सम्पत्ति एवं स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। इन कार्यों का करना प्रत्येक सरकार के लिए आवश्यक होता है। राज्य के अनिवार्य कहे जाने वाले कार्य निम्नलिखित हैं :

(1) **बाह्य आक्रमण से रक्षा करना**—राज्य का सबसे प्रमुख कार्य बाह्य आक्रमण से अपनी प्रभुसत्ता की रक्षा करना है। प्रत्येक राज्य को अपनी सीमाओं की रक्षा करने के लिए जल, थल तथा वायु सेना की व्यवस्था करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। प्राय सभी राज्यों में अपनी राष्ट्रीय आय का एक बहुत बड़ा भाग सैन्य-व्यवस्था पर खर्च किया जाता है। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की स्थापना के लिए प्रत्येक राज्य वैदेशिक विभाग की स्थापना करता है।

(2) **आन्तरिक शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना करना**—राज्य का एक मुख्य उद्देश्य अपने नागरिकों के जीवन, सम्पत्ति तथा स्वतन्त्रता की रक्षा करना है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए राज्य में शान्ति एवं व्यवस्था का होना अत्यन्त

आवश्यक है। अत राज्य का यह प्रमुख कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने क्षेत्र में शान्ति एव व्यवस्था बनाये रखे तथा असामाजिक तत्त्वो पर नियन्त्रण रखे। इसके लिए प्रत्येक राज्य पुलिस तथा गुप्तचरो की व्यवस्था करता है जिससे अपराधियों को पकड़ा जा सके तथा उपद्रवो को दबाया जा सके।

(3) **न्याय का प्रबन्ध करना**—राज्य का तीसरा महत्त्वपूर्ण कार्य न्याय का प्रबन्ध करना है। जब तक व्यक्तियो के आपसी झगडो को सुलझाने तथा अपराधियो को दण्ड देने की व्यवस्था नही होगी, तब तक समाज मे शान्ति और व्यवस्था स्थापित नहीं हो सकेगी। इस कार्य के लिए प्रत्येक राज्य को दण्ड-विधान तथा न्यायालयो की व्यवस्था करनी पडती है। न्यायालयो का कार्य कानूनो की व्याख्या करना, उनके अनुसार विवादो का निर्णय करना तथा अपराधियो को दण्ड देकर नागरिकों के अधिकारो की रक्षा करना है।

(4) **आर्थिक कार्यों का सम्पादन करना**—प्रत्येक राज्य को अनिवार्य रूप से कुछ आर्थिक कार्यों का सम्पादन करना पडता है, जैसे कर लगाना, राजस्व एकत्रित करना, मुद्रा ढालना, मुद्रा अथवा करेन्सी का नियन्त्रण करना, आयात-निर्यात कर का नियमन करना, सार्वजनिक ऋण की व्यवस्था करना, सार्वजनिक भूमि एव सम्पत्ति का प्रबन्ध करना तथा युद्ध-सामग्री, डाक आदि राजकीय एकाधिकारो की व्यवस्था करना, इत्यादि।

इनके अतिरिक्त, वुडरो विल्सन के अनुसार राज्य को यह भी निश्चित करना होता है कि नागरिको के व्यक्तिगत तथा सामाजिक सम्बन्धो को किन कानूनो के आधार पर नियमित किया जाए।

ऐच्छिक कार्य—ऐच्छिक अथवा वैकल्पिक कार्यों का तात्पर्य उन कार्यों से है जो राज्य के अस्तित्व तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता और सुरक्षा के लिए तो आवश्यक नही होते परन्तु सार्वजनिक कल्याण के लिए जिनका करना आवश्यक होता है। आधुनिक युग मे इन कार्यों का महत्त्व बहुत अधिक बढ गया है और आज राज्य का मूल्यांकन इसी दृष्टि से किया जाता है कि वह व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास मे कहाँ तक सहायक होता है। राज्य के ऐच्छिक कार्य भी देश, काल और परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं। वर्तमान लोकतान्त्रिक युग मे अनेक ऐच्छिक कार्य अनिवार्य कार्यों के समान ही आवश्यक हो गये हैं। राज्य के ऐच्छिक कार्यों मे निम्नलिखित कार्य अधिक प्रमुख हैं :

(1) **शिक्षा की व्यवस्था**—वर्तमान युग मे शिक्षा का महत्त्व बहुत अधिक बढ गया है। प्राय सभी विचारक यह मानते हैं कि एक लोकतन्त्रीय व्यवस्था मे जन-साधारण का शिक्षित होना अत्यन्त आवश्यक है। निजी व्यक्तियों से शिक्षा की समुचित व्यवस्था करने की आशा नहीं की जा सकती है। अत राज्य का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह जनसाधारण की शिक्षा का उचित प्रबन्ध करे। प्राय. अधिकाश राज्यो ने

शिक्षा की व्यवस्था के उत्तरदायित्व [redacted] अपने हाथ में ले लिया है तथा एक निश्चित स्तर तक शिक्षा को नि:शुल्क एवं अनिवार्य बना दिया है।

(2) सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं चिकित्सा की व्यवस्था—नागरिकों को स्वस्थ रखने के लिए यह आवश्यक है कि बीमारियों की रोकथाम तथा चिकित्सा की समुचित व्यवस्था की जाए। इसके लिए राज्य सार्वजनिक चिकित्सालयों द्वारा नि:शुल्क चिकित्सा की व्यवस्था करता है। साथ ही, वह बीमारियों को फैलने से रोकने के लिए स्वच्छता का प्रबन्ध करता है, बाजार में अशुद्ध तथा मिलावटी वस्तुओं की बिक्री पर रोक लगाता है तथा संक्रामक रोगों की रोकथाम के लिए टीके आदि का प्रबन्ध करता है।

(3) उद्योग-धन्धों तथा व्यापार पर नियन्त्रण—अठारहवीं शताब्दी तक यह आम धारणा थी कि राज्य को आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए किन्तु अब यह धारणा बदल गई है। वर्तमान युग में यह माना जाने लगा है कि समाज में आर्थिक असमानता को बढ़ने से रोकने के लिए राज्य को उद्योग धन्धों तथा देश के आन्तरिक एवं बाह्य व्यापार पर पर्याप्त नियन्त्रण रखना चाहिए जिससे पूँजीपतियों द्वारा मजदूरों के शोषण को रोका जा सके, आर्थिक संघर्षों के कारण उत्पादन में कमी न होने पाए तथा सामान्य जनता की अधिकतम भलाई हो सके।

(4) उद्योगों का राष्ट्रीयकरण—जिन देशों ने समाजवाद की स्थापना को अपना लक्ष्य बनाया है, वे राज्य केवल उद्योगों पर नियन्त्रण से ही सन्तुष्ट नहीं हैं अपितु राष्ट्रीय महत्त्व के उद्योगों को व स्वयं संभालने लगे हैं। प्रायः सभी देशों में रेल, तार, डाक, मुद्रा, करेंसी तथा राष्ट्रीय सुरक्षा आदि से सम्बन्धित कल-कारखाने राज्य के द्वारा ही चलाये जाते हैं। भारत जैसे देश में तो लोहे, इस्पात, कोयले की खानें, आदि का प्रबन्ध भी राज्य के हाथों में ही है।

(5) कृषि सुधार—वर्तमान समय में कृषि-सुधार भी राज्य का महत्त्वपूर्ण कार्य बन गया है। कृषि के समुचित विकास के बिना कोई भी राज्य खाद्यान्न के क्षेत्र में आत्मनिर्भर नहीं बन सकता। कृषि की उन्नति के लिए राज्य को अच्छे बीज, अच्छी खाद, सिंचाई का प्रबन्ध, नयी-नयी मशीनों का प्रयोग, किसानों की सहायता आदि की व्यवस्थायें करनी पड़ती हैं।

(6) यातायात तथा सन्देशवाहन के साधनों की व्यवस्था—जन-साधारण की सुविधा तथा देश की आर्थिक प्रगति के लिए राज्य को यातायात तथा सन्देशवाहन के साधनों की व्यवस्था करना आवश्यक हो गया है। इसीलिए वर्तमान समय में प्रायः प्रत्येक राज्य यातायात की सुविधा के लिए रेल, मोटर, वायुयान, स्टीमर आदि का तथा सन्देशवाहन की सुविधा के लिए डाक, तार, रेडियो, टेलीफोन, टेलीविजन आदि का प्रबन्ध करने लगा है। आज के समाज में इनका समुचित प्रबन्ध बहुत आवश्यक हो गया है।

(7) श्रमिकों के हितों की रक्षा—श्रमिक वर्तमान समय में उत्पादन के मुख्य

स्रोत हैं। अतः उनके शोषण को रोकने तथा उनकी स्थिति को सुधारने की जिम्मेदारी भी राज्य की मानी जाने लगी है। इसके लिए राज्य कानूनों द्वारा काम के अधिकतम घण्टे, न्यूनतम मजदूरी, काम की दशाओं में सुधार, अवकाश, चिकित्सा, स्वास्थ्य, शिक्षा इत्यादि का प्रबन्ध करता है।

(8) निर्धनों तथा अपाहिजों की सहायता—वर्तमान समय में राज्य का स्वरूप लोक-कल्याणकारी हो गया है। अतः निर्धनों, बेकारों तथा अपाहिजों की सहायता करना भी राज्य का कर्तव्य माना जाने लगा है। इसीलिए प्रायः सभी राज्य बेकारों के लिए नये नये रोजगारों की व्यवस्था करते हैं तथा अनाथालय, चिकित्सालय, निर्धन-गृह, पागलखाना इत्यादि का प्रबन्ध करते हैं।

(9) समाज-सुधार—राज्य का यह भी कर्तव्य हो गया है कि वह ऐसी सामाजिक कुरीतियों और रूढ़ियों को दूर करने का प्रयत्न करे जो अन्धविश्वास तथा धर्मान्धता पर आधारित हैं। भारत जैसे देश में तो इन कुरीतियों, छुआछूत, दहेज प्रथा, बाल विवाह, पर्दा प्रथा इत्यादि को समाप्त करना सरकार के लिए अत्यन्त आवश्यक हो गया है क्योंकि ये देश की प्रगति के मार्ग में बाधक हैं।

(10) अन्य कार्य—वर्तमान समय में राज्य के ऐच्छिक कार्यों में बहुत अधिक वृद्धि हो गई है। आज जनसाधारण के मनोरंजन का प्रबन्ध करना भी राज्य का कार्य माना जाता है। इसके लिए राज्य पुस्तकालय, वाचनालय, नृत्य-गृह, पार्क, खेल-कूद के मैदान, आदि की व्यवस्था करता है। इनके अतिरिक्त राज्य रेडियो तथा टेलीविजन के माध्यम से भी लोगों का मनोरंजन करता है। इसके अतिरिक्त जनसंख्या की गणना तथा राष्ट्रीय विकास की योजनायें बनाना भी राज्य का महत्वपूर्ण कार्य हो गया है।

निष्कर्ष वर्तमान युग लोकतन्त्र का युग है। लोकतन्त्र पर आधारित प्रायः सभी राज्यों ने लोक-कल्याणकारी राज्य का स्वरूप ग्रहण कर लिया है। फलस्वरूप राज्य के ऐच्छिक कार्यों की संख्या इतनी अधिक बढ़ती जा रही है कि व्यवहार में इसकी सीमा निर्धारित करना अत्यन्त कठिन है। उदाहरणार्थ, 40-50 साल पहले जो कार्य व्यक्तिगत माने जाते थे, वे अब राज्य के कार्य-क्षेत्र में आ गये हैं। इसके अतिरिक्त वर्तमान समय में राज्य के द्वारा किये जाने वाले ऐच्छिक कार्यों का महत्व इतना अधिक बढ़ गया है कि व्यवहार में अब अनिवार्य और ऐच्छिक कार्यों के बीच का भेद प्रायः समाप्त सा हो गया है।

राज्य के कार्य क्षेत्र के सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्त

राज्य के कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध में विभिन्न विचारकों द्वारा भिन्न भिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। यहाँ हम राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में तीन प्रमुख राजनीतिक सिद्धान्तों की व्याख्या करेंगे व्यक्तिवाद, समाजवाद तथा लोक-कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त।

व्यक्तिवादी सिद्धान्त
(Laissez Faire Theory)

व्यक्तिवादी सिद्धान्त का उदय एवं विकास—गार्नर के मतानुसार एक राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में व्यक्तिवाद का जन्म अठारहवीं शताब्दी में यूरोप में अतिशासन के दोषों की प्रतिक्रियास्वरूप हुआ। एडम स्मिथ, रिकार्डो, माल्थस, डी० टाकविल आदि अर्थशास्त्रियों ने इस मत का प्रतिपादन किया कि राज्य को उद्योगों के सम्बन्ध में प्रतिबन्ध लगाकर आर्थिक कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इन विचारकों ने व्यापार तथा उद्योगों के क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप को अनिष्टकारी तथा हानिकारक बतलाया। परन्तु एक राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में व्यक्तिवाद का प्रतिपादन मुख्य रूप से जॉन स्टुअर्ट मिल (1806-1873 ई०) तथा हरबर्ट स्पेन्सर (1820-1903 ई०) के द्वारा किया गया।

सिद्धान्त की व्याख्या—जैसा कि ऊपर कहा गया है कि व्यक्तिवादी विचारधारा का उदय राज्य की सत्ता के बढ़ते हुए हस्तक्षेप के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। इसने व्यक्ति को साध्य माना, साधन नहीं। इसके अनुसार व्यक्ति राज्य के लिए नहीं है अपितु राज्य व्यक्ति के लिए है तथा व्यक्ति ही सम्पूर्ण सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन का केन्द्रबिन्दु है। व्यक्तिवादी विचारधारा का सार यह है कि व्यक्ति अपने हितों का सर्वोत्तम निर्णायक है। अतः राज्य व्यक्ति के जीवन में कम से कम हस्तक्षेप करे तथा अधिक से अधिक व्यक्ति को स्वतन्त्र छोड़ दे। इसी कारण यह सिद्धान्त 'स्वतन्त्र छोड़ देने' अथवा हस्तक्षेप न करने' (Laissez Faire) के सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है।

व्यक्तिवाद राज्य को एक 'आवश्यक बुराई (Necessary evil)' मानता है। राज्य एक बुराई इसलिए है क्योंकि यह शक्ति पर आधारित होने के कारण व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सीमित करता है। फिर भी यह आवश्यक है क्योंकि समाज में बहुत से चोर, लुटेरे, हत्यारे, स्वार्थी तथा ऐसे ही अन्य प्रकार [redacted] असामाजिक व्यक्ति होते हैं। यदि राज्य की नियामक शक्ति न हो तो समाज में शान्ति और व्यवस्था कायम नहीं रह सकती। इसलिए व्यक्तिवादी विचारधारा की यह मान्यता है कि समाज में अवांछनीय तत्वों पर नियन्त्रण रखने के लिए राज्य का अस्तित्व आवश्यक है। परन्तु आवश्यक होते हुए भी राज्य का कार्य-क्षेत्र सीमित है। राज्य का कार्य केवल शान्ति, व्यवस्था और सुरक्षा की स्थापना करना है, व्यक्ति का कल्याण राज्य के कार्य-क्षेत्र से बाहर है।

संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि व्यक्तिवादी विचारधारा का मुख्य सिद्धान्त यह है कि 'व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता मिले और राज्य व्यक्ति [redacted] जीवन में कम से कम हस्तक्षेप करे।' इस सम्बन्ध में प्रशा के एक प्रसिद्ध विचारक विलहेल्म हम्बोल्ट (Humboldt) ने सर्वप्रथम यह मत प्रकट किया कि 'राज्य को नागरिकों के जन-कल्याण की चिन्ता से दूर रहना चाहिए और नागरिकों की पारस्परिक सुरक्षा

तथा बाहरी शत्रु से रक्षा के लिए जितना कार्य आवश्यक है, उससे आगे एक पग भी नहीं बढ़ना चाहिए।" व्यक्तिवादी सिद्धान्त के प्रबल समर्थक जॉन स्टुअर्ट मिल ने लिखा है कि "व्यक्ति की आत्म रक्षा ही एकमात्र ऐसा उद्देश्य है जिसके लिए मानव समाज को व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से वैयक्तिक स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने का अधिकार हो सकता है। व्यक्ति स्वयं अपना, अपने शरीर और मस्तिष्क का स्वामी होता है।"[1] स्पेन्सर के शब्दों में, "राज्य का अस्तित्व केवल इसलिए है क्योंकि अपराध का अस्तित्व है और इसलिए इसका मुख्य कार्य रक्षा करना तथा रोक लगाना है, व्यक्ति का विकास और उसकी उन्नति करना नहीं।"[2]

व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य का कार्यक्षेत्र—व्यक्तिवादी विचारधारा के अनुसार राज्य का कार्यक्षेत्र केवल सुरक्षात्मक कार्यों तक ही सीमित रहना चाहिए। इस विचारधारा के अनुसार राज्य एक पुलिसमैन के समान है जिसका कार्य चोरी, डकैती, हत्या, हिंसा आदि को रोकना तथा लोगों की रक्षा करना है। स्पेन्सर जैसे उग्र व्यक्तिवादी राज्य के कार्यक्षेत्र को तीन कार्यों तक सीमित रखते हैं . (1) बाहरी शत्रुओं से व्यक्ति की रक्षा, (2) आन्तरिक शत्रुओं से व्यक्ति की रक्षा, तथा (3) वैध समझौतों (Contracts) को लागू करना तथा न्याय की व्यवस्था करना।

परन्तु नरम विचार के व्यक्तिवादी राज्य के कार्य क्षेत्र को थोड़ा और विस्तृत कर देते हैं। गिलक्राइस्ट के अनुसार राज्य का कार्य क्षेत्र निम्नलिखित कार्यों तक सीमित है

(1) बाहरी आक्रमणों से राज्य तथा नागरिकों की रक्षा करना।

(2) व्यक्तियों की एक दूसरे से रक्षा करना तथा इस बात का प्रबन्ध करना कि कोई किसी को बदनाम न कर सके।

(3) लूटमार अथवा अन्य प्रकार की क्षति से सम्पत्ति की रक्षा करना।

(4) समझौतों के भंग किये जाने में व्यक्ति की रक्षा करना।

(5) अपाहिज अथवा असमर्थ व्यक्तियों की रक्षा करना।

(6) संक्रामक रोगों को फैलने से रोकना तथा उनसे व्यक्तियों की रक्षा करना।

संक्षेप में, हम फ्रीमैन के शब्दों में यह कह सकते हैं कि व्यक्तिवादियों के अनुसार "वह सरकार सबसे अच्छी है जो कम से कम शासन करती है।"[3]

---

1 "Over himself, over his own body and mind, the individual is sovereign." — J S Mill

2 "State exists merely because crime exists and its principal function, therefore, is to protect and restrain, not to foster and promote." —Herbert Spencer

3 "That Government is best which governs the least." —Freeman

व्यक्तिवाद के पक्ष मे तर्क—व्यक्तिवादी विचारधारा के समर्थकों ने अपने सिद्धान्त के पक्ष मे अनेक तर्क दिये हैं जो निम्नलिखित हैं

(1) *नैतिक तर्क*—नैतिक आधार पर व्यक्तिवादी विचारधारा का समर्थन करने वालो मे काण्ट, फिक्टे, हम्बोल्ट तथा मिल अधिक प्रमुख हैं। इन विचारकों का तर्क यह है कि व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए यह आवश्यक है कि राज्य उसके कार्यों मे कम से कम हस्तक्षेप करे तथा अपनी योग्यताओ और क्षमताओ को बढ़ाने के लिए व्यक्ति को पूर्णतः स्वतन्त्र छोड दे। उनकी यह भी धारणा है कि व्यक्ति अपने हित को भली प्रकार समझता है तथा उसके हितो की सर्वोत्तम पूर्ति अथवा उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास स्वतन्त्र प्रतियोगिता के वातावरण मे ही सम्भव है। यदि राज्य के द्वारा व्यक्ति के कार्यों मे अनुचित हस्तक्षेप किया जाता है तो इससे व्यक्ति की प्रेरणा शक्ति, आत्मविश्वास तथा आत्मनिर्भरता नष्ट हो जाती है और उसकी शारीरिक एव मानसिक शक्तियो का विकास रुक जाता है। इस तरह राज्य के हस्तक्षेप से व्यक्ति का व्यक्तित्व, उसकी मौलिकता एव उसकी स्वाभाविक शक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं तथा समाज का स्तर भी सामान्यतया नीचे गिर जाता है। मिल के शब्दो मे, "राज्य का हस्तक्षेप व्यक्ति की आत्मविश्वास की भावना को नष्ट कर देता है, उसके उत्तरदायित्व को दुर्बल बनाता है तथा उसके चरित्र को कुण्ठित कर देता है।"[1]

(2) *आर्थिक तर्क*—व्यक्तिवादी विचारधारा के समर्थकों का एक तर्क यह है कि यदि राज्य उद्योगो एव व्यवसायो मे हस्तक्षेप न करे तथा उनका सचालन व्यक्तिगत प्रयत्नो पर छोड दे तो इससे समाज को अधिक आर्थिक लाभ होता है। व्यक्ति को आर्थिक स्वतन्त्रता होने पर मजदूर वहाँ कार्य करेगा जहाँ उसे सबसे अधिक मजदूरी मिलेगी, पूँजीपति अपनी पूँजी वहाँ लगायेगा जहाँ उसे अधिक से अधिक लाभ मिलेगा तथा उपभोक्ता वस्तुएँ वहाँ से खरीदेगा जहाँ उसे सस्ती कीमत पर प्राप्त होगी। इस प्रकार स्वतन्त्र प्रतियोगिता के परिणामस्वरूप उत्पादन बढ़ेगा, श्रमिको की कार्यकुशलता बढ़ेगी, वस्तुएँ अच्छी बनेंगी तथा वे सस्ती भी होंगी। एडम स्मिथ ने अपनी पुस्तक 'राष्ट्रो की सम्पत्ति' (Wealth of Nations) मे बतलाया है कि स्वाभाविक स्वतन्त्रता की प्रणाली से सम्पत्ति का अधिकतम उत्पादन होता है। यदि वस्तुओ के मूल्यो का माँग तथा पूर्ति के प्राकृतिक नियमो के अनुसार निर्धारण होने दिया जाय तो न केवल व्यक्ति के लिए अपितु सम्पूर्ण समाज के लिए अधिक अच्छे परिणाम निकलेंगे। अन्न कीमत, वेतन, किराया ब्याज, विदेशी व्यापार आदि पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नही होना चाहिए। 'अनियन्त्रित प्रतियोगिता से आर्थिक उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है वेतन एव मूल्य सामान्य स्तर पर बने

---

1 "State action tends to destroy the sense of self-reliance, weakens his responsibility and blunts his character." —J. S. Mill

रहते हैं, ब्याज की दर अत्यधिक नहीं हो पाती, निपुण सेवा प्राप्त होती है और अधिक अच्छी वस्तुओं का उत्पादन होता है।'

(3) जीवशास्त्रीय तर्क—स्पेन्सर ने जीव विज्ञान के नियमों के आधार पर व्यक्तिवाद का समर्थन किया है। जीव विज्ञान के नियम के अनुसार प्रकृति में, 'अस्तित्व के लिए निरन्तर संघर्ष' (Struggle for existence) होता रहता है जिसमे 'योग्यतम ही जीवित रह पाते हैं' (Survival of the Fittest) तथा निर्बल नष्ट हो जाते हैं। स्पेन्सर के अनुसार यह एक ऐसा प्राकृतिक नियम है जो सभी स्थानों पर समान रूप से लागू होता है तथा यह समाज मे भी लागू होना चाहिए। समाज में केवल सबल, सामर्थ्यवान तथा क्रियाशील व्यक्ति ही जीवित रहने चाहिए तथा अयोग्य एवं निर्बल प्राणियों का अन्त हो जाना चाहिए। यह तभी सम्भव है जब समाज मे व्यक्तियों को स्वतन्त्र छोड दिया जाय। इस तर्क के आधार पर व्यक्तिवादियों का यह मत है कि राज्य को निर्धन, निर्बल, अयोग्य तथा असमर्थ व्यक्तियो की सहायता नही करनी चाहिए। इससे अयोग्य वर्गों का नाश हो जाएगा और समाज के कल्याण मे वृद्धि होगी। स्पेन्सर के शब्दो मे, "यदि हम शक्तिशाली' समर्थ तथा कर्मठ सन्तति का विकास करना चाहते हैं तो हमें मनुष्यो को स्वतन्त्र छोड देना चाहिए। इससे शक्तिशाली व्यक्ति जीवित रहेंगे तथा अयोग्य समाप्त हो जायेंगे।'[1] इस प्रकार स्पेन्सर के विचार मे राज्य को शिक्षा, स्वास्थ्य, गरीबों की सहायता तथा समाजोपयोगी कार्य आदि नहीं करने चाहिए क्योंकि ऐसा करना प्रकृति की विवेकपूर्ण व्यवस्था मे हस्तक्षेप करना है।

(4) अनुभव का तर्क—व्यक्तिवादियों ने ऐतिहासिक अनुभव के आधार पर भी यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि राज्य को हस्तक्षेप की नीति से सदैव दूर रहना चाहिए। उनका कहना है कि इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब कभी भी राज्य ने व्यक्तिगत, सामाजिक या आर्थिक जीवन मे हस्तक्षेप करने का प्रयत्न किया, तभी उसे अपने प्रयत्नो मे असफलता हाथ लगी। इतिहास मे ऐसे अनेक उदाहरण भरे पडे हैं कि जब कभी भी राज्य ने कुछ उद्योगो को आर्थिक सहायता व संरक्षण देने तथा कुछ उद्योगो पर अत्यधिक कर लगाकर उन्हें समाप्त करने की नीति अपनाई तथा रहन-सहन, वेश-भूषा, खान पान, वस्तुओ के मूल्य, काम के घण्टे, वेतन, आयात निर्यात आदि के सम्बन्ध मे कानून बनाकर सामाजिक एवं आर्थिक जीवन को नियन्त्रित और नियमित करने का प्रयत्न किया, तभी सामाजिक स्वतन्त्रता और आर्थिक प्रगति का मार्ग अवरुद्ध हो गया। बकल ने इस सम्बन्ध मे लिखा है कि "राज्य के अधिकारियों का यह विश्वास रहा है कि उनके हस्तक्षेप के बिना कोई

---

1 "If we are to evolve a race of strong able and virile human beings, we should leave the individuals to themselves The strong will survive and unfit will be eliminated."

—Herbert Spencer

व्यापार उन्नति नहीं कर सकता और इसलिए वे कष्टदायक नियमों द्वारा उस व्यापार में बाधा डालते रहे।" अतः व्यक्तिवादी विचारकों के मतानुसार राज्य का हस्तक्षेप सभ्यता की प्रगति में बाधक होता है।

(5) राजनीतिक तर्क—व्यक्तिवादियों के अनुसार यह मानना एक भूल है कि राज्य के द्वारा किये जाने वाले समस्त कार्य अधिक कुशलता के साथ किये जाते हैं। उनके विचार में तो अनेकानेक कार्य ऐसे हैं जो राज्य के अधिकारियों की अपेक्षा उन व्यक्तियों द्वारा अधिक कुशलता एवं मितव्ययिता से किये जाते हैं जो उनमें रुचि रखते हैं। यह कहा जाता है कि सरकार द्वारा किये जाने वाले कार्यों में समय तथा धन की बर्बादी होती है, स्वार्थ एवं भ्रष्टाचार पनपने लगता है तथा नौकरशाही का प्रभाव बढ़ जाता है। रेमजे म्योर के अनुसार राज्य के कार्य में वृद्धि से नौकरशाही के अधिकारों में बढ़ोत्तरी हो रही है जिसके परिणामस्वरूप एक नवीन निरंकुशता (New Despotism) का जन्म हुआ है। इस निरंकुशता को रोकने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि राज्य के कार्य क्षेत्र को कम किया जावे तथा उसकी शक्तियों को सीमित किया जाये। मिल ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि 'राज्य को अधिक कार्य सौंपने का परिणाम यह होता है कि बहुत से कार्य अनुचित ढंग से किये जाते हैं और बहुत से कार्य हो ही नहीं पाते क्योंकि सरकार देर किये बिना उन्हें कर ही नहीं सकती।"

व्यक्तिवाद की आलोचना

वर्तमान युग में व्यक्तिवादी सिद्धान्त की अनेक आधारों पर आलोचना की गई है। ये आधार निम्नलिखित हैं

(1) राज्य एक बुरी संस्था नहीं है—व्यक्तिवादियों की यह धारणा नितान्त भ्रामक है कि राज्य बुराई की उपज है तथा राज्य का अस्तित्व इसलिए है कि अपराधों का अस्तित्व है। वस्तुतः राज्य एक बुराई नहीं अपितु एक निश्चित अच्छाई है। इतिहास से यह बात प्रमाणित होती है कि अतीत में मानव-सभ्यता की प्रगति अधिकांश में राज्य के निर्देशन में ही हुई है। आज के जटिल समाज में राज्य का मुख्य कार्य सुरक्षा तथा सुव्यवस्था ही नहीं है अपितु सामान्य लोक-कल्याण की रक्षा तथा उसकी वृद्धि करना है। अरस्तू के शब्दों में, "राज्य की उत्पत्ति मनुष्यों की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुई है। परन्तु उसका अस्तित्व श्रेष्ठ जीवन के लिए बना हुआ है।" गार्नर ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "जब तक मनुष्य समुदायों में रहेंगे, उनकी आवश्यकताएँ भी सामूहिक होंगी जिनकी पूर्ति केवल राज्य के संगठन द्वारा ही हो सकती है।"[1] अतः राज्य को एक बुरी संस्था मानना उचित नहीं कहा जा सकता है।

---

1 "So long as men live in groups they will have collective wants which can be satisfied only through State organization."

—*Garner*

(2) व्यक्ति को समाज से पृथक मानना सही नहीं—व्यक्तिवादियों ने समाज की उपेक्षा कर व्यक्ति के महत्व पर अत्यधिक जोर दिया है। उन्होंने व्यक्ति को सर्वोपरि एवं सर्वश्रेष्ठ समझा, मानो समाज के चरित्र का निर्माण उसी से होता हो, जबकि वास्तविकता तो यह है कि अधिकांश में समाज ही व्यक्ति के चरित्र का निर्माता होता है। समाज से पृथक व्यक्ति के न तो कोई हित हैं और न उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। वह समाज का एक छोटा रूप है तथा अन्य व्यक्तियों से पृथक वह वास्तव में कुछ भी नहीं है। प्रो० रिची ने कहा है कि "अपने वातावरण एवं सम्बन्धों से पृथक रूप में व्यक्ति केवल एक अमूर्त भाव, एक अदृश्य छाया, एक तार्किक पिशाच और एक विरोध मात्र है।" बार्कर के शब्दों में "मिल ने व्यक्ति और समाज को जो एक दूसरे से अपृथक्करणीय हैं पृथक करने का प्रयत्न किया है।"[1]

(3) राज्य स्वतन्त्रता में बाधक नहीं है—व्यक्तिवादी आवश्यक रूप से राज्य को स्वतन्त्रता का विरोधी मानते हैं। उनके अनुसार जिस अनुपात में शासन के कार्यों का विस्तार होता है, उसी अनुपात में व्यक्ति की स्वतन्त्रता का क्षेत्र सीमित हो जाता है। इस तरह अधिकतम शासन का अर्थ व्यक्ति की न्यूनतम स्वतन्त्रता है। उनकी यह धारणा नितान्त भ्रामक है। वास्तव में, राज्य व्यक्तियों की केवल नैतिक, शारीरिक एवं बौद्धिक योग्यताओं में ही वृद्धि नहीं करता अपितु शक्तिशाली एवं स्वार्थी व्यक्तियों से उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा भी करता है। राज्य के बन्धन के अभाव में कुछ शक्तिशाली लोग मनमानी करने लगेंगे जिससे सभी व्यक्तियों की स्वतन्त्रता खतरे में पड़ जायेगी। इसके अतिरिक्त चरित्र का विकास केवल स्वतन्त्रता से ही नहीं होता बल्कि उतना ही अनुशासन तथा संयम से भी होता है। अतः राज्य के कार्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सीमित नहीं करते अपितु ऐसी परिस्थितियों की व्यवस्था करते हैं जिनमें व्यक्ति की सच्ची स्वतन्त्रता सम्भव होती है। प्रो० रिची ने कहा है कि "व्यक्तिवादी राज्य के हस्तक्षेप तथा स्वतन्त्रता को एक रोकड़-बही में जमा और खर्च के खाते मान लेते हैं। इनमें से यदि एक खाते में वृद्धि होती है तो दूसरे में आवश्यक रूप से कमी होती है।"[2]

(4) व्यक्तित्व के विकास के लिए राज्य की सहायता आवश्यक है—व्यक्तिवाद राज्य के कार्य-क्षेत्र को अत्यधिक सीमित करना चाहता है परन्तु वर्तमान परिस्थितियों के कारण राज्य के कार्यों की आवश्यकता और भी अधिक होती जा रही है तथा राज्य के कार्य क्षेत्र का विस्तार भी हो रहा है। वस्तुतः वर्तमान युग की जटिल परिस्थितियों में व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं है कि राज्य की सहायता के

1 "Mill divides the indivisible" —Barker

2 "Individualists treat liberty and state interference as the credit and debit sides of an account book, so that an increase in one of them, necessarily means a decrease with other."

—Prof. Ritchie

बिना वह उन कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर सके तथा अपनी सभी शक्तियों का सामंजस्यपूर्ण विकास कर सके। व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए राज्य की सहायता अत्यन्त आवश्यक है। डा० आशीर्वादम के शब्दों में, 'राज्य के कार्य-क्षेत्र का विस्तार किये बिना अधिकांश लोगों के लिए अपना पूर्ण विकास करना सम्भव नहीं है। विशुद्ध व्यक्तिवाद व्यक्तियों को प्रतिभाशाली बनाने की अपेक्षा उनके व्यक्तित्व को ही समाप्त कर देता है।"

(5) व्यक्ति अपने हितों का सही निर्णायक नहीं होता—व्यक्तिवादियों की यह मान्यता कि प्रत्येक व्यक्ति अपने हित को भलीभांति समझता है और इसलिए वह अपने हितों का सर्वश्रेष्ठ निर्णायक है, सभी परिस्थितियों में सही नहीं मानी जा सकती है। यह माना जा सकता है कि व्यक्ति अपने वर्तमान हितों को अच्छी तरह समझता हो परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वह अपने भावी हितों को भी उतनी ही अच्छी तरह समझता हो। वास्तविक बात तो यह है कि हर देश में ऐसे बुद्धिहीन मनुष्य होते हैं जो भावी संकटों को न समझ पाने के कारण उनके प्रति सचेत नहीं रहते तथा अपना मार्ग निश्चित नहीं कर पाते। ऐसे व्यक्तियों की स्वयं उन्हीं की मूर्खता से रक्षा करना तथा उनका सही मार्गदर्शन करना समाज का कर्तव्य है। गार्नर का कथन है कि "मनुष्य की बौद्धिक, नैतिक तथा भौतिक आवश्यकताओं का उसकी अपेक्षा समाज ही श्रेष्ठतर निर्णायक हो सकता है। वह जीवन तथा स्वास्थ्य के संकटों से उसकी इच्छा के विपरीत भी उसकी रक्षा कर सकता है।"

(6) प्रतियोगिता दुर्बलों के लिए हानिकारक होती है—हस्तक्षेप न करने की नीति का मुख्य आधार स्वतन्त्र प्रतियोगिता है। परन्तु प्रतियोगिता के कारण शक्तिशाली व्यक्तियों की तुलना में निर्बलों को निश्चित रूप से हानि उठानी पड़ती है। स्वतन्त्र प्रतियोगिता के परिणामस्वरूप समाज में गरीबी, भुखमरी, शोषण, अनैतिकता तथा असमानता का जन्म होता है। आर्थिक क्षेत्र में स्वतन्त्र प्रतियोगिता से एकाधिकार की प्रवृत्ति, माँग तथा पूर्ति के बीच असमानता तथा अनुचित लाभ की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है। जोड के अनुसार, "स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का, जिसका राजनीति में अत्यधिक महत्व होता है, आर्थिक क्षेत्र में प्रयोग अत्यधिक घातक रहा है।"[1]

(7) आर्थिक क्षेत्र में राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक हो गया है—व्यक्तिवादी विचारधारा आर्थिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप का विरोध करती है। परन्तु वर्तमान परिस्थितियों के कारण आर्थिक क्षेत्र में राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक हो गया है। अब

1 "The doctrine of liberty of which the importance can not be over estimated in politics, worked disastrously when applied in the field of economics" —C E M Joad *Introduction to Modern Political Theory*, p 29

पुराने घरेलू उद्योग-धन्धो का स्थान बड़े पैमाने के उत्पादन ने ले लिया है। कारखानो मे काम करने के लिए शहरो मे आबादी बढती जा रही है। आज व्यक्ति अपने साथियो पर जितना निर्भर है उतना पहले कभी नही था। अत इन बदली हुई परिस्थितियो मे राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक हो गया है। गिलक्राइस्ट ने लिखा है कि "हमे मकानों से सम्बन्धित कानूनो की आवश्यकता है जिससे बीमारियों व घनी आबादी को रोका जा सके ऐसे श्रमिक कानूनों की आवश्यकता है जिससे बच्चों से काम लेने तथा उनकी शक्ति के ह्रास की रोकथाम की जा सके और कारखानों से सम्बन्धित कानूनो की आवश्यकता है जिससे अरक्षित मशीनों तथा अनुचित खतरों को नियन्त्रित किया जा सके।"

(8) योग्यतम की विजय अमानवीय धारणा है—स्पेन्सर का योग्यतम की विजय का तर्क एक अमानवीय धारणा है। यह सिद्धान्त पशु जगत पर भले ही लागू होता हो परन्तु इसे मानव जगत पर लागू करना उचित नही है। इस सिद्धान्त को अपना लेने का परिणाम यह होगा कि समाज मे हिंसा और जगलीपन का बोलबाला हो जायेगा। इसके अतिरिक्त किसी की विजय का तात्पर्य यह नहीं है कि वह निश्चित रूप से श्रेष्ठतम तथा योग्यतम ही हो। लीकॉक के शब्दो मे, 'यदि बच रहना ही योग्यतम की एकमात्र कसौटी है तब तो सेंध लगाकर चोरी करने वाला सम्पन्न चोर हमारी प्रशंसा का तथा भूखो मरने वाला शिल्पकार हमारी घृणा का पात्र हो जाता है।" यह सिद्धान्त मानव जाति तथा मानव सभ्यता के अन्त का सूचक है।

(9) शासन की भूलों का वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण है—व्यक्तिवादी विचारको ने अतीत म की गई शासन की भूलो का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है। यदि अतीत मे सरकारो ने गलतियाँ की है तो इसका तात्पर्य यह नही है कि भविष्य मे भी सरकारें वैसी ही गलतियाँ करेंगी। सरकार की तुलना मे तो व्यक्ति तथा निजी सस्थाएँ अधिक गलतियाँ किया करते हैं। यदि राज्य ने कभी कुछ भूल भी की है तो दूसरी ओर उसने अनेक क्षेत्रो मे उल्लेखनीय कार्य भी किये है। इसलिए सरकार को उसकी विफलता के लिए जो दोष दिया जाता है, वह न्यायसगत नही है। हक्सले ने ठीक ही कहा है कि "राज्य एक शीशे के मकान मे रहता है जिसमे हम उसके कार्यों तथा भूलों को भली प्रकार देख सकते हैं परन्तु निजी उद्योग ईंट तथा चूने से बनी हुई दीवारों के पीछे सुरक्षित है, जहाँ जनता शायद ही कभी जान पाती है कि वे क्या-क्या करते हैं।"

(10) व्यक्तिवाद नैतिक दृष्टि से अपूर्ण है—लास्की ने व्यक्तिवाद को नैतिक दृष्टि से अपूर्ण बताया है। उसके शब्दो मे, 'व्यक्तिवाद का अर्थ है—क्षीण स्वास्थ्य, अविकसित मस्तिष्क, शोचनीय निवास स्थान और ऐसा काम जिसमे अधिकाश व्यक्तियों की कोई रुचि न हो। कमजोरी का अनुचित लाभ उठाया जाता है। मजदूरो की सौदा करने की शक्ति पूंजीपति की शक्ति के बराबर न होने के कारण मजदूर आर्थिक दौड मे प्रायः हार जाता है।"

व्यक्तिवाद का महत्व—उपरोक्त विवेचन के आधार पर व्यक्तिवादी विचारधारा को पूर्णतया निरर्थक मान लेना भी उचित नही है। व्यक्तिवादियो की इस बात को प्राय सभी आधुनिक विचारक स्वीकार करते हैं कि व्यक्तिगत जीवन मे राज्य का अनावश्यक एवं अत्यधिक हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए तथा नागरिकों के कुछ मौलिक अधिकार होने चाहिए जिनका सरकार अतिक्रमण न कर सके। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री हेडले (Hadley) का मत है कि "व्यक्तिवादियो के सिद्धान्तों ने जनता को राज्य-धर्म को सार्वजनिक सदाचार, पुलिस कार्य को ही सार्वजनिक सुरक्षा तथा राज्य-सम्पत्ति को ही सार्वजनिक सम्पत्ति समझ लेने की भूल से बचना सिखाया है।" गिलक्राइस्ट के अनुसार, 'स्वावलम्बन पर जोर देकर, अनावश्यक सरकारी हस्तक्षेप का विरोध करके तथा समाज में व्यक्ति के महत्व का प्रतिपादन करके इसने आधुनिक चिन्तन को महत्वपूर्ण योगदान दिया है।'[1]

समाजवादी सिद्धान्त
(Socislistic Theory)

सिद्धान्त का उदय—राज्य के कार्यो के सम्बन्ध में व्यक्तिवादी सिद्धान्त के ठीक विपरीत एक दूसरा सिद्धान्त है जिसे हम समाजवादी सिद्धान्त कह सकते हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि व्यक्तिवादी सिद्धान्त के परिणामस्वरूप समाज मे शोषण, अन्याय, निर्धनता तथा असमानता को बढावा मिला। आर्थिक क्षेत्र मे हस्तक्षेप न करने की नीति का परिणाम यह हुआ कि व्यक्तिवाद ने पूंजीवाद का स्वरूप ग्रहण कर लिया। इस विचारधारा की प्रतिक्रियास्वरूप समाजवाद का जन्म हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक समाजवाद काफी लोकप्रिय हो गया और इसमे कई मत-मतान्तर हो गये।

समाजवाद शब्द की उत्पत्ति 'सोसियस' (Sociuss) से हुई है जिसका अर्थ समाज है। इस प्रकार शब्द-उत्पत्ति की दृष्टि से समाजवाद का सम्बन्ध समाज सुधार से है। समाजवाद पूंजीवाद को समाप्त कर एक नये समाज का निर्माण करना चाहता है। समाजवादी व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य आर्थिक समानता की स्थापना करना है। इसके लिए यह उत्पादन तथा वितरण के महत्वपूर्ण साधनो का समाजीकरण करना चाहता है। समाजवादी व्यवस्था मे उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन होगा जिनकी समाज को आवश्यकता है। उत्पादन का आधार सामाजिक हित होगा, किसी व्यक्ति अथवा वर्ग का लाभ नहीं। समाजवाद कारखाने के प्रबन्ध मे श्रमिकों को भी भाग देने का अधिकार प्रदान करता है। उसका उद्देश्य व्यक्ति को यथार्थ रूप में स्वतन्त्र बनाना है।

---

1 "In emphasising self-reliance, in combating needless governmental interference, in urging the value of individual in society, it has contributed much to the versility of modern thought."
—R. N. Gilchrist : *Principles of Political Science*, p 445.

समाजवाद की परिभाषा—समाजवाद की कोई सर्वमान्य परिभाषा देना बहुत कठिन है। इसका कारण यह कि समाजवाद के समर्थकों ने इसकी व्याख्या विभिन्न प्रकार से की है। इसके बारे मे यह कहा जाता है कि समाजवाद की उतनी ही परिभाषाएँ हैं जितने इसके विचारक हैं। इन विभिन्नताओं के कारण समाजवाद का अभी तक कोई निश्चित एवं सर्वसम्मत रूप नहीं बन पाया है। इस सम्बन्ध में प्रो॰ जोड ने लिखा है कि 'समाजवाद एक ऐसे टोप के समान है जिसकी आकृति इसलिए बिगड़ गई है क्योंकि हर कोई उसे धारण करने का प्रयत्न करता है।"[1] इसी बात को रैमजे म्योर ने इस प्रकार लिखा है कि 'यह एक गिरगिट के समान है जो परिस्थितियों के अनुरूप अपना रंग बदलता रहता है।"[2] फिर भी विभिन्न विद्वानों द्वारा समाजवाद की जो परिभाषाएँ की गई हैं, वे निम्नलिखित हैं :

(1) मैक्स बियर के शब्दों में, "यदि लोकतन्त्रवाद का तात्पर्य यह है कि राजनीतिक विषयों का शासन जनता द्वारा तथा जनता के हित में हो, तो समाजवाद का उद्देश्य उत्पादन के साधनों पर जनता के हित में जनता का आधिपत्य स्थापित करना है।"

(2) एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार, "समाजवाद वह नीति या सिद्धान्त है जिसका उद्देश्य लोकतान्त्रिक केन्द्रीय सत्ता द्वारा वर्तमान व्यवस्था के स्थान पर सम्पत्ति के उत्पादन तथा वितरण की एक श्रेष्ठ व्यवस्था स्थापित करना है।"[3]

(3) रैमजे मैकडोनाल्ड के शब्दों में, "समाजवाद का लक्ष्य समाज की भौतिक तथा आर्थिक शक्तियों को संगठित करना और उन पर सामाजिक नियन्त्रण स्थापित करना है।"[4]

(4) सेलर्स के अनुसार, "समाजवाद एक ऐसा लोकतन्त्रात्मक आन्दोलन है

---

1 'Socialism is like a hat that has lost its shape because everybody wears it." —C. E. M. Joad

2 'It is a chameleon creed, it changes its colour according to environments." — Ramsay Muir

3 "Socialism is that policy or theory, which aims at securing by the action of the central democratic authority a better distribution and in due subordination there to a better production of wealth than now prevails." —Encyclopaedia Britannica

4. Socialism aims at the organisation of the material economic forces of society and their control of the human forces." —Ramsay Macdonald

जिसका उद्देश्य समाज मे एक ऐसा आर्थिक सगठन स्थापित करना है जो व्यक्ति को एक साथ अधिकतम न्याय और स्वतन्त्रता प्रदान कर सके।"[1]

(5) बर्ट्रेण्ड रसेल के शब्दो मे, "समाजवाद का अर्थ भूमि तथा सम्पत्ति पर सामाजिक स्वामित्व स्थापित करना है, साथ ही लोकतन्त्रीय शासन को स्थापित करना है।"

उपर्युक्त परिभाषाओ से समाजवाद के कुछ मूल सिद्धान्त स्पष्ट होते है जो इस प्रकार हैं (1) व्यक्तिगत सम्पत्ति का अन्त, (2) उत्पादन तथा वितरण के साधनो पर सार्वजनिक नियन्त्रण, (3) व्यक्ति की तुलना मे समाज को प्रधानता, (4) उन्नति के अवसरो मे समानता, (5) समाज मे शोषण की व्यवस्था का अन्त, इत्यादि।

समाजवाद के तत्व—समाजवाद के प्रमुख तत्त्व निम्नलिखित हैं

(1) *व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्व* समाजवाद व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्त्व देता है। समाज के हित मे ही व्यक्ति का हित निहित है। फ्रेड ब्रेमले के अनुसार, '*व्यक्तिगत स्वार्थों को सामाजिक स्वार्थों के अधीन मानना समाजवादी दर्शन मे अवश्य रूप से निहित है।*'[2] समाजवादी व्यवस्था मे उत्पादन का आधार सामाजिक हित होगा, किसी व्यक्ति अथवा वर्ग का लाभ नही।

(2) **पूँजीवाद का अन्त** समाजवाद पूँजीवाद को समूल नष्ट कर देना चाहता है। पूँजीवादी व्यवस्था का उद्देश्य शोषण करके व्यक्तिगत लाभ उठाना है। परन्तु समाजवाद का उद्देश्य सम्पूर्ण समाज का हित है। इसलिए समाजवाद उत्पादन और वितरण की व्यवस्था को सामाजिक न्याय के आधार पर सगठित करना चाहता है।

(3) **स्वतन्त्र प्रतियोगिता का अन्त**—समाजवाद असामाजिक प्रतियोगिता का अन्त कर देना चाहता है। स्वतन्त्र प्रतियोगिता समाज मे आर्थिक एव सामाजिक दुष्परिणामो को जन्म देती है। अत समाजवाद स्वतन्त्र प्रतियोगिता को समाप्त करके उत्पादन के सहयोग के आधार पर सगठित करना चाहता है। डा० हाडेन गेस्ट के अनुसार, '*समाजवाद स्थानीय राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय मामलों मे प्रतिस्पर्धा के स्थान पर सहयोग की स्थापना करना चाहता है।*"[3]

1 "Socialism is a democratic movement, whose purpose is the securing of an economic organisation of society, which will give the maximum possible at any time of justice and liberty" — Sellers

2 'Socialism implies the subordination of the individual interests of the community." —Fred Bramly

3. "Socialism is the substitution of co-operation for competition in local, national and international affairs." —Haden Guest

(4) उत्पादन तथा वितरण के साधनो पर राज्य का नियन्त्रण—पूँजीवाद का एक बहुत बड़ा दुर्गुण उसकी आर्थिक विषमता है। समाजवाद इस विषमता का अन्त कर आर्थिक समता की स्थापना करना चाहता है। वह चाहता है कि समाज मे सभी व्यक्तियो की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति अवश्य होनी चाहिए। इसके लिए वह उत्पादन तथा वितरण के साधनो पर राज्य के नियन्त्रण को आवश्यक समझता है।

(5) समानता की स्थापना—समाजवाद का मुख्य आधार आर्थिक एवं सामाजिक समानता की स्थापना है। समाजवाद एक ऐसे वर्गविहीन समाज की स्थापना करना चाहता है जिसमे कोई व्यक्ति अथवा वर्ग किसी दूसरे व्यक्ति तथा वर्ग का शोषण नहीं कर सके तथा जिसमे प्रत्येक व्यक्ति को उन्नति के समान अवसर प्राप्त हो। लावेले का कहना है कि "सभी समाजवादी सिद्धान्तो का ध्येय यह है कि सामाजिक व्यवस्था मे अधिक समानता लायी जाए। समाजवाद सबको समान स्तर पर लाने वाला है।"[1]

(6) आर्थिक क्षेत्र मे स्वशासन—समाजवादी केवल आर्थिक समानता की ही माँग नही करते बल्कि वे आर्थिक क्षेत्र मे स्वशासन चाहते हैं। उनके अनुसार कारखाने मे काम करने वाले श्रमिक को कारखाने के सम्बन्ध मे समस्त जानकारी प्राप्त करने तथा उसके प्रबन्ध म अपनी सलाह देने का अधिकार होना चाहिए। इस तरह समाजवादी राजनैतिक स्तर के साथ-साथ आर्थिक स्तर पर भी स्वशासन कायम करना चाहते हैं।

(7) राज्य एक अच्छाई—समाजवाद की यह मान्यता है कि राज्य एक अच्छाई तथा लोककल्याणकारी संस्था है जिसका उद्देश्य मनुष्यो का अधिकतम कल्याण करना है। इसलिए समाजवादियो की यह धारणा है कि व्यक्ति और समाज के कल्याण के लिए राज्य को अधिक से अधिक कार्य करने चाहिए। राज्य [redacted] कार्यों पर कोई अकुश लगाने की आवश्यकता नही है। उनका विश्वास है कि राज्य की सत्ता द्वारा ही सामाजिक न्याय स्थापित किया जा सकता है।

(8) सकारात्मक स्वतन्त्रता - समाजवादी विचारक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के विरोधी नहीं हैं। वे केवल ऐसी स्वतन्त्रता के विरोधी हैं जिसके परिणामस्वरूप अन्याय तथा असमानता को बढ़ावा मिलता है। उनके अनुसार सच्ची स्वतन्त्रता तभी सम्भव है जब नागरिकों को राजनीतिक क्षेत्र के साथ-साथ आर्थिक क्षेत्र मे भी स्वतन्त्रता प्राप्त हो।

समाजवाद के अनुसार राज्य का कार्यक्षेत्र—समाजवादी सिद्धान्त के समर्थक

1 "Every socialistic doctrine aims at introducing greater equality in social conditions, socialism is an equaliser and leveller."
— Lavelayt

राज्य को एक बुराई न मानकर सर्वोच्च एवं निश्चित रूप से एक लाभप्रद संस्था मानते हैं जिसका उद्देश्य जनसाधारण के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना है। इसलिए यह सिद्धान्त राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित करने के स्थान पर उसे बहुत व्यापक बनाना चाहता है। जैसाकि डॉ० गार्नर ने लिखा है कि 'इस सिद्धान्त के समर्थक, व्यक्तिवादियों की भाँति राज्य पर अविश्वास करने तथा उसे बुराई मानकर उसके कार्यक्षेत्र को कम से कम करने के विपरीत राज्य को सर्वोच्च एवं निश्चित रूप से लाभप्रद मानते हैं और चाहते हैं कि राज्य के कार्य जनता के सामान्य, आर्थिक, बौद्धिक एवं नैतिक हितों की अभिवृद्धि करें।"

समाजवादी विचारधारा के अनुसार राज्य को वे सब कार्य करने चाहिए जो व्यक्ति और समाज की उन्नति के लिए आवश्यक हों। समाजवादी राज्य के कार्य संक्षेप में इस प्रकार हैं प्रथम तो, समाजवाद आर्थिक क्षेत्र में स्वतन्त्र प्रतियोगिता का अन्त करके राज्य को अधिकाधिक कार्य सौंपना चाहता है। द्वितीय, राज्य के द्वारा सभी अवस्थाओं में व्यक्ति के आचरण का नियमन और संचालन किया जाना चाहिए जिससे सार्वजनिक हित की वृद्धि हो सके। तृतीय उत्पादन तथा वितरण के समस्त साधनों पर राज्य का नियन्त्रण होना चाहिए जिससे पूँजीपतियों के द्वारा श्रमिकों का शोषण न किया जा सके। चतुर्थ, इस विचारधारा के अनुसार राज्य को बाहरी आक्रमण से सुरक्षा, आन्तरिक शान्ति तथा व्यवस्था एवं न्याय की व्यवस्था जैसे अनिवार्य कार्य तो करने ही होते हैं परन्तु उसे वे सब कार्य भी करने चाहिए जो व्यक्तिगत क्षेत्र द्वारा या तो बिलकुल नहीं किये जा सकते या जिनके करने से भ्रष्टाचार अथवा अव्यवस्था फैलती है। पंचम यह राज्य के कार्यक्षेत्र को केवल पुलिस कार्यों अथवा सुरक्षात्मक कार्यों तक ही सीमित नहीं रखना अपितु समाज के हित में किये जाने वाले समस्त सुधारात्मक तथा विकास सम्बन्धी कार्यों को राज्य के कार्य-क्षेत्र में सम्मिलित करता है। उदाहरण के लिए राज्य को शिक्षा स्वास्थ्य, मनोरंजन आदि का प्रबन्ध, आर्थिक विषमता का अन्त अपाहिज एवं असमर्थ लोगों की सहायता आदि से सम्बन्धित सभी कार्य करने चाहिए। षष्ठम, राज्य को व्यापार तथा व्यवसाय का भी उचित नियमन करना चाहिए। सप्तम, उसे इस प्रकार की व्यवस्था करनी चाहिए जिससे सम्पत्ति का उचित वितरण हो सके और प्रत्येक व्यक्ति को श्रम के अनुपात में वेतन मिले।

संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि सामाजिक जीवन के प्राय ऐसे सभी कार्य जो समाज हित की दृष्टि से आवश्यक हों, राज्य के कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाते हैं।

समाजवाद के पक्ष में तर्क—समाजवादी विचारधारा राज्य के कार्य क्षेत्र का अधिकतम विस्तार करना चाहती है। इसके समर्थन में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं।

(1) **पूँजीवादी व्यवस्था के दोषों का निवारण**—समाजवाद के द्वारा पूँजीवादी व्यवस्था से उत्पन्न दोषों का निवारण किया जा सकता है। वर्तमान पूँजीवादी

व्यवस्था मे उत्पादन के साधनो पर मुट्ठी भर लोगो का एकाधिकार होता है जो श्रमिकों का शोषण करते हैं। इसमे श्रमिको को अपने श्रम का उचित फल प्राप्त नहीं होता क्योंकि उनके श्रम का अधिकाश भाग लाभ के रूप मे पूँजीपतियो के पास चला जाता है। इस व्यवस्था मे निर्धन दिन प्रतिदिन अधिक निर्धन बनते जा रहे हैं तथा पूँजीपतियों पर उनकी निर्भरता भी बढती जा रही है और दूसरी ओर धनिक अधिक धनी बनते जा रहे हैं। पूँजीवादी व्यवस्था के इन दोषो को दूर करने का एकमात्र उपाय यह है कि उत्पादन के समस्त साधनो पर राज्य का नियन्त्रण होना चाहिए। समाजवाद इसी बात का प्रतिपादन करता है।

(2) न्याय तथा औचित्य के सिद्धान्त पर आधारित—समाजवादी विचारधारा न्याय तथा औचित्य के सिद्धान्त पर आधारित है। भूमि तथा उसके अन्दर पाई जाने वाली खनिज सम्पत्ति मानव जाति के लिए प्रकृति की देन है। प्रकृति द्वारा प्रदत्त वस्तुओ से सभी व्यक्तियो को समान रूप से लाभ प्राप्त करने का अवसर होना चाहिए। अत प्राकृतिक साधनो पर समान रूप से सबका अधिकार होना चाहिए, कुछ थोडे से व्यक्तियो का एकाधिकार नही। उत्पादन के साधनो के सम्बन्ध मे यही बात सत्य है।

(3) प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग की स्थापना—पूँजीवादी व्यवस्था का आधार अनियन्त्रित प्रतियोगिता है। अनियन्त्रित प्रतियोगिता अनेक दुष्परिणामो को जन्म देती है, जैसे श्रमिकों को कम वेतन मिलता है, उत्पादन अधिक होता है, माल सस्ता बिकता है, मजदूरो मे बेकारी बढती है, इत्यादि। समाजवादी विचारधारा प्रतियोगिता का अन्त तथा उसके स्थान पर सहयोग के सिद्धान्त की स्थापना करती है जिससे लोगों को समान अवसर तथा समान लाभ प्राप्त हो सकें।

(4) व्यक्तिगत चरित्र का विकास—वर्तमान औद्योगिक प्रतियोगिता से अन्याय, असमानता, भ्रष्टाचार तथा भौतिकवाद का जन्म होता है और व्यक्तियों के नैतिक चरित्र का पतन होता है। इसके विपरीत, सहयोग पर बल दिये जाने के कारण समाजवादी व्यवस्था मे उच्च कोटि के व्यक्तिगत चरित्र का विकास होगा और व्यक्ति को पर्याप्त मात्रा मे सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त होगी। अत व्यक्ति को अपने चारित्रिक उत्थान के लिए राज्य के मार्गदर्शन तथा उसकी रक्षा की आवश्यकता है।

(5) सावयव सिद्धात पर आधारित—समाजवादी विचारधारा, राज्य के सावयव सिद्धात पर आधारित है। व्यक्तिवादी विचारधारा व्यक्ति और समाज को एक-दूसरे से पृथक इकाई मानती है। इसके अनुसार दोनो के हितो का एक दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके विपरीत समाजवादी विचारधारा के अतर्गत जिस प्रकार का सम्बन्ध सम्पूर्ण शरीर तथा उसके अगो मे होता है, उसी प्रकार का सम्बन्ध समाज तथा व्यक्तियो म पाया जाता है। इसी तरह जिस प्रकार शरीर और उसके विभिन्न अगों के हित परस्पर विरोधी नहो हैं, उसी प्रकार समाज तथा व्यक्तियो के हित परस्पर विरोधी नहीं होते। दोनों के हित एक-दूसरे पर आश्रित है।

(6) समाजवादी व्यवस्था सच्चे लोकतन्त्र के अनुरूप—समाजवादी विचारकों का यह मत है कि लोकतन्त्र के लिए केवल समाजवादी व्यवस्था ही अधिक उपयुक्त है। वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था मे वास्तविक लोकतन्त्र सम्भव नही है। समाजवादी व्यवस्था आर्थिक विषमताओ का अन्त करके राजनीतिक लोकतन्त्र के साथ-साथ आर्थिक लोकतन्त्र भी स्थापित करना चाहती है जिससे समाज मे प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों एव स्वतन्त्रताओ का वास्तविक उपभोग कर सके। अत समाजवाद लोकतन्त्र का आर्थिक पूरक है। यह वास्तविक लोकतन्त्र के अनुरूप तथा उसकी स्थापना मे सहायक है।

समाजवाद के विपक्ष मे तर्क- यद्यपि समाजवादी सिद्धान्त आधुनिक युग का सर्वप्रचलित सिद्धान्त बन गया है परन्तु फिर भी इसकी कटु आलोचना की जाती है। आलोचकों ने समाज को अव्यावहारिक, अमनोवैज्ञानिक एव अक्रियात्मक कहकर पुकारा है। प्रो० हर्नशा (Hearnshaw) ने तो यहाँ तक कहा है कि "समाजवाद की ओर केवल दो ही प्रकार के लोग आकृष्ट हैं—एक तो सनकी अथवा पागल वर्ग और दूसरा अपराधी वर्ग।" समाजवाद की आलोचना मुख्यतया निम्नलिखित आधारो पर की जाती है

(1) राज्य सर्वशक्तिमान बन जायेगा—आलोचकों का मत है कि समाजवादी व्यवस्था मे उत्पादन और वितरण के समस्त साधनों पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण हो जाने से राज्य सर्वशक्तिमान बन जायगा। इस अवस्था मे राज्य मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे हस्तक्षेप करेगा और मानव की स्थिति राज्य मे एक दास के समान होगी। राज्य के द्वारा अत्यधिक हस्तक्षेप व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास मे सहायक होने के स्थान पर बाधक होगा।

(2) राज्य की कार्य कुशलता मे कमी—राज्य का कार्यक्षेत्र जितना व्यापक होगा, उसकी कार्यकुशलता मे उतनी ही कमी आ जायगी। सरकार पर आधुनिक समाज के समस्त जटिल उद्योगो के संचालन का भार डाल देने से, यदि वह बैठ नही जायेगी तो कम से कम अकार्यक्षम अवश्य हो जायेगी। गार्नर के शब्दो मे, "एक बड़े राज्य की विशाल जनता के लिए समस्त जीवनोपयोगी वस्तुओ की व्यवस्था, श्रम की व्यवस्था और वस्तुओं का वितरण एक ऐसा महान कार्य है जिसे कोई भी सरकार सन्तोषप्रद ढग से नहीं कर सकती।"

(3) नौकरशाही के प्रभाव मे वृद्धि— समाजवादी व्यवस्था मे सभी उद्योगो पर राज्य का नियन्त्रण होगा और इन उद्योगो का संचालन सरकारी अधिकारियो द्वारा किया जायेगा। इसके परिणामस्वरूप नौकरशाही के प्रभाव मे वृद्धि होगी। राज्य के कार्यों मे अत्यधिक वृद्धि होने के कारण लाल-फीताशाही बढ़ेगी, काम मे अनावश्यक देरी होगी तथा बेईमानी और भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलेगा।

(4) उत्पादन मे कमी—समाजवादी व्यवस्था मे व्यक्ति को अधिक परिश्रम करने की कोई प्रेरणा नही रहती क्योंकि अधिक उत्पादन से होने वाला लाभ उसे

प्राप्त नहीं होता। व्यक्तिगत प्रेरणा के अभाव में उत्पादन में परिमाण तथा गुण दोनों दृष्टियों से ही कमी हो जायगी। लाभ प्राप्ति की आशा न होने के कारण वेतनभोगी सरकारी प्रबन्धक निरुत्साही होंगे और उन्हें उत्पादन की वृद्धि में कोई रुचि नहीं होगी तथा श्रमिकों को भी कोई प्रोत्साहन नहीं होगा। इसका परिणाम यह होगा कि उत्पादन की गति कम हो जायेगी।

(5) व्यक्ति का नैतिक सिद्धान्त—समाजवादी व्यवस्था में राज्य के कार्यक्षेत्र की व्यापकता तथा नौकरशाही के प्रभाव के कारण व्यक्तियों की मनोवृत्ति प्रत्येक कार्य के लिए राज्य का मुँह ताकने की बन जायेगी। उनमें आत्म विश्वास और स्वावलम्बन के नैतिक गुणों का अस्त हो जायेगा, वे आलसी और अकर्मण्य हो जायेंगे, उनकी प्रतिभा कुण्ठित हो जायेगी, उनमें आत्म प्रेरणा तथा उत्तरदायित्व की भावना समाप्त हो जायेगी, उनके व्यक्तित्व का दमन होगा और इस प्रकार व्यक्तियों का नैतिक पतन हो जायेगा।

(6) व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अन्त—समाजवादी व्यवस्था में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता राज्य को समर्पित कर दी जाती है। व्यक्ति सम्पूर्ण समाज के एक यान्त्रिक अंग से अधिक कुछ नहीं रह जाता। उसकी कोई स्वतन्त्र इच्छा नहीं रहती और न उसे विचार एवं कार्य करने की ही स्वतन्त्रता रहती है। इस प्रकार स्वतन्त्रता के स्थान पर वास्तविक दासता की स्थिति स्थापित हो जायेगी।

(7) समाजवादी सिद्धान्त का आधार दोषपूर्ण—समाजवादी सिद्धान्त का आधार मिथ्या एवं दोषपूर्ण है। यह व्यक्तियों के सम्पत्ति प्राप्त करने तथा वस्तुओं के संचय करने के अधिकार को नष्ट करके श्रम की प्रेरणा को ही नष्ट कर देता है। इससे मानव प्रगति में बाधा पहुँचती है। आर्थिक क्षेत्र में समानता स्थापित करने के प्रयत्न को कभी न्यायोचित नहीं कहा जा सकता। लेवेलिए (Leveleye) का मत है कि 'समाजवाद इस सिद्धान्त पर आधारित है कि उद्योगी, सुयोग्य तथा मितव्ययी व्यक्ति अपने गुणों एवं परिश्रम से जो फल प्राप्त करते हैं, उसे आलसियों, मूर्खों तथा अपव्ययी व्यक्तियों में समान रूप से बाँट दिया जाए।" इसी कारण बेविडसम समाजवाद को 'एक संगठित एवं व्यवस्थित लुटेरापन' मानता है। यह सिद्धान्त राज्य को ऐसे कार्य सौंपना चाहता है जिसके वह योग्य नहीं है तथा श्रमिकों को ऐसे विशेषाधिकार देना चाहता है जिनकी प्राप्ति का उन्हें कोई अधिकार नहीं है।

महत्व—यद्यपि समाजवाद की अनेक आधारों पर आलोचना की जाती है परन्तु फिर भी वर्तमान समय में संसार के अधिकांश राज्यों द्वारा समाजवादी व्यवस्था को अपनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। इससे इस सिद्धान्त की उपयोगिता का पता चलता है। इस व्यवस्था का सबसे बड़ा गुण यह है कि यह वैयक्तिक हित की अपेक्षा सामाजिक हित को प्रधानता देता है। इसका लक्ष्य मानव जाति की सेवा तथा उसका नैतिक उत्थान करना है। छोटे उद्योग धन्धों को तो निजी स्वामित्व में छोड़ा जा सकता है परन्तु बहुत-से लोगों के जीवन पर प्रभाव डालने वाले बड़े उद्योग धन्धों

पर राज्य का स्वामित्व एवं नियन्त्रण होना ही चाहिए। सर विलियम हारकोर्ट का कथन है कि "आज हम सब समाजवादी हैं क्योंकि हम सभी किसी न किसी हद तक सामाजिक न्याय स्थापित करना चाहते हैं।"

अभ्यास के प्रश्न

1. 'उत्पादन के साधनों पर सामाजिक नियन्त्रण होना चाहिए।' इस कथन के आधार पर राज्य के कार्य क्षेत्र के सम्बन्ध में समाजवादी सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
2. 'राज्य द्वारा व्यक्ति को अपने आर्थिक कार्यों में अकेला अथवा स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिए।' इस कथन के आधार पर राज्य के कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध में व्यक्तिवादी सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
3. 'नागरिकों से सम्बद्ध कोई ऐसा कार्य नहीं है जो राज्य के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आता हो।' इस कथन का परीक्षण कीजिए।
4. इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं कि 'केवल एक धर्म-निरपेक्ष तथा समाजवादी राज्य ही व्यापक जन कल्याण का संरक्षक हो सकता है।' कारण सहित उत्तर स्पष्ट कीजिए।
5. राज्य के अनिवार्य तथा ऐच्छिक कार्यों में क्या भेद है ? वर्तमान समय में राज्य के द्वारा किये जाने वाले कार्यों की व्याख्या कीजिए।
6. "व्यक्तिवादी सिद्धान्त असत्य मान्यताओं पर आधारित है।" इस सिद्धान्त के समर्थकों के तर्कों की समीक्षा कीजिए। (राजस्थान विश्व०, 1975)
7. वह सरकार सर्वोत्तम है, जो कम से कम शासन करती है। स्पष्ट कीजिए।
(राजस्थान विश्व०, 1974)

12

लोक कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त

[THE CONCEPT OF WELFARE STATE]

"राज्य की उत्पत्ति जीवन की आवश्यकताओं के लिए हुई है परन्तु इसका अस्तित्व श्रेष्ठ जीवन के लिए बना हुआ है।"[1] —अरस्तू

लोक कल्याणकारी राज्य की धारणा का उदय तथा विकास

वर्तमान समय में राज्य के कार्य क्षेत्र के सम्बन्ध में एक नवीन विचारधारा का विकास हुआ है जिसे लोक कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त कहा जाता है। यह सिद्धान्त राज्य को अनावश्यक अथवा बुराई नहीं समझता बल्कि इसके ऊपर जन कल्याण से सम्बन्धित समस्त कार्यों की जिम्मेदारी डालता है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक ऐसी संस्था है जिसका उद्देश्य नागरिकों के जीवन को सुखी, सम्पन्न तथा श्रेष्ठ बनाना है।

लोक कल्याणकारी राज्य की धारणा अति प्राचीन है। महाभारत के शान्ति पर्व में यह कहा गया है कि "राज्य को निरन्तर सत्य की रक्षा करनी चाहिए, व्यक्तियों के नैतिक जीवन का पथ प्रदर्शन, शुद्धि तथा नियन्त्रण करना चाहिए और पृथ्वी को मनुष्य के रहने योग्य एवं सुखदायी बनाना चाहिए।" कौटिल्य ने राज्य के कार्यों का जो विवेचन किया है, उससे राज्य का लोकहितकारी स्वरूप स्पष्ट होता है। इसी प्रकार के विचार प्राचीन यूनानी विचारकों के द्वारा व्यक्त किये गये थे। अरस्तू की मान्यता थी कि "राज्य की उत्पत्ति जीवन की आवश्यकताओं के लिए हुई है परन्तु उसका अस्तित्व मनुष्यों के जीवन को श्रेष्ठ बनाने के लिए है।"

कालान्तर में राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा व्यक्तिवादी विचारधारा के उदय के कारण राज्य के कार्य संकीर्ण हितों की पूर्ति तक सीमित हो गये। व्यक्तिवादी

---

1. "The State originates in the bare needs of life, but it continues for the sake of good life" —Aristotle

विचारधारा ने राज्य को एक बुराई बताकर उसके कार्यक्षेत्र को अत्यन्त सीमित कर दिया और 19वीं शताब्दी के अन्त तक राज्य का कार्यक्षेत्र केवल पुलिस कार्य तक ही सीमित रहा। राज्य का मुख्य कार्य शान्ति व व्यवस्था स्थापित रखना था। जनकल्याण से सम्बन्धित कार्य व्यक्तियों या व्यक्ति-समूहों के ऊपर छोड़ दिये गये थे। इस नीति का परिणाम यह हुआ कि पूँजीपतियों के द्वारा श्रमिकों का भारी शोषण किया जाने लगा। धीरे धीरे इस शोषण के विरुद्ध आवाज उठने लगी और यह विचार जोर पकड़ने लगा कि राज्य को पूँजीपतियों के शोषण से श्रमिकों की रक्षा करनी चाहिए तथा बहुसंख्यक निर्धन वर्ग के हित में उसे ठोस कार्य करने चाहिए। बैन्थम ने 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम हित' को राज्य का उद्देश्य बताया। इससे प्रेरित होकर इंगलैंड में श्रमिकों के कल्याण हेतु अनेक कानूनों का निर्माण किया गया। समाजवादी विचारधारा के उदय के परिणामस्वरूप पुलिस राज्य' की धारणा समाप्त होने लगी और राज्य के कार्यक्षेत्र का विस्तार होने लगा। लोकतन्त्र के विकास और मताधिकार के विस्तार के कारण यह माना जाने लगा कि राज्य का उद्देश्य अपने नागरिकों के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करना तथा उनके जीवन को सुखी, सम्पन्न एवं श्रेष्ठ बनाना है। लोकतन्त्र को वास्तविक रूप प्रदान करने के लिए यह आवश्यक माना जाने लगा कि राज्य लोकहित के दृष्टिकोण को अपना प्रमुख लक्ष्य बनाये। इसी से लोक कल्याणकारी राज्य की धारणा का प्रादुर्भाव हुआ और वर्तमान समय में संसार के प्रायः अधिकांश राज्यों द्वारा लोक कल्याणकारी धारणा' को अपना लिया गया है।

लोक कल्याणकारी राज्य का अर्थ एवं परिभाषा

लोक कल्याणकारी राज्य की धारणा लोकहित पर आधारित है। लोकहित से हमारा तात्पर्य व्यक्ति के अवसर की असमानता को दूर कर एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना करना है जिसमें व्यक्ति की सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव हो सके। इस व्यवस्था का उद्देश्य किसी वर्ग विशेष अथवा समुदाय विशेष के हितों की साधना न होकर सम्पूर्ण जनता के कुछ आवश्यक हितों की साधना करना होता है। वस्तुतः लोकहित से तात्पर्य व्यक्ति के सर्वांगीण हित साधन से होता है जिसमें उसके सामाजिक, नैतिक आर्थिक तथा बौद्धिक सभी प्रकार के हितों की साधना आ जाती है।

लोक कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त व्यक्तिवाद तथा समाजवाद दोनों का समन्वय करता है। यह एक मध्यममार्गी विचारधारा है जो व्यक्ति की राजनीतिक स्वतन्त्रता और उसकी आर्थिक समानता एवं सुरक्षा में सामञ्जस्य स्थापित करती है। यह सिद्धान्त समाजवाद के समान राज्य के कार्यक्षेत्र का विस्तार करना चाहता है परन्तु राज्य के कार्यक्षेत्र के विस्तार में व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं होता। राज्य व्यक्ति के जीवन में अनावश्यक रूप से न तो हस्तक्षेप ही करता है और न व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर कोई बन्धन ही लगाता है जब तक कि उसकी स्वतन्त्रता की

रक्षा के लिए ऐसा करना आवश्यक न हो जाय। इस प्रकार लोक कल्याणकारी राज्य का उद्देश्य व्यक्ति को सुखी तथा समृद्ध बनाना है, उसके प्रत्येक अधिकार क्षेत्र में हस्तक्षेप करना नहीं। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि लोक कल्याणकारी राज्य समाज के अधिकतम हित की प्राप्ति का एक सर्वोत्तम साधन है।

लोक कल्याणकारी राज्य की परिभाषा—अनेक विचारकों के द्वारा लोक-कल्याणकारी राज्य की परिभाषा की गयी है। इनमें से कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं

(1) डॉ॰ अब्राहम के शब्दों में, "लोक कल्याणकारी राज्य एक ऐसा समाज है जहाँ राज्य की शक्ति का प्रयोग आर्थिक व्यवस्था को [redacted] प्रकार परिवर्तित करने के लिए किया जाता है कि जिससे सम्पत्ति का अधिक से अधिक समान वितरण हो सके।"[1]

(2) टी॰ डब्ल्यू॰ केण्ट के अनुसार, "लोक-कल्याणकारी राज्य वह राज्य है जो अपने नागरिकों के लिए व्यापक समाज सेवाओं की व्यवस्था करता है। इन सेवाओं में शिक्षा, स्वास्थ्य, बेरोजगारी तथा वृद्धावस्था में पेंशन आदि की व्यवस्था शामिल है। इनका मुख्य उद्देश्य नागरिकों को सभी प्रकार की सुरक्षा प्रदान करना होता है।"[2]

(3) 'सामाजिक विज्ञानों के विश्व ज्ञान कोष' (Encyclopaedia of Social Sciences) में यह परिभाषा दी गई है कि "लोक कल्याणकारी राज्य का तात्पर्य एक ऐसे राज्य से है जो अपने सभी नागरिकों को न्यूनतम जीवन स्तर प्रदान करना अपना अनिवार्य उत्तरदायित्व समझता है।"

(4) हॉबमेन (Hobman) के शब्दों में, "लोक कल्याणकारी राज्य साम्यवाद और अनियन्त्रित व्यक्तिवाद के बीच एक समझौता है।"

(5) पं॰ जवाहरलाल नेहरू ने लोक कल्याणकारी राज्य की परिभाषा करते हुए कहा था कि "सबके लिए समान अवसर प्रदान करना, धनी और निर्धन लोगों के बीच अन्तर मिटाना तथा जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना लोक कल्याणकारी राज्य के आधारभूत तत्व हैं।"

(6) जी॰ डी॰ एच॰ कोल के अनुसार, "लोक कल्याणकारी राज्य एक ऐसा समाज है जिसमें प्रत्येक नागरिक को एक निश्चित जीवन स्तर की सुरक्षा एवं सुविधाएँ प्राप्त होती हैं।"

---

1 'A welfare state [redacted] a community where state's power is deliberately used to modify the normal play of economic forces, so as to obtain a more equal distribution of income for every citizen." —Dr Abraham

2 "It (welfare state) is a state provides for its citizens [redacted] wide range of social services." —T. W Kent

लोक कल्याणकारी राज्य की विशेषताएँ

लोक कल्याणकारी राज्य के अर्थ और उसकी परिभाषा के आधार पर उसकी निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं

(1) आर्थिक सुरक्षा की व्यवस्था—लोक कल्याणकारी राज्य को सर्वप्रथम व्यक्ति की आर्थिक सुरक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए क्योंकि इसके बिना व्यक्ति की राजनीतिक स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं होता। प्रायः यह देखा गया है कि जो लोग आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होते हैं, राजनीतिक शक्ति व्यवहार में उन्हीं लोगों के हाथों में केन्द्रित हो जाती है। यदि हम चाहते हैं कि राजनीतिक शक्ति जनसाधारण में निहित रहे तो यह आवश्यक हो जाता है कि जनता आर्थिक दृष्टि से समृद्ध बने। आर्थिक सुरक्षा के अन्तर्गत तीन बातें शामिल हैं

सर्वप्रथम, सभी व्यक्तियों के लिए एक न्यूनतम आर्थिक स्तर की प्राप्ति होनी चाहिए। न्यूनतम आर्थिक स्तर से तात्पर्य यह है कि राज्य के सभी व्यक्तियों की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए क्योंकि इनके बिना मनुष्य का जीवन ही निरर्थक हो जाता है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री क्राउथर ने कहा है कि 'नागरिकों के लिए अधिकार के रूप में उन्हें स्वस्थ बनाये रखने के लिए पर्याप्त भोजन की व्यवस्था की जानी चाहिए। उन्हें निवास तथा वस्त्र आदि के न्यूनतम स्तर की ओर से चिन्ता रहित होना चाहिए। उन्हें शिक्षा का पूर्ण तथा समान अवसर प्राप्त होना चाहिए। उन्हें जीवन का आनन्द भोगने के लिए अवकाश एवं साधन मिलने चाहिए। बेरोजगारी, बीमारी तथा वृद्धावस्था के दुःख से उनकी रक्षा होनी चाहिए।'

द्वितीय, व्यक्तियों की न्यूनतम तथा अधिकतम आय में कम से कम अन्तर होना चाहिए। यद्यपि व्यक्तियों में आय की पूर्ण समानता सम्भव नहीं है परन्तु फिर भी आय में इतना अन्तर भी नहीं होना चाहिए कि जिसके कारण कोई व्यक्ति किसी दूसरे का शोषण कर सके।

तृतीय राज्य को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिसमें सभी सक्षम व्यक्तियों को अपने जीवनयापन के लिए रोजगार प्राप्त हो सके। जो लोग काम करने में असमर्थ हों, उनके जीवनयापन की जिम्मेदारी राज्य की होनी चाहिए।

(2) राजनीतिक सुरक्षा की व्यवस्था—लोक हितकारी राज्य की दूसरी विशेषता यह है कि नागरिकों को राजनीतिक सुरक्षा प्राप्त होनी चाहिए जिससे व्यक्ति राज्य के लोक हितकारी कार्यों में सक्रिय भाग ले सकें। ऐसा न हो कि आर्थिक सुरक्षा के नाम पर व्यक्ति की राजनीतिक स्वतन्त्रता का बलिदान कर दिया जाए, जैसा कि साम्यवादी देशों में होता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से उसके आर्थिक हितों की साधना जितनी महत्वपूर्ण है उतनी ही महत्त्वपूर्ण राजनीतिक हितों की साधना भी है। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु दो बातें आवश्यक हैं:

सर्वप्रथम, तो लोक कल्याणकारी राज्य की शासन व्यवस्था आवश्यक रूप से लोकतन्त्रीय होनी चाहिए। यही एकमात्र ऐसी शासन व्यवस्था है जिसमें व्यक्ति के

आर्थिक तथा राजनीतिक दोनों प्रकार के हितों की साधना सम्भव होती है। इसी शासन व्यवस्था में अल्पमत को भी शान्तिपूर्ण तरीकों से अपने को बहुमत में परिवर्तित करके सरकार बनाने का अवसर रहता है। इस प्रकार का अवसर अन्य किसी भी शासन व्यवस्था में नहीं होता।

द्वितीय राजनीतिक हितों की साधना के लिए व्यक्तियों को नागरिक स्वतन्त्रताएँ प्राप्त होना आवश्यक है। इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्तियों को विचार प्रकट करने, राजनीतिक दलों का निर्माण करने, प्रचार करने तथा वैधानिक तरीकों से सरकार का विरोध करने का अधिकार होना चाहिए। नागरिक स्वतन्त्रताओं के अभाव में लोक कल्याणकारी राज्य आत्मा रहित शरीर के समान है।

(3) सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था—नागरिकों को सामाजिक सुरक्षा प्राप्त होना भी आवश्यक है। सामाजिक सुरक्षा से तात्पर्य सामाजिक समानता से है। लोक हितकारी राज्य का यह कर्तव्य है कि वह जाति, वंश, धर्म, रंग तथा सम्पत्ति आदि पर आधारित भेद भावों को समाप्त करके सामाजिक समानता स्थापित करे। सामाजिक समानता का सार यह है कि 'समाज के प्रत्येक व्यक्ति को जीवन-सम्बन्धी सुख प्राप्त करने का समान अधिकार होता है और किसी भी व्यक्ति के सुख का बलिदान दूसरे के सुख के लिए नहीं किया जा सकता तथा किसी व्यक्ति को दूसरे से कम महत्त्व का भी नहीं समझा जा सकता है।' सभी को अवसर की समानता तथा कानून के समक्ष समानता प्राप्त होनी चाहिए।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय हित की भावना—लोक कल्याणकारी राज्य का दृष्टिकोण केवल राष्ट्रीय न होकर अन्तर्राष्ट्रीय भी होना चाहिए। ऐसे राज्य के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने राज्य विशेष के हितों के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय हितों का भी ध्यान रखे तथा दूसरे राज्यों के साथ प्रतिस्पर्धा के स्थान पर पारस्परिक सहयोग एवं सह अस्तित्व की भावना को बढ़ावा दे। वर्तमान समय में कोई भी राज्य दूसरों से बिलकुल पृथक रहकर अथवा उनके हितों की उपेक्षा करके अपने को सुखी तथा समृद्ध नहीं बना सकता है। इस तरह लोकहित केवल राष्ट्रीय हित तक ही सीमित नहीं रहता। अतः एक लोक कल्याणकारी राज्य का आदर्श "वसुधैव कुटुम्बकम अर्थात् सम्पूर्ण संसार ही एक परिवार के समान है," होना चाहिए।

लोक कल्याणकारी राज्य के कार्य

लोक कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त व्यक्तिवाद तथा समाजवाद दोनों में समन्वय करता है। व्यक्तिवाद राज्य के कार्यक्षेत्र को अनिवार्य कार्यों तक ही सीमित रखना चाहता है जबकि समाजवाद ऐच्छिक कहे जाने वाले कार्यों को भी राज्य के अधिकार-क्षेत्र में रखना चाहता है। लेकिन लोक कल्याणकारी राज्य की धारणा के विकास के कारण अनिवार्य और ऐच्छिक कार्यों का भेद समाप्त हो गया है और अब यह माना जाने लगा है कि राज्य को ऐसे सभी कार्य करने चाहिए जो जनहित के लिए आवश्यक हों। वर्तमान समय में लोक कल्याणकारी राज्य जनसाधारण के जीवन-

स्तर को ऊंचा उठाने के लिए अनेक प्रकार के कार्य करता है। हॉब्सन ने ठीक ही लिखा है कि "लोक कल्याणकारी राज्य ने अपने ऊपर डॉक्टर, नर्स, शिक्षक, व्यापारी उत्पादक, बीमा कम्पनी के एजेन्ट, मकान निर्माता नगर नियोजक, रेलवे नियन्त्रक तथा इसी प्रकार के सैकड़ों दूसरे कार्य अपने हाथ मे ले लिए हैं।"[1]

संक्षेप मे, लोक कल्याणकारी राज्य के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं

(1) बाहरी आक्रमण से सुरक्षा—राज्य का प्रमुख कार्य बाहरी आक्रमण से अपनी भूमि की रक्षा करना है। इसके लिए प्रत्येक राज्य अपने यहाँ जल, थल तथा वायु सेना का संगठन करता है। वह संसार के दूसरे राज्यो के साथ कूटनीतिक तथा व्यापारिक सम्बन्ध कायम करता है।

(2) आन्तरिक शान्ति एव व्यवस्था—राज्य का दूसरा प्रमुख कार्य अपने क्षेत्र मे शान्ति एव व्यवस्था स्थापित करना है। इसके अभाव मे नागरिकों का जीवन तथा उनकी सम्पत्ति खतरे मे पड़ जायेगी और उनके व्यक्तित्व का विकास अवरुद्ध हो जायेगा। इसके लिए राज्य पुलिस, गुप्तचरो तथा सरकारी कर्मचारियो की व्यवस्था करता है।

(3) न्याय का प्रबन्ध प्रत्येक राज्य मे कुछ ऐसे असामाजिक व्यक्ति होते हैं जो दूसरो के जीवन तथा स्वतन्त्रता के लिए खतरा उत्पन्न करते रहते हैं। इसके अतिरिक्त प्राय प्रत्येक राज्य में जमीन-जायदाद आदि के सम्बन्ध मे भी झगड़े होते रहते हैं। इन सभी झगड़ों का निपटारा करने के लिए तथा अपराधियों को उचित दण्ड देने के लिए राज्य मे न्याय की समुचित व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए राज्य अपने यहाँ न्यायालयो की स्थापना करता है।

(4) पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन एव नियन्त्रण—राज्य के द्वारा व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धो का नियन्त्रण किया जाता है। इसके लिए राज्य कानूनो का निर्माण करता है। इसके अतिरिक्त वर्तमान समय में राज्य और व्यक्तियो के पारस्परिक सम्बन्धो का नियमन करना भी आवश्यक हो गया है। इसके लिए राज्य नागरिकों के अधिकारों तथा कर्तव्यों को निश्चित करता है।

(5) कृषि व्यापार तथा उद्योग-धन्धों का नियन्त्रण—लोक कल्याणकारी राज्य के द्वारा जनहित मे कृषि व्यापार तथा उद्योग-धन्धों पर नियन्त्रण रखा जाता है। कृषि की उन्नति के लिए राज्य सिंचाई का प्रबन्ध, अच्छे बीज तथा खाद का वितरण, किसानो को आर्थिक सहायता, नयी मशीनों के प्रयोग आदि की व्यवस्था करता है। देश के आर्थिक विकास के लिए राज्य आन्तरिक तथा वैदेशिक व्यापार,

---

1 'The State has assumed the duties of a doctor, a nurse, school master, trader and manufacturer, insurance agent, house builder, town planner, railway controller and a hundred other functions" —Hobson

वस्तुओं के उत्पादन, क्रय विक्रय, माप-तौल आदि पर नियन्त्रण रखता है। इसके अतिरिक्त वर्तमान समय में राष्ट्रीय महत्त्व तथा राष्ट्रीय सुरक्षा से सम्बन्धित उद्योगों पर राज्य का पूर्ण अधिकार होता है। राज्य प्राकृतिक साधनों तथा खनिज सम्पत्ति की भी रक्षा करता है।

(6) आर्थिक सुरक्षा की व्यवस्था—(i) राज्य को अपने सभी व्यक्तियों के लिए न्यूनतम आर्थिक स्तर की प्राप्ति की व्यवस्था करनी चाहिए। उसे ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि नागरिकों को स्वस्थ बनाये रखने के लिए पर्याप्त भोजन, वस्त्र निवास शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की सामान्य सुविधाएँ प्राप्त होती रहें। (ii) यद्यपि इस सम्बन्ध में कोई नियम नहीं बनाया जा सकता परन्तु फिर भी व्यक्तियों की न्यूनतम तथा अधिकतम आय में अन्तर कम से कम होना चाहिए जिससे कोई व्यक्ति अपने धन के आधार पर दूसरे का शोषण नहीं कर सके। (iii) राज्य को सभी सक्षम व्यक्तियों को उनकी योग्यतानुसार काम प्रदान करना चाहिए तथा असमर्थ व्यक्तियों के जीवन निर्वाह की व्यवस्था करनी चाहिए। इस तरह राज्य को बेरोजगारी, बीमारी तथा वृद्धावस्था से नागरिकों की रक्षा करनी चाहिए। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि राज्य को अपने नागरिकों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए भरसक प्रयत्न करना चाहिए।

(7) सामाजिक सुरक्षा एवं समाज सुधार के कार्य—लोकहितकारी राज्य का यह कर्तव्य है कि वह जाति, वंश, धर्म, रंग तथा सम्पत्ति आदि पर आधारित भेदभावों को समाप्त करके सामाजिक समानता की स्थापना करे। लोगों को अवसर की समानता प्राप्त होनी चाहिए तथा किसी व्यक्ति को दूसरे से अधिक महत्त्व नहीं दिया जाए। राज्य को समाज में व्याप्त छुआछूत, बाल विवाह, मद्यपान, जाति व्यवस्था आदि सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

(8) नागरिक स्वतन्त्रताओं की व्यवस्था—राज्य को अपने समस्त नागरिकों को विचार प्रकट करने, राजनीतिक दलों का निर्माण करने, प्रचार करने तथा वैधानिक तरीकों से सरकार का विरोध करने की स्वतन्त्रता प्रदान करनी चाहिए। राज्य में अल्पमत को शान्तिपूर्ण तरीकों से अपने को बहुमत में परिवर्तित करके सरकार बनाने का अवसर प्राप्त होना चाहिए।

(9) शिक्षा, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा की व्यवस्था—राज्य को नागरिकों के व्यक्तित्व का विकास करने के लिए एक निश्चित स्तर तक अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए। उसे उच्च शिक्षा एवं औद्योगिक तथा तकनीकी शिक्षा की व्यवस्था भी करनी चाहिए। उसे बीमारियों के फैलने की रोकथाम करनी चाहिए तथा उसे सार्वजनिक चिकित्सालयों द्वारा निःशुल्क चिकित्सा की व्यवस्था करनी चाहिए।

(10) सार्वजनिक हित सम्बन्धी कार्य—लोक कल्याणकारी राज्य के द्वारा सार्वजनिक हित में परिवहन के साधनों तथा डाक, तार, रेडियो, टेलीविजन आदि

की व्यवस्था की जाती है। राज्य बैंक, मुद्रा तथा करेन्सी आदि पर नियन्त्रण रखता है। मजदूरों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने तथा उन्हें शोषण से बचाने के लिए राज्य के द्वारा काम के अधिकतम घण्टे, न्यूनतम वेतन, काम की दशा में सुधार, जीवन बीमा, चिकित्सा, अवकाश आदि के सम्बन्ध में कानूनों का निर्माण किया जाता है।

(11) **मनोरंजन की सुविधाओं की व्यवस्था**—राज्य का यह भी कर्तव्य है कि अपने नागरिकों के स्वस्थ मनोरंजन के लिए समुचित व्यवस्था करे। इसके लिए राज्य को पार्क, सिनेमा, रेडियो, क्रीडा-क्षेत्रों, रंगमंच, नृत्य-गृह आदि की व्यवस्था करनी चाहिए।

(12) **अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि**—लोक हितकारी राज्य को राष्ट्रीय हित के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय हित का भी ध्यान रखना चाहिए। उसे विभिन्न राज्यों के साथ प्रतिस्पर्धा के स्थान पर पारस्परिक सहयोग एवं सह-अस्तित्व की भावना को अपनाना चाहिए। उसे इस भावना को प्रोत्साहित करना चाहिए कि संसार के विभिन्न राज्य अपने मतभेदों को शान्तिपूर्ण ढंग से हल करें, बल प्रयोग द्वारा नहीं। ऐसे राज्य को 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श अपने सामने रखना चाहिए।

वस्तुतः लोक कल्याणकारी राज्य के सभी कार्यों का उल्लेख करना सम्भव नहीं है। एक राज्य के द्वारा किये जाने वाले जनहितकारी कार्य उसकी आर्थिक स्थिति तथा लोगों की आवश्यकताओं पर निर्भर करते हैं। फिर भी हम बार्कर के शब्दों में यह कह सकते हैं कि 'राज्य को राष्ट्रीय जीवन को पूर्ण बनाने, राष्ट्र के विकास उसके हित, उसकी नैतिकता तथा उसकी स्वतन्त्रता के विकास में भरपूर योग देना चाहिए।"

लोक कल्याणकारी राज्य का मूल्यांकन

विरोध में तर्क—यद्यपि वर्तमान समय में लोक कल्याणकारी राज्य की धारणा को राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में सर्वाधिक श्रेष्ठ धारणा माना जाता है, फिर भी लोक कल्याणकारी राज्य के विरुद्ध कुछ तर्क दिये जाते हैं जो निम्नलिखित हैं

(1) अत्यधिक खर्चीली व्यवस्था—लोक कल्याणकारी राज्य के विरुद्ध एक आपत्ति यह की जाती है कि यह बहुत अधिक खर्चीली व्यवस्था है क्योंकि राज्य के द्वारा सभी जनहितकारी कार्य किये जाने के कारण उसे बहुत अधिक धनराशि की आवश्यकता होती है। इसलिए यह व्यवस्था निर्धन राज्यों के लिए उपयुक्त नहीं है क्योंकि उनके साधन सीमित होने के कारण वे अधिक व्यय का भार वहन नहीं कर सकते। *सीनेटर टाफ्ट के शब्दों में, 'लोक हितकारी नीति राज्य को दिवालियेपन की ओर ले जाती है।"*

(2) **वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अन्त** राजकोषसमाचारी जैसे विचारकों का मत है कि लोक कल्याणकारी राज्य में राज्य के कार्य और उसकी शक्तियाँ बहुत

अधिक बढ़ जाने के कारण व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अन्त हो जाता है तथा जनता में गरीबी की भावना पैदा हो जाती है।

(3) **नौकरशाही की शक्ति में वृद्धि** – लोक कल्याणकारी राज्य में नौकरशाही की शक्ति में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। इसमें राज्य के उत्तरदायित्वों तथा कार्यों में वृद्धि के कारण शासन की सम्पूर्ण शक्ति सरकारी कर्मचारियों के हाथों में केन्द्रित हो जाती है। फलस्वरूप लोक कल्याणकारी राज्य तथा सर्वाधिकारवादी राज्य में अन्तर बहुत कम रह जाता है। बरबर वूटान ने इसकी तुलना 'प्रशासकीय हाथी पाँव' (*Administrative elephantiasis*) से की है।

(4) **उच्चकोटि के गुणों का अन्त** – लोक कल्याणकारी राज्य में समस्त कार्य राज्य के द्वारा सम्पादित किये जाते हैं जिससे व्यक्ति की आत्म प्रेरणा समाप्त हो जाती है। यह नागरिकों में चरित्र की उच्चता, मितव्ययिता तथा उत्तरदायित्व की भावना को समाप्त कर देता है। व्यक्ति सब कार्यों के लिए राज्य का मुँह ताकने लगते हैं। शासन के कार्य बढ़ जाने के कारण राज्य में भी अक्षमता एवं अकुशलता का आ जाना स्वाभाविक है। आत्म-प्रेरणा के अभाव में उद्योगों में उत्पादन भी घट जाता है।

वस्तुतः लोक कल्याणकारी राज्य के जो उपर्युक्त दोष बतलाये गये हैं, उनमें अतिशयोक्ति है (1) यह सत्य है कि लोक कल्याणकारी राज्य में राज्य का व्यय-भार बढ़ जाता है परन्तु दूसरी ओर यह भी सत्य है कि लोगों के स्वास्थ्य, शिक्षा तथा जीवन स्तर में उन्नति के साथ-साथ राष्ट्रीय आय में भी वृद्धि होती है। (2) यह कहना भी सही नहीं है कि लोक कल्याणकारी राज्य में व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अन्त हो जाता है। इसमें व्यक्ति को स्वतन्त्रता के वास्तविक अवसर प्राप्त होते हैं तथा उन्हें कुछ सेवाओं के सम्बन्ध में ही राज्य पर आश्रित रहना पड़ता है। (3) यह कहना भी सही नहीं है कि लोक कल्याणकारी राज्य का स्वरूप सर्वाधिकारवादी हो जाता है। राज्य के दोनों स्वरूपों में बहुत अन्तर है। लोक कल्याणकारी राज्य में व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन पर राज्य का नियन्त्रण कायम नहीं हो जाता। इसके अतिरिक्त यदि जनता जागरूक है तो नौकरशाही अपनी शक्तियों का मनमाने ढंग से प्रयोग नहीं कर सकेगी। (4) यह कहना भी सही नहीं है कि व्यक्ति में उच्चकोटि के गुणों का अन्त हो जाता है। लोक कल्याणकारी राज्य में व्यक्तियों को अपने निजी विकास की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की जाती है। इसी कारण हम देखते हैं कि व्यवहार में संसार के प्रायः सभी राज्यों के द्वारा लोक कल्याणकारी राज्य की धारणा को किसी न किसी रूप में अपना लिया गया है।

लोक कल्याणकारी राज्य का समाजवादी स्वरूप

लोक कल्याण की सच्ची साधना एक ऐसे राज्य में ही सम्भव हो सकती है जिसका स्वरूप समाजवादी हो। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि लोक कल्याणकारी राज्य को समाजवादी राज्य भी होना चाहिए।

इस बात पर प्रायः सब लोग सहमत हैं कि राज्य का कार्य केवल शान्ति, व्यवस्था एवं सुरक्षा की स्थापना करने के पुलिस कार्य से कहीं अधिक महान है। उसे इस कार्य से आगे बढ़कर अपने नागरिकों के लिए कुछ और भी करना चाहिए। हक्सले ने कहा है कि "इस दुराग्रही कथन से कम समर्थनीय और कोई बात नहीं हो सकती *कि आन्तरिक एवं बाह्य आक्रमण की रक्षा से परे राज्य का हस्तक्षेप प्रत्येक* स्थिति में हानिप्रद है।" इसलिए जब तक राज्य व्यक्तिवादी विचारधारा द्वारा प्रतिपादित कार्यों तक ही अपने को सीमित रखता है, तब तक वह अपने पूरे कर्तव्य का पालन नहीं करता। सभ्यता की प्रगति के कारण अब राष्ट्र की सम्पत्ति और उसके कल्याण की अभिवृद्धि करना तथा उसका बौद्धिक एवं नैतिक विकास करना राज्य का प्रमुख कर्तव्य हो गया है।

राज्य को उन स्थितियों और अवसरों को सुलभ करना चाहिए जो प्रत्येक व्यक्ति के यथायोग्य जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। राज्य का यह भी कर्तव्य है कि वह विज्ञान, साहित्य एवं कला जैसे जीवन के उच्चतर कार्यों का भी, जिससे राष्ट्र की सभ्यता का विकास होता है, प्रोत्साहन दे। लेकी ने कहा है कि "जो राज्य *इस प्रकार की बातों को प्रोत्साहन नहीं देता और उनकी परवाह नहीं करता, उसकी* सभ्यता अपूर्ण और निम्न हो रहेगी।" कला का समर्थन तथा प्रोत्साहन राष्ट्र गौरव तथा जनता की शिक्षा में वृद्धि करना है। एडमण्ड बर्क ने उचित ही कहा है कि "राज्य अस्थायी एवं क्षणिक पाशविक जीवन की सहायक वस्तुओं में ही साझेदारी नहीं है, अपितु वह समस्त विज्ञानों, समस्त कलाओं, प्रत्येक सद्गुण और पूर्णता में साझेदारी है।" व्यक्तियों के जीवन एवं उनकी सम्पत्ति की रक्षा तथा न्याय के प्रबन्धक के अतिरिक्त राज्य का यह भी कर्तव्य है कि वह ऐसी सामाजिक एवं आर्थिक अवस्थाएँ पैदा करे जिनमें व्यक्ति अपनी क्षमताओं का विकास कर सकें तथा अपने *जीवन के लक्ष्यों को पूर्णतया प्राप्त कर सकें।*

राज्य को ऐसे उद्योगों का नियमन अथवा निरीक्षण करना चाहिए जो प्राकृतिक दृष्टि से एकाधिकारयुक्त हैं। साथ ही राज्य का यह भी कर्तव्य है कि वह राष्ट्रीय महत्त्व के उद्योगों का स्वयं संचालन करे तथा व्यक्तिगत एकाधिकार की बुराइयों से समाज की रक्षा करे। अनुभव ने यह प्रमाणित कर दिया है कि व्यक्तिवादी नीति से औद्योगिक स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं होगी और न समाज में आर्थिक अवसरों की समानता ही स्थापित हो सकेगी। अतः आर्थिक विषमता का अन्त करने के लिए आर्थिक क्षेत्र में राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक हो गया है। अन्त में, हम यह कह सकते हैं कि सामान्यतया राज्य को उन कार्यों को नहीं करना चाहिए जिन्हें व्यक्ति अधिक अच्छे ढंग से करते हैं अथवा जो व्यक्तियों द्वारा किये जाने पर भी सबके लिए लाभदायक हैं परन्तु जिन कार्यों को व्यक्ति भलीभाँति नहीं कर सकते तथा जिन कार्यों को निजी क्षेत्र में छोड़ देने पर समाज का अहित होगा, ऐसे सभी कार्य राज्य

के द्वारा किये जाने चाहिए । इस तरह लोक कल्याणकारी राज्य का स्वरूप समाजवादी हो जाता है ।

क्या भारत एक लोक कल्याणकारी राज्य है ?
(Is India a Welfare State)

भारतीय संविधान-निर्माता लोक-कल्याणकारी राज्य के विचार से प्रेरित थे । उनके द्वारा संविधान की प्रस्तावना तथा नीति निर्देशक तत्वों में इस बात को पूरी तरह स्पष्ट कर दिया गया है कि संविधान का उद्देश्य भारत में एक लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है । संविधान के अनुच्छेद 38 में कहा गया है कि ' राज्य अधिक से अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना तथा सुरक्षा द्वारा, जिसमें आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक न्याय की प्राप्ति हो, जनता के हित के विकास का प्रयत्न करेगा और राष्ट्रीय जीवन की समस्त संस्थाओं को इस सम्बन्ध में सूचित करेगा ।" संविधान के अनुच्छेद 39 से 51 तक नीति निर्देशक तत्वों के अन्तर्गत अनेक ऐसी बातों का उल्लेख किया गया है जिन्हें अपनाकर एक लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना की जायेगी । इनमें से कुछ प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं :

(1) राज्य अपनी नीति का संचालन इस प्रकार करेगा जिससे कि स्त्री और पुरुष सभी नागरिकों को समान रूप से जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त हों, देश के भौतिक साधनों के स्वामित्व तथा नियन्त्रण का वितरण सबके हित में हो, स्त्रियों और पुरुषों को समान कार्य के लिए समान वेतन मिले, श्रमिक स्त्री तथा पुरुषों की शक्ति और स्वास्थ्य तथा बालकों की सुकुमारावस्था का दुरुपयोग न किया जाय, इत्यादि ।

(2) राज्य स्वायत्तशासी इकाइयों के रूप में ग्राम पंचायतों की स्थापना करेगा ।

(3) राज्य अपने साधनों को ध्यान में रखते हुए लोगों को रोजगार दिलाने, शिक्षा ग्रहण करने तथा बेकारी, बीमारी, वृद्धावस्था व अंगहीन होने की दशा में सार्वजनिक सहायता देने की व्यवस्था करेगा ।

(4) राज्य काम के लिए अच्छी व मानवोचित दशाओं का प्रबन्ध करने, मजदूरों के लिए पर्याप्त वेतन व अवकाश की व्यवस्था करने, तथा कुटीर उद्योगों की स्थापना करने का कार्य करेगा ।

(5) राज्य जनता के पिछड़े वर्गों विशेषकर अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों की शिक्षा तथा आर्थिक हितों की उन्नति के लिए प्रयत्न करेगा और सभी प्रकार के शोषण तथा सामाजिक अन्याय से उनकी रक्षा करेगा ।

(6) राज्य लोगों के स्वास्थ्य को सुधारने, उनके लिए पौष्टिक आहार की प्राप्ति तथा उनके जीवन स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करेगा ।

(7) राज्य कृषि तथा पशुपालन का विकास करने एवं मादक पदार्थों के प्रयोग पर रोक लगाने का प्रयत्न करेगा।

पिछले 30 वर्षों में सरकार ने उपर्युक्त सिद्धान्तों को लागू करने का भरसक प्रयास किया है। भारत की पाँच पंचवर्षीय योजनाएँ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इन योजनाओं के माध्यम से सरकार द्वारा निर्देशक तत्वों को क्रियान्वित करने का प्रयत्न किया गया है। राज्य द्वारा शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य व चिकित्सा सेवाओं का निरन्तर विस्तार किया जा रहा है। आर्थिक क्षेत्र में, भूमि सुधार, कुटीर उद्योगों की स्थापना, जमींदारी उन्मूलन, चकबन्दी, रोजगार की व्यवस्था आदि के सम्बन्ध में कानून बनाये गये हैं। श्रमिकों के कल्याण के लिए न्यूनतम वेतन, जीवन बीमा, क्षतिपूर्ति, भविष्य निधि योजना, तथा बोनस आदि देने के सम्बन्ध में अनेक कानून बनाये गये हैं। सार्वजनिक महत्व के उद्योगों पर सरकार का नियन्त्रण है। भूमिहीनों तथा गरीब जनता को ऋण तथा आवास निर्माण के लिए भूमि प्रदान की जा रही है, राजस्थान द्वारा प्रारम्भ की गयी अन्त्योदय योजना इसी दिशा में उठाया गया एक महत्वपूर्ण कदम है। यद्यपि इन सब योजनाओं और कार्यों के द्वारा भारत में अभी तक लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना तो नहीं हो सकी है किन्तु इस लक्ष्य की दिशा में तेजी के साथ प्रयत्न किये जा रहे हैं और इस बात की आशा की जा सकती है कि जैसे-जैसे इन कार्यों में वृद्धि होती जायगी, हम इन लक्ष्य के निकट पहुँचते जायेंगे।

अभ्यास के प्रश्न

1. लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को स्पष्ट करें। लोक कल्याणकारी राज्य की प्रमुख गतिविधियाँ क्या हैं ? (राजस्थान विश्व०, 1977)
2. इस दृष्टिकोण की विवेचना कीजिए कि लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा व्यक्तिवादी एवं समाजवाद के बीच एक समझौता है।
3. इस दृष्टिकोण की विवेचना कीजिए कि लोक कल्याणकारी राज्य को समाजवादी राज्य भी होना चाहिए।
4. लोक कल्याणकारी राज्य का मूल्यांकन कीजिए।
5. "आधुनिक राज्य लोककल्याणकारी राज्य है।" इस कथन को ध्यान में रखते हुए लोक कल्याण राज्य की प्रमुख गतिविधियों (कार्यों) का विवेचन कीजिए तथा यह समझाइए कि क्या भारत एक लोककल्याणकारी राज्य है ? (राजस्थान विश्व०, 1979)

13

सरकारों का वर्गीकरण

[CLASSIFICATION OF GOVERNMENTS]

"चूंकि राज्यों के अस्तित्व की अभिव्यक्ति केवल उनकी सरकारों द्वारा होती है और अन्य किसी आधार पर उनकी भिन्नता नहीं समझी जा सकती, अत: सरकारों का वर्गीकरण सार रूप में राज्यों का ही वर्गीकरण है।"[1]

—गैटल

प्राचीन विचारक राज्य और सरकार के भेद पर ध्यान नहीं देते थे। अतः उन्होंने राज्यों का वर्गीकरण किया है। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि राज्यों का वर्गीकरण नहीं किया जा सकता, क्योंकि सभी राज्य अपने स्वरूप में समान होते हैं। सभी राज्यों में भूमि, जनसंख्या, सरकार तथा सम्प्रभुता के अनिवार्य तत्त्व समान रूप से पाये जाते हैं। गार्नर ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "अपने कानूनी रूप, अपने सार, अपने प्राथमिक उद्देश्यों एवं लक्ष्यों में सब राज्य समान हैं, इसलिए एक को दूसरे से उस प्रकार भिन्नता करना कठिन है जिस प्रकार प्राकृतिक प्राणियों, भौतिक पदार्थों अथवा रासायनिक तत्त्वों में भेद किया जा सकता है।" विलोबी का भी यही मत है कि 'राज्यों का वर्गीकरण हो ही नहीं सकता क्योंकि अपने मूल तत्त्वों में सभी राज्य समान होते हैं।" फिर भी यदि राज्यों का वर्गीकरण किसी आधार पर किया जा सकता है तो वह आधार जनसंख्या, क्षेत्रफल तथा सम्प्रभुता न होकर केवल सरकार का संगठन हो सकता है। सरकार का स्वरूप ही व्यवहार में राज्य के स्वरूप का निर्धारण करता है। इसलिए आधुनिक विचारक इसे शासन-प्रणालियों अथवा सरकारों का वर्गीकरण कहना अधिक उचित एवं सन्तोषप्रद समझते हैं। गैटल

1 "Since State manifest their existence only through their governments and since on no other basis can they be properly distinguished a classification of governments is in essence a classification of states." —Gettell , *Political Science*, pp 191-192.

के शब्दों में, *'राज्य की अभिव्यक्ति उसकी सरकार के संगठन द्वारा होती है, अतः* सबसे अधिक सन्तोषप्रद वर्गीकरण सरकारों के रूप को समानताओं तथा विभिन्नताओं के आधार पर हो सकता है।"

परम्परागत वर्गीकरण

अरस्तू का राज्य अथवा सरकारों का वर्गीकरण—अरस्तू ही सबसे पहला राजनीतिक विचारक है जिसने सरकारों का विषद एवं वैज्ञानिक वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। वस्तुतः अरस्तू राज्य, सरकार और संविधान में कोई अन्तर न करके तीनों को एक ही मानता है। उसने सरकारों का वर्गीकरण दो मुख्य आधारों पर किया है

(1) *संख्या के आधार पर*—संख्या से तात्पर्य यह है कि राज्य की प्रभुत्व-शक्ति कितने व्यक्तियों में निहित है अर्थात् एक व्यक्ति कुछ व्यक्तियों अथवा बहु-संख्यकों में से किसमें निहित है।

(2) *ध्येय के आधार पर—इसका तात्पर्य यह है कि सरकार का ध्येय अथवा* लक्ष्य क्या है ?

ध्येय के आधार पर अरस्तू ने राज्य तथा सरकारों के दो रूप बताये हैं (1) सामान्य अथवा शुद्ध रूप (Normal or pure form) तथा (2) विकृत रूप (Perverted form)। उसके अनुसार यदि राज्य का उद्देश्य सामान्य हित है तो ऐसे राज्य 'शुद्ध राज्य' है और यदि राज्य का उद्देश्य केवल शासकों का हित है तो ऐसे राज्य 'विकृत राज्य' हैं। उपरोक्त दोनों भेदों के आधार पर अरस्तू ने तीन सामान्य राज्य तथा तीन विकृत राज्यों का वर्णन किया है जिसको निम्नलिखित तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है

शासकों की संख्या	शासन का ध्येय	
	सामान्य रूप	विकृत रूप
एक व्यक्ति का शासन	राजतन्त्र (Monarchy)	निरंकुशतन्त्र (Tyranny)
कुछ व्यक्तियों का शासन	कुलीनतन्त्र (Aristocracy)	वर्गतन्त्र या अल्पतन्त्र (Oligarchy)
बहुसंख्यकों का शासन	जनतन्त्र (Polity)	भीड़तन्त्र (Democracy)

विभिन्न राज्यों की व्याख्या—अरस्तू के अनुसार जब राज्य में शासन सत्ता एक व्यक्ति के हाथों में होती है तथा वह व्यक्ति सामान्य हित में शासन करता है तो वह *राजतन्त्र कहलाता है और जब वह व्यक्ति सामान्य हित में शासन न करके* अपने स्वयं के स्वार्थ या हित में शासन करने लगता है तब वह शासन विकृत होकर निरंकुश शासन या अत्याचारतन्त्र हो जाता है। जब शासन सत्ता थोड़े से व्यक्तियों के

हाथो मे होती है तथा वे सामान्य हित मे शासन करते हैं तो वह कुलीनतन्त्र कहलाता है और जब वे थोडे से लोग सामान्य हित को भूलकर अपने स्वार्थ के लिए शासन करने लगते हैं तब कुलीनतन्त्र भ्रष्ट होकर वर्गतन्त्र या अल्पतन्त्र हो जाता है। इसी तरह जब शासन सत्ता बहुत से व्यक्तियो के हाथो मे निहित रहती है तथा वे सबके हित मे शासन करते हैं तब उस शासन को जनतन्त्र अथवा मध्यम वर्ग का शासन कहते हैं क्योंकि उसमे मध्यम वर्ग की प्रधानता होती है और जब शासन करने वाले बहुत से लोग सामान्य हित की भावना को भुलाकर अपने वर्ग के हित मे शासन करने लगते हैं तब वह शासन विकृत होकर भीडतन्त्र मे परिवर्तित हो जाता है। अरस्तू के अनुसार भीडतन्त्र मे निर्धन वर्ग की प्रधानता होती है।

अरस्तू के अनुसार वर्गतन्त्र या अल्पतन्त्र में धनी व्यक्तियो तथा भीडतन्त्र मे निर्धन व्यक्तियो के हाथो मे शासन सत्ता रहती है। इसके अतिरिक्त राजतन्त्र मे सम्मान का, कुलीनतन्त्र मे विवेक का तथा जनतन्त्र मे स्वतन्त्रता का गुण पाया जाता है। अरस्तू ने सामान्य राज्यो मे राजतन्त्र को सर्वश्रेष्ठ और जनतन्त्र को निकृष्ट बताया है तथा विकृत राज्यो मे उसने भीडतन्त्र को श्रेष्ठ और निरंकुशतन्त्र को निकृष्ट बताया है।

सरकारों का परिवर्तन-चक्र—अरस्तू ने इस सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया कि अनेक कारणो से शासन-प्रणालियो मे परिवर्तन होते रहते हैं। सरकार का कोई रूप सदैव स्थिर नही रहता बल्कि वह कालान्तर मे विकृत होकर दूसरा रूप धारण कर लेता है। सरकारो का यह परिवर्तन चक्र एक निश्चित क्रम मे निरन्तर रूप से चलता रहता है। इस परिवर्तन-चक्र मे सबसे पहला स्थान राजतन्त्र का आता है। जब राजा लोकहित को भुलाकर अपने स्वार्थ की सिद्धि मे लिप्त हो जाता है तब राजतन्त्र निरंकुशतन्त्र मे बदल जाता है। कुछ समय के बाद निरंकुश शासक के अत्याचारो से ऊबकर कुछ अच्छे एव योग्य व्यक्ति विद्रोह कर देते है, तब कुलीनतन्त्र की स्थापना होती है। कालान्तर मे ये योग्य एव गुणी व्यक्ति भी समान हित की उपेक्षा करके अपने स्वार्थ साधन मे लीन हो जाते हैं जिसके कारण कुलीनतन्त्र वर्गतन्त्र मे परिवर्तित हो जाता है। वर्गतन्त्र मे शासन सत्ता कुछ थोडे से स्वार्थी लोगो के हाथो मे रहती है जो जनता का शोषण करते हैं। जब यह शोषण अपनी चरमसीमा पर पहुँच जाता है, तब जनता सामूहिक रूप से विद्रोह कर देती है जिसके फलस्वरूप जनतन्त्र की स्थापना होती है। समय की गति के साथ साथ जनतन्त्र भी विकृत होकर भीडतन्त्र मे परिवर्तित हो जाता है। भीडतन्त्र के परिणामस्वरूप चारो ओर अव्यवस्था फैल जाती है और तब राज्य का कोई योग्य एव शक्तिशाली व्यक्ति शासन सत्ता पर अधिकार करके इस अव्यवस्था का अन्त कर देता है। इस प्रकार फिर राजतन्त्र की स्थापना हो जाती है और यह क्रम पुन चालू हो जाता है।

अरस्तू के वर्गीकरण की समीक्षा—अरस्तू के वर्गीकरण की आलोचना करने

वालों में गार्नर, वॉन महल तथा सीले अधिक प्रमुख हैं। उसके वर्गीकरण की आलोचना निम्नलिखित आधारों पर की गई है :

(1) राज्यों के स्थान पर सरकारों का वर्गीकरण—अरस्तू ने राज्य तथा सरकार में कोई अन्तर नहीं माना है और उसके द्वारा किया गया वर्गीकरण राज्यों का वर्गीकरण न होकर सरकारों का वर्गीकरण है। डॉ० गार्नर के शब्दों में, "उसने राज्य तथा सरकार में कोई भेद नहीं माना है। वस्तुत यह वर्गीकरण शासकों की संख्या के आधार पर होने के कारण सरकारों का वर्गीकरण है, राज्यों का नहीं और इसलिए राज्य के रूपों के विवेचन में उसका कोई उचित स्थान नहीं हो सकता।"[1]

परन्तु गार्नर द्वारा की गई आलोचना वस्तुत अतिशयोक्तिपूर्ण है। इसका एक कारण तो यह है कि प्राचीन युग में राज्य और सरकार में कोई अन्तर नहीं था। अत प्राचीन यूनानी दार्शनिक अरस्तू द्वारा राज्य और सरकार में अन्तर न किया जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। द्वितीय, राज्यों का वैज्ञानिक वर्गीकरण व्यवहार में केवल सरकार के आधार पर ही किया जा सकता है। अत सरकारों का वर्गीकरण वस्तुत. राज्यों का ही वर्गीकरण है। बर्गेस ने कहा है कि "यदि हम अरस्तु के राज्य और सम्प्रभुता शब्दों के स्थान पर सरकार और व्यवस्था शब्दों का प्रयोग कर लें तो उसका वर्गीकरण उपयुक्त और तार्किक है।"

(2) वर्गीकरण का वैज्ञानिक आधार नहीं—अरस्तू का वर्गीकरण किसी वैज्ञानिक सिद्धान्त पर आधारित नहीं है। गार्नर के अनुसार "इस वर्गीकरण का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है जिससे उसकी विशेषताओं तथा संगठन के रूपों के सम्बन्ध में एक सरकार की दूसरे से भिन्नता स्थापित की जा सके।"[2] वॉन महल ने कड़ी आलोचना करते हुए कहा है कि "जिस सिद्धान्त पर यह वर्गीकरण आधारित है उसका स्वरूप आंगिक न होकर गणित सम्बन्धी है तथा यह गुणात्मक न होकर संख्यात्मक है।"[3] अत अरस्तू के वर्गीकरण का सम्बन्ध गुण से न होकर संख्या से है तथा यह सरकार के आन्तरिक संगठन की व्याख्या नहीं करता।

अरस्तू के वर्गीकरण की यह आलोचना भी सही नहीं है। वस्तुत अरस्तू के वर्गीकरण में संख्यात्मक तथा गुणात्मक दोनों आधार पाये जाते हैं। वह गुण अथवा

1 गार्नर : राज्यविज्ञान और शासन, p 169।

2 "It is unsound as a classification of government because it does not rest upon any scientific principle by which governments may be distinguished from one another in respect to their fundamental characteristics and forms of organization."
—Garner : *Political Science and Government*, p 245

3 "The principle upon which it rests is arithmetical rather than organic, quantitative rather than qualitative in character."
—Von Mohl

ध्येय के आधार पर ही अच्छे और बुरे राज्य मे अन्तर करता है। फेयरली के शब्दो मे, "एकतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र और कुलीनतन्त्र तथा जनतन्त्र के बीच भेद संख्यात्मक के साथ साथ गुणात्मक भी है।" बर्गेस का मत है कि "अरस्तू का वर्गीकरण आध्यात्मिक है, संख्यात्मक नहीं।"

(3) **आधुनिक समय के अनुकूल नहीं**—सीले ने अरस्तू के वर्गीकरण की आलोचना करते हुए लिखा है कि "वह वर्तमान राज्यो के सम्बन्ध मे लागू नहीं हो सकता।" *प्रथम तो, अरस्तू के युग मे केवल नगर-राज्य थे और उसे उन्ही का ज्ञान* था। परन्तु वर्तमान समय मे राष्ट्रीय राज्य हैं जो उनसे भिन्न हैं और इनको अरस्तू के वर्गीकरण मे नही रखा जा सकता। द्वितीय, अरस्तू के वर्गीकरण मे धार्मिक तथा *धर्म निरपेक्ष दोनो प्रकारो के राज्यों एवं एकात्मक, संघात्मक, संसदीय, अध्यक्षात्मक* वैधानिक राजतन्त्र तथा गणतन्त्र आदि आधुनिक शासन-प्रणालियों के लिए कोई स्थान नही है। तृतीय, अरस्तू का वर्गीकरण वर्तमान समय की मिश्रित शासन-व्यवस्थाओ पर भी लागू नही होता है। उदाहरणार्थ, इगलैण्ड की शासन-पद्धति मे राजतन्त्र (राजा), कुलीनतन्त्र (लॉर्ड सभा) तथा लोकतन्त्र (कामन्स सभा) तीनो का समन्वय है। चतुर्थ, वर्तमान युग के प्रजातन्त्र राज्यो को भी अरस्तू के एक वर्ग मे नही रखा जा सकता। उदाहरण के लिए, इगलैण्ड तथा अमेरिका दोनो मे प्रजातन्त्र है परन्तु दोनो को अलग अलग वर्गो मे रखा जायेगा। इन सब बातो से यह स्पष्ट है कि अरस्तू का वर्गीकरण आधुनिक समय के लिए उपयुक्त नही है।

(4) **लोकतन्त्र शासन का निकृष्टतम रूप नहीं**—अरस्तू ने अपने वर्गीकरण मे लोकतन्त्र को भीडतन्त्र की सज्ञा दी है तथा उसे शासन का विकृत रूप मानकर निकृष्टतम स्थान प्रदान किया है परन्तु वर्तमान समय मे लोकतन्त्र को सर्वोत्तम शासन प्रणाली माना जाता है। अतः लोकतन्त्र के सम्बन्ध मे अरस्तू के विचार स्वीकार करने योग्य नही हैं।

(5) **परिवर्तन चक्र का क्रम अवैज्ञानिक**—अरस्तू ने सरकारो के परिवर्तन-चक्र का जो क्रम प्रस्तुत किया है, वह अवैज्ञानिक है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि शासन-व्यवस्थाओं मे कभी भी इस क्रम मे परिवर्तन नही हुए। आधुनिक युग मे अनेक देशो मे निरकुश शासन के स्थान पर लोकतन्त्र की तथा लोकतन्त्र के स्थान पर तानाशाही की स्थापना हुई है।

अरस्तू के वर्गीकरण का महत्त्व—यद्यपि अरस्तू के वर्गीकरण की अनेक दृष्टिकोणो से आलोचना की गई है परन्तु फिर भी उसका ऐतिहासिक महत्त्व है। वैज्ञानिक ढग से राज्यो का वर्गीकरण सबसे पहले अरस्तू ने ही किया था। बाद के जिन विद्वानो ने राज्यो तथा सरकारो का जो वर्गीकरण किया है, उन सब पर अरस्तू के वर्गीकरण की छाप स्पष्ट है। अरस्तू का वर्गीकरण अति व्यापक और विवेकपूर्ण है क्योकि उसने इसमे कानूनी, आर्थिक, नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक, सभी सिद्धान्तो को स्थान दिया है। उसका वर्गीकरण मुख्य रूप से न्याय पर आधारित

है। उसने न्याय के आधार पर ही सरकारों को, शुद्ध और विकृत रूपों में विभाजित किया है। यह सत्य है कि आधुनिक सरकारों के अनेक प्रकार अरस्तू के वर्गीकरण के अन्तर्गत नहीं आते परन्तु फिर भी उसके वर्गीकरण के अध्ययन की उपयोगिता कभी नष्ट नहीं हो सकेगी। गिलक्राइस्ट ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि 'आधुनिक सरकारों के स्वरूपों के लिए यह वर्गीकरण काफी नहीं है परन्तु आज तक जितने भी वर्गीकरण किये गये हैं उन सबके लिए यह ऐतिहासिक आधार रहा है।"

कुछ अन्य वर्गीकरण

अरस्तू के पश्चात अनेक राजनीतिक विचारकों ने राज्यों का वर्गीकरण किया है। कुछ मुख्य-मुख्य वर्गीकरण निम्नलिखित हैं :

मॉण्टेस्क्यू का वर्गीकरण मॉण्टेस्क्यू ने सरकार के तीन रूपों का वर्णन किया है—गणतन्त्र, राजतन्त्र और निरंकुशतन्त्र। गणतन्त्र में शासन सत्ता सम्पूर्ण जनता में निहित रहती है तथा राज्य का प्रधान समस्त जनता अथवा उसके प्रतिनिधियों द्वारा निर्वाचित होता है। राजतन्त्र में शासन सत्ता राजा में निहित रहती है जो निश्चित परम्पराओं तथा कानून के अनुसार शासन करता है। निरंकुशतन्त्र में शासक सर्वेसर्वा होता है तथा वह अपनी इच्छानुसार शासन करता है। मॉण्टेस्क्यू का यह वर्गीकरण किसी निश्चित सिद्धान्त पर आधारित नहीं है।

रूसो का वर्गीकरण—रूसो ने सरकार के तीन रूप माने हैं—राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा जनतन्त्र। उसने कुलीनतन्त्र के तीन भेद किये हैं प्राकृतिक, निर्वाचित तथा पैतृक। वह निर्वाचित कुलीनतन्त्र को सबसे श्रेष्ठ तथा पैतृक कुलीनतन्त्र को सबसे निकृष्ट मानता है। उसने मिश्रित सरकारों के अस्तित्व को भी स्वीकार किया है।

वॉन मोहल का वर्गीकरण - सुप्रसिद्ध जर्मन लेखक वॉन मोहल ने राज्यों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है : (1) कुलपतितन्त्र (Patriarchal), (2) दैवतन्त्र (Theocratic), (3) पैतृक राज्य (Patrimonial), (4) प्राचीन राज्य (Classical), (5) वैध अथवा कानूनी राज्य (Legal) तथा (6 निरंकुश राज्य (Despotic)। लीकॉक ने इस वर्गीकरण को अवैज्ञानिक तथा अतर्कसंगत कहा है क्योंकि इनमें से कुछ नाम तो आधुनिक राज्यों को दिये ही नहीं जा सकते और कुछ रूप ऐसे हैं जो एक ही वर्ग में रखे जा सकते हैं।

ब्लुन्शली का वर्गीकरण—जर्मन विचारक ब्लुन्शली ने अरस्तू के वर्गीकरण के आधार पर ही राज्यों का वर्गीकरण किया है परन्तु उसने अरस्तू के वर्गीकरण (राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा जनतन्त्र) में एक भेद और जोड़ दिया है जिसे वह दैवतन्त्र या धर्मतन्त्र (Theocracy) कहता है। दैवतन्त्र शासन का शुद्ध रूप है। इसमें शासक को देवता अथवा ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता है। उसने दैवतन्त्र के विकृत रूप को उपासकतन्त्र (Ideocracy) का नाम दिया है। गार्नर ने ब्लुन्शली के वर्गीकरण को अवैज्ञानिक तथा लीकॉक ने इसे भ्रमात्मक बताया है।

जेलिनेक का वर्गीकरण प्रसिद्ध जर्मन विद्वान जेलिनेक ने राज्यों का वर्गीकरण केवल इस सिद्धान्त के आधार पर किया है कि राज्य की इच्छा का निर्माण और अभिव्यक्ति एक व्यक्ति के माध्यम से होती है अथवा अनेक व्यक्तियों के माध्यम से। इस आधार पर उसने राज्यों के दो भेद बतलाये हैं राजतन्त्र तथा गणतन्त्र। राजतन्त्र मे प्रभुत्व शक्ति एक व्यक्ति मे निहित रहती है। यह पैतृक अथवा निर्वाचित किसी प्रकार का भी हो सकता है। गणतन्त्र मे प्रभुत्व शक्ति एक छोटे या बडे समुदाय में निहित रहती है। जेलिनेक अरस्तू की इस बात को स्वीकार नही करता कि कुलीनतन्त्र तथा जनतन्त्र राज्य के दो पृथक रूप हैं। वह इनको गणतन्त्र का ही विशिष्ट रूप मानता है। इसके अनुसार गणतन्त्र भी अनेक प्रकार के हो सकते हैं, जैसे लोकतन्त्रात्मक, कुलीनतन्त्रात्मक तथा अल्पतन्त्रात्मक।

बर्गेस का वर्गीकरण—बर्गेस ने अरस्तू के वर्गीकरण को ही सबसे अधिक उपयुक्त वर्गीकरण माना है। उसने राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा जनतन्त्र को राज्यों के ऐसे भेदों के रूप में स्वीकार किया है जिनसे बाहर कोई राज्य नही हो सकता। उसके अनुसार राजतन्त्र मे एक व्यक्ति का कुलीनतन्त्र मे अल्पमत का तथा जनतन्त्र मे बहुमत का प्रभुत्व होता है

जेलिनेक तथा बर्गेस का वर्गीकरण तार्किक एवं वैज्ञानिक है। इसका सबसे बडा गुण सरलता है परन्तु उनके वर्गीकरण के विरुद्ध सबसे बडी आपत्ति यह है कि उसकी कसौटी सख्यात्मक है।

आधुनिक वर्गीकरण

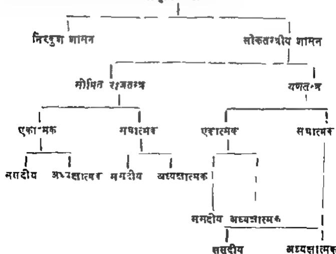
आधुनिक वर्गीकरणों मे मैरियट तथा लीकॉक द्वारा किये गये शासन के वर्गीकरण मुख्य हैं। इनमे आधुनिक सरकारों के प्राय सभी रूप आ जाते हैं।

मैरियट का वर्गीकरण—मैरियट ने सरकारों का वर्गीकरण तीन आधारों पर, किया है (1) शासन शक्तियों का विभाजन, (2) सविधान का स्वरूप, तथा (3) कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका का पारस्परिक सम्बन्ध। प्रथम आधार पर सरकार का रूप एकात्मक अथवा सघात्मक हो सकता है। जब शासन की समस्त शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार मे निहित होती हैं तो उसे एकात्मक शासन कहा जाता है और जब सविधान द्वारा केन्द्र तथा राज्यों मे शक्तियों का विभाजन कर दिया जाता है तो उसे सघात्मक शासन कहते हैं। द्वितीय आधार पर, राज्य के सविधान को लचीला तथा कठोर की श्रेणी मे रखा जाता है। जिन राज्यों मे व्यवस्थापिका साधारण प्रक्रिया द्वारा सविधान में सशोधन कर सकती है, उन्हे लचीले सविधान वाला राज्य कहा जाता है तथा जिन राज्यों मे सविधान मे सशोधन करने के लिए व्यवस्थापिका को एक विशेष प्रक्रिया अपनानी पडती है, उन्हें कठोर सविधान वाला राज्य कहा जाता है। तृतीय आधार पर मैरियट ने सरकारों को ससदीय और अध्यक्षात्मक रूपों में विभाजित किया है। जहाँ पर कार्यपालिका व्यवस्थापिका के अधीन होती है तथा उसके प्रति उत्तरदायी होती है, उसे ससदीय शासन-प्रणाली कहा

जाता है तथा जहाँ पर कार्यपालिका और व्यवस्थापिका एक दूसरे से स्वतन्त्र एव समकक्ष होती हैं, उसे अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली कहा जाता है।

इसमे कोई सन्देह नही कि मैरियट द्वारा किया गया वर्गीकरण पहले के वर्गीकरणो की तुलना मे अधिक विस्तृत है परन्तु फिर भी उसके वर्गीकरण मे सभी प्रकार के राज्य नही आते। इस वर्गीकरण की भी कुछ सीमाएँ हैं। इसमे वैधानिक राजतन्त्र तथा गणतन्त्र मे कोई अन्तर नही किया गया है। इसमे अधिनायकवाद के लिए कोई स्थान नही है तथा इसमे दैवतन्त्र और धर्म-निरपेक्ष राज्यो तथा पूँजीवादी एव समाजवादी लोकतन्त्रो के बीच कोई भेद नही किया गया है। इसलिए मैरियट के वर्गीकरण को हम पूर्ण नही कह सकते हैं।

लीकॉक का वर्गीकरण - आधुनिक विचारको मे लीकॉक द्वारा किया गया सरकारो का वर्गीकरण आधुनिकतम तथा स्पष्ट माना जाता है। लीकॉक ने सरकारो को मोटे रूप से दो भागो मे विभाजित किया है—निरकुश शासन तथा लोकतन्त्रात्मक शासन। *जहाँ पर शासन की सम्पूर्ण शक्ति एक व्यक्ति मे निहित होती है, उसे निरकुश शासन कहते हैं तथा जहाँ पर शासन की समस्त शक्ति जनता मे निहित होती है, उसे लोकतन्त्रात्मक शासन कहते हैं।* लीकॉक ने लोकतन्त्रात्मक शासन को सर्वप्रथम *सीमित राजतन्त्र तथा गणतन्त्र मे विभाजित किया है।* इसके पश्चात् उसने सीमित राजतन्त्र तथा गणतन्त्र को एकात्मक और सघात्मक शासन व्यवस्थाओ मे विभाजित किया है। अन्त मे, उसने एकात्मक और सघात्मक को ससदीय तथा अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्थाओ मे विभाजित किया है। *लीकॉक के वर्गीकरण को निम्नलिखित तालिका से भलीभाँति समझा जा सकता है*—



लोकॉक का वर्गीकरण अपने से पूर्ववर्ती विचारकों की तुलना में अधिक श्रेष्ठ है। इस वर्गीकरण की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। इसकी पहली विशेषता यह है कि इसके द्वारा इस बात को स्पष्ट कर दिया गया है कि वर्गीकरण केवल लोकतन्त्रात्मक शासन का ही हो सकता है, निरंकुश शासन का नहीं। द्वितीय, इस वर्गीकरण द्वारा यह भी स्पष्ट किया गया है कि लोकतन्त्रात्मक शासन सीमित राजतन्त्र तथा गणतन्त्र दोनों ही प्रकार का हो सकता है। तृतीय, इसके द्वारा यह भी स्पष्ट किया गया है कि सीमित राजतन्त्र तथा गणतन्त्र एकात्मक अथवा संघात्मक एवं संसदीय अथवा अध्यात्मक किसी भी प्रकार के हो सकते हैं।

उपर्युक्त विशेषताओं के होते हुए भी लीकॉक के वर्गीकरण को पूर्ण नहीं माना जा सकता है। राज्य तथा शासन के अनेक प्रकारों का इसमें कोई उल्लेख नहीं किया गया है। उदाहरणार्थ, प्रत्यक्ष तथा प्रतिनिधि लोकतन्त्र धर्म-प्रधान तथा धर्म निरपेक्ष राज्य, समाजवादी तथा लोककल्याणकारी राज्य आदि को लीकॉक के वर्गीकरण के अनुसार किसी भी वर्ग में नहीं रखा जा सकता।

शासन का अर्वाचीन वर्गीकरण

'आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त' के विचारकों ने शासन व्यवस्था के वर्गीकरण के लिए नवीन मापदण्ड निर्धारित किये हैं। इन मापदण्डों में प्रभाव (Influence) सत्ता (Authority) तथा औचित्यता (Legitimacy) प्रमुख हैं।

मैक्स वेबर ने औचित्यता के आधार पर सत्ता का वर्गीकरण किया है। उसके मतानुसार परम्परा, व्यक्तिगत गुण एवं वैधता औचित्यपूर्ण सत्ता के आधार हो सकते हैं। मैक्स वेबर के वर्गीकरण का सबसे बड़ा दोष यह है कि उसने अनौचित्यपूर्ण सत्ता के आधार पर वर्गीकरण की उपेक्षा की है।

रॉबर्ट डहल का वर्गीकरण—प्रसिद्ध आधुनिक राजनीतिक विचारक रॉबर्ट ए० डहल ने राजनीतिक व्यवस्था का वर्गीकरण तीन मुख्य आधारों पर किया है. (1) औचित्यपूर्णता, (2) शासन के निर्णयों को प्रभावित करने वाले व्यक्तियों की संख्या, तथा (3) राजनीतिक व्यवस्था में प्राप्त स्वायत्तता। औचित्यपूर्णता के आधार पर उसने शासन के दो प्रकार बताये है—प्रबल औचित्यपूर्णता पर आधारित शासन व निर्बल औचित्यपूर्णता पर आधारित शासन। शासन के निर्णयों को प्रभावित करने वाली शक्ति एक व्यक्ति, कुछ व्यक्तियों, अनेक व्यक्तियों अथवा सिथिल व्यक्तियों में निहित हो सकती है। राजनीतिक व्यवस्था में प्राप्त स्वायत्तता के आधार पर शासन एकात्मक अथवा बहुलवादी दोनों प्रकार का हो सकता है। डहल द्वारा किया गया वर्गीकरण अन्य पूर्ववर्ती वर्गीकरणों की तुलना में अधिक उपयुक्त, सामयिक एवं वैज्ञानिक है।

आधुनिकतम वर्गीकरण

ऊपर जिन वर्गीकरणों का विवेचन किया है, वे सभी किसी न किसी दृष्टि से अपूर्ण हैं। इनमें से कोई वर्गीकरण ऐसा नहीं है जिसमें आधुनिक सरकारों के सभी रूप

स्थान पा सकें। यद्यपि यह बात सही है कि वर्तमान समय में सरकारों के रूप इतने मिश्रित हैं तथा उनकी संख्या भी इतनी अधिक हो गई है कि आसानी से उनका वर्गीकरण सम्भव नहीं है परन्तु फिर भी राज्यों तथा सरकारों का आधुनिकतम वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है

(क) धर्म तथा राज्य के सम्बन्ध के आधार पर—राज्य तथा धर्म के सम्बन्ध के आधार पर राज्यों का वर्गीकरण धर्म निरपेक्ष तथा धर्म-प्रधान राज्यों के रूप में किया जा सकता है। धर्म निरपेक्ष राज्य वे होते हैं जहाँ राज्य का अपना कोई धर्म नहीं होता है। राज्य सभी धर्मों के प्रति समानता का दृष्टिकोण रखता है। इसके विपरीत, धर्म-प्रधान राज्यों में राज्य का अपना एक विशेष धर्म होता है तथा राजनीति धर्म पर आश्रित होती है।

(ख) प्रभुत्व-शक्ति के आश्रय के आधार पर – प्रभुत्व शक्ति के आश्रय के आधार पर शासन का वर्गीकरण एकतन्त्र कुलीनतन्त्र तथा लोकतन्त्र शासन के रूप में किया जा सकता है। एकतन्त्र शासन में प्रभुत्व शक्ति एक शासक में निहित होती है, कुलीनतन्त्र में प्रभुत्व-शक्ति कुछ व्यक्तियों में निहित होती है तथा लोकतन्त्र में प्रभुत्व-शक्ति जनता में निहित होती है। शासक के चुनाव के आधार पर एकतन्त्र शासन के भी दो भेद हो सकते हैं राजतन्त्र तथा अधिनायकतन्त्र। जहाँ पर शासक वंश परम्परा के अनुसार शासनाधिकार प्राप्त करते हैं, वह राजतन्त्र कहलाता है तथा जहाँ पर शासक निर्वाचित होकर अथवा सैनिक विद्रोह के द्वारा समस्त शासन सत्ता पर अपना अधिकार कर लेता है, उसे अधिनायकतन्त्र कहते हैं।

लोकतान्त्रात्मक राज्यों का वर्गीकरण भी पाँच निम्नलिखित आधारों पर किया जा सकता है

(1) जनता के प्रतिनिधित्व के आधार पर—जनता के प्रतिनिधित्व के आधार पर लोकतन्त्र के दो प्रकार होते हैं—प्रत्यक्ष लोकतन्त्र तथा अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र। जहाँ पर जनता शासन के कार्यों में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेती है, उसे प्रत्यक्ष लोकतन्त्र कहते हैं तथा जहाँ पर जनता शासन का संचालन करने के लिए अपने प्रतिनिधि चुनती है, उसे अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र कहते हैं।

(2) मुख्य शासक के चुनाव के आधार पर—मुख्य शासक के चुनाव के आधार पर लोकतन्त्रीय राज्यों के दो रूप होते हैं वैधानिक राजतन्त्र तथा गणतन्त्र। जहाँ पर मुख्य शासक वंशानुगत होते हुए भी अपनी समस्त शक्तियों का प्रयोग व्यवहार में लोकप्रिय मन्त्रियों की सलाह से करता है, वह वैधानिक राजतन्त्र कहलाता है तथा जहाँ पर मुख्य शासक जनता अथवा जनता के प्रतिनिधियों द्वारा निर्वाचित होता है, वह गणतन्त्र कहलाता है। इंग्लैंड वैधानिक राजतन्त्र का तथा भारत और अमेरिका गणतन्त्र के उदाहरण हैं।

(3) कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका के सम्बन्ध के आधार पर—इस आधार पर लोकतन्त्र के दो भेद किए जाते हैं संसदीय लोकतन्त्र तथा अध्यक्षात्मक

लोकतन्त्र। जहाँ पर व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होती हैं तथा कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है, उसे संसदीय लोकतन्त्र कहते हैं। इसके विपरीत जहाँ व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका दोनों एक दूसरे से पृथक एवं स्वतन्त्र होती हैं, उसे अध्यक्षात्मक लोकतन्त्र कहते हैं।

(4) केन्द्र व इकाइयों के सम्बन्ध के आधार पर—इस आधार पर लोकतन्त्र के दो भेद किए जाते हैं : एकात्मक और संघात्मक। जहाँ पर शासन की सम्पूर्ण शक्तियाँ केन्द्र में ही निहित होती हैं तथा राज्यों का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता है, उसे एकात्मक शासन व्यवस्था कहते हैं। इसके विपरीत, जहाँ केन्द्र और राज्यों के बीच शक्तियों का विभाजन होता है तथा राज्यों का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व एवं पृथक कार्यक्षेत्र होता है, उसे संघात्मक शासन व्यवस्था कहते हैं।

(5) आर्थिक शक्ति के स्वामित्व के आधार पर—इस आधार पर लोकतन्त्र के तीन भेद किये जा सकते हैं : पूँजीवादी लोकतन्त्र, समाजवादी लोकतन्त्र तथा मिश्रित अर्थव्यवस्था वाले लोकतन्त्र। जिन राज्यों में उत्पादन एवं वितरण के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व होता है, वे पूँजीवादी लोकतन्त्र कहलाते हैं तथा जिन राज्यों में उत्पादन एवं वितरण के साधनों पर राज्य का स्वामित्व होता है, वे समाजवादी लोकतन्त्र कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त जहाँ उत्पादन के महत्वपूर्ण साधनों पर राज्य का तथा कम महत्वपूर्ण साधनों पर व्यक्तियों का स्वामित्व होता है, वे भारत के समान मिश्रित अर्थव्यवस्था वाले लोकतन्त्र कहलाते हैं।

अभ्यास के प्रश्न

1. सरकारों के परम्परागत वर्गीकरण की विवेचना करें एवं उसकी सीमाओं को वर्तमान सन्दर्भ में स्पष्ट करें।
2. सरकारों के वर्गीकरण के आधारों की अरस्तू के द्वारा जो व्याख्या की गई है, उसका वर्णन कीजिए।
3. सरकारों के आधुनिक वर्गीकरण की विवेचना करें एवं उनकी सीमाओं को स्पष्ट करें।
4. सरकारों का कोई ऐसा वर्गीकरण प्रस्तुत कीजिए जिसमें उसके सभी आधुनिक स्वरूपों का समावेश हो जाए।

14

सरकार के रूप : अधिनायकतन्त्र एवं लोकतन्त्र

[FORMS OF GOVERNMENT : DICTATORSHIP AND DEMOCRACY]

"शासन के रूपों के लिए मूर्खों को लड़ने दो। जो शासन ठीक प्रकार से चले, वही सर्वश्रेष्ठ शासन है।"[1] —एलेक्जेण्डर पोप

शासन के कुछ रूप—जैसे राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र, वर्गतन्त्र इत्यादि—जो पहले अधिक प्रचलित थे, वर्तमान समय में महत्त्वहीन हो गये हैं। आजकल अधिनायकतन्त्र, लोकतन्त्र, संसदीय, अध्यक्षात्मक, एकात्मक व संघात्मक ही सरकार के प्रमुख रूप हैं। इनमें से प्रत्येक का विस्तृत विवेचन किया जा रहा है। प्रस्तुत अध्याय में हम अधिनायकतन्त्र एवं लोकतन्त्र की ही विवेचना करेंगे।

अधिनायकतन्त्र
(Dictatorship)

अधिनायकतन्त्र का अर्थ—अधिनायकतन्त्र के मूल में असंवैधानिक तरीकों से शासन सत्ता पर अधिकार करना है। इस प्रकार की सत्ता 'विधि के शासन' पर आधारित नहीं होती बल्कि प्राय: कानूनों की उपेक्षा करते हुए मनमाने ढंग पर चलती है। अधिनायकतन्त्र वाले देश में प्राय: एक व्यक्ति सर्वोपरि सत्ताधारी होता है जिसकी स्थिति एक संगठित राजनीतिक दल अथवा सैन्य दल पर आधारित होती है। शासन की समस्त शक्तियाँ एक व्यक्ति (अधिनायक अथवा तानाशाह) में केन्द्रित होती हैं और वह उनका प्रयोग मनमाने ढंग से करता है। अधिनायक किसी निश्चित अवधि के लिए नहीं होता और न वह किसी प्रतिनिधि संस्था के प्रति उत्तरदायी होता है। अधिनायक राज्य की सरकार का मूर्त रूप होता है और नागरिकों के सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन पर उसका एकछत्र अधिकार

1 "For foims of goverment, let the fools contest Whatever [illegible] best administered, is best." —Alexander Pope

होता है। हर प्रकार के अधिनायकतन्त्र में उन मौलिक स्वतन्त्रताओं का पूर्ण अभाव रहता है जिन पर लोकतन्त्र आधारित होता है।

अधिनायकतन्त्र को राजतन्त्र के समकक्ष नहीं रखा जा सकता। यद्यपि राजतन्त्र में भी शासन-सत्ता एक व्यक्ति में ही केन्द्रित होती है परन्तु राजतन्त्र में राजा वंशानुगत आधार पर अपना पद ग्रहण करता है जबकि अधिनायकतन्त्र में अधिनायक की सत्ता का आधार एक विशेष राजनीतिक दल का नेता होना अथवा सैन्य-बल होता है।

अधिनायकतन्त्र की परिभाषा—विभिन्न विचारकों के द्वारा अधिनायकतन्त्र की जो परिभाषाएँ की गई हैं, उनमें से कुछ मुख्य परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं

(1) न्यूमैन के शब्दों में "अधिनायकतन्त्र से हमारा तात्पर्य एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह के शासन से है जो राज्य में बलपूर्वक सत्ता पर एकाधिकार कर लेते हैं तथा अनियन्त्रित रूप से उसका प्रयोग करते हैं।"[1]

(2) सोल्टाऊ के अनुसार, "अधिनायकतन्त्र एक व्यक्ति का शासन होता है जिसने अपने पद को मुख्यतया वंशानुगत आधार पर प्राप्त नहीं किया है बल्कि शक्ति अथवा सहमति अथवा दोनों के सहयोग से प्राप्त किया है। उसके पास निरपेक्ष प्रभुसत्ता होती है जिसका प्रयोग वह कानून के बजाय स्वेच्छापूर्ण ढंग से आदेशों द्वारा करता है।"[2]

(3) फोर्ड के मतानुसार, "राज्य के अध्यक्ष द्वारा गैर कानूनी ढंग से सत्ता प्राप्त करना ही अधिनायकतन्त्र है।"[3]

(4) अल्फ्रेड कोबन के शब्दों में, "अधिनायकतन्त्र से तात्पर्य एक व्यक्ति के शासन से है जिसके पास निरंकुश प्रभुसत्ता होती है। समस्त राजनीतिक शक्तियों का स्रोत उसकी इच्छा होती है तथा इसका क्षेत्र असीमित होता है। वह किसी अन्य शक्ति के प्रति उत्तरदायी नहीं होता क्योंकि इस प्रकार का नियन्त्रण उसकी निरंकुशता से मेल नहीं खाता।"

---

1 "By dictatorship we understand the rule of a person or a group of persons who arrogate to themselves and monopolise power in the state, exercising it without restraint" —F. Newman

2 "Dictatorship is the government of one man who has not primarily obtained his position by inheritance but either by force or by consent, usually by a absolute sovereignty, exercising it arbitrarily by decree rather than by law"—R. H Soltau : *In Introduction to Politics*, p 211.

3 "Dictatorship is the assumption of extra legal authority by the head of the State"—Ford : *Dictatorship in the Modern World*, p 27.

आधुनिक अधिनायकतन्त्र के लक्षण—आधुनिक अधिनायकतन्त्र दो सिद्धान्तों पर आधारित है : (1) शासकों और शासितों के बीच स्पष्ट वर्ग विभेद, और (2) राज्य एवं सरकार के बीच का भेद समाप्त करना। डॉ॰ बेनीप्रसाद ने अधिनायकतन्त्र के चार प्रमुख लक्षण बताये हैं : प्रथम, यह प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में सैनिकवाद की उपज है, द्वितीय, इसमें नेता अपने को राष्ट्रीय एकता तथा भावनाओं का प्रतीक मानता है और इसकी एक विशिष्ट सामाजिक विचारधारा होती है, तृतीय, यह आन्तरिक विद्रोह को बड़ी दृढ़ता से दबाता है, तथा चतुर्थ यह जनसाधारण की दशा में छोटे-मोटे सुधार करने का प्रयत्न करता है तथा जन असन्तोष को बढ़ने से रोकने के लिए यह युद्ध की ओर जनता का ध्यान केन्द्रित करता है। प्रो॰ न्यूमैन ने अपनी पुस्तक *The Democratic and Authoritarian State* में अधिनायकवादी राज्य के पाँच लक्षण बताये हैं, जो इस प्रकार हैं : प्रथम, यह एक पुलिस राज्य होता है, दूसरे, उसमें शक्तियों का केन्द्रीयकरण होता है, तीसरे, उसमें एक सर्वाधिकारवादी राजनीतिक दल होता है, चौथे, उसमें सार्वजनिक जीवन पर राज्य का कठोर नियन्त्रण रहता है, और पाँचवें, वह नागरिकों को सदैव भयभीत रखने में विश्वास करता है।

अन्य अनेक विचारकों के द्वारा अधिनायकतन्त्र के अनेक लक्षणों का उल्लेख किया गया है। इन सब विचारकों के विचारों के आधार पर अधिनायकतन्त्र के निम्नलिखित मुख्य लक्षण स्पष्ट होते हैं :

(1) **सर्वाधिकारवादी राज्य में विश्वास**—आधुनिक अधिनायकतन्त्र राज्य के सर्वाधिकारवादी स्वरूप में विश्वास रखता है। इसमें शासक स्वयं राज्य का स्वरूप धारण कर लेते हैं। जैसा कि लुई चौदहवाँ कहा करता था कि 'मैं ही राज्य हूँ' राज्य और सरकार के बीच का भेद समाप्त हो जाने के कारण शासक वर्ग सर्वशक्तिमान बन जाता है। मानव-जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं होता जो राज्य के नियन्त्रण से मुक्त हो। राज्य साध्य माना जाता है और वह व्यक्ति के सारे कार्य कलापों को अपने अन्दर समाविष्ट कर लेता है। हिटलर और मुसोलिनी के लिए राज्य से बढ़कर और कुछ नहीं था। मुसोलिनी का कथन है कि "सब कुछ राज्य के अन्तर्गत है, राज्य के बाहर कुछ भी नहीं है और राज्य के विरुद्ध कुछ भी नहीं है।"[1]

(2) **एक व्यक्ति अथवा एक दल का शासन**—अधिनायकतन्त्र का अर्थ है एक व्यक्ति अथवा एक दल का शासन। इसमें दल के नेता को राष्ट्रीय एकता का प्रतीक माना जाता है। इसमें नेता में अटूट विश्वास तथा श्रद्धा रखने और उसकी आज्ञाओं का पालन करने पर बल दिया जाता है। इसमें शासन का विरोध, शासन की आलोचना तथा विरोधी राजनीतिक दलों का कोई स्थान नहीं होता। नाजीवाद और फासिस्टवाद का आदर्श था "एक सभा, एक लोग, एक नेता।" इटली के युवकों

1 "Everything within the state, nothing outside the state and nothing against the state." —Mussolini

के लिए मुसोलिनी का प्रवचन था, "विश्वास करो, आज्ञापालन करो और युद्ध करो।' हिटलर ने, 'कर्तव्य, अनुशासन और त्याग' पर बल दिया।

(3) लोकतन्त्र का विरोध – अधिनायकतन्त्र लोकतन्त्रविरोधी सिद्धान्त है। यह राजनीतिक विरोध को पसन्द नहीं करता है। प्राय सभी अधिनायकों तथा उनके समर्थकों ने लोकतन्त्र को एक सड़ हुए मुर्दे के समान माना है क्योंकि यह "मूर्ख, भ्रष्ट और मन्दगति से चलने वाला है।" उनके अनुसार संसद 'केवल बकवास की दुकानें हैं और संकट के समय ये नितान्त असहाय होती हैं। अधिनायकतन्त्र इस धारणा में विश्वास करता है कि सम्पूर्ण राष्ट्र को एक ही ढंग से सोचना चाहिए, एक ही ढंग से बोलना चाहिए तथा एक ही ढंग से कार्य करना चाहिए। इसमें स्वतन्त्र वाद विवाद और शासन की आलोचना को कोई स्थान नहीं है।

(4) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का विरोधी– आधुनिक अधिनायकतन्त्र एक व्यक्ति अथवा एक दल का शासन होता है और इसलिए यह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का विरोधी है। साम्यवाद व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को बुर्जुआ लोगों की धारणा मानता है तथा फासिज्म एवं नाजीवाद इसे अतीत की मान्यता मानते थे। अधिनायकवादी राज्य अपनी प्रजा को भाषण देने, विचार प्रकट करने, सभा करने, संगठन बनाने तथा अन्य इसी प्रकार के बहुत सब अधिकार नहीं प्रदान करता जो लोकतन्त्र में प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होते हैं।

(5) उग्र राष्ट्रवाद में विश्वास—अधिनायकतन्त्र उग्र राष्ट्रवाद में विश्वास करता है। वह अपने राष्ट्र को सर्वोपरि तथा सर्वशक्तिमान मानता है। वह राष्ट्र के हित में व्यक्ति का अपना सवस्व अर्पण करने की प्रेरणा देता है। इसमें विवेक के स्थान पर मनुष्यों की भावनाओं, विश्वासों तथा जोश को उभारने का प्रयत्न किया जाता है। इसमें प्राय सर्वत्र अपनी जाति, संस्कृति, सभ्यता, साहित्य आदि की महानता के गुणगान किये जाते हैं तथा दूसरे राष्ट्रों की जातियों, सभ्यता एवं संस्कृति को हीन समझा जाता है। इसमें केवल अपने राष्ट्र के हितों को ही प्रधानता दी जाती है तथा दूसरे राष्ट्रों के हितों की अवहेलना की जाती है।

(6) प्रचार के साधनों पर नियन्त्रण—अधिनायकतन्त्र में प्रचार के साधनों, जैसे समाचारपत्र, रेडियो, टेलिविजन, सिनेमा इत्यादि पर राज्य का कठोर नियन्त्रण रहता है। इन साधनों का उपयोग सत्तारूढ दल और उसके नेता के विचारों के प्रचार के लिए किया जाता है। इसमें समाचार पत्रों को विरोधी विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता नहीं होती है। शासक दल जनता को अपने पक्ष में बनाये रखने के लिए प्रचार के इन साधनों का हर प्रकार से प्रयोग करता है।

(7) युद्ध एवं साम्राज्यवाद में विश्वास—अधिनायकतन्त्र अपने राष्ट्र को सर्वोपरि मानता है। उसके विकास और विस्तार के लिए वह युद्ध का मार्ग अपनाता है। हिटलर और मुसोलिनी ने खुले रूप में युद्ध का प्रचार किया। हिटलर तलवार की शक्ति में विश्वास करता था तथा मुसोलिनी बलिदान के समक्ष शान्ति को

कायरता मानना था। दोनों ने अपने-अपने देशों के आर्थिक विकास के लिए तथा अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए शक्ति के माध्यम से औपनिवेशिक विस्तार की नीति का अनुसरण किया। हिटलर कहा करता था कि "पुरुषों के जीवन में युद्ध का वही स्थान है जो स्त्री के जीवन में मातृत्व का है।' मुसोलिनी ने कहा था कि "साम्राज्यवाद जीवन का चिरस्थायी और शाश्वत नियम है।' उसकी घोषणा थी कि 'इटली का या तो विस्तार होना चाहिए या अन्त।"

(8) धर्म का शत्रु—अधिनायकतन्त्र धर्म का शत्रु होता है। अधिनायकवादी या तो धर्म में आस्था ही नहीं रखते या उसे राज्य के हाथ में कठपुतली बनाये रखना चाहते हैं। नाजीवाद लोगों को यह उपदेश देता था कि 'जो युद्ध परमात्मा का है उसे सीजर अथवा राजा को दे डालो।"

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक अधिनायकतन्त्र राज्य की सर्वोच्चता के सिद्धान्त में विश्वास करता है जिसमें सम्पूर्ण शक्ति दल के नेता में केन्द्रित होती है।

अधिनायकवाद के प्राचीन एवं नवीन रूप—अधिनायकतन्त्रीय शासन प्रणाली नयी नहीं है। प्राचीन यूनान और रोम में भी इस प्रकार की शासन प्रणाली प्रचलित थी। यूनान में अधिनायकतन्त्र ऐसी शासन व्यवस्था को कहा जाता था जिसमें सत्ताधारी व्यक्ति कानून तथा संविधान की उपेक्षा करके बल प्रयोग द्वारा सत्ता पर अपना अधिकार कर लेता था। रोम में तानाशाही एक निश्चित समय के लिए होती थी। वहाँ संकट का सामना करने के लिए शासन की समस्त शक्तियाँ अस्थायी रूप से एक अधिनायक को सौंप दी जाती थीं। इंगलैंड में क्रॉमवेल का शासन तथा फ्रांस में नेपोलियन का शासन इसी प्रकार का था। अधिनायकतन्त्र का यह रूप आधुनिक अधिनायकों के ऊपर लागू नहीं होता। आधुनिक अधिनायक आकस्मिक राज्य-विप्लव के फलस्वरूप बल प्रयोग द्वारा शक्ति में आते हैं और वे उस समय तक सत्ता में बने रहते हैं जब तक शक्ति अथवा बल प्रयोग उन्हें अधिनायक बनाये रख सकता है। वे निश्चित अवधि के लिए नहीं होते और न वे किसी प्रतिनिधिक संस्था के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

आधुनिक अधिनायकतन्त्र की एक विशेषता यह है कि अधिनायक को अपने दल का पूर्ण समर्थन एवं सहयोग प्राप्त रहता है। वह दल की सहायता से ही सत्ता ग्रहण करता है। उदाहरणार्थ, बोल्शेविक दल की सहायता से रूस में लेनिन, फासी दल की सहायता से इटली में मुसोलिनी तथा नाजी दल की सहायता से जर्मनी में हिटलर अधिनायक बने। इसके अतिरिक्त आर्थिक विचारधारा के आधार पर आधुनिक अधिनायकतन्त्र को दक्षिणपन्थी अधिनायकतन्त्र (इटली, जर्मनी आदि में स्थापित) तथा वामपन्थी अथवा सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतन्त्र (रूस, चीन आदि में स्थापित) में विभाजित किया जाता है।

आधुनिक अधिनायकतन्त्र के उत्कर्ष के कारण—प्रथम महायुद्ध के पश्चात जो अधिनायकतन्त्र स्थापित हुए, उनके उदय के कई प्रमुख कारण थे प्रथम तो, जिन देशो मे लोकतन्त्रो की नई-नई स्थापना की गई थी, उनकी भूमि और जलवायु इस योग्य नही थी कि वहाँ लोकतन्त्र पनप सके। वस्तुत उन देशो की परम्पराएँ लोकतन्त्र के अनुकूल नही थी। द्वितीय अधिनायकतन्त्र का उदय उन देशो मे हुआ जहाँ निराशा और नाराजगी की भावनाएँ फैली हुई थी। युद्ध ने जिन देशों को पूरी तरह से तहस नहस कर दिया था तथा जिनको भारी क्षति पूर्ति देनी पड़ी और जिसके कारण उनकी आर्थिक स्थिति बहुत खराब हो गयी थी उन्हीं देशों मे अधिनायकतन्त्र का उदय हुआ। यही नही, युद्ध के पश्चात् बेकारी, आर्थिक सकट तथा पुर्ननिर्माण की समस्याओ का समाधान करने मे लोकतन्त्रीय व्यवस्थाएं असफल सिद्ध हुई, अतः लोगो का लोकतन्त्र मे विश्वास हटने लगा। तृतीय राष्ट्र सघ की निर्बलता के फलस्वरूप भी इस प्रवृत्ति का उदय हुआ। अन्त मे, जब तानाशाही ने अपने जोशीले भाषणो तथा कार्यक्रमो से जनता के दुःख को दूर करने की आशा दिखाई, तो उनके भुलावे मे आकर जनता ने उनको सत्ता हस्तगत कर दी। अवसर से लाभ उठाकर इन अधिनायको ने सर्वाधिकारवादी शासन स्थापित किए।

अधिनायकतन्त्र के गुण—जिस समय अधिनायकतन्त्र का बोलबाला था, कई बुद्धिजीवियों और विद्वानो ने इसकी खूब प्रशसा की। इसकी प्रशसा करने वालो मे बर्नार्ड शॉ भी थे। इसमे निम्नलिखित प्रमुख गुण बताए जाते है

(1) **शासन मे कुशलता**—अधिनायकतन्त्र का पहला गुण उसकी प्रशासनिक कुशलता है। अधिनायकतन्त्र म राजशक्ति एक व्यक्ति अर्थात् अधिनायक मे निहित रहती है। शासन सम्बन्धी समस्त निर्णय उसी के द्वारा लिए जाते है। अत निर्णय लेने तथा निर्णयों को कार्यान्वित करने मे समय की बर्बादी नही होती और समयानुकूल शीघ्रतापूर्वक निर्णय लिए जाते है। इसम शासन की कुशलता बढ जाती है।

(2) **राष्ट्रीय एकता में वृद्धि**—राष्ट्रीय एकता की वृद्धि की दृष्टि से भी अधिनायकतन्त्र अधिक उपयुक्त माना जाता है। इसमे राष्ट्रीय हित का प्रमुख स्थान प्राप्त होता है। अत इसमे राष्ट्रीय भावना तेजी से विकसित होती है। अधिनायकतन्त्र म राष्ट्र आन्तरिक क्षेत्र म सुदृढ बन जाता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे उसकी शक्ति एव प्रतिष्ठा मे वृद्धि हो जाती है।

(3) **सकटकाल के लिए अधिक उपयुक्त**—अधिनायकतन्त्र सकटकालीन परिस्थितियो का अधिक दृढतापूर्वक सामना कर सकता है। इसमे सरलता से निर्णय लिए जा सकते है तथा उन्हे दृढता म लागू किया जा सकता है।

(4) **राष्ट्र की प्रगति के लिए लाभदायक**—राष्ट्र की प्रगति की दृष्टि से भी अधिनायकतन्त्र अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है। रूस, जर्मनी, इटली, टर्की, स्पेन आदि देशो म प्रथम महायुद्ध के कारण बिगडी हुई आर्थिक स्थिति को वहाँ के

अधिनायकों ने बड़ी तेजी से सुधारा। उन्होंने अपने राष्ट्र के आर्थिक जीवन का पुनर्निर्माण बड़ी तेजी और तत्परता से किया।

(5) कम खर्चीली शासन व्यवस्था—अन्य शासन-पद्धतियों की तुलना में अधिनायकतन्त्र कम खर्चीली शासन व्यवस्था है। लोकतन्त्र के समान इसमें चुनाव आदि के प्रबन्ध में धन खर्च नहीं होता तथा शासन प्रबन्ध के लिए भी बहुत अधिक धन खर्च नहीं करना पड़ता।

(6) उच्च गुणों को प्रोत्साहन—अधिनायकतन्त्र देशवासियों में देश-भक्ति, सहयोग और त्याग के उच्च आदर्शों को प्रोत्साहित करता है।

जैक्सन ने अपनी पुस्तक *Europe Since the War* में स्पेन के अधिनायक रिवेरा (Rivera) की सफलताओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि 'स्पेनवासियों के इतिहास में यह पहला अवसर है जबकि रेलें समय पर चली हैं, नये रेल-पथ बनाये गये हैं और स्पेन के परम्परागत खच्चर मार्गों की जगह मोटर सड़कों ने ले ली है। अधिनायक के अधीन व्यापार व उद्योग समृद्ध हुए हैं। कृषि फली-फूली है और श्रम संकट दूर हो गया है।'

अधिनायकतन्त्र के दोष—उपर्युक्त गुणों के होते हुए भी अधिनायकतन्त्र को अब कोई समर्थन प्राप्त नहीं है। इसमें निम्नलिखित प्रमुख दोष बताये जाते हैं :

(1) व्यक्तित्व के विकास में बाधा—अधिनायकतन्त्र व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास को रोकता है। नागरिकों को आर्थिक सुरक्षा के भुलावे में डालकर उनकी वास्तविक स्वतन्त्रता का अपहरण कर लेता है। मानव जीवन का लक्ष्य केवल भोजन प्राप्त करना ही नहीं है। यह मानव जीवन को एक ही ढर्रे पर चलाकर तथा उसे पूर्णतया राज्य के अधीन बनाकर मनुष्य के विवेक एवं स्वतः प्रेरणा का अन्त कर देता है।

(2) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का हनन—अधिनायकतन्त्र व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन करता है। इसमें विचारों की अभिव्यक्ति एवं सरकार का विरोध करने की स्वतन्त्रता मनुष्यों को प्राप्त नहीं होती। उनका कार्य केवल अधिनायक की आज्ञा का पालन करना है। इसके कारण अधिनायकतन्त्र में मानव व्यक्तित्व के साथ साथ शिक्षण, साहित्य तथा कला के विकास की सम्भावना भी नष्ट हो जाती है।

(3) विश्वशान्ति में बाधक—अधिनायकतन्त्र उग्र राष्ट्रीयता का समर्थक तथा अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रबल विरोधी होता है। इसमें युद्ध व उपनिवेशवादी प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है। द्वितीय महायुद्ध इटली, जर्मनी व जापान के अधिनायकों की विस्तारवादी नीति का परिणाम था। उग्र राष्ट्रीयता की भावना विश्वशान्ति के मार्ग में बाधा पहुँचाती है। फ्रीडमेन ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "मानव जाति के मध्य हुए सभी भीषण युद्ध किसी न किसी रूप में अधिनायकवादी राज्यों द्वारा ही प्रारम्भ किये गए।"

(4) शासन शक्तियों का दुरुपयोग अधिनायकतन्त्र में शक्तियों के केन्द्रीयकरण तथा किसी भी प्रकार के नियन्त्रण के अभाव के कारण शासन शक्तियों के दुरुपयोग की सम्भावना बनी रहती है। अधिनायक अपने विरोधियों पर भारी अत्याचार करता है और कभी कभी तो ये अत्याचार सीमा पार कर जाते हैं।

(5) योग्य उत्तराधिकारी की समस्या— यदि पहला अधिनायक कुशल और योग्य शासक हो भी, तो भी इस बात की कोई गारण्टी नहीं है कि उसका उत्तराधिकारी भी वैसा ही योग्य होगा। साधारणतया एक अधिनायक की मृत्यु के पश्चात् उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर प्रायः झगड़े होते हैं जिससे अशान्ति और अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है।

डॉ० आशीर्वादम के शब्दों में, "अनुत्तरदायित्वपूर्ण अनियन्त्रित राज्य का अर्थ है, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का दमन करना तथा मानवीय व्यक्तित्व को दबाना, स्वदेश में हिंसा करना तथा विदेशों पर निर्लज्जतापूर्ण आक्रमण करना, मानवीय स्वभाव की नृशंस हत्या करना तथा सम्पूर्ण लोगों का सैनिकीकरण करना।"

निष्कर्ष—अधिनायकतन्त्र के गुण व दोषों की विवेचना करने के पश्चात हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शासन का यह रूप कुछ विशेष परिस्थितियों में ही अधिक उपयोगी प्रतीत होता है। इसे सब समय में तथा सब देशों के लिए उपयुक्त नहीं कहा जा सकता है। व्यक्ति और जनता के हित की दृष्टि से अधिनायकतन्त्र बहुत अनिष्टकारी है तथा आज के युग में विवेकशील बुद्धिजीवी इसका समर्थन नहीं करते। बेनडेटो क्रोस के अनुसार 'शक्ति के प्रयोग पर आधारित राज्य पतनोन्मुख राष्ट्र में ही ठहर सकते हैं। ये उन राष्ट्रों में जो प्रगति कर रहे हैं अथवा ऊँचे उठ रहे हैं अल्पकाल के लिए ही ठहर सकते हैं।'

लोकतन्त्र
(Democracy)

लोकतन्त्र का अर्थ—लोकतन्त्र का अर्थ साधारणतया दो रूपों में लिया जाता है। एक सीमित अर्थ में तथा दूसरा व्यापक अर्थ में। सीमित अर्थ में लोकतन्त्र का तात्पर्य सरकार अथवा शासन के एकरूप से है। प्राचीनकाल से लेकर आज तक बहुत से विचारक लोकतन्त्र को शासन का ही एक रूप मानते रहे हैं। प्लेटो, अरस्तू, सिसरो, सर हेनरीमेन लॉवेल तथा लिंकन आदि की परिभाषाओं में लोकतन्त्र का यही अर्थ स्पष्ट होता है। व्यापक अर्थ में लोकतन्त्र को केवल शासन का ही रूप नहीं माना जाता बल्कि इसे राज्य और समाज का भी रूप माना जाता है। गिडिंग्स के शब्दों में, 'लोकतन्त्र केवल शासन का ही एक रूप नहीं है वरन् यह राज्य का भी एक रूप है तथा समाज की भी एक अवस्था है अथवा यह तीनों का मिश्रण है।'[1]

1 "Democracy may be either a form of government a form of state, a form of society or a combination of the three "

— Giddings

लोकतन्त्र का वास्तविक स्वरूप इस परिभाषा से भी अधिक व्यापक है। यह केवल सरकार राज्य तथा समाज का ही स्वरूप नहीं है अपितु आदर्श जीवन पद्धति की खोज भी है। इसमें राजनीतिक, सामाजिक आर्थिक, नैतिक आदि सभी पहलुओं को शामिल किया जाता है। इस प्रकार व्यापक अर्थ में लोकतन्त्र शब्द का प्रयोग शासन के प्रकार के रूप में, राज्य के प्रकार के रूप में, समाज व्यवस्था के प्रकार के रूप में, आर्थिक व्यवस्था के प्रकार के रूप में तथा जीवन के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण के रूप में किया जाने लगा है। लोकतन्त्र के वास्तविक अर्थ को समझने के लिए उसके सभी रूपों को समझना आवश्यक है।

(1) शासन के प्रकार के रूप—लोकतन्त्र का अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द डेमोक्रेसी (Democracy) ग्रीक भाषा के दो शब्दों डेमोस (Demos) तथा क्रेटिया (Kratia) से मिलकर बना है जिनका अर्थ क्रमशः जनता तथा 'शक्ति' होता है। अतः शब्द उत्पत्ति के आधार पर लोकतन्त्र का तात्पर्य जनता की शक्ति अथवा शासन से है। शासन के प्रकार के रूप में लोकतन्त्र उस शासन प्रणाली को कहते हैं जिसमें जनता प्रत्यक्ष रूप से अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अपने प्रतिनिधियों द्वारा शासन करती है। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि लोकतन्त्र वह शासन प्रणाली है जिसमें सरकार जनता द्वारा चुनी जाती है वह जनता के हितों की रक्षा करती है तथा जनता के प्रति उत्तरदायी होती है।

शासन के प्रकार के रूप में लोकतन्त्र की परिभाषा विभिन्न विचारकों ने विभिन्न प्रकार से की है। लॉर्ड ब्राइस के अनुसार 'लोकतन्त्र शासन का वह प्रकार होता है जिसमें राज्य की शासन शक्ति किसी विशेष वर्ग अथवा वर्गों में निहित न होकर सम्पूर्ण जन-समुदाय में निहित होती है।[1] प्रो० सीले के शब्दों में "लोकतन्त्र वह शासन है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का भाग होता है।[2] डायसी के मतानुसार "लोकतन्त्र शासन का वह रूप है जिसमें शासक समुदाय सम्पूर्ण राष्ट्र का अपेक्षाकृत एक बड़ा भाग होता है।'[3] अब्राहम लिंकन के शब्दों में 'लोकतन्त्र जनता का

1 ' Democracy is that form of government in which the ruling power of the state is vested not in a particular class or classes but in the members of the community as a whole "—Bryce : *Modern Democracies*, Vol 1 p 20

2 "Democracy is a government in which every one has a share," —Selley *Introduction to Political Science*, p 324

3 "Democracy is a form of government in which governing body is comparatively a large fraction of the entire nation."—Dicey . *Law and Public Opinion in England*, p 50

जनता के लिए तथा जनता द्वारा शासन होना है।'[1] कोरी ने 'लोकतन्त्र को जनमत द्वारा शासन' माना है।

उपरोक्त सभी परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शासन के प्रकार के रूप में लोकतन्त्र एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें जनता ही सरकार की स्थापना करती है, सरकार पर नियन्त्रण रखती है, सरकार उसके हितों की रक्षा करती है तथा उसकी इच्छापर्यन्त ही वह अपने पद पर आसीन रहती है।

(2) राज्य के प्रकार के रूप में—लोकतन्त्रात्मक सरकार के लिए लोकतन्त्रात्मक राज्य का होना आवश्यक है। लोकतन्त्रात्मक राज्य के बिना लोकतन्त्रात्मक सरकार नहीं हो सकती। राज्य के प्रकार के रूप में लोकतन्त्र का तात्पर्य उस राज्य से होता है जिसमें सम्प्रभुता जनता में निहित होती है। जनता ही राज्य के कार्यों पर अपना नियन्त्रण रखती है, वही राज्य की शासन व्यवस्था के स्वरूप का निर्धारण करती है तथा राजनीतिक मामलों पर अन्तिम निर्णय की शक्ति उसी को प्राप्त होती है। हर्नशॉ के शब्दों में, 'राज्य के प्रकार के रूप में लोकतन्त्र शासन की ही एक पद्धति नहीं है, अपितु वह सरकार की नियुक्ति करने, उस पर नियन्त्रण रखने तथा उसे अपदस्थ करने की भी एक पद्धति है।''

(3) समाज के प्रकार के रूप में—शासन की एक पद्धति और राज्य का एक प्रकार होने के साथ साथ लोकतन्त्र समाज की एक व्यवस्था भी है। समाज के प्रकार के रूप में लोकतन्त्र से तात्पर्य एक ऐसे समाज से है जिसमें सब व्यक्ति समान समझे जाते हैं तथा नस्ल, रंग, धर्म, जाति, लिंग, सम्पत्ति आदि के आधार पर मनुष्यों में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाता। सभी व्यक्ति समान अधिकारों एवं अवसरों का उपभोग करते हैं तथा सभी व्यक्तियों के व्यक्तित्व का मूल्य समान समझा जाता है। डॉ० बेनीप्रसाद के शब्दों में "यह जीवन का एक ढंग है। यह इस मान्यता पर आधारित है कि प्रत्येक व्यक्ति के सुख का महत्त्व उतना ही है जितना किसी दूसरे व्यक्ति के सुख का महत्त्व है तथा किसी को भी अन्य किसी के सुख का साधन मात्र नहीं समझा जा सकता।'[2] डॉ० आशीर्वादम के अनुसार 'एक लोकतन्त्रीय समाज वह समाज है जिसमें समानता और भ्रातृत्व की भावना पायी

1 "Democracy is a government of the people, for the people and by the people" — Abraham Lincoln

2 'It is a way of life It proceeds on the axiom that the happiness of every person counts for as much as the happiness of any one else and that no body is to be regarded as a mere means to the happiness of others."—Dr. Beni Prasad : *A B C. of Civics*, p. 102.

जाती है।[1] प्रो० हर्नशॉ के शब्दों में, "लोकतान्त्रिक समाज वह है जिसमें समानता के विचार की प्रधानता हो तथा जिसमें समानता का सिद्धान्त प्रचलित हो।"[2]

(4) आर्थिक व्यवस्था के प्रकार के रूप में—आर्थिक व्यवस्था के प्रकार के रूप में लोकतन्त्र का तात्पर्य आर्थिक समानता की स्थापना एवं उद्योग-धन्धों के प्रजातन्त्रीय प्रशासन से है। आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक एवं सामाजिक समानता का कोई मूल्य नहीं है। आर्थिक समानता का तात्पर्य यह नहीं है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति को पूरी तरह समाप्त कर दिया जाए अथवा सम्पत्ति का समान वितरण कर दिया जाए। इसका तात्पर्य केवल यह है कि समाज के सभी लोगों को भोजन, वस्त्र, निवास, शिक्षा एवं चिकित्सा आदि की सामान्य सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए जिससे वे अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकें। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति की न्यूनतम आवश्यकताओं (Economic minimum) की पूर्ति होनी चाहिए तथा समाज में किसी प्रकार का आर्थिक शोषण न हो। उद्योगों के प्रजातन्त्रीय प्रशासन से तात्पर्य यह है कि उद्योगों पर पूँजीपतियों का एकाधिकार न हो तथा उद्योगों के प्रबन्ध में श्रमिकों को भी भागीदार बनाया जाए।

(5) जीवन के विशिष्ट दृष्टिकोण के रूप में—लोकतन्त्र शासन, राज्य, समाज व आर्थिक व्यवस्था का ही एक प्रकार नहीं है, अपितु यह तो जीवन के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण भी है। इसके अन्तर्गत मनुष्य का स्वभाव तथा व्यवहार लोकतन्त्रवादी होना चाहिए अर्थात 'सबके हृदय में क्षमा, सेवा, समन्वयता, सहिष्णुता, परोपकार, समझौते की प्रवृत्ति, विरोधी दृष्टिकोण के प्रति आदर एवं मानवीय व्यक्तित्व के प्रति सम्मान की भावना आदि भाव विद्यमान हों।' लोकतन्त्र में व्यक्ति का दृष्टिकोण यह होना चाहिए कि वह दूसरे के प्रति वैसा ही व्यवहार करे जैसा वह दूसरों से अपने प्रति चाहता है।

(6) नैतिक आदर्श के रूप में—लोकतन्त्र एक नैतिक आदर्श भी है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था में मनुष्य स्वयं साध्य माना जाता है, साधन नहीं। अतः इसका उद्देश्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करना तथा उसके नैतिक जीवन के स्तर को ऊँचा उठाना है। लोकतन्त्र के अनुसार एक मनुष्य दूसरे से भिन्न नहीं है। यह साधारण मनुष्य को राजनीतिक और सामाजिक प्रतिष्ठा के स्तम्भ पर ऊँचा उठा देता है तथा मनुष्य-मात्र को योग्यतर बनाना चाहता है। काण्ट ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि 'मानवता का उपयोग प्रत्येक दशा में लक्ष्य के रूप में होना चाहिए, उसका उपयोग साधन के रूप में कभी भी नहीं होना चाहिए।'

---

1 "A democratic society is one in which the spirit of equality and fraternity prevails." —*Ashirvatham*

2 "Democratic society is merely one in which the spirit of equality is strong and in which the principle of equality prevails." —**Hearnshaw** *Democracy at the Crossways*, p. 17.

इस प्रकार व्यापक अर्थ में लोकतन्त्र का तात्पर्य शासन के प्रकार से ही नहीं है, वरन् इसका तात्पर्य राज्य के एक प्रकार, समाज के एक प्रकार, आर्थिक व्यवस्था के एक प्रकार, जीवन के एक विशिष्ट दृष्टिकोण तथा नैतिक आदर्श से है। प्रो० मैक्सी ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि, "बीसवीं शताब्दी में लोकतन्त्र एक राजनीतिक सिद्धांत एक शासन पद्धति तथा एक सामाजिक व्यवस्था मात्र नहीं है वरन् यह ऐसी जीवन पद्धति की खोज है जिसमें न्यूनतम बल प्रयोग अथवा दबाव से व्यक्ति की स्वत प्रेरित स्वतन्त्र बुद्धि और उसके कार्यकलापों में समन्वय लाया जा सके।"

लोकतन्त्रात्मक शासन के भेद

लोकतन्त्रात्मक शासन के सामान्यतया दो भेद माने जाते हैं (1) विशुद्ध या प्रत्यक्ष लोकतन्त्र (Pure or Direct Democracy), तथा (2) प्रतिनिध्यात्मक या अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र (Representative or Indirect Democracy)।

प्रत्यक्ष लोकतन्त्र—प्रत्यक्ष लोकतन्त्र वह शासन व्यवस्था है जिसमें प्रभुसत्ताधारी जनता प्रत्यक्ष रूप से शासन के कार्यों में भाग लेती है। इसमें जनता शासन-सत्ता अपने प्रतिनिधियों को नहीं सौंपती वरन वह एक जन-सभा के रूप में एकत्र होकर सार्वजनिक मामलों पर विचार विमर्श करती है, नीति निर्धारित करती है, कानून बनाती है, शासन सचालन के लिए अधिकारियों को नियुक्त करती है तथा उन पर नियन्त्रण रखती है। जैसा कि प्रो० हर्नशा ने लिखा है कि "शुद्ध रूप में लोकतन्त्रात्मक शासन वह शासन होता है जिसमें सम्पूर्ण जनता स्वयं प्रत्यक्ष रूप से बिना ऐजेण्टों अथवा प्रतिनिधियों के प्रभुसत्ता का प्रयोग करती है।"[1] प्रत्यक्ष लोकतन्त्र केवल उन्हीं राज्यों में सम्भव हो सकता है जिनका आकार बहुत छोटा हो, जिनकी जनसंख्या कम हो जहाँ समस्त निर्वाचक एक स्थान पर एकत्र हो सकें और जहाँ शासन की समस्याएँ कम और सरल हो। बड़े समाजों और राज्यों में, जहाँ समस्त निर्वाचकों के लिए एक स्थान पर एकत्र होना सम्भव नहीं और जहाँ शासन की समस्याएँ जटिल हैं, वहाँ प्रत्यक्ष लोकतन्त्र सम्भव नहीं हो सकता।

प्राचीनकाल में यूनान के नगर राज्यों में तथा रोम के छोटे नगरों में प्रत्यक्ष लोकतन्त्रात्मक शासन प्रचलित था। वर्तमान समय में स्विटजरलैण्ड के चार कैंटनों—अपेनजेल, उरी, अण्टरवाल्डन तथा ग्लारस—में प्रत्यक्ष लोकतन्त्रीय शासन की पद्धति अभी भी प्रचलित है। कुछ आधुनिक राज्यों में प्रचलित लोक निर्णय (Referendum), उपक्रम (Initiative) तथा प्रत्यावर्तन (Recall) की प्रणालियाँ ही

1 "... democratic form of goverment in the strict sense of the *term*, is *one in which* the community as a whole, directly or immediately, without agents or representatives perform the function of sovereignty"-- Hearnshaw *Democracy at the Crossways* p 13.

आजकल प्रत्यक्ष लोकतन्त्र का निकटतम स्वरूप मानी जाती हैं। लोकनिर्णय वह विधि है जिसमे विधानमण्डल द्वारा पारित कानूनो पर जनता की स्वीकृति ली जाती है। उपक्रम अथवा आरम्भक के माध्यम से जनता को कानून निर्माण करने का अधिकार मिलता है। प्रत्यावर्तन वह साधन है जिसके अनुसार जनता व्यवस्थापिका सभा मे अपने चुने हुए प्रतिनिधि को अवधि समाप्त होने से पूर्व ही वापस बुला सकती है। प्रत्यक्ष लोकतन्त्र वर्तमान विशाल राष्ट्रीय राज्यो के लिए अव्यावहारिक है।

प्रतिनिध्यात्मक अथवा अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र—दूसरे प्रकार का लोकतन्त्र, जिसे सामान्यतया प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र कहा जाता है, शासन का वह रूप है जिसमे राज्य की इच्छा का निर्माण एव उसकी अभिव्यक्ति जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियो द्वारा की जाती है। ऐसा इसलिए किया जाता है कि आधुनिक विशाल राज्यो मे सभी नागरिको का एक स्थान पर एकत्र होना, सभी के द्वारा कानूनो का निर्माण करना तथा नीति का निर्धारण करना सम्भव नही है। अत इस शासन प्रणाली मे जनता एक निश्चित समय के लिए अपने प्रतिनिधियो का निर्वाचन करती है। जैसा कि मिल ने कहा है कि, "अप्रत्यक्ष अथवा प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र वह होता है जिसमे सम्पूर्ण जनता अथवा उसका बहुसख्यक भाग शासन की शक्ति का प्रयोग अपने द्वारा समय समय पर चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा करती है।"[1] हर्नशॉ के शब्दो मे भी "यह प्रतिनिधियो के माध्यम से सर्वोच्च सत्तावान जनता का शासन होता है।"[2] इस तरह प्रतिनिधि लोकतन्त्र मे भी सत्ता का आदि स्रोत जनता मे ही निवास करता है। आजकल ससार के प्राय सभी राज्यों मे अप्रत्यक्ष या प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र का ही प्रचलन है।

लोकतन्त्र के प्रमुख लक्षण एक शासन-व्यवस्था के रूप मे लोकतन्त्र को हम तब तक भली प्रकार नही समझ सकते जब तक कि उसके प्रमुख लक्षणो का परीक्षण न कर लिया जाए। लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था के प्रमुख लक्षण निम्न-लिखित है

(1) *मानव व्यक्तित्व की गरिमा—लोकतन्त्र का आधारभूत तत्व है—व्यक्ति* के व्यक्तित्व की गरिमा तथा उसके व्यक्तित्व को पूर्ण मान्यता। लोकतान्त्रिक व्यवस्था मे मनुष्य स्वय साध्य माना जाता है, साधन नही। जैसा कि काण्ट ने लिखा है कि "प्रत्येक मनुष्य स्वय में एक साध्य है और उसे कभी किसी अन्य [redacted] लिए एक साधन नहीं समझा जाना चाहिए।" अत प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व की गरिमा होती है तथा

1 "Indirect or representative democracy [redacted] one in which the *whole people or some numerous portion of them excercise the* governing power through deputies periodically elected by themselves" — J S Mill *Representative Government* [redacted] 51

2 "It is a government by the sovereign democracy through the agency of delegates" —***Hearnshaw***

उसके सुख का महत्त्व उतना ही होना है जितना कि अन्य किसी के सुख का महत्त्व होता है। किसी को भी अन्य किसी के सुख का साधन मात्र नहीं समझा जा सकता। लोकतन्त्र साधारण मनुष्य को राजनीतिक और सामाजिक प्रतिष्ठा के स्तम्भ पर ऊँचा उठाने का प्रयत्न करता है और इसीलिए यह लोगों का अपना शासन कहलाता है।

(2) राजनीतिक स्वतन्त्रता लोकतन्त्र का दूसरा महत्त्वपूर्ण लक्षण राजनीतिक स्वतन्त्रता है। राजनीतिक स्वतन्त्रता से तात्पर्य यह है कि नागरिकों को स्वतन्त्र रूप से बिना किसी बाह्य दबाव के अपने प्रतिनिधियों को चुनने तथा राजनीतिक कार्यों में भाग लेने का अधिकार होना चाहिए। इसके अतिरिक्त लोकतन्त्रीय शासन में लोकमत ही सरकार को मर्यादा और नियन्त्रण में रख सकता है। जन लोगों को विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, प्रेस की स्वतन्त्रता, साहित्य के प्रकाशन की स्वतन्त्रता, सम्मेलन तथा संगठन की स्वतन्त्रता, सरकार के कार्यों की आलोचना करने की स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। मेयो (H B Mayo) के शब्दों में, "राजनीतिक स्वतन्त्रताओं का अस्तित्व एवं विस्तार तथा राजनीतिक विरोध एक देश में लोकतन्त्र के प्रसार का महत्त्वपूर्ण मापदण्ड है।"

(3) समानता—समानता लोकतन्त्र की स्थापना का एक प्रधान तत्त्व है। समानता के तीन प्रमुख रूप हैं राजनीतिक समानता, सामाजिक समानता तथा आर्थिक समानता। राजनीतिक समानता से तात्पर्य यह है कि सभी वयस्क नागरिकों को समान रूप से मताधिकार तथा अन्य प्रकार के राजनीतिक अधिकार प्राप्त होने चाहिये। सामाजिक समानता से तात्पर्य यह है कि समाज में जन्म, जाति, रंग, सम्प्रदाय और धर्म आदि के भेदभावों के बिना प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व को समान आदर एवं महत्त्व प्राप्त होना चाहिए। सामाजिक समानता के साथ-साथ आर्थिक समानता भी अत्यन्त आवश्यक है। आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं है। आर्थिक समानता से तात्पर्य यह है कि समाज में धन की असमानता कम से कम हो, लोगों को अवसरों की समानता प्राप्त हो तथा सभी व्यक्तियों को आर्थिक सुरक्षा एवं आर्थिक न्याय की प्राप्ति हो।

दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि लोकतन्त्र में कोई वर्ग न तो विशेष सुविधा सम्पन्न हो और न कोई सुविधा रहित। जैसा कि हर्नशॉ ने लिखा है कि 'लोकतन्त्र की माँग है कि एक ओर सुविधा प्राप्त उच्च वर्ग अथवा लाभ उठाने वाले धर्म गुरुओं का वर्ग समाप्त हो और दूसरी ओर शोषित श्रमिक वर्ग अथवा दासता में फँसा हुआ किसान वर्ग समाप्त हो।'[1]

---

1 "It demands elimination both of a privileged nobility or a benefited clergy on the one side and of an oppresssed industrial proletariat or an enslaved peasantry on the other."

—Hearnshaw

(4) कानून का शासन—लोकतन्त्र का एक प्रमुख लक्षण कानून का शासन (Rule of law) माना जाता है। कानून के शासन का तात्पर्य न्याय की समानता से है अर्थात् कानून के समक्ष धनी एवं निर्धन सभी समान समझे जायें, सभी नागरिकों को समान अधिकार एवं समता के सुअवसर प्राप्त हों, कानून सब पर समान रूप से लागू हो तथा देश का शासन किसी व्यक्ति अथवा समूह विशेष की इच्छा के अनुसार न होकर सर्वमान्य कानूनों के अनुसार हो। इसका अर्थ यह भी है कि धर्म, जाति, वंश, सम्पत्ति, पद अथवा सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार पर किसी के साथ कोई भेद-भाव न किया जाये।

(5) राजनीतिक उत्तरदायित्व—लोकतन्त्र का अर्थ विचार-विमर्श द्वारा शासन है तथा व्यवहार में इस शासन व्यवस्था के अन्तर्गत बहुमत द्वारा शासन किया जाता है। परन्तु बहुमत का कर्तव्य यह नहीं है कि वह अल्पमत वर्ग का दमन करे अथवा अपनी सत्ता के बल पर उन पर अपना निर्णय थोपे। उसको चाहिए कि वह अल्पमत वर्ग के विचारों का उचित आदर करे, शासन सम्बन्धी नीतियों के निर्माण में उनका सहयोग प्राप्त करे तथा उनके प्रति अपनी न्यायप्रियता एवं निष्पक्षता का परिचय दे। दूसरी ओर अल्पमत वर्ग का भी यह दायित्व है कि वह देश के संविधान और कानूनों का आदर करे, सदैव ही अनावश्यक रूप से बहुमत का विरोध न करे तथा शासन सत्ता पर अपना अधिकार करने के लिए असंवैधानिक साधनों का प्रयोग न करे। इस तरह बहुमत तथा अल्पमत दोनों का यह उत्तरदायित्व है कि लोकहित में वे एक-दूसरे के विचारों का आदर करें तथा परस्पर सहिष्णुता के वातावरण को प्रोत्साहन दें।

(6) लोकप्रिय सम्प्रभुता—लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था में जनता द्वारा एक निश्चित समय के लिए अपने प्रतिनिधियों को चुना जाता है। यद्यपि शासन प्रतिनिधियों के द्वारा चलाया जाता है परन्तु शासन की शक्ति का स्रोत जनता को माना जाता है। सरकार अपने समस्त कार्यों के लिए जनता के प्रति उत्तरदायी होती है तथा जनता के विश्वास-पर्यन्त ही अपने पद पर बनी रहती है। इस तरह लोकतन्त्र में सर्वोच्च सत्ता जनता में निवास करती है तथा शासक वर्ग उसके सेवक के समान होता है।

(7) लिखित संविधान तथा शक्तियों का पृथक्करण—लोकतन्त्र की रक्षा एवं उसके सफल संचालन के लिए लिखित संविधान आवश्यक है। लिखित संविधान के द्वारा सरकार के विभिन्न अंगों के संगठनों तथा कार्यों एवं नागरिकों के अधिकारों तथा कर्तव्यों की स्पष्ट व्याख्या की जा सकती है। इसके अतिरिक्त लिखित संविधान द्वारा शासन के अंगों पर नियन्त्रण रहता है, जनता की स्वतन्त्रता तथा अधिकारों की रक्षा होती है, शासन में कुशलता आती है तथा क्रान्ति की सम्भावना कम हो जाती है।

मॉण्टेस्क्यू जैसे विचारकों ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं अधिकारों की रक्षा के लिए शक्तियों के पृथक्करण को आवश्यक बताया है। उसके अनुसार शासन के तीनों अंगों—व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका को एक-दूसरे से पृथक तथा

स्वतन्त्र होना चाहिए। कम से कम न्यायपालिका को तो शेष दोनों अंगों से अवश्य ही स्वतन्त्र होना चाहिए।

(8) प्रशासकों का शान्तिपूर्ण परिवर्तन—लोकतन्त्र का एक प्रमुख लक्षण यह भी है कि इसमें शासकों को बदलने के लिए किसी क्रान्ति अथवा विद्रोह की आवश्यकता नहीं होती। यह शान्तिपूर्ण ढंग से वर्तमान शासकों को पदच्युत करने एवं उनके स्थान पर नये शासक नियुक्त करने की व्यवस्था करता है। इसमें सरकार को बदलने के लिए गोली की अपेक्षा मत पत्रों से काम लिया जाता है।

लोकतन्त्र के सन्दर्भ में पश्चिमी अवधारणा तथा समाजवादी दृष्टिकोण में अन्तर

लोकतन्त्र के स्वरूप के सम्बन्ध में आधुनिक युग में दो प्रकार की विचारधाराएँ प्रचलित हैं एक तो, पश्चिमी विचारधारा जो लोकतन्त्र के राजनीतिक पक्ष पर विशेष जोर देती है, तथा दूसरी समाजवादी अथवा मार्क्सवादी विचारधारा जो लोकतन्त्र के आर्थिक पक्ष पर विशेष बल देती है। यहाँ पर इन दोनों विचारधाराओं के अन्तर को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

पश्चिमी विचारधारा—पश्चिमी विचारधारा के समर्थक लोकतन्त्र के राजनीतिक पक्ष पर विशेष बल देते हैं। वे लोकतन्त्र को मुख्य रूप से शासन का एक प्रकार मानते हैं। लोकतन्त्र उस शासन प्रणाली को कहते हैं जिसमें जनता प्रत्यक्ष रूप से अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अपने प्रतिनिधियों द्वारा शासन करती है। इस शासन-प्रणाली में सरकार जनता द्वारा चुनी जाती है, वह जनता के हितों की रक्षा करती है तथा जनता के प्रति उत्तरदायी होती है। लोकतन्त्र के सम्बन्ध में यह धारणा प्राचीनकाल से ही चली आ रही है। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक प्लेटो तथा अरस्तू लोकतन्त्र को एक ऐसा शासन मानते थे जिसमें राज्य की सर्वोच्च सत्ता जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथ में रहती है। आधुनिक काल के विचारकों की भी लोकतन्त्र के सम्बन्ध में यही धारणा है।

लॉर्ड ब्राइस के अनुसार यह ऐसी सरकार है जिसमें शासन का अधिकार सम्पूर्ण जन समुदाय में निहित होता है। उसने इसे 'बहुमत का शासन' भी कहा है। सीले, डायसी, अब्राहम लिंकन आदि की परिभाषाएं ऊपर दी चुकी है। एटली के अनुसार लोकतन्त्र का अर्थ है बहुमत द्वारा शासन और अल्पमत के लिए यथेष्ट संरक्षण'। हर्नशॉ के अनुसार, लोकतन्त्र ऐसा राज्य है जिसमें सरकार जनता द्वारा नियुक्त नियन्त्रित एवं पदच्युत की जाती है। इन सब बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि लोकतन्त्र किसी वर्ग विशेष की सरकार न होकर एक लोक सरकार होती है। यदि किसी लोकतन्त्रीय राज्य का प्रधान निर्वाचित होता हो, जैसाकि भारत तथा अमेरिका में होता है तो उसे गणतन्त्र (Republic) कहते हैं, किन्तु इंगलैण्ड के समान लोकतन्त्रीय राज्य का प्रधान वंशानुगत भी हो सकता है, और उसके अधिकार संविधान द्वारा सीमित हो सकते हैं।

लोकतन्त्रीय शासन के अनिवार्य तत्त्व—उन्नीसवीं शताब्दी में आकर लोकतन्त्रीय शासन के अनिवार्य तत्त्वों का विकास हुआ। लॉर्ड ब्राइस ने अपनी पुस्तक *Modern Democracies* Part I में ऐसे कई तत्त्वों का उल्लेख किया है। इन तत्त्वों में सर्वप्रथम, स्थान लिखित संविधान का है। इससे शासन सत्ता को सीमित करने में सहायता मिली तथा नागरिक अधिकारों का संरक्षण हो सका। द्वितीय, प्रमुख तत्त्व संवैधानिक सरकार है जो कानूनों पर आधारित होती है। लोकतन्त्र में विधि का शासन (Rule of Law) होता है और कानून के समक्ष सभी नागरिकों को समान अधिकार तथा समता के सुअवसर प्राप्त होते हैं। तृतीय, नागरिकों के अधिकारों की घोषणा भी एक आवश्यक तत्त्व है। ये अधिकार क्या हों, इस सम्बन्ध में मतभेद हो सकते हैं, परन्तु लोकतन्त्र में विश्वास रखने वाले प्राय सभी व्यक्ति इस बात पर सहमत हैं कि इन अधिकारों को संविधान में स्पष्ट व्याख्या होनी चाहिए। चतुर्थ, लोकतन्त्र के लिए लोकतन्त्रीय शासन व्यवस्था भी आवश्यक है जिसके अन्तर्गत सभी वयस्क नागरिकों को सार्वजनिक कार्यों में सक्रिय रूप से भाग लेने के अवसर प्राप्त होते हैं। इसमें वयस्क मताधिकार, बहुमत निर्णय, प्रतिनिधि सरकार आदि सम्मिलित हैं। पंचम, लोकतन्त्र के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता एवं समानता भी आवश्यक है। सभी को बिना किसी दबाव के अपने प्रतिनिधियों को चुनने शासन के कार्यों में भाग लेने तथा सरकार की आलोचना करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त सभी को बिना किसी प्रकार के भेदभाव के अवसर की समानता प्राप्त होनी चाहिए।

लोकतन्त्र की समाजवादी विचारधारा—लोकतन्त्र की समाजवादी विचारधारा के समर्थक साम्यवादी अथवा मार्क्सवादी विचारक हैं। वे पाश्चात्य देशों में प्रचलित राजनीतिक लोकतन्त्र को पूँजीवादी व्यवस्था कहकर पुकारते हैं। उनके मतानुसार पूँजीवादी लोकतन्त्र केवल धनवानों के लिए ही वास्तविक लोकतन्त्र है। यह बहुसंख्यक निर्धन वर्ग के लिए तो लोकतन्त्र न होकर लोकतन्त्र का केवल दिखावा मात्र है। उनका कहना है कि देखने में तो ऐसा लगता है कि पूँजीवादी लोकतन्त्र द्वारा दी गई समान स्वतन्त्रताएँ एवं अधिकार मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए पर्याप्त हैं परन्तु व्यवहार में ये समान राजनीतिक स्वतन्त्रताएँ एवं अधिकार महत्त्वहीन बन जाते हैं क्योंकि आर्थिक अभाव से ग्रस्त साधारण वर्ग उनका समुचित उपयोग नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ भाषण देने, संगठन बनाने, विचार प्रकट करने आदि की स्वतन्त्रताएँ एवं मतदान का अधिकार उस गरीब मजदूर के लिए महत्त्वहीन है जिसे अपना पूरा समय अपने भोजन का प्रबन्ध करने में ही लगाना पड़ता है। इस प्रकार समाजवादी विचारकों के मतानुसार पाश्चात्य देशों में लोकतन्त्र सम्पत्तिवान अल्पसंख्यकों के लिए लोकतन्त्र है बहुसंख्यक श्रमिकों के लिए नहीं। लोकतन्त्र के सन्दर्भ में समाजवादी विचारधारा निम्नलिखित तत्त्वों पर विशेष जोर देती है

(1) **आर्थिक लोकतन्त्र**—पाश्चात्य विचारधारा लोकतन्त्र के राजनीतिक

पहलू पर विशेष जोर देती है जबकि समाजवादी विचारधारा उसके आर्थिक पक्ष पर विशेष बल देती है। उत्पादन के साधनों पर जब तक व्यक्तिगत स्वामित्व रहता है तथा समस्त पूंजी केवल कुछ ही लोगों के हाथों में केन्द्रित रहती है, तब तक राजनीतिक स्वतन्त्रता कोई अर्थ नहीं रखती। वास्तविक स्वतन्त्रता तो उसी समाज में रहती है जो वर्गविहीन हो, जहाँ शोषण का अन्त कर दिया गया हो, जहाँ सभी को काम प्राप्त करने का अधिकार हो तथा जहाँ उद्योगों के प्रबन्ध में नागरिकों को हिस्सा दिया गया हो। इस विचारधारा के समर्थकों का यह विश्वास है कि आर्थिक लोकतन्त्र के बिना राजनीतिक लोकतन्त्र मिथ्या है। इसलिए यह आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना पर बल देती है।

(2) **लोकतान्त्रिक केन्द्रवाद**—समाजवादी विचारक लोकतान्त्रिक केन्द्रवाद को लोकतन्त्रीय व्यवस्था का ही रूप मानते हैं। वे इस बात पर बल देते हैं कि जहाँ पश्चिमी देशों में नौकरशाही केन्द्रवाद (Bureaucratic Centralism) को अपनाया गया है वहाँ सोवियत संघ तथा अन्य समाजवादी देशों में लोकतान्त्रिक केन्द्रवाद (Democratic Centralism) को अपनाया गया है। नौकरशाही केन्द्रवाद में उच्च पदस्थ सरकारी पदाधिकारियों द्वारा साधारण जनता पर अपना निर्णय लाद दिया जाता है और आज्ञापालन के अतिरिक्त जनता का शासन में कोई भाग नहीं होता। इसके विपरीत लोकतान्त्रिक केन्द्रवाद में नागरिकों को शासन कार्य में भाग लेने का समुचित अवसर प्रदान किया जाता है। स्थानीय इकाइयों को अपने विषयों का प्रबन्ध करने की पर्याप्त स्वतन्त्रता दी जाती है तथा उन्हें अपने से उच्च सरकार के अंगों की गतिविधियों में भाग लेने के पूर्ण अवसर दिये जाते हैं। केन्द्रवाद इस रूप में है कि राज्य की मूल नीतियों का निर्णय शासन के उच्च अंगों द्वारा किया जाता है। इस प्रकार स्वशासन और निरीक्षण के केन्द्रीकरण का समन्वय किया गया है।

(3) **सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व**—यह साम्यवादी लोकतन्त्र का मुख्य तत्त्व है। साम्यवादी विचारकों के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था का क्रान्ति द्वारा नष्ट कर दिये जाने पर एक नई व्यवस्था की स्थापना होगी जिसे सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व कहा गया है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत समाज तथा राज्य की समस्त शक्ति श्रमिकों के हाथों में आ जायेगी। उत्पादन के साधनों पर सर्वहारा वर्ग का नियन्त्रण हो जायगा। परन्तु सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व स्थायी व्यवस्था न होकर केवल एक संक्रमणकालीन व्यवस्था होगी। यह व्यवस्था तब तक बनी रहेगी जब तक पूंजीवादी व्यवस्था के समस्त अवशेषों को समाप्त नहीं कर दिया जाता। इस तरह यह राज्यविहीन तथा वर्गविहीन समाज रूपी साध्य की प्राप्ति का एक साधन है। यह पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध श्रमिक वर्ग की तानाशाही है।

समाजवादी लोकतन्त्र की समीक्षा—अनेक पश्चिमी विचारक लोकतन्त्र के सन्दर्भ में समाजवादी धारणा को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार यह लोकतन्त्रीय

व्यवस्था न होकर एक अधिनायकवादी व्यवस्था की धारणा का प्रतीक है। उनके विचार में समाजवादी धारणा, सर्वप्रथम तो एकदलीय व्यवस्था तथा विरोधी दल के दमन पर आधारित है। व्यवहार में यह लोकतन्त्र एक दल की तानाशाही है, जैसा सोवियत संघ तथा चीन में देखने को मिलता है। आधुनिक लोकतन्त्रीय व्यवस्था का सबसे प्रमुख तत्त्व सगठित विरोध है जिसका समाजवादी व्यवस्था में कोई स्थान नहीं है।

द्वितीय, लोकतन्त्रीय व्यवस्था के अन्तर्गत विचारों की अभिव्यक्ति, प्रेस, संगठन तथा अन्य नागरिक स्वतन्त्रताओं का विशेष महत्त्व होता है, लेकिन समाजवादी व्यवस्था में इन स्वतन्त्रताओं का कोई स्थान नहीं है। इस व्यवस्था में वयस्क मताधिकार, प्रत्यक्ष निर्वाचन एव गुप्त मतदान आदि सब केवल दिखावामात्र हैं।

तृतीय, समाजवादी व्यवस्था में लोकतान्त्रिक केन्द्रवाद की जो बात कही जाती है उसमें वस्तुत केन्द्रवाद ही सब कुछ है और लोकतन्त्र तो केवल कहने भर की बात है। उदाहरणार्थ, रूस, चीन आदि समाजवादी देशों में शासन सम्बन्धी समस्त निर्णय दल के नेता द्वारा लिए जाते हैं जो सभी के लिए अनिवार्य रूप से मान्य होते हैं।

चतुर्थ, लोकतान्त्रिक व्यवस्था सीमित शासन में विश्वास करती है तथा नागरिकों के जीवन पर न्यूनतम नियन्त्रण स्थापित करती है। परन्तु समाजवादी व्यवस्था एक सर्वाधिकारवादी व्यवस्था है जो नागरिकों के समस्त जीवन पर नियन्त्रण रखने की पक्षपाती है। **लोकतन्त्र का मूलमन्त्र विकेन्द्रीकरण है, जबकि समाजवादी व्यवस्था का उद्देश्य केन्द्रीयकरण होता है।**

लोकतन्त्र के तीन पक्ष—लोकतन्त्रीय व्यवस्था के तीन पक्ष होते हैं सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक। जिस समाज में सामाजिक तथा आर्थिक लोकतन्त्र नहीं होते, वहाँ राजनीतिक लोकतन्त्र सफल नहीं हो सकता। अत राजनीतिक **लोकतन्त्र की सफलता के लिए सामाजिक आर्थिक लोकतन्त्र आवश्यक है।**

सामाजिक लोकतन्त्र से तात्पर्य यह है कि समाज में वर्ग, जाति, धर्म, वर्ण और लिंग के आधार पर कोई भेदभाव न हो। समाज के सभी व्यक्तियों को अपने व्यक्तित्व का विकास करने के लिए समान अवसर तथा समान सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए। समाज में कोई विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग नहीं होना चाहिए। स्त्री और पुरुष, निर्धन और अमीर, सभी को समान माना जाए और उनके प्रति जीवन में समता का व्यवहार किया जाए। कानून की दृष्टि में सभी समान माने जाएँ तथा सभी के लिए समान न्याय की व्यवस्था हो। सरकारी पदों पर नियुक्तियाँ किसी भेदभाव के आधार पर न की जाकर योग्यता के आधार पर की जानी चाहिए। यदि सामाजिक क्षेत्र में लोकतन्त्र की स्थापना नहीं की गई तो राजनीतिक लोकतन्त्र का उपयोग समाज में उच्च तथा विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग ही करेंगे। कोजियर ने कहा है

कि "मनुष्य की भौतिक एवं सामाजिक दशाओं की समानता लोकतन्त्र का सार है।"[1] अब यह माँग की जाने लगी है कि हमें केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही स्वशासन के अधिकार नहीं होने चाहिए, अपितु औद्योगिक तथा सामाजिक क्षेत्र में भी समान अधिकारों का प्रबन्ध होना चाहिए। वर्तमान समय में लोक कल्याणकारी राज्य (Welfare State) की भावना बल पकड़ने लगी है और राजनीतिक लोकतन्त्र का स्थान धीरे-धीरे अब सामाजिक लोकतन्त्र लेने लगा है।

आर्थिक लोकतन्त्र भी राजनीतिक लोकतन्त्र से कम महत्वपूर्ण नहीं है। आजकल यह बात प्रायः सभी विचारकों द्वारा स्वीकार की जाती है कि आर्थिक क्षेत्र में लोकतन्त्र की स्थापना हुए बिना राजनीतिक लोकतन्त्र की स्थापना नहीं हो सकती है। आर्थिक लोकतन्त्र का अर्थ उस आर्थिक व्यवस्था से है जिसमें उत्पादन के समस्त साधनों पर किसी व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष का नियन्त्रण न होकर सम्पूर्ण समाज का नियन्त्रण हो तथा उत्पादन का उद्देश्य व्यक्तिगत लाभ न होकर सार्वजनिक हित हो। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि आर्थिक लोकतन्त्र से तात्पर्य यह है कि समाज में धन के वितरण में विषमता न हो तथा लोगों में लगभग आर्थिक समानता हो। इसमें सबको काम प्राप्त करने, अवकाश प्राप्त करने, उचित वेतन पाने तथा बिना रोक टोक के जीवन का उपभोग करने का अधिकार सम्मिलित है।

आर्थिक लोकतन्त्र के अभाव में राजनीतिक लोकतन्त्र अर्थहीन है। जहाँ पर समाज धनी और निर्धन वर्गों में बँटा हुआ है वहाँ निर्धनों को अपना पेट भरने के लिए सदैव धनवानों के समक्ष झुकना पड़ता है। निर्धनता के कारण गरीब लोग अपने मताधिकार का स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग नहीं कर पाते और धन का प्रलोभन देकर बड़ी आसानी से उनके अमूल्य मत को खरीदा जा सकता है। एक निर्धन व्यक्ति की सम्पूर्ण शक्ति तथा नैतिकता पेट भरने तक ही सीमित हो जाती है जिसके कारण वह राजनीति में भाग लेने की सोच ही नहीं सकता। इस प्रकार आर्थिक लोकतन्त्र के अभाव में राजनीतिक लोकतन्त्र एक दिखावामात्र है। कोल ने ठीक ही लिखा है कि "आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक स्वतन्त्रता एक भ्रम मात्र है।"[2] हॉब्सन (Hobson) का भी ऐसा ही मत है कि 'धनिकों का धन और निर्धनों की निर्धनता लोकतन्त्र को भ्रष्ट कर देती है।' भारत के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री पं० नेहरू का कथन है कि "भूखे मनुष्यों के लिए मत का कोई मूल्य नहीं होता। वास्तविक शक्ति तो धनी लोगों के हाथों में रहती है, जो भूखे व्यक्ति की भूख से अनुचित लाभ उठाकर उसका मत चाहे जो करा सकते हैं।"

---

1 The essence of democracy is the equality of man's material and social condition
—Crozier

2 'Political liberty in the absence of economic equality is a mere myth."
—G. D. H. Cole

इस कथन के पक्ष में दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से राजनीतिक लोकतन्त्र में सभी नागरिकों को समान स्वतन्त्रताएँ एवं अधिकार प्रदान किये जाते हैं परन्तु व्यवहार में आर्थिक अभाव से ग्रस्त पीड़ित वर्ग के लिए ये स्वतन्त्रताएं एवं अधिकार महत्त्वहीन बन जाते हैं। उदाहरणार्थ राजनीतिक लोकतन्त्र में सभी नागरिकों को मत देने, चुनाव लड़ने, सरकार की आलोचना करने, विचार प्रकट करने, संगठन बनाने, कोई भी धन्धा या व्यवसाय करने, आदि की स्वतन्त्रताएं एवं अधिकार प्राप्त होते हैं, परन्तु एक ऐसे व्यक्ति के लिए इनका क्या मूल्य है जिसे अपने भोजन का प्रबन्ध करने में ही अपना सारा समय लगाना पड़ता है। अतः यदि गरीब लोगों को समान आर्थिक सुविधाएं प्रदान न की गई तो केवल धनी लोग ही राजनीतिक स्वतन्त्रता का लाभ उठा सकेंगे। आर्थिक विषमताओं के रहते हुए राजनीतिक लोकतन्त्र केवल पूँजीपतियों का ही लोकतन्त्र है सर्वसाधारण का नहीं। इसी कारण साम्यवादी विचारक राजनीतिक लोकतन्त्र की तुलना में आर्थिक लोकतन्त्र को महत्त्व देते हैं।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि जब तक समाज में आर्थिक शोषण तथा विषमताओं का अन्त नहीं होगा, बेरोजगारी तथा निर्धनता समाप्त नहीं होगी, लोगों को आर्थिक सुरक्षा की प्राप्ति तथा उनकी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होगी, तब तक समस्त स्वतन्त्रताएँ एवं अधिकार केवल कागजी होंगे वास्तविक नहीं। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि राजनीतिक लोकतन्त्र तभी सम्पूर्ण हो सकता है जब सामाजिक एवं आर्थिक लोकतन्त्र भी हो।

लोकतन्त्र में अधिनायकवादी प्रवृत्ति

प्राय यह कहा जाता है कि उत्तरदायित्व एवं लोककल्याणकारी तत्त्वों के अभाव में लोकतन्त्र में, चाहे उसका स्वरूप कुछ भी हो, अधिनायकवादी प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। उत्तरदायित्व से तात्पर्य यह है कि सरकार एवं जनता दोनों अपने कर्तव्यों के पालन के प्रति जागरूक रहें। प्राय यह देखा जाता है कि जनता के प्रतिनिधि एक निश्चित अवधि के लिए एक बार चुन लिए जाने के बाद अपने उत्तरदायित्व को भूल जाते हैं तथा अपने स्वार्थ की सिद्धि में लिप्त हो जाते हैं। अनेक बार शासक वर्ग जनहित तथा राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा करके अपने राजनीतिक दलों के हितों को ही प्रोत्साहन देने लगता है। दूसरी ओर जनता का भी यह उत्तरदायित्व है कि वह अपने अधिकारों की रक्षा तथा कर्तव्यों के पालन के प्रति सदैव जागरूक रहे। जनता को चाहिए कि वह सार्वजनिक कार्यों में दिलचस्पी ले। ब्राइस के अनुसार जनता का आलस्य एवं उदासीनता लोकतन्त्र के दो प्रबल शत्रु हैं। जनता की उदासीनता सरकार को अधिनायकवादी बनने में प्रोत्साहन देती है।

लोकतन्त्र में अधिनायकवादी प्रवृत्ति को पनपने से रोकने के लिए यह भी आवश्यक है कि उसमें लोककल्याणकारी राज्य के तत्त्व विद्यमान हों। वर्तमान युग में लोकतन्त्रीय व्यवस्था उस समय तक पूर्ण नहीं मानी जाती जब तक सामाजिक

तथा आर्थिक न्याय की स्थापना न हो। सामाजिक तथा आर्थिक विषमताओं के रहते हुए लोकतन्त्र कुछ थोड़े से कुलीन एवं साधन सम्पन्न लोगों के सुख का साधन मात्र बन जायेगा।

व्यवहार में हम देखते हैं कि उपरोक्त दोनों तत्वों के अभाव में प्राय: पश्चिमी तथा समाजवादी व्यवस्थाओं में लोकतन्त्र के नाम पर अधिनायकवाद की स्थापना होती जा रही है।

पश्चिमी लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं में अधिनायकवादी प्रवृत्ति—इंगलैण्ड जैसे लोकतान्त्रिक देश में सरकार की शक्तियों में निरन्तर वृद्धि हो रही है। वहां मन्त्रि-मण्डल को इतनी अधिक शक्तियां प्राप्त हो गई है कि रैम्जे म्योर के मतानुसार, इंगलैण्ड में केबिनेट की तानाशाही स्थापित हो रही है। कार्टर के अनुसार, "यह **लोकसदन से नियन्त्रित होने के बजाय लोकसदन को नियन्त्रित करता है। यह सम्राट और लोकसदन दोनों पर प्रभुत्व रखती है।**" मन्त्रिमण्डल की यह सर्वोच्चता व्यवहार में, निम्नलिखित क्षेत्रों में स्पष्ट दिखाई देती है

कानून निर्माण के क्षेत्र में, समस्त प्रमुख विधेयकों के प्रारूप मन्त्रिमण्डल द्वारा ही तैयार किये जाते हैं और संसद का कार्य तो इन प्रारूपों पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगा देना मात्र रह गया है। **शासन के क्षेत्र में**, यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से लोकसदन द्वारा मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित करके उसे पदच्युत किया जा सकता है परन्तु व्यवहार में लोकसदन को भंग करने की शक्ति प्राप्त होने के कारण मन्त्रिमण्डल ही उस पर नियन्त्रण रखता है। **वित्तीय क्षेत्र में**, अन्तिम निर्णायक शक्ति व्यवहार में, मन्त्रिमण्डल को ही प्राप्त होती है।

ऐसी स्थिति प्राय: सभी संसदीय व्यवस्था वाले लोकतान्त्रिक देशों में देखने को मिलती है। इसका कारण लोकसदन में शासक दल का बहुमत प्राप्त होना है। इसलिए इसे हम बहुमत दल का अधिनायकवाद अथवा संवैधानिक अधिनायकवाद की संज्ञा भी दे सकते हैं।

समाजवादी व्यवस्था में अधिनायकवादी प्रवृत्ति—समाजवादी व्यवस्था वाले देशों में भी अधिनायकवादी प्रवृत्ति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। सैद्धान्तिक दृष्टि से, समाजवादी देशों में सभी नागरिकों को मत देने, चुनाव लड़ने, शासन कार्य में भाग लेने, काम प्राप्त करने तथा अन्य दूसरे प्रकार के मौलिक अधिकार एवं स्वतन्त्रताएँ प्रदान की गई हैं। वहां ऊँच नीच तथा अमीर गरीब के भेदभावों का अन्त करके वर्ग-विहीन समाज की स्थापना की गई है। वहां लोगों को आर्थिक सुरक्षा की गारण्टी प्रदान की गई है। वहां उद्योगों के प्रबन्ध में नागरिकों को हिस्सा दिया गया है तथा असहाय एवं अक्षम व्यक्तियों के लिए सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था की गई है। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि समाजवादी देशों में आर्थिक एवं सामाजिक लोकतन्त्र की स्थापना की गई है। परन्तु व्यवहार में, हमें समाजवादी व्यवस्था वाले देशों में अधिनायकवादी प्रवृत्तियां देखने को मिलती हैं, जो अग्रलिखित हैं .

प्रथम तो, इन देशों में साम्यवादी दल की तानाशाही है तथा उसी का प्रशासन पर पूर्ण नियन्त्रण रहता है। इन देशों में विरोधी दलों को कोई स्थान नहीं है। दल के विरोध में कुछ भी कहना अथवा दल के नेताओं की आलोचना करना देशद्रोह माना जाता है। इन देशों में साम्यवादी दल की तानाशाही ने व्यक्तिगत एवं राजनीतिक स्वतन्त्रताओं का अन्त कर दिया है।

द्वितीय, समाजवादी देशों में विचार और अभिव्यक्ति, प्रेस, सम्मेलन तथा अन्य प्रकार की नागरिक स्वतन्त्रताओं का अस्तित्व केवल कागज पर है, वास्तव में नहीं। ये स्वतन्त्रताएँ नागरिकों को साम्यवादी दल के सिद्धान्तों तथा उसके नेताओं की स्तुति करने के लिए प्रदान की गई हैं, उनकी आलोचना करने के लिए नहीं।

तृतीय, समाजवादी देशों में वयस्क मताधिकार प्रत्यक्ष निर्वाचन आदि बातें केवल दिखावामात्र हैं क्योंकि चुनावों में एक स्थान के लिए केवल एक ही उम्मीदवार खड़ा होता है।

चतुर्थ, समाजवादी देशों में न्यायपालिका स्वतन्त्र नहीं होती। वह शासक दल की इच्छा के विपरीत कोई कार्य नहीं कर सकती तथा इसके निर्णयों पर दल की केन्द्रीय समिति की स्वीकृति आवश्यक होती है। नागरिक अपने अधिकारों की रक्षा के लिए न्यायपालिका का संरक्षण प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि समाजवादी देशों में राजनीतिक लोकतन्त्र का अभाव है तथा सामाजिक एवं आर्थिक लोकतन्त्र की आड़ में साम्यवादी दल की तानाशाही है। इस प्रकार दोनों ही व्यवस्था वाले देशों में अधिनायकवाद के कुछ न कुछ लक्षण देखने को मिलते हैं। पुराने अधिनायकवाद की तुलना में यह नवीन अधिनायकवाद संविधानवाद का बाना ओढ़े हुए है।

लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं में अभिजनवादी सरकार (Government by Elite) की प्रवृत्ति

प्राचीन काल से शासन पर सर्वोत्तम समझे जाने वाले कुछ व्यक्तियों का नियन्त्रण रहा है। ये व्यक्ति बुद्धि बल, धन, कुल तथा सैनिक शक्ति इनमें से किसी भी दृष्टि से सर्वोत्तम हो सकते हैं। इतिहास के विभिन्न कालों में इन लोगों ने अपनी विशिष्ट योग्यताओं तथा क्षमताओं के कारण शासन सत्ता पर अपना अधिकार कर लिया। अरस्तू के शब्दों में, कुछ शासन करने के लिए तथा कुछ शासित होने के लिए पैदा होते हैं। राजनीति विज्ञान की भाषा में इन लोगों को **विशिष्ट वर्ग (Elite)** कहा जाता है। कार्ल जे० फ्रेडरिक के शब्दों में, 'यह उन व्यक्तियों का समूह होता है जो कि राजनीति में अद्वितीय कार्य सम्पन्न करने के कारण विशिष्ट होते हैं, जो एक समाज विशेष के शासन को अपने हाथों में प्रभावशाली रूप से एकाधिकृत कर लेते हैं और जिनमें समूह की एकता की भावना पायी जाती है। एक राजनीतिक विशिष्ट वर्ग शक्ति और शासन प्राप्त करने की योग्यता ■ बहुत आगे

बढ़ जाता है।' पेरेटो (Pareto) ने लिखा है कि राजनीतिक शक्ति का प्रयोग सदैव ही अल्प-संख्यकों अर्थात् विशिष्ट वर्गों के द्वारा किया जाता रहा है।"

यो तो राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र, अधिनायकतन्त्र आदि सभी शासन व्यवस्थाओं में विशिष्ट वर्ग का प्रभाव होता है परन्तु लोकतन्त्र में भी इसका अपना एवं विशिष्ट महत्त्व होता है। लोकतन्त्र में विशिष्ट वर्ग की भूमिका निम्नलिखित है

विशिष्ट वर्ग एवं लोकतन्त्र (Political Elite and Democracy)—लोकतन्त्र में विशिष्ट वर्ग का प्रमुख स्थान होता है। सैद्धान्तिक रूप में लोकतन्त्र बहुमत का शासन कहलाता है परन्तु व्यवहार में यह बहुमत का शासन न होकर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों का शासन होता है। लोकतन्त्र में कुछ बुद्धिजीवी लोग अपने वाक् चातुर्य के कारण तथा धनी लोग अपने धन की शक्ति के कारण मतदाताओं को प्रभावित करके शासन सत्ता पर अपना अधिकार कर लेते हैं। इस प्रकार लोकतन्त्र व्यवहार में जनता का शासन न होकर कुछ बुद्धिजीवियों तथा धनिकों का शासन बन जाता है।

इसके अतिरिक्त लोकतन्त्र में अनेक राजनीतिक दल तथा आर्थिक एवं व्यावसायिक संघ होते हैं। ये संगठन अपने हितों की रक्षा के लिए सरकार पर अनुकूल कानून निर्माण के लिए दबाव डालते हैं तथा प्रशासनिक कार्यों एवं नीतियों को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार लोकतन्त्र में विशिष्ट वर्गों की बहुलता होती है। इसके अतिरिक्त लोकतन्त्र में सरकारी कर्मचारियों का एक विशिष्ट वर्ग और होता है जो शासन पर सदैव प्रभाव बनाये रखता है। इस विशिष्ट वर्ग के महत्त्व को देखते हुए आरवेल ने ठीक ही कहा है कि "समाज में वास्तविक शासक अदृश्य रहते हैं जो खोजे नहीं जा सकते।" पाश्चात्य लोकतन्त्रों में शासक प्रायः परम्परागत उच्च वर्गों के व्यक्ति ही होते हैं। विकासशील देशों में भी जिन बुद्धिजीवियों ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए संघर्ष किया, स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर वे ही उच्च राजनीतिक पदों पर आसीन हो गये। समाजवादी व्यवस्था वाले देशों में भी शासन सत्ता पर दल के कुछ विशिष्ट व्यक्तियों का ही नियन्त्रण रहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यवहार में लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं में अभिजनवादी सरकारों की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

विकासशील समाजों में लोकतन्त्र की भूमिका

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् एशिया और अफ्रीका के अनेक विकासशील समाजों में पश्चिमी व्यवस्था के अनुसार संसदीय लोकतन्त्र की स्थापना की गई परन्तु यह राजनीतिक लोकतन्त्र उन देशों में सामाजिक एवं आर्थिक न्याय का संरक्षण करने में अनुपयुक्त रहा है। पश्चिमी लोकतन्त्र का स्वरूप मुख्यतः राजनीतिक माना जाता है। लोकतन्त्र का यह स्वरूप विकासशील समाजों के लिए अधिक उपयुक्त नहीं है। इसके अग्रलिखित कारण हैं :

प्रथम तो, पाश्चात्य लोकतन्त्रीय संविधानों में नागरिकों के लिए स्वतन्त्रता, समानता एवं अधिकारों की जो घोषणाएँ की गई हैं विकासशील समाजों के लिए वे केवल दिखावामात्र हैं क्योंकि राजनीतिक लोकतन्त्र में उन परिस्थितियों एवं साधनों की व्यवस्था नहीं की गई है जिनमें इन अधिकारों का वास्तविक उपभोग किया जा सके। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि सामाजिक एवं आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक स्वतन्त्रताओं एवं अधिकारों का उपभोग केवल कुछ साधन सम्पन्न लोग ही कर सकते हैं। बहुसंख्यक निर्धन वर्ग के लिए तो ये कागजी घोषणाएँ मात्र हैं।

द्वितीय, विकासशील देशों की समस्याएँ पश्चिमी देशों की समस्याओं से भिन्न हैं। इन देशों में जातीय भेद-भाव तथा भारी आर्थिक विषमताएँ पायी जाती हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि जब ये देश स्वतन्त्र हुए तो इन्होंने राजनीतिक दृष्टि से तो स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली परन्तु ये आर्थिक दृष्टि से पिछड़े बने रहे तथा सामाजिक दृष्टि से रूढ़ियों और बन्धनों में जकड़े रहे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् इन देशों में बुद्धिजीवियों ने शासन सत्ता पर तथा धनी लोगों ने देश के आर्थिक साधनों पर अपना आधिपत्य कर लिया। आम जनता का शासन में महत्त्व नहीं के बराबर रह गया।

तृतीय, सामाजिक और आर्थिक विषमताओं ने इन विकासशील देशों में राजनीतिक अस्थिरता को बढ़ावा दिया जिसके परिणामस्वरूप इन देशों में कहीं सैनिक तानाशाही कहीं व्यक्ति की तानाशाही तथा कहीं एक दल की तानाशाही स्थापित हो गयी। एशिया और अफ्रीका के अनेक देश इस बात के उदाहरण हैं।

चतुर्थ विकासशील देशों के लिए तो लोकतन्त्र के एक ऐसे स्वरूप की आवश्यकता अधिक है जिसमें समाज में आर्थिक विषमताएँ कम हों, सबको उन्नति के समान अवसर प्राप्त हों। लोगों को आर्थिक सुरक्षा प्राप्त हो तथा उनका जीवन स्तर ऊँचा उठे। इसीलिए समाजवादी देशों में पाश्चात्य लोकतन्त्र के स्थान पर आर्थिक-सामाजिक लोकतन्त्र की स्थापना पर बल दिया जाता है क्योंकि राजनीतिक लोकतन्त्र इन समस्याओं का समाधान नहीं कर सका है।

उपरोक्त विवरण के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि विकासशील समाजों के लिए लोकतन्त्र का पश्चिमी रूप उपयुक्त नहीं है क्योंकि यह रूप इन देशों में सामाजिक तथा आर्थिक न्याय, नागरिकों के व्यापक अधिकारों एवं लोककल्याण को संरक्षण प्रदान करने में असफल रहा है।

लोकतन्त्रात्मक शासन के गुण

Most

वर्तमान युग लोकतन्त्र का युग है और इसकी आस्था है कि राज्य का शासन लोकमत के अनुसार होना चाहिए। इस प्रणाली के अनेक गुण हैं जो निम्नलिखित हैं:

(1) लोककल्याण की साधना—लोकतन्त्र प्रणाली की सबसे बड़ी अच्छाई यह है कि इसमें शासन आवश्यक रूप से लोककल्याण के लिए होता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत सम्प्रभुता अन्तिम जनता में निहित होती है, अतः इसमें जनता के सामान्य

हित का पूरा ध्यान रखा जाता है, किसी विशेष वर्ग के हित का नहीं। इस प्रणाली में शासन जनता के प्रतिनिधियों द्वारा किया जाता है और इन प्रतिनिधियों को शासन का अधिकार जनता द्वारा इस विश्वास के आधार पर प्रदान किया जाता है कि वे शासन का संचालन जनता के हित में करेंगे। लोकतन्त्र में शासक जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं। अतः उन्हें जनता की इच्छाओं तथा हितों के प्रति सदैव सजग रहना पड़ता है और उनके अनुरूप कार्य करना पड़ता है।

(2) सार्वजनिक शिक्षण के लिए उपयुक्त—लोकतन्त्र सार्वजनिक शिक्षण का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। डॉ० आशीर्वादम के शब्दों में 'यह जन शिक्षा के क्षेत्र में व्यापक स्तर पर किया गया प्रयोग है।' लोकतन्त्र के अन्तर्गत जनता को शासन-सम्बन्धी, राजनीतिक तथा सामाजिक सभी प्रकार का शिक्षण प्राप्त होता है। इसमें जनता अपने उत्तरदायित्वों तथा कर्तव्यों को समझने लगती है तथा सार्वजनिक हित को ध्यान में रखते हुए अपने अधिकारों का प्रयोग करना सीखती है। इसमें नागरिक राजतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र के समान शासन के प्रति उदासीन नहीं रहते बल्कि वे सार्वजनिक कार्यों में सक्रिय रूप से भाग लेते हैं। लोकतन्त्र के इसी गुण को ध्यान में रखते हुए बर्न्स ने लिखा है कि 'सभी शासन शिक्षा के साधन होते हैं परन्तु स्व-शिक्षा सबसे अच्छी शिक्षा होती है, इसलिए स्व शासन सबसे अच्छा शासन होता है जो लोकतन्त्र ही है।'[1]

(3) शासन में कुशलता—दूसरी शासन प्रणालियों की तुलना में लोकतन्त्र अधिक कार्यकुशल होता है। यही एकमात्र ऐसी शासन-पद्धति है जिसमें शासक जनता के नियन्त्रण में रहते हैं तथा उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं। इसमें शासन प्रबन्ध का संचालन करने वाले व्यक्ति अल्प समय के लिए निर्वाचित होने तथा अपने निर्वाचकों के प्रति उत्तरदायी होने के कारण सर्वाधिक रूप में कार्यकुशल एवं जनता के विश्वास-पात्र होते हैं। डॉ० गार्नर ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि, "लोकप्रिय निर्वाचन, लोकप्रिय नियन्त्रण और लोकप्रिय उत्तरदायित्व की व्यवस्था के कारण दूसरी किसी भी शासन-व्यवस्था की अपेक्षा यह शासन अधिक कार्यकुशल होता है।"[2]

(4) व्यक्ति के नैतिक गुणों का विकास—डी० टॉकविले के अनुसार लोकतन्त्र का एक सबसे बड़ा गुण यह है कि वह नागरिकता के लिए एक प्रकार की शिक्षणशाला है। यह समान रूप से सभी व्यक्तियों के राजनीतिक विवेक तथा चरित्र को ऊँचा उठाने में योग देता है। इससे नागरिकों के नैतिक तथा मानसिक गुणों का विकास

1 "All government is a method of education but the best education is self-education, therefore, the best government is self-government which is democracy" —C. D. Burns

2 "Popular election, popular control and popular responsibility are more likely to ensure a greater degree of efficiency than any other system of government." —Garner

होता है। लोकतन्त्र नागरिकों में आत्मनिर्भरता तथा आत्मसम्मान की उस भावना का भरता है जिससे व्यक्ति अपने साथ साथ दूसरे के व्यक्तित्व का सम्मान करना सीखता है। इस प्रकार लोकतन्त्र व्यक्ति को आदर्श नागरिक बनने की शिक्षा देता है। जॉन स्टुअर्ट मिल के शब्दों में, 'यह किसी भी अन्य शासन की अपेक्षा उच्च और श्रेष्ठ राष्ट्रीय चरित्र का विकास करता है।'[1] ब्राइस ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि, "राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व की गरिमा बढ़ जाती है और वह स्वभावत उस कर्तव्य की भावना के उच्चतर स्तर तक उठ जाता है, जिसका पालन उसे राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति के कारण करना पड़ता है।"[2] लावेल के अनुसार "अन्त मे वही सरकार सर्वश्रेष्ठ है जो व्यक्ति की नैतिकता, उद्योग, साहस, आत्म बोध एव पवित्रता को दृढ बनाये। लोकतन्त्र इन उद्देश्यों को पूरा करता है इसलिए वह सबसे श्रेष्ठ शासन है।"[3]

(5) जनता की इच्छा पर आधारित स्थायी शासन—लोकतन्त्र जनता की सरकार होने के कारण जनता की इच्छा पर आधारित होती है। जनता समय-समय पर अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन करती है तथा वे प्रतिनिधि जनता की इच्छाओं के अनुरूप नीतियों और कानूनों का निर्माण करते हैं तथा शासन चलाते हैं। लोकतन्त्र अन्य शासन प्रणालियों की तुलना मे एक अधिक स्थायी व्यवस्था है। मेकाइवर ने लिखा है कि, "जनता अपनी सरकार के अलावा सभी प्रकार की सरकारों को नष्ट कर सकती है। लोकतन्त्र अन्य प्रकार की सरकारों की अपेक्षा अधिक सरलता एव स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य सम्पन्न होने की सुविधा प्रदान करता है। अत इसका विकास दृढ और स्थायी होता है।'

(6) राजनीतिक जागृति—लोकतन्त्र जनता मे राजनीतिक जागृति पैदा करता है। शासन कार्य तथा समय-समय पर होने वाले निर्वाचनों में भाग लेने के कारण जनता सदैव जाग्रत रहती है। उसके पास सरकार पर नियन्त्रण रखने का यह एक प्रभावशाली साधन है। डॉ० आशीर्वादम के शब्दों मे "लोकतन्त्र साधारण व्यक्ति को भी सार्वजनिक समस्याओं के सार्वजनिक हल ढूँढने म सरकार से सहयोग करने का निमन्त्रण देता है। इसमे व्यक्ति मौन स्वीकृति देने वाले के बजाय एक सक्रिय सहयोगी बन जाता है।" डॉ० ए० अप्पादोराय के अनुसार 'लोकतन्त्र शासन

1 It promotes a better and higher form of national character than any other polity whatever —J S Mill

2 "The manhood of the individual is dignified by his political enfranchisement & that he is usually raised to a higher level of the sense of duty which it throws upon him —Bryce

3 " The best government in the long run is the one that nurtures *a people strong in moral force, in integrity, industry, self-reliance* and courage" —Lowell

की जिम्मेदारी जनता के ऊपर डालकर उसके अन्दर बुद्धिमत्ता, आत्मनिर्भरता, नये कार्यों को करने की प्रेरणा तथा सामाजिक भावना को प्रोत्साहित करता है।"[1]

(7) देशभक्ति को प्रोत्साहन—लोकतन्त्र जनता मे देश-प्रेम तथा देशभक्ति की भावना को बढ़ाता है। जिस देश के शासन मे जनसाधारण का कोई भाग नही होता, उसके लिए उनमे बलिदान या त्याग करने की तत्परता भी नही होती। लोकतन्त्र शासन-प्रबन्ध मे जनसाधारण को शासन मे भाग लेने का अवसर प्रदान करके उनकी देशभक्ति तथा देश के प्रति लगाव की भावना को जाग्रत करता है। मिल ने इस सम्बन्ध मे लिखा है कि "लोकतन्त्र लोगो मे देश प्रेम की वृद्धि करता है क्योंकि नागरिक यह अनुभव करते है कि सरकार के निर्माता वे स्वय हैं और अधिकारी उनके स्वामी न होकर सेवक हैं।'[2] लावेले (Laveleye) ने भी कहा है कि, फ्रास की जनता क्रान्ति के बाद जब उसे शासन मे भाग लेने का अवसर प्रदान किया गया, तभी से वह फ्रास से प्रेम करने लगी थी, उससे पहले नही।

(8) क्रान्ति से सुरक्षा—लोकतन्त्र के अन्तर्गत क्रान्ति की सम्भावना बहुत कम हो जाती है। इसका कारण यह है कि जनता क्रान्ति तभी करती है जब शासक वर्ग के द्वारा उस पर भारी अत्याचार किये जाते हैं तथा उन अत्याचारो से मुक्ति पाने का उसके पास अन्य कोई मार्ग शेष नही रह जाता। लोकतन्त्र मे शासक जनता द्वारा निर्वाचित होते हैं तथा वे जनता की इच्छा के अनुकूल ही शासन का सचालन करते हैं। यदि वे जनता की इच्छाओ की निरन्तर अवहेलना करते हैं तो जनता को एक निश्चित अवधि के पश्चात् उन्हे पदच्युत करने का अधिकार होता है। ऐसी स्थिति मे क्रान्ति की कोई आवश्यकता ही नही रहती। गिलक्राइस्ट ने कहा है कि, "लोकप्रिय शासन सार्वजनिक सहमति का शासन होता है अत यह स्वभाव से ही क्रान्तिकारी नहीं हो सकता।[3] गार्नर के शब्दो मे 'लोक शासन शासितो की अनुमति और समानता के सिद्धान्त पर आधारित होने के कारण लोकतन्त्र क्रान्तियो से अधिक मुक्त रहते है।'

(9) स्वतन्त्रता एव समानता के आदर्श पर आधारित—लोकतन्त्र व्यक्ति की

1 'Democracy encourages the intelligence self reliance initiative and social sense of free men by placing the ultimate responsibility for government on the citizens themselves —Appadorai

2 "Democracy strengthens the love of country because citizens feel that the government is their own creation and the magistrates are their servants rather than masters —J S Mill

3 "Popular government is a government by common consent from its very nature, therefore, it is not likely to be revolutionary" —Gilchrist

स्वतन्त्रता और समानता के आदर्शों पर आधारित शासन व्यवस्था है। इसके अन्तर्गत जाति, धर्म, वर्ण, रंग, लिंग और सम्पत्ति के आधार पर मनुष्यों में भेदभाव नहीं किया जाता। इस प्रकार के शासन में सब मनुष्य समान समझे जाते हैं, सभी को शासन में समान रूप से भाग दिया जाता है तथा सभी को विकास के समान अवसर प्रदान किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त नागरिकों की व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक स्वतन्त्रता जितनी लोकतन्त्र में सुरक्षित रहती है, उतनी अन्य किसी शासन में नहीं। इसके अन्तर्गत शासन के लाभ भी सभी को समान रूप से प्राप्त होते हैं अतः यह एक न्यायपूर्ण व्यवस्था है।

(10) विचार विनिमय पर आधारित—लोकतन्त्र अनुमति और विचार-विनिमय पर आधारित होता है। इसमें अधिनायकतन्त्र के समान एक व्यक्ति के निर्णय सबके ऊपर शक्ति के बल पर थोपे नहीं जाते वरन् सभी निर्णय आपस में विचार-विनिमय के आधार पर लिए जाते हैं। लावेल के शब्दों में 'एक पूर्ण लोकतन्त्र में कोई भी यह शिकायत नहीं कर सकता कि उसे अपनी बात कहने का अवसर नहीं मिला।''[1] जनता की अनुमति पर आधारित होने के कारण यह लोगों में सहिष्णुता, उदारता, सहयोग, सहानुभूति एवं पारस्परिक विचार-विमर्श द्वारा समझौते की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है।

(11) शान्ति एवं प्रगति के लिए उपयुक्त—लोकतन्त्र ही एक ऐसी शासन-पद्धति है जिसमें शान्ति व्यवस्था और प्रगति साथ-साथ आसानी से चल पाती हैं। अधिनायकतन्त्र में शान्ति और व्यवस्था तो होती है किन्तु प्रगति की ओर ध्यान कम रहता है। जो कुछ थोड़ी बहुत प्रगति होती भी है उसमें केवल एक व्यक्ति या थोड़े से व्यक्तियों का ही हाथ रहता है और उसके पीछे सम्भवतः जनता का कोई समर्थन नहीं होता। लोकतन्त्र में स्वतन्त्रता का वातावरण रहता है तथा स्वतन्त्रता के वातावरण में ही सब प्रकार की प्रगति, यहाँ तक कि वैज्ञानिक प्रगति सम्भव होती है। इसके अतिरिक्त राजतन्त्र तथा अधिनायकतन्त्र विजय एवं विस्तार की नीति का समर्थन करते हैं जबकि लोकतन्त्र शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व तथा समस्याओं का शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाने की नीति में विश्वास करता है। बर्न्स के शब्दों में, "लोकतन्त्र की ओर गतिशील सम्पूर्ण आन्दोलन युद्ध तथा युद्ध की तैयारी का अन्त करने एवं शान्ति का आन्दोलन रहा है।"

लोकतन्त्रात्मक शासन के दोष

प्लेटो से लेकर आज तक अनेक विचारकों ने लोकतन्त्र की कटु आलोचना की है। अरस्तू ने लोकतन्त्र को सरकार का विकृत रूप बताया था। टेलीरेण्ड

---

1 'In a complete democracy no one can complain that he has not a chance to be heard.' —Lowell

(Telleyrand) ने लोकतन्त्र को 'निम्न लोगों का कुलीनतन्त्र' कहा है। कार्लाइल (Carlyle) ने इसे 'मूर्खों का शासन' बताया है। एच० जी० वेल्स (H G Wells) का विचार है कि "निर्वाचित लोकतन्त्रात्मक शासन के पक्ष में कोई ऐसी बात नहीं है जिसका पाँच मिनट में खण्डन न किया जा सके। लुडोविसी (Ludovici) ने कहा है कि "लोकतन्त्र मृत्यु का मार्ग है और कुलीनतन्त्र जीवन का।" लोकतन्त्र की आलोचना मुख्य रूप से निम्नलिखित आधारों पर की जाती है

(1) अयोग्यता की उपासना—लोकतन्त्र के विरुद्ध एक आरोप यह लगाया जाता है कि इसमें अक्षमता तथा अयोग्यता की उपासना (Cult of incompetence) की जाती है। इसमें गुण की अपेक्षा संख्या पर बल दिया जाता है। इसमें मत गिने जाते हैं, तौले नहीं जाते अर्थात् मूर्ख और बुद्धिमान सबके मत का समान महत्त्व माना जाता है। , रोप के प्रसिद्ध विद्वान कार्लाइल (Carlyle) के अनुसार, "संसार में मूर्खों की संख्या विद्वानों की तुलना में कईगुनी है, अतः सभी को समान मताधिकार देने का तात्पर्य मूर्खों की सरकार की स्थापना करना है।" इसीलिए एच० जी० वेल्स ने इसे 'बुद्धिहीन तथा अज्ञानियों का शासन' कहा है। प्रसिद्ध इतिहासकार लेकी (Lecky) का मत है कि 'लोकतन्त्र अत्यन्त निर्धन, अत्यन्त अज्ञानी एवं अत्यन्त अयोग्य व्यक्तियों का शासन है जो आवश्यक रूप से अधिक संख्या में होते हैं।"[1]

लोकतन्त्र शासन के क्षेत्र में विशिष्ट ज्ञान एवं विशिष्ट प्रशिक्षण के मूल्य की उपेक्षा करता है। न्यायाधीश स्टीफन के शब्दों में, "लोकतन्त्र अधिकांश में अज्ञान, अप्रशिक्षित तथा अयोग्य व्यक्तियों द्वारा शासन का नाम है। इसमें विशेषज्ञों पर विश्वास नहीं किया जाता और विशेषज्ञों की सरकार को सच्चे प्रजातन्त्र के विरुद्ध माना जाता है।'[2] फैगेट ने इसकी आलोचना करते हुए लिखा है कि "शासन एक कला है और उसके लिए ज्ञान की आवश्यकता है परन्तु जनता का शासन ऐसे व्यक्तियों द्वारा होता है जिनमें न ज्ञान होता है और न कला।"[3]

(2) दल प्रणाली के दूषित प्रभाव—आधुनिक लोकतन्त्रात्मक राज्यों के लिए *राजनीतिक दलों का अस्तित्व अत्यन्त आवश्यक है परन्तु व्यवहार में यह दल प्रणाली* लोकतन्त्र को भ्रष्ट बना देती है। राजनीतिक दल सदैव अपनी स्वार्थसिद्धि में लगे रहते हैं। इनका उद्देश्य जनता की सेवा करने के स्थान पर किसी भी प्रकार शासन

1 " It is the government by the poorest, the most ignorant, the most incapable who are necessarily the most numerous "
—Lecky

2 "Democracy is a government by the ignorant, untrained and the unfit"
—Sir James Stephen

3 "Government is an art and it presupposes knowledge but the people are governed by men who have neither knowledge nor art"
—Faguet

दिन लगने चाहिए, उनमे वर्षों लग जाते हैं। इसमे बहुत सा बहुमूल्य समय अनुपयोगी वाद विवाद, विचार-विमर्श, तर्क वितर्क तथा समिति-पद्धति के कारण नष्ट हो जाता है। ब्राइस ने लोकतन्त्र की उपमा एक ऐसी समिति से दी है जिसमे सात व्यक्तियों द्वारा सात दिन मे उतना ही काम किया जाता है जितना एक व्यक्ति एक दिन मे कर सकता है। बार्कर ने ठीक ही लिखा है कि "लोकतन्त्र अपनी प्रकृति से ही शीघ्र निर्णय के अनुकूल नही है।"[1]

(5) शासन मे भ्रष्टता—लोकतन्त्र पर एक आरोप यह लगाया जाता है कि उसमे शासन भ्रष्ट हो जाता है। लोकतन्त्र मे शासन सत्तारूढ दल द्वारा दलीय हित को ध्यान में रखकर चलाया जाता है, सार्वजनिक हित और कल्याण की दृष्टि से नहीं। प्राय ऐसा देखा जाता है कि निर्वाचन के समय जो लोग सत्तारूढ दल की मदद करते हैं, शासन के द्वारा ऐसे व्यक्तियो तथा उनके सम्बन्धियो आदि को नौकरी दिलवाकर व्यवसाय सम्बन्धी सुविधाएँ देकर तथा अन्य प्रकार से लाभ पहुँचाकर सहायता प्रदान की जाती है। डॉ० आशीर्वादम के शब्दो मे, "घूसखोरी और भ्रष्टाचार लोकतन्त्र की सामान्य बुराइयां मानी जाती हैं।" ब्राइस ने राजनीति मे धन की शक्ति का वर्णन करते हुए लिखा है कि "ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि निर्वाचकों, विधायकों प्रशासकीय अधिकारियों और न्यायाधिकारियों तक ने धन के लोभ के सामने सिर झुका दिया है।"

(6) अनुत्तरदायी शासन—लोकतन्त्रीय शासन सिद्धान्त रूप मे जनता के प्रति उत्तरदायी होते हुए भी व्यवहार मे अनुत्तरदायी होता है। प्राय यह देखा जाता है कि जनता के प्रतिनिधि एक निश्चित अवधि के लिए एक बार चुन लिए जाने के बाद अपने उत्तरदायित्व को भूल जाते हैं तथा अपने स्वार्थ की सिद्धि मे लिप्त हो जाते हैं। इस प्रकार लोकतन्त्र मे उत्तरदायित्व की भावना का सर्वथा अभाव होता है और किसी भी कार्य के लिए किसी व्यक्ति विशेष को उत्तरदायी नही ठहराया जा सकता है। इसी प्रकार बहुत से विचारक लोकतन्त्र का तात्पर्य 'उत्तरदायित्वहीन लोगों के शासन' से लगाते हैं। हर्नशॉ के शब्दो मे "लोकतन्त्र मनुष्यो मे सार्वजनिक कार्यों के प्रति उदासीनता, असयम और मूर्खता प्रदर्शन करने की ऐसी प्रवृत्ति उत्पन्न करता है जिन्हें कोई भी व्यक्ति अपने व्यक्तिगत मामलो मे प्रदर्शित करने का स्वप्न भी नहीं देख सकता है।"[2]

(7) सभ्यता का विरोधी—लोकतन्त्र को सभ्यता, संस्कृति तथा विज्ञान का

1. 'Democracy is not in its nature congenial to rapid decision.'
B—arker *Reflection on Government*, p 100

2 'Democracy tends to display in public affairs an imprudence a recklessness, an insanity which no member of it, would dream of displaying it in his private affairs." —Hearnshaw

सत्ता पर अपना अधिकार करता है। चुनावों के समय ये राजनीतिक दल एक दूसरे के विरुद्ध ऐसा दूषित प्रचार करते हैं जिससे सारे देश में गृह युद्ध का सा वातावरण पैदा हो जाता है। दलीय अनुशासन की कठोरता के कारण राजनीतिक दल जनता के प्रतिनिधियों की स्वतन्त्रता को समाप्त कर देते हैं तथा इनके कारण मतदाताओं की स्वतन्त्रता का भी अन्त हो जाता है। कार्लायल के अनुसार, "राजनीतिक दलों [redacted] कारण शासन-सत्ता कपटी तथा व्यर्थ बकवास करने वाले लोगों के हाथ में आ जाती है।"[1] ब्राइस के शब्दों में, "राजनीतिक दल बेईमानी तथा कपट को उत्साहित करते हैं, राष्ट्र के जीवन में फूट डालते हैं, स्वाभाविक आदर्शों को हीन बनाते हैं तथा लूट का माल बाँट लेते हैं।"[2] तात्पर्य यह है कि राजनीतिक दल लोकतन्त्र को दूषित बना देते हैं।

(3) धनवानों का शासन—लोकतन्त्र के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि इसमें सभी व्यक्ति समान होते हैं तथा सभी का समान रूप से शासन में हाथ होता है। परन्तु व्यवहार में शासन सत्ता पर केवल धनवानों का ही नियन्त्रण रहता है। लोकतन्त्र में शासन सत्ता प्राप्त करने का आधार निर्वाचन होता है और निर्वाचन में काफी धन खर्च करना पड़ता है। अतः चुनाव लड़ने का कार्य केवल साधन-सम्पन्न लोग ही कर सकते हैं, निर्धन नहीं। फलस्वरूप विधानसभाओं में केवल धनी लोग ही निर्वाचित हो पाते हैं। ऐसी विधानसभाओं के द्वारा सार्वजनिक हित की अपेक्षा वर्ग विशेष के हित में कानूनों का निर्माण अधिक किया जाता है। प्रचार [redacted] साधनों पर भी धनी लोगों का नियन्त्रण रहता है। ऐसी स्थिति में नागरिकों की समानता तथा स्वतन्त्रता की बात कहना केवल एक दिखावा मात्र है क्योंकि लोकतन्त्र व्यवहार में लोकतन्त्र न रहकर धनिकतन्त्र हो जाता है। बर्क ने ठीक ही कहा है कि "लोकतान्त्रिक समानता भयानक प्रपंच एवं व्यर्थ का विचार-मात्र है।"[3]

(4) धन एवं समय का अपव्यय—लोकतन्त्रीय शासन में सार्वजनिक धन एवं समय का अपव्यय होता है। लोकतन्त्र में धन की बर्बादी एक ऐसी वास्तविकता है जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता। बार-बार चुनाव कराने, चुनाव के समय मतदाता सूचियाँ तैयार करने, उन्हें प्रकाशित करने, समय समय पर समितियों आदि का निर्माण करने, प्रतिनिधियों को वेतन तथा भत्ते देने आदि में बहुत अधिक धन खर्च होता है। लोकतन्त्र में धन के साथ-साथ समय की भी बर्बादी होती है। इसमें कानून निर्माण की प्रक्रिया इतनी लम्बी तथा जटिल होती है कि जिन कानूनों के निर्माण में कुछ ही

---

1 "Political party places power into the hands of windbags and charlatans" —Carlyle

2 "Political parties encourage hollowness and insincerity, create cleavages in the life of the nation, debut normal standards and distribute the spoils" —Bryce

3 'Democratic equality is a monstrous fiction" —Burke

शत्रु कहा जाता है। राजतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र के समान इसमें साहित्यकारों, कलाकारों और विद्वानों को संरक्षण प्राप्त नहीं होता तथा साधारण व्यक्ति के समान वे भी अपने जीवनयापन के लिए चिन्तित रहते हैं। लोकतन्त्र में केवल राजनीति को ही महत्त्व प्राप्त होता है और वह जीवन के अन्य सभी क्षेत्रों पर छा जाती है जिसके कारण मानव-जीवन का सर्वतोन्मुखी विकास पूरी तरह सम्भव नहीं हो पाता। लेकी के शब्दों में, "लोकतन्त्र बौद्धिक जीवन के उच्च रूपों अर्थात कला, साहित्य एवं विज्ञान के विकास के प्रतिकूल होता है। संक्षेप में, लोकतन्त्र ऊँचा उठाने के स्थान पर नीचे गिराता है।" बर्न्स के अनुसार, "लोकतन्त्र जिस सभ्यता को जन्म देता है वह दूषित, साधारण अथवा जड़ सभ्यता होती है।"[1] सर हेनरीमेन ने भी कहा है कि "लोकतन्त्र बौद्धिक उन्नति, साहित्य विज्ञान तथा कला के विकास के लिए अनुपयुक्त है।" कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि लोकतन्त्र में जनता सांस्कृतिक तथा वैज्ञानिक प्रगति की यदि विरोधी नहीं होती तो उस ओर से उदासीन अवश्य ही रहती है।

(8) कुशिक्षा का साधन—लोकतन्त्र के विरुद्ध एक आरोप यह लगाया जाता है कि यह शिक्षा के बजाय अशिक्षा या कुशिक्षा का साधन है। इसमें जनता की चापलूसी की जाती है। इसमें जनता के दोषों को जनता से ही छिपाया जाता है। जनता में समानता की एक झूठी भावना पैदा हो जाती है क्योंकि हर व्यक्ति यह सोचता है कि अपने देश के शासन के लिए वह उतना ही योग्य है जितना दूसरा कोई व्यक्ति। डॉ० आशीर्वादम् के शब्दों में, 'लोकतन्त्र में किसी विशेष प्रयास या प्रशिक्षण की जरूरत नहीं समझी जाती। इसमें मानदण्ड गिर जाते हैं। लोग अपने को विज्ञान, साहित्य और कला का पारखी समझने लगते हैं। भीड़ मनोवृत्ति को उकसाया जाता है और जनता की ओछी प्रवृत्तियों को बढ़ावा देने की कोशिश की जाती है।"

(9) नैतिक दृष्टि से दोषपूर्ण—कुछ विचारकों ने लोकतन्त्र के नैतिक महत्त्व पर भी गम्भीर आशंका प्रकट की है। आलोचकों का मत है कि लोकतन्त्र में ईमानदारी के स्थान पर सर्वत्र असत्य की धूम रहती है। झूठ बोलना तथा दूसरों की निन्दा करना ही राजनीति के आधार बन जाते हैं। चुनावों के समय एक दूसरे पर कीचड़ उछाली जाती है, एक दूसरे के विरुद्ध गलत प्रचार किया जाता है तथा झूठी अफवाहें फैलायी जाती हैं। धन की शक्ति सम्पूर्ण राजनीति को गन्दा तथा दूषित बना देती है। चुनावों के समय समस्याओं को जनता के सामने सही ढंग से नहीं रखा जाता बल्कि इस रूप में प्रस्तुत किया जाता है जिससे अधिक से अधिक मत मिल सकें। इसमें येन-केन-प्रकारेण वोटों द्वारा जनता का समर्थन प्राप्त करना ही मुख्य लक्ष्य रहता है।

---

1. "The civilisation which a democracy produces is said to be banal, mediocre or dull." —C. D. Burns

(10) राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा—ए० आर० लार्ड (A R Lord) के अनुसार, "लोकतन्त्रीय देशों में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जब राष्ट्रीय हितों को स्थानीय हितों के लिए बलिदान किया गया है।" शक्ति और अधिकार की होड़ में कुछ थोड़े से लोगों के लाभ के लिए समूचे राष्ट्र के हितों की उपेक्षा की जाती है। प्रतिनिधियों का उद्देश्य अपने-अपने निर्वाचन क्षेत्रों के हितों का ध्यान रखना होता है। वे इस बात की परवाह नहीं करते कि सम्पूर्ण राष्ट्र के हितों पर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा। लोकतान्त्रिक देशों में सगठित अल्पसंख्यक समुदाय अपने उद्देश्यों को पूरा करने के लिए सार्वजनिक हित की अवहेलना करता है। डॉ० आशीर्वादम के शब्दों में, "लोकतन्त्र में साम्प्रदायिक भावना का अभाव रहता है, इससे राष्ट्रीय एकता संकट में पड़ जाती है।"

(11) अल्पसंख्यकों का शासन—कुछ आलोचकों का मत है कि लोकतन्त्रीय सरकार बहुमत की सरकार नहीं होती। प्रायः सत्तारूढ़ दल को मतदाताओं का बहुमत प्राप्त नहीं होता। अनेक लोकतन्त्रीय देशों में मतदाताओं की उदासीनता प्रसिद्ध है। राजनीतिक दलों के द्वारा काफी प्रयत्न करने के पश्चात् भी सामान्यतया लगभग पचास प्रतिशत मतदाता ही अपने मताधिकार का प्रयोग करते हैं। ऐसी स्थिति में लोकतन्त्रीय शासन वास्तव में बहुमत पर आधारित नहीं होता। भारत में भी अनेक बार ऐसा ही हुआ है। कुछ आलोचक तो इससे भी आगे बढ़कर यह कहते हैं कि लोकतन्त्र में वास्तविक सत्ता उन चतुर राजनीतिक नेताओं के हाथ में होती है जिन्होंने अपने दल के सगठन को अपने काबू में कर लिया है। इसलिए लोकतन्त्र को 'निकृष्ट कोटि का अल्पतन्त्र' तथा 'दुष्ट लोगों का कुलीनतन्त्र' कहा जाता है।

(12) संकट के समय निर्बल—युद्ध और संकट का सामना करने के लिए शीघ्र निर्णय लेने की आवश्यकता होती है। लोकतन्त्रीय शासन युद्ध और संकट के समय निर्बल सिद्ध होता है क्योंकि न तो वह शीघ्र गति से निर्णय कर पाता है और न उसे शीघ्रता से कार्यरूप में परिणत करता है। इसमें निर्णय लेने की प्रक्रिया मन्द तथा जटिल होती है। लोकतन्त्र सत्ता के एकीकरण के स्थान पर सत्ता के फैलाव (Diffusion of Authority) के कारण संकट का दृढ़ता से मुकाबला करने में असमर्थ अथवा निर्बल सिद्ध होता है।

(13) विचारकों द्वारा लोकतन्त्र की निन्दा—अनेक विचारकों ने लोकतन्त्र की आलोचना अपने-अपने ढंग से की है। फ्रांसीसी विचारक फैगेट ने लोकतन्त्र को 'अयोग्यता का शासन' (Cult of incompetence) कहा है। लेवॉन (Lee Von) ने लोकप्रिय सरकार को 'झुण्ड अथवा समूह की सरकार' बताया है। प्रो० बार्कर ने कहा है कि 'लोकतन्त्रात्मक शासन में कार्यक्षमता को बड़ी क्षति होती है।' प्रो० गिडिंग्ज (Giddings) के अनुसार "लोकतन्त्र में दो बड़े संकट हैं प्रथम, अमर्यादित स्वच्छन्दता, तथा द्वितीय, राष्ट्रीय चरित्र का पतन।" मेलॉक ने अपनी पुस्तक विशुद्ध लोकतन्त्र की मर्यादाएँ (The Limits of Pure Democracy) में बताया है कि ऐसा लोकतन्त्र जिसमें सब मनुष्यों का समान प्रभाव होता है, न है और न कभी था।"

लार्ड ब्राइस ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक लोकतन्त्र' म लोकतन्त्र के जिन दोषो का वर्णन किया है, वे इस प्रकार हैं (1) कानून-निर्माण तथा शासन-प्रबन्ध को भ्रष्ट करने में धन की शक्ति का प्रयोग, (2) राजनीति को एक लाभप्रद व्यवसाय बनाने की प्रवृत्ति, (3) शासन व्यवस्था मे बहुत अधिक व्यय (4) समानता के सिद्धान्त का दुरुपयोग और प्रशासकीय बुद्धि एव चातुर्यता का अनादर, (5) राजनीतिक दलो की अनुचित सत्ता, (6) व्यवस्थापिका के सदस्यों तथा शासन के पदाधिकारियो मे भविष्य मे मत प्राप्त करने की दृष्टि से कानून बनाने तथा व्यवस्था भग को सहन करने की प्रवृत्ति ।

लोकतन्त्र की आलोचनाओ का मूल्याकन

उपर्युक्त आलोचनाओ मे सत्य का कुछ न कुछ अश अवश्य है परन्तु फिर भी ये आलोचनाएं अतिरंजित है। इनम से कई आलोचनाएँ एक-दूसरे के विपरीत हैं और इस तरह एक दूसरे को रद्द करती हैं। कुछ विचारको ने लोकतन्त्र को वीर पूजा तथा मूर्ति-पूजा बताया है जबकि कुछ दूसरे विचारकों के अनुसार उसका तात्पर्य अवज्ञा और अराजकता से है। लैकी जैसे विचारको ने इसे निर्धनतम व्यक्तियो का शासन कहा है तो दूसरी ओर कुछ विचारक इसे धनवानो का शासन' कहते है। इस तरह इन पारस्परिक विरोधी आलोचनाओ म ही एक दूसरे का खण्डन छिपा हुआ है।

(1) लोकतन्त्र के विकल्प की समस्या—यदि लोकतन्त्र एक दोषपूर्ण शासन प्रणाली है तो स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि उसका विकल्प क्या है? दूसरी कोई भी ऐसी शासन प्रणाली नही है जिसे लोकतन्त्र से अधिक श्रेष्ठ कहा जा सके। राजतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र आदि व्यवस्थाएं असफल सिद्ध हो चुकी है। अधिनायकवाद मे भी चाहे जितनी अच्छाइयाँ दिखाई देती हो परन्तु उसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अभाव रहता है और इस कारण वह मानव व्यक्तित्व के विकास के प्रतिकूल है। लॉर्ड लोथियन का कथन है कि "अधिनायकतन्त्र एकदम ही शान्ति और व्यवस्था तो कायम करता है परन्तु यह अस्थायी ही होती है।" अत मानव-व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से केवल लोकतन्त्र ही सर्वोत्तम शासन प्रणाली है। ब्राइस के शब्दो मे, "लोकतन्त्र पर अनेक आरोप लगाये जाते हैं परन्तु लोकतन्त्र से श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था की खोज मानव जाति ने अभी तक नहीं की है।' सी० डी० बर्न्स ने इस सम्बन्ध मे लिखा है कि 'कोई भी इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि वर्तमान प्रतिनिधि सस्थाएँ दोषपूर्ण हैं परन्तु यदि एक मोटरगाड़ी ठीक ढग से काम नहीं करती हो तो भी उसके स्थान पर बैलगाड़ी स्वीकार करना मूर्खता है।"[1]

---

1 'No one denies that existing representative assemblies are defective; but even if an automobile does not work well it is foolish to go back on a farm cart however, romantic it is"
—C. D. Burns · *Democracy*, p 80.

(2) **लोकतन्त्र के दोष वर्तमान परिस्थितियों के परिणाम**—वर्तमान समय में लोकतन्त्र जिन बुराइयों के लिए दोषी ठहराया जाता है उनके लिए वस्तुत पिछले दो महायुद्धों से उत्पन्न परिस्थितियाँ तथा वर्तमान आर्थिक और राजनीतिक दुर्व्यवस्थाएँ अधिक जिम्मेदार है। ससार की वर्तमान आर्थिक और राजनीतिक दुर्व्यवस्था मे लोकतन्त्र के गुणो का निष्पक्ष रूप से मूल्याकन नही किया जा सकता। ए० एल० लावेल ने ठीक ही लिखा है कि 'यह उचित नहीं है कि किसी व्यक्ति की निर्णय-बुद्धि की परख उस समय की जाये जब वह लड रहा हो या नशे में हो या भयभीत हो। इसी प्रकार लोकतन्त्र की परख भी हम बहुत असाधारण परिस्थितियो में होने वाली घटनाओं के आधार पर नहीं कर सकते।"

(3) **लोकतन्त्र के अनेक दोष मानव प्रकृति के परिणाम**—अनेक आलोचकों का यह विचार है कि साधारण मनुष्य को अपना शासन स्वय करने मे कोई रुचि नही होती और लोकतन्त्र मे सबसे बडी बुराई मतदाता की उदासीनता है परन्तु वास्तविकता तो यह है कि दूसरी शासन पद्धतियो म भी जो परिणाम निकलते है, वे लोकतन्त्र के परिणाम से अधिक अच्छे नहीं होते। यदि लोकतन्त्र मे जनता कभी-कभी उदासीन रहती है तो कभी कभी वह बहुत सक्रिय और निष्ठावान भी हो जाती है। डॉ० आशीर्वादम् के शब्दो म 'लोकतन्त्र से भिन्न सरकार जब तक जनता पर सुख-सुविधा की वर्षा करती है, तब तक निश्चित रूप से उसे उसका सहयोग मिलता है पर जैसे ही वह जनता पर कोई भार डालना आरम्भ करती है वैसे ही गहरा असन्तोष फैल जाता है।"

(4) **लोकतन्त्र की अनेक बुराइयाँ सार्वजनिक जीवन के दोषो का परिणाम**—यह कहा जाता है कि अधिकाश लोकतन्त्रीय राज्यो म अपव्यय और बर्बादी के साथ-साथ घूसखोरी तथा भ्रष्टाचार बहुत पाया जाता है। परन्तु इन बुराइयो के लिए देश के सार्वजनिक जीवन को दोष दिया जाना चाहिए न कि केवल शासन प्रणाली को। लावेल ने ठीक ही कहा है कि 'व्यापारिक जीवन मे जिन बुराइयो को हम सहन करते हैं, उनके लिए हम लोकतन्त्र को जिम्मेदार नही ठहरा सकते। सार्वजनिक जीवन में सच्चाई व ईमानदारी का अभाव कोई नयी बात नहीं है। 18वी शताब्दी के यूरोप में पदाधिकारियो मे जितना भ्रष्टाचार था उसकी अपेक्षा आज निस्सन्देह कम है।"

(5) **दल-प्रणाली के लाभ**—दल प्रणाली लोकतन्त्र को भ्रष्ट बना देती है, इस आरोप के उत्तर मे हमारा मत यह है कि लोकतन्त्र मे राजनीतिक दल अनिवार्य है क्योंकि उनके बिना लोकतन्त्रीय सरकार का चलना असम्भव है। राजनीतिक दल अव्यवस्था मे व्यवस्था कायम करते हैं। वे लोकमत का निर्माण करते हैं तथा उसे शिक्षित करते हैं। ब्राइस के शब्दो मे, 'जिस प्रकार ज्वार-भाटे की लहरें सागर की लम्बी खाड़ियों के जल को स्वच्छ रखती हैं, उसी प्रकार राजनीतिक दल राष्ट्र

के मस्तिष्क को सजग और स्वच्छ रखते हैं।"[1] ब्राइस के अनुसार ही 'दल का अनुशासन स्वार्थपरता और भ्रष्टाचार को रोकता है।"[2]

(6) **लोकतन्त्र मे समयानुकूल परिवर्तन सम्भव**—लोकतन्त्र ही एकमात्र ऐसी शासन प्रणाली है जिसमे समय के अनुसार परिवर्तन किया जा सकता है। ऐसा परिवर्तन न तो अधिनायकतन्त्र मे किया जा सकता है और न कुलीनतन्त्र मे ही। जैसा कि ए० डी० लिण्डसे ने कहा है कि 'अपने में विश्वास रखने वाला एक लोकतन्त्रीय समाज अपनी कार्यप्रणाली में बहुत अधिक नम्र हो सकता है वह आवश्यकतानुसार अपनी प्रणाली मे परिवर्तन कर सकता है। वह अपनी सरकार के हाथों मे अपरिमित शक्ति दे सकता है जैसाकि सकटकाल में किया जाता है और खुशी-खुशी इस विश्वास के साथ दे सकता है कि सकटकाल समाप्त हो जाने पर वह उन अधिकारो को वापस ले सकता है।"

(7) **सामान्य जनता की बुद्धिमत्ता मे विश्वास**—लोकतन्त्र के आलोचको का मत है कि साधारण जनता अपना शासन अपने आप चर सकने मे असमर्थ है क्योंकि वह अशिक्षित स्वार्थी सकुचित तथा सार्वजनिक कार्यों के प्रति उदासीन होती है परन्तु सामान्य जनता के सम्बन्ध मे यह धारणा उचित नहीं है। अपनी बौद्धिक सीमाओ के बावजूद साधारण जनता मे इतना ज्ञान एव बुद्धिमत्ता अवश्य होती है कि वह अच्छे तथा बुरे नेताओ म भेद कर सके तथा सही एव उपयुक्त प्रतिनिधियो का चुनाव कर सके। डेवी का कथन है कि लोकतन्त्र की नींव मानव-प्रकृति की क्षमताओ मे विश्वास मानव बुद्धि मे विश्वास और सचित तथा सहयोग-मूलक अनुभव की शक्ति में विश्वास है।"[3]

(8) **लोकतन्त्र मे विशेषज्ञों के सहयोग की व्यवस्था**—आधुनिक लोकतन्त्रीय राज्य यह अनुभव करते हैं कि शासन एक कला है और यह कार्य उन्ही लोगों को सौंपा जा सकता है जो उसकी विशेष योग्यता रखते हों। यह निर्विवाद सत्य है कि लोकतन्त्र मे विशेषज्ञो द्वारा शासन किये जाने की व्यवस्था को स्थान है। लोकतन्त्र मे वास्तविक प्रशासन का कार्य सिविल सर्विस के बड़े-बड़े अधिकारियो द्वारा ही किया जाता है जो अपने कार्य के विशेषज्ञ होते हैं। जनता के प्रतिनिधियो का वास्तविक कार्य तो प्रशासन चलाना नही वरन् प्रशासन के उद्देश्यों का निर्धारण करना होता

1. "Parties keep a nation's mind alive, as the rise and fall of the *sweeping tide freshens the water of long ocean inlets*" —*Bryce*
2. "Party discipline puts a check on self-seeking and corruption" —Bryce
3. "The foundation of democracy is faith in the capacities of human nature, faith in human intelligence and in the power of pooled and co-operative experience." —Dewey

है और यह कार्य जन इच्छाओ एव भावनाओं को ध्यान मे रखते हुए वे अधिक अच्छी प्रकार कर सकते हैं। मैजिनी का कहना है कि "लोकतन्त्र मे सबसे अच्छे और सबसे अधिक बुद्धिमान लोगों [redacted] नेतृत्व में सबके माध्यम से सबकी उन्नति होती है।"[1]

(9) लोकतन्त्र सर्वोत्तम शासन—लोकतन्त्र अधिनायकतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र की तुलना मे सर्वोत्तम शासन है। यह नागरिको म सद्गुणों का विकास करता है, उनके चरित्र को ऊँचा उठता है, उनका सर्वांगीण विकास करने का प्रयत्न करता है तथा सार्वजनिक हित मे वृद्धि करता है। यह व्यक्ति की स्वतन्त्रता, समानता तथा उसकी गरिमा में विश्वास रखता है। यह व्यक्ति को साध्य तथा शासन को साधन मानता है। यह विश्वशान्ति का उपासक तथा साम्राज्यवाद एव युद्ध का विरोधी है। लावेल के शब्दों मे, 'वही सरकार सर्वश्रेष्ठ है जो मनुष्य की नैतिकता, उद्योग, साहस, आत्मज्ञान व पवित्रता को दृढ बनाये। लोकतन्त्र इन बातो को पूरा करता है, इसलिए यह सबसे श्रेष्ठ शासन है।"

निष्कर्ष—लोकतन्त्र के गुण तथा दोषो की विवेचना करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि लोकतन्त्र मे दोषो की अपेक्षा गुणों की मात्रा अधिक है। लोकतन्त्र म जो कुछ बुराइयाँ हैं भी, वे सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियो के परिणाम हैं। अत उसमे पाये जाने वाले दोष व्यावहारिक हैं जिन्हें सामाजिक और आर्थिक दुर्व्यवस्थाओ का अ त करके दूर किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यदि हम उसे त्यागना भी चाह तो भी लोकतन्त्र से अधिक श्रेष्ठ ऐसी कोई शासन पद्धति नही दिखाई देती जो आधुनिक समाज के लिए अधिक उपयुक्त एव सन्तोषजनक हो तथा जिसम व्यवहार में दोष म पाये जाते हो। सक्षेप मे हम यह कह सकते हैं कि अनेक दोषो के होते हुए भी लोकतन्त्र सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वाधिक आदर्श शासन पद्धति है। मिल ने इस सम्बन्ध मे लिखा है कि 'लोकतन्त्र के विरोध मे दिये जाने वाले तर्कों में मुझे जो कुछ सार प्रतीत हुआ उस पर पूरी तरह विचार करने [redacted] पश्चात् मैने बिना सकोच इसके पक्ष में निर्णय किया है।"[2] लोकतन्त्र के आलोचकों ने भी इसके महत्व को स्वीकार किया है। सिजविक ने यह स्वीकार किया है कि "लोकतन्त्र उत्साहपूर्वक एव व्यापक रूप से स्वीकृत आदर्श है।" लैकी मे भी, जो लोकतन्त्र पर विश्वास नही करता, यह स्वीकार किया है कि "समस्त सभ्य देशों मे अधिक समय तक उसका आधिपत्य बने रहने की सभावना है।" ब्राइस ने भी कहा है कि जो लोकतन्त्र की आलोचना करते हैं, उनका यह कर्त्तव्य है कि वे इससे अधिक अच्छी प्रणाली बतलावें। डॉ० टॉकविल का यह कथन सही प्रतीत होता है कि "लोकतन्त्र

---

1 "Democracy is the progress of all through all, under the leading of the best and wisest" —Mazzini

2 "After giving full weight to all that appeared to me well-grounded in the arguments against democracy, I unhesitatingly decided in its favour." —J. S. Mill

की प्रगति अनिवार्य प्रतीत होती है, क्योंकि यह इतिहास में मिलने वाली सबसे अधिक एकरूप, प्राचीन और स्थायी प्रवृत्ति है।"[1] अन्त में, कारपेण्टर के शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि 'हे! असम्मानित लोकतन्त्र, मैं तुमसे प्रेम करता हूँ।'[2] टी० वी० स्मिथ के शब्दों में, "यदि हमें स्वर्ग नहीं मिल सकता तो नरक से बचने के साधन हाथ में रहते हुए निराश होना मूर्खता है।"[3]

लोकतन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें

(Essential Conditions for the Success of Democracy)

डॉ बेनीप्रसाद के मतानुसार गम्भीर अर्थ में कोई देश अभी तक लोकतन्त्रीय व्यवस्था स्थापित नहीं कर पाया। प्राचीन और आधुनिक कालों में जब भी लोकतन्त्रीय प्रयोग हुए हैं, वातावरण उनके प्रतिकूल रहा है। उनका संकेत मुख्य रूप से सैनिकवाद, निर्धनता, अशिक्षा, सामाजिक संघर्ष आदि से है जिनके कारण लोकतन्त्र की जड़ें मजबूत नहीं हो पायी हैं। उनके मतानुसार लोकतन्त्र की सफलता के लिए निम्नलिखित कुछ शर्तें आवश्यक हैं जिनके पूरा होने पर ही लोकतन्त्र का वास्तविक विकास सम्भव हो सकता है

(1) **लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों में विश्वास**—लोकतन्त्र की सफलता के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि लोकतान्त्रिक मूल्यों तथा सिद्धान्तों में जनता का विश्वास हो। लोकतन्त्र का अर्थ आपस में विचार-विमर्श या परामर्श द्वारा शासन है। उसमें हर व्यक्ति का स्थान उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि किसी दूसरे व्यक्ति का है। लोकतन्त्र की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि लोगों में आपस में भाई-चारे की भावना हो, उनमें समझौता करने की प्रवृत्ति हो, वे मतभेदों के प्रति सहिष्णुता बरतें तथा दूसरों की भावनाओं एवं मतों का आदर करें। लोकतन्त्र में यह आवश्यक है कि लोग हिंसा के स्थान पर संवैधानिक साधनों का प्रयोग करें।

(2) **समुचित शिक्षा**—लोकतन्त्र की सफलता के लिए नागरिकों का शिक्षित होना अत्यन्त आवश्यक है। सार्वजनिक शिक्षा के अभाव में लोकतन्त्र अधिक समय तक नहीं टिक सकता। अज्ञान और अशिक्षा के कारण नागरिकों का विवेकपूर्ण दृष्टिकोण नहीं बन पाता और सार्वजनिक मामलों में वे विचारपूर्वक अपना मत प्रकाशित नहीं कर पाते। शिक्षा के अभाव में नागरिक अपने अधिकार तथा कर्तव्यों को नहीं समझ पाते तथा सरकार के कार्यों का सही मूल्यांकन भी नहीं कर सकते।

---

1 "The progress of democracy seems irresistible because it is the most uniform, the most ancient and the most permanent tendency which is to be found in history." —De Tocqueville

2. "O! Disrespectful democracy, I love thee." —Carpenter

3 "If one cannot gain heaven, it is foolish to despair if there still remain in one's hands the means of avoiding hell." —T. V. Smith

शिक्षा से बुद्धि और विवेक में वृद्धि होती है तथा नागरिकों में जागरूकता आती है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा के द्वार सभी नागरिकों के लिए समान रूप से खुले हुए हों।

(3) जनता की जागरूकता—प्रबुद्ध होने के साथ-साथ नागरिकों में जागरूकता भी होनी चाहिए। उन्हें सार्वजनिक कार्यों में सक्रिय रूप से भाग लेना चाहिए। उन्हें दूसरों के अधिकारों की रक्षा के लिए तैयार रहना चाहिए तथा निरपराध लोगों को कष्ट झेलते हुए चुपचाप नहीं देखना चाहिए। 'सतत जागरूकता ही स्वतन्त्रता तथा लोकतन्त्र की रक्षा का मूल्य है।'[1] डॉ० आशीर्वादम् के अनुसार, "लोकतन्त्र में समझदार नागरिकों को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर होने वाले सभी तरह के हस्तक्षेपों के विरुद्ध सतर्क रहना चाहिए—यह हस्तक्षेप चाहे सरकार की ओर से हो चाहे समाचार-पत्रों की ओर से, चाहे मजदूर संघों, धर्म, संघों या ऐसे ही किसी अन्य संघ की ओर से हो।"

(4) आर्थिक विषमता का अन्त—लोकतन्त्र की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि समाज में आर्थिक विषमता का अन्त हो। जब तक समाज में आर्थिक समानता स्थापित नहीं होती तब तक राजनीतिक स्वतन्त्रता एवं समानता का कोई मूल्य नहीं है। कोल के शब्दों में, "आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक स्वतन्त्रता एक भ्रम मात्र है।"[2] किसी भी ऐसे देश में जहाँ अधिकतर लोग अत्यन्त गरीबी का जीवन व्यतीत करते हों और कुछ लोग ऐश्वर्य से रहते हों, लोकतन्त्रीय शासन सफलतापूर्वक नहीं चल सकता। जब तक लोग जीवनयापन की चिन्ता से मुक्त नहीं होंगे तब तक धन राजनीति को प्रभावित करता रहेगा तथा लोकतन्त्रीय संस्थाएँ दृढ़ नहीं हो सकेंगी *अतः आर्थिक समानता अथवा आर्थिक सुरक्षा लोकतन्त्र* की सफलता के लिए एक आवश्यकता है।

(5) सामाजिक समानता तथा एकता की भावना—सामाजिक समता तथा *सामाजिक न्याय लोकतन्त्र की एक मौलिक आवश्यकता है। सामाजिक समानता से* तात्पर्य यह है कि समाज में जन्म, जाति, धर्म, रंग, सम्प्रदाय आदि के भेद भाव के बिना प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व को समान आदर प्राप्त होता हो। समाज में कोई वर्ग सुविधा सम्पन्न तथा सुविधा रहित न हो। सामाजिक न्याय का तात्पर्य यह है कि लोकतन्त्र के द्वार सबके लिए खुले हुए हों और सभी व्यक्तियों को समान अवसर प्राप्त हों। प्रो० हर्नशॉ ने ठीक ही कहा है कि "लोकतन्त्र की माँग है कि एक ओर विशेषाधिकार प्राप्त उच्च वर्ग अथवा लाभ उठाने वाले धर्म गुरुओं का वर्ग समाप्त हो,

1 "Eternal vigilance is the price of liberty and democracy."

2 "Political liberty in the absence of economic equality is a mere myth." —G. D. H. Cole

तो दूसरी ओर शोषित श्रमिक वर्ग अथवा दासता में फँसा हुआ किसान वर्ग भी समाप्त हो।"[1] संक्षेप में, सम्पूर्ण जनता का एक वर्गहीन समाज होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त जातिगत, भाषागत तथा प्रादेशिक भेदभाव भी लोकतन्त्र को हानि पहुँचाते हैं। अतः लोकतन्त्र की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि समाज में एकता की भावना विद्यमान हो। लोग भाई-चारे के बन्धन में बँधे हुए हों तथा संकीर्ण हितों के स्थान पर सम्पूर्ण देश के हित को प्रमुखता प्रदान करें।

(6) नागरिकों का उच्च नैतिक स्तर—लोकतन्त्र की सफलता के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि नागरिकों का चरित्र उच्च-कोटि का हो। नागरिक ईमानदार हों, उनमें स्वार्थ के स्थान पर परमार्थ तथा कर्तव्यपरायणता की भावना हो तथा वे सेवाभाव से ओतप्रोत हों। अपने मताधिकार का प्रयोग किसी लोभ या लालच के वशीभूत होकर न करें। डॉ० बेनीप्रसाद के शब्दों में, 'लोकतान्त्रिक सरकार की सफलता जनता में उच्चकोटि के चारित्रिक गठन, स्वराज्य की लालसा और समाज-सेवा की भावना पर आधारित है।' प्रो० बार्थलेमी का विचार है कि "लोकतन्त्र की सफलता की आवश्यक शर्त यह है कि इसका संचालन सबसे अधिक बुद्धिमानों, मेधावियों और सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों द्वारा हो।" अतः लोकतन्त्र की सफलता के लिए नागरिकों का नैतिक स्तर ऊँचा होना अत्यन्त आवश्यक है।

(7) नागरिक स्वतन्त्रताएँ—लोकतन्त्र की सफलता के लिए सभी व्यक्तियों को नागरिक स्वतन्त्रताएँ प्राप्त होनी चाहिए। नागरिक स्वतन्त्रताओं से तात्पर्य यह है कि लोगों को विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, साहित्य एवं समाचार-पत्रों के प्रकाशन की स्वतन्त्रता तथा सभा करने एवं संगठन बनाने की स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए जिससे स्वस्थ लोकमत का निर्माण होता रहे। प्रेस की स्वतन्त्रता लोकतन्त्र की एक अनिवार्य आवश्यकता है। स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष प्रेस एक ओर जनता को सही तथ्यों तथा घटनाओं से परिचित कराता है तथा दूसरी ओर वह जनता के कष्टों की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित करता है। इस प्रकार वह शासन और जनता के बीच एक कड़ी का काम करके स्वस्थ लोकमत का निर्माण करने तथा शासन पर नियन्त्रण रखने का कार्य करता है।

(8) विवेकशील नेतृत्व—लोकतन्त्र की सफलता बहुत कुछ उसके नेतृत्व पर भी निर्भर करती है। एक लोकतन्त्रीय शासन में देश के नेता समाज का बहुत लाभ तथा बहुत हानि दोनों ही पहुँचा सकते हैं। अतः यह आवश्यक है कि नेताओं का चरित्र उच्चकोटि का हो, उनमें दृढ़ संकल्प शक्ति हो, उनके निर्णय विवेकपूर्ण हों

---

1 "It demands elimination both of a privileged nobility or a beneficed clergy on the one side and of an oppressed industrial proletariat or an enslaved peasantry on the other."—Hearnshaw, *Democracy at the Crossways*, p. 36.

और उनमे पहल करने की क्षमता हो। देश के नेताओं को खुशामद, चापलूसी, भ्रष्टाचार, पक्षपात तथा व्यक्ति पूजा आदि से दूर रहना चाहिए, तभी वे देश को सही नेतृत्व प्रदान कर सकेंगे।

(9) **सैनिकवाद का अभाव**—लोकतन्त्र उन्ही देशो मे पनप सकता है जहाँ सैनिकवाद का अभाव हो। सैद्धान्तिक दृष्टि से लोकतन्त्र शक्ति एव दल प्रयोग का विरोधी है जबकि सैनिकवाद सत्ता के केन्द्रीकरण तथा असीमित राजसत्ता के पक्ष मे है। यह आज्ञापालन की आवश्यकता पर बल देता है। डॉ० बेनीप्रसाद के अनुसार सैनिकवाद के कारण इतिहास म कभी पूर्ण लोकतन्त्रीय व्यवस्था का विकास नही हो पाया और जब तक सैनिकवाद का बोलबाला रहेगा, ऐसा कभी हो भी नही सकेगा।

(10) **स्थानीय स्वशासन**—लोकतन्त्र की सफलता के लिए स्थानीय स्वशासन एक आधारशिला के रूप म कार्य करता है। इसे लोकतन्त्र की 'प्राथमिक पाठशाला' कहा जाता है। लोकतन्त्र के सफल सचालन क लिए यह आवश्यक है कि जनता राजनीतिक रूप से शिक्षित हो। स्थानीय स्वशासन जनता को शासन के कार्य मे भाग लेने का अवसर प्रदान करके सार्वजनिक कार्यों के प्रति उसकी रुचि पैदा करता है। इससे जनता मे राजनीतिक जागृति उत्पन्न होती है। स्थानीय सस्थाओं के माध्यम से जनता के प्रतिनिधियों को शासन सचालन का आवश्यक प्रशिक्षण मिल जाता है। ब्राइस के शब्दो मे, "लोकतन्त्र का सर्वश्रेष्ठ शिक्षणालय और उसकी सफलता की सबसे बड़ी गारण्टी स्थानीय स्वशासन का चलन है।"[1] अल्फ्रेड स्मिथ के अनुसार, "लोकतन्त्र के समस्त रोगो का निदान लोकतन्त्र के अधिक विस्तार के द्वारा ही हो सकता है।" जिसका सरलतम साधन स्थानीय स्वशासन है।[2] अत लोकतन्त्र की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि स्थानीय स्वशासन की सस्थाओ का अधिक से अधिक विस्तार किया जाए।

(11) **स्वस्थ राजनीतिक दल**—बड़े-बड़े राज्यों मे जहाँ प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र को अपनाया गया है, राजनीतिक दलो का अस्तित्व अपरिहार्य हो गया है। प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र राजनीतिक दलो के माध्यम से ही कार्य करता है। इसलिए फाइनर ने इन्हें 'अदृश्य सरकार' (Invisible Government) कहकर पुकारा है। लेकिन ये राजनीतिक दल लोकतन्त्र के लिए तभी लाभदायक हो सकते हैं जबकि इनका सगठन जाति, धर्म, भाषा या प्रादेशिक आधार पर न होकर आर्थिक तथा राजनीतिक सिद्धान्तो पर हो। अत लोकतन्त्र की सफलता के लिए अच्छे सिद्धान्तो पर आधारित स्वस्थ राजनीतिक दलो का होना आवश्यक है।

---

1. "The best school of democracy and the best guarantee for its success is the practice of local self government" —Bryce
2. All the ills of democracy can be cured by more democracy." — Alfred Smith

(12) शक्तिशाली विरोधी दल—संसदीय लोकतन्त्र में एक शक्तिशाली और प्रभावशाली विरोधी दल का होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके अभाव में सरकार निरकुश हो जाती है तथा अपनी सत्ता का दुरुपयोग करने लगती है। एक शक्तिशाली राजनीतिक विरोधी दल सरकार की आलोचना करके उसकी निरकुशता पर नियन्त्रण रखता है तथा उसे जनहित में कार्य करने के लिए बाध्य करता है।

(13) सहिष्णुता की भावना—लोकतन्त्र में शासन का सचालन बहुमत प्राप्त दल के द्वारा किया जाता है। इसमें सदैव यह भय बना रहता है कि बहुमत प्राप्त सत्तारूढ़ दल अल्पसंख्यकों के ऊपर अपनी मनमानी करेगा। इससे वर्ग संघर्ष की सी स्थिति बन जाती है। अतः लोकतन्त्र के सफल सचालन के लिए आवश्यकता इस बात की है कि बहुमत प्राप्त सत्तारूढ़ दल अल्पसंख्यकों के विचारों को उचित आदर प्रदान करे, शासन के सचालन में उनका सहयोग प्राप्त करे तथा पक्षपात रहित न्यायपूर्ण ढंग से शासन का कार्य करे। दूसरी ओर अल्पमत प्राप्त विरोधी दलों को भी चाहिए कि हर बात पर सत्तारूढ़ दल का विरोध न करें, सविधान तथा कानूनों का सम्मान करें एवं शासन-सत्ता पर अधिकार करने के लिए हिंसात्मक साधनों के स्थान पर सवैधानिक साधनों को अपनाएँ। इस प्रकार दोनों परस्पर एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता बरतें।

(14) लिखित सविधान तथा स्वस्थ परम्पराएँ—अनेक विद्वानों का मत है कि लोकतान्त्रिक शासन के सचालन के लिए लिखित सविधान अत्यन्त आवश्यक है। लिखित सविधान द्वारा शासन के विभिन्न अंगों पर नियन्त्रण रहता है, नागरिकों की स्वतन्त्रता तथा अधिकारों की रक्षा होती है तथा शासन में कुशलता रहती है। लोकतन्त्र के आलोचक हेनरीमेन तथा लेकी ने भी लोकतन्त्र की सफलता के लिए लिखित सविधान को आवश्यक माना है। हेनरीमेन के शब्दों में, **'एक विवेकपूर्ण सविधान द्वारा लोकतंत्र को उतना ही शान्त बनाया जा सकता है जितना शान्त एक सरोवर के जल को।'**[1]

इसके अतिरिक्त लोकतन्त्र की सफलता के लिए स्वस्थ लोकतान्त्रिक परम्पराओं का पालन भी आवश्यक है। ब्रिटिश तथा अमरीकी लोकतन्त्र की सफलता ऐसी ही परम्पराओं की देन है। उदाहरणार्थ, ब्रिटेन में विरोधी दल को सम्मान, दल-बदल करने पर ससद-सदस्य का पदत्याग करना आदि इसी प्रकार की श्रेष्ठ परम्पराएँ हैं।

(15) शान्ति एवं सुरक्षा—लोकतन्त्र की सफलता के लिए शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना अत्यन्त आवश्यक है। यदि किसी राज्य में आन्तरिक अशान्ति है तथा उसे बाहरी आक्रमण का खतरा है तो ऐसी स्थिति में लोकतन्त्रीय पद्धति से शासन का सचालन सम्भव नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ युद्ध के समय निर्वाचन

---

1 'By a wise constitution democracy may be made as calm as the water in a great artificial reservoir'' — Henry Maine

स्थगित कर दिये जाते हैं तथा शासन के प्रधान को अपरिमित शक्तियाँ सौंप दी जाती हैं। डॉ० धवन के अनुसार, "युद्ध से लोकतन्त्र को क्षति पहुँचती है क्योंकि युद्ध के समय विचार-विमर्श द्वारा निर्णय लेने की लोकतान्त्रिक प्रक्रियाओं को अपनाना सम्भव नहीं होता।"

(16) अन्य बातें—लोकतन्त्र की सफलता के लिए कुछ अन्य बातों का पाया जाना भी आवश्यक है : (1) नागरिक सेवाएँ निष्पक्ष तथा राजनीतिक दलबन्दी से पृथक रहें, (2) न्यायपालिका निष्पक्ष एवं स्वतन्त्र हो, (3) नागरिकों का जीवन स्तर ऊँचा हो, (4) मौलिक बातों के सम्बन्ध में नागरिकों तथा राजनीतिक दलों में मतैक्य हो, इत्यादि।

अन्त में, हम लॉवेल के शब्दों में यह कह सकते हैं कि "यदि उपरोक्त हो जाती हैं तो प्रचण्ड वायु के झोंके भी लोकतन्त्र की नींव को हिला नहीं किन्तु यदि ये बातें पूरी नहीं होतीं तो लोकतन्त्र के शक्तिशाली पाँव कीचड़ जावेंगे।"

लोकतन्त्र का विकल्प

यद्यपि लोकतन्त्र में अनेक दोष पाये जाते हैं परन्तु प्रश्न यह उठता यदि लोकतन्त्र दूषित शासन प्रणाली है तो इसका विकल्प क्या है ? कुछ व्य लोकतन्त्र के दोषों के कारण इस मत का प्रतिपादन करते हैं कि लोकतन्त्र के स्थान पर अधिनायकतन्त्र को अपना लिया जाना चाहिए। परन्तु वास्तविकता तो यह है अधिनायकतन्त्र लोकतन्त्र की तुलना में एक श्रेष्ठ शासन व्यवस्था नहीं है अतः वह लोकतन्त्र का विकल्प नहीं हो सकता। यह बात निम्नलिखित अन्तर से स्पष्ट हो जाती

लोकतन्त्र	अधिनायकतन्त्र
1 यह व्यक्ति के व्यक्तित्व के महत्त्व को स्वीकार करता है तथा व्यक्ति को साध्य मानता है, साधन नहीं।	1 यह व्यक्ति के स्थान पर समष्टि पर बल देता है। यह व्यक्ति को साधन मानता है तथा समाज के हित में व्यक्ति को अपना सब कुछ बलिदान करने की प्रेरणा देता है।
7. यह समानता, स्वतन्त्रता तथा सहमति पर आधारित शासन-व्यवस्था है।	2 यह नेता की आज्ञापालन अनुशासन तथा कठोर दमन पर आधारित शासन व्यवस्था है।
3. यह नागरिकों के मौलिक अधिकारों को मान्यता प्रदान करता है तथा उनकी सुरक्षा का प्रबन्ध करता है।	3 यह अधिकारों के स्थान पर कर्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों पर जोर देता है। यह लोगों के विचारों को एक विशेष ढाँचे

			ढालता है तथा विरोधी विचारों को पनपने नहीं देता ।
4	यह स्वशासन के अधिकाधिक अवसर प्रदान करता है जिससे नागरिकों में चेतना का पूर्ण विकास हो सके ।	4	इसमें स्वशासन के अवसर विद्यमान नहीं होते और इस कारण नागरिक चेतना का विकास सम्भव नहीं हो पाता ।
5	इसमें शासक वर्ग को सीमित शक्तियाँ प्राप्त होती हैं तथा शासन का उद्देश्य जनहित होता है ।	5.	इसमें अधिनायक को असीमित शक्तियाँ प्राप्त होती हैं । जिनका प्रयोग वह अपनी सत्ता को दृढ़ बनाने हेतु करता है ।
6	यह पारस्परिक विचार विमर्श और सहमति पर आधारित शासन-व्यवस्था है ।	6	इसमें दल के सिद्धान्तों में अटूट श्रद्धा रखने तथा दल के नेता की आज्ञाओं का पालन करने पर बल दिया जाता है ।
7	यह विश्वशान्ति, विश्वबन्धुत्व तथा अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना में विश्वास रखता है ।	7	यह उग्र राष्ट्रवाद तथा साम्राज्य-वाद में विश्वास करता है तथा युद्ध को एक अच्छाई मानता है ।
8	इसमें समय और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन किया जा सकता है ।	8	इसमें समय एवं परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन सम्भव नहीं है ।
9	इसमें स्थायित्व एवं स्थिरता देखने को मिलती है तथा प्रगति की गति मन्द होने हुये भी निरन्तरता पायी जाती है ।	9	इसमें प्रगति की गति तीव्र होते हुए भी निरन्तरता तथा स्थिरता का अभाव पाया जाता है ।
10	इसमें प्रचार के साधनों का उपयोग सार्वजनिक शिक्षण के लिये किया जाता है ।	10	इसमें प्रचार के साधनों का उपयोग दल और उसके नेता के विचारों के प्रचार के लिए किया जाता है ।
11	यह मानव व्यक्तित्व के विकास पर बल देता है ।	11	यह नागरिकों को शासक दल के विचारों के अनुरूप ढालने पर बल देता है ।

वस्तुतः अधिनायकतन्त्र एक कारागृह के समान है जिसमें साधारण जनता बन्द रहती है । फाइनर के शब्दों में 'अधिनायकतन्त्र की विवश एवं भयभीत प्रजा जीवन के उन ऊँचे मूल्यों से गिर जाती है जिसका सम्बन्ध समस्त मानव समाज की जीवनप्रणाली से है क्योंकि उनकी महानता की खुले रूप में निन्दा की जाती है ।"

अतः लोकतन्त्र के स्थान पर अधिनायकतन्त्र की स्थापना एक भारी भूल होगी ब्राइस के शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि 'लोकतन्त्र के आलोचकों का यह कर्तव्य है कि वे इससे अधिक अच्छी शासन-प्रणाली बतलावें ।"

अभ्यास के प्रश्न

1. एक सरकार के रूप मे, लोकतन्त्र के प्रमुख लक्षणो का परीक्षण कीजिए ।
2. इस दृष्टिकोण की विवेचना कीजिए कि सामाजिक आर्थिक लोकतन्त्र के अभाव मे राजनीतिक लोकतन्त्र अर्थहीन है ।
3. लोकतन्त्र के सन्दर्भ मे पश्चिमी अवधारणा तथा समाजवादी दृष्टिकोण के अन्तर की विवेचना कीजिए ।
4. यह कथन किस सीमा तक उचित है कि सभी लोकतन्त्र पश्चिमी अथवा समाजवादी, उत्तरदायित्व एव लोक कल्याणकारी तत्त्वों के अभाव मे अधिनायकवादी प्रवृत्ति दर्शाते हैं ।
5. अधिनायकवादी राजनीतिक व्यवस्थाओ के लक्षण क्या हैं ? अपने उत्तर के समर्थन मे उदाहरण दीजिए ।
6. यह कथन किस सीमा तक उचित है कि व्यवहार मे लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं मे अभिजनवादी सरकारो की प्रवृत्ति दीख पड़ती है । अपने उत्तर के समर्थ मे तर्क दीजिए ।
7. इस कथन का परीक्षण कीजिए कि व्यापक अधिकारो, न्याय एव लोककल्याण के सरक्षण हेतु राजनीतिक लोकतन्त्र अनुपयुक्त है ।
8. इस दृष्टिकोण की विवेचना कीजिए कि विकासशील समाजो मे लोकतन्त्र का पश्चिमी रूप सामाजिक आर्थिक न्याय का सरक्षण करने मे अनुपयुक्त है ।
9. "लोकतन्त्र शासन का ही एक रूप नहीं है अपितु यह जीवन का एक माध्यम भी है ।" पाश्चात्य एव मार्क्सवादी दृष्टिकोण के आधार पर कथन को स्पष्ट कीजिए । (राजस्थान विश्व० 1976)
10. "अधिनायकतन्त्र लोकतन्त्र का विकल्प नही माना जा सकता ।" इस कथन की लोकतन्त्र के गुणो के प्रकाश म विवेचना कीजिए । (राजस्थान विश्व०, 1975)
11. लोकतन्त्र के गुण-दोषो की विवेचना कीजिए तथा लोकतन्त्र के दोषो को दूर करने के सुझाव दीजिए ।
12. लोकतन्त्र की परिभाषा कीजिए और इसकी सफलता के लिए आवश्यक शर्तों का विवेचन कीजिए । आज के भारत मे यह शर्तें कहाँ तक पायी जाती हैं ? (राजस्थान विश्व० 1979)
13. "लोकतन्त्र अयोग्य व्यक्तियो का शासन है ।" इस कथन की समीक्षा कीजिए ।
14. यह स्पष्ट कीजिए कि किस तरह राजनीतिक लोकतन्त्र का अस्तित्व आर्थिक तथा सामाजिक न्याय पर निर्भर करता है । (राजस्थान विश्व० 1973)

15

संसदीय तथा अध्यक्षात्मक शासन

[PARLIAMENTARY AND PRESIDENTIAL GOVERNMENT]

> "व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका शक्तियों की एक-दूसरे से स्वतन्त्रता अध्यक्षात्मक शासन का विशिष्ट लक्षण है और इन दोनों का एक दूसरे से संयोग तथा घनिष्ठता संसदीय शासन का सिद्धान्त है।"[1] —बेजहॉट

कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका के पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर शासन के दो प्रमुख भेद किये जाते हैं संसदीय एवं अध्यक्षात्मक शासन। यहाँ हम इन दोनों शासन-व्यवस्थाओं का वर्णन करेंगे।

संसदीय शासन व्यवस्था

यह शासन की वह प्रणाली है जिसमे कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होती है तथा कार्यपालिका पर व्यवस्थापिका का नियन्त्रण होता है। इस प्रणाली में कार्यपालिका व्यवस्थापिका में से ली जाती है तथा वह व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है। संसदीय शासन-प्रणाली को केबिनेट अथवा मन्त्रिमण्डलीय शासन भी कहते हैं क्योंकि इसके अन्तर्गत कार्यपालिका शक्ति किसी एक व्यक्ति में निहित न होकर केबिनेट अर्थात मन्त्रिमण्डल में निहित होती है। इस प्रणाली को उत्तरदायी शासन भी कहा जाता है क्योंकि इसके अन्तर्गत कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है। गार्नर के शब्दों में, "संसदीय शासन वह शासन प्रणाली है जिसमे वास्तविक कार्यपालिका अर्थात मन्त्रिमण्डल व्यवस्थापिका अथवा उसके एक लोकप्रिय सदन के प्रति तथा अन्तिम रूप से निर्वाचक-मण्डल के प्रति अपनी राजनीतिक नीतियों तथा कार्यों के लिए कानूनी रूप से उत्तरदायी होती है और राज्य के प्रमुख के रूप में नाममात्र की कार्यपालिका का कोई उत्तरदायित्व

---

1 "The independence of the legislative and executive powers is the specific feature of the Presidential Government just as fusion and combination is the principle of the cabinet government." —Bagehot

नहीं होता।"[1] गैटल ने भी इसी प्रकार के विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि "संसदीय शासन उस प्रणाली को कहते हैं जिसमें वास्तविक कार्यपालिका अपने समस्त कार्यों के लिए कानूनी रूप से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है।"

संसदीय शासन के प्रमुख लक्षण—संसदीय शासन के मुख्य लक्षण निम्न हैं

(1) **दो प्रकार की कार्यपालिका**—संसदीय शासन में दो प्रकार की कार्यपालिका होती है एक नाममात्र की, तथा दूसरी, वास्तविक। राज्य का प्रधान नाम मात्र की कार्यपालिका होती है जबकि मन्त्रिमण्डल वास्तविक कार्यपालिका होती है। सैद्धान्तिक दृष्टि से शासन की समस्त शक्तियाँ राज्य के प्रधान में निहित होती हैं परन्तु वह केवल संवैधानिक अध्यक्ष होता है तथा व्यवहार में उसकी समस्त शक्तियों का प्रयोग वास्तविक कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिपरिषद द्वारा किया जाता है। इंगलैंड में सम्राट तथा भारत में राष्ट्रपति नाममात्र की कार्यपालिका है।

(2) **कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका में घनिष्ठ सम्बन्ध**—संसदीय शासन में व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होती हैं। कार्यपालिका अथवा मन्त्रिपरिषद के सभी सदस्य व्यवस्थापिका में से लिए जाते हैं तथा वे अपने समस्त कार्यों और नीतियों के लिए व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होते हैं। मन्त्रिगण अपने पद पर तभी तक रहते हैं, जब तक उन्हें व्यवस्थापिका का विश्वास प्राप्त रहता है। व्यवस्थापिका अविश्वास का प्रस्ताव पारित करके मन्त्रिपरिषद को पदच्युत कर सकती है। इस प्रकार कार्यपालिका अपने जीवन और कार्य के लिए व्यवस्थापिका पर निर्भर रहती है। दूसरी ओर कार्यपालिका केवल शासन का संचालन ही नहीं करती अपितु यह नीति का निर्धारण भी करती है तथा कानून निर्माण से सम्बन्धित सम्पूर्ण प्रक्रिया में भाग लेती है। इस प्रकार कार्यपालिका व्यवस्थापन तथा प्रशासन दोनों से सम्बन्धित कार्यों का सम्पादन करती है।

(3) **कार्यपालिका का अनिश्चित कार्यकाल**—संसदीय शासन में वास्तविक कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिपरिषद का कार्यकाल अनिश्चित होता है। मन्त्रिपरिषद अपने पद पर तभी तक रहती है जब तक व्यवस्थापिका में उसे विश्वास प्राप्त रहता है। व्यवस्थापिका में विश्वास खो देने पर उसे तुरन्त पदत्याग करना पड़ता है।

(4) **सामूहिक उत्तरदायित्व**—संसदीय शासन का एक मुख्य लक्षण यह है कि मन्त्रिपरिषद सामूहिक रूप से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है। सामूहिक

---

1 'Cabinet Government is that system in which the real executive—the cabinet or ministry—is immediately and legally responsible to the legislature for its political policies and acts, and immediately or ultimately responsible to the electorate while the titular or nominal executive—the chief of state—occupies a position of irresponsibility."—Dr. Garner : *Political Science and Government*, p. 296.

उत्तरदायित्व से तात्पर्य यह है कि मन्त्रिमण्डल मे नीति सम्बन्धी महत्वपूर्ण निर्णय सामूहिक रूप से लिए जाते हैं। एक बार निर्णय हो जाने पर मन्त्रिपरिषद के सभी सदस्यो का यह कर्तव्य हो जाता है कि वे व्यवस्थापिका तथा जनता मे उसका समर्थन करें। इस तरह सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल एक इकाई के रूप मे कार्य करता है और शासन सम्बन्धी समस्त कार्यों के लिए सामूहिक रूप से जिम्मेदार होता है। एक मन्त्री की गलती के लिए सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल उत्तरदायी होता है। अत 'एक सबके लिए तथा सब एक के लिए हैं,' यह सामूहिक उत्तरदायित्व का आधार है। इसी कारण मन्त्रियों के बारे मे यह कहा जाता है कि, "वे एक साथ तैरते हैं तथा एक साथ डूबते हैं।"

(5) व्यक्तिगत उत्तरदायित्व—प्रत्येक मन्त्री का यह कर्तव्य है कि वह अपने विभाग का सुचारु रूप से संचालन करें। अत अपने विभाग से सम्बन्धित मामलो के लिए वह व्यक्तिगत रूप से भी व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होता है।

(6) प्रधानमन्त्री का नेतृत्व—संसदीय शासन मे प्रधानमन्त्री का पद सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है। वैसे तो सभी मन्त्री बराबर होते हैं परन्तु 'बराबर वालो मे प्रथम' होने के कारण प्रधानमन्त्री ही वास्तव में प्रधान कार्यपालिका होता है। वह मन्त्रिमण्डल का नेता होता है। अन्य सभी मन्त्री उसके नियन्त्रण मे कार्य करते हैं, वे उसकी इच्छा-पर्यन्त ही अपने पद पर रह सकते हैं तथा उसके त्यागपत्र देते ही सम्पूर्ण मन्त्रि मण्डल अपदस्थ हो जाता है। लास्की ने लिखा है कि "प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल के निर्माण, जीवन तथा मृत्यु का केन्द्र होता है।" मोर्ले के अनुसार, "वह मन्त्रिमण्डल रूपी मेहराब की आधारशिला है।" इसके अतिरिक्त प्रधानमन्त्री बहुमत दल का नेता होने के कारण संसद का भी नेता होता है।

(7) राजनीतिक एकरूपता—मन्त्रिमण्डल की एकता, सामूहिक उत्तरदायित्व तथा गोपनीयता के लिए यह आवश्यक है कि उसके सभी सदस्य एक ही राजनीतिक दल के हों तथा उनके राजनीतिक सिद्धान्त एव विचार समान हों। इसी को राजनीतिक एकरूपता कहते हैं। कभी-कभी परिस्थितिवश समान विचारधारा वाले विभिन्न दल मिलकर संयुक्त मन्त्रिमण्डल भी बनाते हैं।

संसदीय शासन के गुण—संसदीय शासन मे निम्नलिखित गुण पाये जाते हैं .

(1) व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका में पारस्परिक सहयोग—संसदीय शासन के सम्बन्ध मे यह कहा जाता है कि यही एकमात्र ऐसी प्रणाली है जिसमे व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका मे सामजस्य एव सहयोग बना रहता है। इसमे मन्त्रि-परिषद जो वास्तविक कार्यपालिका होती है, पूरी तरह व्यवस्थापिका पर निर्भर रहती है तथा उसके प्रति उत्तरदायी होती है। इसके फलस्वरूप शासन के इन दोनो अंगो मे न तो कोई मतभेद ही होता है और न किसी प्रकार का गत्यावरोध ही होता है जैसा उन देशो मे प्राय होता है जिनमे अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली होती है। इन दोनों अंगों के पारस्परिक सहयोग के कारण श्रेष्ठ कानूनो का निर्माण सम्भव होता

है, शासन का सचालन जन हित मे होता है तथा शासन कार्य कुशलता के साथ हो पाता है। —गार्नर

(2) **लोकमत के प्रति उत्तरदायी शासन व्यवस्था**—ससदीय शासन ही एकमात्र ऐसी प्रणाली है जिसमें कार्यपालिका के उत्तरदायित्व की प्रभावकारी ढग से व्यवस्था की गई है। इसमें मन्त्रिगण प्रत्यक्ष रूप से व्यवस्थापिका के प्रति तथा अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचक मण्डल के प्रति उत्तरदायी होते हैं। उन्हें जनता की इच्छा के अनुसार अपनी नीतियो तथा कार्यों का सचालन करना पडता है अन्यथा वे कभी भी पदच्युत किये जा सकते हैं। इस प्रकार इस शासन व्यवस्था मे लोकमत को उचित आदर प्राप्त होता है। लोकमत के अनुसार शासन का सचालन होता है तथा लोकहित की साधना होती है। लोकमत की अवहेलना करके मन्त्रिमण्डल अधिक समय तक सत्तारूढ नही रह सकता।

(3) **शासन की निरकुशता पर रोक**—ससदीय शासन मे मन्त्रिमण्डल निरकुश नही हो पाता क्योंकि ससद के अन्दर तथा ससद के बाहर विरोधी दल उसकी आलोचना करके उसे सीमा मे ही कार्य करते रहने को विवश करते हैं। ससद सदस्य प्रश्न, निन्दा प्रस्ताव, कामरोको प्रस्ताव तथा कटौती प्रस्ताव आदि के द्वारा मन्त्रिमडल पर नियन्त्रण रखते हैं। मन्त्रिमण्डल को सबसे बडा भय यह रहता है कि उसके मनमानेपन के कारण ससद अथवा व्यवस्थापिका उसके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास करके उसे कही पदच्युत न करदे। भारत तथा इगलैण्ड मे ऐसे अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं जब ससद के दबाव के कारण किसी मन्त्री को भ्रष्टाचार, चरित्रहीनता अथवा अक्षमता के कारण त्याग पत्र देने के लिए बाध्य होना पडता है।

(4) **लचीली व्यवस्था**—ससदीय शासन का एक प्रमुख गुण उसका लचीलापन अथवा अवसर के अनुकूल उसकी परिवर्तनशीलता है। बेजहॉट के शब्दो मे, 'इस प्रणाली मे राष्ट्रीय सकट के समय जनता उस समय के लिए अपना ऐसा शासक चुन सकती है जो ऐसे अवसर पर राष्ट्र का पथ-प्रदर्शन बडी योग्यता के साथ कर सकता हो।'' जैसा कि द्वितीय महायुद्ध के समय इगलैण्ड मे चेम्बरलेन के स्थान पर चर्चिल को प्रधानमन्त्री बनाया गया था। अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली मे ऐसा लचीलापन नही है क्योंकि वहाँ राष्ट्रपति एक निश्चित अवधि के लिए चुना जाता है। तथा उस अवधि से पूर्व चाहे वह अयोग्य हो उसे पद से हटाया नही जा सकता है। इसके अतिरिक्त ससदीय शासन मे सकट के समय सभी राजनीतिक दलो का सहयोग प्राप्त करने के लिए मिले-जुले मन्त्रिमण्डल का निर्माण भी किया जा सकता है। अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली मे ऐसी व्यवस्था भी नही है।

(5) **योग्य एव अनुभवी व्यक्तियों का शासन**—ससदीय शासन मे शासन की बागडोर योग्य तथा अनुभवी व्यक्तियो के हाथों मे रहती है, इस प्रणाली मे साधारणतया ऐसे लोग ही मन्त्रि पद पर नियुक्त किये जाते हैं जो अपने राजनीतिक दल तथा देश की राजनीति मे बहुत अधिक लोकप्रिय होते हैं और जो अपनी योग्यता एव अनुभव

के कारण शासन के कार्य में कुशल होते हैं। जनता के प्रतिनिधि होने के कारण उनके द्वारा शासन का सचालन जनहित को ध्यान में रखकर किया जाता है। ये दोनो बातें अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में सम्भव नहीं होती क्योंकि इसके अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल के सदस्य राष्ट्रपति के द्वारा अपनी इच्छानुसार नियुक्त किये जाते हैं। डायसी तथा लास्की ने ससदीय प्रणाली के इस गुण पर जोर दिया है।

(6) राजनीतिक चेतना एव शिक्षा—डॉ० आशीर्वादम् के शब्दो मे, "जनता को राजनीतिक तौर पर शिक्षित करने के लिए ससदीय प्रणाली बहुत उपयोगी है। विभिन्न दलों का होना, समय-समय पर चुनावों का होना तथा दलो की ओर से किये जाने वाले प्रचार जनता में राजनीतिक चेतना पैदा कर देते हैं।" ससद में विरोधी राजनीतिक दलो के द्वारा जो विचार व्यक्त किये जाते हैं तथा मन्त्रिमण्डल के सदस्यो के द्वारा अपनी नीतियो तथा कार्यों का जो समर्थन किया जाता है, ये सब बातें समस्या के प्रत्येक पहलू का ज्ञान कराती हैं तथा इनसे जनता में राजनीतिक चेतना आती है।

(7) विरोधी दलों का महत्त्व—इस प्रणाली के अन्तर्गत प्राय एक या एक से अधिक विरोधी दल होते हैं। इससे दो प्रमुख लाभ होते हैं एक तो, विरोधी दल सरकार के अनुचित कार्यों की आलोचना करके तथा उसे अपने रचनात्मक सुझाव देकर जनता की सेवा करते हैं तथा दूसरे, वर्तमान मन्त्रिमण्डल के अपदस्थ हो जाने पर वे देश के शासन की जिम्मेदारी सम्भालने के लिए तैयार रहते हैं।

(8) निर्णय में शीघ्रता एव उत्तरदायित्व की निश्चितता लॉर्ड ब्राइस ने ससदीय शासन के इस गुण का विशेष उल्लेख किया है। उसके अनुसार, "मन्त्रिपरिषद को व्यवस्थापिका के बहुमत का समर्थन प्राप्त होता है और इस कारण इस प्रणाली मे कार्य में स्फूर्ति तथा निर्णय में शीघ्रता सुनिश्चित की जा सकती है और मन्त्रि-परिषद आवश्यक कानूनों का निर्माण करा सकती है। इसमे एक गुण यह भी है कि इसमें उत्तरदायित्व केन्द्रित होता है। त्रुटियों के लिए व्यवस्थापिका मन्त्रियों को तथा जनता मन्त्रियों एव व्यवस्थापिका के बहुमत दोनो को दोष दे सकती है।"[1]

(9) लोकतन्त्र के विकास में सहायक—ससदीय शासन व्यवस्था ने लोकतन्त्र के विकास में भी सहायता दी है। इस शासन प्रणाली ने ही ब्रिटेन के वशानुगत निरंकुश राजतन्त्र को व्यवहार में लोकतन्त्रीय बनाया है। जापान में भी राजतन्त्रीय व्यवस्था का लोकतन्त्रीकरण इसी शासन व्यवस्था की देन है। इस व्यवस्था मे राज्य का अध्यक्ष राजनीतिक दलबन्दी से परे रहता है। वह राष्ट्र की एकता का प्रतीक होता है तथा राष्ट्रीय जीवन को स्थायित्व प्रदान करता है।

ससदीय शासन के दोष—उपरोक्त गुणो के साथ साथ ससदीय शासन प्रणाली मे कुछ दोष भी पाये जाते हैं, जो निम्नलिखित हैं ·

(1) शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त के प्रतिकूल—ससदीय शासन शक्ति पृथक्करण

1 Bryce : *Modern Democracies*, Vol. II, p 464,

के सिद्धान्त के प्रतिकूल है जिसे लोकतन्त्र का आधार माना जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार सरकार की तीनों शक्तियाँ—व्यवस्थापन, शासन तथा न्याय सम्बन्धी पृथक पृथक तथा एक-दूसरे से स्वतन्त्र अंगों के हाथों में रहनी चाहिए। ऐसा न होने पर नागरिकों की स्वतन्त्रता खतरे में पड़ जाती है, परन्तु संसदीय शासन में शक्ति पृथक्करण सम्भव नहीं है क्योंकि इसमें अन्तर्गत कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होती हैं।

(2) *उग्र राजनीतिक दलबन्दी*—संसदीय शासन प्रणाली राजनीतिक दलबन्दी की भावना को निरन्तर उत्तेजित करती रहती है। इसमें सत्तारूढ़ दल का कार्य अपने दल के हितों की दृष्टि से शासन चलाना तथा शासन-सत्ता पर अपना अधिकार बनाये रखना होता है और विरोधी दलों का कार्य सत्तारूढ़ दल के प्रत्येक कार्य का विरोध करना तथा शासन सत्ता को हथियाना होता है। इस प्रकार दोनों के बीच निरन्तर संघर्ष तथा मतभेद का वातावरण बना रहता है। लार्ड ब्राइस ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि, 'यह प्रणाली दलबन्दी की भावना को बढ़ाती है तथा सदैव उसे तीव्र बनाये रखती है। यदि राष्ट्र के सम्मुख नीति सम्बन्धी कोई महत्वपूर्ण प्रश्न न भी हों, तो भी पदों की प्राप्ति के लिए संघर्ष सदैव बना ही रहता है। वे एक दल के हाथ में होते हैं और दूसरा दल उन्हें प्राप्त करना चाहता है और यह संघर्ष कभी समाप्त नहीं होता।'[1]

(3) *बहुमत दल की तानाशाही का भय*—संसदीय शासन प्रणाली में शासन की सम्पूर्ण शक्ति उस दल के हाथों में आ जाती है जिसका व्यवस्थापिका में बहुमत होता है। बहुमत होने के कारण सत्तारूढ़ दल अपनी मनमानी कर सकता है तथा जन-साधारण के हितों की उपेक्षा कर सकता है। इसके अतिरिक्त सत्तारूढ़ दल सत्ता को अपने हाथ में बनाये रखने के लिए भ्रष्ट उपायों तक को अपनाने से नहीं चूकता। वह सार्वजनिक हित के स्थान पर दलीय हित-साधन की दृष्टि से शासन करता है। इस प्रकार इस शासन-प्रणाली में बहुमत दल की तानाशाही कायम हो जाती है।

(4) *मन्त्रिमण्डल की अस्थिरता*—संसदीय शासन में मन्त्रिमण्डल की अस्थिरता पायी जाती है क्योंकि इसके अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल का कार्यकाल निश्चित न होकर व्यवस्थापिका के विश्वास पर आधारित होता है। जिन देशों में छोटे-छोटे अनेक राजनीतिक दल होते हैं तथा किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत न मिलने के कारण संयुक्त मन्त्रिमण्डल बनते हैं, वहाँ तो मन्त्रिमण्डल की अस्थिरता और भी स्पष्ट देखने

---

1 "It intensifies the spirit of party and keeps it always on the boil. *Even if there are no important issues of policy before the nation, there are always the offices to be fought for.* One party holds them, the other desires them and the conflict is unending."—**Lord Bryce** : *Modern Democracies*, Vol II, pp. 466-468.

को मिलती है। उदाहरणार्थ, सन् 1873 से 1926 तक फ्रांस में 75 मन्त्रिमण्डल बने तथा चौथे आम चुनाव के बाद भारत के अनेक राज्यों में भी यही बात देखी गयी है। इस अस्थिरता के कारण मन्त्रिमण्डल के लिए दीर्घकालीन योजनाएँ बनाना तथा उनको कार्यान्वित करना बहुत कठिन हो जाता है।

(5) शीघ्र निर्णय का अभाव—संसदीय शासन में कार्यपालिका शक्ति किसी एक व्यक्ति में निहित न होकर समूचे मन्त्रिमण्डल में निहित होती है। शासन तथा नीति सम्बन्धी समस्त महत्त्वपूर्ण निर्णय मन्त्रिमण्डल के द्वारा सामूहिक रूप से लिए जाते हैं। प्रधानमन्त्री अकेला स्वयं कोई निर्णय नहीं ले सकता। इसके कारण शासन सम्बन्धी शीघ्र निर्णय लेने में कठिनाई होती है। इसके अतिरिक्त सबके द्वारा मिलकर निर्णय लिए जाने के कारण निर्णयों को गुप्त रखने में और भी कठिनाई होती है तथा निर्णयों की गोपनीयता प्रकट हो जाने का डर रहता है। युद्ध अथवा संकट के समय निर्णय लेने में विलम्ब देश के लिए घातक सिद्ध हो सकता है।

(6) अक्षम व्यक्तियों का शासन—संसदीय शासन में मन्त्रियों का चयन उनकी योग्यता तथा प्रशासनिक अनुभव के आधार पर नहीं किया जाता बल्कि राजनीतिक दल में उनकी स्थिति तथा उनकी लोकप्रियता के आधार पर किया जाता है। मन्त्रिमण्डल में प्रायः अधिकतर मन्त्री ऐसे होते हैं जिन्हें पहले शासन कार्य का कोई अनुभव प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार शासन की बागडोर अनाड़ी व्यक्तियों के हाथों में सौंप दी जाती है। डॉ० आशीर्वादम् के शब्दों में "मन्त्रिमण्डलीय शासन को नौसिखियों (amateurs) का शासन कहा जाता है क्योंकि यह ऐसे लोगों की सरकार होती है जो शासन कला में विशेषज्ञ नहीं होते।" मन्त्रियों की इस अज्ञानता के कारण शासन की सम्पूर्ण शक्ति स्थायी अधिकारियों के हाथों में आ जाती है और प्रशासन में नौकरशाही का बोलबाला हो जाता है।

(7) मन्त्रिमण्डल की तानाशाही की प्रवृत्ति—संसदीय शासन में प्रायः यह प्रवृत्ति देखने को मिलती है कि बहुमत होने के कारण व्यवहार में शासन की सम्पूर्ण शक्ति मन्त्रिमण्डल में केन्द्रित हो जाती है तथा संसद मन्त्रियों के निर्णय को स्वीकार करने वाली संस्था बनकर रह जाती है। मन्त्रिमण्डल व्यवहार में उन कार्यों को भी करने लगता है जो व्यवस्थापिका के अधिकार क्षेत्र में आते हैं। उदाहरणार्थ, वही कानूनों का निर्माण करता है तथा वही यह निश्चय करता है कि जनता पर कौन से कर लगाये जायें तथा कौन से समाप्त किये जायें। संसद का कार्य तो मन्त्रिमण्डल द्वारा लिए गये निर्णयों पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगाना मात्र रह जाता है। इस प्रकार मन्त्रिमण्डल के ऊपर संसद का नियन्त्रण केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से होता है, व्यवहार में, मन्त्रिमण्डल ही संसद पर नियन्त्रण रखता और इस प्रकार संसदीय शासन में मन्त्रिमण्डल की तानाशाही स्थापित हो जाती है। प्रो० लास्की ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि 'यह प्रणाली कार्यपालिका को अत्याचार के लिए अवसर प्रदान करती है और व्यवस्थापिका मन्त्रियों के निर्णयों को स्वीकार करने वाली संस्था

बनकर रह जाती है जिनकी [redacted] वह आलोचना कर सकती है और [redacted] जिनमे परिवर्तन हो कर सकती है।"[1]

(8) प्रशासनिक कार्य की उपेक्षा—मन्त्रिमण्डल के सदस्यो को अपनी लोकप्रियता बनाये रखने के लिए मतदाताओ से निरन्तर सम्पर्क बनाये रखना पडता है। उन्हे उनको खुश रखने के लिए अनेक कार्य करने पडते हैं तथा उनका बहुत-सा समय कानून निर्माण के कार्य मे चला जाता है। इसके परिणामस्वरूप वे शासन सम्बन्धी कार्यों पर पर्याप्त ध्यान नही दे पाते। सिजविक का कथन है कि "मन्त्रियों को कानून निर्माण से सम्बन्धित कार्य इतने अधिक करने पडते हैं कि वे कार्यपालिका [redacted] सम्बन्धित कार्यों को ठीक प्रकार से नहीं कर पाते हैं।"

(9) सकटकाल के लिए अनुपयुक्त—प्रसिद्ध विद्वान डायसी का मत है कि 'ससदीय प्रणाली बहुसख्यक कार्यपालिका का शासन है और इसी कारण यह युद्ध अथवा सकटकाल मे विशेषत निर्बल होता है।" इसका कारण यह कि शासन का कार्य अनेक मन्त्रियो के बीच विभाजित रहता है तथा पर्याप्त वाद-विवाद के पश्चात् ही किसी निर्णय पर पहुँचा जाता है। अत इस प्रणाली मे सकटकालीन अवस्था मे तत्काल कार्यवाही करने की तत्परता और क्षमता की कमी होती है।

(10) नीतियो मे सन्तुलन का अभाव—जिन देशो म ससदीय शासन की स्थापना की गई है तथा जहाँ अनेक छोटे-छोटे राजनीतिक दल हैं, वहाँ व्यवस्थापिका मे किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नही हो पाता। ऐसी स्थिति मे सयुक्त मन्त्रिमण्डलों का निर्माण किया जाता है। अत बॉन (Bonn) के शब्दो मे, "वे दुर्बल, शक्तिहीन तथा अल्पकालिक होते हैं।, गानर के अनुसार, "इसका परिणाम यह होता है कि मन्त्रिमण्डलो का निर्माण तथा पतन शीघ्रता से होता रहता है और शासन सचालन मे स्थिरता तथा नीतियों मे सन्तुलन का अभाव रहता है।"

ससदीय व्यवस्था की सफलता के लिए अनिवार्य परिस्थितियाँ

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ससदीय शासन अनेक दोषो से ग्रस्त है तथा वह साधारण जनता की आकाक्षाओ को पूरा करने मे सफल नही रहा है। फिर भी कुछ दशाएँ और आवश्यकताएँ ऐसी हैं जिनके पूरा होने पर ससदीय लोकतन्त्र का सफल क्रियान्वन सम्भव है। ये आवश्यकताएँ एव परिस्थितियाँ निम्नलिखित हैं :

(1) उदारवादी शिक्षा—ससदीय लोकतन्त्र की सफलता के लिए उदारवादी शिक्षा का होना आवश्यक है। उदार शिक्षा से तात्पर्य ऐसी शिक्षा से है जिसमे विचारो का स्वतन्त्रतापूर्वक आदान प्रदान हो। इसके अतिरिक्त शिक्षा का प्रसार किया

1 'It certainly gives the executive an opportunity for tyranny and legislature may be reduced an organ of registration for decision "—H J Laski : *Grammar of Politics*, [redacted] 347.

जाए, शिक्षा के स्तर को ऊँचा उठाया जाए तथा लोगों को नैतिक शिक्षा प्रदान की जाए। अच्छी शिक्षा से लोगों के अन्दर नागरिक गुणों का विकास होगा।

(2) स्वस्थ राजनीतिक दल—संसदीय व्यवस्था के सफल क्रियान्वन के लिए यह आवश्यक है कि राजनीतिक दलों का गठन सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक सिद्धान्तों के आधार पर होना चाहिए, साम्प्रदायिक आधार पर नहीं। संकुचित धारणा पर आधारित राजनीतिक दल इसकी सफलता में बाधक बन जाते हैं।

(3) शक्तिशाली तथा प्रभावशाली विरोधी दल—संसदीय व्यवस्था के सफल क्रियान्वन के लिए एक शक्तिशाली तथा प्रभावशील विरोधी दल का होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके अभाव में सरकार निरंकुश हो जाती है तथा अपनी सत्ता का दुरुपयोग करने लगती है किन्तु संगठित विरोधी दल सरकार के कार्यों की आलोचना करके उनके मनमाने कार्यों पर रोक लगा सकता है।

(4) सामाजिक समता की स्थापना—संसदीय व्यवस्था की सफलता के लिए सामाजिक समता की स्थापना अत्यन्त आवश्यक है। सामाजिक समता का तात्पर्य यह है कि समाज में जाति, धर्म या लिंग के आधार पर कोई भेदभाव न हो। भाषागत तथा प्रादेशिक भेदभाव भी लोकतन्त्र को ठेस पहुँचाते हैं। लोकतन्त्र के लिए यह आवश्यक है कि उसके द्वार सबके लिए खुले हों और सभी व्यक्तियों को बिना किसी भेदभाव के समान अवसर प्राप्त हो।

(5) आर्थिक विषमता का अन्त—संसदीय व्यवस्था के सफल क्रियान्वन के लिए यह आवश्यक है कि देश में आर्थिक विषमता का अन्त हो तथा आर्थिक न्याय की स्थापना हो। आर्थिक न्याय से तात्पर्य यह है कि देश के सभी व्यक्तियों को जीवन के विकास के लिए समान आर्थिक सुविधाएँ मिलें तथा उनकी अनिवार्य आवश्यकताएँ पूरी हों किसी भी देश में जहाँ अधिकतर लोग अत्यन्त निर्धनता का जीवन व्यतीत करते हों। तथा कुछ लोग ऐश्वर्य से रहते हो संसदीय शासन सफलतापूर्वक नहीं चल सकता। ऐसी स्थिति में मतदाता या तो अपने मत को बेचने के लिए विवश हो जायगा या किसी दबाव के आगे झुक जायगा।

(6) लोकतन्त्र में विश्वास—संसदीय व्यवस्था की सफलता के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि व्यक्तियों का लोकतान्त्रिक मूल्यों में विश्वास होना चाहिए। उदाहरणार्थ, लोगों में भाई-चारे की भावना होनी चाहिए, उन्हें दूसरों की भावनाओं तथा मतों का आदर करना चाहिए तथा मतभेदों को शान्तिपूर्ण ढंग से हल करना चाहिए। उन्हें हिंसा के स्थान पर संवैधानिक साधनों को अपनाना चाहिए।

(7) नागरिकों की जागरूकता—संसदीय व्यवस्था की सफलता के लिए नागरिकों का जागरूक होना भी आवश्यक है। उन्हें सार्वजनिक कार्यों में सक्रिय रूप से भाग लेना चाहिए। आवश्यकता पड़ने पर सरकार के कार्यों की निर्भय होकर आलोचना करनी चाहिए तथा सरकार को उसके अच्छे कार्यों में पूर्ण सहयोग देना चाहिए। नागरिकों को सही रूप में अपने अधिकारों का उपभोग तथा कर्तव्यों का पालन

करना चाहिए। 'स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र की रक्षा का मूल्य निरन्तर जागरूकता', माना जाता है।

(8) विवेकशील नेतृत्व—संसदीय व्यवस्था की सफलता विवेकशील नेतृत्व पर निर्भर करती है। अतः यह आवश्यक है कि देश के नेताओं का चरित्र उच्च, संकल्प दृढ़ तथा निर्णय विवेकपूर्ण हो और उनमें पहल करने की क्षमता हो। ऐसा कहा जाता है कि संसदीय व्यवस्था में शासन कुछ व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित हो जाता है, अतः यह आवश्यक हो जाता है कि वे लोग समुचित योग्यता व सेवा-भाव लिए हुए हों।

(9) नागरिकों का उच्च-चरित्र—संसदीय व्यवस्था की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि नागरिकों का चरित्र उच्चकोटि का हो। वे ईमानदार, कर्तव्यपरायण, सेवा-भावी तथा निस्वार्थी हों। वे संकीर्ण हितों के स्थान पर राष्ट्रीय हितों को प्रमुखता दें। शक्ति-प्राप्ति की चाह तथा सम्पत्ति का आकर्षण उन्हें उनके मार्ग से विचलित न कर सके। ऐसे उच्च चरित्र वाले नागरिकों के अभाव में संसदीय शासन विफल हो जाता है।

(10) प्रेस की स्वतन्त्रता—संसदीय व्यवस्था के सफल क्रियान्वन के लिए प्रेस की स्वतन्त्रता अत्यन्त आवश्यक है जिससे लोगों को निष्पक्ष और सही समाचार प्राप्त होते रहें। स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष प्रेस जनता को सरकार की नीतियों तथा घटनाओं से परिचित कराते हैं और साथ ही जनता की शिकायतों तथा कष्टों को सरकार तक पहुँचाने में सहायता देते हैं। इस प्रकार निष्पक्ष एवं स्वतन्त्र प्रेस के माध्यम से जनता और सरकार के बीच स्वस्थ सम्बन्ध स्थापित किये जा सकते हैं।

(11) स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका—संसदीय शासन की सफलता के लिए स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका का होना भी आवश्यक है। व्यवस्थापिका दलीय हित में संविधान को तोड़-मरोड़ सकती है तथा कार्यपालिका अपने दल के बहुमत के कारण इसकी अवहेलना कर सकती है। व्यवस्थापिका तथा शासन सम्बन्धी शक्तियाँ दोनों एक ही दल के हाथों में केन्द्रित हो जाने के कारण नागरिकों की स्वतन्त्रता तथा अधिकारों को खतरा उत्पन्न हो सकता है। अतः देश के संविधान की रक्षा करने के लिए, व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका को अपनी सीमा में रखने के लिए तथा नागरिकों के अधिकारों की रक्षा के लिए निष्पक्ष एवं स्वतन्त्र न्यायपालिका का होना आवश्यक है।

(12) स्थानीय स्वशासन—संसदीय लोकतन्त्र की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि स्थानीय स्तर पर भी स्वशासन के अधिकाधिक अवसर प्रदान किये जाएँ जिससे नागरिक सार्वजनिक कार्यों में सक्रिय रूप से भाग ले सकें। स्थानीय संस्थाएँ एक प्रकार से छोटी विधानसभाएँ होती हैं। इनके माध्यम से लोगों को प्रशासन का आवश्यक प्रशिक्षण मिल जाता है। वस्तुतः स्थानीय संस्थाएँ लोगों में राजनीतिक चेतना जाग्रत करने में तथा छोटे स्तर पर लोगों को शासन का प्रशिक्षण प्रदान करते

में 'प्रारम्भिक विद्यालयों के रूप में' काम करती हैं। ये उत्तरदायी नागरिक बनाने में तथा सेवा-भावी प्रतिनिधि तैयार करने में सहायता देती हैं।

(13) मौलिक बातों में मतैक्य—संसदीय लोकतन्त्र के सफल क्रियान्वन के लिए यह भी आवश्यक है कि मौलिक बातों पर राजनीतिक दलों में मतैक्य हो। इसका तात्पर्य यह है कि देश में संसदीय शासन को बनाये रखने के सम्बन्ध में सभी राजनीतिक दल एकमत हों। ऐसा न हो कि देश में एक राजनीतिक दल संसदीय शासन व्यवस्था चाहता हो तथा दूसरा राजनीतिक दल अध्यक्षीय शासन-व्यवस्था चाहता हो। इस मतभेद में संसदीय शासन-प्रणाली को एक गम्भीर खतरा पैदा हो सकता है।

निष्कर्ष—यह सत्य है कि संसदीय शासन में कुछ दोष हैं परन्तु इसके बावजूद भी संसार के अधिकांश राज्यों ने शासन की इसी व्यवस्था को अपनाया है। अन्य शासन प्रणालियों की तुलना में यह अधिक लोकतान्त्रिक है। इसमें कार्यपालिका जनता के प्रतिनिधियों के प्रति तथा अन्तिम रूप में जनता के प्रति उत्तरदायी रहती है। इसमें व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका में घनिष्ठ सहयोग रहने के कारण शासन कुशलतापूर्वक तथा जनहित में चलता है। यदि देश में उपरोक्त आवश्यकताएँ विद्यमान हों तो संसदीय शासन की सफलता में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता।

अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था

अध्यक्षात्मक शासन का अर्थ—अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था का आधार शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त है। प्रथम तो, इस शासन-प्रणाली में कार्यपालिका व्यवस्थापिका से पूर्णतया पृथक तथा स्वतन्त्र होती है और अपनी नीतियों के लिए व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होती। द्वितीय, इस शासन-प्रणाली में कार्यपालिका का प्रधान अर्थात् राष्ट्रपति केवल नाममात्र का प्रधान नहीं होता बल्कि वह वास्तविक शासक होता है और वह संविधान द्वारा दी गयी समस्त शक्तियों का प्रयोग करता है। तृतीय, वह जनता का निर्वाचित प्रतिनिधि होता है तथा उसका कार्यकाल निश्चित रहता है। उसे प्रधानमन्त्री की तरह आसानी से व्यवस्थापिका द्वारा पद से नहीं हटाया जा सकता। चतुर्थ, इस प्रणाली में भी एक मन्त्रिपरिषद् होती है परन्तु मन्त्रिपरिषद् के सदस्य न तो व्यवस्थापिका में से लिए जाते हैं, न वे व्यवस्थापिका की कार्यवाहियों में भाग लेते हैं और न वे व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी ही होते हैं। वे राष्ट्रपति के द्वारा अपनी इच्छानुसार नियुक्त किये जाते हैं तथा राष्ट्रपति के प्रति ही उत्तरदायी होते हैं। वे राष्ट्रपति की इच्छा-पर्यन्त ही अपने पद पर रहते हैं। पंचम, इस प्रणाली में संसदीय शासन के समान कार्यपालिका के द्वारा व्यवस्थापिका को भंग भी नहीं किया जा सकता।

गार्नर के अनुसार, 'अध्यक्षात्मक शासन वह व्यवस्था होती है जिसमें कार्यपालिका अर्थात् राज्य का अध्यक्ष एवं उसके मन्त्री, अपने कार्यकाल के सम्बन्ध में व्यवस्थापिका के नियन्त्रण से पूर्णतया स्वतन्त्र होते हैं और अपनी राजनीतिक नीतियों

के लिए वे उसके प्रति उत्तरदायी भी नहीं होते हैं।"[1] गैटल ने भी इस व्यवस्था की ऐसी ही परिभाषा देते हुए लिखा है कि, "अध्यक्षात्मक शासन वह प्रणाली है जिसमें कार्यपालिका [redacted] प्रधान अपने कार्यकाल तथा बहुत कुछ सीमा तक अपनी नीतियों एवं कार्यों के लिए व्यवस्थापिका से स्वतन्त्र होता है।"

अध्यक्षात्मक शासन की विशेषताएँ—अध्यक्षात्मक शासन की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

(1) कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका का पृथक्करण—इस शासन-प्रणाली का आधार शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त है। इनके अन्तर्गत कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका एक दूसरे से पृथक तथा स्वतन्त्र रहती हैं। इसमें कार्यपालिका के सदस्य न तो व्यवस्थापिका में से लिए जाते हैं और न वे व्यवस्थापिका की कार्यवाहियों में भाग ही लेते हैं। दोनों अंगों के कार्य बिलकुल अलग-अलग होते हैं। व्यवस्थापिका का कार्य कानूनों का निर्माण करना तथा कार्यपालिका का कार्य शासन का संचालन करना है।

(2) उत्तरदायित्व का अभाव—इस शासन-प्रणाली में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होती है। व्यवस्थापिका न तो कार्यपालिका के सदस्यों से प्रश्न ही पूछ सकती है और न अविश्वास प्रस्ताव पास करके उसे पदच्युत ही कर सकती है।

(3) नाममात्र की तथा वास्तविक कार्यपालिका में भेद नहीं—अध्यक्षात्मक शासन में राज्य का प्रमुख अर्थात् राष्ट्रपति संसदीय शासन के समान केवल नाममात्र का अध्यक्ष नहीं होता अपितु उसकी शक्तियाँ वास्तविक होती हैं। वह राज्य तथा शासन दोनों का प्रधान होता है तथा कार्यपालिका की समस्त शक्तियों का प्रयोग वही करता है। इस प्रकार अध्यक्षात्मक शासन में नाममात्र की तथा वास्तविक कार्यपालिका अलग-अलग नहीं होती है।

(4) कार्यपालिका का निश्चित कार्यकाल—इस प्रणाली में कार्यपालिका का प्रधान अर्थात् राष्ट्रपति एक निश्चित अवधि के लिए निर्वाचित होता है। व्यवस्थापिका अविश्वास प्रस्ताव पास करके उस अवधि से पहले उसे पदच्युत नहीं कर सकती। निश्चित अवधि से पूर्व केवल महाभियोग लगाकर ही उसे पद से हटाया जा सकता है, परन्तु महाभियोग लगाने की प्रक्रिया बहुत कठिन होती है।

1 "Presidential Government is that system in which the executive (including both the head of the state and his ministers) is constitutionally independent of the legislature in respect to the duration of his or their tenure and irresponsible to it for his or their political policies." – Dr Garner *Political Science and Government*, pp. 311 12

अध्यक्षात्मक शासन के गुण—अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था के निम्नलिखित गुण बताये जाते हैं

(1) शासन में एकता व दृढ़ता —इस शासन व्यवस्था में समस्त कार्यपालिका शक्तियाँ राष्ट्रपति में निहित होती हैं। मन्त्रियों को उसके द्वारा निर्दिष्ट नीति का पालन करना होता है। इसमें विभाजित नीति का कोई प्रश्न नहीं होता। अतः प्रशासन में पूर्ण एकता बनी रहती है। इसके अतिरिक्त इसमें कार्यपालिका के प्रधान का कार्यकाल निश्चित होता है, इसलिए सरकार की नीति को बिना किसी भय या बाधा के सफलतापूर्वक चलाया जा सकता है। इसमें सभी शक्तियाँ एक ही व्यक्ति के पास रहने के कारण प्रशासन में दृढ़ता तथा निर्णय में तत्परता भी पाई जाती है।

(2) शासन में स्थायित्व—अध्यक्षात्मक शासन का एक प्रमुख गुण शासन में स्थायित्व है क्योंकि इस प्रणाली में स्थायी कार्यपालिका की सृष्टि हो जाती है। कार्यपालिका का कार्यकाल निश्चित होने के कारण राष्ट्रपति तथा उसके मन्त्री शासन के सम्बन्ध में दीर्घकालीन योजनाएँ बना सकते हैं तथा पूरे आत्म विश्वास के साथ अपनी नीतियों को क्रियान्वित कर सकते हैं। श्री मोहम्मद करीम छागला ने इस सम्बन्ध में कहा है कि "अध्यक्षात्मक पद्धति व्यवस्थापिका के नियन्त्रण से स्वतन्त्र एक स्थायी कार्यपालिका की व्यवस्था करके स्थायित्व प्रदान करती है।"[1]

(3) शासन में कुशलता—अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में कार्यपालिका का कार्य-क्षेत्र प्रशासन तक सीमित रहता है। राष्ट्रपति तथा मन्त्री न तो विधायी कार्यों में भाग लेते हैं और न व्यवस्थापिका को खुश रखने के लिए ही प्रयत्नशील रहते हैं। इसलिए प्रशासनिक कार्य करने के लिए उनके पास अधिक समय रहता है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति ऐसे लोगों को मन्त्रिपद पर नियुक्त करता है जो विभिन्न विभागों के कार्यों में दक्ष होते हैं। इन सबके परिणामस्वरूप शासन में कुशलता आ जाती है। मैरियट ने इस शासन-पद्धति के दो लाभों की चर्चा करते हुए लिखा है कि "इस व्यवस्था में मन्त्रियों को बार बार व्यवस्थापिका में नहीं जाना पड़ता है, इससे वे अपने शासन सम्बन्धी कार्यों को अच्छी तरह करते हैं। दूसरी ओर व्यवस्थापिका के सदस्य भी पूर्णरूप से अपना मस्तिष्क विधि निर्माण में ही लगाते हैं क्योंकि उन्हें अपने विशेष कार्य से ही मतलब रहता है।"[2]

---

1 "A Presidential system by giving a permanent executive independent of the legislature, ensured stability." —M. C. Chagla

2 "In this form of government, there is a real gain of efficiency of administration, because ministers are not distracted by the necessity of constant attendance in the legislature and the efficiency of legislation, because the minds of the legislatures are concentrated upon their special function."—J. A. R. Marriott

(4) **दलबन्दी के दोषों से कमी**—यद्यपि अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में भी राजनीतिक दल होते हैं परन्तु इसमें दलीय प्रवृत्ति के पनपने की बहुत कम सम्भावना रहती है। इस प्रणाली में अनावश्यक विरोधी दल भी नहीं पनप पाते हैं। राजनीतिक दलबन्दी की भावना केवल राष्ट्रपति के चुनाव के समय ही प्रकट होती है। चूँकि राष्ट्रपति को निश्चित अवधि से पूर्व पदच्युत नहीं किया जा सकता है, अतः चुनाव हो जाने के बाद दलों की सरगर्मी भी ठण्डी हो जाती है। फलस्वरूप दलबन्दी से उत्पन्न दोष इस प्रणाली में नहीं पनप पाते हैं। ब्राइस का मत है, कि "संसदीय शासन की तुलना में अध्यक्षात्मक शासन में दलबन्दी की बुराइयाँ कम हो जाती हैं और राष्ट्रीय एकता का संवर्द्धन होता है।"

(5) **विभिन्नताओं वाले राज्यों के लिए उपयुक्त**—जिन राज्यों में भाषा, धर्म तथा संस्कृति सम्बन्धी विभिन्नताएँ होती हैं तथा जिनमें विभिन्न प्रकार के स्वार्थों वाले विभिन्न समुदाय रहते हैं, उन देशों के लिए अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली ही सर्वाधिक उपयुक्त है। इसी तरह जिन राज्यों में बहु-दलीय प्रणाली होती है, उन राज्यों में सरकार क्षीण तथा अस्थिर होती है। ऐसे राज्यों के लिए भी अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली ही सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि इसमें समस्त उत्तरदायित्व एक ही व्यक्ति में निहित रहता है।

(6) **निरंकुशता का अभाव**—अध्यक्षात्मक शासन-पद्धति शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त पर आधारित है। इसमें शासन की समस्त शक्तियाँ एक ही अंग में केन्द्रित नहीं रहती, बल्कि वे विभिन्न अंगों में बँटी रहती हैं। साथ ही साथ शासन का प्रत्येक अंग दूसरे अंगों पर नियन्त्रण रखते हुए शासन में सन्तुलन बनाये रखता है। अतः इसमें निरंकुशता का भय नहीं रहता है तथा नागरिकों की स्वतन्त्रता और उनके अधिकार सुरक्षित रहते हैं।

(7) **संकटकाल के लिए उपयुक्त**—मिलकाइस्ट अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली को युद्ध तथा अन्य संकटकाल के लिए सर्वाधिक उपयुक्त शासन पद्धति मानते हैं। "किसी भी प्रकार के राष्ट्रीय संकटकाल में नियन्त्रण की एकता, निर्णय की शीघ्रता और संगठित नीति की माँग होती है और ये सब बड़ी अच्छी तरह से अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली में उपलब्ध किये जा सकते हैं।" इसमें समस्त कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित रहती है, अतः वह शीघ्र निर्णय लेकर संकट का सामना कर सकता है।

(8) **मन्त्रिमण्डल में योग्यतम व्यक्तियों को स्थान**—संसदीय शासन में प्रधानमन्त्री को दल के कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को मन्त्रिमण्डल में लेना ही पड़ता है। सामान्यतया वह अपने राजनीतिक दल में से ही मन्त्रियों का चयन करता है। परन्तु अध्यक्षात्मक शासन के अन्तर्गत राष्ट्रपति देश के योग्यतम व्यक्तियों को अपने मन्त्रिमण्डल में स्थान दे सकता है, चाहे उनका सम्बन्ध किसी भी राजनीतिक दल से

हो। इस प्रकार अध्यक्षात्मक प्रणाली में योग्यतम व्यक्तियों से मन्त्रिमण्डल का निर्माण होता है।

(9) **व्यवस्थापिका की स्वतन्त्रता**—अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली में व्यवस्थापिका दलीय अनुशासन से कम प्रभावित होती है। संसदीय शासन के समान उस पर कार्यपालिका का नियन्त्रण नहीं रहता है। अतः व्यवस्थापिका अधिक स्वतन्त्रतापूर्वक कानून निर्माण का कार्य कर सकती है।

अध्यक्षात्मक शासन के दोष—अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में निम्नलिखित दोष बताये जाते हैं .

(1) **शासन की एकता के सिद्धान्त का विरोध** सरकार के भिन्न-भिन्न अंग होते हुए भी विचारकों की दृष्टि में उनमें एक आवयवी एकता पायी जाती है। शासन के विभिन्न अंग मानव-शरीर के अंगों के समान एक दूसरे से सम्बन्धित तथा एक दूसरे पर निर्भर होते हैं। परन्तु अध्यक्षात्मक प्रणाली में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इससे शासन में एकता समाप्त हो जाती है और दोनों विभागों में आपस में खींचातानी आरम्भ हो जाती है जो अच्छे शासन के लिए अत्यधिक अहितकर है।

(2) **शासन में गतिरोध की सम्भावना**—अध्यक्षात्मक शासन में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका एक-दूसरे से पृथक तथा स्वतन्त्र रहती हैं। उनमें आपस में सहयोग और सामंजस्य का अभाव रहता है। उनमें आपसी मतभेद के कारण अनेक बार शासन में गतिरोध उत्पन्न हो जाता है। यह गतिरोध उस समय भीषण रूप धारण कर लेता है जब राष्ट्रपति एक राजनीतिक दल का हो और व्यवस्थापिका में दूसरे राजनीतिक दल का बहुमत हो। अमरीकी शासन-प्रणाली में ऐसा गतिरोध अनेक बार उपस्थित हुआ है।

(3) **निरंकुश तथा अनुत्तरदायी शासन**—एस्मीन के अनुसार, "अध्यक्षात्मक शासन निरंकुश, अनुत्तरदायी तथा हानिकारक होता है।" यह निरंकुश इसलिए है कि राष्ट्रपति जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों के नियन्त्रण से स्वतन्त्र होता है तथा वह अपने कार्य-काल में बहुत कुछ मनमाने ढंग से शासन कर सकता है। यह अनुत्तरदायी इसलिए है कि राष्ट्रपति अपने कार्यों के लिए व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं है तथा व्यवस्थापिका साधारणतया उसे उसके कार्यकाल की समाप्ति के पूर्व पदच्युत भी नहीं कर सकती है। ऐसी स्थिति में एक महत्वाकांक्षी राष्ट्रपति अपनी शक्तियों का मनमाने ढंग से प्रयोग करके राष्ट्र हित को हानि पहुँचा सकता है।

(4) **उत्तरदायित्व की अवहेलना**—उत्तरदायित्व की दृष्टि से अध्यक्षात्मक शासन दोषपूर्ण है। इस शासन व्यवस्था में प्रशासन में यदि कोई बुराई उत्पन्न होती है तो कार्यपालिका इसके लिए व्यवस्थापिका को और व्यवस्थापिका इसके लिए कार्यपालिका को जिम्मेदार ठहराने का प्रयत्न करती हैं। ये दोनों विभाग एक-दूसरे

से पृथक रहकर कार्य करते हैं, अतः दोनों में अपने-अपने उत्तरदायित्व को एक-दूसरे पर डालने की प्रवृत्ति रहती है। उत्तरदायित्व की इस अवहेलना से राज्य के हितों को हानि पहुँचने की सम्भावना रहती है।

(5) लचीलापन अथवा परिवर्तनशीलता का अभाव—अध्यक्षात्मक शासन में देश की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तन सम्भव नहीं है। उदाहरणार्थ, राष्ट्रपति देश में चाहे कितना ही कुशासन करे अथवा वह परिस्थितियों का सामना करने में चाहे कितना हो अकार्यकुशल हो परन्तु कार्यकाल की समाप्ति से पूर्व उसे पदच्युत नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार यदि राजकीय नीतियों के सम्बन्ध में व्यवस्थापिका के विचार राष्ट्रपति के विचारों से मेल नहीं खाते हों, तो भी राष्ट्रपति को उसे भंग करके दुबारा चुनाव कराने का अधिकार नहीं है। अतः इस प्रणाली में परिवर्तनशीलता का अभाव रहता है। बैजहॉट ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "आप अपनी सरकार को पहले से ही निश्चित कर [illegible] हैं। चाहे वह आपके लिए उपयुक्त हो अथवा नहीं हो, चाहे वह आपकी इच्छा के अनुकूल हो अथवा प्रतिकूल हो, चाहे वह ठीक प्रकार से कार्य करती हो अथवा नहीं करती हो, आप कानून के अनुसार इसे बनाये रखने के लिए बाध्य हैं।"[1]

(6) प्रशासकीय कार्यकुशलता के लिए हानिकारक—अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के बीच सहयोग तथा सामंजस्य का अभाव रहता है जिसके कारण दोनों ही विभागों का कार्य ठीक प्रकार से नहीं चल पाता। कानूनों का निर्माण देश की आवश्यकताओं के अनुरूप हो तथा शासन जन-हित में चले, इसके लिए शासन के इन दोनों विभागों को एक-दूसरे के निरन्तर सहयोग की आवश्यकता रहती है। गार्नर ने लिखा है कि "इस पद्धति में राष्ट्रपति तथा उसकी मन्त्रिपरिषद का कानून निर्माण के क्षेत्र में कोई सीधा हाथ नहीं रहता। व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के बीच गतिरोध तथा सामंजस्यपूर्ण सहयोग के अभाव के कारण शक्ति एवं कुशलता में कमी आती है तथा कानून निर्माण भी जनमत की शक्ति से प्रभावित नहीं हो पाता।"

(7) विदेश नीति के क्षेत्र में कमजोरी तथा अनिश्चितता—अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में राज्य की विदेश नीति सशक्त नहीं हो पाती है। इसमें राष्ट्रपति को वैदेशिक सम्बन्धों के संचालन में व्यवस्थापिका की स्वीकृति पर निर्भर रहना पड़ता है, अतः इस प्रणाली में सरकार की विदेश नीति प्रायः कमजोर तथा अनिश्चित रहती है। यह स्थिति उस समय और भयावह हो जाती है जब राष्ट्रपति एक दल का हो

1 "You have been spoken you[r] government in advance and whether it suits you or not, whether it works well or ill, whether it is what you want or not by law you must kee[p] ...
—L[...]

था व्यवस्थापिका मे दूसरे दल का बहुमत हो। अत "यह प्रणाली ससदीय प्रणाली
' तुलना मे सयोग पर अधिक निर्भर रहती है।"

(8) राजनीतिक शिक्षा मे कमी—अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था मे कार्य-लिका तथा व्यवस्थापिका के बीच पारस्परिक सम्बन्ध न होने के कारण जनता को नीतिक शिक्षा प्राप्त होने के अवसर बहुत कम होते हैं। ससदीय शासन मे मन्त्री-व्यवस्थापिका की बैठकों में भाग लेते हैं, सदस्यो के प्रश्नों तथा आलोचनाओ का र देते हैं, मतदाताओ के निरन्तर सम्पर्क मे रहते हैं तथा विरोधी दल सरकार आलोचना करते हैं। इन सब बातो से जनता में राजनीतिक चेतना जाग्रत होती तथा उसे राजनीतिक शिक्षा प्राप्त होती है।

(9) अन्य दोष इस पद्धति में राष्ट्रपति के चुनाव के समय बहुत उत्तेजना रहती है। सत्ता एक व्यक्ति पर निर्भर होने के कारण इसमे क्रान्ति अथवा अशान्ति का अधिक भय रहता है।

ससदीय एवं अध्यक्षात्मक व्यवस्थाओं की तुलना

ससदीय एव अध्यक्षात्मक व्यवस्थाओं की तुलना प्रमुख रूप से उनके सगठन एव कार्यों के सम्बन्ध मे की जा सकती है। दोनो व्यवस्थाओं मे प्रमुख अन्तर निम्नलिखित हैं

सगठन के सम्बन्ध में तुलना

(1) कार्यपालिका के प्रधान की स्थिति में अन्तर प्रथम तो, ससदीय शासन मे दो कार्यपालिकाएं होती हैं - एक नाम-मात्र की तथा दूसरी वास्तविक। इसके विपरीत अध्यक्षात्मक शासन में केवल एक ही कार्यपालिका होती है। द्वितीय, ससदीय शासन मे कार्यपालिका का प्रधान नाममात्र का अध्यक्ष होता है। यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से शासन की समस्त शक्तियाँ उसी में निहित रहती है परन्तु यह औपचारिकता मात्र है क्योंकि उसकी इन शक्तियों का प्रयोग व्यवहार मे मन्त्रिमण्डल के द्वारा किया जाता है। इसके विपरीत अध्यक्षात्मक शासन मे कार्यपालिका का प्रधान नाममात्र का अध्यक्ष न होकर वास्तविक शासक होता है। तृतीय, ससदीय शासन मे राज्य का अध्यक्ष केवल राज्य करता है, शासन नहीं, जबकि अध्यक्षात्मक शासन में अध्यक्ष राज्य भी करता है तथा शासन भी।

(2) कार्यकाल सम्बन्धी अन्तर—ससदीय शासन मे वास्तविक कार्यपालिका अर्थात मन्त्रिपरिषद का कार्यकाल निश्चित नहीं होता। वह व्यवस्थापिका के विश्वास पर्यन्त ही अपने पद पर रहती है तथा व्यवस्थापिका अविश्वास का प्रस्ताव पास करके उसे कभी भी पदच्युत कर सकती है। इसके विपरीत अध्यक्षात्मक शासन में कार्यपालिका का कार्यकाल निश्चित होता है तथा व्यवस्थापिका महाभियोग के अतिरिक्त उसे कार्यकाल की समाप्ति के पूर्व अन्य किसी भी प्रकार से पदच्युत नहीं
—ती।

(3) **व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के पारस्परिक सम्बन्धों में अन्तर**—संसदीय शासन व्यवस्था मे कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के बीच परस्पर घनिष्ठ सहयोग एव सामजस्य रहता है। इसमे कार्यपालिका व्यवस्थापिका से स्वतन्त्र नही रहती बल्कि वह व्यवस्थापिका की एक समिति मात्र होती है। इसके विपरीत अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली मे व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका एक-दूसरे से पृथक एव स्वतन्त्र होती हैं और दोनो का कार्यक्षेत्र अलग अलग होता है।)

(4) **मन्त्रिपरिषद से सम्बन्धित अन्तर**—इस सम्बन्ध में दोनो शासन-प्रणालियों मे चार प्रमुख अन्तर हैं

प्रथम तो, संसदीय शासन मे वास्तविक कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिमण्डल के सदस्य व्यवस्थापिका मे से ही लिए जाते हैं, वे व्यवस्थापिका की बैठको मे उपस्थित होते है, वे कानून निर्माण सम्बन्धी कार्यों मे भाग लेते हैं तथा व्यवस्थापिका का मार्ग-दर्शन करते हैं। इसके विपरीत अध्यक्षात्मक शासन मे राष्ट्रपति तथा मन्त्रिगण व्यवस्थापिका के सदस्य नही होते वे उसकी बैठको तथा कानून निर्माण सम्बन्धी कार्यवाहियो में भाग नहीं लेते और न वे उसका नेतृत्व ही करते हैं।

द्वितीय, संसदीय शासन-व्यवस्था मे मन्त्रिगण व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होते हैं जबकि अध्यक्षात्मक प्रणाली मे वे राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होते हैं। उनकी नियुक्ति तथा पदच्युति राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर करती है।

तृतीय, संसदीय शासन मे मन्त्रियों की स्थिति बहुत उच्च होती है। वे प्रधानमन्त्री के सेवक न होकर उसके साथी होते हैं। परन्तु अध्यक्षात्मक शासन म मन्त्रियो की स्थिति इतनी उच्च नहीं होती। वे राष्ट्रपति के समकक्ष न होकर पूरी तरह उसके अधीन होते हैं।

चतुर्थ, संसदीय शासन म मन्त्रिमण्डल के सदस्य एक ही राजनीतिक दल मे से लिये जाते हैं जिससे उनके विचारो तथा सिद्धान्तो मे एकरूपता रहे। इसके विपरीत अध्यक्षात्मक शासन मे मन्त्रियो का चयन राष्ट्रपति के द्वारा उनकी योग्यता के आधार पर किया जाता है। वे किसी भी राजनीतिक दल के सदस्य हो सकते हैं।

कार्यों के सम्बन्ध में तुलना

(1) **एक उत्तरदायी तथा दूसरी अनुत्तरदायी**—अध्यक्षात्मक शासन की तुलना में संसदीय शासन अधिक लोकतान्त्रिक है क्योंकि इसमे शासन जनता की इच्छाओ के अनुसार चलता है। मन्त्रिमण्डल अपने समस्त कार्यों के लिए जनता के प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी होता है। अध्यक्षात्मक शासन मे राष्ट्रपति तथा मन्त्रिगण अपने कार्यों के लिए व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नही होते। राष्ट्रपति संविधान द्वारा निश्चित की गयी सीमाओ के अन्दर रहते हुए जो चाहे सो कर सकता है।

(2) **एक लचीली तथा दूसरी कठोर**—संसदीय शासन मे परिवर्तित परिस्थितियो के अनुसार परिवर्तन किया जा सकता है, अतः वह लचीली अथवा

परिवर्तनशील व्यवस्था होती है। इसके विपरीत अध्यक्षात्मक शासन मे समय और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। राष्ट्रपति तथा व्यवस्थापिका दोनो का चुनाव एक निश्चित अवधि के लिए होता है तथा इस अवधि से पूर्व दोनों मे से किसी को भी हटाया नहीं जा सकता है।

(3) एक में शक्तियों का पृथक्करण नहीं तथा दूसरी मे शक्तियों का पृथक्करण—ससदीय शासन मे शक्तियो का पृथक्करण नही होता। इसके अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल शासन सम्बन्धी कार्य तो करता ही है परन्तु व्यवस्थापिका मे उसके दल का बहुमत होने के कारण व्यवहार में वह उन कार्यों को भी करता है जो व्यवस्थापिका [illegible] माने जाते हैं। उदाहरणार्थ, मन्त्रिमण्डल ही समस्त महत्त्वपूर्ण कानूनों की रूपरेखा तैयार करता है उसी का कोई सदस्य व्यवस्थापिका मे उनको प्रस्तावित करता है तथा व्यवस्थापिका से उनको पारित करवाता है। मन्त्रिमण्डल ही यह निर्णय करता है कि जनता पर कौन से नये कर लगाये जाएँ तथा कौन-से समाप्त किये जाएँ। वही देश का वार्षिक बजट तैयार करता है। इस प्रकार ससदीय शासन मे मन्त्रिमण्डल ही वास्तव मे कानूनो का निर्माण करता है, वही वित्त पर नियन्त्रण रखता है तथा वही देश का शासन चलाता है। सक्षेप मे, हम यह कह सकते हैं कि अपने बहुमत के कारण मन्त्रिमण्डल व्यवहार मे सर्वेसर्वा बन जाता है।

परन्तु दूसरी ओर अध्यक्षात्मक शासन में शक्तियों का पृथक्करण होने के कारण व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका का क्षेत्र पृथक्-पृथक होता है। इसके अन्तर्गत राष्ट्रपति तथा मन्त्रिगण कानून निर्माण की कार्यवाहियो मे भाग नहीं लेते। उनका कार्य-क्षेत्र केवल प्रशासन तक ही सीमित रहता है।

ससदीय तथा अध्यक्षात्मक शासन का अन्तर स्पष्ट करते हुए बेजहॉट ने लिखा है कि 'व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका शक्तियों की एक दूसरे से स्वतन्त्रता अध्यक्षात्मक शासन का विशेष लक्षण है और इन दोनों का एक दूसरे से सयोग तथा घनिष्ठता ससदीय शासन का सिद्धान्त है।'[1]

निष्कर्ष—ससदीय एव अध्यक्षात्मक दोनो शासन-प्रणालियों के गुण और दोषो की विवेचना करने के पश्चात यह विचार करना आवश्यक हो जाता है कि दोनो मे से कौन सी शासन प्रणाली अधिक श्रेष्ठ है। सयुक्त राज्य अमेरिका तथा लेटिन अमेरिकन राज्यों को छोड़कर ससार के प्राय सभी लोकतान्त्रिक राज्यो ने ससदीय शासन-प्रणाली को अपनाया है। इससे यह प्रकट होता है कि ससार के अधिकाश राज्यों का झुकाव ससदीय प्रणाली की ओर है। ससदीय शासन-प्रणाली में

[1] "The independence of the legislative and executive powers is the specific quality of Presidential Government, just as their fusion and combination is the precise principle of Cabinet Government." —*Bagehot*

कुछ ऐसे गुण पाये जाते हैं जो अध्यक्षात्मक शासन में नहीं पाये जाते । उदाहरणार्थ, संसदीय शासन में कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के बीच सहयोग एवं सामजस्य के कारण शासन में कुशलता आ जाती है तथा शासन जनहित में चलता है । इसके अतिरिक्त व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होने के कारण मन्त्रिमण्डल निरकुश नही हो पाता है । अत ससदीय शासन अधिक लोकतान्त्रिक माना जाता है ।

ससदीय शासन के विषय मे यह कहा जाता है कि यह निर्णय की शीघ्रता के अभाव मे असाधारण परिस्थितियो तथा सकटकाल का सामना करने के लिए अधिक उपयुक्त नही है । परन्तु इस दोष के कारण उसे त्यागना सही नही माना जा सकता । इसके लिए तो यह आवश्यक है कि भारतीय सविधान के समान ससदीय देशो के सविधानो मे ऐसी व्यवस्था की जाए जिससे कि वे सकटकाल का आसानी से सामना कर सकें । इस प्रकार तुलनात्मक विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली की तुलना मे ससदीय शासन-प्रणाली अधिक उपयुक्त एव श्रेष्ठ है ।

अभ्यास के प्रश्न

1 ससदीय व्यवस्था के प्रमुख लक्षणो का परीक्षण कीजिए तथा उसके गुण एव दोषो की विवेचना कीजिए । (राजस्थान विश्व०, 1977)

2 ससदीय सरकार क्या है ? इसके गुण और दोष समझाइए । (राजस्थान विश्व० 1973, 1975)

3. अध्यक्षात्मक व्यवस्था के प्रमुख लक्षणो का परीक्षण कीजिए तथा उसके गुण एव दोषो की विवेचना कीजिए । (राजस्थान विश्व०, 1978)

4 ससदीय एव अध्यक्षात्मक व्यवस्थाओं की तुलना उनके सगठन एव कार्यों के सन्दर्भ में करें ।

5 ससदीय व्यवस्थाओ के सफल क्रियान्वन हेतु अनिवार्य परिस्थितियों का परीक्षण कीजिए ।

6 ससदीय एव अध्यक्षात्मक शासन-प्रणालियो की तुलनात्मक विवेचना कीजिए। आप इनमे से किसे अधिक श्रेष्ठ मानते हैं तथा क्यो ?

7 ससदीय एव अध्यक्षात्मक शासन की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए । दोनों मे अन्तर स्पष्ट कीजिए ।

8 ससदीय शासन प्रणाली से आप क्या समझते हैं ? भारत मे इसके अनुभवो के उदाहरण देते हुए इसके गुणों और अवगुणो का विवेचन कीजिए । (राजस्थान विश्व०, 1979)

16

एकात्मक व संघात्मक शासन
[UNITARY AND FEDERAL GOVERNMENT]

"एकात्मक शासन-प्रणाली में शासन तथा प्रशासन सम्बन्धी समस्त मामलों में अन्तिम सत्ता और नियन्त्रण केन्द्रीय सरकार [redacted] हाथ में होती है, परन्तु संघीय शासन में यह अन्तिम शासन सत्ता एवं नियन्त्रण केन्द्रीय एवं स्थानीय शासनों में विभाजित होती है।" —गार्नर

प्रसिद्ध विचारक डॉ० गार्नर के मतानुसार राज्य में शक्तियों के केन्द्रीयकरण तथा वितरण और केन्द्रीय तथा स्थानीय अधिकारियों के पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर शासन का वर्गीकरण दो रूपों में किया जा सकता है—एकात्मक तथा संघात्मक। यहाँ हम शासन के इन दोनों रूपों का विस्तार से विवेचन करेंगे।

एकात्मक शासन
(Unitary Government)

अर्थ एवं परिभाषा—एकात्मक शासन वह होता है जिसमें शासन की सम्पूर्ण शक्ति संविधान के अनुसार केन्द्र में निहित होती है तथा स्थानीय सरकारें अपनी शक्तियाँ और स्वायत्तता केन्द्रीय सरकार से प्राप्त करती हैं। यहाँ तक कि उनका अस्तित्व भी केन्द्रीय सरकार की इच्छा पर ही निर्भर करता है। इस प्रकार संविधान द्वारा शासन की समस्त शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार को ही सौंपी जाती हैं तथा शासन की सुविधा की दृष्टि से केन्द्रीय सरकार उनमें से कुछ शक्तियाँ स्थानीय सरकारों को प्रदान कर सकती है। इस तरह स्थानीय सरकारों को शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार से प्राप्त होती हैं, संविधान से नहीं।

विभिन्न विद्वानों ने एकात्मक शासन की निम्नलिखित परिभाषाएँ दी हैं।

गार्नर के अनुसार, "एकात्मक शासन वह प्रणाली है जिसमें संविधान द्वारा शासन की सम्पूर्ण शक्ति एक अथवा एक से अधिक अंगों को प्रदान कर [redacted] जाती है

और स्थानीय सरकारें अपनी सत्ता, स्वायत्तता तथा अपना अस्तित्व भी उसी से प्राप्त करती हैं।"[1]

डायसी के शब्दों में, 'एक केन्द्रीय शक्ति के द्वारा सर्वोच्च विधायी शक्ति का प्रयोग किया जाना ही एकात्मक शासन है।"[2]

डॉ० फाइनर के अनुसार, 'एकात्मक राज्य वह है जिसमें समस्त सत्ता एवं शक्ति अकेले केन्द्र में निहित रहती है और जिसकी इच्छा तथा जिसके अधिकारी समस्त क्षेत्र पर वैधानिक रूप से सर्वशक्तिमान होते हैं।"[3]

विलोबी के शब्दों में, "एकात्मक राज्य में शासन की समस्त शक्तियाँ मौलिक रूप से केन्द्रीय सरकार के हाथों में रहती हैं और वह सरकार अपनी इच्छानुसार इन शक्तियों का क्षेत्रीय इकाइयों में वितरण करने में पूर्ण स्वतन्त्र होती है।"[4]

वर्तमान समय में इगलैण्ड, फ्रांस, इटली बेल्जियम, हॉलैण्ड, जापान आदि अनेक राज्यों में एकात्मक शासन है।

एकात्मक शासन के मुख्य लक्षण—एकात्मक शासन के मुख्य लक्षण निम्नलिखित हैं

(1) शक्तियों का विभाजन नहीं—एकात्मक शासन में संविधान द्वारा केन्द्र तथा इकाइयों के बीच शासन की शक्तियों का बँटवारा नहीं किया जाता है। इसमें समस्त शासन सत्ता केन्द्रीय सरकार में निहित रहती है। इस तरह इसमें शक्ति का केवल एक ही स्रोत होता है और सारे देश का शासन उसी की इच्छा के अनुसार चलता है।

(2) स्थानीय सरकारों को स्वतन्त्र सत्ता नहीं—प्रशासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए एकात्मक राज्य को अनेक इकाइयों में बाँटा जा सकता है परन्तु इन इकाइयों की सत्ता न तो स्वतन्त्र होती है और न मौलिक ही। ये इकाइयाँ अथवा

1 'Unitary is that system where the whole power of government is conferred by the constitution upon a single central organ or organs from which the local governments derive whatever authority or autonomy they may possess." —Garner

2 "Unitary government is the habitual excercise of supreme legislative authority by one central power" —Dicey

3 'The unitary state is one in which all authority and powers are loged in a single centre, whose will and agents are legally omnipotent over the whole area" —Dr Finer

4 "In a unitary state all the powers of government are conferred, in the first instance, upon a single central government and that government is left complete freedom to effect such a distribution of these powers territorially as in its opinion are wise." —Willogubby

स्थानीय सरकारें अपने अधिकार तथा स्वायत्तता केन्द्रीय सरकार से प्राप्त करते हैं, संविधान से नहीं। यहाँ तक कि वे अपने अस्तित्व के लिए भी केन्द्रीय सरकार की इच्छा पर निर्भर रहते हैं। वे केन्द्रीय सरकार के अभिकर्त्ता (Agent) मात्र होते हैं।

(3) इकहरी नागरिकता—एकात्मक शासन वाले राज्यों में इकहरी नागरिकता, इकहरी न्याय-व्यवस्था तथा इकहरे शासन की व्यवस्था होती है।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि एकात्मक शासन में केन्द्रीय सरकार सर्वशक्तिमान होती है तथा स्थानीय सरकारें केन्द्र की केवल एजेन्ट मात्र होती हैं।

एकात्मक शासन के गुण—एकात्मक शासन-प्रणाली में निम्नलिखित गुण पाये जाते हैं

(1) प्रशासन में एकरूपता—एकात्मक शासन में शासन की एकरूपता पायी जाती है। सम्पूर्ण राज्य में एक ही प्रकार के कानून होते हैं तथा समान ढंग से उनको क्रियान्वित किया जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण राज्य के प्रशासन में एकरूपता बनी रहती है। इसके अतिरिक्त एकात्मक शासन में नीति सम्बन्धी एकरूपता भी पायी जाती है। इस प्रकार के शासन में नीति सम्बन्धी सभी निर्णय केन्द्रीय सरकार द्वारा लिए जाते हैं। अतः निर्णयों में एकरूपता का होना स्वाभाविक है।

(2) शासन में दृढ़ता व कुशलता—एकात्मक शासन में दृढ़ता व कुशलता पायी जाती है। इसमें न तो अधिकारों के सम्बन्ध में कोई झगड़ा होता है और न कई स्तरों पर लम्बे विचार विमर्श करने पड़ते हैं। अतः निर्णय लेने में तथा उनको क्रियान्वित करने में केन्द्रीय सरकार दृढ़ता के साथ कार्य कर सकती है। इसके अतिरिक्त इस शासन-प्रणाली में शासन का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व केन्द्रीय सरकार पर ही रहता है। नीतियों का निर्धारण तथा शासन का संचालन एक ही स्थान से होता है। फलस्वरूप शासन में दृढ़ता के साथ साथ कुशलता भी आ जाती है। गैटल के मतानुसार, "प्रशासन के क्षेत्र में शक्ति-सम्पन्नता, शक्तियों का एक ही सत्ता में केन्द्रीयकरण, उत्तरदायित्व की स्पष्टता, क्षेत्राधिकार की निश्चितता शक्ति के लिए संघर्ष का अभाव एकात्मक शासन की देन हैं।"

(3) राष्ट्रीय एकता—एकात्मक शासन में कानूनों तथा नीतियों की एकरूपता एक समान प्रशासनिक व्यवस्था, एक ही प्रकार की न्याय व्यवस्था तथा इकहरी नागरिकता के कारण सम्पूर्ण राज्य एकता के सूत्र में बंध जाता है। इसमें नागरिकों की निष्ठा और भक्ति का बंटवारा नहीं होता। फलस्वरूप एकात्मक शासन में राष्ट्रीयता की भावना में वृद्धि होती है तथा राष्ट्रीय एकता दृढ़ होती है।

(4) संगठन की सरलता—संगठन की दृष्टि से एकात्मक शासन बहुत सरल होता है। इसमें न तो दोहरी शासन व्यवस्था होती है न दोहरी नागरिकता होती है और न केन्द्र तथा राज्यों के बीच किसी प्रकार का विवाद उठने की कोई आशंका ही रहती है। संविधान के अनुसार केन्द्र में एक व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा

न्यायपालिका का गठन पर्याप्त होता है अत एकात्मक शासन का सगठन सरल होता है।

(5) **सकटकाल के लिए अधिक उपयुक्त**—किसी भी प्रकार के सकट का सामना करने के लिए शीघ्रतापूर्वक निर्णय लेने तथा उन निर्णयों को क्रियान्वित करने की आवश्यकता होती है। उस समय शासन की समस्त शक्ति का निर्देशन व नियन्त्रण एक स्थान से होना चाहिए। ऐसा एकात्मक शासन मे ही सम्भव है क्योंकि शासन की समस्त शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार के हाथ मे रहती हैं। इसलिए एकात्मक शासन को सकटकाल के लिए अत्यन्त उपयुक्त माना जाता है।

(6) **लचीलापन**—विलोबी के मतानुसार एकात्मक शासन का बहुत बडा गुण उसका लचीलापन है। इस प्रणाली मे इतना लचीलापन होता है कि समय और परिस्थिति के अनुसार केन्द्रीय सरकार साधारण कानून-निर्माण की प्रक्रिया द्वारा ही सविधान मे आवश्यक परिवर्तन कर सकती है। निष्कर्ष यह है कि एकात्मक शासन मे परिस्थितियो का सामना करने के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा आन्तरिक व्यवस्था मे वाछित परिवर्तन किया जा सकता है।

(7) **छोटे राज्यों के लिए अधिक उपयुक्त**—गार्नर के मतानुसार, 'एकात्मक शासन ऐसे छोटे राज्यों के लिए अधिक उपयुक्त है जहाँ जनसख्या में एकरूपता हो और विशेषतया जहाँ की जनता मे स्थानीय स्वशासन सम्बन्धी आदत तथा क्षमता का उच्च स्तर तक विकास नहीं हुआ हो।"

(8) **खर्च मे कमी**—एकात्मक शासन सघात्मक शासन की तुलना मे कम खर्चीला होता है क्योंकि उसमे केन्द्रीय तथा स्थानीय सरकारो द्वारा नियुक्त दोहरे अधिकारी तथा दोहरी सेवाएँ नही होतीं।

(9) **आन्तरिक सुरक्षा तथा वैदेशिक मामलो के सचालन मे सक्षम**—देश की सुरक्षा तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे युद्ध सन्धि तथा समझौते जैसी समस्याओ के समाधान के लिए निर्णय की शीघ्रता तथा नीति एव उसके क्रियान्वयन मे एकरूपता की अत्यन्त आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से एकात्मक सरकार अधिक सक्षम एव उपयुक्त होती है। इस सम्बन्ध मे विलोबी ने लिखा है कि "देश की सुरक्षा तथा अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के सम्बन्ध में एकात्मक राज्य की शक्ति और दृढ़ता पूर्णतया स्पष्ट है क्योंकि ऐसे राज्य मे शक्ति का कोई सघर्ष नहीं होता, काम के उत्तरदायित्व के सम्बन्ध मे कोई भ्रम नहीं रहता, अधिकार क्षेत्रो का अतिक्रमण नहीं होता तथा ऐसा दोहरा काम या दोहरा सगठन नहीं होता जिसे तुरन्त सभाला और ठीक न किया जा सके।"

एकात्मक शासन के दोष—एकात्मक शासन के मुख्य दोष निम्नलिखित हैं

(1) **शासन की कुशलता में कमी**—एकात्मक शासन मे प्रशासन के समस्त कार्य केन्द्रीय सरकार के द्वारा ही किये जाते हैं। फलस्वरूप केन्द्रीय सरकार के पास काम का भार बहुत अधिक बढ़ जाता है। इसमे प्रशासन की कार्यकुशलता मे कमी आ जाती है। एक तो काम धीरे धीरे होता है और वह भी ठीक से नहीं हो पाता।

(2) स्थानीय हितों को हानि—एकात्मक शासन में शासन-शक्ति एक स्थान पर केन्द्रित होती है। अन्य महत्वपूर्ण कार्यों में उलझे रहने के कारण केन्द्रीय सरकार के लिए यह सम्भव नहीं कि वह देश के विभिन्न भागों की आवश्यकताओं को ठीक प्रकार से समझ सके तथा उनका निराकरण कर सके। इससे स्थानीय हितों को हानि पहुंचती है।

(3) केन्द्रीय सरकार की निरंकुशता का भय—शक्तियों के केन्द्रीयकरण के कारण एकात्मक शासन में केन्द्रीय सरकार के निरंकुश हो जाने की आशंका बनी रहती है। यही नहीं, शक्ति के केन्द्रित हो जाने से सत्ताधारियों के भ्रष्ट हो जाने की सम्भावना भी बढ़ जाती है जिसका प्रभाव नागरिकों पर भी बुरा पड़ता है।

(4) नौकरशाही का शासन—वर्तमान समय में अत्यधिक कार्य-भार होने के कारण केन्द्रीय सरकार में इतनी क्षमता नहीं होती कि वह स्थानीय और प्रादेशिक कार्यों को कुशलतापूर्वक कर सके। दूरी पर बैठे हुए राजनीतिक अधिकारियों को यह पता लगना कठिन है कि किसी स्थान विशेष अथवा क्षेत्र की क्या आवश्यकताएँ हैं और उनको कम खर्च में तथा सुगमतापूर्वक किस प्रकार पूरा किया जा सकता है। अतः इस प्रणाली के अन्तर्गत शासन-शक्ति नौकरशाही के हाथों में चली जाने की सम्भावना रहती है।

(5) स्थानीय स्वशासन की उपेक्षा—स्थानीय स्वशासन को लोकतन्त्र का आधार माना जाता है परन्तु एकात्मक शासन में स्थानीय स्वशासन को वह महत्व प्राप्त नहीं होता जो उसे लोकतन्त्र में मिलना चाहिए। यद्यपि एकात्मक शासन में स्थानीय संस्थाएं होती हैं परन्तु ये संस्थाएं अपनी शक्ति, स्वायत्तता तथा यहाँ तक की अपने अस्तित्व के लिए भी केन्द्रीय सरकार पर निर्भर करती हैं। एकात्मक शासन में स्थानीय सरकारों पर केन्द्रीय सरकार का कठोर नियन्त्रण रहता है जिसके कारण इनकी उपयोगिता केवल नाममात्र के लिए रह जाती है।

(6) राजनीतिक शिक्षण का अभाव—एकात्मक शासन में स्थानीय जनता को शासन के कार्यों में भाग लेने का पूर्ण अवसर नहीं मिलता। इससे सार्वजनिक कार्यों में जनता की रुचि कम हो जाती है और वह इनके प्रति उदासीन होने लगती है। शासन कार्य में भाग लेने का अवसर न मिलने के कारण जनता को राजनीतिक शिक्षण नहीं मिल पाता। इस प्रकार एकात्मक शासन में लोकतन्त्र के उस बड़े उद्देश्य की पूर्ति आसानी से नहीं होती जिसे हम सार्वजनिक राजनीतिक शिक्षण कहते हैं।

(7) विशाल राज्यों के लिए अनुपयुक्त—छोटे राज्यों के लिए एकात्मक शासन भले ही उपयुक्त हो परन्तु ऐसे राज्यों के लिए तो यह नितान्त अनुपयुक्त है जिनका क्षेत्रफल बड़ा हो, जिनकी जनसंख्या विशाल हो तथा जहाँ विभिन्न भाषा, नस्ल, धर्म तथा संस्कृतियों के लोग रहते हो। ऐसी विविधताओं वाले राज्यों के लिए

तो संघात्मक शासन-प्रणाली ही अधिक उपयुक्त हो सकती है क्योंकि संघ ही विविधताओं में एकता ला सकता है।

डॉ० गार्नर ने एकात्मक शासन के दोषों का वर्णन करते हुए लिखा है कि "एकात्मक शासन स्थानीय प्रेरणा का दमन करता है, सार्वजनिक कार्यों में रुचि को बढ़ाने की अपेक्षा घटाता है, स्थानीय सरकारों की शक्ति को दुर्बल बनाता है और केन्द्रित नौकरशाही के विकास को सुलभ बनाता है।"[1]

संघात्मक शासन
(Federal Government)

अर्थ एवं परिभाषा एकात्मक सरकार के अतिरिक्त शासन का एक अन्य प्रकार 'संघात्मक शासन' है। 'संघ' शब्द का विकास लैटिन भाषा के 'फोएडस' (Foedus) शब्द से हुआ है जिसका अर्थ है सन्धि या समझौता। अतः शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से संघ-राज्य का अर्थ "समझौते द्वारा निर्मित राज्य" है। संवैधानिक दृष्टि से संघ राज्य का निर्माण एक लिखित समझौते द्वारा होता है जिसे संविधान कहते हैं। संविधान द्वारा संघीय सरकार तथा इकाइयों की सरकारों के बीच शक्तियों का स्पष्ट विभाजन कर दिया जाता है। उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन संवैधानिक संशोधन प्रक्रिया अथवा दोनों सरकारों की सहमति से ही सम्भव होता है। इस प्रकार दोनों सरकारों की शक्तियाँ मौलिक होती हैं तथा दोनों का अस्तित्व संविधान पर निर्भर करता है, न कि एक-दूसरे की इच्छा पर। इस प्रकार संघ-राज्य दो प्रकार की समकक्ष सरकारों का राज्य है।

विभिन्न विद्वानों ने संघात्मक शासन की निम्नलिखित परिभाषाएँ दी हैं

"संघात्मक राज्य वह राज्य है जिसमें सत्ता एवं शक्ति का एक भाग संघीय इकाइयों में निहित रहता है और दूसरा भाग केन्द्रीय संस्था में, जो क्षेत्रीय इकाइयों के समुदाय द्वारा जान-बूझकर संगठित की जाती है।"[2] —फाइनर

"संघात्मक राज्य एक राजनीतिक समझौता है जिसका लक्ष्य राष्ट्रीय एकता तथा राज्यों के अधिकारों में मेल स्थापित करना है।"[3] —डायसी

1 "Unitary Government tends to repress local initiative, discourages rather than stimulates interest in public affairs, impairs the vitality of local governments and facilitates the development of a centralised bureaucracy"—Dr Garner : *Political Science and Government*, p 381

2 "A federal state is one in which part of the authority and power is vested in the local area while another part is vested in central institution deliberately constituted by an association of the local areas" —Finer

3 'A *federal state* is a political contrivance intended to reconcile national unity with the maintenance of state rights" —Dicey

"संघात्मक राज्य राज्यों का वह संगठन है जो नये राज्य का निर्माण करता है।"[1] —हैमिल्टन

फ्रीमैन के शब्दों में, "संघात्मक शासन वह है जो दूसरे राष्ट्रों के साथ सम्बन्ध में एक समान हो परन्तु आन्तरिक शासन की दृष्टि से वह अनेक राज्यों का योग हो।"[2]

संघात्मक शासन के सम्बन्ध में प्रो० गार्नर की परिभाषा अधिक स्पष्ट एवं श्रेष्ठ है। उनके अनुसार, "संघात्मक शासन एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें केन्द्रीय तथा स्थानीय सरकारें एक ही प्रभुत्व शक्ति के अधीन होती हैं तथा ये दोनों प्रकार की सरकारें अपने अपने क्षेत्र में सर्वोच्च होती हैं जिसका निर्धारण संविधान अथवा संसद के कानून द्वारा होता है।"[3]

वर्तमान समय में अमरीका, भारत, कनाडा, सोवियत रूस, स्विटजरलैण्ड आदि देशों में संघात्मक शासन व्यवस्था को ही अपनाया गया है।

संघात्मक शासन के आवश्यक लक्षण—संघात्मक शासन के आवश्यक लक्षण निम्नलिखित हैं

(1) संविधान की सर्वोच्चता—संघ राज्य का सबसे पहला लक्षण यह है कि उसमें संविधान की सर्वोच्चता होती है। केन्द्र अथवा उसकी इकाइयों की सरकारों द्वारा संविधान की किसी भी धारा का उल्लंघन नहीं किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इस व्यवस्था में संविधान कठोर भी होता है। इसकी किसी भी धारा में परिवर्तन करने के लिए एक विशेष प्रक्रिया का सहारा लिया जाता है जिसका उल्लेख संविधान में ही रहता है। प्रो० ह्वीयर (Wheare) ने संघीय शासन संविधान की सर्वोच्चता के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "जिन शर्तों के आधार पर केन्द्र तथा राज्यों का निर्माण होता है तथा जिनके आधार पर दोनों को शक्तियाँ प्राप्त होती हैं, वे शर्तें दोनों पर समान रूप से बंधनकारी होती हैं।"

(2) शक्तियों का विभाजन—संघात्मक शासन में संविधान द्वारा संघ तथा

---

1 "A federal state is an association of states that forms a new one" —Hamilton

2 "A federal government is one which forms a single state in its relation to other nations, but which consists of many states with regard to internal government" —Freeman

3 "Federal government may, therefore, be defined as a system of central and local government combined under a common sovereignty, both the central and local organizations being supreme within definite spheres, marked out by the general constitution or by the act of parliament which creates the system."—Garner. *Political Science and Government*, p. 319.

उनकी इकाइयों के बीच शक्तियों का स्पष्ट विभाजन कर दिया जाता है। साधारणतया ऐसे विषय जो राष्ट्रीय महत्त्व के होते हैं, केन्द्र को सौंप दिये जाते हैं और जो विषय स्थानीय महत्त्व के होते हैं, वे सघीय इकाइयों को सौंप दिये जाते हैं।

संविधान द्वारा केन्द्र तथा इकाइयों के बीच शक्तियों का विभाजन मुख्यतः तीन प्रकार से किया जाता है प्रथम, कहीं तो केन्द्रीय सरकार की शक्तियां स्पष्ट रूप से गिना दी जाती हैं तथा शेष शक्तियाँ राज्यों को सौंप दी जाती हैं, जैसाकि अमेरिका में है। द्वितीय, कहीं राज्यों की शक्तियाँ स्पष्ट रूप से गिना दी जाती हैं तथा शेष शक्तियाँ केन्द्र को सौंप दी जाती हैं जैसा कि कनाडा में है। तृतीय, कहीं केन्द्र और राज्य दोनों की शक्तियाँ अलग-अलग गिना दी जाती हैं तथा उसके बाद बची हुई शक्तियाँ केन्द्र को सौंप दी जाती हैं, जैसाकि भारत में है।

(3) **न्यायपालिका की सर्वोच्चता** – सघात्मक शासन का एक अन्य आवश्यक लक्षण न्यायपालिका की सर्वोच्चता है। सघात्मक शासन में संविधान की व्याख्या करने के लिए, उसकी रक्षा करने के लिए तथा केन्द्र और राज्यों के बीच संवैधानिक विवादों का निपटारा करने के लिए न्यायपालिका की सर्वोच्चता आवश्यक है। न्यायपालिका केन्द्र अथवा राज्य सरकारों द्वारा बनाये गये किसी भी ऐसे कानून को तथा उनके किसी भी ऐसे कार्य को जो संविधान के विपरीत हो, असंवैधानिक घोषित कर सकती है। इस प्रकार सघीय शासन में न्यायपालिका संविधान की संरक्षक तथा शासनतन्त्र में सन्तुलन बनाये रखने वाला चक्र है।

(4) **दोहरी शासन-व्यवस्था** सघात्मक शासन-व्यवस्था में प्रभुत्व शक्ति का दोहरा प्रयोग होने के कारण शासन व्यवस्था भी दोहरी होती है। एक, केन्द्रीय शासन-व्यवस्था तथा दूसरी, राज्य की शासन-व्यवस्था। इसमें केन्द्र तथा राज्यों की सरकारें दोनों अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र तथा प्रभुत्व-सम्पन्न होती हैं और दोनों अपनी शक्तियाँ एक दूसरे से प्राप्त न करके संविधान से प्राप्त करती हैं। इस प्रकार राज्य सरकारें अपनी शक्तियों तथा अपने अस्तित्व के लिए केन्द्रीय सरकार पर निर्भर नहीं करती।

(5) **दोहरी नागरिकता** सघात्मक शासन में दोहरी नागरिकता की भी व्यवस्था होती है। प्रत्येक व्यक्ति संघ का भी नागरिक होता है तथा वह उस राज्य का भी नागरिक होता है, जिसमें वह निवास कर रहा है। दोहरी नागरिकता के कारण उसे उन दोनों के प्रति अपनी भक्ति रखनी पड़ती है। परन्तु दोहरी नागरिकता का सिद्धान्त संघ-राज्य का आवश्यक लक्षण नहीं है।

एकात्मक तथा संघात्मक शासन में अन्तर

एकात्मक तथा सघात्मक शासन-व्यवस्थाओं में मुख्य अन्तर निम्नलिखित हैं :

(1) **शक्तियों की प्रकृति में अन्तर** –एकात्मक शासन का आधार शक्तियों का केन्द्रीयकरण होता है। इसमें शक्तियों का विभाजन नहीं किया जाता तथा शासन की समस्त शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार में ही निहित रहती हैं। इसके विपरीत सघात्मक

शासन का आधार शक्तियों का विकेन्द्रीकरण होता है। इसमे संविधान द्वारा केन्द्र तथा राज्य की सरकारो के बीच शक्तियो का विभाजन कर दिया जाता है।

(2) स्थानीय सरकारों की स्थिति में अन्तर—एकात्मक शासन मे स्थानीय सरकारो का न तो कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही होता है और न वे प्रभुत्व-सम्पन्न ही होती हैं। वे अपने अस्तित्व तथा शक्तियो के लिए पूरी तरह केन्द्रीय सरकार पर निर्भर रहती हैं। इसके विपरीत, संघात्मक शासन में स्थानीय सरकारों का अपना पृथक अस्तित्व होता है। वे अपने क्षेत्र मे प्रभुत्व-सम्पन्न होती हैं तथा अपनी शक्तियाँ संविधान से प्राप्त करती हैं, केन्द्रीय सरकार से नहीं। अत उनकी स्थिति केन्द्रीय सरकार के समकक्ष होती है।

(3) संविधान के स्वरूप में अन्तर—एकात्मक शासन मे एक लिखित और कठोर संविधान का होना आवश्यक नही है किन्तु संघात्मक शासन के लिए यह एक आवश्यकता होती है। संघात्मक शासन मे केन्द्र तथा राज्य सरकारो के बीच शक्तियों का विभाजन होता है। इस विभाजन को निश्चित तथा स्पष्ट रूप देने [redacted] लिए लिखित संविधान का होना आवश्यक है। इसमे संविधान को कठोर इसलिए बनाया जाता है जिससे कि केन्द्र अथवा राज्य दोनो मे से कोई भी एक पक्ष संविधान मे मनमाने ढग से संशोधन करके शक्ति विभाजन के स्वरूप मे परिवर्तन न कर सके।

(4) नागरिकता में अन्तर—एकात्मक शासन म व्यक्ति को केवल इकहरी नागरिकता प्राप्त होती है जबकि संघात्मक शासन मे व्यक्ति को प्राय दोहरी नागरिकता प्राप्त होती है। एक व्यक्ति संघ का भी नागरिक होता है तथा उस राज्य का भी नागरिक होता है जिसमे वह निवास कर रहा हो।

(5) शासन के अंगों की स्थिति मे अन्तर—एकात्मक शासन व्यवस्था मे सामान्यतया व्यवस्थापिका सर्वोच्च होती है, जबकि संघात्मक शासन के अन्तर्गत संविधान की सर्वोच्चता पायी जाती है। संघात्मक शासन मे शक्तियो का विभाजन होने [redacted] कारण केन्द्र तथा राज्यो के बीच मतभेद की सम्भावना रहती है। अत संविधान की व्याख्या करने के लिए, उसकी रक्षा करने के लिए तथा केन्द्र और राज्यो के बीच संवैधानिक विवादो को सुलझाने के लिए एक सर्वोच्च न्यायालय की आवश्यकता होती है। अत. संघात्मक शासन मे व्यवहार मे, अन्य अंगो की तुलना मे न्यायपालिका अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाती है। वह व्यवस्थापिका के किसी भी ऐसे कानून को तथा कार्यपालिका के किसी भी कार्य को जो संविधान के विपरीत हो, अवैध घोषित कर सकती है।

(6) अन्य अन्तर एकात्मक शासन संघात्मक शासन की तुलना मे कम खर्चीला तथा अधिक कुशल होता है जबकि संघात्मक शासन एकात्मक शासन की तुलना मे अधिक लोकतान्त्रिक तथा कम स्वेच्छाचारी होता है।

संघ राज्य के निर्माण एवं उसकी सफलता हेतु परिस्थितियाँ

संघ-राज्य के निर्माण एवं उसकी सफलता के लिए कुछ विशेष परिस्थितियों की आवश्यकता होती है। ये परिस्थितियाँ निम्नलिखित हैं

(1) एकता की दृढ़ भावना—संघ के निर्माण के लिए प्रथम आवश्यकता होती है कि संघ बनाने वाली इकाइयों में सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक स्वतन्त्र सत्ता के अधीन एक होने की दृढ़ भावना होनी चाहिए परन्तु साथ ही संघीय इकाइयों को केन्द्रीय सरकार की अधीनता स्वीकार करते हुए भी अपने क्षेत्रीय विषयों में पूर्ण स्वतन्त्र रहना चाहिए। इस तरह उनमें एकता की भावना होनी चाहिए, एकात्मकता की नहीं। डायसी के अनुसार संघ के निर्माण के लिए दो बातें अनिवार्य हैं—प्रथम, "सर्वसाधारण में संघ का निर्माण करने की दृढ़ इच्छा, तथा द्वितीय, संघीभूत राज्य संघ के इच्छुक हों, न कि एकता के।"

(2) भौगोलिक समीपता—संघ का निर्माण करने वाली इकाइयों को भौगोलिक दृष्टि से भी पास-पास होना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि संघ में शामिल होने वाले राज्य भूमि अथवा जल द्वारा एक-दूसरे से अधिक दूर नहीं होने चाहिए। भौगोलिक दृष्टि से परस्पर दूर रहने वाली इकाइयों में संघ [illegible] स्थायित्व के लिए न तो आवश्यक भावात्मक एकता स्थापित हो सकती है और न वे केन्द्रीय प्रशासन में समान रूप से भाग ही ले सकती हैं। प्रो० गिलक्राइस्ट ने कहा है कि "दूरी से केन्द्रीय और स्थानीय सरकार दोनों में उपेक्षा और कठोरता उत्पन्न हो जाती है। जहाँ लोग एक-दूसरे से बहुत ही दूर हों वहाँ राष्ट्रीय एकता प्राप्त करना कठिन है।"[1]

(3) राजनीतिक संस्थाओं और सामाजिक प्रथाओं में समानता—संघ के निर्माण तथा उसकी सफलता के लिए यह आवश्यक है कि संघ का निर्माण करने के लिए इकाइयों में कुछ सामान्य सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाएँ और विचार हों। इनके अभाव में यदि संघीय राज्य स्थापित हो भी जाय तो उसका स्थायी रहना कठिन है। हम ऐसे संघीय राज्य की कल्पना नहीं कर सकते जिसकी एक इकाई में लोकतन्त्रीय प्रणाली हो और दूसरे में अधिनायकतन्त्र। प्रो० ह्वीयर ने कहा भी है कि "जिन लोगों में समान राजनीतिक संस्थाएँ थीं या जिनमें समान राजनीतिक संस्थाओं के बीज विद्यमान थे उन्हीं में संघ निर्माण की इच्छा पैदा हुई।"

(4) भाषा, धर्म, संस्कृति व हितों की एकता—संघ की सफलता के लिए संघ बनाने वाले राज्यों में भाषा, धर्म, संस्कृति, ऐतिहासिक सम्बन्ध तथा हितों की एकता भी महत्वपूर्ण मानी जाती है। यही वे तत्व हैं जो मनुष्यों को इकट्ठा रखते

---

1 "Distance leads of carelessness or callousness on the part of both central and local government. National unity [illegible] difficult to attain where the people are too far apart."
— Gilchrist

और उनमे एकता की भावना का विकास करते हैं। संघ का उद्देश्य इकाइयों के बीच एकता स्थापित करना होता है और यह तभी सम्भव है जबकि राज्य व राष्ट्रीयता की सीमाएं अनुरूप हो। मिल (Mill) के शब्दो मे, **"संघ निर्माण की अनिवार्य अनुकूलता जाति, भाषा, धर्म और सबसे अधिक राजनीतिक संस्थाओं को अनुकूलता है, जिससे कि समान राजनीतिक स्वार्थों की सृष्टि होती है।"**[1]

(5) संघ बनाने वाले राज्यों की समानता—संघ के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि जनसंख्या तथा आकार की दृष्टि से संघ की इकाइयो मे यथासम्भव समानता होनी चाहिए। उन इकाइयो का संघ प्रायः सफल नहीं होता, जिनकी स्थिति एवं शक्तियो मे परस्पर बहुत अन्तर होता है, क्योंकि अधिक शक्तिशाली इकाइयां कम शक्तिशाली इकाइयो को दबा लेती हैं और इस दशा मे संघ नष्ट हो जाता है। प्रो० ह्वीयर के शब्दो मे, 'छोटी और बड़ी इकाइयो मे सन्तुलन होना चाहिए जिससे कि छोटी इकाइयां अपने अधिकार क्षेत्रों की मर्यादा की रक्षा कर सकें और बड़ी इकाइयां छोटी इकाइयो को परेशान न कर सकें।"

(6) पर्याप्त आर्थिक साधन—संघ शासन की सफलता के लिए यह अति आवश्यक है कि संघ की इकाइयो के पास पर्याप्त आर्थिक साधन हो ताकि वे केन्द्रीय सरकार को आर्थिक सहायता दे सकें और अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को भी बनाये रख सकें। आर्थिक साधनो के अभाव मे इकाइयां केन्द्र पर अधिक निर्भर होती हैं और वे अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नही बनाये रख सकतीं। ऐसी दशा मे संघ कभी सफल नहीं हो सकता, चाहे संघीय इकाइयो मे संघ बनाये रखने की कितनी ही दृढ़ इच्छा क्यों न हो।

(7) राजनीतिक चेतना—संघ के नागरिको मे ऊँचे स्तर की राजनीतिक जागृति होनी चाहिए। उन्हे अपने राज्य तथा संघ के प्रति अधिकार तथा कर्तव्य का पूरा ज्ञान होना चाहिए। राजनीतिक दृष्टि से जागरूक जनता ही क्षेत्रीयता एवं प्रान्तीयता की संकीर्ण मनोवृत्ति से ऊपर उठकर संघ की आवश्यकताओ को पूरी कर सकती है। दोहरी नागरिकता से उत्पन्न दोहरे उत्तरदायित्वों की पूर्ति के लिए संघीय शासन मे नागरिको मे अधिक राजनीतिक चेतना होनी चाहिए।

संघात्मक शासन के गुण—वर्तमान समय मे संघात्मक व्यवस्था सर्वाधिक प्रचलित शासन व्यवस्था है। यह राज्य के विकास की सर्वोच्च इकाई है। संघात्मक व्यवस्था के अग्रलिखित गुण माने जाते हैं :

---

1 "The sympathies available for the purpose are those of race, language, religion and above all of political institutions as condencing most to a feeling of identity of political interests"
—Mill : *Representative Government*, p. 36.

(1) राष्ट्रीय एकता तथा स्थानीय स्वायत्तता मे सामजस्य सघीय शासन मे कुछ राज्य अपने अस्तित्व की रक्षा तथा सामान्य हितो की प्राप्ति के लिए, अपनी क्षेत्रीय सत्ता को बनाये रखते हुए, एक केन्द्रीय सरकार के अधीन सगठित होते हैं सघ मे केन्द्र और इकाइयो के बीच शक्तियो का विभाजन होता है। ऐसे विषय ज राष्ट्रीय महत्त्व के होते हैं तथा जिनके नियन्त्रण एवं नियमन मे एकरूपता आवश्यक होती है, वे केन्द्रीय सरकार को सौंप दिये जाते है तथा स्थानीय महत्त्व के विषय सघ की इकाई सरकारो को सौप दिये जाते हैं। इस प्रकार सघीय शासन एक ओर स्थानीय स्वायत्तता को स्वीकार करता है तथा दूसरी ओर राष्ट्रीय एकता के हितो की रक्षा करता है और वह इन दोनो मे सामजस्य स्थापित करता है।

(2) निर्बल राज्यो के लिए हितकर—सघात्मक प्रणाली का एक महत्त्वपूर्ण लाभ यह है कि इसमे छोटे-छोटे राज्य आर्थिक, राजनीतिक तथा सास्कृतिक दृष्टि से अपने हितो की रक्षा अच्छी प्रकार से कर सकते हैं। एक सघ के रूप मे सगठित होने से छोटे छोटे राज्यो को सुरक्षा की चिन्ता नही रहती तथा आन्तरिक क्षेत्र मे भी वे शक्तिशाली हो जाते हैं क्योकि आन्तरिक अव्यवस्था अथवा विद्रोह की स्थिति मे उन्हे सघ से सहायता प्राप्त होने का पूरा विश्वास रहता है।

(3) निरकुशता की सम्भावना मे कमी—सघात्मक शासन मे किसी एक व्यक्ति अथवा सस्था के निरकुश होने की सम्भावना नही रहती क्योकि केन्द्र तथा इकाइयो की सरकारो मे सविधान द्वारा शक्तियो का स्पष्ट विभाजन कर दिया जाता है। फिर सविधान की सर्वोच्चता तथा न्यायपालिका का प्रभावशाली नियन्त्रण उनको अपनी सीमाओ का उल्लघन नहीं करने देता। इस प्रकार केन्द्रीय सरकार न तो स्वेच्छाचारी बनकर इकाइयो की स्वतन्त्रता को ही नष्ट कर सकती है और न ही अपनी शक्तियो का अनुचित प्रयोग ही कर सकती है। लॉर्ड ब्राइस के शब्दो मे, 'सघ से एक निरकुश शासक द्वारा जनता के अधिकार हड़प लिए जाने का खतरा नहीं रहता।"

(4) प्रशासकीय कार्यकुशलता मे वृद्धि वर्तमान समय म जबकि राज्य के कार्यों मे निरन्तर वृद्धि होती जा रही है, सघात्मक शासन प्रशासकीय कार्यकुशलता को बनाये रखने मे महत्त्वपूर्ण योग देता है। सघीय व्यवस्था मे केन्द्र तथा उसकी इकाइयो के बीच शक्तियों का विभाजन कर दिया जाता है। इससे एक ओर तो केन्द्रीय सरकार का कार्यभार हल्का हो जाता है जिससे वह महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय कार्यों पर अधिक ध्यान दे सकती है तथा दूसरी ओर स्थानीय हितो की भी अवहेलना नही हो पाती। इस प्रकार शासन की कार्यकुशलता मे वृद्धि होती है।

(5) स्थानीय स्वशासन के लिए अधिक उपयुक्त —सघ शासन मे शक्तियो का विकेन्द्रीकरण होने से स्थानीय स्वशासन तथा प्रजातान्त्रिक भावनाओ का विकास होता है। इसके अन्तर्गत स्थानीय जनता को अपने क्षेत्रो का स्वय शासन करने का अवसर मिलता है। इससे सभी क्षेत्रो का पर्याप्त विकास होता है। इसके अतिरिक्त,

स्थानीय स्वशासन के कारण लोगो मे सार्वजनिक कार्यों के प्रति रुचि बढ़ती है, उनका मानसिक स्तर ऊँचा उठता है तथा उन्हे शासन सम्बन्धी कार्यों का प्रशिक्षण मिलता है। अतः स्थानीय स्वशासन तथा प्रजातन्त्र के विकास के लिए संघीय शासन एक अधिक उपयुक्त व्यवस्था मानी जाती है।

(6) **राजनीतिक तथा प्रशासनिक प्रयोगों के लिए अवसर**—संघीय शासन मे प्रशासन तथा कानून के क्षेत्र मे अनेक प्रयोग एवं परीक्षण किये जा सकते हैं जो एकात्मक शासन-प्रणाली मे सम्भव नही हैं। सरकार संघ की किसी भी इकाई मे कोई राजनीतिक परीक्षण कर सकती है और वहाँ उसे सफलता मिलने पर उसे देश के अन्य राज्यो म भी लागू किया जा सकता है।

(7) **विशाल राज्यो के लिए उपयुक्त**—संघ शासन उन बड़े बड़े देशो के लिए उपयुक्त माना जाता है जहाँ भाषा, धर्म सस्कृतियो तथा हितो की विभिन्नता पायी जाती है। इन विभिन्नताओ के आधार पर ही राज्यो का निर्माण होता है। संघात्मक व्यवस्था एक ओर स्थानीय स्वराज्य के द्वारा इन विभिन्नताओ को सुरक्षा प्रदान करती है तथा दूसरी ओर केन्द्रीय सरकार के द्वारा राष्ट्रीय एकता के लक्ष्य की पूर्ति करती है।

(8) **आर्थिक दृष्टि से लाभकारी**—आर्थिक दृष्टि से भी संघात्मक शासन मितव्ययी शासन माना जाता है। राज्यो के एक संघ मे संगठित हो जाने से सभी को रेल, तार, डाक, सेना, विदेशी मामलो आदि अनेक बातो के लिए अलग-अलग प्रबन्ध नही करना पड़ता। सभी के सामान्य हितो से सम्बन्ध रखने वाली चीजो की व्यवस्था केन्द्रीय सरकार के द्वारा की जाती है। अत इससे खर्च मे कमी होती है तथा केन्द्र और राज्य दोनो को अपने आर्थिक साधनो मे वृद्धि करने का अवसर मिलता है।

(9) **अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे प्रतिष्ठा की वृद्धि**—संघात्मक व्यवस्था का एक अन्य लाभ यह है कि इसमे अनेक छोटे छोटे राज्य मिलकर एक शक्तिशाली राज्य का निर्माण करते हैं, जिसका अन्तर्राष्ट्रीय जगत मे महत्वपूर्ण स्थान होता है। विश्व राजनीति मे अमेरिका, भारत तथा सोवियत संघ जैसे राज्यो का आज जो स्थान है, वह कभी न होता, यदि उनकी सभी इकाइयाँ स्वतन्त्र होती।

(10) **विश्व संघ की ओर संकेत**—संघीय व्यवस्था मे छोटी छोटी इकाइयाँ अपनी अपनी स्थानीय स्वायत्तता सुरक्षित रखते हुए सामान्य हितो की वृद्धि के कार्य करती है। संघवाद की यह प्रवृत्ति 'विश्व संघ' के निर्माण की सम्भावनाओ की ओर संकेत करती है। इस प्रकार की सम्भावना को ध्यान मे रखकर ही मिल ने कहा है कि 'यदि कार्यकुशलता तथा स्थाई संघात्मक व्यवस्था की आवश्यक दशाएँ विद्यमान हों, तो इस प्रकार के संगठनों की जितनी अधिक संख्या होगी, संसार के लिए उतना ही अच्छा होगा।'[1]

---

1. "When the conditions exist for the formation of efficient and favourable federal unions, the multiplication of them is always a benefit to the world" —J S. Mill

संघात्मक शासन के दोष—उपरोक्त गुणों के होते हुए भी संघात्मक शासन की कुछ अपनी दुर्बलताएँ हैं। यह दुर्बलताएँ निम्नलिखित हैं :

(1) **शासन में दुर्बलता**—शासन की दृष्टि से संघात्मक शासन एक निर्बल शासन व्यवस्था है। इसमें शक्तियों का विभाजन और विकेन्द्रीयकरण के कारण सुदृढ़ शासन की स्थापना नहीं हो सकती है। शासन की दुर्बलता के कारण इसमें एकरूपता तथा दृढ़ता का अभाव रहता है और उत्तरदायित्वहीनता की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है।

(2) **शासन में अकुशलता**—दोहरी शासन प्रणाली होने के कारण सरकार की कार्यक्षमता घट जाती है। इसमें निर्णय लेने में विलम्ब होता है तथा सरकार दृढ़तापूर्वक अपने निर्णय को क्रियान्वित नहीं कर पाती।

(3) **राष्ट्रीय एकता को खतरा**—संघीय व्यवस्था में प्रान्तीय भावनाओं का विकास उग्र रूप से होता है जिससे राष्ट्रीय एकता को खतरा पैदा हो जाता है। कई बार किसी विषय के अधिकार क्षेत्र को लेकर संघ में तथा उसकी इकाइयों में संघर्ष पैदा हो जाता है और गृह युद्ध की सी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। संघ में यह भय भी बना रहता है कि कहीं कोई इकाई संघ के विरुद्ध विद्रोह करके उससे पृथक होने की घोषणा न कर दे। गैटल ने लिखा है कि "संघीय शासन प्रणाली वाले देशों में केन्द्रीय सरकार और स्थानीय सरकारों में बीच वैमनस्य का खतरा सदैव बना रहता है। सदैव इस बात की आशंका बनी रहती है कि कहीं कोई राज्य विद्रोह न कर बैठे या साम्प्रदायिक तत्त्व सिर न उठाने लग जायें।"

(4) **उत्तरदायित्व की अनिश्चितता**—संघात्मक शासन का एक दोष यह है कि इसमें शक्तियों का विभाजन होता है और प्रशासन सम्बन्धी दोषों के लिए किसी भी एक सरकार को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। इस शासन व्यवस्था में केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारें अपनी जिम्मेदारी एक-दूसरे पर डालती रहती हैं।

(5) **संगठन की जटिलता**—एकात्मक शासन की तुलना में संघात्मक शासन का संगठन अधिक जटिल होता है। इसमें दोहरी शासन व्यवस्था का निर्माण करना होता है और यह भी निर्णय करना पड़ता है कि दोनों सरकारों के बीच शक्तियों के विभाजन की क्या योजना हो। शक्तियों के विभाजन के कारण संघ की विभिन्न इकाइयों में सदैव विवाद उत्पन्न होने का खतरा बना रहता है। कभी-कभी कोई इकाई संघ से अधिक स्वायत्तता की माँग करने लगती है। इससे केन्द्र और उसकी इकाइयों के बीच मतभेद बढ़ जाने की सम्भावना हो जाती है।

(6) **समय व धन का अपव्यय**—संघात्मक शासन में धन का बहुत अपव्यय होता है। इसमें दोहरी शासन व्यवस्था होती है जिसके संचालन के लिए दोहरी राजनीतिक संस्थाएँ तथा दोहरे कर्मचारी वर्ग की व्यवस्था करनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त संघीय शासन में समय व शक्ति का भी अपव्यय होता है क्योंकि समान

कानून बनाने तथा प्रशासनिक समानता लाने के लिए राज्यों को समझाना-बुझाना पड़ता है। फाइनर का कथन है कि "संघीय व्यवस्था बहुत अपव्ययी होती है क्योंकि इसमें प्रशासनिक मशीनरी तथा प्रक्रिया का दोहरापन होता है।"

(7) **अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में दुर्बलता**—आलोचकों का कहना है कि वैदेशिक सम्बन्धों के संचालन में संघीय शासन में ऐसी स्वाभाविक दुर्बलता है जो एकात्मक शासन में नहीं मिलती। 'विदेश नीति' केन्द्रीय सरकार का विषय होते हुए भी विदेशी मामलों में केन्द्र सबल तथा दृढ़ नीति को नहीं अपना सकता क्योंकि वैदेशिक सम्बन्धों के कुशल संचालन के लिए जिन अन्य विभागों का सहयोग आवश्यक होता है वे सब की इकाई सरकारों के अधीन होते हैं। ऐसे में जब प्रान्तरिक मतभेद विदेश नीति को प्रभावित करने लगते हैं तो विदेशों में राज्य की प्रतिष्ठा कम हो जाती है। प्रो० व्हीयर के शब्दों में, "संघवाद और उत्साहपूर्ण विदेश नीति साथ-साथ नहीं चल सकते।"[1] युद्ध के समय में संघीय सरकार के निर्णयों में कभी-कभी देरी हो जाती है और इस कारण दृढ़ कार्यवाही नहीं हो पाती है।

(8) **प्रगतिशील कार्यों में बाधक**—संघवाद में संविधान लिखित एवं कठोर होता है जिसमें किसी प्रकार का परिवर्तन संघ व उसकी इकाइयों की सहमति से ही किया जा सकता है। संशोधन की इस कठिन प्रक्रिया का परिणाम यह होता है कि संविधान परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल स्वयं को नहीं ढाल पाता। कई बार ऐसा होता है कि अति आवश्यक होते हुए भी केन्द्रीय सरकार संविधान में परिवर्तन नहीं कर सकती क्योंकि संघीय इकाइयाँ अपने स्वार्थों के कारण परिवर्तन पर अपनी सहमति नहीं देती। ऐसी अवस्था में संविधान जड़ होकर रह जाता है और देश की प्रगति रुक जाती है।

अन्त में, ब्राइस ने संघ-व्यवस्था के दोषों को इस प्रकार लिपिबद्ध किया है—(i) कमजोर परराष्ट्र नीति, (ii) संघ सरकार का राज्यों तथा नागरिकों पर दुर्बल प्रभाव, (iii) राज्यों के पृथक होने का भय, (iv) संघ की इकाइयों की आपसी गुटबन्दी, (v) संघ की व्यवस्थापिका की शक्ति पर नियन्त्रण (vi) शासन और कानून में अनेकरूपता, और (vii) अधिक खर्च, कष्ट तथा अनावश्यक देरी।

संघीय व्यवस्था में एकात्मकता के तत्त्व

वर्तमान समय में सभी संघीय राज्यों में एक नवीन प्रवृत्ति का विकास हो रहा है जिसके अनुसार संघीय राजनीतिक व्यवस्थाओं के क्रियान्वन में एकात्मकता के तत्त्वों का अधिकाधिक समावेश होता जा रहा है। हम देखते हैं कि पिछले कुछ समय से विश्व के आदर्श संघीय राज्यों में भी केन्द्रीय सरकार इकाइयों की सरकारों की

1. "Federation and sp rited foreign policy go ill together"
—Wheare

अपेक्षा कहीं अधिक शक्तिशाली बन गई है। एकात्मकता की इस बढ़ती हुई प्रवृत्ति के कुछ सामान्य कारण हैं, जो निम्नलिखित हैं

(1) युद्ध—युद्धकाल में देश को सुदृढ़ संगठन तथा कुशल नेतृत्व की आवश्यकता होती है। प्रथम व द्वितीय विश्वयुद्ध ने संघ राज्यों की केन्द्रीय सरकारों की शक्तियों में अत्यधिक वृद्धि की है।

(2) आर्थिक संकट—संघ की इकाइयों का आर्थिक संकट भी एकात्मकता की प्रवृत्ति को बढ़ावा देता है। आर्थिक साधनों के अभाव में संघीय इकाइयाँ केन्द्र पर अधिकाधिक निर्भर होती चली जाती हैं और उसी अनुपात में उनकी स्वतन्त्रता सीमित होती चली जाती है। सभी संघों में केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्यों को भारी आर्थिक सहायता दिये जाने के कारण इकाइयों की स्वतन्त्रता सीमित हो गई है।

(3) *केन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था तथा समाज व्यवस्था*—वर्तमान समय में सामाजिक तथा आर्थिक जीवन इतना जटिल हो गया है कि आज कोई समस्या स्थानीय समस्या नहीं रह गई है। प्रत्येक समस्या का सम्पूर्ण राष्ट्र पर प्रभाव पड़ता है अतः ऐसी समस्याओं के समाधान के कारण केन्द्रीय सरकार का महत्त्व बढ़ गया है।

(4) *जनता के दृष्टिकोण में परिवर्तन*—संघीय शासन में एकात्मकता के तत्त्वों को सर्वाधिक प्रोत्साहन लोगों के बदलते हुए दृष्टिकोण से मिला है। कुछ समय पूर्व जनसाधारण का झुकाव राज्य सरकारों की ओर था, अब लोगों की रुचि केन्द्रीय सरकारों में अधिक है।

(5) सामाजिक सेवाओं की माँग—वर्तमान समय में राज्य का स्वरूप लोककल्याणकारी हो गया है और जनता द्वारा चाही गई अधिकाधिक सामाजिक सेवाओं की माँग ने केन्द्रीय सरकार की शक्तियों में वृद्धि की है।

संघीय राजनीतिक व्यवस्था के क्रियान्वयन में एकात्मकता के तत्त्वों का अधिकाधिक समावेश होता जा रहा है यह बात संसार के अनेक संघीय राज्यों के संविधानों में देखी जा सकती है।

संयुक्त राज्य अमेरिका—अमरीकी संविधान संसार में संघवाद का श्रेष्ठतम उदाहरण माना जाता है। लेकिन वर्तमान समय में वहाँ शक्तियों के विभाजन का सन्तुलन केन्द्रीय सरकार के पक्ष में किया जा रहा है। यह सन्तुलन कुछ तो संवैधानिक संशोधनों द्वारा केन्द्रीय सरकार के पक्ष में किया गया है और कुछ न्यायालय ने ध्वनित शक्तियों के सिद्धान्त, अन्तर्निहित शक्तियों के सिद्धान्त तथा संविधानों की पवित्रता के सिद्धान्त आदि पर जो निर्णय दिये हैं उनसे केन्द्रीय सरकार की शक्तियों में वृद्धि हुई है और राज्यों का अधिकार क्षेत्र संकुचित हुआ है। संघीय सहायता अनुदान की व्यवस्था ने भी संघ की शक्ति को बढ़ाने में सहायता की है।

स्विटजरलैण्ड—स्विटजरलैण्ड में संघ की सरकार को जो विषय दिये गये हैं, वे उतने महत्त्वपूर्ण हैं कि केन्द्र कैण्टनों पर प्रभुत्वकारी हो जाता है। इसके अतिरिक्त

यहाँ केन्द्र को यह अधिकार है कि वह आन्तरिक अशान्ति की दशा में किसी भी कैण्टन का शासन अपने अधिकार में ले ले। सम्मिलित सूची के विषयों पर अन्तिम निर्णय का अधिकार केन्द्रीय सरकार को प्राप्त है। समय-समय पर हुए संवैधानिक संशोधनों द्वारा भी स्विटजरलैण्ड में एकात्मकता के तत्त्वों का विकास हुआ है।

भारत—भारत में यद्यपि संविधान द्वारा ही एकात्मकता प्रधान संघात्मक शासन की स्थापना की गयी थी फिर भी समय समय पर हुए संवैधानिक संशोधनों तथा न्यायालय के द्वारा संविधान की उदार व्याख्या ने केन्द्र की शक्ति में और अधिक वृद्धि की है। आर्थिक नियोजन व संघ की इकाइयों की दुर्बल आर्थिक स्थिति ने इकाइयों को केन्द्रीय सरकार पर अधिकाधिक निर्भर कर दिया है।

संघात्मक शासन का भविष्य

संघीय शासन में जिस प्रकार एकात्मकता के तत्वों की निरन्तर वृद्धि होती जा रही है उसे देखकर विद्वान प्रो० सेठ लिप्सन, गार्नर आदि विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि शीघ्र ही विश्व में संघात्मक शासन के स्थान पर एकात्मक शासन की स्थापना हो ही जायेगी। प्रो० लिप्सन का कहना है कि **"बीसवीं शताब्दी में राजनीति अर्थशास्त्र और विज्ञान के दबाव में विकेन्द्रीयकरण की प्रवृत्तियाँ समाप्त हो रही हैं और केन्द्रीयकरण की प्रवृत्तियों को बल मिल रहा है। आधुनिक समाज तेजी से केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को अपना रहा है।"**

परन्तु प्रो० व्हीयर (Wheare) यह नहीं मानते कि राज्य के उत्तरोत्तर विकास क्रम में संघीय शासन का स्थान एकात्मक शासन ले लेता है। वह लिखते हैं कि **"यह मान्यता ऐतिहासिक आधारों पर आधारित नहीं है। मैंने अभी तक किसी सच्चे संघ को एकात्मक शासन में बदलते नहीं देखा।"** यह ठीक है कि आज केन्द्रीय सरकार की शक्तियों में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि लगभग उसी अनुपात में इकाइयों की सरकारों में भी वृद्धि हुई है। इस समय संघात्मक देशों में इकाइयों की सरकारें वे सब कार्य कर रही हैं जिन्हें वे संघ की स्थापना के समय या तो बिलकुल ही नहीं करती थीं अथवा बहुत कम अंशों में किया करती थीं। इसके अतिरिक्त राज्य सरकारें अपनी स्वतन्त्रता तथा अस्तित्व को बनाये रखने के लिए आज भी उतनी ही उत्सुक हैं, जितनी वे संघ का निर्माण होने के समय थीं। वर्तमान युग में संसार के अनेक नवीन राज्यों में भी संघात्मक शासन के प्रति आकर्षण बढ़ रहा है।

अतः हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि संघीय शासन का भविष्य उतना अन्धकारमय नहीं है जितना आलोचक समझते हैं। सिजविक का तो कहना है कि "जब हम भूत से भविष्य की ओर दृष्टिपात करते हैं तो शासन व्यवस्था के स्वरूप के सम्बन्ध में हमें संघ व्यवस्था के विकास की सबसे अधिक सम्भावना प्रतीत होती है।" स्ट्रांग ने भी इसी प्रकार से विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि "यदि विश्व

अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता को छोड़कर विश्व राज्य तक पहुँचना चाहता है, तो वह निश्चित रूप से सघात्मक प्रणाली के द्वारा ही पहुँच सकता है।" अन्त में हम प्रो० ह्वीयर के शब्दों में यह कह सकते हैं कि "सघवाद विजय की दिशा में निरन्तर आगे बढ़ रहा है।"

अभ्यास के प्रश्न

1 एकात्मक शासन के गुण एव दोषो का परीक्षण कीजिए।
2 यह कथन किस सीमा तक उचित है कि सभी सघीय राजनीतिक व्यवस्थाओं के क्रियान्वन में कुछ तत्त्व एकात्मकता के भी विद्यमान होते हैं? अपने उत्तर के समर्थन में उचित उदाहरण दीजिए।
3 सघीय व्यवस्था की सफलता के लिए प्रमुख परिस्थितियो का परीक्षण कीजिए। (राजस्थान विश्व०, 1977)
4 सघात्मक शासन के प्रमुख लक्षणो का वर्णन कीजिए तथा इसके गुण एव दोषो की विवेचना कीजिए।
5 एकात्मक और सघात्मक शासन में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
6 "सघ का निर्माण होता है, स्वत जन्म नही।" (मैरियट) इस कथन की व्याख्या कीजिए और सघ के निर्माण की आवश्यक शर्तों का वर्णन कीजिए।
7. एकात्मक और सघात्मक शासन के लक्षण बताइए तथा दोनो के गुण-दोषो का वर्णन कीजिए।
8 सघ सरकार के बनाने के लिए कौन-सी आवश्यक शर्तें हैं? इसके गुण और दोषो का वर्णन कीजिए। (राजस्थान विश्व०, 1975)
9 सघात्मक शासन की विशेषताओ का वर्णन कीजिए और इसकी सफलता के लिए आवश्यक शर्तों को समझाइए। (राजस्थान विश्व०, 1979)

17

सरकार के अंग : व्यवस्थापिका

[ORGANS OF GOVERNMENT . LEGISLATURE]

"राज्य की इच्छाओं की पूर्ति जिस संगठन या एजेन्सी के द्वारा होती है, उसका नाम सरकार है।"[1]
—डा० गार्नर

सरकार का अर्थ—सरकार राज्य का वह मूल तत्त्व है जो राज्य की इच्छा को निर्धारित करता है, उसे व्यक्त करता है तथा उसे क्रियान्वित करता है। राज्य अपने आप में एक भावात्मक संस्था है जो स्वयं अपने कार्यों का संचालन नहीं कर सकती। राज्य के कार्य सरकार द्वारा ही किये जाते हैं। इसलिए सरकार राज्य का यन्त्र व प्रतीक दोनों है। सरकार राज्य की आत्मा है। जिस प्रकार आत्मा के बिना शरीर जीवित नहीं रह सकता, उसी प्रकार सरकार के बिना भी राज्य कार्य नहीं कर सकता। सोल्टाऊ ने सरकार का अर्थ बताते हुए कहा है कि 'सरकार से हमारा तात्पर्य उन सब व्यक्तियों संस्थाओं व साधनों से होता है जिनके द्वारा राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति होती है तथा उसे क्रियान्वित किया जाता है।" बर्क के अनुसार, "सरकार मानव बुद्धि का एक आविष्कार है जिसके द्वारा मनुष्यों की इच्छाएं पूर्ण की जाती हैं।' लास्की ने सरकार की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "सरकार राज्य का ऐसा संगठन है जो राज्य की ओर से सर्वोच्च बलशाली शक्ति का प्रयोग करती है या उसमें निहित होती है।" इस प्रकार सरकार एक ऐसी संस्था है जिसके ऊपर राज्य के कानून बनाने, उन्हें लागू करने तथा जो उनका पालन न करे, उन्हें उचित दण्ड देने का उत्तरदायित्व होता है।

सरकार के अंग—समस्त राजनीतिज्ञों ने सरकार के कार्यों के आधार पर उसे एक से अधिक अंगों में विभक्त किया है। डिग्वी ने सरकार के दो अंग माने हैं—व्यवस्थापिका व कार्यपालिका। विलोबी ने इसके पाँच अंग बताये हैं (1) निर्वाचक

---

1 "Government is the organization, through which the state manifests its will, issues its commands and conducts its affairs"
—Garner · *Political Science and Government*, p 278.

गण, (2) शासन प्रबन्धकर्त्ता, (3) व्यवस्थापिका, (4) कार्यपालिका, तथा (5) न्यायपालिका। डोने सरकार के सात अंग मानते हैं लेकिन वर्तमान समय में सरकार के अंगों का यह वर्गीकरण स्वीकार नहीं किया जाता। आधुनिक समय मे सरकार के केवल तीन अंग ही सर्वमान्य हैं (1) व्यवस्थापिका, (2) कार्यपालिका, एवं (3) न्यायपालिका।

व्यवस्थापिका
(Legislature)

व्यवस्थापिका सरकार का वह अंग है जो जनता के हित व कल्याण को दृष्टि में रखकर राज्य की नीतियों का निर्धारण करता है। वह कानूनों के माध्यम से राज्य की इच्छा को अभिव्यक्त करता है।

व्यवस्थापिका का महत्त्व—व्यवस्थापिका सरकार का वह आधारभूत अंग है जो अन्य दोनो अंगों का मार्ग निर्देशन करता है। इसके द्वारा निर्मित कानूनो के आधार पर ही कार्यपालिका शासन करती है तथा न्यायपालिका न्याय प्रदान करती है। गिलक्राइस्ट ने कहा है कि, "विधायी सत्ता सरकार के प्रमुख आधार का निर्माण करती है, न्यायपालिका छोटे आधार का व कार्यपालिका अन्त का। जिस प्रकार प्रमुख आधार छोटे आधार या अन्त से महत्त्वपूर्ण होता है उसी प्रकार व्यवस्थापिका, न्यायपालिका व कार्यपालिका से बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है।" व्यवस्थापिका केवल कानूनों का निर्माण ही नहीं करती वरन् प्रशासन की नीति भी निश्चित करती है। संविधान में संशोधन का कार्य भी व्यवस्थापिका द्वारा ही किया जाता है। इतना सब होने पर भी व्यवस्थापिका का महत्त्व किसी देश में प्रचलित शासन-व्यवस्था पर अधिक निर्भर करता है। उदाहरणार्थ, निरकुश राजतन्त्रीय शासन-व्यवस्था में व्यवस्थापिका का अपना कोई महत्त्व नहीं होता। वह शासक के हाथ की कठपुतली मात्र या अधिक से अधिक एक परामर्शदात्री संस्था होती है। अध्यक्षात्मक लोकतन्त्रीय शासन प्रणाली में व्यवस्थापिका के कार्य व अधिकार निश्चित व मर्यादित होते हैं। कार्यपालिका पर उसका कोई प्रत्यक्ष नियन्त्रण नहीं होता जबकि संसदीय शासन-व्यवस्था में व्यवस्थापिका का कार्यपालिका पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण रहता है और उसका स्थान अन्य दोनों अंगों से ऊँचा होता है।

व्यवस्थापिका के कार्य—आधुनिक लोकतान्त्रिक राज्यों में व्यवस्थापिका सामान्य रूप से निम्नलिखित कार्य करती है

(1) **कानूनों का निर्माण**—व्यवस्थापिका का सर्वप्रमुख व महत्त्वपूर्ण कार्य कानूनों का निर्माण करना है। उसका यह मौलिक कर्तव्य है कि वह सार्वजनिक इच्छाओं व कठिनाइयों का विश्लेषणात्मक सर्वेक्षण करके वर्तमान कानूनों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन अथवा परिवर्द्धन करे। इसके लिए वह कानूनों का प्रारूप तैयार करती है तथा उन पर विचार-विमर्श करती है। आवश्यकता पड़ने पर वह

उस प्रारूप को प्रवर समितियों के पास भेजती है तथा स्वीकृत हो जाने पर उन्हें कानून का रूप प्रदान करती है।

(2) संविधान में संशोधन—प्रायः सभी लोकतन्त्रीय देशों में व्यवस्थापिका को ही संविधान में संशोधन का अधिकार प्राप्त होता है। संशोधन का यह कार्य व्यवस्थापिका संविधान में निहित प्रक्रिया के अन्तर्गत ही करती है। जिन देशों का संविधान लचीला होता है, वहाँ पर व्यवस्थापिका को ही संविधान में संशोधन करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त होता है जैसे कि इंगलैण्ड में है। परन्तु जिन देशों का संविधान कठोर अथवा अपरिवर्तनशील होता है, वहाँ संविधान में संशोधन करने के लिए व्यवस्थापिका को संशोधन की एक विशेष प्रणाली अपनानी पड़ती है, जैसे भारत तथा अमेरिका में है।

(3) विचार-विमर्श—व्यवस्थापिका कानूनों का निर्माण करने वाली संस्था ही नहीं है अपितु वह विचार विमर्श करने वाली संस्था भी है। व्यवस्थापिका में किसी भी विषय पर विभिन्न समुदायों, स्वार्थों व दृष्टिकोणों के प्रतिनिधियों के बीच खुलकर विचार विमर्श होता है। इसीलिए इसे राष्ट्र के मस्तिष्क का प्रतिबिम्ब व लोकमत का दर्पण कहा जाता है। विचार-विमर्श का यह कार्य व्यवस्थापिका निश्चित नियमों के अन्तर्गत करती है जिसे "व्यवस्थापिका के कार्य संचालन के नियम" कहा जाता है।

(4) राष्ट्रीय वित्त पर नियन्त्रण—व्यवस्थापिका जनता की प्रतिनिधि संस्था है जिसका राष्ट्रीय वित्त पर पूर्ण नियन्त्रण रहता है। व्यवस्थापिका प्रत्येक वित्तीय वर्ष के आरम्भ में उस वर्ष के अनुमानित सरकारी आय-व्यय का ब्यौरा स्वीकार करती है। उसकी अनुमति के बिना न तो कोई नया कर लगाया जा सकता है और न सरकार द्वारा कोई धनराशि खर्च ही की जा सकती है। इस प्रकार व्यवस्थापिका का राष्ट्रीय वित्त पर पूर्ण नियन्त्रण रहता है। अपने इसी कार्य के द्वारा व्यवस्थापिका अन्य दोनों अंगों से सर्वोच्च हो जाती है।

(5) प्रशासन पर नियन्त्रण—प्रो० लास्की ने कहा है कि 'व्यवस्थापिका का कार्य यह देखना है कि कार्यपालिका अपना कार्य ठीक ढंग से करती है या नहीं।" यद्यपि व्यवस्थापिका कहीं भी प्रशासन में सीधा भाग नहीं लेती तथापि देश के प्रशासन पर उसका महत्वपूर्ण नियन्त्रण रहता है। संसदीय शासन में यह नियन्त्रण प्रत्यक्ष होता है। ऐसे शासन में मन्त्रिमण्डल व्यवस्थापिका में से ही चुना जाता है तथा उसी के प्रति उत्तरदायी होता है। मन्त्रिमण्डल अपने पद पर तभी तक रह सकता है जब तक व्यवस्थापिका का उसमें विश्वास हो। व्यवस्थापिका को मन्त्रिमण्डल के सदस्यों से प्रश्न व पूरक प्रश्न पूछने, उनके विरुद्ध कामरोको व निन्दा प्रस्ताव लाने तथा अन्ततः अविश्वास का प्रस्ताव पास करने का अधिकार होता है। अध्यक्षात्मक शासन में व्यवस्थापिका का प्रशासन पर सीधा नियन्त्रण नहीं रहता तथापि इस क्षेत्र में वह कुछ

महत्वपूर्ण शक्तियों का उपभोग करती है। अमरीका में राष्ट्रपति द्वारा की गई सन्धियाँ व नियुक्तियाँ तब तक वैध नहीं मानी जाती जब तक सीनेट उन पर अपनी स्वीकृति न दे दे। कार्यपालिका के सदस्यों के विरुद्ध आवश्यकता पड़ने पर सीनेट जाँच आयोग बैठा सकती है। कांग्रेस राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग लगाकर उसे पदच्युत कर सकती है। युद्ध व शान्ति की घोषणा भी व्यवस्थापिका द्वारा ही की जाती है।

(6) न्यायिक कार्य—प्रायः सभी देशों में व्यवस्थापिका कुछ न्याय सम्बन्धी कार्य भी करती है। इंगलैण्ड में 'लार्ड सभा' वहाँ के अन्तिम अपील न्यायालय के रूप में कार्य करती है। अमरीका में राष्ट्रपति पर लगाये गये महाभियोग का निर्णय सीनेट ही करती है। भारत में भी संसद को राष्ट्रपति उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश व लोक सेवा आयोग के सदस्यों के विरुद्ध महाभियोग लगाने व निर्णय करने का अधिकार है। व्यवस्थापिका संसद के सदस्यों अथवा निजी व्यक्तियों को भी दण्डित कर सकती है यदि उनके द्वारा व्यवस्थापिका का अपमान किया गया हो।

(7) निर्वाचन सम्बन्धी कार्य—अनेक देशों में व्यवस्थापिका निर्वाचन सम्बन्धी कार्य भी करती है। उदाहरणार्थ, फ्रांस की व्यवस्थापिका वहाँ के राष्ट्रपति का निर्वाचन करती है। स्विटजरलैण्ड में वहाँ की संसद मन्त्रिपरिषद् प्रधान, सेनापति व न्यायाधीशों का चुनाव करती है। सोवियत संघ में व्यवस्थापिका मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों व उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों का निर्वाचन करती है। भारत में भी राष्ट्रपति का चुनाव संसद के निर्वाचित सदस्यों व राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा किया जाता है।

(8) समितियों व आयोगों की नियुक्ति—व्यवस्थापिका समय-समय पर आवश्यकतानुसार समितियाँ व आयोगों की नियुक्ति करती रहती है। अमरीका में सीनेट द्वारा जाँच समितियों की नियुक्ति की जाती है। ये समितियाँ कार्यपालिका पर प्रभावशाली नियंत्रण रखती है। सीनेट स्वतंत्र न्यायिक आयोगों की भी रचना करती है जिन पर कार्यपालिका का कोई नियंत्रण नहीं होता। भारत में भी संसद समय-समय पर आयोगों व जाँच समितियों की नियुक्ति करती है। इंगलैण्ड व अमरीका की तरह ही भारत में भी सरकारी निगमों की रचना की गई है। इन निगमों के कार्यों पर संसद का पूर्ण नियन्त्रण रहता है।

इससे यह स्पष्ट है कि वर्तमान समय में व्यवस्थापिका केवल विधि निर्माण का कार्य ही नहीं करती। लोकतान्त्रिक जनहितकारी राज्य में व्यवस्थापिका का सम्बन्ध उन सब कार्यों से है जो कि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हमारे जीवन को प्रभावित करते हैं। प्रो॰ गार्नर ने ठीक ही कहा [redacted] कि "अधिकांश देशों में व्यवस्थापिका केवल विधि निर्माण करने वाला अंग ही नहीं है, अपितु इसके साथ साथ यह अन्य

विभिन्न प्रकार के कार्य भी करता है, जैसे निर्वाचन, न्यायिक, निर्देशन तथा कार्यपालिका सम्बन्धी।"[1]

व्यवस्थापिका का संगठन

व्यवस्थापिका का सगठन दो प्रकार से होता है। इसका या तो एक सदन हो सकता है अथवा दो सदन। एक सदन वाली व्यवस्थापिका को "एक-सदनीय व्यवस्थापिका" (Uni-cameral) कहा जाता है और दो सदनों वाली व्यवस्थापिका को "द्विसदनीय व्यवस्थापिका" (Bicameral Legislature) कहा जाता है। पहले एक-सदनीय व्यवस्थापिका का बोलबाला था लेकिन प्रजातन्त्र के विकास के साथ-साथ द्विसदनीय व्यवस्थापिका का विकास हुआ और आज कुछ छोटे छोटे राज्यों को छोड़कर प्राय सभी प्रजातन्त्रीय देशो मे द्विसदनात्मक व्यवस्थापिकाएँ विद्यमान हैं। द्वि-सदनीय व्यवस्थापिका ससार के लिए ब्रिटेन की एक महत्त्वपूर्ण देन है। विलोबी ने कहा है कि "यदि ब्रिटिश ससद द्विसदनात्मक न होती तो शायद ससार के विधान मण्डल भी द्विसदनात्मक नहीं होते।" व्यवस्थापिका एक-सदनात्मक हो अथवा द्विसदनात्मक, इस प्रश्न पर विद्वानो मे प्रारम्भ से ही मतभेद रहा है। इसके पक्ष एव विपक्ष का विवेचन निम्न प्रकार से किया जा सकता है

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष में तर्क—व्यवस्थापिका के द्वितीय सदन के पक्ष मे निम्न तर्क प्रस्तुत किये जा सकते है

(1) **प्रथम सदन की मनमानी पर रोक**—व्यवस्थापिका के प्रथम सदन के सदस्य यद्यपि जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि होते हैं फिर भी एक बार निर्वाचित होने के बाद वे निरकुशता की ओर अग्रसर हो सकते हैं। अकुश के अभाव मे उनके नैतिक पतन की सम्भावना प्रत्येक क्षण बनी रहती है। लॉस्की ने एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका की निन्दा करते हुए लिखा है कि 'शासन के उन समस्त रूपो मे से, जिनका ज्ञान मनुष्य के लिए सम्भव है, मैं किसी ऐसे शासन को नहीं जानता जो एक अकेले सर्वशक्तिशाली लोकतन्त्रीय सदन के शासन से बुरा हो।"[2] व्यवस्थापिका के सदस्य अत्याचारी, भ्रष्ट व स्वेच्छाचारी न हो पायें, इसके लिए दूसरा सदन आवश्यक है। डॉ॰ गार्नर ने इस सम्बन्ध मे कहा है कि द्वितीय सदन की विद्यमानता

---

1 "In most countries, the legislature is not merely the law-making organ, but at the same time it exercises a variety of other functions electoral, judicial, directorial and executive"
—Garner *Political Science and Government*, p 540

2 'Of all the forms of government, that are possible among mankind, I do not know any which is likely to be worse than the government of a single omnipotent democratic chamber."
—Lasky *Civil Liberty and Self Government*, p 107.

स्वतन्त्रता की गारन्टी व कुछ सीमा तक अत्याचार से सुरक्षा भी है।"[1] शासन मे द्वितीय सदन सन्तुलन स्थापित करता है। इससे नागरिक अधिकारो की सुरक्षा होती है।

(2) पहले सदन के उतावलेपन पर रोक—साधारणतया प्रथम सदन में ऐसे प्रतिनिधियो की अधिकता होती है जिनके विचार बहुत ही उग्र तथा क्रान्तिकारी होते हैं। वे जोश मे आकर कई बार कुछ ऐसे कानूनो का पारित कर देते हैं जो जन-साधारण के हित मे नही होते। दूसरा सदन इस प्रकार के अविचारपूर्ण कानूनो पर रोक लगाता है। लैकी ने कहा है कि "नियन्त्रक, संशोधक व बाधक प्रभाव के रूप मे द्वितीय सदन की आवश्यकता ने प्राय एक सर्वमान्य तथ्य का स्थान ले लिया है।"[2] जार्ज वाशिंगटन ने एक बार कहा था—"द्वितीय सदन वह प्लेट है जिसमे प्रथम सदन की उबलती हुई चाय ठण्डी की जाती है।"

(3) पुनरावलोकन का कार्य—निम्न सदन द्वारा जो विधेयक पारित किया जाता है, उसमें बहुत-सी त्रुटियो की सम्भावना रहती है। उच्च सदन उन पर पुनर्विचार कर उन्हे दूर करने का प्रयास करता है। यह निम्न सदन से आये विधेयको को शीघ्रता से पारित नही करता जिससे जनता को विधेयक के सम्बन्ध मे विचार व्यक्त करने का अवसर मिल जाता है। इस अर्थ मे दूसरा सदन बड़ा उपयोगी माना जायेगा। ब्लुश्ली ने ठीक ही कहा है कि "दो आँखों की अपेक्षा चार आँखें सदा अच्छी होती हैं, विशेषत जब किसी प्रश्न पर विभिन्न दृष्टिकोणो से विचार करना आवश्यक हो।"

(4) विशिष्ट वर्गों का प्रतिनिधित्व—निम्न सदन के प्रतिनिधि केवल बहुमत के प्रतिनिधि होते है। अल्पसंख्यको के प्रतिनिधि चुनाव मे पीछे छूट जाते हैं। राष्ट्रीय व्यवस्थापिका को देश का स्वस्थ प्रतिनिधि बनने के लिए यह आवश्यक है कि उसका आधार व्यापक हो। व्यवस्थापिका मे व्यापकता केवल तभी आ सकती है जबकि समाज के प्रत्येक वर्ग के विचारो का सहयोग प्राप्त कर लिया जाये। ब्लुश्ली ने कहा भी है कि "हम राज्य की जनसंख्या मे कुलीनतन्त्रीय व लोकतन्त्रीय तत्वों के भेद की उपेक्षा नहीं कर सकते और विधानमण्डल मे एक ही वर्ग के प्रतिनिधित्व की आज्ञा नहीं दे सकते।" द्वितीय सदन विशिष्ट वर्गों अल्पसंख्यको व विद्या, ज्ञान तथा अनुभव की दृष्टि स योग्य व्यक्तियो को प्रतिनिधित्व प्रदान करता

---

1 "The existence of a second chamber is thus a guarantee of liberty as well as in some extent a safe-guard against tyranny."
—Garner

2 "The necessity of a second chamber to increase a controlling, modifying and regarding influence, has required almost the position of an axiom."
—Lecky

है। इस प्रकार द्विसदनीय व्यवस्था प्रतिनिधित्व की उत्तमता की दृष्टि से अच्छी समझी जाती है।

(5) कार्य का विभाजन—लोकतन्त्रवाद के आधुनिक युग में राज्य के कार्य इतने अधिक बढ़ गये हैं कि अकेले निम्न सदन द्वारा उन्हें ठीक प्रकार से करना सम्भव नहीं है। द्वितीय सदन के रहते व्यवस्थापिका के कार्यों का विभाजन हो जाता है और व्यवस्थापिका की कार्यक्षमता बढ़ जाती है। ऐसे विधेयक, जिन पर अधिक मतभेद न हो, सर्वप्रथम द्वितीय सदन में प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिससे वहाँ विचार होने के पश्चात् प्रथम सदन का कार्य हल्का हो सकता है।

(6) कार्यपालिका की स्वतन्त्रता की सुरक्षा—दोनों सदन एक-दूसरे पर रुकावट का कार्य करके कार्यकारिणी को अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं। कई बार निम्न सदन मन्त्रियों के कार्य की कटु आलोचना करता है। ऐसी स्थिति में यदि उन्हें द्वितीय सदन का सहयोग मिल जाये तो वे अपने कार्यों का अधिक आसानी से पूरा कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में प्रथम सदन भी उनके काम में अधिक रुकावट नहीं डाल सकता। द्वितीय सदन के होने पर कार्यपालिका को महाभियोग का भय भी कम रहता है और वह अपना कार्य अधिक निर्भीकता से कर पाती है।

(7) जनमत निर्माण में सहायक—द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका में कोई भी विधेयक एक सदन में पारित होने के पश्चात् द्वितीय सदन में जाता है। द्वितीय सदन में उस पर पर्याप्त विचार विमर्श किया जाता है। इसी बीच प्रेस के माध्यम से निर्वाचक मण्डल को विधेयक के सम्बन्ध में जानकारी हो जाती है और वह उस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर सकता है। एक-सदनीय व्यवस्थापिका में यह सम्भव नहीं है। इस प्रकार द्वितीय सदन जनमत निर्माण में सहायक होता है।

(8) विवेक तथा अनुभव का सदन—प्रथम सदन में अधिकांशतः कम उम्र के व्यक्ति होते हैं जिनमें अनुभव कम व जोश अधिक होता है। उनसे गहन विचार, दूरदर्शिता व भविष्य के प्रति सजगता की आशा नहीं की जा सकती। द्वितीय सदन के सदस्य अनुभवी व राजनीतिक दृष्टि से परिपक्व होते हैं। परिवर्तन वे भी चाहते हैं परन्तु सोच-समझकर। यदि द्वितीय सदन नहीं हो तो देश ऐसे व्यक्तियों की सेवाओं से वंचित रह जायेगा। इसके अतिरिक्त द्वितीय सदन में सदस्यों के भाषणों का स्तर काफी ऊँचा रहता है। अमरीका में सीनेट विश्व का सबसे अधिक शक्तिशाली सदन कहा जाता है।

(9) संघात्मक राज्य के लिए आवश्यक—संघीय शासन में इकाइयों का प्रतिनिधित्व करने के लिए दूसरा सदन अत्यन्त आवश्यक है। उसमें प्रथम सदन तो जनता का प्रतिनिधित्व करता है, इकाइयों का नहीं। इकाइयों के प्रतिनिधित्व के लिए दूसरे सदन की व्यवस्था की जाती है। फाइनर के अनुसार, "द्वितीय सदन का होना संघात्मक प्रणाली में आवश्यक है।" मेरियट ने भी इसकी अनिवार्यता पर बल दिया है। उनके अनुसार, "संघीय संविधान को लोकप्रिय बनाने के लिए द्वितीय

सदन आवश्यक है।" अमरीका, स्विटजरलैण्ड व सोवियत संघ जैसे संघीय राज्यों में वहाँ की इकाइयों को उच्च सदन में समान संख्या में प्रतिनिधि भेजने का अधिकार प्रदान किया गया है जबकि भारत में संघ की इकाइयों को समान प्रतिनिधित्व के स्थान पर जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया है।

विपक्ष में तर्क—द्वितीय सदन के पक्ष में दिये गये उपर्युक्त तर्कों से अनेक विद्वान सहमत नहीं हैं। वे आज भी एक सदनीय व्यवस्थापिका को ही श्रेष्ठ मानते हैं और अपने पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं

(1) **प्रथम सदन ही लोकमत का प्रतिनिधित्व कर सकता है**—प्रजातन्त्र में अन्तिम सत्ता जनता में निहित रहती है। अन्तिम सत्ता की अभिव्यक्ति जन-इच्छा में होती है जिसका प्रतिनिधित्व व्यवस्थापिका करती है। यह इच्छा अखण्ड व अविभाज्य होती है अतः इसका प्रतिनिधित्व भी एक ही सदन कर सकता है, दो नहीं। **अब्बे सईज (Abbe Sieyes) के शब्दों में, "किसी भी विषय पर लोकमत एक ही हो सकता है, दो नहीं, इसलिए जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करने के लिए एक ही सदन होना चाहिए, दूसरे सदन की आवश्यकता नहीं।"**[1]

(2) **प्रथम सदन की निरंकुशता पर रोक नहीं**—द्वितीय सदन के पक्ष में एक तर्क यह दिया जाता है कि द्वितीय सदन प्रथम सदन को निरंकुश होने से रोकता है लेकिन यह सत्य नहीं है। प्रथम सदन में जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित सदस्य होते हैं। अतः प्रथम सदन द्वितीय सदन की अपेक्षा स्वतः ही शक्तिशाली होता है। फिर वर्तमान समय में सदनों में मतदान व्यक्तिगत आधार पर न होकर दलीय आधार पर होता है। इसलिए द्वितीय सदन द्वारा प्रथम सदन पर अंकुश का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता।

(3) **कानूनों पर पुनर्विचार के लिए अनावश्यक**—यह कहना ठीक नहीं है कि प्रथम सदन द्वारा आवेश व जल्दबाजी में किये गये कानून निर्माण को रोकने के लिए दूसरा सदन आवश्यक है। वर्तमान समय में कानून प्रथम सदन द्वारा जल्दबाजी में तथा अविचारपूर्ण ढंग से पारित नहीं किये जाते वरन् विधेयक के प्रत्येक पहलू पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाता है। विचार विमर्श की लम्बी प्रक्रिया में से निकलकर ही कोई विधेयक कानून का रूप लेता है। जैसा कि लास्की ने लिखा है कि "आधुनिक युग में व्यवस्थापन एकाएक कानून की पुस्तक पर नहीं आ जाता। प्रायः प्रत्येक विधेयक विचार व विश्लेषण की लम्बी प्रक्रिया के फलस्वरूप कानून

---

1 "The law is the will of the people, the people can not at the same time have two different wills on the same subject, therefore, the legislative body which represents the will of the people, ought to be essentially one," —*Abbe Sieyes*

बनता है। अतः शीघ्र व्यवस्थापन को रोकने की दृष्टि से राजनीति की वर्तमान दशा में दूसरे सदन का महत्त्व अत्यन्त कम हो गया है।"[1]

अब्बे सईज ने इसकी निरर्थकता को अत्यन्त ही सुन्दर शब्दों में व्यक्त करते हुए कहा है कि "यदि दूसरा सदन पहले सदन का विरोध करता है तो दुष्ट है और यदि वह उससे सहमत हो जाता है तो व्यर्थ है।"[2]

(4) गतिरोध की सम्भावना—दो सदन होने से उनमें परस्पर मतभेद की सम्भावना बनी रहती है जिसका शासन व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ता है। द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की आलोचना करते हुए बेंजामिन फ्रेंकलिन (Benjamin Franklin) ने इसकी तुलना एक ऐसी गाड़ी से की है जिसके दोनों ओर दो घोड़े हैं और दोनों गाड़ी को अपनी ओर खींचने में लगे हुए हैं।

(5) प्रगतिशील विधि-निर्माण में बाधक—द्वितीय सदन के सदस्य प्राय अधिक अवस्था वाले होते हैं जिनका अनुभव तो अधिक होता है परन्तु दृष्टिकोण संकीर्ण होता है। वे अपना पद प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा नहीं वरन् मनोनयन, अप्रत्यक्ष निर्वाचन व उत्तराधिकार के आधार पर प्राप्त करते हैं। इसलिए दूसरा सदन रूढ़िवादिता का गढ़ बन जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रथम सदन द्वारा पारित प्रगतिशील विधेयकों का द्वितीय सदन डटकर विरोध करता है और इस प्रकार देश के विकास की दिशा को पीछे की ओर मोड़ता है।

(6) समय व धन का अपव्यय—द्विसदनात्मक प्रणाली में समय व धन दोनों का अपव्यय होता है। कानून निर्माण में जो प्रक्रिया प्रथम सदन में अपनाई जाती है, वही प्रक्रिया दूसरे सदन में भी अपनाई जाती है। इस प्रकार समय की बर्बादी होती है। दो सदनों के होने से राज्य का खर्च भी बढ़ जाता है क्योंकि दोनों सदनों के सदस्यों को वेतन, भत्ता आदि देना पड़ता है। अतः द्वितीय सदन एक निर्धन देश के लिए अधिक उपयुक्त नहीं है।

(7) अल्पमतों को प्रतिनिधित्व देने के अन्य साधन—द्वितीय सदन के पक्ष में यह कहा जाता है कि यह विशिष्ट हितों व अल्पमतों को प्रतिनिधित्व प्रदान करने के लिए आवश्यक है, परन्तु यह कथन भी सही नहीं है। अल्पसंख्यकों के हितों

---

1 "Legislation does not suddenly finds its way to the statute book Almost every measure, *that is enacted* becomes law as a result of long precesss of discussion and analysis so that the importance of second chamber as excercising check on hasty legislation is generally lessned by the modern conditions of politics."—**Lasky** *Grammar of Politics*, p. 330.

2 "If the upper chamber agrees with the first chamber, *it is* superfluous, *if it disagrees with the first*, it is mischievous."
—Abbe Sieyes

का सरक्षण अन्य तरीकों से भी किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, सविधान में उनके प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की जा सकती है। भारत में सविधान द्वारा अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जन-जातियों के लिए स्थान सुरक्षित रखे गये हैं।

(8) सगठन में कठिनाई—द्वितीय सदन का सगठन किस आधार पर हो, इस प्रश्न पर विद्वान एकमत नहीं हैं। प्रत्येक देश में द्वितीय सदन के सगठन की प्रणाली में भिन्नता पायी जाती है। भारत में राज्य सभा का सगठन अप्रत्यक्ष रूप से होता है। अमरीका में सीनेट के सदस्य प्रत्यक्ष रूप में निर्वाचित होकर आते हैं जबकि कनाडा में सीनेट के सदस्यों का मनोनयन होता है। इगलैण्ड में लार्डसभा का गठन सामन्तवाद व वशानुक्रम के आधार पर होता है। यदि द्वितीय सदन का गठन प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर किया जाये तो वह प्रथम सदन की पुनरावृत्ति ही हो जाता है और यदि अप्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर किया जाये तो भ्रष्टाचार की सम्भावना अधिक रहती है। अधिकारों की दृष्टि से भी दोनों सदनों में मतभेद पैदा हो सकते हैं। यदि द्वितीय सदन को प्रथम सदन के समान ही शक्तियाँ प्रदान की जायें तो वह प्रतिनिधि सदन के समान ही शक्तिशाली हो जाता है। यदि प्रथम सदन की अपेक्षा द्वितीय सदन को कम अधिकार दिये जाते हैं तो उसकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाती। इस प्रकार द्वितीय सदन का गठन ही स्वय में एक समस्या है।

(9) सघ राज्य के लिए भी अनावश्यक—सघीय राज्य के लिए भी दूसरा सदन न तो उपयोगी ही है और न आवश्यक ही है। वर्तमान समय में दूसरे सदन के सदस्य इकाइयों का प्रतिनिधित्व नहीं करते वरन् वे राजनीतिक दलबन्दी के आधार पर चुने जाते हैं तथा उन्हीं का प्रतिनिधित्व करते हैं। अत यह कहना अर्थहीन है कि इकाइयों के हितों की रक्षा के लिए द्वितीय सदन आवश्यक है। सघीय इकाइयों की शक्तियों को सविधान में शक्तियों के विभाजन तथा न्यायिक पुनरावलोकन आदि की व्यवस्था करके सुरक्षित रखा जा सकता है।

निष्कर्ष—यद्यपि दूसरे सदन के विपक्ष में अनेक तर्क दिये गये हैं परन्तु फिर भी यह कहना न्यायसगत ही होगा कि बड़े-बड़े राज्यों तथा सघीय राज्यों में दूसरे सदन का होना आवश्यक तथा लाभदायक है। हमारा ऐतिहासिक अनुभव भी द्वितीय सदन के पक्ष में ही है। इगलैण्ड में गृह-युद्ध के पश्चात् तथा अमरीका में स्वतन्त्रता की प्राप्ति के पश्चात् व्यवस्थापिका का एक ही सदन था। लेकिन अनुभव ने इसे अव्यावहारिक सिद्ध कर दिया और कुछ समय बाद ही वहाँ द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका को अपना लिया गया। फ्रास में भी एक-सदनीय व्यवस्थापिका का प्रयोग असफल रहा और अब वहाँ एकसदनीय व्यवस्थापिका की कोई बात ही नहीं करता। यही कारण है कि वर्तमान समय में विश्व के लगभग सभी बड़े-बड़े देशों में, चाहे वे लोकतन्त्रात्मक हों या साम्यवादी, द्विसदनीय व्यवस्थापिका को ही अपनाया गया है।

अभ्यास के प्रश्न

1. आधुनिक लोकतन्त्र में व्यवस्थापिका के प्रमुख कार्यों और शक्तियों का वर्णन कीजिए।
2. द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के गुण एव दोषो की विवेचना कीजिए। (राजस्थान विश्व० 1978)
3. द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष एव विपक्ष मे तर्कों का परीक्षण कीजिए। (राजस्थान विश्व० 1973, 1975, 1976)
4. व्यवस्थापिका का कार्य केवल कानूनो का निर्माण करना ही नहीं है बल्कि एक लोकतान्त्रिक राज्य मे उसे अन्य कार्य भी करने पड़ते हैं। इस कथन की व्याख्या कीजिए।
5. "क्या आपके विचार से संघात्मक व्यवस्था मे द्वितीय सदन आवश्यक है ?" विवेचना कीजिए।
6. व्यवस्थापिका के संगठन के सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए। आप इनमे से किस सिद्धान्त को सबमे अच्छा मानते हैं ?
7. एक सदनीय एव द्वि-सदनीय व्यवस्थापिका के गुणों एव दोषों की तुलना कीजिए। *(राजस्थान विश्व० 1974)*
8. आधुनिक लोकतान्त्रिक राज्य मे व्यवस्थापिका के कार्यों का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए। क्या इन कार्यों से आजकल व्यवस्थापिका की भूमिका में कमी (पतन) का संकेत मिलता है ? (राजस्थान विश्व० 1979)

(2) एकल व बहुल कार्यपालिका (Singular and Plural Executive)—कार्यपालिका का प्रथम भेद यदि सवैधानिक शक्तियो के प्रयोग के आधार पर किया गया है तो दूसरा भेद सगठन के आधार पर किया गया है। जहाँ कार्यपालिका की समस्त शक्तियाँ एक प्रधान के हाथो मे होती हैं और सम्पूर्ण शासन व्यवस्था के लिए वही व्यक्ति उत्तरदायी होता है *वहाँ एकल कार्यपालिका पायी जाती है।* इगलैण्ड, भारत, फास तथा अमरीका इत्यादि एकल कार्यपालिका के ही उदाहरण हैं। बहुल कार्यपालिका मे सवैधानिक शक्तियो का प्रयोग किसी एक व्यक्ति द्वारा न होकर व्यक्तियो के एक समुदाय द्वारा होता है जैसा कि स्विटजरलैण्ड मे है। यहाँ कार्यपालिका शक्ति सघीय परिषद के सात सदस्यों मे निहित है। सोवियत रूस की 'प्रेसीडियम' भी बहुल कार्यपालिका का एक अन्य उदाहरण है। स्टालिन ने इसे 'सामूहिक राष्ट्रपति' की सज्ञा दी थी। यद्यपि बहुल कार्यपालिका की अपनी अनेक विशेषताएँ हैं परन्तु फिर भी व्यावहारिकता की दृष्टि से वर्तमान समय मे यह अधिक सफल नही हो सकी। यही कारण है कि आज सोवियत रूस व स्विटजरलैण्ड को छोडकर *प्राय सभी देशो मे एकल कार्यपालिका को ही अपनाया गया है।*

(3) ससदीय व अध्यक्षात्मक कार्यपालिका (Parliamentary and Presidential Executive)—ससदीय कार्यपालिका वह है जिसका निर्माण ससद द्वारा होता है। इसमे व्यवस्थापिका व कार्यपालिका का अपूर्व गठबन्धन रहता है। इसे 'मन्त्रिमण्डलीय कार्यपालिका' भी कहते हैं क्योकि इस व्यवस्था मे मन्त्रिमण्डल ही देश का वास्तविक शासक होता है। मन्त्रिमण्डल के सभी सदस्य व्यवस्थापिका के सदस्य होते हैं और अपने प्रत्येक काय के लिए वे प्रतिनिधि सदन के प्रति उत्तरदायी होते हैं। व्यवस्थापिका द्वारा अविश्वास का प्रस्ताव पारित कर मन्त्रिमण्डल को पदच्युत किया जा सकता है। इस पद्धति मे एक सवैधानिक प्रधान (Constitutional Head) भी होता है जिसके नाम पर वास्तविक कार्यपालिका अपनी सवैधानिक शक्तियो का प्रयोग करती है। इगलैण्ड व भारत मे इसी प्रकार की कार्यपालिका पायी जाती है। अध्यक्षात्मक कार्यपालिका (Presidential Government) उसे कहते हैं जो व्यवस्थापिका से बिलकुल पृथक रहती है। सविधान द्वारा दोनो की शक्तियाँ बँटी रहती हैं और दोनों ही एक दूसरे के कार्य मे प्राय हस्तक्षेप नही करती। इस प्रकार की कार्यपालिका मे राज्य की वास्तविक शक्तियाँ राष्ट्रपति या राज्याध्यक्ष म निहित होती हैं और वह अपने मन्त्रियो की सहायता से शासन का सचालन करता है। मन्त्री अपने कार्यो के लिए राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होते हैं, व्यवस्थापिका के प्रति नही। व्यवस्थापिका अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा राष्ट्रपति को पदच्युत नही कर सकती। राष्ट्रपति अपने कार्यो के लिए सविधान के प्रति उत्तरदायी होता है, न कि व्यवस्थापिका के प्रति। अमरीका की कार्यपालिका अध्यक्षात्मक कार्यपालिका का उदाहरण है।

(4) **पैतृक व निर्वाचित कार्यपालिका (Hereditary and Elective Executive)**—पैतृक कार्यपालिका उसे कहते हैं जहां राजा की मृत्यु के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र अथवा उत्तराधिकारी गद्दी पर बैठता है। यह कार्यपालिका राजतन्त्र में पायी जाती है। इंगलैण्ड, जापान, नेपाल आदि देशों में पैतृक कार्यपालिका पायी जाती है। इसके विपरीत, जहां कार्यपालिका जनता अथवा उसके प्रतिनिधियों द्वारा चुनी जाती है उसे निर्वाचित कार्यपालिका कहते हैं। भारत, अमरीका आदि देशों में निर्वाचित कार्यपालिका है।

मुख्य कार्यपालिका-प्रधान को चुनने की विधि

भिन्न भिन्न देशों में कार्यपालिका प्रधान की नियुक्ति भिन्न भिन्न तरीके से की जाती है। इनमें से निम्नलिखित चार तरीके अधिक प्रचलित हैं

(1) **वंशानुगत पद्धति (Hereditary System)**—यह एक राजतन्त्रीय पद्धति है जिसमें राजा की मृत्यु के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र (उसकी अनुपस्थिति में उसका कोई निकटतम सम्बन्धी) राजगद्दी पर बैठता है। प्राचीनकाल व मध्यकाल में कार्यपालिका की यह सर्वाधिक प्रचलित पद्धति थी, लेकिन लोकतन्त्र के वर्तमान युग में यह पद्धति असामयिक हो गई है। फिर भी इंगलैण्ड, स्वीडन, डैनमार्क आदि देशों में इसके अवशेष आज भी पाये जाते हैं। इन देशों में संवैधानिक प्रधान की नियुक्ति इसी पद्धति के आधार पर की जाती है।

(2) **जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन (Direct Election)**—मुख्य कार्यपालिका-प्रधान को चुनने की यह विधि वंशानुगत पद्धति के सर्वथा विपरीत है। इसमें कार्यपालिका का प्रधान जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित किया जाता है। मैक्सिको, चिली, ब्राजील, पनामा आदि देशों में राष्ट्रपति को जनता द्वारा ही चुना जाता है। इस पद्धति की विशेषता यह है कि यह पूर्णतया लोकतान्त्रिक प्रणाली है जिसमें जनता का सरकार के प्रति विश्वास बना रहता है। फिर भी यह पूरी तरह दोषमुक्त पद्धति नहीं है। साधारण जनता द्वारा योग्य व अच्छे व्यक्ति चुने जाने की सम्भावना कम रहती है और यदि वह अधिकारी महत्त्वाकांक्षी हो तो उसका निरंकुश बन जाना असम्भव नहीं है। नेपोलियन व हिटलर इसके सजीव उदाहरण हैं।

(3) **जनता द्वारा अप्रत्यक्ष निर्वाचन (Indirect Election)**—प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली के दोषों को दूर करने के लिए कुछ देशों में अप्रत्यक्ष निर्वाचन की प्रणाली को अपनाया गया है। इसके अन्तर्गत साधारण जनता निर्वाचक मण्डल का निर्वाचन करती है और फिर निर्वाचक मण्डल राष्ट्राध्यक्ष का चुनाव करता है। अमरीका में राष्ट्रपति का निर्वाचन इसी पद्धति द्वारा किया जाता है। लेकिन अमरीका में इस पद्धति का स्थान धीरे धीरे प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली ने ले लिया है और व्यवहार में अब वहाँ उसका कोई महत्त्व नहीं रहा है।

(4) **व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन (Election by the Legislature)**—इस पद्धति के अनुसार व्यवस्थापिका के सदस्य ही कार्यपालिका के प्रधान का निर्वाचन

करते हैं। भारत, सोवियत रूस तथा स्विटजरलैण्ड में मुख्य कार्यपालिका-प्रधान के निर्वाचन के लिए यही पद्धति अपनाई गयी है। भारत में राष्ट्रपति का निर्वाचन संसद व राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य मिलकर करते हैं। स्विटजरलैण्ड में संघीय परिषद का प्रधान वहाँ की व्यवस्थापिका के दोनों सदनों द्वारा अपने संयुक्त अधिवेशन में चुना जाता है। सोवियत रूस में 'प्रेसिडियम' के सदस्यों का निर्वाचन वहाँ की सर्वोच्च सोवियत के द्वारा किया जाता है।

इस पद्धति के अनेक लाभ होते हुए भी यह पूरी तरह दोषों से मुक्त नहीं है। इस पद्धति में व्यवस्थापिका द्वारा चुने जाने के कारण राष्ट्राध्यक्ष उसी के हाथ की कठपुतली मात्र बन जाता है तथा उसका चुनाव दलीय आधार पर होता है। यह पद्धति शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के भी विपरीत है।

(5) मनोनयन (Nominated Executive)—अधीनस्थ देशों में कार्यपालिका का प्रधान वहाँ की शासक सरकार द्वारा मनोनीत किया जाता है। स्वतन्त्रता से पूर्व भारत के गवर्नर जनरल का मनोनयन ब्रिटिश सम्राट द्वारा किया जाता था।

कार्यपालिका के कार्य

सिद्धान्ततः कार्यपालिका का कार्य व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों को क्रियान्वित करना है लेकिन आज के लोकतान्त्रिक जन-कल्याणकारी राज्य में राज्य के कार्य अत्यधिक बढ़ गये हैं जिसके परिणामस्वरूप कार्यपालिका के कार्यों में भी अत्यधिक वृद्धि हो गयी है। लिप्सन ने लिखा है कि "राज्य के कार्यों में प्रत्येक वृद्धि ने कार्यपालिका के कार्यों व शक्ति में वृद्धि की है।" वर्तमान समय में कार्यपालिका के निम्नलिखित कार्य माने जाते हैं

(1) प्रशासनिक कार्य—कार्यपालिका का सर्वप्रथम कार्य देश में आन्तरिक प्रशासन की व्यवस्था करते हुए शान्ति व व्यवस्था को बनाये रखना है। इसके अतिरिक्त शिक्षा, स्वास्थ्य, व्यापार, यातायात, उद्योग तथा कृषि आदि से सम्बन्धित कार्य भी कार्यपालिका द्वारा ही किये जाते हैं। इन कार्यों के सम्पादन के लिए कार्यपालिका राजकर्मचारियों की नियुक्ति करती है तथा उनके अधिकार क्षेत्र व कर्तव्यों की व्यवस्था करती है। इन अधिकारियों की पदोन्नति, अवनति तथा पदच्युति का कार्य भी कार्यपालिका ही करती है।

(2) कूटनीतिक कार्य—अपने इस कार्य के अन्तर्गत कार्यपालिका विदेशों के साथ सम्बन्ध स्थापित करती है। वह अन्य देशों में अपने प्रतिनिधियों को भेजती है तथा दूसरे देशों से आये हुए राजदूतों का स्वागत करती है। कार्यपालिका दूसरे राज्यों के साथ राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक समझौते करती है और समय-समय पर होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लेती है। यद्यपि विदेश-नीति पर व्यवस्थापिका का पूर्ण नियन्त्रण रहता है परन्तु आज यह कार्य प्रमुख रूप से कार्यपालिका के क्षेत्राधिकार में ही आ गया है और व्यवस्थापिका वैदेशिक सम्बन्धों के संचालन में बहुत कम भाग ले पाती है।

(3) सैनिक कार्य—विदेशी आक्रमण से देश की रक्षा करना कार्यपालिका का प्रधान कार्य है। इसके लिए कार्यपालिका जल, स्थल तथा नभ, तीनों सेनाओं का संगठन करती है, उन पर नियन्त्रण रखती है तथा उनके द्वारा देश की सुरक्षा करती है। आवश्यकता पड़ने पर वह किसी देश के विरुद्ध युद्ध अथवा सन्धि की घोषणा करती है। चान्सलर कैन्ट (Kent) के अनुसार, 'सैन्य बल का नियन्त्रण एवं प्रयोग, शान्ति की स्थापना और बाह्य आक्रमण से रक्षा स्वभावतः कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य हैं।"

(4) कानून निर्माण सम्बन्धी कार्य—कार्यपालिका कानून निर्माण सम्बन्धी भी अनेक कार्य करती है लेकिन उसके यह कार्य शासन-व्यवस्था के स्वरूप पर अधिक निर्भर करते हैं। संसदीय व्यवस्था में कार्यपालिका को व्यवस्थापिका का अधिवेशन बुलाने, उसे स्थगित करने तथा उसे भंग करने का अधिकार होता है। वह प्रायः सभी प्रमुख कानूनों के विधेयक तैयार करती है और उन्हें व्यवस्थापिका के समक्ष प्रस्तुत करती है। इसके अतिरिक्त व्यवस्थापिका द्वारा पारित विधेयकों पर अन्तिम स्वीकृति राज्याध्यक्ष ही प्रदान करता है। अध्यक्षात्मक शासन में राष्ट्रपति व्यवस्थापिका को सन्देश भेजकर कानून को प्रभावित करता है। उसे विलम्बकारी निषेधाधिकार भी प्राप्त होता है जिसके द्वारा वह किसी विधेयक को कुछ समय तक कानून बनने से रोक सकता है।

इसके अतिरिक्त जब व्यवस्थापिका अपने सत्र में नहीं होती, उस समय कार्यपालिका आवश्यकता पड़ने पर अध्यादेश जारी कर सकती है जो विधि के समान ही प्रभावी होते हैं। प्रदत्त व्यवस्थापन (Delegated legislation) के द्वारा भी कार्यपालिका की विधि निर्माण सम्बन्धी शक्ति में वृद्धि हुई है।

(5) वित्तीय कार्य—कार्यपालिका वित्त सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण कार्य भी करती है। वह वार्षिक बजट को तैयार करती है और उसे व्यवस्थापिका के समक्ष प्रस्तुत करती है। बजट में आय-व्यय का पूर्ण ब्यौरा होता है। राष्ट्रीय कोष की समुचित व्यवस्था के लिए कार्यपालिका के अन्तर्गत एक वित्त विभाग रहता है जिसे विभागीय व्यवस्था का केन्द्र कहा जाता है।

(6) न्यायिक कार्य—प्रायः प्रत्येक देश में कार्यपालिका को न्याय सम्बन्धी भी कुछ शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। कार्यपालिका के अध्यक्ष को अपराधी को क्षमा प्रदान करने का अधिकार होता है। वह न्यायालय द्वारा दिये गये दण्ड को कम भी कर सकता है। सर्वक्षमा (amnesty) की शक्ति के अन्तर्गत कार्यपालिका एक ही अपराध से सम्बन्धित अनेक अपराधियों को एक साथ क्षमा प्रदान कर सकती है। कार्यपालिका को क्षमादान की यह शक्ति मानवीय आधार तथा राजनीतिक व व्यावहारिक कारणों से प्रदान की जाती है। इसके अतिरिक्त देश के सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति भी कार्यपालिका द्वारा ही की जाती है। वर्तमान समय में प्रशासकीय विभागों

को भी अर्ध-न्यायिक अधिकार प्राप्त होते हैं। प्रशासकीय विभागों द्वारा निर्णय की परम्परा इंग्लैण्ड में पुरानी है।

(7) अन्य कार्य—उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त अनेक देशों में कार्यपालिका कुछ अन्य प्रकार के कार्य भी करती है, जैसे— उपाधियों का वितरण करना, विशिष्ट सेवाओं के बदले पेंशन अथवा अन्य प्रकार की सहायता प्रदान करना इत्यादि। वस्तुत जनकल्याणकारी विचारधारा के कारण वर्तमान समय में कार्यपालिका के कार्यों में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। मानव जीवन का शायद ही कोई पहलू इससे अछूता बचा होगा। यही कारण है कि आज व्यवस्थापिका की स्थिति इसके समक्ष गौण हो गई है।

लोकतान्त्रिक व्यवस्था में व्यवस्थापिका व कार्यपालिका मे सम्बन्ध

एक लोकतान्त्रिक व्यवस्था मे कार्यपालिका व व्यवस्थापिका के पारस्परिक सम्बन्ध सरकार के स्वरूप पर अधिक निर्भर करते हैं। यदि सरकार का स्वरूप ससदीय है तो कार्यपालिका व व्यवस्थापिका एक दूसरे के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होती हैं और यदि सरकार का स्वरूप अध्यक्षात्मक है तो दोनो अग एक दूसरे को नियन्त्रित व सन्तुलित करते हुए चलते हैं।

ससदीय व्यवस्था मे कार्यपालिका व्यवस्थापिका के बीच सम्बन्ध—ससदीय व्यवस्था मे कार्यपालिका व व्यवस्थापिका के मध्य सम्बन्धो पर दो दृष्टिकोणो से विचार किया जाता है सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण के अनुसार ससद की सत्ता तीनो क्षेत्रो—व्यवस्थापन, कार्यपालन तथा वित्तीय मे सर्वोच्च है। व्यवस्थापन के क्षेत्र में ससद की समानता करने वाली अन्य कोई सस्था नही होती। ससद को सविधान द्वारा निर्धारित सीमाओ के अन्तर्गत सब प्रकार के कानून बनाने का अधिकार होता है। वह किसी भी पुराने कानून को सशोधित कर सकती है, उसे समाप्त कर सकती है और आवश्यकतानुसार नये कानूनों का निर्माण कर सकती है। उसे सविधान मे सशोधन करने का अधिकार होता है। कार्यपालन के क्षेत्र मे ससद मन्त्रिमण्डल पर पूर्ण नियन्त्रण रखती है। मन्त्रिमण्डल के सदस्य ससद मे से लिए जाते हैं। वे अपने समस्त कार्यों के लिए ससद के प्रति उत्तरदायी होते हैं तथा ससद की इच्छा-पर्यन्त ही वे अपने पद पर रह सकते हैं। ससद विभिन्न तरीको से मन्त्रिमण्डल पर अपना नियन्त्रण रखती है। उदाहरणार्थ, ससद को मन्त्रियों से प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछने, उसकी निन्दा करने, उनके विरुद्ध काम रोको प्रस्ताव तथा कटौती प्रस्ताव पारित करने एव अविश्वास का प्रस्ताव पारित कर मन्त्रिमण्डल को पदच्युत करने का अधिकार होता है। वित्तीय क्षेत्र में ससद का देश के धन पर पूर्ण नियन्त्रण रहता है। ससद की पूर्व अनुमति के बिना सरकार द्वारा न तो कोई नया कर लगाया जा सकता है और न कोई धनराशि खर्च ही की जा सकती है। देश के वार्षिक बजट की अनुमति ससद द्वारा ही दी जाती है।

इस प्रकार सिद्धान्तत संसद स्वामी है और मन्त्रिमण्डल उसका सेवक। लेकिन व्यवहार मे यह सम्बन्ध बिलकुल विपरीत हो जाते हैं। सिद्धान्त में संसद द्वारा किये जाने वाले सभी कार्य व्यवहार मे मन्त्रिमण्डल द्वारा ही किये जाते हैं। व्यवस्थापन के क्षेत्र में जो भी प्रमुख कानून संसद द्वारा पारित किये जाते हैं, उनका प्रारूप मन्त्रिमण्डल द्वारा ही तैयार किया जाता है। संसद प्राय उन्हे उसी रूप मे पारित कर देती है जिस रूप मे वे मन्त्रिमण्डल द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं। संसद द्वारा उन विधेयकों मे केवल वे ही संशोधन किये जा सकते हैं जो मन्त्रिमण्डल को मान्य होते हैं। कार्यपालन के क्षेत्र में भी नीति निर्धारण का वास्तविक कार्य मन्त्रिमण्डल ही करता है, संसद केवल उस पर अपनी स्वीकृति मात्र देती है। जहाँ तक संसद द्वारा मन्त्रिमण्डल पर नियन्त्रण का प्रश्न है, यह भी औपचारिकता मात्र है क्योंकि मन्त्रिमण्डल को संसद मे बहुमत प्राप्त होता है। संसद द्वारा मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित करने की स्थिति प्राय नही आती क्योंकि उसमे पूर्व ही मन्त्रिमण्डल लोकसभा को भंग कर सदस्यो को निर्वाचकों की दया का पात्र बना सकता है। वित्तीय क्षेत्र में संसद वार्षिक बजट की स्वीकृति अवश्य देती है लेकिन उसकी सम्पूर्ण रूपरेखा मन्त्रिमण्डल द्वारा ही तैयार की जाती है। संसद द्वारा बजट की किसी मद में कटौती तो की जा सकती है परन्तु उसमे वृद्धि नही की जा सकती।

अध्यक्षात्मक व्यवस्था में कार्यपालिका व व्यवस्थापिका के बीच सम्बन्ध— अध्यक्षात्मक व्यवस्था मे शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को अपनाया जाता है जिसमे शासन के तीनो अंगो की शक्तियाँ संविधान द्वारा निश्चित होती हैं और कोई भी *अंग किसी दूसरे अंग के कार्यों मे हस्तक्षेप नही कर सकता। अतः अध्यक्षात्मक* व्यवस्था मे कार्यपालिका व व्यवस्थापिका के बीच कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही होता। इसमे राष्ट्रपति न तो संसद का सदस्य होता है और न वह उसके प्रति उत्तरदायी ही होता है। उसका कार्यकाल भी संसद की इच्छा पर निर्भर नही करता। *संविधान द्वारा उसका कार्यकाल निर्धारित होता है और अपने प्रत्येक कार्य के* लिए राष्ट्रपति संविधान के प्रति ही उत्तरदायी होता है। दूसरी ओर राष्ट्रपति को भी संसदीय कार्यपालिकाध्यक्ष की भाँति संसद का अधिवेशन बुलाने, स्थगित करने अथवा उसके निम्न सदन को भंग करने का अधिकार नहीं होता।

परन्तु व्यवहार में *अध्यक्षात्मक व्यवस्था* मे '*नियन्त्रण व सन्तुलन*' के सिद्धान्त का अनुसरण किया जाता है। अतः दोनो अंग एक दूसरे से पृथक रहते हुए भी आपस मे एक दूसरे को प्रभावित करते हैं तथा एक दूसरे पर नियन्त्रण रखते हैं। व्यवस्थापन के क्षेत्र में सिद्धान्ततः संसद को एकाधिकार प्राप्त होता है लेकिन व्यवहार में राष्ट्रपति को प्रतिवर्ष कांग्रेस को संदेश भेजने (the state of the union message) तथा देश की परिस्थितियों का मुकाबला करने के लिए विशिष्ट प्रकार के कानूनो के निर्माण का सुझाव देने का अधिकार होता है। इस

सन्देश व सुझाव का कांग्रेस पर निश्चित प्रभाव पड़ता है। कांग्रेस द्वारा पारित किसी भी विधेयक पर अन्तिम स्वीकृति राष्ट्रपति ही देता है। राष्ट्रपति को यद्यपि विधेयकों पर निषेधाधिकार की शक्ति प्राप्त होती है परन्तु राष्ट्रपति अपनी इस शक्ति का दुरुपयोग नहीं कर सकता क्योंकि ऐसा करने पर कांग्रेस महाभियोग का प्रस्ताव पारित करके उसे पदच्युत कर सकती है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति द्वारा उच्च पदों पर की जाने वाली नियुक्तियों, अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों तथा युद्ध व शान्ति की घोषणा आदि पर कांग्रेस की स्वीकृति आवश्यक होती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका दोनों एक दूसरे को केवल प्रभावित ही नहीं करते वरन् नियन्त्रित भी करते हैं और इस प्रकार वे अपने सम्बन्धों में अन्योन्याश्रित हैं।

समाजवादी व्यवस्था में कार्यपालिका व व्यवस्थापिका के बीच सम्बन्ध

समाजवादी व्यवस्था में कार्यपालिका व व्यवस्थापिका के बीच सम्बन्ध वहाँ की शासन प्रणाली पर निर्भर नहीं करते। समाजवादी देश में शासन प्रणाली चाहे संसदीय हो अथवा अध्यक्षात्मक, कार्यपालिका व व्यवस्थापिका के मध्य संवैधानिक सम्बन्धों का न तो कोई महत्त्व होता है और न कोई औचित्य ही। क्योंकि ऊपर से लेकर नीचे तक पूरा शासनतन्त्र एक ही दल द्वारा संचालित होता है।

सोवियत रूस समाजवादी व्यवस्था का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। यहाँ संसदीय शासन की स्थापना की गई है। सैद्धान्तिक दृष्टि से, यहाँ की सर्वोच्च सोवियत (संसद) प्रशासन के तीनों क्षेत्रों में सर्वोच्च है। कानून निर्माण के क्षेत्र में उसकी सत्ता असीमित है। इस कार्य में अन्य कोई उसकी सह अधिकारी नहीं है। कार्यपालन के क्षेत्र में उसे मन्त्रिमण्डल बनाने व उस पर नियन्त्रण रखने का अधिकार प्राप्त है। वह विभिन्न महत्त्वपूर्ण विषयों पर भी अपना पूर्ण नियन्त्रण रखती है। मन्त्रिमण्डल अपने समस्त कार्यों के लिए सर्वोच्च सोवियत के प्रति और जब वह अवकाश काल में हो तो प्रेसीडियम के प्रति उत्तरदायी होता है। सर्वोच्च सोवियत की कृपा पर्यन्त तक ही मन्त्रिमण्डल अपने पद पर बना रह सकता है। वार्षिक आय-व्यय की स्वीकृति भी सर्वोच्च सोवियत द्वारा ही दी जाती है। उसकी अनुमति के बिना मन्त्रिमण्डल सरकारी कोष में से कोई रकम खर्च नहीं कर सकता। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सर्वोच्च सोवियत के अवकाश काल में इसके समस्त कार्य प्रेसीडियम द्वारा किये जाते हैं परन्तु प्रेसीडियम को सर्वोच्च सोवियत के अगले अधिवेशन में अपने द्वारा किये गये समस्त कार्यों को उससे स्वीकृत कराना अनिवार्य होता है। इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से शासन के तीनों क्षेत्रों में सर्वोच्च सोवियत सर्वोपरि होती है।

परन्तु व्यवहार में सर्वोच्च सोवियत की स्थिति प्रेसीडियम तथा मन्त्रिमण्डल द्वारा लिए गये निर्णयों पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगाने से अधिक कुछ नहीं है। समस्त विधेयक मन्त्रिमण्डल अथवा प्रेसीडियम द्वारा ही प्रस्तुत किये जाते हैं। सर्वोच्च सोवियत का काम उन पर विचार करना नहीं वरन् उन पर स्वीकृति देना मात्र होना

है। मन्त्रिमण्डल पर उसका नियन्त्रण भी वास्तविक की अपेक्षा औपचारिक ही अधिक है। रूस का मन्त्रिमण्डलीय उत्तरदायित्व उस प्रकार का नहीं है जैसा कि इंगलैण्ड या भारत का है। वस्तुत यहाँ मन्त्रिमण्डल का नियन्त्रण सर्वोच्च सोवियत या प्रेसीडियम के हाथो में न होकर साम्यवादी दल के हाथो मे रहता है। मन्त्रिमण्डल के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष साम्यवादी दल की केन्द्रीय समिति के प्रमुख सदस्य होते हैं और उनकी स्थिति ऐसी होती है कि वे स्वय प्रेसीडियम तथा सर्वोच्च सोवियत पर नियन्त्रण रख सकते हैं। *इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शासन के सभी क्षेत्रो मे* साम्यवादी दल का नियन्त्रण समाजवादी व्यवस्था की प्रमुख विशेषता है और यह विशेषता सर्वोच्च सोवियत तथा मन्त्रिमण्डल अथवा प्रेसीडियम के पारस्परिक सम्बन्धो मे स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

अभ्यास के प्रश्न

1 कार्यपालिका की व्याख्या कीजिए और उसके विभिन्न कार्यों का वर्णन कीजिए।
2 कार्यपालिका के विभिन्न प्रकारो का वर्णन कीजिए। एक अच्छी कार्यपालिका के लिए किन बातो का होना आवश्यक है ?
3 मुख्य कार्यपालिका के प्रधान को चुनने की कौन कौन सी विधियाँ हैं ? वर्णन कीजिए।
4 आधुनिक लोकतान्त्रिक राज्य मे कार्यपालिका के कार्यों का वर्णन कीजिए।
5 लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्थाओ के सन्दर्भ मे व्यवस्थापिका एव कार्यपालिका के सम्बन्धो का परीक्षण कीजिए। (राजस्थान विश्व० 1977)
6 समाजवादी राजनीतिक व्यवस्थाओ के सन्दर्भ मे व्यवस्थापिका एव कार्यपालिका के सम्बन्धो का परीक्षण कीजिए।

19

सरकार के अंग : न्यायपालिका

[JUDICIARY]

"अधिकारों का निश्चय और उन पर निर्णय देने के लिए, अपराधियों को दण्ड देने के लिए तथा निर्बलों की अत्याचार से रक्षा करने के लिए न्याय विभाग नितान्त आवश्यक है।"[1] —रॉले

न्यायपालिका का अर्थ एवं महत्त्व—सरकार का तीसरा प्रमुख अंग न्यायपालिका है। यदि व्यवस्थापिका कानूनों के रूप में राज्य की इच्छा को अभिव्यक्त करती है और कार्यपालिका कानूनों के रूप में अभिव्यक्त इन इच्छाओं को कार्यरूप प्रदान करती है तो न्यायपालिका आवश्यकतानुसार इन कानूनों के अर्थ की व्याख्या करती है तथा यदि कोई व्यक्ति इनका उल्लंघन करता है तो उसे उचित दण्ड देती है। विलोबी (Willoughbby) ने कहा है कि "न्यायपालिका का मूल कर्तव्य यह देखना है कि सरकार के किसी अंग द्वारा कानून का तथा कानून द्वारा दिये गये व्यक्तियों के अधिकारों का उल्लंघन तो नहीं होता।" किसी राज्य के व्यवस्थित जीवन के लिए एक व्यवस्थित न्यायपालिका अत्यन्त आवश्यक है। किसी राज्य में चाहे कितनी अच्छी कानूनी व्यवस्था क्यों न हो, उन्हें कार्यरूप में परिणत करने के लिए जब तक एक निष्पक्ष व स्वतन्त्र न्यायपालिका नहीं होती, उसका पूरा पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकता।

प्रो. गार्नर ने ठीक लिखा है कि "ऐसे समाज की कल्पना सम्भव है जिसमें कोई व्यवस्थापिका विभाग न हो परन्तु न्यायपालिका से हीन एक सभ्य राज्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती।" लार्ड ब्राइस ने न्यायपालिका का महत्त्व स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'न्याय विभाग से बढ़कर सरकार की उत्तमता की अन्य कोई

1 "It is indispensable that there should be judicial department to ascertain and decide rights, to punish crimes, to administer justice and protect the innocent from injury and usurpation." —Roule.

कसौटी नहीं है क्योंकि किसी और चीज से नागरिक की सुरक्षा व हितों पर इतना प्रभाव नहीं पड़ता है, जितना कि उसके इस ज्ञान से कि वह एक निश्चित, शीघ्र व निष्पक्ष न्याय पर निर्भर रह सकता है।"[1] वे आगे लिखते हैं कि "यदि अन्धकार में न्याय का दीपक बुझ जाये तो वह अन्धकार कितना गहन होगा।"[2]

प्रजातन्त्रीय व्यवस्था में न्यायपालिका का महत्त्व अत्यधिक बढ़ गया है। प्रजातन्त्र जनता का, जनता द्वारा व जनता के लिए शासन कहा जाता है लेकिन जब तक समस्त नागरिकों को निष्पक्ष व शीघ्र न्याय उपलब्ध नहीं होता प्रजातन्त्र एक मिथ्या धारणा मात्र हो रहता है। न्यायपालिका संविधान की संरक्षिका, सामान्य हित की पोषक तथा कानून की प्रहरी है। मेरियट ने कहा है कि "सरकार के जितने भी महत्त्वपूर्ण कार्य हैं, उनमें से यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसका सीधा सम्बन्ध नागरिकों से है। संवैधानिक साधन चाहे कितने भी व्यापक क्यों न हों, शासक वर्ग का संगठन चाहे कितना भी पूर्ण क्यों न हो, लेकिन यदि कानून की व्याख्या भ्रमात्मक होगी तो नागरिक का व्यक्तिगत जीवन संकटमय बन सकता है तथा उसकी प्रतिष्ठा एवं सम्पत्ति असुरक्षित रह सकती है।" न्याय के परित्याग से समाज का पतन प्रारम्भ होता है। जिस वर्ग के साथ न्याय की नीति का उल्लंघन होता है, उसकी सच्ची सेवा समाज कभी प्राप्त नहीं कर सकता। प्रजातन्त्र सभी वर्गों को एक साथ लेकर ही जीवित रह सकता है, किसी वर्ग की उपेक्षा करके नहीं।

संघात्मक-व्यवस्था में ही न्यायपालिका का महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है। संघात्मक व्यवस्था में न्यायपालिका नागरिकों के अधिकारों की रक्षा ही नहीं करती वरन् संविधान की व्याख्या भी करती है। वह केन्द्र तथा इकाइयों को उनकी निश्चित सीमाओं के भीतर रखने का कार्य करती है। इनके द्वारा निर्मित ऐसा कोई भी कानून जो संविधान की सीमाओं का उल्लंघन करता हो, न्यायपालिका के द्वारा अवैध घोषित किया जा सकता है। न्यायपालिका की यह शक्ति न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति (Power of Judicial Review) कहलाती है। अमरीका तथा भारत की न्यायपालिका को यह शक्ति प्राप्त है।

न्यायपालिका के कार्य

वर्तमान समय में एक प्रजातन्त्रीय व्यवस्था में न्यायपालिका अग्रलिखित कार्य करती है

---

1 "There is no better test of the excellence of a government than the efficiency of its judicial system for nothing more nearly touches the welfare and security of average citizen and prompt administration of justice"

—Lord Bryce · *Modern Democracies*, Vol II, p 384

2 "If the lamp of justice goes out in darkness, how great is that darkness" —Bryce *Modern Democracies*, Vol. II, p 384,

(1) न्याय करना—न्यायपालिका का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य न्याय करना है। यह व्यक्तियों के आपसी विवादों तथा व्यक्ति और राज्य के मध्य विवादों का फैसला करती है। न्यायपालिका विभिन्न फौजदारी, दीवानी व माल सम्बन्धी विवादों में दोनों पक्षों के गवाहों को सुनती है और फिर प्रचलित कानूनों के आधार पर अपना निर्णय देती है। उसका कानून की अच्छाई या बुराई से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

(2) कानूनों की व्याख्या—कई बार कानूनों की भाषा स्पष्ट नहीं होती और उसे लेकर विवाद उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में न्यायपालिका कानून की अधिकारपूर्ण व्याख्या करती है। न्यायपालिका द्वारा इस प्रकार की गई व्याख्याओं की स्थिति कानून के समान ही होती है।

(3) कानूनों का निर्माण—कई बार न्यायालय के समक्ष इस प्रकार के विवाद आते हैं जिनके सम्बन्ध में कोई वर्तमान कानून लागू नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में न्यायाधीश अपनी विवेक-बुद्धि व औचित्य के आधार पर विवाद का निर्णय करते हैं। इन निर्णयों का बहुत महत्त्व होता है क्योंकि ऐसे ही निर्णय के आधार पर कानून की परम्परा स्थापित हो जाती है और राज्य में ऐसे कानून का विकास होता है जिसे "न्यायाधीश द्वारा निर्मित कानून" (Case law) कहते हैं। लीकॉक (Leacock) ने लिखा है कि "इस प्रकार न्यायाधीशों द्वारा दिया गया निर्णय अप्रत्यक्ष रूप से कानून का पूरक होता है। इस दृष्टि से न्यायालय अर्द्ध विधान मण्डल का रूप धारण करके नई वर्तमान कानूनों का निर्माण करता है।"

(4) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता व अधिकारों की रक्षा—व्यक्ति के अधिकारों तथा स्वतन्त्रता को प्रायः दो ओर से खतरा रहता है, एक तो अन्य व्यक्तियों की ओर से तथा दूसरा स्वयं राज्य की ओर से। यदि कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता अथवा अधिकारों का अपहरण करता है तो पीड़ित व्यक्ति न्यायालय की शरण लेकर अत्याचारी को दण्डित करवा सकता है। इसी प्रकार यदि व्यवस्थापिका अपने कानूनों द्वारा तथा कार्यपालिका अपने किसी भी कार्य द्वारा संवैधानिक मर्यादाओं का उल्लंघन करके व्यक्तिगत अधिकारों व स्वतन्त्रता पर चोट पहुँचाती है तो नागरिक न्यायालय की शरण ले सकता है। न्यायालय व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा के लिए लेख जारी करके सरकार के ऐसे किसी कार्य पर रोक लगा सकता है।

(5) संविधान का संरक्षक—न्यायपालिका व्यक्ति के अधिकारों व स्वतन्त्रता की ही रक्षा नहीं करती वरन् संविधान की पवित्रता तथा इसमें निहित व्यवस्था की भी रक्षा करती है। व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कोई कानून तथा कार्यपालिका का आदेश यदि संवैधानिक व्यवस्था के विपरीत है तो न्यायपालिका इसे अवैध घोषित कर सकती है। संघात्मक राज्यों में संघीय सरकार व इकाइयों के मध्य संविधान द्वारा शक्तियों का विभाजन किया जाता है और न्यायपालिका को इस बात का ध्यान रखना होता है कि दोनों पक्ष इस विभाजन के विरुद्ध कार्य न करें।

(6) घोषणात्मक निर्णय—अनेक राज्यों में नागरिकों को बिना किसी विशेष मुकदमे के ही कानूनों का स्पष्टीकरण या उनके औचित्य तथा अनौचित्य के सम्बन्ध में न्यायालय से निर्णय माँगने का अधिकार होता है। न्यायाधीशों द्वारा दिये गये इस प्रकार के निर्णय "घोषणात्मक निर्णय" (Declaratory Judgements) कहलाते हैं। कई बार ऐसा भी होता है कि व्यवस्थापिका जाने या अनजाने में ऐसे कानून बना देती है, जो या तो अस्पष्ट होते हैं अथवा पूर्व निर्धारित कानूनों के विरुद्ध होते हैं। इस प्रकार के कानूनों के सम्बन्ध में न्यायपालिका अपने घोषणात्मक निर्णय देती है और राज्य को दोषपूर्ण कानूनों से रक्षा करती है।

(7) परामर्श देना—अनेक राज्यों में न्यायपालिका कानूनी प्रश्नों पर व्यवस्थापिका अथवा कार्यपालिका द्वारा परामर्श माँगे जाने पर परामर्श देने का कार्य भी करती है। भारत में राष्ट्रपति संसद तथा विधानसभाओं द्वारा पारित किसी भी विधेयक पर सर्वोच्च न्यायालय से न्यायिक परामर्श प्राप्त कर सकता है। इंगलैंड में प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समिति से सरकार प्रायः वैधानिक व कानूनी प्रश्नों पर परामर्श लेती रहती है। संसार के कई दूसरे देशों में भी न्यायपालिका को यह अधिकार प्राप्त है।

(8) अन्य कार्य—उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त न्यायपालिका कुछ अन्य प्रकार के कार्य भी करती है। उदाहरणार्थ, वह अपने अधीन अनेक कर्मचारियों की नियुक्ति करती है अल्पवयस्कों के संरक्षकों व सम्पत्ति के प्रबन्धकर्त्ता की नियुक्ति करती है, अनुज्ञा पत्र प्रदान करती है सिविल विवाह की स्वीकृति देती है, वसीयतनामों को प्रमाणित करने के लिए आज्ञापत्र जारी करती है, मृतकों की जायदाद की व्यवस्था करती है, न्यायालय का अपमान (Court of Contempt) करने वाले व्यक्तियों को दण्ड देती है, इत्यादि।

अनेक देशों में न्यायपालिका निर्वाचन सम्बन्धी याचिकाओं पर विचार कर अपना निर्णय प्रदान करती है। सोवियत रूस जैसे समाजवादी देशों में न्यायपालिका क्रान्ति के रक्षक का महान कार्य करती है।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता

किसी भी लोकतन्त्रीय शासन में एक निष्पक्ष न्यायपालिका का होना अत्यन्त आवश्यक है। न्यायपालिका के स्वतन्त्र न होने पर न्यायाधीश अपने कर्तव्यों का उचित प्रकार से पालन नहीं कर सकते। यदि न्याय उचित प्रकार का नहीं हुआ तो देश में अशान्ति तथा अन्याय का बोलबाला हो जायेगा जिससे मानव समाज की प्रगति रुक जायेगी। इसलिए यह आवश्यक है कि न्यायपालिका निष्पक्ष एवं स्वतन्त्र हो जिससे न्याय का कार्य ठीक प्रकार से हो सके। अमरीका के प्रसिद्ध विद्वान हैमिल्टन

ने लिखा है कि : "किसी भी देश का कानून कितना ही अच्छा क्यों न हो, एक स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायपालिका के बिना यह निष्प्राण है।"[1]

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता से अभिप्राय यह है कि न्यायाधीशों पर कानून की व्याख्या करने और न्याय प्रदान करने में किसी प्रकार का अनुचित दबाव नहीं होना चाहिए अर्थात् न्यायाधीशों को व्यवस्थापिका कार्यपालिका, राजनीतिक दल या किसी अन्य सगठनों के प्रभाव से पूर्णतया मुक्त तथा स्वतन्त्र होना चाहिए। **प्रो गार्नर** का कहना है कि '**यदि न्यायाधीशों में प्रतिभा सत्यता व निर्णय देने की स्वतन्त्रता न हो तो उस ऊँचे उद्देश्य की प्राप्ति नहीं हो सकेगी जिसके लिए न्यायपालिका का निर्माण किया जाता है।**"[2] न्यायपालिका की स्वतन्त्रता निम्नलिखित तरीकों से स्थापित की जा सकती है

(1) **योग्यता के आधार पर नियुक्ति**—न्यायाधीश के पद पर उन्हीं व्यक्तियों को नियुक्त किया जाना चाहिए जो उस पद के लिए सभी आवश्यक योग्यताएँ रखते हों। एक न्यायाधीश को विद्वान सच्चरित्र, निष्पक्ष व स्वतन्त्र विचारों वाला व्यक्ति होना चाहिए। उसे विशेष कानूनों का ज्ञाता होना चाहिए, अन्यथा वह अपने वकीलों द्वारा ही गुमराह होता रहेगा व कार्यपालिका पर अपने व्यक्तित्व की धाक नहीं जमा सकेगा।

(2) **न्यायाधीशों की नियुक्ति का तरीका**—न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए तीन प्रकार के तरीके प्रयोग में लाये जाते हैं—(1) जनता द्वारा निर्वाचन, (2) व्यवस्थापिका सभा द्वारा चुनाव, (3) कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति।

जनता द्वारा निर्वाचन की पद्धति को सर्वप्रथम फ्रांस में लागू किया गया था। वर्तमान समय में यह पद्धति स्विटजरलैण्ड के कुछ कैण्टनों तथा अमरीका के कुछ राज्यों में प्रचलित है। लोकतन्त्र व शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के अति निकट होते हुए भी यह प्रणाली दोषों से भरी हुई है क्योंकि जनता के द्वारा कभी भी योग्य व निष्पक्ष न्यायाधीश निर्वाचित नहीं हो सकते। ऐसे व्यक्ति न्यायाधीश की अपेक्षा राजनीतिज्ञ अधिक बन जाते हैं। लास्की ने ठीक ही कहा है कि **"न्यायाधीशों की नियुक्ति की समस्त पद्धतियों में जनता द्वारा निर्वाचन की पद्धति निर्विवाद रूप में सबसे अधिक बुरी है।"** प्रो० गार्नर ने भी लिखा है कि **"इससे न्यायाधीशों का चारित्रिक पतन होता है, न्यायाधीश राजनीतिक नेता बन जाता है और उसके मन पर इतना भार पड़ता है जिसे वह सदा सहन नहीं कर सकता।"** व्यवस्थापिका द्वारा चुनाव की प्रणाली भी दोषमुक्त नहीं है, क्योंकि इसमें न्यायाधीशों का चुनाव योग्यता

1 "Laws are a dead letter without cowets to expound and define their true meaning and an operation " —Hamilton

2 "If the judges lack wisdom probity and freedom of decision, the high purposes for which the judiciary is established, cannot be realized" —Garner : *Political Science and Government*, p 722.

के आधार पर न होकर राजनीतिक दलबन्दी की भावना के आधार पर होता है। कहना न होगा कि ऐसी दशा में न्यायाधीशों के दल-सम्बन्ध के कारण न्याय भी दलगत हो जाता है।

न्यायाधीशों की नियुक्ति का सबसे अच्छा तरीका कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति है। इसलिए विश्व के प्राय सभी राज्यों में यही पद्धति प्रचलित है। इस पद्धति में उच्च न्यायाधीशों की नियुक्ति कार्यपालिकाध्यक्ष द्वारा योग्यता के आधार पर की जाती है तथा निम्न न्यायाधिकारियों की नियुक्ति किसी निश्चित योग्यता की परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर विभागीय सचिव द्वारा की जाती है, इतना सब होने पर भी यह पद्धति राजनीतिक-दलबन्दी के भाव से पूर्णतया मुक्त नहीं है। फिर भी जैसा कि लास्की ने कहा है कि "इस विषय में सभी बातों को देखते हुए कार्यपालिका द्वारा न्यायाधीशों की नियुक्ति के परिणाम सबसे अच्छे रहे हैं। परन्तु यह अति आवश्यक है कि न्यायाधीशों के पदों को राजनीतिक सेवा का फल नहीं बनाया जाना चाहिए।'[1]

(3) लम्बी पदावधि—न्यायाधीशों के कार्यकाल को लेकर दो प्रकार की पद्धतियाँ प्रचलित हैं, एक तो यह कि न्यायाधीश किसी निश्चित अवधि के लिए नियुक्त किये जाएँ और दूसरी यह कि न्यायाधीश सदाचार-पर्यन्त अपने पद पर कार्य करते रहें। प्रथम पद्धति का पालन बहुत कम राज्यों में होता है। अधिकांश राज्यों में न्यायाधीश स्थायी रूप से नियुक्त किये जाते हैं और वे तब तक अपने पद पर कार्य करते हैं जब तक वे शारीरिक तथा बौद्धिक रूप से कार्य करने में समर्थ रहते हैं। इस पद्धति के अधिक प्रचलन का कारण यह है कि न्यायाधीश अपने कार्य का अनुभव प्राप्त करके अधिक कुशल बन जाते हैं। साथ ही वे पद की सुरक्षा प्राप्त होने के कारण अधिक निर्भीकता स्वतन्त्रता व निष्पक्षतापूर्वक अपना कार्य कर सकते हैं। हैमिल्टन का मत है कि. "न्यायाधीशों का अपने सदव्यवहार पर्यन्त पदारूढ़ रहने का नियम, वास्तव में, शासन के प्रयोग में एक महान् आधुनिक सुधार है।"

(4) न्यायाधीशों की पदच्युति—निष्पक्ष एवं स्वतन्त्र न्यायपालिका के अस्तित्व के लिए यह भी एक आवश्यक शर्त है कि न्यायाधीशों को पद से हटाने का तरीका सरल नहीं होना चाहिए। उन्हें केवल अपने पद का दुरुपयोग करने पर अथवा शारीरिक या मानसिक अयोग्यता के आधार पर ही हटाया जाना चाहिए। उनकी पदच्युति किसी व्यक्ति की इच्छानुसार मनमाने ढंग से नहीं होनी चाहिए। उन्हें हटाने का अधिकार कार्यपालिका को नहीं सौंपा जाना चाहिए। यही कारण है कि प्राय सभी लोकतान्त्रिक राज्यों में न्यायाधीशों को भ्रष्टता या अयोग्यता

1 "Appointment by executive has, on the whole, produced the best result, but it is, I think urgent to prevent judicial office being made the reward for political services."
—Laski *Grammar of Politics*, p 302

की स्थिति मे केवल व्यवस्थापिका द्वारा उनके विरुद्ध महाभियोग का प्रस्ताव पास करके उन्हे पदच्युत किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त महाभियोग की प्रक्रिया भी कठिन होनी चाहिए जिससे न्यायाधीशो को सरलता से पदच्युत नही किया जा सके।

(5) पर्याप्त वेतन एव पेंशन—न्यायाधीशो की स्वतन्त्रता के लिए यह भी आवश्यक है कि उन्हें पर्याप्त वेतन तथा अवकाशप्राप्ति के पश्चात् पर्याप्त पेंशन मिले। न्यायाधीशो मे नैतिकता तथा उच्च मानसिक स्तर को बनाये रखने के लिए वेतन की समुचित व्यवस्था करना आवश्यक है। हैमिल्टन ने लिखा है कि, "यह मानव स्वभाव है कि जो मनुष्य अपनी आजीविका की दृष्टि से शक्तिसम्पन्न है उसके पास सकल्प शक्ति का भी बडा बल होता है।" साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि उनके वेतन मे उनके कार्यकाल मे किसी प्रकार का अलाभकारी परिवर्तन नहीं होना चाहिए। न्यायाधीश अपने भविष्य की चिन्ता से मुक्त रह कर स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्याय दे सके इसके लिए अवकाश प्राप्ति के पश्चात् उनके जीवन-निर्वाह के लिए पर्याप्त पेंशन की व्यवस्था होनी चाहिए।

(6) न्यायपालिका का कार्यपालिका व व्यवस्थापिका से पृथक्करण—न्यायपालिका की स्वतन्त्रता तथा निष्पक्षता की रक्षा के लिए उसे कार्यपालिका व व्यवस्थापिका से पृथक रखा जाना चाहिए। शासन चलाने वाले पदाधिकारियों को न्याय का अधिकार नही सौंपा जाय और न्यायाधीशो को कार्यपालिका व व्यवस्थापिका के हस्तक्षेप से मुक्त रखा जावे। मॉण्टेस्क्यू ने कहा है कि "यदि न्याय सम्बन्धी शक्ति को व्यवस्थापिका या कार्यपालिका शक्ति से पृथक नही किया जाता, तो स्वतन्त्रता सम्भव नहीं हो सकती। यदि न्यायिक शक्ति व्यवस्थापन शक्ति के साथ जोड दी जाती है तो प्रजा के जीवन और उसकी स्वतन्त्रता को स्वेच्छाचारी नियन्त्रण का शिकार होना पड़ेगा, क्योंकि उस दशा मे न्यायकर्ता ही कानूननिर्माता भी हो जायेगा। यदि न्यायशक्ति को कार्यपालिका के साथ जोड दिया जायेगा, तो न्यायकर्ता का व्यवहार हिंसक एव अत्याचारी हो जायेगा।"

(7) अवकाश प्राप्ति के बाद वकालत पर प्रतिबन्ध—अवकाश प्राप्त कर लेने के बाद कोई न्यायाधीश अपने प्रभाव का दुरुपयोग न कर सके, इसके लिए यह आवश्यक है कि अवकाशप्राप्ति के पश्चात् न्यायाधीशो के वकालत करने पर प्रतिबन्ध लगा दिये जायें। इस सम्बन्ध मे इतनी व्यवस्था तो अवश्य की जानी चाहिए कि कोई भी न्यायाधीश कम से कम उन न्यायालयो मे, जिनमे वह न्यायाधीश के रूप में कार्य कर चुका है तथा उनके अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाले न्यायालयों मे वकालत का कार्य न कर सके।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता की रक्षा के सम्बन्ध मे विलोबी का कथन है कि, "न्यायाधीशों की नियुक्ति करते समय उनके राजनीतिक सम्बन्धों पर लेशमात्र भी ध्यान नहीं देना चाहिए। एक बार नियुक्त हो जाने के बाद जीवन-पर्यन्त अथवा जब तक वे सदाचारी रहें तब तक उन्हें पद पर आसीन रखना चाहिए। कार्यपालिका

को उन्हें पदच्युत करने का अधिकार नहीं होना चाहिए। गम्भीर भ्रष्टाचार या कदाचार के लिए ही महाभियोग या व्यवस्थापिका के दोनों सदनों की प्रार्थना पर उन्हें पदच्युत किया जाना चाहिए। उनके कार्य काल में उनके वेतन को कम या बन्द नहीं किया जाना चाहिए।" इन व्यवस्थाओं के द्वारा न्यायालय की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखा जा सकता है। भारतीय संविधान में न्यायपालिका की स्वतन्त्रता तथा निष्पक्षता को बनाये रखने के लिए अनेक व्यवस्थाएँ अपनाई गई हैं तथा न्यायपालिका ने अपनी इस स्वतन्त्रता तथा निष्पक्षता का परिचय समय समय पर अपने निर्णयों में दिया है।

लोकतान्त्रिक व्यवस्था में व्यवस्थापिका व न्यायपालिका के बीच सम्बन्ध

लोकतान्त्रिक व्यवस्था में व्यवस्थापिका व न्यायपालिका के बीच सम्बन्ध संविधान अथवा संसद की सर्वोच्चता पर निर्भर करते हैं। यदि किसी देश में संविधान की सर्वोच्चता है तो न्यायपालिका संविधान तथा नागरिक अधिकारों की रक्षक होती है और संसद की शक्तियाँ कुछ हद तक सीमित हो जाती हैं लेकिन यदि सर्वोच्चता संसद की है तो न्यायपालिका का कार्य संसद द्वारा निर्मित कानूनों के अन्तर्गत अपने निर्णय प्रदान करने से अधिक कुछ नहीं होता। वह न तो संसदीय कानूनों की वैधानिकता की जाँच कर सकती है और न ही मन्त्रिमण्डल के आदेशों को अवैध घोषित कर सकती है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि संसद मनमाने कानूनों का निर्माण करने लगे। न्यायालय को नागरिक अधिकारों की रक्षा का पूर्ण अधिकार होता है। "कानून का शासन" के अन्तर्गत न्यायालय अपने न्यायिक निर्णयों द्वारा नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करता है। इस प्रकार 'संसदीय सर्वोच्चता' के अन्तर्गत भी न्यायालय स्वतन्त्र व निष्पक्ष होता है लेकिन संसद पर उसका किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं होता।

इसके विपरीत ऐसे देशों में जहाँ संविधान की सर्वोच्चता होती है, सरकार के तीनों अंगों में न्यायपालिका की एक विशिष्ट स्थिति होती है और संसद की शक्तियाँ कुछ हद तक सीमित हो जाती हैं। ऐसे देशों में सर्वोच्च न्यायालय को संविधान की व्याख्या करने, उसकी पवित्रता की रक्षा करने, नागरिक अधिकारों की रक्षा करने और यदि वहाँ संघीय व्यवस्था है तो, संघ व इकाइयों के मध्य पारस्परिक विवादों का निपटारा करने का अधिकार होता है। व्यवस्थापिका ऐसा कोई भी कानून नहीं बना सकती और न कार्यपालिका ऐसा कोई आदेश दे सकती है जो संविधान का उल्लघन करता हो अथवा नागरिक अधिकारों का हनन करता हो। न्यायपालिका को व्यवस्थापिका के इस प्रकार के कानूनों को असंवैधानिक तथा कार्यपालिका के आदेशों को अवैध घोषित करने का अधिकार होता है। न्यायपालिका को संविधान की व्याख्या करने का भी अधिकार प्राप्त होता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि न्यायपालिका पर कोई नियन्त्रण नहीं होता। न्यायाधीशों द्वारा अपनी शक्तियों का दुरुपयोग किये जाने पर व्यवस्थापिका को

न्यायाधीशो पर महाभियोग लगाकर उन्हे पदच्युत करने का अधिकार रहता है। इस प्रकार देश मे संविधान की सर्वोच्चता होने पर संसद की शक्तियाँ कुछ अंशो मे सीमित हो जाती है। भारत, अमरीका व जापान की व्यवस्थापिकाएँ इसका उदाहरण हैं। लेकिन स्विट्जरलैण्ड मे संविधान की सर्वोच्चता होते हुए भी न्यायालय को न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार प्राप्त नही है। वहाँ पर संघीय सभा द्वारा निर्मित कानूनो की वैधता की जाँच का अधिकार न्यायालय को न देकर स्वयं सभा को अथवा जनता को सौंपा गया है। सर्वोच्च न्यायालय केवल कैण्टनो द्वारा निर्मित कानूनो की संवैधानिकता की जाँच कर सकता है।

समाजवादी व्यवस्था मे व्यवस्थापिका व न्यायपालिका के बीच सम्बन्ध

समाजवादी व्यवस्था मे एक दल की सर्वोच्चता होती है और संविधान या संसद की सैद्धान्तिक सर्वोच्चता अपना कोई महत्त्व नही रखती। इस व्यवस्था मे सरकार के तीनो अंग दल की नीतियो को क्रियान्वित करने का साधन मात्र होते हैं। संघीय शासन के होते हुए भी न्यायपालिका की स्थिति अन्य अंगो से श्रेष्ठ नही होती वरन् वह एक प्रशासकीय अंग के रूप मे कार्य करती है। सोवियत समाजवादी रूस मे, जहाँ संघात्मक व्यवस्था को अपनाया गया है और संविधान की सर्वोच्चता स्थापित की गई है, सर्वोच्च न्यायालय को नागरिको के अधिकारो तथा संविधान की रक्षा करने की कोई शक्ति प्राप्त नही है। वह न तो सर्वोच्च सोवियत द्वारा निर्मित किसी कानून की वैधता की जाँच कर सकता है और न मन्त्रिमण्डल के किसी ऐसे आदेश को, जो संविधान का उल्लंघन करता हो, अवैध घोषित कर सकता है। उसे संघ व इकाइयो के बीच उत्पन्न विवादों के निपटारे का भी अधिकार प्राप्त नही है। संविधान द्वारा यह समस्त अधिकार सर्वोच्च सोवियत को दिये गये हैं।

न्यायालय अपने प्रत्येक कार्य के लिए सर्वोच्च सोवियत के प्रति और उसके अवकाश काल मे प्रेसीडियम के प्रति उत्तरदायी होता है। न्यायाधीशो की नियुक्ति सर्वोच्च सोवियत द्वारा की जाती है और वह केवल उन्हीं व्यक्तियो को इस पद पर नियुक्त करती है जिनकी दल के प्रति निष्ठा हो और दल ने उनके विश्वास की परीक्षा कर ली हो। इससे स्पष्ट है कि न्यायाधीशो पर सर्वोच्च सोवियत का और अन्तत दल का पूर्ण नियन्त्रण रहता है। न्यायाधीशो का कार्य न्याय प्रदान करना उतना मुख्य नहीं है जितना सर्वोच्च सोवियत तथा प्रेसीडियम के आदेशों का पालन करना और अन्तत दल की नीतियो को क्रियान्वित करना है। हम कह सकते हैं कि एक समाजवादी व्यवस्था मे न्यायपालिका "महान क्रान्ति की रक्षक" से अधिक कुछ नही होती जिसकी स्थिति कार्यपालिका व व्यवस्थापिका के अधीनस्थ होती है।

अभ्यास के प्रश्न

1. आधुनिक लोकतन्त्रात्मक राज्य मे स्वतन्त्र न्यायपालिका का क्या महत्त्व है?
2. आधुनिक राज्य मे न्यायपालिका के प्रमुख कार्यो का वर्णन कीजिए।

3. संघीय राज्यों में न्यायपालिका के कार्यों का संक्षेप में वर्णन कीजिए। ऐसे राज्य में न्यायपालिका की स्वतन्त्रता क्यों आवश्यक है ?
4. न्यायपालिका की स्वतन्त्रता से क्या तात्पर्य है ? यह कैसे प्राप्त की जा सकती है ?
5. न्यायपालिका की नियुक्ति की विभिन्न पद्धतियों का समीक्षात्मक वर्णन कीजिए।
6. लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्थाओं के सन्दर्भ में व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका के सम्बन्धों का परीक्षण कीजिए।
7. समाजवादी राजनीतिक व्यवस्थाओं के सन्दर्भ में व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका के सम्बन्धों का परीक्षण कीजिए।
8. आपका इस कथन के सम्बन्ध में क्या दृष्टिकोण है कि व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका से अपने सम्बन्धों में न्यायपालिका को स्वतन्त्र एवं सर्वोच्च रहना चाहिए ? अपने उत्तर के समर्थन में उदाहरण दीजिए।

20

शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त
[THEORY OF THE SEPARATION OF POWERS]

"व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका सम्बन्धी सारी शक्तियों का एक ही हाथ में एकत्र होना, चाहे वह एक व्यक्ति हो, थोड़े हों या अधिक, और चाहे वंशानुगत (पैतृक) हो, स्वतः नियुक्त हो या निर्वाचित हो, अत्याचारी शासन की उपयुक्त परिभाषा कही जा सकती है।"[1]

—मैडीसन

शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का अर्थ—सरकार के तीनों अंगों – व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका—के बीच परस्पर कैसे सम्बन्ध होने चाहिए, इस प्रश्न पर सदैव राजनीतिक विचारकों में मतभेद रहा है और विभिन्न विद्वान इस सम्बन्ध में समय-समय पर अपने भिन्न-भिन्न सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं। इनमें माण्टेस्क्यू का 'शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त' सर्वाधिक लोकप्रिय सिद्धान्त रहा है।

इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति की राजनीतिक स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि शासन की समस्त शक्तियाँ किसी एक व्यक्ति अथवा संस्था के हाथ में न होकर सरकार के तीनों अंगों में विभाजित होनी चाहिए अर्थात् व्यवस्थापिका कानूनों का निर्माण करे, कार्यपालिका उन कानूनों को क्रियान्वित करे तथा न्यायपालिका उन कानूनों के अनुसार निर्णय करे। इतना ही नहीं, बल्कि सरकार के ये तीनों अंग एक दूसरे से पृथक तथा अपने-अपने क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्र होने चाहिए और कोई अंग किसी दूसरे अंग के कार्यों में हस्तक्षेप न करे। माण्टेस्क्यू का कहना है कि "इनमें से प्रत्येक अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होना चाहिए,

1 "The accumulation of all powers—legislative, executive and judicial—in the same hands whether of one, a few or many and whether hereditary, self appointed or elective, may justly be pronounced the very definition of tyranny" —Madison

उसे अपने कार्य क्षेत्र तक ही सीमित रहना चाहिए और उसके द्वारा दूसरे अंग के कार्य को प्रभावित करने या उस पर नियन्त्रण स्थापित करने की चेष्टा नहीं की जानी चाहिए।" इस सिद्धान्त में निम्नलिखित तीन बातें सम्मिलित हैं

(1) सरकार की कानून निर्माण सम्बन्धी, शासन सम्बन्धी तथा न्याय सम्बन्धी शक्तियाँ पृथक-पृथक अंगों में बँटी रहनी चाहिए जो उनका अलग-अलग प्रयोग करें।

(2) शासन के प्रत्येक अंग की शक्तियों तथा कार्यों की सीमा स्पष्ट रूप से निर्धारित तथा निश्चित होनी चाहिए।

(3) अपने अपने निर्धारित क्षेत्र के अन्तर्गत सभी अंग स्वतन्त्र एव सर्वोच्च हों और एक दूसरे के हस्तक्षेप से मुक्त हों।

सिद्धान्त का विकास—शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त की जड़ें हमें प्राचीन यूनान व रोम में मिलती हैं। राजनीति विज्ञान के जनक अरस्तू ने अपनी पुस्तक 'राजनीति' (Politics) में सरकार को असेम्बली, मजिस्ट्रेट और जुडीशियरी नामक तीन विभागों में बाँटा था। ये विभाग आधुनिक व्यवस्थापिका कार्यपालिका तथा न्याय पालिका का ही बोध कराते हैं। रोम में भी शासन के तीन निश्चित विभाग थे सीनेट, कौंसिल तथा ट्रिब्यून। पोलिबियस तथा सिसरो ने रोम की इस व्यवस्था की प्रशंसा करते हुए रोमन सरकार की सफलता का कारण शासन की शक्तियों का विभाजन माना है। सोलहवीं शताब्दी में जीन बोदां (Jean Bodin) ने राज्य की शासन सम्बन्धी तथा न्याय सम्बन्धी शक्तियों को एक दूसरे से पृथक रखने पर जोर दिया। उन्होंने कहा कि "राजा को अपनी न्यायिक शक्तियाँ किसी अन्य व्यक्ति को दे देनी चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो वह दुष्टतापूर्ण व्यवहार कर सकता है।" इंगलैण्ड में संविदा सिद्धान्त के समर्थक जॉन लॉक ने अपनी पुस्तक *Civil Govern ment* में नागरिकों के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की रक्षा के लिए शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का समर्थन किया है। उसका कहना है कि "व्यवस्थापिका व कार्यपालिका के कार्य अलग अलग होने ही चाहिए। विधि बनाने वाले को ही विधि लागू करने का भार सौंपना बहुत ही गलत होगा क्योंकि ऐसा करने में यह सम्भावना है कि वह अपने को विधियों से मुक्त कर ले या फिर ऐसी विधियाँ बना ले जिनसे उसके स्वार्थों की सिद्धि होती हो।"

माण्टेस्क्यू के विचार—इस प्रकार 18वीं शताब्दी तक अनेक विचारकों ने शासन की शक्तियों के पृथक्करण पर अपने-अपने विचार व्यक्त किये लेकिन इस सिद्धान्त की विधिवत् व्याख्या करने का श्रेय फ्रांस के विचारक माण्टेस्क्यू को है। उसने इस सिद्धान्त की विशद् व्याख्या अपनी पुस्तक स्प्रिट आफ लॉज (Spirit of Laws, 1748) में की है। उस समय फ्रांस में निरंकुश राजतन्त्र था तथा राजा की इच्छा ही कानून मानी जाती थी। फ्रांस का राजा लुई चौदहवाँ कहा करता था कि मैं ही राज्य हूँ (I am the State)। माण्टेस्क्यू व्यक्ति की स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थक था। सन् 1726 ई० में माण्टेस्क्यू इंग्लैण्ड गया तथा वह वहाँ दो वर्ष तक

रहा। यह इग्लैण्ड के नागरिकों की स्वतन्त्रता से अत्यधिक प्रभावित हुआ। यद्यपि उस समय ब्रिटेन में मन्त्रिमण्डलीय पद्धति का विकास नहीं हुआ था परन्तु इग्लैण्ड की शासन व्यवस्था को देखकर माण्टेस्क्यू इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि ब्रिटिश संविधान की श्रेष्ठता तथा स्थिरता और नागरिकों की स्वतन्त्रता का कारण यह है कि उसमें शक्तियों का पृथक्करण किया गया है। आज हम सभी मानते हैं कि माण्टेस्क्यू ने ब्रिटिश संविधान का गलत अर्थ लगाया था। जब माण्टेस्क्यू फ्रांस लौटकर आया तो उसने इसी आधार पर अपनी पुस्तक *Esprit des Lois* (Spirit of Laws) में शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

माण्टेस्क्यू ने इस सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार की है "जब व्यवस्थापिका व कार्यपालिका की शक्तियाँ एक ही व्यक्ति या व्यक्ति-समुदाय के हाथ में केन्द्रित होती हैं तो किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं रह सकती है क्योंकि इस बात का भय उत्पन्न हो जाता है कि कहीं राजा या सीनेट अत्याचारी कानून न बनाये और उन्हें अत्याचारी ढंग से लागू करे। इसी तरह से यदि न्याय सम्बन्धी शक्ति को व्यवस्थापिका या कार्यपालिका शक्ति से पृथक नहीं किया जा सकता तब भी नागरिकों को स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती। यदि न्याय सम्बन्धी शक्ति व्यवस्थापन शक्ति के साथ जोड़ दी जाती है तो प्रजा के जीवन व स्वतन्त्रता को स्वेच्छाचारी नियन्त्रण का शिकार होना पड़ेगा, क्योंकि तब न्यायाधीश ही विधि निर्माता भी होगा। यदि न्याय शक्ति को कार्यपालिका के साथ जोड़ दिया जाए, तो न्यायाधीश का व्यवहार हिंसक व अत्याचारी हो जायेगा। यदि एक ही व्यक्ति या समुदाय चाहे वह कुलीन हो या साधारण, कानून बनाने उसको लागू करने और न्याय करने के तीनों कार्यों को स्वयं करने लगे तो स्वतन्त्रता बिलकुल नष्ट हो जायेगी और राज्य अपनी मनमानी करने लगेगा।"[1]

---

1 "When the legislative and executive powers are united in the same person or in the same body of magistrates there can be no liberty because apprehension may arise lest the same monarch or senate should enact tyrannical laws and execute them in a tyrannical manner Again there is no liberty if the judicial power be not separated from the legislative and the executive. Where it joined with the legislative powers the life and liberty of the subjects would be exposed to arbitrary control, for the judge would then be the legislator. Were it joined with the executive powers, the judge might behave with all the violence of an oppressor There would be an end of everything, were the same man or the same body whether of the nobles or the people to exercise those three powers"

—Montesquieu *Spirit of Laws*, Book VI, pp 151-152.

माण्टेस्क्यू के कुछ वर्ष पश्चात् इगलैण्ड के प्रसिद्ध विधिवेत्ता ब्लैकस्टोन ने शक्तियों के पृथक्करण की सराहना करते हुए उसकी आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने भी वही भूल की जो माण्टेस्क्यू ने की थी। उनका कहना है कि व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच शक्तियों का स्पष्ट पृथक्करण ब्रिटिश शासन पद्धति का आधारभूत सिद्धान्त है। अपनी पुस्तक *Commentaries on the Laws of England* मे उन्होंने लिखा है कि "सब अत्याचारी शासकों मे सर्वोच्च शक्ति अथवा कानून बनाने तथा उन्हे क्रियान्वित करने का अधिकार एक व्यक्ति अथवा एक व्यक्ति समूह मे निहित होता है तथा जब यह दोनों शक्तियाँ एकत्रित हो जाती हैं तो सार्वजनिक स्वतन्त्रता नहीं रह सकती।"[1] इस प्रकार ब्लैकस्टोन के अनुसार सार्वजनिक स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए राज्य की शक्ति का पूर्ण पृथक्करण होना अति आवश्यक है। अमरीकी संविधान सभा के एक प्रमुख सदस्य मैडीसन का भी यह विचार है कि '*व्यवस्थापिका, कार्यपालिका व न्यायपालिका सम्बन्धी सारी शक्तियों का एक ही हाथ मे एकत्रित होना, अत्याचारी शासन की उपयुक्त परिभाषा कही जा सकती है।*"

सिद्धान्त का प्रभाव—माण्टेस्क्यू के शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का विशेष रूप से अमरीका के संविधान निर्माताओं और फ्रांस के क्रान्तिकारियों पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। इस सिद्धान्त ने फ्रांस की राजक्रान्ति को व्यापक रूप से प्रभावित किया। 1789 मे फ्रांस की क्रान्ति के पश्चात मानव अधिकारों की जो घोषणा की गयी उसमें कहा गया है कि '*जिस देश में शक्ति पृथक्करण की कोई व्यवस्था नहीं है वहाँ संविधान नाम की कोई वस्तु नहीं है।*"[2] 1791 के संविधान द्वारा फ्रांस मे सरकार के तीनों अंगों को एक दूसरे से पृथक् एव स्वतन्त्र रखा गया था। यद्यपि फ्रांस मे अब यह सिद्धान्त प्राय समाप्त हो गया है परन्तु फिर भी वहाँ प्रशासकीय विधियों तथा प्रशासकीय न्यायालयों की व्यवस्था पर आज भी इस *सिद्धान्त का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।*

अमरीका के संविधान पर इस सिद्धान्त का विशेष प्रभाव पड़ा। 1780 के मैसाचुसेट्स के संविधान में स्पष्ट घोषणा की गयी थी कि 'संयुक्त राज्य के शासन मे व्यवस्थापिका कभी भी शासन तथा न्याय सम्बन्धी शक्तियों अथवा दोनों में से किसी से सम्बन्धित शक्ति का प्रयोग नहीं करेगी, कार्यपालिका कभी भी

---

1 'In all tyrannical governments the supreme majesty, or the right of both making and enforcing laws is vested in the same man or one and the same body of men, and when these two are united together, there is no public liberty"

—Blackstone

2 "Every society in which the separation of powers is not determined, has no constitution"

व्यवस्थापन तथा न्याय सम्बन्धी शक्तियों अथवा दोनों में से किसी एक से सम्बन्धित शक्ति का प्रयोग नहीं करेगी, इसी प्रकार न्यायपालिका भी कभी व्यवस्थापिका या कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियों अथवा दोनों में से किसी एक से सम्बन्धित शक्ति का प्रयोग नहीं करेगी ऐसा इसलिए होगा जिससे इस राज्य में कानूनों का शासन हो, न कि व्यक्तियों का।"[1] फिलाडेल्फिया सम्मेलन का प्रमुख सदस्य मैडीसन बार बार कहा करता था कि "हम निरन्तर माण्टेस्क्यू की अदृश्य छाया से प्रेरणा ग्रहण करते रहे हैं।"[2] डा० फाइनर का तो यहाँ तक कहना है कि "अमरीका का संविधान जान बूझकर एवं प्रयास करके शक्तियों के पृथक्करण पर एक विस्तृत निबन्ध बनाया गया था और अब यह संविधान इस सिद्धान्त पर चलने वाला सबसे अधिक महत्त्व का राज्य-शासन है।"[3] फ्रांस व अमरीका के अतिरिक्त मेक्सिको, अर्जेण्टाइना, आस्ट्रेलिया, चिली, ब्राजील आदि देशों के संविधानों में भी इस सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है।

सिद्धान्त की आलोचना

माण्टेस्क्यू द्वारा प्रतिपादित शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त की आलोचना मुख्य रूप से निम्नलिखित आधारों पर की जाती है

(1) गलत ऐतिहासिक आधार—माण्टेस्क्यू ने शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त की रचना इंगलैण्ड की शासन व्यवस्था को आधार मानकर की थी। परन्तु आज सभी इस बात से भली भाँति परिचित हैं कि उसने ब्रिटिश संविधान का गलत अध्ययन किया था तथा उससे गलत निष्कर्ष निकाले थे। डायसी के अनुसार, "इंगलैण्ड में उस समय व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सुरक्षित रहने का मूल कारण विधि का शासन था। इसके अतिरिक्त जिस समय माण्टेस्क्यू इंगलैण्ड गया था, वहाँ संसदीय प्रणाली का उदय हो

---

1 "In the government of this commonwealth, the legislative department shall never exercise the execut ve and judicial powers, or either of them, the executive shall never exercise the legislative and judicial powers or either of them, the judicial shall never exercise the legislative and executive powers or either of them, to the end that it may be a government of the laws and not of men"—*Constitution of Messachusats*, 1780

2 "The oracle who is always consulted and cited on the subject" —*The Federalist*, No XIVII.

3 "The American Constitution was consciously and elaborately made an essay in the separation of powers and is today the most important polity in the world which operates upon this principle" —Dr. Finer *The Theory and Practice of Modern Government*, p. 29

चुका था। संसदीय प्रणाली शक्तियों के पृथक्करण के स्थान पर कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका में पारस्परिक सहयोग एवं सामंजस्य के सिद्धान्त पर आधारित होती है। इसमें उत्तरदायित्व का केन्द्रीयकरण होता है, शक्तियों का पृथक्करण नहीं। परन्तु माण्टेस्क्यू संसदीय शासन के इस रहस्य को नहीं समझ सका, फलस्वरूप उसने ब्रिटिश जनता की स्वतन्त्रता का मूल आधार शक्ति विभाजन के सिद्धान्त को माना। लास्की ने ठीक ही लिखा है कि 'इंगलैण्ड में जो अधिकार विभाजन प्रचलित था, उसे माण्टेस्क्यू ने गलत तरीके से समझा था और ब्लैकस्टोन ने उसका गलत समर्थन किया था।"

(2) अवैज्ञानिक सिद्धान्त—आलोचकों का मत है कि सरकार का संगठन एक मानव शरीर के समान है। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंगों को एक दूसरे से पृथक तथा स्वतन्त्र नहीं बनाया जा सकता, उसी प्रकार राज्य के विभिन्न अंगों को भी एक दूसरे से बिलकुल पृथक नहीं किया जा सकता। मानव शरीर के समान सरकार के स्वरूप में एकता पायी जाती है। उसके कार्यों का तो विभाजन किया जा सकता है परन्तु शक्तियों का पूर्ण पृथक्करण सम्भव नहीं है। शक्तियों के पूर्ण पृथक्करण का अर्थ सरकार के प्रत्येक अंग को निरंकुश बना देना तथा सरकार की एकता को नष्ट कर देना है। गैटल ने कहा है कि "शासन विभिन्न कार्य करने वाले अंगों से बनता है लेकिन उसका एक सामान्य कार्य व लक्ष्य होता है जिसकी सफलता के लिए उनको एकरूपता तथा सहयोग आवश्यक है। विभिन्न विभागों में पृथकता की एक दृढ़ रेखा नहीं खींची जा सकती है।"[1]

(3) अव्यावहारिक सिद्धान्त—शासन की शक्तियों का पूर्ण पृथक्करण असम्भव एवं अव्यावहारिक भी है क्योंकि प्रशासनिक कुशलता के लिए यह आवश्यक है कि सरकार के सभी अंगों में परस्पर घनिष्ठ सहयोग हो। लास्की ने कहा है कि "सरकार के तीनों अंगों के क्षेत्र की इस प्रकार व्यवस्था नहीं की जा सकती कि तीनों स्वतन्त्र भी बने रहें और अपने कार्यों को अपने क्षेत्रों तक ही सीमित रखें।' वर्तमान समय में कानून निर्माण तथा शासन की जटिलताएँ बहुत बढ़ गयी हैं। अतः श्रेष्ठ कानूनों के निर्माण के लिए तथा अनहित में शासन के संचालन के लिए व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका में घनिष्ठ सहयोग तथा सामंजस्य आवश्यक है। इसके विपरीत "यह सिद्धान्त शासन-व्यवस्था में शिथिलता तथा विभिन्न अंगों में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न करता है।"

---

1 'Government consists of a group of organs with differentiated functions but with a common task and purpose and their harmonious co operation is essential to success A strict line of separation cannot be drawn between the several departments" —Gettell *Political Science*, p 217.

(4) सरकार के कार्यों का विभाजन असंगत—अनेक आलोचकों का यह मत है कि सरकार के कार्यों की तीन पृथक अंगों में विभाजन अब असंगत हो गया है। अब कानून निर्माण का कार्य केवल व्यवस्थापिका ही नहीं करती वरन् प्रदत्त व्यवस्थापन के अन्तर्गत कार्यपालिका भी यह कार्य करने लग गई है। यही नहीं, न्यायपालिका भी समय समय पर कुछ नियम बनाती है जिनका महत्त्व कानून के समान ही होता है। कई देशों में विधानमण्डल तथा कार्यपालिका कुछ न्यायिक कार्यों को करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यवहार में शासन के तीनों अंग एक दूसरे के कार्यों को करते हैं। ऐसी स्थिति में शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त व्यवहार में असंगत प्रतीत होता है।

(5) व्यवस्थापिका का उच्च स्थान—शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि सरकार के तीनों अंग एक दूसरे के समकक्ष हैं तथा तीनों की शक्तियाँ समान हैं। परन्तु इस सिद्धान्त की यह धारणा गलत है। लोकतन्त्रीय शासन प्रणाली में सरकार के तीनों अंगों में व्यवस्थापिका का स्थान सर्वोच्च तथा अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। व्यवस्थापिका ही कानूनों के माध्यम से राज्य की इच्छा को अभिव्यक्त करती है। कार्यपालिका का कार्य व्यवस्थापिका द्वारा कानूनों के रूप में अभिव्यक्त उस इच्छा को क्रियान्वित करना और न्यायपालिका का कार्य उस इच्छा का पालन करवाना है। लास्की ने ठीक ही लिखा है कि "कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के अधिकारों की सीमा व्यवस्थापिका द्वारा घोषित की गई इच्छा में निहित होती है।"[1] अतः सरकार के तीनों अंगों को समकक्ष मानना एक भूल होगी।

(6) सरकार की कार्यक्षमता में कमी—गिलक्रिस्ट मार्टिन के अनुसार, "शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त से अधिक राज्य के कार्यों में रुकावट डालने वाली अन्य कोई व्यवस्था नहीं है।" शासन की शक्तियों के पृथक्करण से सरकार के तीनों अंग एक दूसरे से स्वतन्त्र व निरंकुश हो जाते हैं। सरकारी उत्तरदायित्व बँट जाता है और विभिन्न विभागों में संघर्ष की सम्भावनाएँ बहुत बढ़ जाती हैं जिसका प्रभाव प्रशासन की क्षमता पर बुरा पड़ता है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने इस सम्बन्ध में कहा है कि "सरकारी विभागों को पूर्ण स्वतन्त्रता का अनिवार्य अर्थ निरन्तर गतिरोध है। प्रत्येक विभाग अपनी ही शक्तियों की रक्षा में लगा रहेगा और अन्य किसी को सहयोग प्रदान नहीं करेगा। इसके परिणामस्वरूप कुशलता में होने वाली क्षति स्वतन्त्रता के सम्भावित लाभों से कहीं अधिक होगी।"

(7) स्वतन्त्रता के लिए शक्ति पृथक्करण अनावश्यक—मान्टेस्क्यू के मतानुसार नागरिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए शक्तियों का पृथक्करण आवश्यक है

1 *"The powers both of executive and judiciary find their line in the declared will of legislative organ"* —**Laski**

परन्तु व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए शक्तियों के विभाजन की तुलना में 'रुकावटों व संरक्षणों' का होना अधिक आवश्यक है। शक्ति पृथक्करण की अपेक्षा विधि का शासन, अधिकारों की संवैधानिक घोषणा, न्यायिक पुनरावलोकन की व्यवस्था मानवीय स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए कहीं अधिक प्रभावशाली हैं। इंगलैण्ड में विधि के शासन के कारण वहाँ के नागरिकों की स्वतन्त्रता सुरक्षित है।

(8) स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका का अभाव—इस सिद्धान्त को पूरी तरह से लागू करने पर न्यायाधीशों की नियुक्ति न तो कार्यपालिका द्वारा होगी और न ही व्यवस्थापिका द्वारा बल्कि वे सीधे जनता द्वारा चुने जायेंगे। जनता के द्वारा न्यायाधीश योग्यता के स्थान पर दलबन्दी के आधार पर चुने जाते हैं। ऐसे न्यायाधीश विवेक व न्याय की भावना से कार्य न करके पक्षपात तथा दलीय भावना के आधार पर कार्य करते हैं। इस प्रकार शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त निष्पक्ष व स्वतन्त्र न्यायपालिका को ही समाप्त कर देता है जो लोकतन्त्र का आधार माना जाता है।

(9) समय के प्रतिकूल—माण्टेस्क्यू का सिद्धान्त समय के प्रतिकूल है। वर्तमान समय में राज्य का स्वरूप लोकहितकारी हो गया है जिसके कारण सरकार का कार्य क्षेत्र व उत्तरदायित्व पहले की तुलना में बहुत अधिक बढ़ गये हैं। राज्य के कार्यों में वृद्धि ने शक्तियों के केन्द्रीकरण को बढ़ावा दिया है। पिछले वर्षों में प्रायः सभी देशों में कार्यपालिका की शक्तियों में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। इस नवीन प्रवृत्ति के कारण माण्टेस्क्यू का सिद्धान्त पुराना पड़ गया है। ऐवरसैन ने ठीक ही लिखा है कि "इस प्रकार की व्यवस्था एक ऐसे राज्य के लिए तो ठीक हो सकती है जिसका उद्देश्य केवल शान्ति और व्यवस्था कायम करना तथा नागरिकों [redacted] अधिकारों और सम्पत्ति की रक्षा करना हो किन्तु इसके अन्तर्गत एक आधुनिक राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती है।"

(10) कुशल नेतृत्व का अभाव—शक्ति पृथक्करण का एक दोष यह है कि इसके कारण कुशल नेतृत्व में कमी आ जाती है। डा० फाइनर का इस सम्बन्ध में कथन है कि 'शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त शासन को निद्रित एवं ऐंठने वाली अवस्था में डाल देता है।"[1]

सिद्धान्त का महत्व—शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त की चाहे कितनी ही आलोचना क्यों न की जाए, राजनीतिशास्त्र में इस सिद्धान्त का अपना विशिष्ट स्थान है। निम्नलिखित तथ्य इसके महत्व पर प्रकाश डालते हैं

(1) निरंकुशता पर रोक के साधन—शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के अन्तर्गत

---

1 "The theory of separation of powers throws the government into alternating conditions of coma and convulsions."

—Dr. Finer

सरकार के तीनों अंगों की शक्तियाँ पृथक एवं निश्चित होती हैं जिससे कोई भी अंग निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी नहीं हो पाता। इससे नागरिकों की स्वतन्त्रता भी सुरक्षित रहती है।

(2) स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायपालिका—शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायपालिका की स्थापना पर बल देता है। इसमें न्यायाधीशों की नियुक्ति कार्यपालिका अथवा व्यवस्थापिका द्वारा न होकर जनता द्वारा होती है। कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका उसके कार्यों में हस्तक्षेप नहीं कर सकती। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत न्यायपालिका अधिक कुशलता से नागरिकों के अधिकारों की सुरक्षा कर सकती है। लास्की ने कहा है कि "शक्ति विभाजन के सिद्धान्त की सर्वोच्च उपयोगिता और अधिकतम मूल्य इस विशेषता में निहित है कि वह न्यायपालिका की स्वतन्त्रता पर सर्वाधिक बल देता है।"

(3) कुशल प्रशासन—यह सिद्धान्त शासन की समस्त शक्तियों को तीन अंगों में विभाजित कर देता है। इसमें प्रत्येक अंग का कार्यभार हल्का हो जाता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक अंग विशिष्टीकरण को भी प्राप्त कर लेता है। कार्यों का विभाजन एवं विशिष्टीकरण का यह एक वैज्ञानिक तरीका है जिससे प्रशासन में कुशलता आ जाती है।

(4) शक्तियों के अनुचित प्रयोग पर रोक—इस सिद्धान्त का महत्व इस बात से भी है कि इसमें सरकार का कोई भी अंग अपनी शक्तियों का दुरुपयोग नहीं कर सकता।

डॉ० फाइनर ने कहा है कि "यह सिद्धान्त हर शक्ति को अपने कार्यों का औचित्य साबित करने के लिए मजबूर करता है।"

नियन्त्रण एवं सन्तुलन का सिद्धान्त
(The Theory of Check and Balances)

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त को कठोरतापूर्वक अपनाया जाये तथा सरकार के एक अंग पर दूसरे अंग का थोड़ा-सा भी नियन्त्रण न स्थापित किया जाये तो यह सम्भव है कि सरकार का कोई भी अंग अपने क्षेत्र में निरंकुश हो जायेगा। अतः शक्तियों का पूर्ण पृथक्करण न तो सम्भव है, न वांछनीय ही है। शक्तियों के पृथक्करण के प्रबल समर्थक मेडीसन ने लिखा है कि, "इस सिद्धान्त का तात्पर्य यह नहीं है कि व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका का एक दूसरे से कोई सम्बन्ध न रहे। जब तक ये तीनों अंग एक दूसरे से सम्बन्धित न किये जायेंगे और इस तरह से नहीं मिला दिये जायेंगे कि एक का दूसरे पर नियन्त्रण स्थापित हो जाये तब तक स्वतन्त्र सरकार की स्थापना कदापि नहीं हो सकती।" अतः शक्तियों के दुरुपयोग को रोकने के लिए एक अंग का दूसरे अंगों पर नियन्त्रण आवश्यक हो जाता है। इसे ही नियन्त्रण तथा सन्तुलन का सिद्धान्त कहा जाता है।

'नियन्त्रण व सन्तुलन सिद्धान्त' का तात्पर्य यह है कि सरकार का प्रत्येक अंग दूसरे अंगों पर इस प्रकार का नियन्त्रण रखे जिससे कि कोई अंग अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करके निरंकुश न बन सके तथा शासन में सन्तुलन बना रहे। अत इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक अंग अपने अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होते हुए भी दूसरे अंगों की स्वतन्त्रता पर रोक लगाता है।

अमरीका के संविधान में शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त की कमियों को दूर करने के लिए नियन्त्रण एवं सन्तुलन के सिद्धान्त को भी अपनाया गया है। उदाहरणार्थ, अमरीका में राष्ट्रपति द्वारा की गई नियुक्तियों और सन्धियों पर सीनेट की स्वीकृति आवश्यक होती है। इसी प्रकार कांग्रेस की कानून निर्माण की शक्ति पर एक ओर तो राष्ट्रपति के निषेधाधिकार का प्रतिबन्ध है तथा दूसरी ओर न्यायपालिका की न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति का प्रतिबन्ध है। इसी प्रकार न्यायपालिका पर शेष दोनों अंगों का नियन्त्रण रखा गया है। न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है परन्तु राष्ट्रपति उन्हें पदच्युत नहीं कर सकता। उन्हें महाभियोग द्वारा पदच्युत करने का अधिकार कांग्रेस को है। इस प्रकार शासन के तीनों अंग एक दूसरे पर नियन्त्रण रखते हुए उन्हें निरंकुश बनने से रोकते हैं तथा शासन में सन्तुलन स्थापित रखते हैं।

अभ्यास के प्रश्न

1. शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिए तथा वर्तमान सन्दर्भ में उसके औचित्य का परीक्षण कीजिए। (राजस्थान विश्व०, 1978)
2. आप इस मत से कहाँ तक सहमत हैं कि यद्यपि व्यवस्थापन, कार्यपालन एवं न्यायिक कार्यों का निर्धारण अनिवार्य है परन्तु इन कार्यों का पूर्णतया पृथक्करण न तो आवश्यक है और न सम्भव ही है। अपने दृष्टिकोण के समर्थन में कारण दीजिए।
3. मॉण्टेस्क्यू द्वारा प्रतिपादित शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। (राजस्थान विश्व०, 1976)
4. मॉण्टेस्क्यू द्वारा प्रतिपादित शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त का संक्षिप्त विवेचन दीजिए। (राजस्थान विश्व०, 1979)
5. 'शक्ति के पृथक्करण का सिद्धान्त न तो व्यावहारिक है और न वाछनीय ही है।' इस कथन की विवेचना कीजिए।
6. शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त की उपयोगिता तथा महत्त्व की समीक्षा कीजिए।
7. 'नियन्त्रण और सन्तुलन' के सिद्धान्त का वर्णन करते हुए उसका महत्त्व बताइए।

21

राजनीतिक दल और दबाव समूह

(POLITICAL PARTIES AND PRESSURE GROUPS)

"राजनीतिक दल अनिवार्य हैं। कोई भी बड़ा स्वतन्त्र देश उनके बिना नहीं रह सकता। किसी व्यक्ति ने यह नहीं बताया कि लोकतन्त्र उनके बिना कैसे चल सकता है। ये मतदाताओं के समूह की अराजकता में से व्यवस्था उत्पन्न करते हैं। यदि दल कुछ बुराइयाँ उत्पन्न करते हैं तो वे दूसरी बुराइयों को दूर या कम भी करते हैं।" —ब्राइस

राजनीतिक दल का अर्थ एवं परिभाषा—राजनीतिक दल से अभिप्राय ऐसे व्यक्तियों के समूह से है जो कुछ समस्याओं और उनके समाधान के सम्बन्ध में एकमत हैं। उनका एक सामान्य उद्देश्य है तथा निश्चित कार्यक्रम है जिसके द्वारा वे जनमत को अपने पक्ष में करके शासन सत्ता को अपने हाथ में लेना चाहते हैं। दल के सदस्य एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हुए अपनी कल्पित नीति अथवा अपने कार्यक्रम को विस्तार देने के लिए शासन यन्त्र को हस्तगत करने को प्रयत्नशील रहते हैं।

राजनीतिक दल क्या होता है, इस सम्बन्ध में विभिन्न विचारकों ने भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त किये हैं जिनमें से कुछ मुख्य विचारकों के विचार इस प्रकार हैं

गैटल के शब्दों में, "राजनीतिक दल प्राय संगठित नागरिकों का ऐसा समुदाय है जो एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं और अपने मतदान की शक्ति का प्रयोग कर सरकार को नियन्त्रित करना तथा अपनी सामान्य नीति की पूर्ति करना चाहते हैं।"[1]

गिलक्राइस्ट के अनुसार, "राजनीतिक दल की परिभाषा नागरिकों के उस

1 "A political party consists of group of citizens, more or less organized, who act as a political unit and who by the use of their voting power, aim to control the government and carry out their general policies" —Gattel.

संगठित समूह से की जा सकती है जिनके एक से राजनीतिक विचार हों और जो एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हुए सरकार पर नियन्त्रण करना चाहते हों।"[1]

एडमण्ड बर्क के अनुसार, 'राजनीतिक दल ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो कुछ निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर, जिनसे वे सहमत हैं अपने सामूहिक प्रयत्नों द्वारा जनता के हित में काम करने के लिए एकता में बंधे होते हैं।"[2]

मैकाइवर के शब्दों में ' राजनीतिक दल एक ऐसा समुदाय है जिसका संगठन विशेष सिद्धान्त अथवा नीति के समर्थन के लिए हुआ हो जिसे वह संवैधानिक साधनों का सहारा लेकर सरकार का आधार बनाना चाहता हो।"[3]

लीकॉक के अनुसार, राजनीतिक दल से हमारा तात्पर्य नागरिकों के उस संगठित समूह से होता है जो एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं।"[4]

राजनीतिक दलों की आवश्यकता एवं महत्त्व

बर्क ने कहा है कि, "दलीय प्रणाली चाहे पूर्णरूप से भले के लिए हो या बुरे के लिए, प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्था के लिए अपरिहार्य है।' राजनीतिक दल वह धुरी हैं जिन पर लोकतन्त्र के पहियों का भार होता है। इनके बिना प्रजातन्त्र जीवित नहीं रह सकता। इसीलिए प्रजातन्त्रीय शासन को दलीय शासन कहा गया है। प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र में जनता अपने प्रतिनिधियों को चुनती है और इन प्रतिनिधियों द्वारा शासन कार्य किया जाता है। राजनीतिक दल अपने उम्मीदवारों का चुनाव में खड़ा कर जनता को यह अवसर देते हैं कि वह अपना योग्य प्रतिनिधि चुने। राजनीतिक दलों के अभाव में मतदाता अपना मत बिना किसी सोच विचार के किसी भी उम्मीदवार को दे देंगे। परिणाम यह होगा कि जो लोग निर्वाचित होकर आयेंगे उनमें किसी बात पर भी मतैक्य नहीं होगा। इस प्रकार देश में अव्यवस्था छा जायेगी। फाइनर ने ठीक ही

---

1 "Political party may thus be defined as an organised group of citizens who profess to share the same political views and who by acting as a political unit, try to control the government"
— Gilchrist *Principles of Political Science*, p. 289.

2 "A body of men united for the purpose of promoting by their joint endeavours for the public interest upon some principle in which they are all agreed" —Edmund Burke

3 "A political party is an association organized in support of some principle or policy which by constitutional means it endeavours to make the determinant of government"
—R M MacIver *The Modern State*, p. 396

4 "By a political party we mean a more or less organized group of citizens who act together as a political unit." —Leacock,

राज० के मूल सि०, 29

है। लोकतन्त्र मे राजनीतिक दलो के निर्माण पर कोई संवैधानिक प्रतिबन्ध नही होता। जिन देशो मे लोकतन्त्रीय शासन की नींव दृढ हो गई है, वहाँ पर प्राय द्विदलीय प्रणाली पायी जाती है तथा जिन देशो मे लोकतन्त्र अभी प्रारम्भ ही हुआ है, वहाँ प्राय बहुदलीय प्रणाली पायी जाती है। लोकतन्त्र मे राजनीतिक दलो की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण होती है। प्रो० मेरियम ने अपनी पुस्तक *American Party System* मे राजनीतिक दलो की भूमिका का वर्णन करते हुए लिखा है कि "राजनीतिक दलों का कार्य पदाधिकारियों का चुनाव करना, लोकनीति का निर्धारण करना, शासन का सचालन अथवा उसकी रचनात्मक आलोचना करना, राजनीतिक प्रचार और शिक्षण तथा व्यक्ति एव सरकार के बीच अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने में सहायता देना है।" लोकतान्त्रिक व्यवस्था मे राजनीतिक दलो के द्वारा किये जाने वाले प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं

(1) अपने पक्ष में लोक मत का निर्माण करना—राजनीतिक दलों का प्रमुख कार्य अपने सिद्धान्तो के अनुसार जनता के सामने एक निश्चित दृष्टिकोण, नीति और कार्यक्रम उपस्थित करना है तथा हर सम्भव उपायो द्वारा जनता में अपने विचारों का प्रचार करना है। वे सभाओ, समाचार पत्रो, प्रदर्शनो, पुस्तिकाओ आदि के द्वारा अपने विचारो का प्रचार करते हैं। इन सबका उद्देश्य जनता मे अपने अनुयायियो तथा समर्थकों की सख्या मे वृद्धि करना है।

(2) राजनीतिक चेतना का प्रसार करना—राजनीतिक दलों द्वारा किये जाने वाले प्रचार एव आलोचना तथा प्रत्यालोचना से नागरिकों को राजनीतिक शिक्षा मिलती है। उन्हें समस्याओ के विभिन्न पहलुओ की जानकारी मिलती है तथा सभी दलो की नीतियो एव सिद्धान्तो की अच्छाइयो तथा बुराइयो को परखने का अवसर मिलता है। इससे लोगो मे राजनीतिक चेतना फैलती है। लॉवेल के अनुसार "राजनीतिक दल राजनीतिक विचारों के दलाल (broker of ideas) के रूप में कार्य करते हैं।"

(3) चुनावों में भाग लेना—प्रत्येक राजनीतिक दल का उद्देश्य अपना प्रभाव बढाना तथा शासन सत्ता पर अपना अधिकार करना होता है जिससे वह अपने कार्यक्रम को क्रियान्वित कर सके। इसके लिए राजनीतिक दल मतदाताओ की सूची तैयार करवाने में सहायता देते हैं चुनावों मे भाग लेते हैं, अपने उम्मीदवार खड़े करते हैं उनके पक्ष मे प्रचार करते हैं तथा चुनाव मे उसको आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं। यह सब इसलिए किया जाता है कि चुनाव मे उसके उम्मीदवार अधिक से अधिक सख्या मे विजय प्राप्त करें। आधुनिक विशाल लोकतान्त्रिक राज्यो मे राजनीतिक दलो के बिना चुनाव लडना तथा उसमे विजय प्राप्त करना काफी कठिन हो गया है।

(4) शासन की बागडोर संभालना—चुनाव मे बहुमत प्राप्त कर लेने पर

राजनीतिक दल शासन की बागडोर अपने हाथ मे लेता है तथा अपनी नीतियो एव कार्यक्रम को साकार रूप देने का प्रयत्न करता है। ससदीय एव अध्यक्षात्मक दोनो प्रकार की शासन प्रणालियो मे सरकार का निर्माण तथा शासन व्यवस्था का सचालन राजनीतिक दलों के आधार पर ही किया जाता है। ससदीय शासन मे तो राज-नीतिक दलों के अभाव मे सरकार का निर्माण प्राय असम्भव हो जायेगा क्योंकि व्यवस्थापिका के सभी सदस्य समान रूप से अपने आपको शासन चलाने के लिए हकदार मानेंगे।

(5) सरकार पर नियत्रण रखना—यदि चुनाव मे राजनीतिक दल को बहुमत प्राप्त न हो तो भी उसके काय का महत्त्व कम नही होता। विरोधी दल के रूप मे उसका यह उत्तरदायित्व हो जाता है कि वह सरकार की गलत नीतियो की आलोचना करे, जनता को शासन की बुराइयो से परिचित कराये, जनता के कष्टो को सरकार के सामने प्रस्तुत करे तथा सरकार के निरकुश एव स्वेच्छाचारी बनने पर नियन्त्रण लगाये। उसे इस बात के लिए भी तत्पर रहना पडता है कि यदि सत्तारूढ दल किसी कारण से पद त्याग करता है तो वह स्वय शासन प्रबन्ध भली प्रकार सँभाल ले।

(6) सरकार के विभिन्न विभागों में सहयोग एव सामजस्य स्थापित करना—राजनीतिक दल सरकार के विभिन्न विभागो तथा अगो म सहयोग और सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। ससदीय शासन म राजनीतिक दल ही व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका मे अभिन्न सम्बन्ध कायम करता है क्योकि दोनो मे सत्तारूढ दल का आधिपत्य होता है। अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था मे शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के कारण व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका दोनों एक दूसरे से पृथक होते हैं। वहाँ राज-नीतिक दल ही दोनो के बीच मे सहयोग स्थापित करके शासन सचालन के कार्य को सुगम बनाते हैं। यदि राजनीतिक दल न हो तो दोनो विभागो मे सदैव गतिरोध कायम रहने का भय बना रहेगा।

(7) सरकार तथा जनता के बीच सम्पर्क—राजनीतिक दल सरकार तथा जनता के बीच निकट का सम्पर्क बनाये रखते हैं। वे एक ओर तो जनता के विचारो तथा कष्टो की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित करते है तथा दूसरी ओर सरकार की नीतियो एव कार्यों का मूल्याकन करते हुए जनता को उनकी अच्छाइयो तथा बुराइयों से परिचित कराते हैं।

(8) पदाधिकारियों का चुनाव—राजनीतिक दल अपने पदाधिकारियो का चुनाव करते हैं तथा व्यवस्थापिका एव कार्यपालिका के लिए दल के उम्मीदवारो का मनोनीत करते हैं। सरकारी अधिकारियो के निर्वाचन अथवा चयन करने मे राज-नीतिक दलों से बडी सहायता मिलती है। वे अनुकूल व्यक्तियो को सरकारी पद पर निर्वाचित करने मे योगदान देते हैं।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि एक लोकतान्त्रिक

राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। उनके बिना लोकतान्त्रिक व्यवस्था स्थायी नहीं रह सकती है। लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए हूवर (Huber) ने लिखा है कि "लोकतन्त्र रूपी यन्त्र के चालन में राजनीतिक दल तेल अथवा ईंधन के समान कार्य करते हैं।"

समाजवादी व्यवस्था में राजनीतिक दलों की भूमिका

प्रजातान्त्रिक देशों में जहाँ द्विदलीय अथवा बहुदलीय व्यवस्था होती है, वहाँ समाजवादी देशों में एकदलीय व्यवस्था ही पायी जाती है। इस व्यवस्था में यद्यपि अन्य दलों के निर्माण पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता परन्तु उनका स्वरूप केवल सांस्कृतिक तथा आर्थिक संगठनों जैसा होता है और उन पर भी दल का कठोर नियन्त्रण रहता है। इस व्यवस्था में विरोधी दलों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जाता। परिणामस्वरूप समाजवादी देशों में राजनीतिक सामाजिक आर्थिक आदि सभी व्यवस्थाओं पर एक ही दल का पूर्ण एवं कठोर नियन्त्रण रहता है। विंसिकी ने सोवियत संघ के सम्बन्ध में लिखा है कि "देश के समस्त राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में साम्यवादी दल की एकाधिकारपूर्ण स्थिति है।"

समाजवादी व्यवस्था व्यवहार में दलीय सर्वोच्चता के सिद्धान्त पर आधारित होती है। फाइनर के शब्दों में, "दल सोवियत संघ का सम्प्रभु शासक है। इसकी शक्ति की कोई मर्यादा नहीं है।" दल ही समाजवादी व्यवस्था का रक्षक, उसका मार्ग-दर्शक, उसका आदर्श एवं शिक्षक होता है। वही समाजवादी क्रान्ति का सृजक होता है तथा क्रान्ति का विरोध करने वालों का दमन करके समाजवादी व्यवस्था को सुदृढ़ता प्रदान करता है। दल का संगठन पूर्ण केन्द्रीकृत, कठोर, अनुशासन युक्त तथा एकाधिकारवादी होता है तथा दल के निम्नस्तरीय अंगों को अपने से उच्चस्तरीय अंगों के निर्णयों तथा आदेशों का अनिवार्य रूप से पालन करना होता है। रूस के साम्यवादी दल के संगठन का वर्णन करते हुए फेन्सोड (Fainsod) ने लिखा है कि "साम्यवादी दल का संगठन उत्तरोत्तर सैनिक संगठन के समान है जिसमें नीति सम्बन्धी समस्त निर्णय केन्द्रीय कमान से आते हैं और नीचे के अधिकारियों का कार्य उन निर्णयों और आज्ञाओं को क्रियान्वित करना होता है।" संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि दल का संगठन एक पिरामिड के समान होता है जिसमें ऊपर का शीर्ष ही दल की समस्त गतिविधियों को नियन्त्रित करता है।

लोकतान्त्रिक देशों में राजनीतिक दलों का लक्ष्य शासन-सत्ता प्राप्त करना होता है परन्तु समाजवादी व्यवस्था में दल का मुख्य लक्ष्य शासन का निर्देशन एवं संचालन करना होता है। जिक के शब्दों में, "समाजवादी व्यवस्था में दल तथा सरकार में इतना अटूट सम्बन्ध रहता है कि यह कहना असम्भव है कि दल का कार्य कहाँ समाप्त होता है तथा सरकार का कार्य कहाँ प्रारम्भ होता है क्योंकि कुछ ही व्यक्ति दल तथा शासन दोनों में सर्वोपरि स्थान रखे होते हैं तथा यह निश्चित करना कठिन हो जाता है कि वे कब दल के नेता के रूप में तथा कब शासनाधिकारी

के रूप में कार्य करते हैं।" समाजवादी व्यवस्था मे कहने को तो व्यवस्थापिका, मन्त्रि-मण्डल तथा न्यायपालिका आदि सभी होते हैं परन्तु व्यवहार मे सरकार की नीतियो की रूपरेखा दलीय नेताओ द्वारा ही तैयार की जाती है और दल के कार्यक्रम को लागू करना ही शासन का मुख्य उद्देश्य होता है। शासन के समस्त अगो पर दल का पूर्ण नियन्त्रण होता है। शासन के मुख्य मुख्य पद तो स्वय दल के नेताओ के हाथ मे होते हैं। कार्टर ने इस सम्बन्ध मे लिखा है कि "व्यवस्थापन और प्रशासन दोनों पर ही हर समय दल का नियन्त्रण रहता है और वही यह निर्णय करता है कि क्या किया जाना है, कब किया जाना है, कैसे किया जाना है तथा किसके द्वारा किया जाना है।"

प्रचार के समस्त साधनो पर भी दल का ही नियन्त्रण रहता है तथा दल उनके माध्यम से जनसाधारण को अपने सिद्धान्तो के अनुरूप साँचे मे ढालने का प्रयत्न करता है। ऐसी व्यवस्था मे दल के नेताओ की स्तुति करना तथा दल के सिद्धान्तो के अनुसार कार्य करना ही सच्ची स्वतन्त्रता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि देश के राजनीतिक जीवन के साथ साथ लोगो के विचारो पर भी दल का नियन्त्रण रहता है। कार्टर के शब्दो मे, "दल न केवल शिखर पर नियन्त्रण रखता है, वरन् देश के अन्तर्गत प्रत्येक स्तर और प्रत्येक सस्था पर वह छाया रहता है।"

विकासशील देशो मे राजनीतिक दलो की भूमिका

विकासशील देशो मे राजनीतिक दलो का स्वरूप पश्चिमी लोकतान्त्रिक देशो तथा समाजवादी देशो से भिन्न है। पश्चिमी देशो मे द्विदलीय राजनीतिक व्यवस्था की प्रधानता पायी जाती है जबकि समाजवादी देशों मे एकदलीय व्यवस्था पायी जाती है। विकासशील देशों मे समाजवादी देशो के समान अन्य राजनीतिक दलो के निर्माण पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता परन्तु उनमें मुख्य रूप से एक दल-प्रमुख व्यवस्था पायी जाती है। इस प्रकार विकासशील राजनीतिक व्यवस्था में लोकतन्त्रीय तथा समाजवादी दोनो व्यवस्थाओ का समन्वय पाया जाता है।

विकासशील देशो में एकदलीय प्रधान व्यवस्था को अधिक लोकतान्त्रिक माना जाता है क्योंकि इसमें राजनीतिक दलो के निर्माण पर कोई प्रतिबन्ध नही होता। इसके अतिरिक्त इस व्यवस्था में एक दल की प्रधानता होने के कारण वे लाभ भी उपलब्ध हो जाते है जो एकदलीय व्यवस्था के अन्तर्गत पाये जाते हैं। विकासशील देशों में आन्तरिक तथा बाह्री सकटो का सामना करने के लिए तथा देश का तेजी से विकास करने के लिए यह आवश्यक है कि वहाँ शासन में स्थायित्व हो। विकासशील देशो में एक दल-प्रधान व्यवस्था को इसीलिए अधिक उपयुक्त माना जाता है क्योंकि इससे शासन में स्थिरता बनी रहती है, दीर्घकालीन नीतियो का निर्माण किया जा सकता है तथा शासन का सुचारु रूप से सचालन हो सकता है। इस व्यवस्था में व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका दोनो में एक ही दल की प्रधानता होती है। अत एक दल की प्रधानता होने के कारण सरकार को कानूनो के निर्माण मे तथा उनके क्रियान्वयन में

कोई कठिनाई नहीं होती। वास्तविकता तो यह है कि विकासशील देशों में एक दल प्रभुत्व व्यवस्था के कारण ही लोकतन्त्र का अस्तित्व बना हुआ है।

इस व्यवस्था में राजनीतिक दलों को चुनाव लड़ने तथा सरकार की आलोचना करने का पूरा अधिकार होता है। इसमें विरोधी दलों को आदर की दृष्टि से देखा जाता है तथा प्रमुख सार्वजनिक मामलों पर उनसे राय भी ली जाती है। एक दल की प्रधानता होने पर भी इसमें समाज के हित को प्रमुखता प्रदान की जाती है। परन्तु अधिक दिनों तक शासन पर एक ही दल का आधिपत्य बने रहने से जनता द्वारा धीरे धीरे उसका विरोध प्रारम्भ हो जाता है। इसमें शासक दल में ही आन्तरिक गुटबन्दी को बढ़ावा मिलता है। लोग उचित अनुचित सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग कर उस दल की प्रधानता को समाप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

दल प्रणाली के रूप

दल प्रणाली के मुख्यतया तीन रूप प्रचलित हैं (1) एकदलीय प्रणाली, (2) द्विदलीय प्रणाली तथा (3) बहुदलीय प्रणाली।

एकदलीय प्रणाली (One Party System)—एकदलीय प्रणाली वह व्यवस्था है जिसमें केवल एक ही राजनीतिक दल का अस्तित्व रहता है। शासन की समस्त शक्तियों का प्रयोग इस एक दल के सदस्यों द्वारा ही किया जाता है। अन्य दल या तो संविधान द्वारा अवैध घोषित कर दिये जाते हैं अथवा शक्ति द्वारा उनका दमन कर दिया जाता है। एकदलीय शासन के राज्य का स्वरूप सामान्यतया सर्वाधिकारवादी ढंग का होता है क्योंकि सरकार की सारी अधिकार शक्ति एक अखण्ड राजनीतिक दल में केन्द्रित होती है। ऐसा दल राज्य के समस्त कार्यों पर पूरी तरह से छाया रहता है। वर्तमान समय में एकदलीय व्यवस्था केवल साम्यवादी देशों तक ही सीमित नहीं है, अपितु अनेक नवविकसित एशियाई और अफ्रीकी राज्यों में भी ऐसी ही प्रणाली का प्रचलन है।

गुण—एकदलीय व्यवस्था के निम्नलिखित गुण बताये जाते हैं .

(1) राष्ट्रीय एकता—एकदलीय व्यवस्था में जनता में विभाजन तथा गुटबन्दी का भय समाप्त हो जाता है। अतः छोटे छोटे हितों को लेकर देश में किसी प्रकार का संघर्ष नहीं होता और राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा मिलता है।

(2) शासन में दृढ़ता—एकदलीय व्यवस्था में विरोधी दलों का अभाव रहता है। इसमें शासन के विभिन्न अंगों के बीच पारस्परिक विरोध की कोई सम्भावना नहीं होती। ऐसी स्थिति में दल दृढ़तापूर्वक शासन का संचालन करता है तथा उसे राष्ट्रीय नीतियों के निर्धारण एवं उनके क्रियान्वन में भी कोई कठिनाई नहीं होती।

(3) राजनीतिक स्थायित्व—द्विदलीय प्रणाली अथवा बहुदलीय प्रणाली में सरकारें दलों के आधार पर बनती बिगड़ती रहती हैं परन्तु एकदलीय व्यवस्था में

सरकार को इस प्रकार का कोई खतरा नहीं रहता है। अतः इस प्रणाली में राजनीतिक अस्थिरता नहीं पायी जाती है।

(4) लोकतान्त्रिक पद्धति—लोकतन्त्र सम्पूर्ण जनता का शासन है, किसी एक अथवा विभिन्न वर्गों का नहीं। इस दृष्टि से एकदलीय व्यवस्था सच्चे अर्थों में एक लोकतान्त्रिक पद्धति है क्योंकि उसमें विभिन्न वर्गों तथा विभिन्न दलों के लिए कोई स्थान नहीं होता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शासन की कुशलता नीति निर्माण में सरलता, निर्देशों में एकरूपता तथा शासन में दृढ़ता एवं स्थायित्व की दृष्टि से एकदलीय व्यवस्था को अधिक उपयुक्त माना जाता है।

दोष—उपरोक्त गुणों के होते हुए भी आलोचकों द्वारा एकदलीय पद्धति की कड़ी आलोचना की जाती है। उनके अनुसार एकदलीय पद्धति में निम्नलिखित दोष हैं :

(1) अप्रजातान्त्रिक पद्धति—प्रजातन्त्र का आधार वाद-विवाद, विरोधी विचारधाराओं का टकराव, मतदान एवं निर्वाचन है, परन्तु एकदलीय पद्धति में विचारों का बहुमुखी विकास सम्भव नहीं है। इसमें मतदान एवं निर्वाचन केवल दिखावटी रह जाते हैं। इसमें शासन पर एक दल का एकाधिकार होने के कारण व्यवहार में दलीय अधिनायकतन्त्र की स्थापना हो जाती है तथा व्यक्ति के अधिकारों का महत्व समाप्त हो जाता है।

(2) नागरिक स्वतन्त्रताओं का अभाव—एकदलीय पद्धति में नागरिकों को स्वतन्त्र रूप से विचार प्रकट करने लेख लिखने तथा सरकार की आलोचना करने का अधिकार नहीं होता है। समाचार पत्र स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष न रहकर दलीय सिद्धान्तों के प्रचार का कार्य करते हैं। सरकार की आलोचना करने वालों को कठोर दण्ड का भागी होना पड़ता है।

(3) राष्ट्रीय हित की उपेक्षा—यह कहना भी सही नहीं है कि एकदलीय व्यवस्था में राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि होती है। वस्तुतः दलीय हितों की आड़ में राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा होती है तथा दलीय हितों को ही प्रधानता दी जाती है। इसमें दलीय नीति को जनता के ऊपर जबरदस्ती लादा जाता है।

(4) व्यक्ति पूजा—एकदलीय प्रणाली में नेतृत्व का सिद्धान्त भी निहित है। इसमें नेतृत्व को इतना महत्त्व दिया जाता है कि दल का नेता एक प्रकार से भगवान का अवतार माना जाने लगता है। नेता की प्रशंसा में उसके गुणगान किये जाते हैं। अतः यह व्यवस्था व्यक्ति पूजा की प्रवृत्ति को बढ़ावा देती है।

संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि एकदलीय व्यवस्था केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति के कारण केवल अधिनायकतन्त्र के लिए ही उपयोगी है, लोकतन्त्र के लिए नहीं।

द्विदलीय प्रणाली (The Two Party System)—द्विदलीय पद्धति में केवल दो दलों की प्रधानता रहती है। द्विदलीय प्रणाली वाले राज्यों में अन्य राजनीतिक दलों के गठन पर कोई कानूनी प्रतिबन्ध नहीं होता परन्तु ये दल इतने छोटे होते हैं कि देश की राजनीति पर उनका कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं होता। दो प्रमुख दलों में से बहुमत प्राप्त करने वाला दल सत्तारूढ़ होता है तथा अल्पमत प्राप्त करने वाला दल विरोधी दल के रूप में कार्य करता है। ब्रिटेन तथा अमरीका द्विदलीय प्रणाली के श्रेष्ठतम उदाहरण हैं।

गुण—द्विदलीय प्रणाली के समर्थकों में प्रो॰ लास्की, हरमन फाइनर तथा ब्राइस आदि अधिक प्रमुख हैं। विद्वानों के द्वारा इस प्रणाली में निम्नलिखित गुण बताये जाते हैं

(1) शासन में स्थिरता—द्विदलीय प्रणाली में सुदृढ़ और स्थायी सरकार का निर्माण सम्भव होता है जिसके कारण शासन में स्थिरता आ जाती है। इस प्रणाली में मन्त्रिमण्डल एक ही राजनीतिक दल का होता है तथा उसे व्यवस्थापिका में पूर्ण बहुमत प्राप्त होता है। अतः इस प्रणाली में मन्त्रिमण्डल अधिक स्थायी होता है।

(2) शासन में कुशलता—स्थायित्व के कारण इस प्रकार की शासन प्रणाली में कार्यकुशलता भी अधिक होती है। साथ ही इस प्रणाली में सरकार दीर्घकालीन होती है, अतः वह विश्वासपूर्वक एक लम्बे समय के लिए निश्चित नीति तथा कार्यक्रम का निर्धारण कर सकती है और दृढ़तापूर्वक उसे कार्यान्वित कर सकती है।

(3) मतदाताओं के लिए उपयुक्त—द्विदलीय प्रणाली मतदाताओं के लिए भी अधिक उपयुक्त है। इसमें जनता को इस बात की वास्तविक छूट होती है कि वह दो प्रमुख नीतियों और कार्यक्रमों में से इच्छानुसार एक को चुन ले। इस तरह इस प्रथा के अन्तर्गत अपने विचार बनाना सरल होता है।

(4) मन्त्रिमण्डल का निर्माण सरल—द्विदलीय प्रणाली में मन्त्रिमण्डल बनाने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती। संसदीय व्यवस्था में जिस दल को बहुमत प्राप्त होता है वह शासन की बागडोर संभालता है और दूसरा विरोधी दल के रूप में कार्य करता है। जब शासक दल अपना बहुमत खो देता है तो विरोधी दल शासन की बागडोर संभाल लेता है।

(5) स्पष्ट उत्तरदायित्व—द्विदलीय प्रणाली का एक गुण यह है कि इसमें शासन सम्बन्धी कुशलता अथवा अकुशलता का उत्तरदायित्व सरलता से निर्धारित किया जा सकता है। बहुमत प्राप्त दल मन्त्रिमण्डल का निर्माण करता है, अतः शासन सम्बन्धी समस्त कार्यों के लिए वही उत्तरदायी भी होता है। बहुदलीय व्यवस्था में किसी भी एक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं होता। फलस्वरूप शासन की बुराइयों के लिए किसी भी दल विशेष को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता।

(6) संगठित विरोध—द्विदलीय व्यवस्था में विरोधी दल भी उतना ही संगठित व सुदृढ़ होता है जितना कि सत्तारूढ़ दल। संगठित होने के कारण विरोधी

दल दृढ़तापूर्वक सरकार के गलत कार्यों, नीतियों और कानूनों का विरोध करता है, उसे निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी बनने से रोकता है और नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करता है।

(7) वास्तविक प्रतिनिधि शासन—द्विदलीय प्रणाली वास्तविक अर्थ में प्रतिनिधि सरकार की स्थापना करती है। इसके अन्तर्गत बहुमत दल शासन का संचालन करता है क्योंकि उसे बहुसंख्यक मतदाताओं का विश्वास और समर्थन प्राप्त होता है। इस दृष्टि से द्विदलीय पद्धति बहुदलीय प्रणाली की तुलना में अधिक लोकतान्त्रिक होती है।

द्विदलीय प्रणाली के लाभों का वर्णन करते हुए प्रो० लास्की ने लिखा है कि, "यही एकमात्र ऐसी प्रणाली है जिसके द्वारा निर्वाचन के समय जनता प्रत्यक्ष रूप से अपनी सरकार का चुनाव कर सकती है। यह उस सरकार को अपनी नीति के अनुसार कानून बनाने की क्षमता प्रदान करती है। यह उसकी असफलता के परिणामों का ज्ञान करा देती है। यह अविलम्ब ही सरकार का विकल्प प्रस्तुत कर देती है।"[1]

दोष—उपरोक्त गुणों के होते हुए भी आलोचकों के द्वारा इस प्रणाली की कटु आलोचना की गई है। प्रो० रैम्जे म्योर (Ramsay Muir) ने द्विदलीय प्रणाली की आलोचना करते हुए लिखा है कि, "यह प्रणाली ब्रिटिश सरकार में पायी जाने वाली सबसे भयंकर बुराइयों का कारण है।" आलोचकों द्वारा इस प्रणाली में निम्नलिखित दोष बताये जाते हैं

(1) व्यवस्थापिका के महत्व में कमी—प्रो० रैम्जे म्योर के अनुसार द्विदलीय व्यवस्था में व्यवस्थापिका का महत्त्व कम हो जाता है तथा उसकी सत्ता सीमित हो जाती है। कठोर दलीय अनुशासन के कारण व्यवस्थापिका के बहुमत दल के सदस्य सदैव ही मन्त्रिमण्डल का समर्थन करते रहते हैं। अतः व्यवस्थापिका व्यवहार में 'लेखा रखने वाली संस्था' तथा 'प्रस्तावों को पारित करने वाली संस्था' मात्र बनकर रह जाती है।

(2) बहुमत की निरंकुशता—रैम्जे म्योर के अनुसार इस प्रणाली में बहुमत का समर्थन प्राप्त होने के कारण मन्त्रिमण्डल की निरंकुशता कायम हो जाती है। बहुमत का विश्वास प्राप्त होने के कारण सरकार मनमाने ढंग से कानून बनाती है तथा अल्पसंख्यकों के हितों की सदैव कुचलती रहती है। इसमें बहुमत जो चाहता है वही होता है।

1 "It is the only method by which the people can at the electoral period directly choose its government It enables that government to drive its policy to the statute book It makes known and intelligible the results of its failure It brings an alternative government into immediate being" —Laski.

(3) राष्ट्र का विभाजन—द्विदलीय व्यवस्था मे दो ही मुख्य विचारधाराएँ होती हैं। इसके परिणामस्वरूप सारा राष्ट्र ऐसे दो विरोधी पक्षो मे बँट जाता है जिनमे समझौते की कोई सम्भावना नही रहती। इससे राष्ट्रीय एकता को खतरा उत्पन्न हो जाता है।

(4) मतदान को सीमित स्वतन्त्रता—द्विदलीय व्यवस्था के अन्तर्गत मतदाताओ को केवल दो उम्मीदवारो मे से एक को चुनने का अवसर मिलता है। यह भी सम्भव है कि मतदाता दोनो दलो की नीतियो से सहमत न होने के कारण इन दोनो उम्मीदवारो मे से किसी को पसन्द न करें। ऐसी स्थिति में मतदाता के सामने दो ही विकल्प रह जाते हैं—वह मतदान ही न करे या न चाहते हुए भी दोनो मे से किसी एक के पक्ष मे मतदान करे। इस प्रकार इस प्रणाली मे मतदाता की स्वतन्त्रता बहुत सीमित हो जाती है। मैकाइवर ने ठीक ही लिखा है कि, "द्विदलीय प्रणाली को निश्चित रूप से अधिक स्थायी सरकार के निर्माण की कीमत अदा करनी पड़ती है। इसमे मतदाता की पसन्दगी अत्यन्त सीमित हो जाती है तथा यह जनमत की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति में भी बाधा डालती है।"[1]

(5) विभिन्न हितो का प्रतिनिधित्व नहीं—समाज मे अनेक प्रकार के हित तथा वर्ग होते हैं। अत यह आवश्यक है कि व्यवस्थापिका मे इन सब हितो तथा वर्गों को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। देश का राजनीतिक जीवन दो दलो मे विभाजित हो जाने के कारण अनेक हितो को प्रतिनिधित्व प्राप्त नही हो पाता। यह स्थिति वास्तविक लोकतन्त्र के लिए उचित नही कही जा सकती है।

(6) सदस्यो के व्यक्तित्व का अनादर—इस प्रणाली मे दल का अनुशासन इतना कड़ा होता है कि यदि सदस्य दल के दृष्टिकोण तथा नीतियो से पूरी तरह सहमत न भी हो, तो भी उन्हे दल के नेताओ के आदेशो का अनिवार्य रूप से पालन करना होता है। उन्हे व्यवस्थापिका मे सभी विषयो मे अपनी सरकार के पक्ष मे राय देनी पड़ती है। वे खुले रूप मे अपने दल की नीतियो तथा सिद्धान्तो की आलोचना नही कर सकते। इसके कारण दल के सदस्यो के व्यक्तित्व को धक्का लगता है।

(7) उत्तरदायित्वहीन विरोध—इस प्रणाली मे कभी कभी विरोधी पक्ष बहुत ही उत्तरदायित्वहीन ढग से कार्य करता है। उसकी आलोचना रचनात्मक न होकर केवल विनाशात्मक होती है जिसके कारण जनता का कोई हित नहीं होता।

(8) योग्य व्यक्तियों की सेवाओ से वंचित—इस व्यवस्था के अन्तर्गत सत्तारूढ दल से बाहर के प्रतिभाशाली व्यक्तियो का शासन काय मे उपयोग नहीं किया जा सकता। इसका तात्पर्य यह है कि यह प्रणाली देश के अन्य योग्य व्यक्तियो की

---

1 "Certainly the two party sy tem pays a price for the more stable government which it provides The citizen has a narrower choice The dual principle hampers the free expression of political opinion" —MacIver *The Modern State*, p 240.

सेवाओ का समुचित उपयोग नही कर पाती और देश उनकी सेवाओ के लाभ से वंचित रह जाता है।

बहुदलीय प्रणाली (Multi party System)—बहुदलीय प्रणाली उसे कहते हैं जहाँ अनेक राजनीतिक दल होते हैं। इस प्रणाली मे किसी भी एक दल को व्यवस्थापिका मे इतना प्रतिनिधित्व प्राप्त नही होता कि वह अकेला सरकार का निर्माण कर सके। अत कई राजनीतिक दलों द्वारा मिल जुलकर संयुक्त मन्त्रिमण्डल' बनाया जाता है। यूरोपीय महाद्वीप के अधिकांश देशो मे विशेषकर फ्रांस तथा इटली मे बहुदलीय व्यवस्था ही पायी जाती है।

गुण—वस्तुत द्विदलीय प्रणाली के जो दोष हैं वे बहुदलीय प्रणाली के गुण माने जाते हैं तथा द्विदलीय प्रणाली के जो गुण हैं वे बहुदलीय प्रणाली के दोष माने जाते हैं। इस प्रणाली के गुण संक्षेप मे निम्नलिखित हैं

(1) **चयन में अधिक स्वतन्त्रता**—बहुदलीय व्यवस्था मे विभिन्न राजनीतिक दल चुनाव मे भाग लेते हैं और मतदाता अपने ही समान विचार रखने वाले किसी भी दल के उम्मीदवार का समर्थन कर सकता है। इस प्रकार इस प्रणाली मे मतदाता को अपने प्रतिनिधि के चयन मे अधिक स्वतन्त्रता रहती है।

(2) **राष्ट्र का दो गुटो में विभाजन नहीं**—बहुदलीय व्यवस्था मे देश दो विरोधी गुटो मे विभक्त नही हो पाता। इसमे दलीय भावना बहुत प्रबल नही होती है, अत लोग अपने अपने सिद्धान्तो के आधार पर बिना किसी प्रकार के गम्भीर समझौते के परस्पर सहयोग कर सकते हैं।

(3) **मन्त्रिमण्डल की निरंकुशता सम्भव नहीं**—इस प्रणाली मे व्यवस्थापिका मे किसी भी एक राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न होने के कारण साधारणतया 'संयुक्त मन्त्रिमण्डलो' का गठन किया जाता है। संयुक्त मन्त्रिमण्डल कभी भी निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी नही हो सकते क्योकि सहयोगी दलो मे से यदि एक भी दल असन्तुष्ट हो जाये तो मन्त्रिमण्डल का पतन अवश्यम्भावी हो जाता है।

(4) **विभिन्न वर्गों को प्रतिनिधित्व**—बहुदलीय प्रणाली में व्यवस्थापिका मे विभिन्न वर्गों तथा हितो को प्रतिनिधित्व का अवसर प्राप्त हो जाता है। राष्ट्र के सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व होने के कारण यह प्रणाली लोकतन्त्र के अधिक अनुकूल है।

(5) **व्यवस्थापिका की प्रतिष्ठा में कमी नहीं**—द्विदलीय व्यवस्था मे जहाँ व्यवस्थापिका 'मन्त्रिमण्डल का समर्थन करने वाली संस्था मात्र' बनकर रह जाती है, वहाँ बहुदलीय व्यवस्था मे व्यवस्थापिका एक प्रभावशाली सदन के रूप मे कार्य करती है। वह मन्त्रिमण्डल के हाथ का खिलौना नहीं बन पाती क्योंकि मन्त्रिमण्डल अपनी कमजोर स्थिति के कारण उसे भंग करने की धमकी नही दे सकता।

(6) **व्यक्ति की स्वतन्त्रता और व्यक्तित्व की रक्षा**—बहुदलीय व्यवस्था मे व्यक्ति को अपने विचारो की स्वतन्त्रता तथा अपने व्यक्तित्व को बनाये रखने का

अवसर मिलता है। यदि किसी एक दल के सिद्धान्तों में उसका विश्वास समाप्त हो जाता है तो वह अपने विचारों के अनुकूल किसी दूसरे दल की सदस्यता ग्रहण कर सकता है। अतः इस प्रणाली में दल अपने सदस्यों के ऊपर हावी नहीं हो पाता।

दोष—उपरोक्त गुणों के होते हुए भी बहुदलीय पद्धति की कटु आलोचना की जाती है। उसके दोष संक्षेप में निम्नलिखित हैं

(1) शासन में स्थायित्व का अभाव—बहुदलीय व्यवस्था का एक सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें शासन में स्थायित्व का अभाव रहता है। इसका कारण यह है कि इस पद्धति में विभिन्न विचारधाराओं वाले राजनैतिक दल मिलकर संयुक्त मन्त्रिमण्डल का निर्माण करते हैं और जैसे ही इन विभिन्न दलों के राजनीतिक हित परस्पर टकराते हैं, मन्त्रिमण्डल का पतन हो जाता है। फ्रांस तथा इटली में मन्त्रि-मण्डल की अस्थिरता का मुख्य कारण वहाँ की बहुदलीय व्यवस्था ही है।

(2) उत्तरदायित्व की अनिश्चितता—बहुदलीय शासन एक प्रकार से उत्तर-दायी शासन होता है क्योंकि संयुक्त मन्त्रिमण्डल के प्रत्येक दल गलत कार्यों के लिए एक-दूसरे को दोषी ठहराने में लगे रहते हैं। ऐसी स्थिति में यह निश्चित करना कठिन हो जाता है कि शासन के दोषों के लिए वास्तव में इनमें से कौन उत्तरदायी है।

(3) कार्यपालिका की निर्बलता—बहुदलीय व्यवस्था में मन्त्रिमण्डल की स्थिति बहुत ही निर्बल रहती है क्योंकि वह सदैव विभिन्न राजनीतिक दलों को प्रसन्न रखने तथा उन्हें अपने पक्ष में बनाये रखने के प्रयत्न में लगा रहता है। उसे सदैव इस बात का भय बना रहता है कि शासन में भागीदार कोई दल कहीं असन्तुष्ट न हो जाये क्योंकि इससे मन्त्रिमण्डल का अस्तित्व खतरे में पड़ जायेगा।

(4) शक्तिशाली विरोधी दल का अभाव—संसदीय लोकतन्त्र में सरकार को निरंकुश बनने से रोकने के लिए तथा नागरिकों के हितों की रक्षा करने के लिए एक सुसंगठित शक्तिशाली विरोधी दल आवश्यक है। परन्तु अनेक राजनीतिक दल होने के कारण इस व्यवस्था में शक्तिशाली विरोधी दल का अभाव पाया जाता है।

(5) कार्यकुशलता का अभाव—बहुदलीय व्यवस्था में मन्त्रिमण्डल का सारा ध्यान इस जोड़ तोड़ में लगा रहता है जिससे कि वह किसी भी प्रकार अपनी सत्ता को बनाये रखे। ऐसी स्थिति में वह प्रशासन की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दे पाता। फलस्वरूप प्रशासनिक कुशलता में कमी आ जाती है।

(6) नीतियों में एकरूपता का अभाव—मन्त्रिमण्डलों के शीघ्र परिवर्तन के कारण सरकार की नीतियों में एकरूपता नहीं आ पाती। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली में सरकार द्वारा दीर्घकालीन योजनाओं का निर्धारण एवं क्रियान्वयन भी सम्भव नहीं हो पाता है।

(7) अनुशासनहीनता—बहुदलीय व्यवस्था में विभिन्न दलों के सदस्यों परस्पर द्वेष, घृणा, वैमनस्य आदि पाया जाता है। यह पद्धति दल बदल की प्रवृत्ति

तथा जोड़-तोड़ की राजनीति को बढ़ावा देती है। इससे व्यक्ति की नैतिकता का पतन होता है, भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलता है तथा अनुशासनहीनता फैलती है।

निष्कर्ष—बहुदलीय प्रणाली के चाहे जो भी गुण बताये जायें और भले ही वह लोक भावना के वास्तविक विभाजन को कितना ही सही सही प्रकट करती हो, पर फिर भी यह एक क्रियाशील आदर्श के रूप में कार्य नहीं कर सकती। प्रशासन की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि उसमें अनिश्चितता का अभाव हो, शासन में स्थायित्व हो तथा उत्तरदायित्व की निश्चितता हो। ये सब विशेषताएँ बहुदलीय पद्धति की तुलना में द्विदलीय पद्धति में अधिक पायी जाती हैं। इस सम्बन्ध में डा० फाइनर ने लिखा है कि "जिस देश में द्विदलीय पद्धति होती है, वहाँ के लोग कर्तव्यपरायण तथा सुखी होते हैं। हर स्थान पर दो दलों का संघर्ष अच्छा होता है। जहाँ दो दलों में संघर्ष रहता है वहाँ गलतियाँ आसानी से पकड़ी जा सकती हैं, सार्वजनिक इच्छाओं का दमन कम हो जाता है और पूर्ण विनाश की सम्भावनाएँ भी कम हो जाती हैं।"

भारत के उदाहरण से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मिले जुले मन्त्रि-मण्डल निर्बल एवं अस्थिर सिद्ध हुए हैं। अतः बहुदलीय प्रणाली की तुलना में द्विदलीय प्रणाली को लोकतन्त्र की सफलता के लिए अधिक हितकर माना जाता है।

दबाव समूह (Pressure Groups)

अर्थ एवं परिभाषा—वर्तमान राजनीतिक युग की एक महत्त्वपूर्ण देन दबाव समूहों का विकास है। आधुनिक समय में व्यक्तियों के हित इतने अधिक विस्तृत हो गये हैं कि राजनीतिक दल उन समस्त हितों का प्रतिनिधित्व नहीं कर पाते। जब कभी कोई छोटा या बड़ा हित संगठित रूप धारण कर लेता है तो उसे हित समूह (Interest Groups) कहते हैं। इनका उद्देश्य अपने सदस्यों के विविध सामाजिक, आर्थिक तथा व्यावसायिक हितों की रक्षा करना होता है। जब ये हित समूह विधि निर्माण और प्रशासनिक कार्यों को इस रूप में प्रभावित करने लगते हैं, जिससे कि वे अपने हित में कानूनों का निर्माण करवा सकें अथवा अपने हितों के अनुसार उनमें संशोधन करवा सकें अथवा अपने हितों को हानि पहुँचाने वाले विधेयकों को वापस लेने के लिए बाध्य कर सकें, तब उन्हें दबाव समूह कहा जाता है।

फ्रांसिस जी० केसलस के अनुसार, "दबाव समूह वह समूह होता है जो प्रशासनिक कार्यों के द्वारा अथवा उनके बिना राजनीतिक परिवर्तन लाने का प्रयास करता है। यह समूह राजनीतिक दल नहीं होता क्योंकि इसे व्यवस्थापिका में दलों की तरह प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं होता।"[1] माइरन वीनर (Myron Weiner) का कथन है

---

1 Any group attempting to bring about political change, whether through government activity or not and which is not a political party, in the sense of being represented, at the particular time, in the legislative body."—Francis G. Castles, *Pressure Group and Political Culture*, p. 1.

कि "हित अथवा दबाव समूह स्वैच्छिक रूप से सगठित ऐसा समूह होता है जो प्रशासकीय ढांचे से बाहर हो और जो सरकारी अधिकारियों की नामजदगी तथा नियुक्ति, विधि निर्माण एवं सार्वजनिक नीति के क्रियान्वयन को प्रभावित करने में प्रयत्नशील रहते हैं।" ओडो गार्ड (Odegard) ने भी लिखा है कि "एक दबाव समूह ऐसे लोगों का औपचारिक सगठन है जिनके एक अथवा अधिक सामान्य उद्देश्य होते हैं और जो घटनाक्रम को विशेष रूप से विधि निर्माण तथा प्रशासनिक कार्यों को इसलिए प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं जिससे कि उनके अपने हितों की रक्षा तथा वृद्धि हो सके।"

दबाव समूह के लक्षण—उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर दबाव समूहों के निम्नलिखित लक्षण बताये जा सकते हैं

(1) सीमित उद्देश्य—दबाव समूहों के एक या कुछ निश्चित लक्ष्य होते हैं और वे उन निश्चित लक्ष्यों तक ही अपनी गतिविधियों को सीमित रखते हैं।

(2) सगठित अथवा असगठित स्वरूप दबाव समूह सगठित अथवा असगठित किसी भी प्रकार के हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस एक सगठित दबाव समूह है तथा जाति एक असगठित दबाव समूह है।

(3) सीमित सदस्यता—दबाव समूहों की सदस्यता सीमित होती है क्योंकि उनका सम्बन्ध राष्ट्रीय हितों से न होकर वर्गीय हितों से होता है।

(4) निजी हितों से सम्बन्ध—दबाव समूहों का सम्बन्ध सार्वजनिक हितों से न होकर केवल निजी हितों से ही होता है।

(5) उचित एवं अनुचित साधनों का प्रयोग—दबाव समूहों का प्रमुख लक्ष्य निजी हितों की पूर्ति करना होता है। इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए वे उचित तथा अनुचित, सवैधानिक तथा असवैधानिक, सभी प्रकार के साधनों का उपयोग करते हैं।

(6) शासन सत्ता प्राप्ति का लक्ष्य नहीं—दबाव समूह शासन के ढाँचे से बाहर रहकर ही अपनी गतिविधियाँ सचालित करते हैं। शासन सत्ता पर अधिकार करने का उनका कोई लक्ष्य नहीं होता।

उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दबाव समूह समान निजी हितों वाले ऐसे व्यक्तियों का समूह है जिसकी सदस्यता सीमित होती है तथा जो सवैधानिक अथवा असवैधानिक साधनों की चिन्ता किये बिना, शासन के ढाँचे से बाहर रहकर अपने हितों की पूर्ति के लिए प्रशासन तथा व्यवस्थापन को प्रभावित करते रहते हैं।

राजनीतिक दल तथा दबाव समूह में अन्तर—राजनीतिक दल तथा दबाव समूह में अनेक बातों में भिन्नता है। ये भिन्नताएँ निम्नलिखित हैं

(1) सगठन का अन्तर—राजनीतिक दल अनिवार्य रूप से सगठित होते हैं किन्तु दबाव समूह सगठित अथवा असगठित दोनों में से, किसी प्रकार के भी हो सकते हैं।

(2) आकार तथा सदस्यता का अन्तर—राजनीतिक दल आकार तथा सदस्यता की दृष्टि से बहुत बड़े संगठन होते हैं। उन्हें लाखों तथा करोड़ों लोगों का समर्थन प्राप्त होता है। इनके विपरीत दबाव समूह वर्ग विशेष के हितों से सम्बन्धित होने के कारण आकार तथा सदस्यता की दृष्टि से छोटे संगठन होते हैं।

इसके अतिरिक्त एक व्यक्ति एक समय में अनेक दबाव समूहों का सदस्य बन सकता है परन्तु वह एक समय में एक से अधिक राजनीतिक दलों का सदस्य नहीं बन सकता।

(3) कार्यक्षेत्र का अन्तर—राजनीतिक दल का कार्य क्षेत्र अधिक व्यापक होता है क्योंकि उसका सम्बन्ध राष्ट्रीय हित की सभी समस्याओं से होता है। इसके विपरीत दबाव समूह का कार्यक्षेत्र संकुचित होता है क्योंकि उसका सम्बन्ध वर्ग विशेष के हितों से सम्बन्धित समस्याओं के समाधान से होता है।

(4) लक्ष्य का अन्तर—राजनीतिक दल का उद्देश्य निर्वाचन में भाग लेकर बहुमत प्राप्त करना तथा शासन सत्ता पर अपना अधिकार कायम करना होता है। इसके विपरीत दबाव समूह का लक्ष्य शासन के ढाँचे से बाहर रहकर कानून निर्माण तथा शासन की नीतियों एवं कार्यों को प्रभावित करना होता है।

(5) साधनों का अन्तर—राजनीतिक दल अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए केवल संवैधानिक साधनों का ही प्रयोग करते हैं, किन्तु दबाव समूह अपने लक्ष्य प्राप्ति के लिए संवैधानिक तथा असंवैधानिक सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग करते हैं।

(6) प्रकृति का अन्तर—इसके अतिरिक्त राजनीतिक दल प्रायः सदैव सक्रिय रहते हैं किन्तु दबाव समूह अपने अपने विशिष्ट हितों से सम्बद्ध अवसरों पर ही सक्रिय होते हैं।

अन्त में, हम यह कह सकते हैं कि यद्यपि राजनीतिक दलों तथा दबाव समूहों में आधारभूत रूप से पर्याप्त अन्तर है परन्तु दोनों एक दूसरे के विरोधी न होकर एक-दूसरे के सहयोगी होते हैं।

दबाव समूहों के प्रकार

संगठन तथा उद्देश्य के आधार पर दबाव समूहों के मुख्य प्रकार निम्नलिखित हैं :

(1) संघात्मक समूह—इन दबाव समूहों की स्थापना किसी विशिष्ट लक्ष्य को लेकर होती है। इन समूहों की विशेषता यह है कि जैसे-जैसे औद्योगिक विकास होता है, वैसे-वैसे इनकी संख्या में वृद्धि होती है। संघात्मक समूहों के दो रूप हैं

(i) संरक्षणात्मक समूह—कृषि, उद्योग, श्रम तथा अन्य व्यवसायों से सम्बन्धित संगठन, विभिन्न प्रकार के श्रमिक संघ तथा व्यापारी संघ इसी प्रकार के दबाव समूह हैं। (ii) उत्थानात्मक समूह—समाज के किसी विशेष वर्ग के उत्थान

के लिए अथवा किसी विशेष विचार के प्रचार के लिए गठित समूह इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते है। नारियो के उत्थान, निशस्त्रीकरण, विश्वशान्ति आदि के लिए बनाये गये समूह ऐसे ही समूह हैं।

(2) **सामुदायिक समूह**—इन दबाव समूहो का निर्माण सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर होता है। जातियो, प्रजातियो, पड़ौस आदि के समूह इसी श्रेणी मे आते हैं। इस प्रकार के समुदाय के सदस्य परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होते हैं। इनका लक्ष्य मिलकर अपने सामुदायिक हितो को प्राप्त करना होता है। सामुदायिक समूह भी दो प्रकार के होते हैं—(i) **प्रथागत समूह**—इन समूहो की कार्य प्रणाली तथा इनके सदस्यो के बीच पारस्परिक व्यवहार में सामाजिक प्रथाओ, रूढ़ियो व रीति रिवाजो आदि की प्रधानता होती है। (ii) **संस्थात्मक समूह**—सैनिक कल्याण परिषद, कर्मचारी संरक्षण परिषद आदि संस्थात्मक समूह के अन्तर्गत ही आती हैं।

दबाव समूहो के कार्य करने का ढंग—दबाव समूहो का प्रमुख लक्ष्य अपने विशिष्ट हितो की पूर्ति करना होता है और इसके लिए वे कानूनो के निर्माण, सरकार की नीतियो तथा उनके निर्णयो को विभिन्न तरीको से प्रभावित करते हैं। संक्षेप में, दबाव समूह अपने लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए मुख्य रूप से निम्नलिखित तरीको का प्रयोग करते है :

(1) दबाव समूह जनमत तथा प्रशासनिक नीतियो को अपने पक्ष मे प्रभावित करने के लिए प्रचार कार्य करते हैं।

(2) वे निर्वाचन के समय ऐसे दलों तथा उम्मीदवारो के पक्ष मे चुनाव प्रचार का कार्य भी करते हैं जो व्यवस्थापिका मे जाकर उनके हित मे कानून-निर्माण को प्रभावित कर सकें।

(3) वे विधायको व प्रशासनिक अधिकारियो से निरन्तर सम्पर्क बनाये रखते है। वे विधायको को अपने हित मे कार्य करने के लिए प्रभावित करने का प्रयत्न करते है। इसे लॉबीइंग (Lobbying, या 'प्रभावित करना' कहते हैं।

(4) दबाव समूह यदि सम्भव होता है तो न्यायालयो के हस्तक्षेप के लिए भी प्रयास करते है।

(5) वे विधेयको को अपने पक्ष मे पारित करवाने के लिए विधायिका समितियों का भी उपयोग करते हैं।

(6) ये दबाव समूह हड़ताल और प्रदर्शनो का भी आयोजन करते हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर ये हिंसात्मक आन्दोलनो का प्रारम्भ एवं संचालन भी करते हैं। ये विधायको तथा अधिकारियो को प्रभावित करने के लिए रिश्वत आदि का प्रयोग भी करते हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका मे दबाव समूह का महत्त्व अधिक बढ़ गया है। फाइनर के शब्दों मे, 'दबाव समूहो ने विधान-मण्डल के तृतीय सदन का रूप धारण कर लिया है। अपने उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए इन दबाव समूहो के बड़े बड़े

कार्यालय होते हैं। जिनमे हजारो कर्मचारी कार्यरत रहते हैं। वस्तुत दबाव समूह अनेक प्रकार के कार्य करते है तथा इनके कार्यों को सीमा में बांधना सम्भव नही है।

राजनीतिक व्यवस्था मे दबाव समूहो की भूमिका

प्रारम्भ में लोकतान्त्रिक व्यवस्था में दबाव समूहो को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नही था। परन्तु वर्तमान समय में राजनीतिक जीवन मे दबाव समूहो ने एक महत्व पूर्ण स्थिति बनाली है। अब यह माना जाने लगा है कि लोकतन्त्रात्मक राज्य मे दबाव समूहों का होना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि जिन वर्गों को व्यवस्थापिका मे प्रतिनिधित्व प्राप्त नही होता वे दबाव समूहो के माध्यम से अपने हितो की रक्षा कर सकते हैं। अमेरिका मे तो राजनीतिक दलो द्वारा महत्वपूर्ण क्षेत्रो की ओर ध्यान न दिये जाने के कारण कांग्रेस ने अपनी समितियो के माध्यम से दबाव गुटो से परामर्श लेना प्रारम्भ कर दिया है। दबाव समूहो के इस बढते हुए प्रभाव को देखकर स्पेन्सर ने कहा है कि 'पहले यदि व्यक्ति बनाम राज्य का सिद्धान्त माना जाता था तो अब स्थिति समूह बनाम राज्य की होती जा रही है।"

वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था मे दबाव समूहो की भूमिका निम्नलिखित है

(1) **दबाव समूह तथा व्यवस्थापिका**—दबाव समूह इस बात के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते है कि व्यवस्थापिका के द्वारा कानूनो का निर्माण करते समय उनके हितो का पूरा ध्यान रखा जाय। इसके लिए वे अनेक विधायकों को उनके चुनाव मे भारी आर्थिक सहायता देकर उन्हें अपना आश्रित बना लेते हैं। वे प्राय व्यवस्थापिका के सदस्यो को प्रभावित करके अपने अनुकूल कानूनो का निर्माण कराने में सफल हो जाते हैं। अमरीका मे कांग्रेस के सदस्य दबाव समूहो से भारी आर्थिक सहायता प्राप्त करने के कारण उनके प्रभाव मे बने रहते हैं। इसी कारण अमरीका मे इन्हें 'संविधान के बाहर कार्यरत कांग्रेस का तृतीय सदन' कहा जाता है। ब्रिटेन एव भारत मे जहां सदस्यो पर दल का प्रभाव अधिक होता है, दबाव समूह राजनीतिक दलो को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं।

(2) **दबाव समूह तथा कार्यपालिका**—संसदीय शासन प्रणाली म तो सभी महत्वपूर्ण विधेयको का प्रारूप, बजट का निर्माण, महत्वपूर्ण पदो पर नियुक्तियाँ आदि कार्य कार्यपालिका द्वारा ही किये जाते है। अध्यक्षात्मक शासन म भी इन कार्यों पर कार्यपालिका काफी प्रभाव डालती है। अत दबाव समूह कार्यपालिका पर इस बात के लिए प्रभाव डालते रहते हैं कि वह उनके हितो का सरक्षण प्रदान करे। दबाव समूह प्रचार प्रदर्शन तथा अन्य तकनीको के माध्यम से कार्यपालिका द्वारा निर्धारित नीतियो को प्रभावित करते रहते हैं। कई बार स्वय कार्यपालिका भी नीति-निर्धारण से पूर्व श्रमिकों, व्यापारियो तथा उद्योगपतियो आदि के संघो से विचार विमर्श कर लेती है।

(3) **दबाव समूह और कर्मचारी वर्ग**—कर्मचारी वर्ग का मुख्य कार्य शासन का संचालन करना है। दबाव समूह विभिन्न तरीकों से नौकरशाही अथवा कर्मचारी वर्ग को प्रभावित करने का प्रयत्न करता है। इन तरीकों में शान्तिमय प्रदर्शन, उग्र प्रदर्शन, हड़ताल, घेराव, रिश्वत आदि अवांछित बातें भी शामिल हैं।

(4) **दबाव समूह तथा निर्वाचन एवं जनमत**—वर्तमान समय में दबाव समूह निर्वाचनों को भी प्रभावित करते हैं। वे आम चुनाव में उन व्यक्तियों के लिए चुनाव प्रचार का कार्य भी करते हैं जो उनके पक्ष के समर्थक होते हैं। वे उम्मीदवारों को आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं। चुनावों के महँगे हो जाने के कारण उम्मीदवार आर्थिक सहायता पाने के लिए दबाव समूहों पर निर्भर रहते हैं। इसके अतिरिक्त जनमत को प्रभावित करने में भी दबाव समूहों का योगदान बढ़ता जा रहा है। वे जनमत को अपने पक्ष में करके अप्रत्यक्ष रूप से शासन की नीतियों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं।

निष्कर्ष उपरोक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि किसी भी राजनीतिक व्यवस्था में दबाव समूहों की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है। परन्तु सामान्यतः यह मान्यता है कि व्यावहारिक रूप में दबाव समूहों से लोकतन्त्र का निर्वाह नहीं हो पाता तथा इनसे लोकतान्त्रिक प्रक्रिया को आघात पहुँचता है। इसका कारण यह है कि दबाव समूह साधन सम्पन्न होने के कारण अपने वर्गीय हितों एवं स्वार्थों की सिद्धि के लिए व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका को प्रभावित करते रहते हैं। दबाव समूहों के वर्गीय हितों से सामान्य हितों को हानि पहुँचाने का खतरा बना रहता है। इनके अतिरिक्त इनके द्वारा विधायकों को आर्थिक सहायता तथा प्रशासनिक अधिकारियों को रिश्वत आदि देने के अनुचित व अनैतिक तरीके भी अपनाये जाते हैं जिससे सार्वजनिक जीवन में नैतिकता का ह्रास होता है। वी० ओ० की नामक विचारक का मत है कि, "दबाव शब्द का प्रयोग मस्तिष्क में एक ऐसे दुष्ट लोबिइस्ट का चित्र अंकित कर देता है जो अच्छे से अच्छे विधायक पर सार्वजनिक हित की धारणा से विचलित होने के लिए अनुचित दबाव डालने का प्रयत्न कर रहा है।"[1]

अभ्यास के प्रश्न

1. "राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों के अर्थ, भूमिका एवं आवश्यकता का परीक्षण कीजिए।
2. लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों के स्वरूप एवं भूमिका की विवेचना कीजिए। (राजस्थान विश्व० 1978)

---

1 "The use of the term 'pressure' conjures up a picture of wicked lobbyist attempting to coerce a righteous legislator to deviate from his disposition to follow the public interest"—V O Key *Politics, Parties and Pressure Groups*, p. 147

3 विकासशील राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों के स्वरूप एवं भूमिका की विवेचना कीजिए।

4. समाजवादी राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों के स्वरूप एवं भूमिका की विवेचना कीजिए।

5 लोकतान्त्रिक, सर्वसत्तावादी एवं विकासशील राजनीतिक व्यवस्थाओं में दल व्यवस्था की प्रकृति एवं भूमिका का परीक्षण कीजिए।
(राजस्थान विश्व० 1976)

6 एकदलीय व्यवस्था के गुण एवं दोषों का मूल्यांकन कीजिए।

7. द्विदलीय व्यवस्था के गुण एवं दोषों का मूल्यांकन कीजिए।

8 बहुदलीय व्यवस्था के गुण एवं दोषों का मूल्यांकन कीजिए।
(राजस्थान विश्व० 1977)

9. "बहुदल पद्धति संसदीय शासन व्यवस्था के लिए अभिशाप है।" उदाहरण सहित उक्त कथन का विवेचन कीजिए।

10 इस मत का परीक्षण कीजिए कि केवल विश्वसनीय दल व्यवस्था ही सफल राजनीतिक व्यवस्था को संरक्षण दे सकती है।

11. दबाव समूह से क्या तात्पर्य है? राजनीतिक दल एवं दबाव समूह का अन्तर स्पष्ट कीजिए। (राजस्थान विश्व० 1977)

12 दबाव समूहों के प्रमुख प्रकारों का परीक्षण कीजिए तथा यह बताइये कि दबाव समूह किस प्रकार निर्णय-निर्माण को प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं?

13 राजनीतिक व्यवस्था में दबाव समूहों की भूमिका का परीक्षण कीजिए। आप इस मत से सहमत हैं अथवा असहमत कि दबाव समूह लोकतान्त्रिक राजनीतिक प्रक्रिया के नकारात्मक तत्व हैं? अपने उत्तर के समर्थन में कारण दें।

14. राजनीतिक दल और दबाव समूह में क्या अन्तर है? राजनीतिक दल के कार्यों की व्याख्या कीजिए। (राजस्थान विश्व० 1975)

15. राजनीतिक दल एवं दबाव समूह की परिभाषा बताइए। दोनों का अन्तर स्पष्ट कीजिए तथा राजनीतिक दल के कार्य स्पष्ट कीजिए।
(राजस्थान विश्व०, 1974)

22

लोकमत

[PUBLIC OPINION]

"सभी सरकारें, चाहे वे कितनी ही दूषित क्यों न हों अपनी शक्ति के लिए लोकमत पर निर्भर करती हैं।" —ह्यूम

लोकमत का अर्थ एवं परिभाषा लोकमत शब्द की उत्पत्ति अत्यन्त प्राचीन है परन्तु आधुनिक अर्थ में इस शब्द का प्रयोग पहली बार फ्रांस में रूसो ने किया। लोकमत के सम्बन्ध में राजनीतिक विचारकों में मतैक्य नहीं है। साधारण शब्दों में लोकमत का तात्पर्य जनता के मत से है परन्तु इतना कह देने से ही लोकमत का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट नहीं हो जाता। विभिन्न विद्वानों ने लोकमत की अनेक तरह से परिभाषाएँ दी हैं परन्तु अधिकांश परिभाषाएँ एक दूसरे से भिन्न तथा अस्पष्ट हैं इसीलिए रूसेक (Roucek) ने कहा है कि "लोकमत शब्द ऐसा है जिसकी परिभाषा देने के बजाय जिसका अध्ययन होना चाहिए।" किम्बाल का भी मत है कि लोकमत शब्द स्पष्ट परिभाषा के परे है।

लोकमत के अर्थ को समझने के लिए विभिन्न विद्वानों के द्वारा इसकी जो परिभाषाएँ दी गई हैं उनकी विवेचना करना अत्यन्त आवश्यक है। इसकी कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं

(1) ब्राइस के अनुसार, 'लोकमत मनुष्यों के उन विभिन्न दृष्टिकोणों का योगमात्र है जो वे समाज पर प्रभाव डालने वाले अथवा उसके हितों से सम्बद्ध विषयों के बारे में रखते हैं।[1]

(2) डूब के शब्दों में, "लोकमत का अर्थ एक ही सामाजिक समूह के

1 "Public opinion is the aggregate of the views men hold regarding matters that affect or interest the community." Bryce

सदस्यों के रूप में जनता का किसी प्रश्न या समस्या के प्रति रुख या विचार है।"[1]

(3) सोल्टाऊ के अनुसार, "इस शब्द का प्रयोग साधारणतया उन विचारों तथा इच्छाओं के सम्बन्ध में किया जाता है जो जनता अपने सामान्य जीवन के सम्बन्ध में रखती है।"[2]

(4) रूकेस के शब्दों में, "लोकमत किसी विशेष समय या स्थान में प्रचलित प्रभावपूर्ण विरोधी विचारधाराओं के आधार पर बना हुआ सार्वजनिक मत होता है सम्पूर्ण ग्रुप से सम्बन्धित विवादमूलक समस्याओं के बारे में ग्रुप के सदस्यों द्वारा अभिव्यक्त वरीयता ही लोकमत है।"[3]

(5) प्रसिद्ध समाजशास्त्री मॉरिस जिन्सबर्ग का कथन है कि "लोकमत अनेक मस्तिष्कों के अन्त प्रक्रिया से उत्पन्न एक सामाजिक तत्व है।"[4]

(6) किम्बाल यंग के शब्दों में, "किसी एक निश्चित समय पर जनता के जो मत होते हैं उनसे लोकमत बनता है।"[5]

लोकमत का सर्वसम्मति तथा बहुमत से अन्तर—लोकमत के अर्थ को स्पष्ट रूप से समझने के लिए लोकमत का सर्वसम्मति तथा बहुमत से अन्तर समझ लेना भी अत्यन्त आवश्यक है। साधारण बोल-चाल की भाषा में तथा शाब्दिक अर्थ के अनुसार लोकमत का तात्पर्य समस्त जनता के मत से है, परन्तु लोकमत का यह अर्थ भ्रामक है क्योंकि किसी भी प्रश्न पर जनता का सर्वसम्मत अथवा एकमत होना सम्भव नहीं है। अतः सर्वसम्मति को लोकमत कहना उपयुक्त नहीं होगा।

इसी तरह कुछ लोग लोकमत का अर्थ बहुमत से लगाते हैं परन्तु यह विचार

1 "Public opinion refers to people s attitudes on any issue when they are members of the same social group"—Leonard W Doob *Public Opinion and Propoganda*, p 35

2 "The terms is usually applied to what people think and what for their common life" —Soltau

3 "public opinion is in the nature of a concensus arrived at on the basis of the predominating cross currents of view that prevail in a given time or place It is a relatively homogeneous expression of preference by members of a group concerning issues which though debatable, concern the group as a whole" —Rouchek

4 'public opinion is a social product due to the interaction of many minds" —Morris Ginsberg

5 "Public opinion consists of the opinions held by a public at a certain time" — Kimball Young

भी गलत है क्योंकि बहुमत कभी-कभी अल्पसंख्यकों के हितों के विरुद्ध भी कार्य करता है। इस प्रकार लोकमत का अर्थ बहुमत से भी नहीं है।

वस्तुत लोकमत का अर्थ न तो सर्वसम्मति से है और न बहुमत से ही है। उसकी मुख्य विशेषता यह है कि वह सार्वजनिक हित के अनुकूल हो तथा उसका उद्देश्य किसी वर्ग विशेष का हित साधन न होकर सम्पूर्ण समाज का हित करता है।

लोकमत की विशेषताएँ—उपरोक्त परिभाषाओं तथा विचारों के आधार पर लोकमत की निम्नलिखित विशेषताएं बतायी जा सकती हैं :

(1) जनसाधारण का मत—लोकमत की सबसे प्रमुख विशेषता यह होती है कि वह किसी वर्ग विशेष अथवा कुछ व्यक्तियों का मत न होकर जनसाधारण का मत होता है।

(2) विवेक पर आधारित स्थायी मत—लोकमत क्षणिक आवेश या भावना पर आधारित न होकर तर्क और विवेक पर आधारित विचार होता है अत यह जनता का स्थायी मत होता है।

(3) लोक कल्याण की भावना—लोकमत का उद्देश्य लोक-कल्याण अथवा समस्त समाज का हित साधन होता है। वह कभी पक्षपातपूर्ण हो ही नहीं सकता। ऐसा नहीं हो सकता कि वह कुछ लोगों के हित में हो तथा कुछ के अहित में हो। डा० बेनीप्रसाद ने कहा है कि "वही मत वास्तविक लोकमत होता है, जो लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित हो।" लॉवेल के शब्दों में, "लोकमत के लिए बहुमत भी पर्याप्त नहीं होता और न सर्वसम्मति ही आवश्यक होती है। किसी भी मत को लोकमत कहने के लिए यह आवश्यक है कि अल्पमत भले ही उसमें भागीदार न हो परन्तु वह भय के कारण नहीं अपितु दृढ़ विश्वास के कारण उसे स्वीकार करता हो।"[1]

(4) सार्वजनिक मामलों से सम्बन्धित—लोकमत का सम्बन्ध अनिवार्य रूप से सार्वजनिक मामलों तथा सार्वजनिक समस्याओं से होता है, व्यक्तिगत मामलों तथा समस्याओं से नहीं।

उपरोक्त विशेषताओं के आधार पर लोकमत की सही परिभाषा इन शब्दों में की जा सकती है कि "लोकमत सार्वजनिक प्रश्नों पर जन साधारण का वह मत है जो किसी क्षणिक आवेश या भावनाओं पर आधारित न होकर तर्क तथा विवेक पर आधारित होता है और जो इसीलिए जनता का स्थायी विचार होता है तथा जिसमें लोक कल्याण की भावना निहित रहती है।"

---

1 "A majority is not enough and unanimity is not required, but the opinion must be such that, while the minority may not share it, they feel bound by conv c ion and not by fear to accept"
—Lowell

लोकमत का महत्व

राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा अधिनायकतन्त्र में महत्व—सभी प्रकार की शासन प्रणालियों में शासन के लिए लोकमत की आवश्यकता किसी न किसी रूप में पड़ती ही है। प्रत्येक प्रकार के शासन को शासन के संचालन में लोकमत का ध्यान रखना पड़ता है। यद्यपि राजतन्त्रात्मक तथा कुलीनतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था में राजा और कुलीन वर्ग की इच्छा ही सर्वोपरि होती है परन्तु फिर भी इन दोनों शासन-व्यवस्थाओं में शासकों के लिए लोकमत की जानकारी रखना अत्यन्त आवश्यक होता है। इससे उन्हें यह पता चल जाता है कि जनता उनके बारे में क्या सोचती है। अधिनायकतन्त्र में भी लोकतन्त्र का महत्व किसी प्रकार कम नहीं है। कोई भी अधिनायक लोकमत की अवहेलना करके अधिक समय तक अपने पद पर नहीं रह सकता। लोकमत की उपेक्षा करके अधिनायक को न तो अपने शासन की कमियों का ही पता लगेगा और न वह अपने विरोध को ही पनपने से रोक सकेगा। यह भी सम्भव है कि ऐसी स्थिति में उसे विद्रोह का सामना करना पड़े। यदि किसी देश में विदेशी सरकार है तो इसके लिए लोकमत की जानकारी रखना और भी *अधिक आवश्यक हो जाता है। लोकमत की उपेक्षा करके कोई भी विदेशी सरकार* अधिक दिनों तक अपना शासन नहीं चला सकती। भारत में अंग्रेजी शासन का इतिहास इसका ज्वलन्त उदाहरण है। इस तरह हम देखते हैं कि शासन व्यवस्था का रूप चाहे जो कुछ हो, प्रत्येक प्रकार की शासन व्यवस्था में शासकों का लोकमत का ज्ञान रखना अत्यन्त आवश्यक होता है। ह्यूम ने ठीक ही कहा है कि 'सभी सरकारें चाहे वे कितनी भी दूषित क्यों न हो, अपनी शक्ति के लिए लोकमत पर निर्भर करती हैं।" स्पेन के प्रसिद्ध विद्वान जोस गैसेट ने तो यहाँ तक कहा है कि, "लोकमत के अलावा अन्य किसी वस्तु को अपने शासन का मौलिक आधार बनाकर पृथ्वी पर कभी कोई शासन नहीं कर सका है।"[1]

लोकतन्त्र में लोकमत का महत्व—यद्यपि अन्य शासन-प्रणालियों में भी लोकमत का महत्व होता है, परन्तु लोकतन्त्रीय शासन-प्रणाली में लोकमत का महत्व बहुत अधिक बढ़ जाता है। वस्तुतः आधुनिक लोकतन्त्र तथा लोकमत दोनों आपस में अभिन्न रूप में गुथे हुए हैं। लोकमत को लोकतन्त्र का प्राण अथवा मूल आधार कहा जाता है। गेटल के शब्दों में, "लोकतान्त्रिक शासन की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि लोकमत कितना सबल, सुविकसित तथा

---

1 "Never has any one ruled on the earth by basing his rule essentially on any other thing than public opinion."

—Jose Y Gassett

सरकार के कार्यों और नीतियों पर नियन्त्रण रखने में किस सीमा तक प्रभावी है।"[1]

लोकतन्त्र में लोकमत का महत्व निम्नलिखित कारणों से है :

(1) वर्तमान समय में प्राय सभी देशों में लोकतन्त्र के अप्रत्यक्ष अथवा प्रतिनिधि स्वरूप को अपनाया जाता है। इसमें सम्प्रभुता के दो स्वरूप होते हैं—राजनीतिक सम्प्रभुता, जो जनता में निहित रहती है तथा वैधानिक सम्प्रभुता, जो शासक वर्ग में निहित रहती हैं। लोकतन्त्र की सफलता इन दोनों प्रकार की सम्प्रभुताओं के बीच सीधे सम्बन्ध पर निर्भर करती है, लोकमत के द्वारा ही राजनीतिक सम्प्रभु तथा वैधानिक सम्प्रभु के बीच सम्बन्ध स्थापित किया जाता है।

(2) लोकतन्त्र में शासन का सचालन लोकमत के अनुसार ही होता है। इस व्यवस्था में लोकमत कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के लिए एक मार्ग-दर्शक के रूप में कार्य करता है। किस प्रकार के कानूनों का निर्माण होना चाहिए तथा शासन का सचालन किस प्रकार होना चाहिए, इन सब गुणों का निर्देशन लोकमत के द्वारा ही किया जाता है।

(3) लोकतन्त्र में सरकार का निर्माण तथा पतन लोकमत पर ही निर्भर करता है। यदि सत्तारूढ दल लोकमत की निरन्तर अवहेलना करता है तो वह अपने लिए सकट आमन्त्रित करता है। ऐसे दल को आगामी चुनावों में लोकमत के द्वारा पदच्युत कर दिया जाता है।

(4) लोकमत सरकार के निरकुश बनने पर भी रोक लगाता है। वह सरकार के कार्यों की आलोचना करके तथा समय समय पर उसे चेतावनी देकर उसे गलत काय करने से रोकता है। इसलिए यह कहा जाता है कि "लोकमत शासन रूपी जहाज को आवश्यकतानुसार आलोचना करके तथा समर्थन देकर सन्तुलित रखता है।"

(5) लोकमत नागरिकों की स्वतन्त्रता की भी रक्षा करता है। जिस सरकार के द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता का दमन किया जाता है, लोकमत उसके विरुद्ध हो जाता है तथा लोकमत के द्वारा उसे सवैधानिक अथवा असवैधानिक तरीकों से पदच्युत कर दिया जाता है।

(6) लोकमत नागरिकों में राजनीतिक जागृति उत्पन्न करता है तथा प्रशासन के अधिकारियों के मनमाने एव भ्रष्ट आचरण पर नियन्त्रण रखता है।

(7) लोकमत का राजनीतिक महत्त्व के साथ साथ सामाजिक एव अन्तरराष्ट्रीय महत्व भी है। यह महत्वपूर्ण सामाजिक समस्याओं की ओर लोगों

1 "The success of democratic government depends upon the degree to which the public opinion is sound, well developed and effective in controlling the action and policies of government."—R G Gettell *Political Science*, p 2 6

का ध्यान आकर्षित करता है। प्रत्येक राज्य की विदेशी नीति पर भी लोकमत का प्रभाव पड़ता है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते है कि लोकतन्त्र की सफलता सार्थक लोकमत पर ही निर्भर करती है। डा० आशीर्वादम् के शब्दो मे, "लोकमत को सार्थक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि वह विचारपूर्ण (intelligent) सुस्पष्ट (intelligible) तथा व्यापक (broad based) हो" क्योकि "एक जागरूक और विचारपूर्ण लोकमत लोकतन्त्र की प्रथम आवश्यकता है।"[1] उन्होने आगे लिखा है कि "यद्यपि लोकमत की सही-सही खोज कठिन होती है फिर भी वही एक ऐसी दृढ आधारशिला है जिस पर स्थायी लोकतन्त्र का निर्माण किया जा सकता है।"

लोकतान्त्रिक व्यवस्था में लोकमत के निर्माण तथा अभिव्यक्ति के साधन

किसी भी देश के सार्वजनिक जीवन से सम्बन्धित प्राय सभी महत्त्वपूर्ण समस्याओ तथा प्रश्नो पर लोगों के विविध विचार होते हैं। इनमे से कुछ विचार स्पष्ट तथा तर्कसंगत होते हैं और कुछ अस्पष्ट होते हैं। विचारो के आदान-प्रदान के पश्चात्, कुछ सीमा तक यह अस्पष्टता और विविधता कम हो जाती है और मिलते-जुलते विचार एकरूप होकर निश्चित दृष्टिकोण तथा धारणाओ के रूप मे प्रकट होने लगते हैं। इस प्रकार के दृष्टिकोणो और विचारो को जिन्हें लोग व्यापक रूप से स्वीकार करते हैं, आगे चलकर 'लोकमत' का नाम दे दिया जाता है। लॉवेल के अनुसार विभिन्न विचारो के बीच किसी एक विचार को चुनकर मान्यता देने से लोकमत बनता है। उसका यह भी कहना है कि लोकमत तर्कसंगत भी होना चाहिए।

लोकमत के निर्माण तथा उसकी अभिव्यक्ति मे सहायता देने वाले साधनो मे निम्नलिखित साधन प्रमुख हैं

(1) जनसाधारण—लोकमत के निर्माण मे सहायता देने वाले साधनो मे सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान जनसाधारण का है। जनता के बिना कोई विचार दृष्टिकोण, भावनाएं अथवा मत नहीं हो सकता। परन्तु लोकमत के निर्माण मे कुछ व्यक्तियों का योगदान दूसरो की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण रहता है। उन सभी व्यक्तियो को जो अपनी अपनी योग्यता के अनुसार लोकमत के निर्माण एव विकास मे सहायता देते है, हम तीन श्रेणियो म विभाजित कर सकते हैं।

प्रथम श्रेणी म ऐसे व्यक्ति आते हैं जो सार्वजनिक समस्याओ पर विचार करते हैं तथा उन्हे प्रकट करते रहते हैं। इन व्यक्तियो को लोकमत का निर्माता कहा जा सकता है। इस प्रकार के व्यक्तियों मे विधायक, राजनीतिज्ञ, पत्रकार

---

1 "An alert and intelligent public is the first essential of democracy. —Dr Ashirvatham

बुद्धिजीवी आदि आते हैं। द्वितीय श्रेणी में ऐसे व्यक्ति आते हैं जो स्वयं तो नये विचारों का निर्माण नहीं करते परन्तु उनमे इतनी योग्यता अवश्य होती है कि वे प्रस्तुत विचारों के गुण दोषों का विवेचन करके अपना मत निर्धारित कर सकें। इन लोगो को हम लोकमत के प्रसारक कह सकते है। तृतीय श्रेणी मे ऐसे साधारण लोग आते हैं जिनकी सार्वजनिक समस्याओ मे न तो कोई रुचि होती है और न उनमे क्षमता ही होती है। ये प्रायः प्रचलित विचारो मे से किसी एक को ग्रहण कर लेते हैं। इनके द्वारा अपनाए जाने पर ही कोई विचार लोकमत बनता है। इस प्रकार लोकमत के निर्माण तथा विकास मे जनसाधारण की तीनो श्रेणियां सहायक होती हैं।

(2) समाचार-पत्र अथवा स्वतन्त्र व निष्पक्ष प्रेस—लोकमत के निर्माण तथा प्रचार मे समाचार पत्र भी एक महत्त्वपूर्ण साधन है। वाल्टर लिपमैन के अनुसार, "समाचार-पत्र लोकतन्त्र की बाइबिल के समान हैं।"— समाचार पत्रो के द्वारा लोगो को देश विदेश के समाचार तथा अन्य तथ्य ज्ञात होते हैं। इन समाचारो के प्रकाशन के ढंग और सामयिक घटनाओ तथा नीतियो पर सम्पादकीय टिप्पणियां पाठकों के विचारो को पर्याप्त मात्रा मे प्रभावित करते हैं। इसके अतिरिक्त समाचार-पत्र जनता तथा सरकार के बीच एक कड़ी का काम भी करते है। समाचार-पत्र जनता की भावनाओ, इच्छाओ तथा कष्टों को सरकार तक पहुँचाते हैं और सरकार की कार्यवाहियां तथा निर्णयों को जनता तक पहुँचाते हैं। इस प्रकार लोकमत को बनाने तथा उसके प्रसार म समाचार पत्र महत्त्वपूर्ण योग देते हैं। समाचार-पत्र के इस महत्त्व के कारण यह अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि प्रेस को स्वतन्त्र और निष्पक्ष होना चाहिए। गेटल के शब्दो मे, "यदि तथ्यों को सही एव निष्पक्ष रूप में प्रस्तुत किया जाए तो सामयिक समस्याओं से नागरिकों को अवगत कराने में तथा स्वस्थ लोकमत का निर्माण करने में समाचार पत्र एक बहुमूल्य सेवा करते हैं।"

(3) सार्वजनिक सभाएं—लोकमत के निर्माण मे मच अथवा सार्वजनिक सभाएं भी अपना विशेष महत्त्व रखती है। सार्वजनिक सभाओ के माध्यम से विभिन्न राजनीतिक दलो के नेताओं को जनता से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित कर उसके समक्ष अपने विचार प्रस्तुत करने का अवसर मिल जाता है। इन सभाओ म विरोधी दलो द्वारा सरकार की नीतियो तथा कार्यों की और सरकार के समर्थकों द्वारा अपने विरोधियों की नीतियां तथा कार्यों की आलोचना प्रत्यालोचना एव गुण दोषों की विवेचना की जाती है। इससे जनता मे राजनीतिक चेतना का विस्तार होता है, सार्वजनिक समस्याओ के प्रति उसकी रुचि जाग्रत होती है और अन्तत सही लोकमत का निर्माण होता है। भारत जैसे देश मे जहाँ लगभग 65 प्रतिशत व्यक्ति अशिक्षित हैं, इस माध्यम का और भी अधिक महत्व है।

(4) रेडियो और सिनेमा—लोकमत के निर्माण म रेडियो और सिनेमा भी

महत्वपूर्ण योग देते हैं। रेडियो द्वारा समाचार, सूचनाएँ, वार्ताएँ तथा राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक समस्याओं पर भाषण प्रसारित किये जाते हैं। इससे जनता को अपने मत के निर्माण करने में सहायता मिलती है। रेडियो जनता और सरकार के बीच सम्पर्क का एक महत्वपूर्ण साधन होता है।

रेडियो के समान सिनेमा भी मनोरंजन के साथ-साथ सामान्य ज्ञान एवं साधारण शिक्षा का एक महत्वपूर्ण साधन है। राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित चित्र जनता के विचारों पर प्रभाव डालते हैं तथा ये जनता में सार्वजनिक समस्याओं के प्रति जागरूकता उत्पन्न करते हैं और इस प्रकार लोकमत के निर्माण में सहायक होते हैं।

(5) शिक्षण संस्थाएँ—शिक्षण संस्थाएँ ज्ञान प्राप्ति का केन्द्र होती हैं। विद्यार्थियों के दृष्टिकोण और विचारधारा को ढालने में इनका भी एक महत्वपूर्ण भाग होता है। इनमें विद्यार्थियों को स्वतन्त्र रूप से सोचना तथा विचार करना सिखाया जाता है। इनमें समय-समय पर देश की राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं से सम्बन्धित प्रश्नों पर भाषण, वाद विवाद तथा विचार विमर्श होते रहते हैं। शिक्षकों के विचार भी अप्रत्यक्ष रूप से विद्यार्थियों पर प्रभाव डालते हैं। इन सब बातों से लोकमत के निर्माण में सहायता मिलती है।

(6) राजनीतिक दल—लोकमत के निर्माण तथा उसकी अभिव्यक्ति में राजनीतिक दलों का भी महत्वपूर्ण योग रहता है। राजनीतिक दलों का मुख्य उद्देश्य शासन सत्ता प्राप्त करना होता है और इसके लिए वे सभी सम्भव उपायों से जनता के साथ सम्पर्क बनाये रखते हैं तथा अपनी नीतियों, कार्यक्रमों एवं सिद्धान्तों से नागरिकों को परिचित कराते रहते हैं। ऐसा करके वे अपने अनुयायियों तथा समर्थकों की संख्या में वृद्धि करने का भरसक प्रयत्न करते हैं। राजनीतिक दल जनता के समक्ष राजनीतिक समस्याओं के विभिन्न पहलुओं को रखते हैं तथा उनके सम्बन्ध में उसे मत बनाने का अवसर प्रदान करते हैं। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि राजनीतिक दल अपने उद्देश्यों, सिद्धान्तों तथा नीतियों के प्रचार द्वारा जनता के विचारों में परिवर्तन करने तथा लोकमत का निर्माण करने में सहायता प्रदान करते हैं। इस सम्बन्ध में ब्राइस ने लिखा है कि "लोकमत को प्रशिक्षित करने, उसके निर्माण और अभिव्यक्ति में राजनीतिक दलों के द्वारा अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया जाता है।"

(7) व्यवस्थापिका सभाएँ - व्यवस्थापिका सभाओं द्वारा लोकमत के निर्माण तथा उसकी अभिव्यक्ति में बहुत सहायता मिलती है। व्यवस्थापिका सभाओं में विभिन्न राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि होते हैं। इन सभाओं में किसी भी विषय पर होने वाले वाद विवाद में सभी राजनीतिक दल अपने-अपने विचार प्रकट करते हैं। ये विचार समाचारपत्रों तथा रेडियो द्वारा जनता तक पहुँचते हैं और इनका लोकमत

के निर्माण पर विशेष प्रभाव पड़ता है। व्यवस्थापिका में होने वाले वाद विवाद में लोकमत की ही अभिव्यक्ति होती है।

(8) धार्मिक एवं सामाजिक संस्थाएँ—धार्मिक तथा सामाजिक संस्थाओं का भी लोकमत के निर्माण पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। ये संस्थाएं किसी न किसी रूप में मानव के विचारों को प्रभावित करती रहती हैं। उदाहरणार्थ, सभी रोमन कैथोलिक देशों में गिरजाघरों का तथा अनेक मुस्लिम देशों में मस्जिदों का लोकमत के निर्माण में महत्वपूर्ण भाग रहता है। सन्तति-निरोध के सम्बन्ध में सभी कैथोलिक मतावलम्बियों की राय समान है। वर्तमान समय में आर्थिक समुदाय भी काफी शक्तिशाली हो गये हैं। इनके द्वारा विभिन्न उपायों से जनता के विचारों को प्रभावित करने का प्रयत्न किया जाता है।

(9) निर्वाचन—वर्तमान समय में निर्वाचन भी लोकमत के निर्माण का एक साधन बन गया है। निर्वाचन के समय विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा अपनी नीतियों, कार्यक्रमों तथा उद्देश्यों का जनता में प्रचार किया जाता है। उनके द्वारा अपने सिद्धान्तों की प्रशंसा तथा विरोधी पक्ष के सिद्धान्तों की आलोचना की जाती है। वे सार्वजनिक समस्याओं को हल करने के सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण भी प्रस्तुत करते हैं। इन सब बातों के कारण निर्वाचन के समय जनता को अपना विचार निर्धारित करने में सहायता मिलती है।

(10) अफवाहें—भारत जैसे देश में जहाँ अधिकांश लोग अशिक्षित हैं, जनता के विचारों को प्रभावित करने में अफवाहों एवं चर्चाओं का भी महत्वपूर्ण हाथ रहता है। परन्तु इनके आधार पर बनने वाला लोकमत अधिक स्वस्थ एवं स्थायी नहीं होता क्योंकि अधिकांशतया इन अफवाहों तथा चर्चाओं में सत्य का अंश कम रहता है।

समाजवादी व्यवस्था में लोकतन्त्र का निर्माण एवं अभिव्यक्ति

समाजवादी व्यवस्थाओं में लोकमत का निर्माण तथा उसकी अभिव्यक्ति लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्थाओं से भिन्न रूप में होती है। वस्तुतः समाजवादी व्यवस्था वाले देशों में स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष लोकमत के स्थान पर एकपक्षीय मत का निर्माण उसी की अभिव्यक्ति होती है। अतः उसे लोकमत के स्थान पर एकपक्षीय मत अथवा एक मत की संज्ञा देना अधिक उपयुक्त होगा। इसके कारण निम्नलिखित हैं

(1) एक ही राजनीतिक दल—स्वस्थ लोकमत के लिए विरोधी दलों का अस्तित्व आवश्यक होता है परन्तु समाजवादी देशों में प्रायः एक ही राजनीतिक दल होता है। वहाँ किसी को भी उसके विरोध में दल बनाने की आज्ञा नहीं होती। इन देशों में एक ही राजनीतिक दल के सिद्धान्तों, नीतियों तथा कार्यक्रमों का प्रकाशन होता है जिसके कारण एकपक्षीय मत की ही अभिव्यक्ति होती है।

(2) नागरिक स्वतन्त्रताओं का अभाव—समाजवादी राजनीतिक व्यवस्था

में नागरिकों को स्वतन्त्रतापूर्वक विचार प्रकट करने सरकार की आलोचना करने, सार्वजनिक प्रश्नों पर वाद विवाद करने जैसी कोई स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती। यदि कोई व्यक्ति दल अथवा दल के नेताओं की आलोचना करता है तो क्रान्ति विरोधी कहकर उसकी निन्दा की जाती है तथा उसे दण्ड दिया जाता है। ऐसी स्थिति में सही लोकमत की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है।

(3) **प्रचार के साधनों पर दल का कठोर नियन्त्रण**—समाजवादी व्यवस्था वाले देशों में प्रेस, रेडियो, सिनमा, टेलीविजन समाचारपत्र आदि प्रचार के समस्त साधनों पर सरकार का पूर्ण नियन्त्रण रहता है। इसके कारण दूसरे पक्ष को अपने विचारों को जनता के समक्ष रखने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता। अतः ऐसी स्थिति में इस अवस्था में स्वस्थ लोकमत का निर्माण नहीं हो पाता।

(4) **निर्वाचन दिखावटी**—स्वस्थ लोकमत के निर्माण तथा उसकी अभिव्यक्ति में निर्वाचनों का भी महत्त्वपूर्ण हाथ होता है परन्तु समाजवादी व्यवस्था में निर्वाचनों का स्वरूप केवल दिखावटी होता है। चुनाव के समय तक एक ही दल के द्वारा उम्मीदवार खड़े किये जाते हैं उन्हीं का प्रचार होता है तथा उन्हीं के पक्ष में मत डाले जाते हैं। अतः इस व्यवस्था में निर्वाचनों से भी सही लोकमत का विकास नहीं हो पाता है।

(5) **व्यवस्थापिका की महत्त्वहीन स्थिति**—समाजवादी व्यवस्था में व्यवस्थापिका की स्थिति स्वतन्त्र रूप से विचार विमर्श तथा वाद विवाद करने वाली संस्था [illegible] रूप में नहीं होती बल्कि उसका मुख्य कार्य दल के नेताओं द्वारा लिये गये निर्णयों पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगाना होता है। उसमें विरोधी पक्ष का पूर्णतया अभाव रहता है। अतः व्यवस्थापिका स्वस्थ लोकमत के निर्माण के स्थान पर एकपक्षीय मत का प्रकाशन ही अधिक करती है।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि समाजवादी व्यवस्था में जनता का वही मत होता है जो दल तथा दल के नेताओं का होता है। वास्तविकता तो यह है कि इस व्यवस्था में जनता का काम किसी विषय पर स्वतन्त्र रूप से विचार प्रकट करना नहीं है बल्कि दल के नेताओं की आज्ञा का पालन करना है। ऐसी स्थिति में इन देशों में स्वस्थ लोकमत के स्थान पर एकपक्षीय मत का ही निर्माण होता है तथा उसी की अभिव्यक्ति होती है।

विकासशील व्यवस्थाओं में स्वस्थ लोकमत के निर्माण में बाधाएं

विकासशील राजनीतिक व्यवस्थाओं में स्वस्थ लोकमत के निर्माण में चुनौतियों का सामना करना पड़ता है

(1) **आर्थिक एवं सामाजिक विषमताएँ**—विकासशील देशों में आर्थिक तथा सामाजिक विषमताएँ बहुत अधिक पायी जाती हैं। ऐसे समाजों में आर्थिक शक्ति थोड़े से धनी व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित हो जाती है तथा बहुसंख्यक जनता अत्यधिक

निर्धनता का जीवन व्यतीत करती है। साधारण जन अपने जीविकोपार्जन के कारण इतना अधिक व्यस्त रहते हैं कि उनमें सार्वजनिक हित की बातों पर विचार करने के लिए न तो रुचि होती है और न इसके लिए उनके पास समय ही होता है। ऐसी स्थिति में वे स्वतन्त्र और निष्पक्ष रूप से उचित मत का निर्माण नहीं कर सकते। इस प्रकार के व्यक्ति स्वार्थ के कारण सार्वजनिक विचारों में से किसी एक को ग्रहण कर लेते हैं।

(2) नागरिक अधिकारों का अभाव—स्वस्थ लोकमत के निर्माण में एक बड़ी बाधा नागरिक अधिकारों का अभाव है। नागरिक अधिकार तथा स्वतन्त्रताओं की प्राप्ति के बिना लोकमत का निर्माण सम्भव नहीं है क्योंकि ऐसी स्थिति में नागरिकों को इस बात की स्वतन्त्रता नहीं रहती कि वे सरकार के कार्यों की आलोचना कर सकें। यदि नागरिकों को अपने विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता नहीं होती तो उन्हें किसी विषय से सम्बन्धित सही बातों की जानकारी नहीं मिलेगी। ऐसी स्थिति में वे विवेकपूर्ण मत का निर्माण नहीं कर सकेंगे।

(3) उचित शिक्षा का अभाव—उचित शिक्षा का अभाव भी लोकमत के निर्माण तथा प्रकाशन में बहुत बाधक होता है। शिक्षा के अभाव में लोग न तो तर्कपूर्ण ढंग से विचार ही कर सकते हैं और न विभिन्न समस्याओं पर आलोचनात्मक दृष्टिकोण ही अपना सकते हैं। वे न तो समाचार-पत्र ही पढ़ सकते हैं और न सार्वजनिक विषयों पर वाद-विवाद ही कर सकते हैं। शिक्षा के अभाव में उन्हें दूसरों की कही हुई बातों के आधार पर ही अपना विचार बनाना पड़ता है।

(4) दूषित दलबन्दी—राजनीतिक दलों ने समाचार-पत्रों पर साधारणतया अपना नियन्त्रण स्थापित कर लिया है तथा वे उन्हीं के दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हैं। उनका उद्देश्य यह होता है कि नागरिकों को पक्षपातपूर्ण तथा विकृत समाचार प्राप्त हो सकें। विभिन्न दलों तथा दलों के समाचार-पत्रों को पढ़कर नागरिक यह समझ ही नहीं पाता कि वे इनमें से किस पर विश्वास करें। इस प्रकार दूषित दलबन्दी स्वस्थ लोकमत के निर्माण में बाधा उपस्थित करती है।

(5) सार्वजनिक जीवन के प्रति उदासीनता—सार्वजनिक जीवन के प्रति नागरिकों की उदासीनता तथा अकर्मण्यता भी लोकमत के मार्ग में बाधक होती है। जब किन्हीं भी कारणों से नागरिक सार्वजनिक जीवन की समस्याओं तथा घटनाओं पर न तो स्वयं विचार करते हैं न उनमें रुचि ही लेते हैं और न अपने अधिकारों तथा कर्तव्यों के प्रति जागरूक ही रहते हैं तो ऐसी स्थिति में सच्चे लोकमत के निर्माण तथा विकास की आशा नहीं की जा सकती है।

(6) नागरिकों की संकुचित मनोवृत्ति—विभिन्न कारणों से नागरिकों की संकुचित मनोवृत्ति भी स्वस्थ लोकमत के निर्माण में बाधा उपस्थित करती है। इस संकुचित मनोवृत्ति का परिणाम साम्प्रदायिकता तथा प्रान्तीय संकुचितता के रूप में सामने आता है

और दूसरा रूप जाति को अत्यधिक महत्त्व देने तथा साम्प्रदायिकता का समर्थन करने के रूप मे प्रकट होता है । इस सकुचित मनोवृत्ति के कारण नागरिको का दृष्टिकोण इतना दूषित हो जाता है कि वे अपनी जाति, धर्म तथा सम्प्रदाय को ही विशेष महत्त्व देते हैं जिससे स्वस्थ लोकमत के निर्माण मे बाधा पहुँचती है ।

(4) दोषपूर्ण राजनीतिक दल—विकासशील देशो म अनेक राजनीतिक दलो का निर्माण आर्थिक तथा राजनीतिक सिद्धान्तो पर न होकर मुख्य रूप से धर्म और जाति के आधार पर होता है । ऐसे राजनीतिक दल विभिन्न वर्गों म घृणा तथा सघर्ष को जन्म देते हैं । दोषपूर्ण आधारो पर बने हुए राजनीतिक दल सम्पूर्ण देश के वातावरण को विषाक्त बना देते हैं तथा सही लोकमत के निर्माण और विकास मे बाधा पहुँचाते हैं ।

स्वस्थ लोकमत के निर्माण के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ

स्वस्थ लोकमत के निर्माण तथा उसकी अभिव्यक्ति के लिए कुछ परिस्थितियो का होना अत्यन्त आवश्यक है जिनके अभाव मे किसी भी शासन व्यवस्था विशेषकर लोकतान्त्रिक शासन-व्यवस्था का सचालन सुचारु रूप से नही हो सकता । ये परिस्थितियाँ निम्नलिखित हैं

(1) शिक्षा का प्रसार—स्वस्थ लोकमत के निर्माण तथा विकास के लिए नागरिकों का सुशिक्षित होना अत्यन्त आवश्यक है । शिक्षा नागरिको के व्यक्तित्व तथा मानसिक-परिधि का विकास करती है । यह नागरिको मे स्वतन्त्र रूप से विचार करने, तर्कपूर्ण ढग से सोचने, विचारो का आदान-प्रदान करने तथा विभिन्न मामलो पर आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपनाने की प्रवृत्ति उत्पन्न करती है । यह उनमे सार्वजनिक समस्याओं को समझने तथा विवेकपूर्ण निर्णय लेने की क्षमता प्रदान करती है । अत स्वस्थ लोकमत के निर्माण के लिए शिक्षा का अधिक से अधिक प्रसार आवश्यक है ।

(2) आर्थिक विषमताओं का अन्त—स्वस्थ लोकमत के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि समाज मे आर्थिक विषमताओ का अन्त हो। प्रत्येक मनुष्य की भोजन, वस्त्र, निवास तथा स्वास्थ्य जैसी मूलभूत आवश्यकताओ की पूर्ति होनी चाहिए। जब समाज की बहुसख्यक जनता अत्यधिक निर्धन होती है तथा सदैव जीविकोपार्जन के कार्य मे ही व्यस्त रहती है तो उसके पास सार्वजनिक समस्याओं पर स्वतन्त्र रूप से विचार करने के लिए न तो पर्याप्त समय ही होता है और न उनमे कोई रुचि ही होती है । ऐसी स्थिति मे उनकी विचार स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है और वह धनी लोगो के विचारो को ही ग्रहण कर लेती है । इस तरह निर्धनता स्वस्थ लोकमत के मार्ग मे बाधा उपस्थित करती है । अत समाज मे आर्थिक विषमता का अन्त किया जाना आवश्यक है ।

(3) स्वतन्त्र, एल. विलफर्ड, समानता-स्वतन्त्र—स्वस्थ लोकमत, के. विलफर्ड, एल. राजनीति के मू० त०

निर्माण के लिए प्रेस की स्वतन्त्रता एव निष्पक्षता अत्यन्त आवश्यक है। यदि प्रेस तथा समाचार-पत्रो पर किसी वर्ग विशेष या दल विशेष अथवा सरकार का नियन्त्रण रहता है तो वे स्वतन्त्रतापूर्वक सरकार के कार्यो तथा राजनीतिक दलो की नीतियो व कार्यक्रमो की आलोचना नही कर सकते। ऐसे समाचार-पत्र एकपक्षीय दृष्टिकोण का प्रचार करते हैं। वेण्डल विल्की ने ठीक ही लिखा है कि "समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता सच्चे लोकमत का जीवन है।"[1]

(4) सकीर्ण विचारो का अन्त—स्वस्थ लोकमत के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि नागरिक अपनी सकीर्ण मनोवृत्ति का त्याग करें। सकीर्ण मनोवृत्ति के कारण लोग सार्वजनिक प्रश्नो पर निष्पक्ष रूप से विचार न करके जाति, धर्म तथा सम्प्रदाय आदि के आधार पर विचार करते हैं। इससे स्वस्थ लोकमत का निर्माण सम्भव नही हो पाता। अत लोगो को चाहिए कि वे सकीर्ण हितो के स्थान पर सार्वजनिक हित को प्रमुखता प्रदान करें।

(5) विचार एव अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता—स्वस्थ लोकमत के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि नागरिको को विचार एव अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो। उन्हे अपने विचारो का प्रचार करने के लिए सभा करने एव सगठन बनाने आदि की स्वतन्त्रता भी होनी चाहिए। यदि नागरिको को अपने विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता नही दी गई है तो वे दूसरो के विचारो को नही जान सकेंगे और ऐसी स्थिति मे वे अपना विवेकपूर्ण मत भी नही बना सकेंगे।

(6) स्वस्थ सिद्धान्तो पर आधारित राजनीतिक दल—स्वस्थ लोकमत के निर्माण एव विकास के लिए यह आवश्यक है कि राजनीतिक दलो का गठन आर्थिक और राजनीतिक कार्यक्रमो के आधार पर होना चाहिए, भाषा, धर्म, सम्प्रदाय व क्षेत्रीय आधार पर नही। इसके अतिरिक्त राजनीतिक दलो का उद्देश्य भी सकीर्ण हितो के स्थान पर सम्पूर्ण समाज का हित साधन होना चाहिए। जिन राजनीतिक दलो का गठन जाति, धर्म तथा सम्प्रदाय के आधार पर होता है वे दूषित लोकमत का निर्माण करते हैं। अत केवल ऐसे राजनीतिक दल जो इन सकीर्ण भेदभावो से ऊपर उठकर सम्पूर्ण राष्ट्र के हित को प्रमुखता देते हैं, स्वस्थ लोकमत के निर्माण मे सहायक सिद्ध होते हैं।

(7) विचारो की सहनशीलता—स्वस्थ लोकमत के निर्माण के लिए यह भी आवश्यक है कि मनुष्यो के विचारो मे सहनशीलता की भावना हो। लोग शान्तिपूर्ण ढग से अपने विचारो का प्रचार करें तथा अपने विरोधियो के ऊपर कीचड न उछालें। इसी प्रकार बहुमत मे अल्पसख्यको के हितो को सरक्षण प्रदान करने की

1 "Freedom of the press is the stuff of life for any vital public opinion"
—Wendell Wilkie

तथा अल्पसंख्यकों में वहुमत का आदर करने एवं उसके निर्णय को स्वीकार करने की प्रवृत्ति होनी चाहिए। ऐसा न होने पर स्वस्थ लोकमत के निर्माण में बाधा पड़ती है।

डा० आशीर्वादम् ने स्वस्थ लोकमत के निर्माण के लिए निम्नलिखित शर्तों को आवश्यक बताया है (1) तथ्यों को जानने की पूर्ण सुविधा (2) नेताओं और जनता दोनों में निष्पक्ष दृष्टिकोण, शान्त विचार और प्रौढ़ विवेक, (3) व्यक्तित्व अथवा चरित्र की स्वतन्त्रता, तथा (4) राजनीतिक दलों, मजदूर संघों, धार्मिक अथवा जातीय अधिकारियों एवं साम्प्रदायिक अथवा भाषा-परक गुटों के कठोर नियन्त्रण से मुक्ति।

अभ्यास के प्रश्न

1 लोकमत से क्या तात्पर्य है ? लोकमत का निर्माण किस प्रकार होता है ?
(राजस्थान विश्व० वि० 1978)

2. लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था में लोकमत का निर्माण एवं अभिव्यक्ति किस प्रकार होती है ?

3 समाजवादी राजनीतिक व्यवस्था में लोकमत का निर्माण एवं अभिव्यक्ति किस प्रकार होती है ?

4 उन तत्वों की विवेचना कीजिए जो विकासशील राजनीतिक व्यवस्थाओं में लोकमत निर्माण को चुनौती देते हैं।

5 इस मत का परीक्षण कीजिए कि लोकमत नागरिकों द्वारा निर्मित नहीं हो सकता। लोकमत अनेक स्रोतों द्वारा क्रियान्वित एवं आरोपित किया जाता है।

6 लोकमत निर्माण में निम्नलिखित की भूमिका की विवेचना कीजिए राजनीतिक दल, शैक्षणिक संस्थाएँ एवं प्रेस।

7 राजनीतिक लोकतन्त्र की सफलता हेतु लोकमत की भूमिका का परीक्षण कीजिए। /९ ८7

8 स्वस्थ लोकमत के निर्माण के लिए आवश्यक परिस्थितियों का उल्लेख कीजिए।

9 प्रबुद्ध लोकमत के विकास के लिए आप किन अवस्थाओं को अनिवार्य मानते हैं ?

(राजस्थान विश्व० वि० 1976)

23

स्थानीय स्वशासनन
[LOCAL SELF GOVERNMENT]

"स्थानीय संस्थाओं में स्वतन्त्र राष्ट्रों की शक्ति निहित होती है। राष्ट्र स्वतन्त्र शासन की प्रणाली को भले ही स्थापित करले परन्तु स्थानीय संस्थाओं के बिना इसमें स्वतन्त्रता की भावना नहीं आ सकती।"[1]

—डी० टाकविल

लोकतन्त्र में शासन की अन्तिम सत्ता जनता में निहित रहती है। लोग शासन के कार्यों में अधिक से अधिक भाग ले सकें, इसके लिए यह आवश्यक है कि शासन सत्ता का विकेन्द्रीकरण किया जाए। स्थानीय स्वशासन लोकतन्त्र की इस आवश्यकता की पूर्ति करता है क्योंकि इसके अन्तर्गत जनता को शासन में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने का अवसर प्राप्त होता है। इस तरह स्थानीय स्वशासन संस्थाओं *के द्वारा लोकतन्त्र को व्यावहारिक रूप प्रदान किया जाता है।* आज के युग में स्थानीय स्वशासन का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया है।

स्थानीय स्वशासन का अर्थ

स्थानीय स्वशासन का तात्पर्य यह है कि किसी स्थान विशेष का शासन वहीं के लोगों के प्रतिनिधियों द्वारा चलाया जाए। स्थानीय स्वशासन के अन्तर्गत ऐसे सभी कार्य अथवा समस्याएँ आती हैं जिनका सम्बन्ध उस स्थान विशेष के लोगों से होता है, जैसे स्वास्थ्य सफाई, पानी, रोशनी आदि का प्रबन्ध तथा ऐसे सभी कार्य उस स्थान विशेष की जनता के प्रतिनिधियों द्वारा किये जाते हैं। जो संस्थाएँ इस कार्यों को करने के लिए बनाई जाती है, उन्हें स्थानीय स्वशासी संस्थाएँ कहा जाता

---

1 "The local assemblies of citizens constitute the strength of free nations A nation may establish a system of free government, but without the spirit on municipal institutions, it cannot have the spirit of liberty" —De Tocqueville

है। इन स्थानीय संस्थाओं को एक सीमित क्षेत्र में कार्य करने की स्वतन्त्रता होती है। इस प्रकार स्थानीय स्वशासन की दो प्रमुख विशेषताएँ होती हैं—स्थानीयता तथा सीमित स्वतन्त्रता।

विभिन्न विद्वानों ने स्थानीय स्वशासन की जो परिभाषाएँ दी हैं, उनमें से कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं

जी० मान्टेग्यू हैरिस (G Montegue Harris) के शब्दों में, स्थानीय स्वशासन का अर्थ उन स्थानीय संस्थाओं द्वारा शासन से है जो जनता द्वारा चुनी गयी हों तथा जिन्हें राष्ट्रीय सरकार के नियन्त्रण में रहते हुए भी कुछ मामलों में अधिकार और उत्तरदायित्व प्राप्त हों जिनका उपयोग वे किसी उच्च अधिकारी के नियन्त्रण के बिना स्व-विवेक से कर सकें।"

जॉन जे० क्लार्क के अनुसार, "एक जिला विशेष या स्थान से सम्बन्धित निर्वाचित प्रशासनिक इकाई को स्थानीय स्वराज्य की संस्था माना जा सकता है।"

जी० डी० एच० कोल के शब्दों में, "स्थानीय शासन एक ऐसा शासन है जो अपने सीमित क्षेत्र में प्रदत्त (delegated) अधिकारों का उपयोग करता है।"

डा० आशीर्वादम् के अनुसार, "स्थानीय स्वशासन केन्द्रीय सरकार अथवा संघ में राज्य सरकार के अधिनियम द्वारा निर्मित एक ऐसी प्रशासकीय इकाई है जिसमें नगर या ग्राम जैसे एक क्षेत्र की जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि होते हैं और जो अपने अधिकार-क्षेत्र की सीमाओं के भीतर प्रदत्त अधिकारों का उपयोग लोक-कल्याण के लिए करते हैं।"

स्थानीय शासन और स्थानीय स्वशासन इन दोनों में अन्तर है। जब किसी स्थान विशेष का शासन वहाँ के लोगों के निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा चलाया जाता है तो उसे स्थानीय स्वशासन कहते हैं और जब उस स्थान का शासन केन्द्र अथवा राज्य सरकार के कर्मचारियों द्वारा चलाया जाता है तो उसे स्थानीय प्रशासन कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि स्थानीय स्वशासन के साथ निर्वाचित प्रतिनिधि संस्थाओं का सहयोग होता है जबकि स्थानीय शासन मुख्य रूप से स्थानीय पदाधिकारियों के अधीन होता है।

स्थानीय स्वशासन की आवश्यकता

स्थानीय स्वशासन की आवश्यकता सभी कालों तथा सभी प्रकार की शासन-प्रणालियों में किसी न किसी रूप में रही है परन्तु आधुनिक युग में, जो कि लोकतन्त्र का युग है, स्थानीय स्वशासन की आवश्यकता और अधिक बढ़ गई है। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक लोकतन्त्र के लिए स्थानीय स्वशासन अत्यन्त अनिवार्य माना जाता है। इसकी अनिवार्यता के निम्नलिखित कारण हैं।

(1) आधुनिक राज्य जनसंख्या, क्षेत्रफल तथा अन्य दृष्टियों से बहुत बड़े होते हैं। उदाहरणार्थ रूस, अमेरिका, चीन, भारत आदि क्षेत्रफल तथा जनसंख्या की दृष्टि से बहुत ही विशाल राज्य हैं। इतने बड़े राज्यों का शासन केवल केन्द्र तथा

राज्य सरकार के कुछ कर्मचारियों द्वारा सुचारू रूप से चलाया जाना सम्भव नहीं है।

(2) आधुनिक काल में राज्य के लोकहितकारी स्वरूप के कारण शासन सम्बन्धी कार्य इतने अधिक बढ गये है कि केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें इन सभी कार्यों को कुशलतापूर्वक नहीं कर सकती। इसका कारण यह है कि प्रथम, तो वे राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ मे ही उलझी रहती है और इसलिए उनके पास इतना समय ही नहीं रहता कि वे स्थानीय समस्याओं की ओर पर्याप्त ध्यान दे सकें। दूसरे किसी स्थान विशेष की समस्याओ अथवा आवश्यकताओ की उन्हे पर्याप्त जानकारी भी नहीं होती। अत ऐसी स्थिति में यदि स्थानीय कार्यों का भार भी उन्ही पर छोड दिया जाए तो उन कार्यों का कुशलतापूर्वक सम्पादन सम्भव नहीं है।

(3) यदि स्थानीय शासन का भार केन्द्रीय अथवा राज्य सरकारो को सौप दिया जाए तो वे इन कार्यों का सम्पादन अपने कर्मचारियों द्वारा ही करवायेंगी। परन्तु इन कर्मचारियों को स्थानीय समस्याओं का न तो ज्ञान ही होता है और न वे उस स्थान विशेष की उन्नति मे रुचि ही रखते हैं अत ऐसी स्थिति मे शासन के कार्य बड़ी धीमी गति से होंगे।

(4) यदि स्थानीय विषयो का सम्बन्ध भी केन्द्र अथवा राज्य सरकार द्वारा ही किया जाए तो इससे शासन मे नौकरशाही का प्रभाव अधिक बढ जायेगा। ऐसी स्थिति मे स्थानीय शासन मे भी नौकरशाही की समस्त बुराइयाँ, जैसे लालफीताशाही, भ्रष्टाचार, अनावश्यक देरी इत्यादि, आ जायेंगी।

(5) इस सम्बन्ध मे कोई दो मत नही हो सकते कि किसी भी स्थान विशेष के शासन का प्रबन्ध जितनी अच्छी तरह से उसी स्थान के लोग कर सकते हैं, उतनी अच्छी तरह से और कोई दूसरा नही कर सकता। इसका कारण यह है कि एक स्थान विशेष के उत्थान मे वहाँ के निवासियो का व्यक्तिगत हित भी समाविष्ट रहता है। इसके अतिरिक्त एक स्थान के नागरिक अपने स्थान की केवल समस्याओ से ही परिचित नही होते अपितु वे उनका समाधान भी जानते हैं। अत वे अपने स्थान की उन्नति के लिए पूरी लगन तथा जोश से काम करते हैं।

(6) यदि स्थानीय शासन का प्रबन्ध केन्द्र अथवा राज्य की सरकार के हाथो मे रहे तथा उस स्थान के लोगो को उसमे भाग लेने का कोई अवसर प्रदान न किया जाए, तो ऐसी स्थिति में वहाँ के लोग शासन के प्रति उदासीन, निष्क्रिय तथा अनुत्तरदायी हो जायेंगे और अपने ही हितो से सम्बन्धित मामलो मे उनकी कोई रुचि नही रहेगी। अत स्थानीय स्वशासन लोगो मे शासन के प्रति रुचि उत्पन्न करता है।

उपरोक्त कारणो से स्थानीय स्वशासन आधुनिक लोकतान्त्रिक युग मे एक अपरिहार्य आवश्यकता बन गई है।

लोकतन्त्र में स्थानीय स्वशासन का महत्व

लोकतन्त्र की आधारभूत मान्यता यह है कि शासनशक्ति का अधिक से अधिक विकेन्द्रीकरण होना चाहिए जिससे अधिक से अधिक लोग शासन के कार्यों मे प्रत्यक्ष रूप से भाग ले सकें। दूसरे शब्दो मे, हम यह कह सकते हैं कि लोकतन्त्र का विकेन्द्रीकरण किया जाए। विकेन्द्रित लोकतन्त्र से तात्पर्य यह है कि विभिन्न स्तरो पर स्थानीय समस्याओ का निर्माण किया जाए। इस व्यवस्था मे अपने क्षेत्र की विकास योजनाओ का निर्माण करने तथा उनको क्रियान्वित करने का भार स्थानीय सस्थाओ पर ही रहता है। केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो का काम इन सस्थाओ के कार्यों मे हस्तक्षेप करना नही होता, बल्कि इनको आवश्यक सलाह तथा सहायता प्रदान करना होता है। इस तरह स्थानीय सस्थाएँ केवल प्रशासनिक इकाइयाँ ही नही होती हैं बल्कि वे लोकतन्त्रीय प्रणाली की प्रथम कड़ी होती हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि लोकतन्त्र मे स्थानीय स्वशासन का बहुत महत्व होता है। इसके कारण ही विद्वानो ने स्थानीय स्वशासन की सस्थाओ को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करने वाली प्राथमिक पाठशालाओं की सज्ञा दी है। वस्तुत स्थायी स्वशासन के अभाव मे लोकतन्त्र कभी भी सफल नही हो सकता है। लोकतन्त्र मे स्थानीय स्वशासन का महत्व अनेक कारणो से है प्रथम तो, स्थानीय स्वशासन की सस्थाएं नागरिको मे सार्वजनिक कार्यों के प्रति रुचि उत्पन्न करके उन्हें अपने हितो के प्रति जागरूक बनाती है तथा उनमे उत्तरदायित्व की भावना का विकास करती हैं। द्वितीय, स्थानीय स्वशासन की सस्थाएँ नागरिको को शासन के सचालन का प्रशिक्षण प्रदान करती है। यह प्रशिक्षण उनके लिए प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय स्तर पर भी शासन के सचालन मे लाभदायक सिद्ध होता है। ससार के अनेक महान राजनीतिज्ञो ने स्थानीय स्वायत्तशासी सस्थाओ मे कार्य करके ही शासन सम्बन्धी प्रशिक्षण प्राप्त किया है और इसी कारण वे अधिक सफल रहे हैं। तृतीय, स्थानीय स्वशासन सस्थाएँ नागरिको मे पारस्परिक प्रेम, सहयोग, अनुशासन, कर्त्तव्यनिष्ठा, त्याग की भावना, आदि अनेक गुण उत्पन्न करती हैं। जो लोकतन्त्र की सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। चतुर्थ, स्थानीय स्वशासन स्वतन्त्रता और स्वाधीनता का गढ है। यह जनता को अत्याचार तथा व्यक्ति को केन्द्रीय शासन के अधिनायकवादी आधिपत्य में बचाता है। पचम् स्थानीय स्वशासन की सस्थाएँ जितना सेवा कार्य करती हैं इतना अन्य कोई सस्थाएँ नही कर सकती। छटे, स्थानीय सस्थाओ के कारण शासन म जन-सहयोग मिलना अधिक आसान हो जाता है। इनके कारण जनता मे जन भावना और उदार दृष्टिकोण का निर्माण होता है। इसके अतिरिक्त यह राजनीतिक शिक्षा और शासन कला म प्रशिक्षण का अवसर देकर व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करने का साधन बन जा है।

उपरोक्त कारणो के आधार पर हम कह सकते है कि स्थानीय स्वशासन

लोकतन्त्र की सफलता का आधार है। लोकतन्त्र मे उसके महत्व के सम्बन्ध मे अनेक विचारको ने अपने विचार निम्नलिखित शब्दो मे प्रकट किये हैं

ब्राइस के शब्दो मे, "लोकतन्त्र का सर्वश्रेष्ठ विद्यालय और उसकी सफलता की सबसे बड़ी गारन्टी स्थानीय स्वशासन का प्रचलन है।"[1]

डी० टाकविल के अनुसार "जो महत्व विज्ञान की शिक्षा के लिए प्राथमिक पाठशालाओं [illegible] है वह महत्व, स्वतन्त्रता का पाठ पढ़ाने के लिए स्थानीय संस्थाओं का है।"[2]

प्रो० लास्की ने स्थानीय स्वशासन के महत्व का वर्णन करते हुआ लिखा है, कि "हम लोकतन्त्रात्मक सरकार का पूरा लाभ नहीं उठा सकते जब तक कि हम यह बात मानकर नहीं चल सकते कि सब समस्याएं केन्द्रीय समस्याएं नहीं हैं और ऐसी समस्याएं जो केन्द्रीय नहीं हैं उनका हल उस स्थान पर है और उन लोगों द्वारा होना आवश्यक है जिनके द्वारा वे अधिक अनुभव की जाती हैं।"[3]

ब्राइस के मतानुसार, "जो व्यक्ति स्थानीय स्तर पर निर्भीकतापूर्वक और सेवा-भाव से प्रेरित होकर काम करते हैं उन्हे उन गुणों का प्राथमिक ज्ञान प्राप्त हो जाता है जो देश की नागरिकता के लिए नितान्त आवश्यक है।"

डा० आशीर्वादम के शब्दो मे "स्थानीय शासन द्वारा ही लोकतन्त्र वास्तविक और व्यावहारिक रूप ग्रहण कर सकता है। स्थानीय शासन प्रत्येक व्यक्ति के मकान के दरवाजे पर लोकतन्त्र को साकार खड़ा कर देता है।"

स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के कार्य

वर्तमान समय मे स्थानीय स्वायत्त संस्थाएँ विभिन्न प्रकार के कार्य करती है। ये कार्य बहुत कुछ स्थानीय आवश्यकताओं तथा समस्याओं पर और स्थानीय संस्थाओं के स्वरूप पर निर्भर करते है फिर भी साधारणतया इनके द्वारा किये जाने वाले प्रमुख कार्य अग्रलिखित हैं

---

1 "The best school of democracy and the best guarantee for its success [illegible] the practice of local self government" —Bryce

2 "Local institutions are to liberty what primary schools are to science" —De Tocqueville

3 "We cannot realise the full benefit of democratic government unless we begin by the admission that all problems are not central problems and that the results of problems not central in the incidence required decisions at the place, and by the persons where and by whom the incidence is most deeply felt" —Laski

(1) नागरिक कार्य—इसके अन्तर्गत वे कार्य आते हैं जिनका सम्बन्ध नागरिकों के जीवन की सुविधाओं से होता है। इसमें सबसे प्रमुख कार्य नागरिकों के स्वास्थ्य की देखरेख करना है इसके लिए स्थानीय संस्थाएँ एक ओर तो रोगों की रोकथाम करती है तथा दूसरी ओर रोगों की चिकित्सा की व्यवस्था करती है। रोगों की रोकथाम के लिए ये संस्थाएँ सड़कों व नालियों की सफाई, पीने के शुद्ध जल की व्यवस्था, दूषित खाद्य पदार्थों की बिक्री पर रोक, संक्रामक बीमारियों को फैलने से रोकने के लिए टीके आदि की व्यवस्था करती हैं। रोगों की चिकित्सा के लिए चिकित्सागृह, औषधालय, प्रसूतिगृह, शिशुगृह आदि की व्यवस्था करती हैं।

(2) सांस्कृतिक कार्य—इसके अन्तर्गत दो प्रकार के कार्य आते हैं—मनोरंजन सम्बन्धी तथा शैक्षणिक कार्य। नागरिकों के मनोरंजन के लिए स्थानीय संस्थाएँ सिनेमा भवनों, क्लबों, बाग-बगीचों, सार्वजनिक स्नानगृहों, तालाबों, घाटों तथा क्रीड़ा-स्थानों आदि का निर्माण करती हैं तथा नागरिकों के शैक्षणिक विकास के लिए ये संस्थाएँ प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था, यथासम्भव माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था, प्रौढ़ शिक्षा का प्रबन्ध, पुस्तकालयों, वाचनालयों, अध्ययन केन्द्रों, संग्रहालयों, अजायबघरों कला गैलरियों की स्थापना आदि कार्य करती हैं।

(3) आर्थिक कार्य—स्थानीय संस्थाएँ जनता को आर्थिक लाभ पहुँचाने की दृष्टि से यथासम्भव दूध, अण्डा डबल रोटी, आदि का व्यापार भी करती हैं। ये खाद्य-पदार्थों, तरकारियों तथा अन्य वस्तुओं के मूल्यों की व्यवस्था, कुटीर अथवा ग्रामीण उद्योगों की व्यवस्था, खेतों के तरीकों में सुधार के लिए परामर्श, उत्तम बीज तथा खाद का वितरण आदि कार्य भी किये जाते हैं।

(4) सार्वजनिक सुरक्षा सम्बन्धी कार्य—स्थानीय संस्थाओं के द्वारा नागरिकों की सुरक्षा से सम्बन्धित अनेक कार्य भी किये जाते हैं जैसे नागरिकों के जीवन व सम्पत्ति की सुरक्षा का प्रबन्ध, आग बुझाने की व्यवस्था, मेले तमाशों में नागरिकों की सुरक्षा का प्रबन्ध, ग्रामों में ग्राम रक्षा दल तथा नगरों में चौकीदार का प्रबन्ध, इत्यादि।

(5) सार्वजनिक हित सम्बन्धी कार्य—स्थानीय संस्थाओं के द्वारा सार्वजनिक हित सम्बन्धी अनेक कार्य भी किये जाते हैं, जैसे सड़कों का निर्माण, सड़कों को चौड़ी करना, पीने के पानी का प्रबन्ध, बिजली अथवा रोशनी की व्यवस्था, यातायात की सुविधा के लिए बसों, ट्रामों व टैक्सियों की व्यवस्था, इत्यादि।

(6) न्याय सम्बन्धी कार्य—स्थानीय स्वायत्त संस्थाएँ कुछ न्याय सम्बन्धी कार्य भी करती हैं। वे स्थानीय विवादों को निपटाती हैं तथा छोटे छोटे मुकदमों का निर्णय करती हैं।

(7) प्रशासनिक कार्य—स्थानीय संस्थाएँ प्रशासकीय इकाई भी होती है। वे स्थानीय जनता से कर तथा चुंगी आदि वसूल करती हैं और अपने क्षेत्र के

विकास के लिए विभिन्न योजनाओं तथा कार्यक्रमों का निर्माण करती है। वे अपने क्षेत्र के लिए नियम आदि बनाती हैं तथा उनका पालन करवाती हैं।

(8) **अन्य कार्य**—स्थानीय संस्थाएँ अपनी आर्थिक स्थिति के अनुरूप जन-कल्याण के कुछ अन्य कार्य भी करती है, जैसे बाँध बनवाना, व्यापार या उद्योग नियम खोलना, अपाहिजो, अनाथो, असहाय बालको, भिखारियो, अकाल व बाढ से पीडित व्यक्तियो आदि की देखभाल करना, इत्यादि।

स्थानीय संस्थाओ के उपरोक्त कार्यों की विवेचना से यह स्पष्ट है कि सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना के लिए स्थानीय संस्थाएँ अनिवार्य हैं। स्थानीय शासन जनता की सेवा जन्म से मृत्यु तक करता है। बच्चे प्रसूति केन्द्र मे जन्म लेते हैं और उस क्षेत्र के स्थानीय शासन द्वारा उनका पालन-पोषण होता है। स्थानीय अस्पताल में उनकी चिकित्सा की जाती है। स्थानीय पाठशालाओ मे उन्हे शिक्षा दी जाती है। अन्त मे, जब व्यक्ति मरता है तब स्थानीय संस्थाओं के अधिकारी मृत्यु का प्रमाण-पत्र देते हैं। डा० आशीर्वादम् ने इस सम्बन्ध मे लिखा है कि "माँ के पेट से लेकर श्मशान तक मनुष्य का जीवन स्थानीय शासन पर निर्भर करता है।"

स्थानीय स्वशासन के गुण

स्थानीय स्वशासन के प्रमुख गुण निम्नलिखित हैं

(1) **केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारो के कार्य-भार मे कमी**—वर्तमान समय मे राज्य के कल्याणकारी स्वरूप के कारण केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारो के कार्यभार मे बहुत वृद्धि हो गई है। कार्यभार की अधिकता के कारण उनके पास समय नही रहता है कि वे स्थानीय समस्याओ पर पूरा ध्यान दे सकें। स्थानीय संस्थाएँ स्थानीय समस्याओ के समाधान का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेकर केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों को अपनी समस्याओ के झझटो से मुक्त कर सकती हैं जिससे वे अपनी सारी शक्ति देश की महत्वपूर्ण समस्याओ को सुलझाने मे लगा सकें। यह ठीक ही कहा गया है कि "स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ केन्द्र को मिर्गी तथा प्रान्तीय सरकार को लकवा से बचाती हैं।"[1]

(2) **शासन मे कार्यकुशलता**—स्थानीय स्वशासन की एक उपयोगिता उसकी कार्यकुशलता है। प्रत्येक स्थान की समस्याएँ दूसरो से भिन्न होती हैं। उस स्थान विशेष के निवासी ही अपनी समस्याओ को भली प्रकार जानते हैं तथा उनके समाधान मे भी विशेष रुचि लेते हैं। वे जानते हैं कि इन समस्याओ के हल से उन सबका हित होगा। अत वे बडी लगन तथा जोश के साथ एव सेवाभावी ढग से

---

1 'The Local self government institutions save the central government from epilepsy and the provincial government from paralysis "

उन समस्याओ को हल करने का प्रयत्न करते हैं। इस तरह स्थानीय संस्थाओ के द्वारा स्थानीय विषयो का प्रबन्ध अत्यन्त कुशलतापूर्वक किया जा सकता है।

(3) **सार्वजनिक कार्यों के प्रति रुचि**—स्थानीय संस्थाएँ लोगों को सार्वजनिक क्षेत्र मे कार्य करने का अवसर प्रदान करती है। इसके कारण लोगो मे सार्वजनिक कार्यों के प्रति रुचि उत्पन्न होती है। सार्वजनिक क्षेत्र मे कार्य करने से लोगों मे उत्तरदायित्व की भावना का विकास होता है। सार्वजनिक कार्यों मे रुचि जागृत हो जाने के कारण लोग धीरे-धीरे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ मे रुचि लेने लगते हैं। बर्क ने ठीक ही लिखा है कि **"स्थानीय स्वशासन उस शृंखला की पहली कड़ी है जिसके द्वारा हम राष्ट्र और मानवता के प्रति प्रेम की ओर अग्रसर होते हैं।"**[1]

(4) **राजनीतिक शिक्षा**—स्थानीय शासन से जनता को राजनीतिक शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिलता है। इससे नागरिक अपने मताधिकार के मूल्य को पहचानने लगता है तथा अच्छे प्रतिनिधियो का चुनाव करना सीखता है। स्थानीय शासन के कार्यों मे भाग लेकर जनता स्वय शासन की रीति-नीति को देख-समझ सकती है। जनता राजनीतिक तौर पर सजग रहती है और शासन कार्यों से यह समझ सकती है कि *शासन अपने उत्तरदायित्व का पालन ठीक प्रकार से कर रहा है या नहीं।* इस तरह नागरिक सार्वजनिक मामलो से परिचित हो जाता है। डा० आशीर्वादम् के शब्दो मे, **"स्थानीय संस्थाएँ नागरिकों को राज्य और देश की राजनीति मे भाग लेने योग्य बनाती हैं।"**

(5) **शासन कला का प्रशिक्षण**—स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ नागरिकों को शासन की समस्याओ से परिचित कराती हैं तथा शासन-सचालन का प्रशिक्षण प्रदान करती है। इनके द्वारा ही नागरिको को स्वशासन की रचनात्मक शिक्षा *मिलती है। इन संस्थाओ मे नागरिको को शासन कला मे जो प्रशिक्षण प्राप्त होता है,* वह आगे चलकर प्रादेशिक तथा केन्द्रीय स्तर पर भी लाभदायक सिद्ध हो सकता है। चर्चिल, प० नेहरू तथा सरदार पटेल जैसे नेताओ को राष्ट्रीय स्तर पर जो ख्याति मिली, उसका मूल कारण यह था कि वे स्थानीय संस्थाओ मे कार्य करके शासन सचालन का प्रशिक्षण प्राप्त कर चुके थे। इस कारण स्थानीय संस्थाओ को लोकतन्त्र की प्रयोगशाला तथा राष्ट्रीय स्वशासन की नीव कहा जाता है। प्रो० लास्की ने लिखा है कि **"स्थानीय स्वशासन की संस्था शासन के किसी भी अन्य भाग की अपेक्षा अधिक शिक्षाप्रद है।"**[2]

(6) **समय तथा धन की बचत**—स्थानीय संस्थाओं के कारण समय की

1 "It is the first link in the series by which we proceed towards a love to our country and mankind" —Burke

2 "The institution of local government is educative in perhaps a higher degree than any other part of government" —Laski

बचत होती है क्योंकि स्थानीय स्तर के प्रशासनिक कार्य स्थानीय संस्था द्वारा किये जाने के कारण शीघ्रता के साथ हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त इनसे धन की भी बचत होती है। क्योंकि स्थानीय संस्थाओं के सदस्य किसी प्रकार का वेतन लिए बिना समाज सेवा की भावना से कार्य करते हैं। यदि ये ही कार्य राज्य अथवा केन्द्र की सरकार के द्वारा किये जाएँ तो सरकार को काफी धन खर्च करना पड़ेगा। इस तरह स्थानीय संस्थाओं से सार्वजनिक धन की काफी बचत होती है।

(7) नागरिक गुणों का विकास—स्थानीय स्वशासन नागरिकों में उच्च कोटि की नागरिकता के गुणों का विकास करता है। इसके द्वारा नागरिकों में सेवा, सामूहिक हित की भावना, संयम सहयोग, त्याग की भावना आदि गुणों का विकास होता है। नागरिकों में नागरिकता, स्वतन्त्रता स्वशासन की भावना स्थानीय स्वशासन से ही आती है। ब्राइस ने लिखा है कि "स्थानीय संस्थाएँ मनुष्यों को दूसरों के लिए ही नहीं अपितु दूसरों के साथ मिलकर कार्य करना सिखाती हैं। वे सहज बुद्धि, न्यायशीलता, निर्णयशक्ति एवं सामाजिकता का विकास करती हैं।"[1]

(8) जनता को सुविधाएँ पहुँचाना—स्थानीय शासन जनता को सुविधाएँ पहुँचाने का एक साधन है। स्थानीय संस्थाएँ पानी, रोशनी, सफाई, स्वास्थ्य, यातायात के साधनों आदि की व्यवस्था करके सस्ते दामों पर नागरिकों को वे सुविधाएँ प्रदान करती हैं। जनता को भी यह सुविधाजनक होता है कि उसकी समस्याएँ केन्द्र अथवा राज्य स्तर पर हल न की जाकर स्थानीय स्तर पर हल की जाएँ।

(9) नौकरशाही के दोषों से रक्षा—स्थानीय स्वशासन के अभाव में नौकरशाही और उसमें उत्पन्न दोष बहुत बढ़ जायेंगे। साथ ही, अत्यधिक केन्द्रीयकरण के समस्त दोषों का भी समावेश हो जायेगा। काम में अनावश्यक देरी, मनमानी करना, भ्रष्टाचार आदि बुराइयों का बोलबाला हो जायगा। इस प्रकार स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ अत्यधिक केन्द्रीयकरण के दोषों की रक्षा करती हैं तथा नौकरशाही की शक्तियों को सीमित रखती है।

(10) अन्य लाभ—स्थानीय संस्थाओं से कुछ अन्य लाभ भी हैं। डा० आशीर्वादम् ने ऐसे दो लाभों का और उल्लेख किया है (i) स्थानीय शासन के कारण केन्द्र तथा प्रान्तीय स्तर पर भी शासन में जनता का सहयोग मिलना अधिक आसान हो जाता है, (ii) ये संस्थाएँ आवश्यकता के साथ केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकार को महत्त्वपूर्ण परामर्श दे सकती हैं।

स्थानीय स्वशासन के उपरोक्त गुणों के आधार पर यह कहा जा सकता

1 "Local institutions train men not only to work for others but also to work effectively with others They develop common sense, reasonableness, judgement and sociability " —Bryce

है कि किसी भी शासन की सफलता विशेष रूप से लोकतन्त्रीय शासन की सफलता *मुख्यरूप से स्थानीय स्वशासन पर ही निर्भर करती है।*

स्थानीय स्वशासन के दोष

स्थानीय स्वशासन में गुणों के साथ-साथ कुछ दोष भी हैं। ये दोष निम्न-लिखित हैं

(1) **संकुचित भावना**—कभी-कभी स्थानीय संस्थाओं के कारण लोगों में एक संकुचित स्थानीय भावना उत्पन्न हो जाती है और वे अपने गाँव, नगर तथा जिले के हित को देश के हित की अपेक्षा अधिक महत्त्व देने लगते हैं।

(2) **कार्यकुशलता का अभाव**—कुछ आलोचकों का यह कहना है कि स्थानीय संस्थाओं में कार्यकुशलता का अभाव पाया जाता है। स्थानीय व्यक्ति नियमों की अवहेलना करते हैं तथा प्रायः मनमानी करते हैं। स्थानीय कर्मचारी भी अयोग्य होते हैं और कुशलतापूर्वक अपना काम नहीं कर सकते।

(3) **फिजूलखर्ची**—कुछ आलोचकों का मत है कि यह कहना भी सही नहीं है कि स्थानीय स्वशासन मितव्ययी होता है। स्थानीय संस्थाओं में प्रायः यह देखा जाता है कि अपने मित्रों को लाभ पहुँचाने के लिए तथा उनको नौकरी इत्यादि देने के लिए अनावश्यक रूप से धन खर्च किया जाता है। इसके परिणामस्वरूप शासन में खर्च कम होने के स्थान पर बढ़ जाता है।

(4) **समस्याओं के समाधान का कम अनुभव**—स्थानीय संस्थाओं के अधिकारियों को केन्द्रीय सरकार की तुलना में समस्याओं का कम ज्ञान होता है तथा उनका समाधान करने की भी उनमें कम योग्यता होती है। इस तरह स्थानीय शासन के क्षेत्र केन्द्र तथा प्रदेश के अनुभवी अधिकारियों के अनुभव के लाभ से वंचित रह जाते हैं।

(5) **निर्वाचन से उत्पन्न दोष**—स्थानीय स्वशासन भी चुनाव से चलता है अतः इन संस्थाओं में भ्रष्टाचार, दलबन्दी, पक्षपात, स्वार्थ साधना तथा बहुमत का शासन आदि अनेक दोष पाये जाते हैं। इससे नागरिकों का नैतिक स्तर नीचे गिरता है।

(6) **विशेषज्ञों की सेवाओं से वंचित**—वर्तमान युग में समस्याओं के समाधान के लिए विशेषज्ञों की सेवाएँ आवश्यक हैं परन्तु स्थानीय स्तर पर विशेषज्ञों का प्रायः अभाव रहता है। अतः स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं को विशेषज्ञों की सेवाओं का लाभ नहीं मिल पाता।

स्थानीय स्वशासन की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें

स्थानीय स्वशासन के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ हैं। प्रायः स्थानीय संस्थाओं के सदस्य जनता की सेवा करने के स्थान पर दलबन्दी, स्वार्थपरता तथा

साम्प्रदायिकता आदि बुराइयों में फँस जाते हैं और सच्ची लगन से जनता की सेवा नहीं कर पाते। इस कारण स्थानीय संस्थाएँ अनेक स्थानों पर सफल होती हुई नहीं दिखाई देती हैं। इन संस्थाओं की सफलता के लिए निम्नलिखित परिस्थितियाँ आवश्यक हैं

(1) उच्च नैतिक स्तर—स्थानीय स्वशासन की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि जनसाधारण का नैतिक स्तर ऊँचा हो। नागरिकों में ईमानदारी, सदाचार, कर्त्तव्य-परायणता, सेवा, सहयोग तथा दूसरों के विचारों का आदर करने की भावना आदि गुणों का होना आवश्यक है। उनमें सार्वजनिक कार्यों के प्रति रुचि तथा उत्तरदायित्व की भावना भी होनी चाहिए।

(2) मताधिकार का उचित प्रयोग—मतदाताओं को चाहिए कि वे चुनाव के समय जातीयता, साम्प्रदायिकता, दलबन्दी तथा अन्य किसी लोभ-लालच में न पड़कर योग्य, ईमानदार तथा समाजसेवी व्यक्ति को ही अपना मत दें जिससे वह निष्पक्ष होकर जनता की सेवा कर सके।

(3) नागरिकों का शिक्षित होना—स्थानीय स्वशासन की सफलता के लिए नागरिकों का शिक्षित होना भी आवश्यक है। शिक्षित व्यक्ति स्थानीय समस्याओं को समझते हैं तथा वे उनका समाधान भी जानते हैं। वे आसानी से स्वार्थी नेताओं के बहकावे में नहीं आते तथा सार्वजनिक हित को प्रधानता देते हैं।

(4) व्यापक दृष्टिकोण—स्थानीय स्वशासन की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि जनता तथा उसके प्रतिनिधियों का दृष्टिकोण विशाल हो। वे संकुचित मनोवृत्ति तथा स्वार्थ की भावना से ऊपर उठकर संकीर्ण हितों के स्थान पर समाज के हित को प्रधानता दें।

(5) स्वस्थ लोकमत—स्वस्थ लोकमत का निर्माण होना भी आवश्यक है। यदि लोकमत जागरूक हुआ तो इन संस्थाओं के अनुचित कार्यों की आलोचना द्वारा तथा अन्य साधनों से स्थानीय संस्थाओं पर नियन्त्रण रखा जा सकेगा।

(6) पर्याप्त आय—प्रायः स्थानीय संस्थाओं की आय बहुत सीमित होती है। जिसके कारण वे सार्वजनिक हित के कार्यों पर अधिक धन खर्च नहीं कर सकतीं। अतः यह आवश्यक है कि स्थानीय संस्थाओं की आय के साधन पर्याप्त हों जिससे वे अपने कार्यक्रमों को भली प्रकार पूरा कर सकें।

(7) हस्तक्षेप में कमी—स्थानीय संस्थाओं की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकार उनके कार्यों में कम से कम हस्तक्षेप करें जिससे वे अधिक स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य कर सकें तथा इनमें उत्तरदायित्व की भावना का विकास हो सके।

वस्तुतः स्थानीय संस्थाओं की सफलता का एक मात्र उपाय अधिक लोकतन्त्र है। जैसा कि लास्की का मत है कि "इन संस्थाओं का कार्य क्षेत्र जितना अधिक बढ़ाया जा सके, बढ़ाया जाना चाहिए। साथ ही, इनके प्रतिदिन के कार्यों

में यथासम्भव हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए और इन्हें धन का अभाव भी नहीं होना चाहिए। यदि इन्हें पर्याप्त अधिकार और पहल करने के अवसर नहीं दिये जायेंगे तो ये संस्थायें कभी अच्छी तरह नहीं पनप सकेंगी और सुगठित तथा सफल स्थानीय स्वायत्तशासी संस्थाओं के अभाव में लोकतन्त्र का पौधा कभी सशक्त नहीं बन पायेगा।"

अभ्यास के प्रश्न

1. स्थानीय स्वशासन से क्या तात्पर्य है? स्थानीय संस्थाओं के प्रमुख कार्यों का उल्लेख कीजिए।
2. राजनीतिक लोकतन्त्र में स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं की भूमिका का परीक्षण कीजिए।
3. स्थानीय स्वशासन के गुण और दोषों की विवेचना कीजिए तथा इसकी सफलता के लिए आवश्यक शर्तों का उल्लेख कीजिए।
4. विकेन्द्रित लोकतन्त्र का अर्थ स्पष्ट कीजिए एवं विकेन्द्रित लोकतन्त्र की संस्थाओं के महत्व को इंगित कीजिए। (राजस्थान विश्व वि० 1977)
5. राजनीतिक लोकतन्त्र की सफलता हेतु स्थानीय स्वायत्त शासन की भूमिका का परीक्षण कीजिए।
6. "स्थानीय संस्थाएं लोकतन्त्र की आधारशिला हैं।" इस कथन की विवेचना कीजिए।
7. 'लोकतन्त्र' तथा 'स्थानीय स्वशासन' की परिभाषा बताइए तथा उनके घनिष्ट सम्बन्ध को स्पष्ट कीजिए। (राजस्थान विश्व वि० 1974)

24

मताधिकार तथा प्रतिनिधित्व

(FRANCHISE AND REPRESENTATION)

"सरकार के कानून और नीतियों का सम्बन्ध सबसे होता है और जिस बात का प्रभाव सब पर पड़ता हो, उसका निर्णय भी सबके द्वारा ही होना चाहिए।"[1]

—जॉन स्टूअर्ट मिल

वर्तमान युग अप्रत्यक्ष अथवा प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र का युग है जिसमें नागरिकों को सीधे शासन के कार्यों में भाग लेने के अवसर नहीं मिलते। आधुनिक राज्य क्षेत्रफल तथा जनसंख्या की दृष्टि से काफी बड़े होते हैं। उनमें एक स्थान की दूसरे स्थान से दूरी भी अधिक होती है। इन सब कारणों से राज्य के प्रत्येक नागरिक का शासन-कार्य में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेना असम्भव हो जाता है। ऐसी स्थिति में लोगों के लिए अपने प्रतिनिधि चुनकर उनके माध्यम से शासन-कार्य चलाना अनिवार्य हो जाता है। इसीलिए प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र प्रणाली का प्रचलन हुआ है। इस प्रकार मताधिकार और प्रतिनिधित्व आधुनिक लोकतन्त्र के मौलिक आधार हैं।

मताधिकार के सिद्धान्त—राज्य में जिन व्यक्तियों को अपने प्रतिनिधियों को चुनने का अधिकार दिया जाता है उन्हें मतदाता कहते हैं तथा उनके इस अधिकार को मताधिकार कहते हैं। मताधिकार की प्रकृति के सम्बन्ध में सामान्यतः दो सिद्धान्त माने गये हैं प्रथम तो, यह कि जनता ही समस्त शक्ति का स्रोत है। अतः प्रत्येक नागरिक को, जो अपने दुश्चरित्र अथवा असमर्थता के कारण अयोग्य न ठहरा दिया गया हो, मताधिकार प्रदान किया जाना चाहिए। रूसो तथा मॉण्टेस्क्यू मताधिकार को व्यक्ति का प्राकृतिक अथवा जन्मसिद्ध अधिकार मानते हैं जो उसे राज्य का सदस्य होने के नाते प्राप्त होना चाहिए। रूसो ने कहा था कि, "प्रभुसत्ता जनता में निहित रहती है। फलस्वरूप प्रत्येक नागरिक का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि

---

1 "Laws and policies of the government concern all people and what toucheths all, should be decided by all."

—John Stuart Mill

उस प्रभुसत्ता के उपयोग में भाग ले।" मॉण्टेस्क्यू ने भी लिखा है कि "समस्त व्यक्तियों को अपने प्रतिनिधियों के निर्वाचन में मतदान का अधिकार होना चाहिए। उन लोगों को इस अधिकार से वंचित किया जा सकता है जिनकी दशा इतनी हीन हो कि उनकी अपनी कोई इच्छा ही न हो।" द्वितीय सिद्धान्त यह है कि मताधिकार एक विशेषाधिकार के साथ साथ एक सार्वजनिक कर्त्तव्य भी है जो सामाजिक हित की दृष्टि से नागरिकों को प्रदान किया जाता है। ब्लुशली, जॉन स्टुअर्ट मिल, लेकी और सर हेनरी मेन आदि विचारकों का मत है कि अधिकांश में समाज का कल्याण मताधिकार के सदुपयोग पर ही निर्भर है, इसलिए यह अधिकार ऐसे लोगों को ही दिया जाना चाहिए जो सुयोग्य हो तथा जिनमें इस अधिकार के सम्पादन की क्षमता हो।

प्रो॰ शेपर्ड (Shepard) ने इनके अतिरिक्त मताधिकार के तीन प्रमुख सिद्धान्तों का वर्णन किया है जो समय-समय पर प्रचलित रहे हैं (1) कबायली सिद्धान्त जो प्राचीन काल के नगर राज्यों में प्रचलित था और जिसके अनुसार मताधिकार राज्य की सदस्यता का आवश्यक गुण माना जाता था, (2) सामन्ती सिद्धान्त जिसके अनुसार मताधिकार केवल भूमि-स्वामियों का ही प्राप्त था, (3) नैतिक सिद्धान्त जिसके अनुसार मताधिकार व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक साधन माना जाता है। वर्तमान समय में यह सिद्धान्त ही अधिक प्रचलित है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि मताधिकार एक ऐसा विशेषाधिकार है जो व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है तथा जिसका उपयोग समाज हित में ही किया जाना चाहिए। गार्नर ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि, "मताधिकार एक पद या कार्य है जो राज्य द्वारा ऐसे व्यक्तियों को प्रदान किया जाता है जो सार्वजनिक हित या कल्याण के लिए उसका प्रयोग करने [redacted] योग्य समझे जाते हैं। यह एक प्राकृतिक अधिकार नहीं है जो बिना किसी भेदभाव के समस्त नागरिकों को प्रदान कर दिया जाये।"[1]

सार्वजनिक वयस्क मताधिकार
(Universal Adult Suffrage)

सार्वजनिक वयस्क मताधिकार का अर्थ—सार्वजनिक वयस्क मताधिकार का तात्पर्य यह है कि पागल, दिवालिया, भयंकर अपराधी तथा अन्य ऐसे ही दुश्चरित्र अथवा असमर्थता वाले व्यक्तियों को छोड़कर देश के सभी वयस्क व्यक्तियों को मताधिकार

1 "It [redacted] an office or function which is conferred by the state upon only such persons as are believed [redacted] be most capable of excercising it for the public good and not a natural right which belongs without distinction to all citizens of the state"—Garner

बातों पर भली प्रकार विचार विमर्श कर सकें तथा विवेकपूर्ण निर्णय ले सकें। ऐसे व्यक्ति भावनाओं में बहकर निर्वाचन के समय जाति, धर्म तथा अन्य ऐसी ही बातों के आधार पर अपना मत देते हैं। अतः ऐसे व्यक्तियों को मताधिकार देना उचित नहीं कहा जा सकता है। इसलिए जॉन स्टुअर्ट मिल ने यह विचार प्रकट किया कि, "'मताधिकार को सार्वजनिक बनाने से पूर्व सभी को शिक्षित बनाना अत्यन्त आवश्यक है।"[1]

(3) **भ्रष्टाचार को बढ़ावा**—प्रायः अधिकतर मतदाता निर्धन होते हैं। वे सदैव धन की कमी के कारण दुःखी रहते हैं तथा अपने परिवार के लिए भोजन की व्यवस्था करने में ही व्यस्त रहते हैं। ऐसी स्थिति में धनी लोग धन का लालच देकर उनके बहुमूल्य मत को आसानी से खरीद सकते हैं। इस तरह वयस्क मताधिकार से भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलने का भय है।

(4) **शासन सम्बन्धी समस्याओं की जटिलता**—वर्तमान समय में शासन की समस्याएँ इतनी जटिल हो गई हैं कि जनसाधारण के लिए उनको समझना अत्यन्त कठिन है। इसके अतिरिक्त उनके पास इतना समय भी नहीं होता कि वे शासन की समस्याओं पर विचार कर सकें तथा विवेकपूर्ण निर्णय ले सकें। ऐसी स्थिति में वे व्यक्तियों तथा राजनीतिक दलों के आकर्षक नारों तथा प्रचार से प्रभावित होकर चाहे जिसको अपना मत दे देते हैं। लॉस्की ने लिखा है कि, "**वयस्क मताधिकार की स्थिति में जनता स्वार्थी व्यक्तियों तथा संगठनों के बहकावे में आकर मत देगी।**"

(5) **मताधिकार एक राष्ट्रीय कर्तव्य**—मताधिकार केवल एक अधिकार ही नहीं है अपितु यह एक सामाजिक उत्तरदायित्व तथा पवित्र राष्ट्रीय कर्त्तव्य भी है। अतः इसका प्रयोग बहुत ही सोच-समझकर तथा सावधानी के साथ किया जाना चाहिए। यह तभी सम्भव है जबकि मताधिकार सभी वयस्कों को प्रदान न करके केवल ऐसे लोगों को ही दिया जाये जो उसका सही प्रयोग करने की योग्यता रखते हों।

(6) **प्रगति के मार्ग में बाधक**—सर हेनरी मेन का विचार है कि साधारण जनता अज्ञानी होने के कारण प्रायः रूढ़िवादी होती है, इसलिए वह सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में आधुनिक प्रगति पसन्द नहीं करती। यदि उसके मतानुसार कार्य किया जाय तो सम्भवतः नई वैज्ञानिक खोजों का लाभ उठाना ही कठिन हो जायेगा। अतः वयस्क मताधिकार के कारण बहुत सी प्रगतिशील बातों पर रोक लग जायगी।

(7) **अविवेकपूर्ण विचार**—वयस्क मताधिकार के सिद्धान्त को आलोचकों ने अविवेकपूर्ण विचार बताया है। इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए प्रसिद्ध इतिहासकार मेकाले ने कहा है कि '**वयस्क मताधिकार एक व्यापक लूट है और**

---

1 "Universal teaching must precede universal enfranchisement."
—J. S. Mill

यदि इंगलैण्ड में इस सिद्धान्त को लागू किया गया तो कुछ अर्द्धनग्न मधुर योरोप के महान नगरों के खण्डहरों को उल्लुओं तथा लोमड़ियों के साथ बाँट लेंगे।"[1] इसी प्रकार लेवेलिए का मत है कि, "वयस्क मताधिकार के परिणामस्वरूप स्वतन्त्रता, *व्यवस्था और सभ्यता का अन्त हो जायेगा।" उनका कहना था कि, "अज्ञानियों को* मताधिकार देने का परिणाम यह होगा कि पहले अराजकता फैलेगी और फिर निरंकुश शासन कायम होगा।"[2] सर जेम्स स्टीफन का विचार था कि, "वयस्क मताधिकार बुद्धिमत्ता और मूर्खता के सही तथा स्वाभाविक सम्बन्ध को उलट देता है।"

निष्कर्ष—वयस्क मताधिकार के आलोचकों की आशंकाएँ निराधार सिद्ध हुई हैं और मताधिकार के प्रसार से वे भयंकर परिणाम नहीं निकले हैं जिनकी उन्होंने कल्पना की थी। टी. ई. स्मिथ के अनुसार "एशिया अफ्रीका व पश्चिमी द्वीप समूहों का संयुक्त अनुभव स्पष्ट रूप से यह प्रदर्शित करता है कि व्यापक शिक्षा, एवं साक्षरता वयस्क मताधिकार की सफलता के लिए आवश्यक शर्त नहीं है। मतदान एवं निर्वाचन की उपयुक्त पद्धति में अल्पविकसित देशों का एक पिछड़ा किसान भी अपने मत का अपनी पसन्द के उम्मीदवार के लिए उसी बुद्धिमत्ता से प्रयोग कर सकता है, जैसे पश्चिमी लोकतन्त्रों में एक श्रमिक करता है।" अतः वयस्क मताधिकार का विरोध उचित नहीं माना जा सकता है। लास्की ने ठीक ही कहा है कि "वयस्क मताधिकार का कोई विकल्प नहीं है।"

अल्पवयस्कों का प्रतिनिधित्व
(Minority Representation)

किसी भी लोकतान्त्रिक देश के शासन में अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व मिलना अत्यन्त आवश्यक है। यह प्रतिनिधित्व अल्पसंख्यक जातियों के धार्मिक, सामाजिक, भाषागत, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनीतिक अधिकारों एवं हितों की रक्षा के लिए आवश्यक है। अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व का समर्थन करते हुए जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपनी पुस्तक 'प्रतिनिधि शासन' (Representative Government) में लिखा है कि "यह लोकतन्त्र का सारभूत तत्त्व है कि अल्पसंख्यकों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। इसके अभाव में सच्चा लोकमत सम्भव नहीं वरन यह लोकतन्त्र का मिथ्या प्रदर्शन मात्र ही होगा।" मिल ने इस बात पर खेद प्रकट किया है कि वर्तमान लोकतन्त्र जनता द्वारा शासन नहीं है अपितु यह तो केवल बहुसंख्यकों का प्रतिनिधि

1 "A few half naked Fishermen would divide with the owls and foxes the ruins of the greatest of Europe in cities —Macaulay

2 "The result of adult suffrage will be the loss of liberty of order and of civilization Give the suffrage to the ignorant and they will fall into anarchy today and into despotism tomorrow

—Laveleye

शासन है। मिल का विचार था कि "प्रतिनिधि-प्रणाली में बहुमत को शासन करना चाहिए और अल्पसंख्यकों को उसकी इच्छा के सामने झुकना चाहिए परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व हो न हो। एक सच्चे समान लोकतन्त्र में प्रत्येक वर्ग को आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिए।" लैकी ने भी लोकतन्त्र को वास्तविक एवं प्रभावदायक बनाने हेतु इस बात पर जोर दिया है कि "अल्पसंख्यकों को उनके अनुपात के अनुसार प्रतिनिधित्व अवश्य मिलना चाहिए।"

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह कहते हैं कि अल्पसंख्यक वर्गों को समुचित प्रतिनिधित्व देने के बाद ही सच्चा लोकतन्त्र कायम हो सकता है। जब तक ऐसा नहीं होगा, वह समान शासन न होकर असमान तथा विशेषाधिकार भोगी समुदाय का शासन होगा जो लोकतन्त्र के सिद्धान्त के प्रतिकूल है। डिग्वी (Duguit) ने ठीक ही लिखा है कि, "संसार में वे सब तत्त्व विद्यमान होने चाहिए जो राष्ट्र में विद्यमान हैं।"

अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने की पद्धतियाँ

अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व प्रदान करने की दृष्टि से समय समय पर अनेक पद्धतियों का प्रतिपादन किया गया है। इन पद्धतियों में आनुपातिक प्रतिनिधित्व, सीमित मतदान प्रणाली संचित अथवा एकत्रित मतदान प्रणाली, द्वितीय मतपत्र प्रणाली, वेकल्पिक मत प्रणाली पृथक निर्वाचन प्रणाली, तथा सुरक्षित स्थान युक्त संयुक्त निर्वाचन प्रणाली अधिक प्रमुख हैं। आनुपातिक प्रतिनिधित्व तथा अन्य प्रणालियों में मुख्य अन्तर यह है कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व में तो अल्पसंख्यक वर्गों को उनके मतों की संख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व मिल जाता है जबकि अन्य प्रणालियों में अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व तो अवश्य मिल जाता है परन्तु यह आवश्यक नहीं होता कि यह प्रतिनिधित्व उनके मतों की संख्या के अनुपात में ही हो।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व
(Proportional Representation)

आनुपातिक प्रतिनिधित्व का तात्पर्य सभी वर्गों को उनके मतों की संख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व प्रदान करना है। स्ट्रांग के मतानुसार आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के तीन मुख्य लक्षण हैं प्रथम, इसमें बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र होते हैं, द्वितीय इसमें कोई भी उम्मीदवार केवल स्पष्ट बहुमत प्राप्त करने पर ही नहीं अपितु एक निश्चित संख्या में मत प्राप्त करने पर ही निर्वाचित माना जाता है, तृतीय इसके अन्तर्गत अल्पसंख्यकों को ठीक अनुपात में प्रतिनिधित्व मिल जाता है। आनुपातिक प्रतिनिधित्व की दो प्रणालियाँ प्रमुख हैं (1) एकल संक्रमणीय मत प्रणाली (Single Transferable Vote System), तथा (2) सूची-प्रणाली (List System)।

एकल संक्रमणीय मत प्रणाली—इस पद्धति का प्रतिपादन सर्वप्रथम सन् 1851 ई० में एक अंग्रेज विचारक टॉमस हेयर (Thomas Hare) ने किया था। इसलिए इस प्रणाली को हेयर प्रणाली भी कहा जाता है। इस पद्धति का प्रयोग

सर्वप्रथम, डेनमार्क में वहाँ के एक मन्त्री कार्ल एण्ड्रे के द्वारा किया गया, इसलिए इसे एण्ड्रे प्रणाली (Andrai System) भी कहा जाता है। इस प्रणाली में मतों का हस्तान्तरण किया जाता है, इसलिए इस प्रणाली को एकल सक्रमणीय मत प्रणाली कहा जाता है।

इस प्रणाली के मुख्य लक्षण इस प्रकार हैं प्रथम, इस प्रणाली के लिए बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों का होना आवश्यक है अर्थात प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से एक से अधिक सदस्यों का चुनाव होना है। द्वितीय इसमें प्रत्येक मतदाता को केवल एक ही मत देने का अधिकार प्राप्त होता है परन्तु वह मतपत्र पर उम्मीदवारों के नाम के सम्मुख (1, 2, 3, 4, आदि लिखकर) उनकी पसन्द (preferences) अंकित कर सकता है जितने प्रतिनिधि उस निर्वाचन क्षेत्र से चुने जाने हैं। उदाहरणार्थ, यदि एक निर्वाचन क्षेत्र में दस उम्मीदवार चुनाव में खड़े हो गये हैं परन्तु उस निर्वाचन क्षेत्र से केवल चार प्रतिनिधि चुने जाते हैं तो प्रत्येक मतदाता को यह अधिकार है कि वह इन सभी उम्मीदवारों में से जिसे सबसे अधिक उपयुक्त समझता है, उसके नाम के आगे मतपत्र पर 1 लिखकर अपनी पहली पसन्द अंकित कर सकता है। इसी प्रकार वह उससे कम उपयुक्त उम्मीदवारों के नाम के आगे क्रमश 2, 3, 4 लिखकर अपनी पसन्द अंकित कर सकता है। तृतीय इस प्रणाली में प्रत्येक उम्मीदवार को निर्वाचित होने के लिए मतों की एक निश्चित सख्या (quota) प्राप्त करनी होती है। यह निश्चित मत सख्या निकालने के लिए जो विधि काम में लाई जाती है उसका वर्णन नीचे किया जायगा। चतुर्थ, इस प्रणाली में मतगणना के समय अतिरिक्त तथा अनावश्यक मतों का हस्तान्तरण किया जाता है।

अब हम इस बात का वर्णन करेंगे कि इस प्रणाली में निश्चित मतसख्या किस प्रकार निकाली जाती है तथा मतगणना में मतों का हस्तान्तरण किस प्रकार होता है।

निश्चित मत सख्या (quota)—इस प्रणाली में निश्चित मत सख्या, जिसे अंग्रेजी में 'कोटा' कहते हैं निकालने के लिए दो विधियाँ काम में लाई जाती हैं। पहली विधि का प्रयोग हेयर ने किया। हेयर के अनुसार निश्चित मत सख्या निकालने के लिए कुल वैध मतों की सख्या को निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की सख्या से विभाजित कर दिया जाए। उदाहरणार्थ, यदि किसी निर्वाचन क्षेत्र में 4 प्रतिनिधि चुने जाने हैं तथा चुनाव में कुल 10 000 वैध मत पड़े तो प्रत्येक प्रतिनिधि को निर्वाचित होने के लिए जो निश्चित मत सख्या प्राप्त करनी है, वह $\frac{10,000}{4} = 2500$ होगी। किन्तु इस विधि के कारण निर्वाचन परिणाम में कुछ अशुद्धियाँ रह जाती थी। इस कारण ड्रूप ने इस विधि में थोड़ा संशोधन करके एक नई विधि का प्रतिपादन किया। आजकल निश्चित मत सख्या निकालने के लिए ड्रूप द्वारा प्रतिपादित विधि ही अधिक प्रचलित है। इस विधि का सूत्र रूप में निम्नलिखित ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है

$$\text{निश्चित मत सख्या (चुनाव अंक)} = \frac{\text{वैध मतों की कुल सख्या}}{\text{निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की सख्या} + 1} + 1$$

मान लीजिए [redacted] मतों की संख्या=10 000						स्थान 4				चुनाव अंक [redacted] कोटा $\frac{10,000}{4+1}+1=2,001$
		दूसरी गणना		तीसरी गणना		चौथी गणना		पाँचवीं गणना		
उम्मीदवारों के नाम	पहली गणना	क अतिरिक्त मतों का हस्तान्तरण	परिणाम	ग के अनावश्यक मतों का हस्तान्तरण	परिणाम	ङ के अनावश्यक मतों का हस्तान्तरण	परिणाम	छ के अनावश्यक मतों का हस्तान्तरण	परिणाम	चुनाव परिणाम का क्रम
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11
क	2,800	—799	2,001		2,001		2,001		2,001	(1) निर्वाचित
ख	900	+199	1,099		1,099	+200	1,299	+500	1,799	
ग	500		500	—500	—		—		—	
घ	1,400	+400	1,800		1,800	+100	1,900	+101	2,001	(2) निर्वाचित
ङ	600		600		600	—600	—		—	
च	1,500	+200	1 700	+301	2,001		2,001		2,001	(3) निर्वाचित
छ	700		700		700		700	—700	—	
ज	1,600		1,600	+199	1,799	+202	2,001		2,001	(4) निर्वाचित
बेकार या खराब मत						+ [redacted]		+ 99		
योग	10,000	—	10,000	—	10,000	—	10,000	—	10,000	

उदाहरणार्थ, यदि कुल वैध मतों की संख्या एक लाख है तथा उस निर्वाचन क्षेत्र से चार प्रतिनिधि चुने जाने है तो निश्चित मत संख्या $\frac{100000}{4+1}+1=$ 20,001 होगी। इस विधि में अशुद्धियाँ कम होती हैं।

मतगणना—जैसा कि ऊपर कहा गया है कि सबसे पहले चुनाव अंक अथवा कोटा निकाल लिया जाता है। इसके पश्चात् सभी उम्मीदवारों को प्राप्त उनकी पहली पसन्द की गणना की जाती है और जो उम्मीदवार निश्चित मत संख्या (कोटा) के बराबर या उससे अधिक मत प्राप्त कर लेते हैं, उनको निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है। यदि किसी उम्मीदवार ने निश्चित मत संख्या से अधिक प्राप्त किये हैं तो उनके ये 'अतिरिक्त मत' (Surplus Votes) उन पर अंकित दूसरी पसन्द के अनुसार उम्मीदवारों को हस्तान्तरित कर दिये जाते हैं। यदि इस प्रकार सारे स्थान भर जाते हैं तो आगे मतगणना नहीं की जाती और यदि कोई स्थान रिक्त रह जाते हैं तो सफल उम्मीदवारों की तीसरी और आवश्यकता पड़ने पर चौथी पसन्द भी इसी प्रकार हस्तान्तरित की जाती है। यदि इसके पश्चात् भी कोई स्थान रिक्त रह जाता है तो ऐसी स्थिति में जिस उम्मीदवार को सबसे कम मत प्राप्त हुए हैं, उसे हारा हुआ घोषित कर दिया जाता है और उसके मतों को उन पर अंकित क्रमशः दूसरी तीसरी तथा चौथी पसन्दों के अनुसार उम्मीदवारों को हस्तान्तरित कर दिया जाता है। नीचे से उम्मीदवारों के नाम को हटाने तथा उनके मतों को उपरोक्त ढंग से हस्तान्तरित करने का यह क्रम तब तक जारी रहता है जब तक सभी स्थानों की पूर्ति नहीं हो जाती है। इस प्रकार अतिरिक्त एवं अनावश्यक मतों का हस्तान्तरण तथा सभी मतों का समुचित उपयोग इस प्रणाली की एक प्रमुख विशेषता है। इसे पृष्ठ 54 पर दी गई एक तालिका द्वारा भी स्पष्ट किया गया है।

सूची प्रणाली
(List System)

आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति का दूसरा रूप सूची प्रणाली है। इस प्रणाली के अन्तर्गत सम्पूर्ण राज्य का बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से साधारणतया 15-20 सदस्य चुने जाते हैं। कभी-कभी पूरे राज्य को एक ही निर्वाचन क्षेत्र मान लिया जाता है। इस प्रणाली में चुनाव व्यक्तिगत आधार पर नहीं बल्कि दलीय आधार पर लड़ा जाता है। इसमें विभिन्न राजनीतिक दल प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र के लिए अलग अलग उतने उम्मीदवारों की सूची तैयार करते हैं जितने प्रतिनिधि उस निर्वाचन क्षेत्र से चुने जाने होते हैं। प्रत्येक मतदाता को उस निर्वाचन क्षेत्र से चुने जाने वाले प्रतिनिधियों की संख्या के बराबर मत देने का अधिकार होता है परन्तु मतदाता किसी भी उम्मीदवार को एक से अधिक मत नहीं दे सकता। इसके अतिरिक्त, मतदाता अपना मत एक दल की पूरी सूची के पक्ष में देता है, व्यक्तिगत उम्मीदवारों को नहीं। मतगणना के समय प्रत्येक

दल की सूची को प्राप्त वैध मतों की गणना कर ली जाती है तथा सीटों के वितरण के लिए कुल वैध मतों के योग को निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की संख्या से विभाजित कर दिया जाता है और इस प्रकार चुनाव अंक अथवा कोटा निकाल लिया जाता है। प्रत्येक राजनीतिक दल को जिस अनुपात में मत प्राप्त होते हैं, उसी के अनुपात में उस दल के उतने ही उम्मीदवार निर्वाचित मान लिए जाते हैं। प्रत्येक दल के कौन से उम्मीदवार निर्वाचित माने जाएँ यह उस दल की सूची में दिये गये नामों के क्रम के आधार पर तय किये जाते हैं।[1]

एक उदाहरण द्वारा सूची प्रणाली की प्रक्रिया को स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए कि किसी निर्वाचन क्षेत्र से 20 प्रतिनिधि चुने जाने हैं तथा जनता पार्टी कांग्रेस, साम्यवादी दल तथा मार्क्सवादी दलों ने अपने-अपने उम्मीदवारों की सूचियाँ तैयार की हैं। चुनाव में पड़ने वाले कुल वैध मतों की संख्या 10,00,000 है तो ऐसी स्थिति में निर्वाचन अंक $\frac{1000000}{20} = 50,000$ हुआ। यदि जनता पार्टी को पाँच लाख, कांग्रेस को तीन लाख, साम्यवादी दल को एक लाख तथा मार्क्सवादी दल को एक लाख मिलते हैं तो उनके क्रमश 10, 6, 2, 2 प्रतिनिधि निर्वाचित माने जायेंगे। यह प्रणाली बेल्जियम स्वीडन, डेनमार्क तथा स्विट्जरलैण्ड में प्रचलित है।

सूची प्रणाली का सबसे बड़ा गुण यह है कि यह प्रणाली मतदाताओं के दृष्टि-कोण से बहुत सरल है। इसमें प्रत्येक राजनीतिक दल को अपने मतों की संख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व मिल जाता है। इसके अतिरिक्त यह प्रणाली खर्चीली भी कम है। परन्तु इस प्रणाली में गुणों की तुलना में दोष अधिक हैं। इसमें प्रतिनिधियों तथा मतदाताओं में कोई सीधा सम्बन्ध नहीं रहता है। प्रतिनिधि अपने निर्वाचन क्षेत्र के प्रति उत्तरदायित्व अनुभव नहीं करते। यह प्रणाली कठोर दलीय व्यवस्था पर ज़ोर देती है। इसमें व्यक्ति का महत्त्व कम हो जाता है तथा राजनीतिक दलों और उनके नेताओं का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ जाता है। यह प्रणाली बड़े देशों के लिए अव्याव-हारिक भी है।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व के गुण—आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के समर्थकों ने इसकी बहुत अधिक प्रशंसा की है। उनके अनुसार इस प्रणाली में निम्नलिखित गुण हैं

(1) **अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व**—इस पद्धति के अन्तर्गत सभी अल्पसंख्यक वर्गों को उनके मतों की संख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है। अतः यह पद्धति न्यायपूर्ण है और इसके अन्तर्गत व्यवस्थापिका लोकमत की वास्तविक प्रतिबिम्ब बन जाती है।

(2) **पूर्णतः लोकतन्त्रीय पद्धति**—इस पद्धति में बहुसंख्यक दल तथा अल्प-संख्यक वर्गों को व्यवस्थापिका में उनके अनुपात में स्थान मिल जाता है। इस कारण

व्यवस्थापिका राज्य की वास्तविक प्रतिनिधि संस्था बन जाती है। इसके कारण बहुमतवाला दल निरंकुश नहीं हो पाता तथा अल्पसंख्यकों के अधिकार भी सुरक्षित रहते हैं। लार्ड एक्टन के अनुसार, "यह प्रणाली पूर्णत लोकतन्त्रीय है। **इसमे मतदाताओं के मत व्यर्थ नहीं जाते और अधिकांश मतदाताओं को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है।"**

(3) **मतदाताओं को अधिक स्वतन्त्रता**—इस पद्धति मे मतदाताओं को अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्रता रहती है। इसमे मतदाताओं को यह स्वतन्त्रता रहती है कि वे अपनी रुचि के, जितने प्रतिनिधि उस निर्वाचन क्षेत्र से चुने जाते हैं, उतने उम्मीदवारों के समक्ष अपनी पसन्द अंकित कर सकते है। शुल्ज के अनुसार, "**एकल संक्रमणीय मत पद्धति निर्वाचकों को अपनी पसन्द के उम्मीदवार चुनने में सबसे अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करती है।"**[1]

(4) **राजनीतिक शिक्षा**—इस पद्धति को अपनाने से मतदाताओं को विशेष राजनीतिक शिक्षा मिलती है। उन्हें सार्वजनिक नीतियों को समझने के अधिकार मिलते हैं, इस कारण वे सार्वजनिक जीवन के प्रति उदासीन भी नहीं रह पाते।

(5) **वास्तविक अर्थ में बहुमतयुक्त शासन**—हैलेट के अनुसार, *इस प्रणाली* के अन्तर्गत बहुसंख्यक वर्ग के शासन की गारन्टी रहती है जबकि चुनाव की दूसरी प्रणालियों में इस बात की कोई गारन्टी नहीं होती कि जिस दल को चुनाव में सबसे अधिक स्थान प्राप्त हुए हैं, उसे मतदाताओं के बहुमत का भी समर्थन प्राप्त हो।

(6) **अल्पसंख्यकों में सुरक्षा की भावना**—अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व प्रदान कर तथा बहुमत की निरंकुशता पर रोक लगाकर यह पद्धति अल्पसंख्यकों में सुरक्षा की भावना उत्पन्न करती है। इससे उनके हितों की भी रक्षा होती है।

(7) **राजनीतिक भ्रष्टाचार में कमी**—आनुपातिक प्रतिनिधित्व राजनीतिक भ्रष्टाचार तथा गैरीमैण्डरिंग (Gerrymandering) की बुराइयों को भी समाप्त करने में सहायक हुआ है। गैरीमैण्डरिंग वह बुराई है जिसके अनुसार शासक दल अपने दल को लाभ पहुँचाने के उद्देश्य से निर्वाचन-क्षेत्रों में मनमाने तरीके से परिवर्तन करता है। गैरीमैण्डरिंग एक-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों में ही अपनाया जा सकता है जबकि इस पद्धति में बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र होते हैं।

(8) **चुनाव में धोखाधड़ी तथा द्वेष-भाव नहीं**—चुनाव की अन्य पद्धतियों में धोखाधड़ी चल जाती है परन्तु इस पद्धति में इस प्रकार के अवसर कम होने के कारण धोखाधड़ी नहीं चल पाती। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली को अपनाने से

---

1 'The single transferable vote system grants the individual voter the maximum possible freedom in the choice of candidates."

—L. B. Schulz

चुनाव में आपसी द्वेष समाप्त होता है तथा सद्भाव और सहयोग की भावनाएँ विकसित होती हैं।

(9) **व्यवस्थापिका को उच्च स्थान**—यह प्रणाली कार्यपालिका की निरंकुशता को नियन्त्रित करती है तथा कार्यपालिका की तुलना में व्यवस्थापिका को उच्च स्थान प्रदान करती है। इसका कारण यह है कि प्रणाली में दलगत संगठन का प्रभाव कम हो जाता है तथा सभी राजनीतिक दलों के सर्वोत्तम व्यक्ति ही निर्वाचित होते हैं।

(10) **अन्य गुण**—हैलेट के अनुसार इस प्रणाली के अन्तर्गत नेतृत्व के विकास में बहुत सहायता मिलती है। इस प्रणाली को अपनाने से शासन में स्थायित्व आ जाता है।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व के दोष—आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली की अनेक आलोचकों द्वारा कड़ी आलोचना की गई है। इसके आलोचकों में प्रो० लॉस्की, स्ट्रांग तथा फाइनर अधिक प्रमुख हैं। विभिन्न विचारकों द्वारा इस प्रणाली में निम्नलिखित दोष बताए जाते हैं

(1) **अत्यन्त जटिल पद्धति**—चुनाव की यह पद्धति अत्यन्त जटिल है तथा साधारण व्यक्ति इसे नहीं समझ सकता। इसमें मतों को गिनने की प्रक्रिया तो और भी अधिक कठिन है।

(2) **शासन में अस्थिरता**—इस प्रणाली में अनेक राजनीतिक दल होने के कारण व्यवस्थापिका में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त करना कठिन होता है। इसका परिणाम यह होता है कि कोई भी राजनीतिक दल अकेले मन्त्रिमण्डल का निर्माण नहीं कर सकता। फलस्वरूप संयुक्त मन्त्रिमण्डलों का निर्माण होता है जिसके कारण शासन में अस्थिरता बनी रहती है।

(3) **प्रतिनिधि और मतदाताओं में सम्पर्क का अभाव**—इस प्रणाली के अन्तर्गत निर्वाचन-क्षेत्र बड़े बड़े होने के कारण प्रतिनिधियों और मतदाताओं के बीच प्रत्यक्ष तथा व्यक्तिगत सम्पर्क नहीं रह पाता। ऐसी स्थिति में प्रतिनिधि व्यक्तिगत रूप से न तो मतदाताओं के कष्टों से ही परिचित होते हैं और न वे उस निर्वाचन-क्षेत्र के विकास के लिए अपने को ही उत्तरदायी मानते हैं। डा० फाइनर का कथन है कि, "इस प्रणाली को अपनाने से मतदाताओं और प्रतिनिधि में जो निकट सम्पर्क और सद्भाव होते हैं, वे नष्ट हो जायेंगे।"

(4) **दलीय प्रभाव में वृद्धि**—इस प्रणाली में निर्वाचन क्षेत्र बड़े होने के कारण उम्मीदवारों के लिए दल की सहायता के बिना स्वतन्त्र रूप से चुनाव लड़ना सम्भव नहीं है। अतः ऐसी स्थिति में दल और उसके नेताओं के प्रभाव में वृद्धि हो जाती है तथा सदस्यों के लिए स्वतन्त्र विचार बनाये रखना कठिन हो जाता है।

(5) **राजनीतिक दलों की संख्या में वृद्धि**—इस प्रणाली के अन्तर्गत छोटे-छोटे अल्पसंख्यक वर्गों को भी अपने पृथक संगठन बनाने के लिए प्रोत्साहन मिलता है

जिसके कारण देश मे राजनीतिक दलो और गुटो की भरमार हो जाती है। उदाहरण के लिए, जर्मनी के वीमर संविधान में आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति को अपनाने के कारण वहाँ राजनीतिक दलो की संख्या 30 से भी अधिक हो गई थी। लास्की ने ठीक ही लिखा है कि, **"इस प्रणाली के अन्तर्गत अनेक राजनीतिक दलो तथा गुटों का उदय हो जाता है।"**

(6) वर्गीय व्यवस्थापन को प्रोत्साहन—इस प्रणाली द्वारा निर्वाचित व्यवस्थापिका मे अनेक छोटे छोटे गुट बन जाते हैं जिसके कारण उसमें समस्याओ पर राष्ट्रीय हित की दृष्टि से नही बल्कि वर्गीय हितो की दृष्टि से विचार किया जाता है। विभिन्न अल्पसंख्यक वर्गों के लिए प्रतिनिधि ऐसे कानूनों के निर्माण पर अधिक जोर देते हैं जिनसे उनके वर्गीय हितो को संरक्षण मिले तथा उनकी अभिवृद्धि हो। सिजविक (Sidgwick) ने कहा है कि **"वर्गीय प्रतिनिधित्व आवश्यक रूप से दूषित वर्गीय व्यवस्थापन को प्रोत्साहित करता है।"**

(7) राष्ट्रीय एकता को खतरा—डायसी के मतानुसार इस प्रणाली के कारण समाज मे अनेक छोटे छोटे दल तथा वर्गीय गुट बन जाते है। इन गुटो के कार्यक्रम भी बहुत ही संकीर्ण होते है तथा ये अपने हितो पर ही अधिक जोर देते हैं। इनकी आपस की गुटबन्दी तथा स्वार्थ के कारण राष्ट्रीय एकता को खतरा उत्पन्न हो जाता है। प्रो० स्ट्रांग के अनुसार, **"आनुपातिक प्रतिनिधित्व संकीर्ण रूप से विचार करने को प्रोत्साहित करता है जो आवश्यक रूप से सामाजिक स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है।"**[1]

(8) उपचुनाव सम्भव नहीं—आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली मे बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र होने के कारण उपचुनावो के लिए कोई व्यवस्था सम्भव नहीं है। उपचुनाव लोकमत के दर्पण होते हैं। उनसे यह पता लग जाता है कि लोकमत सरकार के पक्ष मे है या विरुद्ध है। परन्तु जैसा कि डा० फाइनर ने लिखा है कि **"इस प्रणाली मे उपचुनाव सम्भव न होने के कारण यह जानने का कोई तरीका नहीं रहता कि लोकमत का रुख किधर है।"**

(9) आनुपातिक प्रतिनिधित्व आवश्यक नहीं—डायसी और लास्की दोनो का मत यह है कि एक अच्छी शासन प्रणाली के लिए यह आवश्यक नही है कि देश मे विद्यमान सभी वर्गों तथा हितो को व्यवस्थापिका मे प्रतिनिधित्व मिले। अल्पसंख्यकों की समस्याओ का समाधान उनको आनुपातिक प्रतिनिधित्व दिया जाना नही है अपितु उनके सामाजिक, आर्थिक तथा शैक्षणिक स्तर को ऊँचा उठाना है।

(10) उत्तरदायित्व की अनिश्चितता—आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति के कारण अनेक छोटे छोटे दलो का उदय हो जाता है जिसके कारण कई दल मिलकर

---

1 "It encourages minority thinking and break confidence which may positively inimical to social health"—C F Strong

'संयुक्त मन्त्रिमण्डल' बनाते हैं। ऐसी स्थिति में शासन की बुराइयों तथा उसकी असफलता के लिए किसी भी एक दल को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। मन्त्रिमण्डल में शामिल सभी दल इसके लिए एक-दूसरे को दोषी मानते हैं। इस प्रकार इस पद्धति में उत्तरदायित्व की अनिश्चितता रहती है।

प्रो० स्ट्रॉंग ने लिखा है कि, "सैद्धान्तिक दृष्टि से आनुपातिक प्रतिनिधित्व हो सभी तरह से श्रेष्ठ प्रतीत होता है परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं है।" प्रो० एस्मीन ने भी इस पद्धति की आलोचना करते हुए लिखा है कि, "आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति को अपनाने के परिणामस्वरूप व्यवस्थापिका की शक्तियों में अनावश्यक वृद्धि होगी मन्त्रिमण्डल अस्थिर होंगे, उनकी एकता समाप्त हो जायगी तथा संसदीय शासन अस्थायी बन जायेगा।"[1]

अन्य पद्धतियाँ—अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व प्रदान करने की अन्य मुख्य पद्धतियाँ निम्नलिखित हैं

(1) सीमित मतदान प्रणाली (Limited Vote System)—इस पद्धति में भी बहुसदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र होते हैं तथा प्रत्येक क्षेत्र में प्राय तीन या तीन से अधिक प्रतिनिधि चुने जाते हैं। इस पद्धति के अन्तर्गत प्रत्येक मतदाता को एक से अधिक, किन्तु निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की संख्या से कम मत देने का अधिकार होता है। उदाहरण के लिए यदि किसी निर्वाचन क्षेत्र में 5 प्रतिनिधि चुने जाते हैं तो प्रत्येक मतदाता को अधिक से अधिक 4 मत देने का अधिकार दिया जा सकता है किन्तु यह संख्या निश्चित कर दी जाती है। कोई भी मतदाता किसी उम्मीदवार को एक से अधिक मत नहीं दे सकता। इस पद्धति में यह लाभ तो है कि अल्पसंख्यकों को भी कुछ न कुछ प्रतिनिधित्व अवश्य मिल जाता है परन्तु इस बात की कोई गारण्टी नहीं है कि उन्हें उनकी जनसंख्या के अनुपात में ही प्रतिनिधित्व मिल जायेगा। वास्तविकता तो यह है कि इस पद्धति द्वारा केवल उन्हीं अल्पसंख्यक वर्गों को प्रतिनिधित्व मिलता है जो सुसंगठित होते हैं।

(2) संचित अथवा एकत्रित मतदान प्रणाली—(Cumulative Vote System)—यह प्रणाली सीमित मतदान प्रणाली के विपरीत है। इस प्रणाली में भी बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र आवश्यक होते हैं। प्रत्येक मतदाता को उतने मत देने का अधिकार होता है जितने प्रतिनिधि उस निर्वाचन क्षेत्र में चुने जाते हैं। इसमें मतदाता को इस बात की भी स्वतन्त्रता होती है कि वह चाहे तो अपने सारे मत किसी एक ही

1 "To establish the system of proportional representation is to convert the remedy supplied by bicameral system into ■ veritable poison, it is to render cabinets unstable, destroy their homogeneity and make parliamentary government unstable"
—Esmein

उम्मीदवार के पक्ष म दे दे अथवा विभिन्न उम्मीदवारो मे बाँट दे। इस प्रणाली की मुख्य विशेषता यह है कि इसमे अल्पसंख्यक वर्गों को इस बात का अवसर मिल जाता है कि वे अपने सारे मत अपने उम्मीदवार को देकर उसे निर्वाचित करा सकते हैं, परन्तु ऐसा होने पर भी इस बात की कोई गारण्टी नहीं है कि उन्हें उनकी जनसंख्या के अनुपात मे ही प्रतिनिधित्व मिल जाय।

(3) द्वितीय मतपत्र प्रणाली (Second Ballot System) प्रतिनिधित्व को अधिक वास्तविक बनाने को एक अन्य प्रणाली द्वितीय मतपत्र प्रणाली है। इस प्रणाली के अन्तर्गत जब किसी एक ही स्थान के लिए तीन या तीन से अधिक उम्मीदवार चुनाव म खडे हो तथा उनम से किसी को भी पूर्ण बहुमत, अर्थात् 50 प्रतिशत से अधिक मत प्राप्त न हो तो ऐसी स्थिति म प्रथम दो उम्मीदवारो को छोड़कर शेष का नाम हटा दिया जाता है तथा उन दो उम्मीदवारो के बीच दुबारा मतदान कराया जाता है। दूसरे मतदान मे प्रथम दो उम्मीदवारो म से जिसको पूर्ण बहुमत प्राप्त हो जाता है वह निर्वाचित मान लिया जाता है। इस पद्धति का प्रमुख लाभ यह है कि पूर्ण बहुमत प्राप्त किये बिना कोई प्रतिनिधि निर्वाचित नहीं माना जायेगा। परन्तु इस बात की कोई गारण्टी नहीं है कि इस प्रणाली द्वारा अल्पसंख्यको को उनके अनुपात म प्रतिनिधित्व मिल ही जाये।

(4) वैकल्पिक मत प्रणाली (Alternative Vote System) – प्रतिनिधित्व अधिक से अधिक वास्तविक हो इस दृष्टि से एक अन्य प्रणाली वैकल्पिक मत प्रणाली है। इस प्रणाली का प्रयोग एक सदस्यीय निर्वाचित क्षेत्रो मे ही किया जा सकता है। इसमे भी निर्वाचित होने के लिए पूर्ण बहुमत प्राप्त करना आवश्यक है। प्रत्येक मतदाता को केवल एक ही मत देने का अधिकार होता है, परन्तु उसे इस बात का भी अवसर रहता है कि वह अपनी पहली पसन्द के अतिरिक्त अपनी दूसरी तथा तीसरी पसन्द भी अंकित कर दे। मतगणना के समय सबसे पहले उम्मीदवारो की पहली पसन्द की गणना की जाती है और यदि किसी उम्मीदवार को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो जाता है तो वह निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है। ऐसा न होने पर सबसे कम मत प्राप्त करने वाले उम्मीदवार का नाम हटा दिया जाता है तथा उसके मत उन पर अंकित दूसरी पसन्द के अनुसार उम्मीदवारो मे बाँट दिये जाते हैं। नाम हटाने तथा मतों को हस्तान्तरित करने की प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक किसी एक उम्मीदवार को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हो जाये। यह द्वितीय मतदान प्रणाली से अधिक श्रेष्ठ है क्योंकि इसमे द्वितीय मतदान की आवश्यकता नहीं होती।

(5) पृथक निर्वाचन प्रणाली (Separate Electorate System) — इस प्रणाली मे निर्वाचन क्षेत्रो का निर्माण धर्म अथवा सम्प्रदाय के आधार पर किया जाता है। इसके अन्तर्गत व्यवस्थापिका मे विभिन्न धर्मों अथवा सम्प्रदायो के लिए स्थान रक्षित कर दिये जाते हैं। एक सम्प्रदाय के लिए सुरक्षित स्थानो पर उसी सम्प्रदाय

के उम्मीदवार खड़े हो सकते हैं तथा उस सम्प्रदाय के लोगों के द्वारा ही उनका निर्वाचन किया जाता है। एक सम्प्रदाय के लोग दूसरे सम्प्रदाय के प्रतिनिधि के निर्वाचन क्षेत्र में भाग नहीं ले सकते। अंग्रेजों ने अपने शासनकाल में भारतीयों में 'फूट डालने' के उद्देश्य से इस प्रणाली को अपनाया था। उन्होंने मुसलमानों, सिक्खों तथा हरिजनों को पृथक प्रतिनिधित्व का अधिकार प्रदान किया था।

इस प्रणाली को अपनाने पर अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व तो अवश्य प्राप्त हो जाता है परन्तु इसमें कई गम्भीर दोष हैं। इसमें लोगों के अन्दर संकुचित भावना उत्पन्न होती है, राष्ट्रीय भावनाओं को आघात पहुंचता है, राष्ट्रविरोधी तथा पृथकत्व की भावना विकसित होती है, साम्प्रदायिकता का विष फैलता है तथा लोगों में पारस्परिक सहयोग और सहानुभूति की भावना के स्थान पर वैमनस्य की भावना बढ़ती है। अतः यह प्रणाली लोकतन्त्र के सिद्धान्तों के विरुद्ध है।

(6) **सुरक्षित स्थानयुक्त संयुक्त निर्वाचन प्रणाली** (*Joint Electorate with Reservation of Seats*)—इस प्रणाली के अन्तर्गत व्यवस्थापिका में अल्पसंख्यक जातियों के लिए संविधान द्वारा उनकी जनसंख्या के अनुपात में कुछ स्थान निश्चित कर दिये जाते हैं। इनमें धर्म अथवा सम्प्रदाय के आधार पर निर्वाचन-क्षेत्र नहीं बनाये जाते हैं। इन सुरक्षित स्थानों के लिए उम्मीदवार तो उन्हीं जातियों के होते हैं परन्तु उनका निर्वाचन केवल अल्पसंख्यकों के द्वारा ही नहीं किया जाता अपितु सभी मतदाताओं द्वारा किया जाता है। इस पद्धति का विशेष गुण यह है कि इसमें अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व भी मिल जाता है और साथ में राष्ट्रीय एकता भी सुरक्षित रहती है।

व्यावसायिक प्रतिनिधित्व
(Functional Representation)

अधिकांश देशों में प्रादेशिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को अपनाया गया है। इस सिद्धान्त की यह मान्यता है कि एक क्षेत्र में निवास करने वाले सभी व्यक्तियों के हित एक समान होते हैं और इसलिए उस क्षेत्र का एक प्रतिनिधि अपने क्षेत्र के सभी नागरिकों का प्रतिनिधित्व कर सकता है। परन्तु अनेक विद्वानों ने प्रतिनिधित्व के प्रादेशिक आधार की कड़ी आलोचना की है। उनका कहना है कि कोई मनुष्य जीवन के सभी क्षेत्रों में दूसरे मनुष्यों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता है। उनके अनुसार एक व्यवसाय में लगे हुए व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व उसी व्यवसाय का व्यक्ति अधिक अच्छी प्रकार कर सकता है। इसलिए प्रतिनिधित्व व्यवसाय के आधार पर होना चाहिए प्रादेशिक आधार पर नहीं। इस सिद्धान्त के समर्थकों में अंग्रेज विचारक कोल तथा वेब दम्पत्ति अधिक प्रमुख हैं।

व्यावसायिक प्रतिनिधित्व का समर्थन करते हुए श्रेणी समाजवादी विचारक कोल ने लिखा है कि, "संसद सब नागरिकों का सब बातों में प्रतिनिधित्व करने का दावा करती है परन्तु वस्तुतः वह किसी का किसी बात में प्रतिनिधित्व नहीं करती।

वास्तविक लोकतन्त्र की प्राप्ति एक सर्वशक्तिशाली प्रतिनिधि सभा द्वारा नहीं, अपितु व्यवसायों के आधार पर समायोजित प्रतिनिधि संस्थाओं की व्यवस्था द्वारा हो सकती है।"[1] उन्होंने अपनी एक दूसरी पुस्तक में तो यहाँ तक लिख दिया है कि "पूर्णतया शुद्ध और लोकतन्त्रीय प्रतिनिधित्व केवल व्यावसायिक प्रतिनिधित्व ही होता है। सर्वशक्तिमान संसद से युक्त सर्वशक्तिमान राज्य वास्तविक लोकतन्त्रीय समाज के लिए सर्वथा अनुपयुक्त होता है, अतः या तो उसका विनाश कर दिया जाना चाहिए अथवा बिना किसी कठिनाई के उसका विलय कर दिया जाना चाहिए।"[2] ग्राहम वालास (Graham Wallas) ने इस मत का प्रतिपादन किया कि "यदि लोक सदन का निर्माण प्रादेशिक प्रतिनिधित्व के आधार पर हो तो द्वितीय सदन में विभिन्न व्यवसायों के हितों को उचित प्रतिनिधित्व अवश्य मिलना चाहिए।" वेब दम्पत्ति ने अपनी एक पुस्तक में यह सुझाव दिया कि इंगलैण्ड में एक के स्थान पर दो संसद होनी चाहिए, एक सामाजिक तथा आर्थिक हितों से सम्बन्धित और दूसरी राजनीतिक हितों से सम्बन्धित होनी चाहिए।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के समर्थकों ने प्रादेशिक प्रतिनिधित्व पर आधारित राजनीतिक लोकतन्त्र के स्थान पर व्यावसायिक प्रतिनिधित्व पर आधारित व्यावसायिक लोकतन्त्र (Functional Democracy) का प्रतिपादन किया है।

व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की आलोचना—अनेक विचारकों ने व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त की कटु आलोचना की है। यह आलोचना मुख्य रूप से निम्नलिखित आधारों पर की गई है

(1) सम्प्रभुता के सिद्धान्त का खण्डन—सम्प्रभुता के सिद्धान्त के अनुसार राज्य की प्रभुसत्ता समस्त जनता में निहित होती है विभिन्न वर्गों में नहीं। व्याव-

---

1 ; The Parliament professes to represent all the citizens in all things and therfore as a rule, represents none of them in anything Real democracy is to be found not in a single omnicompetent representative assembly but in a system of co-ordinated functional representative bodies "— G D H. Cole . *Social Theory* p 207

2 "*All true and democratic representation is functional representation* The omnicompetent state with its omnicompetent parliament is utterly unsuitable to any really democratic community and must be destroyed or painlessly extinguished "

—G D. H Cole : *Guild Socialism Re-stated*, pp 32-34.

सायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को अपना लेने का तात्पर्य यह होता है कि हम सम्प्रभुता को विभाज्य मान लेते हैं।

(2) वर्ग-संघर्ष को प्रोत्साहन—यदि राष्ट्रीय व्यवस्थापिका में विभिन्न व्यवसायों के आधार पर प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाय तो इसका परिणाम यह होगा कि विभिन्न वर्ग अपने अपने हितों की साधना पर अधिक जोर देंगे जिससे राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा होगी। इसके कारण वर्ग-संघर्ष को प्रोत्साहन मिलेगा जो राष्ट्रीय एकता के लिए घातक होगा।

(3) व्यावसायिक हितों को अनावश्यक महत्त्व—यह सिद्धान्त व्यावसायिक और आर्थिक हितों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देता है। वस्तुतः व्यक्ति के समस्त हित नागरिक हित के अन्तर्गत आ जाते हैं, अतः राष्ट्रीय व्यवस्थापिका में व्यक्ति का प्रतिनिधित्व नागरिकता के आधार पर होना चाहिए, व्यवसाय के आधार पर नहीं। जैसा कि मैरियट ने कहा है कि "नागरिक का महत्त्व डाक्टर, वकील, बनिया तथा लुहार से कहीं अधिक है।" अतः राज्य का मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय हित-साधन होना चाहिए, न कि व्यवसायों के हितों की पूर्ति।

(4) सामाजिकता की भावना का विरोधी—सामाजिकता का सिद्धान्त यह है कि मनुष्य समाज में रहकर सामाजिक हितों के समक्ष व्यक्तिगत तथा वर्गीय हितों का त्याग करने के लिए तत्पर रहता है। परन्तु व्यावसायिक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त विभिन्न व्यावसायिक तथा वर्गीय हितों को सामाजिक हितों की तुलना में अधिक महत्त्व देता है, अतः यह सिद्धान्त सामाजिकता की भावना का विरोधी है।

(5) संकुचित दृष्टिकोण—व्यवस्थापिका के सदस्यों का दृष्टिकोण बहुत व्यापक एवं उदार होना चाहिए, परन्तु व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के आधार पर निर्वाचित प्रतिनिधियों का दृष्टिकोण संकुचित एवं अनुदार होगा क्योंकि वे सभी हितों तथा वर्गों का प्रतिनिधित्व न करके केवल अपने ही वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं।

(6) व्यावहारिक कठिनाइयाँ—व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को यदि सैद्धान्तिक दृष्टि से उचित मान भी लिया जाये तो भी उसके क्रियान्वन में अनेक कठिनाइयाँ हैं। प्रथम यदि इस सिद्धान्त के आधार पर व्यवस्थापिका को संगठित किया जाये तो उसमें कितने सदन बनाये जायें। द्वितीय, इन सब सदनों की शक्ति समान होगी अथवा किसी सदन की कम तथा किसी की ज्यादा होगी। तृतीय, एक ही व्यवसाय के व्यक्ति यदि अपने पेशे के व्यक्ति को अपना प्रतिनिधि चुनना पसन्द न करें, तो क्या उन्हें इसके लिए बाध्य किया जायेगा? चतुर्थ, ऐसे लोगों की क्या व्यवस्था की जायेगी जिनका कोई निश्चित व्यवसाय नहीं है। पंचम, इस आधार पर बने हुए सदनों की नीतियों तथा उनके कार्यक्रमों में कैसे समन्वय किया जायेगा। षष्ठम्, विभिन्न व्यवसायों के प्रतिनिधित्व का आधार क्या हो अर्थात् उन व्यवसायों की संख्या हो या महत्त्व। सप्तम्, विभिन्न व्यवसायों के प्रतिनिधियों की संख्या किस आधार पर निश्चित की जाये। अष्टम्, विशाल देशों में व्यवसाय के आधार पर किस

प्रकार निर्वाचन क्षेत्र बनाये जायें तथा किस प्रकार मतदान कराया जाये, इत्यादि। इन कठिनाइयों के समाधान के सम्बन्ध में कोई सर्वमान्य हल अभी तक नहीं निकला है।

निष्कर्ष उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि व्यावसायिक प्रतिनिधित्व में सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार की कठिनाइयाँ हैं और यही कारण है कि यह सिद्धान्त अभी तक लोकप्रिय नहीं हो पाया है। प्रो० लास्की ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त में इतनी गम्भीर त्रुटियाँ हैं कि यह प्रादेशिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली से किसी प्रकार भी श्रेष्ठ नहीं है।"[1] हेनरी मेयो ने दोनों प्रकार के प्रतिनिधित्वों की तुलना करते हुए लिखा है कि, 'हितों का प्रतिनिधित्व नागरिकों के मतभेदों पर जोर देकर उन्हें विभाजित करता है, जबकि क्षेत्रीय अथवा प्रादेशिक आधार पर प्रतिनिधित्व उनको संगठित करता है।"[2] प्रो० एस्मीन के शब्दों में "व्यावसायिक प्रतिनिधित्व एक धोखा तथा एक गलत सिद्धान्त है जो संघर्ष सन्देह और अराजकता तक को जन्म देगा।"[3]

आदर्श प्रतिनिधित्व के लिए आवश्यक शर्तें

आदर्श प्रतिनिधित्व के लिए निम्नलिखित शर्तों का होना आवश्यक है

(1) सभी वयस्कों को बिना किसी भेदभाव के मताधिकार प्राप्त होना चाहिए।

(2) प्रतिनिधियों का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से होना चाहिए।

(3) प्रतिनिधियों का निर्वाचन गुप्त मतदान प्रणाली के अनुसार होना चाहिए।

(4) अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिए जिससे उनके हितों की रक्षा हो सके।

(5) प्रतिनिधियों तथा मतदाताओं के बीच निकट सम्बन्ध होना चाहिए।

(6) चुनाव स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष होने चाहिए।

---

1 'The principle of functional representation has much serious weaknesses as to make it little, if any, better territorial representation "— **Laski**

2 "Representation of interests divides the citizens, stressing their differences while election on a territorial basis unites "

— **H B Mayo.**

3 "Functional representation is an illusion and false principle which would lead to struggles, confusion and even anarchy."

—**Esmein.**

(7) पृथक निर्वाचन प्रणाली देश के लिए घातक होती है, अत संयुक्त निर्वाचन प्रणाली अपनायी जानी चाहिए।

(8) उप-चुनावों की भी उचित व्यवस्था होनी चाहिए।

(9) व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के स्थान पर प्रादेशिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को अपनाया जाये।

(10) उम्मीदवार तथा मतदाता दोनों को संकुचित तथा दलीय हितों के स्थान पर राष्ट्रीय हितों को प्रमुखता देनी चाहिए।

अभ्यास के प्रश्न

1 सार्वजनिक वयस्क मताधिकार का अर्थ एवं उपयोगिता स्पष्ट कीजिए।

2 सार्वजनिक वयस्क मताधिकार के अर्थ को स्पष्ट कीजिए तथा उसके पक्ष और विपक्ष में तर्क दीजिए।

3. अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व के प्रमुख साधनों की संक्षेप में व्याख्या कीजिए।
(राजस्थान विश्व०, 1978)

4 आनुपातिक प्रतिनिधित्व व्यवस्था का परीक्षण कीजिए तथा इसके गुण और दोष बताइए।
(राजस्थान विश्व०, 1976)

5 अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने की विभिन्न प्रणालियों का वर्णन कीजिए।
(राजस्थान विश्व०, 1973)

6 अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व प्रदान करने की दृष्टि से एकल संक्रमणीय मत प्रणाली तथा सूची प्रणाली का मूल्यांकन कीजिए।

7. व्यावसायिक प्रतिनिधित्व से क्या तात्पर्य है ? किन आधारों पर इस सिद्धान्त की आलोचना की जाती है ?

8. निम्नलिखित पर संक्षेप में टिप्पणियाँ लिखिए
(क) संचित मत प्रणाली, (ख) सीमित मत प्रणाली, (ग) द्वितीय मत पत्र प्रणाली, (घ) पृथक निर्वाचन प्रणाली।

25

राजनीति विज्ञान की मुख्य अवधारणाएँ

[BASIC CONCEPTS OF POLITICAL SCIENCE]

"शक्ति के बिना सत्ता अप्रभावशील होती है। बिना सत्ता के शक्ति प्रभुत्व स्थापित कर सकती है किन्तु वह अस्वीकृत रहती है। यह कार्य राजनीति के माध्यम से विनियमित किया जाता है तथा इसके परिणाम-स्वरूप सत्ता और शक्ति में एकीकरण स्थापित हो जाता है।"

—एम जी स्मिथ

राजनीति विज्ञान के अध्ययन के प्रारम्भिक काल में विचारकों ने जिन धारणाओं को अपने विश्लेषण का आधार बनाया था उनकी प्रकृति आध्यात्मिक, अमूर्त एवं कल्पनात्मक अधिक थी। इसके अतिरिक्त उसके संस्थागत अध्ययन को भी पर्याप्त महत्व दिया गया था किन्तु जब से राजनीति विज्ञान के अध्ययन में मानवीय व्यवहार के अध्ययन को महत्व दिया जाने लगा है तब से इसके साथ अनेक नवीन धारणाएँ सम्बन्धित हो गई हैं। शक्ति प्रभाव सत्ता तथा औचित्यता आदि विभिन्न धारणाएँ आधुनिक काल की देन हैं। वर्तमान समय में राजनीति एक व्यवस्था का रूप धारण कर चुकी है। राजनीतिक प्रक्रियाओं पर समाज के विभिन्न वर्गों का जो प्रभाव पड़ता है उसे आज अधिक से अधिक महत्व प्रदान किया जाने लगा है।

राजनीति विज्ञान में शक्ति की अवधारणा
(The Concept of Power)

राजनीति विज्ञान में 'शक्ति' कोई सर्वथा नवीन तत्व नहीं है। प्राचीन काल से लेकर आज तक राजनीतिक विचारकों द्वारा राजनीति में शक्ति तत्व की प्रमुखता एवं प्रभाव को स्वीकार किया जाता रहा है। उनके अनुसार यही वह प्रमुख तत्व है जो राजव्यवस्था को प्रभावित करता है तथा मनुष्य के सार्वजनिक व्यवहार का निर्माण करता है। एस० एस० अलमर (S S Ulmer) के कथनानुसार, "सभी सामाजिक विज्ञानों में शक्ति की धारणा से इतना सम्बन्धित कोई भी नहीं है जितना कि राजनीति विज्ञान है। अरस्तू से लेकर आज तक के राजनीतिक लेखकों की विषय-वस्तु का विश्लेषण करने पर यह निःसन्देह स्पष्ट हो जाता है कि शक्ति इसमें एक केन्द्रीय धारणा रही, जिसके सहारे राजनीति विज्ञान को स्पष्ट करने का प्रयास

किया गया।"[1] श्री हार्टविल्म के अनुसार "राजविज्ञान केवल राज्यों या विशिष्ट संस्थाओं मात्र का ही अध्ययन नहीं है अपितु शक्ति की समस्या के अन्तर्गत सभी समुदायों की गवेषणा है।" केटलिन का कहना है कि "राजनीति शक्ति से अपृथक्करणीय है।" केटलिन राजनीति का शक्ति का विज्ञान मानता है जबकि मार्गेन्थो ने शक्ति को राजनीति की केन्द्रीय धारणा के रूप में स्वीकार किया है। बर्ट्रेण्ड रसल "शक्ति को समाज विज्ञान की मूलभूत अवधारणा मानते हैं।"

शक्ति का अर्थ एवं व्याख्या

आज राजनीतिशास्त्री इस बात पर तो प्रायः सहमत हो गये हैं कि शक्ति की प्रक्रिया समस्त राजनीतिक प्रक्रिया के लिए प्रमुख तत्व है किन्तु फिर भी वे शक्ति की सामान्य परिभाषा के सम्बन्ध में अभी तक सहमत नहीं हो सके हैं। राबर्ट डहल (Robert A. Dahl) का मत है कि शक्ति के अध्ययन की प्रमुख कठिनाई यह है इसके अनेक अर्थ होते हैं।

विभिन्न विद्वानों ने शक्ति की विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं जिनमें से कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं :

मैकाइवर के शब्दों में "शक्ति से हमारा अभिप्राय व्यक्तियों या व्यवहार को नियन्त्रित करने, विनियमित करने या निर्देशित करने की क्षमता से है।"

राबर्ट बायर्सटेड के अनुसार "शक्ति बल-प्रयोग की योग्यता है न कि उसका वास्तविक प्रयोग।"

डुर्खीम का कहना है "सामाजिक अन्तर्क्रियाओं की व्यवस्था के पीछे निहित तत्व को शक्ति समझना चाहिए।"

मार्गेन्थो मानते हैं कि "शक्ति में वह प्रत्येक वस्तु सम्मिलित है जिससे द्वारा मनुष्य के ऊपर नियन्त्रण स्थापित किया जाता है एवं बनाये रखा जाता है।"

राबर्ट डहल के अनुसार "शक्ति लोगों के बीच पारस्परिक सम्बन्धों की ऐसी विशेष स्थिति का नाम है जिसमें एक पक्ष दूसरे पक्ष को प्रभावित करके उससे ऐसे काम करवा लेता है जिन्हें वह अन्यथा नहीं करता।"

सिसमैन, रोवे (Rowe) तथा हरबर्ट साइमन राबर्ट डहल की तरह ही शक्ति को प्रभाव का पर्यायवाची तथा रूप मानते हैं। इनके अनुसार, "प्रभाव का प्रयोग करते समय स्वयं की अपेक्षा दूसरों की नीतियों को प्रभावित किया जाता है।" इस प्रक्रिया में प्रभावक एवं प्रभाव के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है।

---

1 Of all the Social Sciences, none has been more cocerned with the concept of power than Political Science A content analysis of the political writings from Aristotle to the present would no doubt reveal power as the central concept around which attempts to explain politics have revolved."—S S Ulmer, *Introductory Readings in Political Behaviour*, p 332.

कैटलिन (G E G Catlin) शक्ति को राजनीति का आधारभूत लक्ष्य नहीं मानता। उसके अनुसार, "शक्ति एक सामान्य प्रवृत्ति है। एक सम्भावना के रूप मे यह व्यक्ति द्वारा नियन्त्रण एवं अपने सकल्प को क्रियान्वित करने मे स्वतन्त्र होने की वर्तमान योग्यता है।"

गोल्डहैमर तथा शिल्स (Goldhamer and Shills) के शब्दो में "एक व्यक्ति को उतना ही शक्तिशाली कहा जाता है जितना कि वह अपने लक्ष्यों के अनुरूप दूसरों के व्यवहार को प्रभावित करता है।"

उपरोक्त परिभाषाओ से स्पष्ट है कि विभिन्न विचारको ने शक्ति को व्यक्तियो के पारस्परिक सम्बन्धो का निर्णायक तत्त्व माना है। एक व्यक्ति की शक्ति इस बात पर निर्भर करती है कि दूसरे व्यक्तियो द्वारा उसे कितनी मान्यता दी गई। जब शक्तिसम्पन्न व्यक्ति अन्य लोगो पर प्रभाव डालता है तो वह अनेक साधन अपनाता है। शक्तिधारी व्यक्ति के कार्य के प्रति दूसरे लोगो की प्रतिक्रिया होती है और वे इस प्रतिक्रिया के द्वारा शक्ति के क्षेत्र को निर्धारित करते हैं।

वस्तुत जब तक मानवीय सम्बन्ध अपने स्पष्ट रूप में सामने नही आते, शक्ति को सही रूप में नही समझा जा सकता।

मैकाइवर ने ठीक ही कहा है कि, "शक्ति एक बहुपक्षीय तत्त्व है। यह अपने अनेक रूपों मे तथा विभिन्न अभिव्यक्तियों मे पृथ्वी पर होने वाली तथा समस्त सृष्टि मे घटने वाली घटनाओं के लिए एजेंन्ट का कार्य करती है।"

शक्ति के प्रकार—शक्ति के मापदण्डो के आधार पर शक्ति के निम्नलिखित प्रकार कहे जा सकते है

(1) गोल्डहैमर तथा शिल्स के अनुसार व्यक्ति द्वारा व्यवहार परिवर्तन के आधार पर शक्ति तीन प्रकार की होती है (क) बल, (ख) प्रभुत्व, तथा (ग) चातुर्य।

(2) मैक्स वैबर केवल औचित्यपूर्ण शक्ति मे विश्वास करते है और उसे वह सत्ता की सज्ञा देते हैं। औचित्यता के आधार पर उन्होने शक्ति के तीन रूप बताये हैं कानूनी अथवा वैधानिक परम्परागत तथा करिश्मावादी।

(3) बायर्सटेड ने शक्ति के चार प्रकार बताये हैं (क) दृश्य तथा अदृश्य शक्ति, (ख) दमनात्मक तथा अदमनात्मक शक्ति, (ग) औपचारिक तथा अनौपचारिक शक्ति तथा (घ) प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष शक्ति।

(4) शक्ति सम्बन्धो के आधार पर शक्ति के एकपक्षीय द्विपक्षीय तथा बहुपक्षीय रूप कहे जा सकते हैं।

(5) केन्द्रीयकरण की दृष्टि से शक्ति केन्द्रित, विकेन्द्रित अथवा बिखरी हुई हो सकती है।

(6) क्षेत्रीयता के आधार पर वह अन्तर्राष्ट्रीय राष्ट्रीय अथवा भूखण्ड विशेष से सम्बन्धित हो सकती है।

(7) प्रभाव एवं परिणाम की दृष्टि से शक्ति का स्वरूप इच्छित अथवा अनिच्छित किसी प्रकार का हो सकता है।

(8) शक्ति की मात्रा एवं प्रभाव की दृष्टि से राज्यों को महान (Super power), मध्यम तथा निम्न शक्तियाँ कहा जाता है। इस प्रकार शक्ति के अनेक रूप हो सकते हैं।

शक्ति का प्रयोग एवं सीमायें

शक्ति का प्रयोग अविचारपूर्वक तथा स्वच्छन्दतापूर्वक नहीं किया जाता है। इसके प्रयोग का अपना ढंग तथा सीमायें होती हैं। यहाँ हम शक्ति के दमनात्मक स्वरूप पर विचार कर रहे हैं। शक्ति का प्रयोग विभिन्न शास्तियां (Sanctions) अथवा साधनों द्वारा किया जाता है जैसे पुरस्कार देना, दण्ड देना, आर्थिक लाभ देना या रोकना इत्यादि प्राचीन भारतीय राजनीति में शक्तियों को साम, दाम, दण्ड, भेद की संज्ञा दी गई थी। इन शक्तियों की मात्रा एवं प्रकार देश, काल तथा संस्कृति विशेष के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। शक्ति के प्रयोग में मूल्य तथा लक्ष्यों का भी काफी महत्त्व रहता है। किसी भी व्यक्ति पर शक्ति का प्रयोग करते समय पिटाई करना, जेल भेजना, जुर्माना करना, अपमान करना तथा अपदस्थीकरण आदि में से किसी भी साधन को अपनाया जा सकता है। जब कोई शक्ति असफल हो जाती तो उसे दूसरी शक्ति द्वारा पुनः स्थापित किया जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि शक्ति के प्रयोग में हर बार सफलता ही मिले। कभी-कभी इसमें असफलता भी मिल जाती है।

शक्ति का प्रयोग मनमाने ढंग से नहीं किया जा सकता है। उसके प्रयोग पर अनेक सीमायें तथा प्रतिबन्ध होते हैं। इन सीमाओं का सम्बन्ध उस देश के इतिहास, परम्पराओं, धर्म, नैतिकता, स्वीकृति प्राप्त करने के तरीके विभिन्न समूहों के दबाव आदि से होता है। इसके अतिरिक्त शक्ति की सीमाओं का सम्बन्ध स्वयं प्रयोगकर्ता के लक्ष्य, उसके उद्देश्यों, उसकी क्षमता, उसके सम्बन्धों तथा उसकी कार्य-पद्धति आदि से भी होता है।

राजनीति विज्ञान में शक्ति-दृष्टिकोण

राजनीति विज्ञान के अध्ययन का एक मुख्य उद्देश्य यह जानकारी प्राप्त करना है कि समाज में शक्ति किसके हाथ में है तथा उसका प्रयोग किस प्रकार किया जा रहा है। इसी कारण राजनीतिक विचारकों ने शक्ति की धारणा को स्पष्ट करने पर अपना ध्यान अधिक केन्द्रित किया है। शक्ति दृष्टिकोण का एक स्पष्ट लाभ यह है कि इसके द्वारा दूसरों को प्रभावित करने वाली क्रिया को पहचाना जा सकता है। वर्तमान समय में शक्ति का महत्त्व बढ़ता जा रहा है इस धारणा ने आज पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त कर ली है। लेकिन कुछ समय पूर्व तक राजनीति में शक्ति दृष्टिकोण इस विषय को सम्पूर्ण व्यवस्था करने में असमर्थ रहा था। आज भी यह धारणा राजनीतिक अनुसन्धान के समस्त विषयों को अपने क्षेत्र में नहीं समेट पाती है। इसका कारण यह है

कि शक्ति महत्त्वपूर्ण तत्त्वों म से केवल एक तत्त्व है। राजनीतिक जीवन मे केवल शक्ति के लिए ही संघर्ष नहीं होता वरन् इसके अतिरिक्त अन्य विषय भी इसके भाग हैं।

जार्ज केटलिन तथा हेराल्ड डी० लासवेल (George Catline, Herald D Lasswell) ने राजनीति में शक्ति-धारणा पर विस्तारपूर्वक तथा प्रभावशाली ढंग से विचार व्यक्त किये हैं। अत शक्ति-धारणा को स्पष्ट रूप स समझने के लिए इन दोनो विचारको के विचारो का विवेचन आवश्यक है।

जार्ज केटलिन के विचार—जार्ज केटलिन ने राजनीतिक जीवन के अध्ययन के लिए एक व्यवस्थित विचारधारा विकसित करने का प्रयास किया है। उन्होंने शक्ति को राजनीतिक जीवन का प्राथमिक तत्त्व माना है। उनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में अपनी इच्छाओं को पूरा करने की इच्छा होती है। यह इच्छा उसके समस्त कार्यों का आधार होती है। डेविड ईस्टन (David Easten) के अनुसार, **"अपनी इच्छा को पूर्ण करने की इच्छा प्रमुख मनोवैज्ञानिक तथ्य है जिसके आधार पर राजनीतिशास्त्र का विज्ञान निर्मित किया जा सकता है।"** अपनी इच्छा का पूरा करने के लिए व्यक्ति द्वारा दूसरो की इच्छाओं को नियन्त्रित करना आवश्यक है जिससे विभिन्न व्यक्तियों की इच्छाओं मे संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। यही शक्ति के लिए संघर्ष का मूल तत्त्व है। इस प्रकार शक्ति के लिए अध्ययन द्वारा इस व्यापक समस्या पर विचार किया जाता है कि एक व्यक्ति या व्यक्तिसमूह दूसरो की इच्छाओं को किस प्रकार प्रभावित करता है।

केटलिन के अनुसार **"यदि इच्छाओं के संघर्ष को राजनीति विज्ञान का आधार बनाया जाये तथा उसी के आधार पर राजनीतिक विचारधाराएँ बनायी जायें तो राजनीति विज्ञान की शेष विषय-वस्तु स्वय ही स्पष्ट हो जायेगी।"**

लासवेल के विचार—शक्ति सम्बन्धो का दूसरा प्रमुख विचारक लासवेल है। इसकी मान्यता है कि राजनीतिक विज्ञान एक व्यावसायिक अनुशासन है। यह केवल व्यावहारिक मनोविज्ञान अथवा व्यावहारिक अर्थशास्त्र नहीं है। लासवेल ने राजनीति का अध्ययन केटलिन की अपेक्षा अधिक व्यापक दृष्टि से किया है और इसलिए उसके *निष्कर्ष भी केटलिन से कुछ भिन्न प्रकार के हैं।*

लासवेल के विचारो का मुख्य केन्द्र यह था कि राजनीति विज्ञान म शक्ति एवं मूल्य दोनो का अध्ययन किया जाय। अपने व्यापक अर्थ म राजनीतिक अनुसन्धान का उद्देश्य इन दोनो के बीच स्थित पारस्परिक निर्भरता को स्पष्ट करना है। इसम यह देखना होता है कि हमारे मूल्य शक्ति के प्रयोग एवं वितरण को कैसे प्रभावित *करते हैं और हमारी स्थिति तथा शक्ति के प्रयोग द्वारा मूल्यो का वितरण किस* प्रकार किया जाता है। अपनी पुस्तक **'कौन, क्या, कब और कैसे प्राप्त करता है'** (Who Gets, What, When and How) में लासवेल ने यह स्पष्ट किया है कि राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध किस वस्तु से है? उन्होंने इस पुस्तक म मुख्यत उन

साधनों का वर्णन किया है जिनके माध्यम से उच्च वर्ग के लोग शक्ति के पद पर पहुँचते हैं, उन पर कायम रहते हैं और अपनी सुरक्षा, आय तथा आदर को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। यह पुस्तक राजनीतिक व्यवस्था में शक्तिसम्पन्न अल्पसंख्यक वर्ग के योगदान का अध्ययन करने तक ही सीमित है। इसके आधार पर हम सामाजिक जीवन के अध्ययन के लिए कोई सामान्य रूपरेखा नहीं बना सकते। डेविड ईस्टन ने ठीक ही कहा है कि, "यह सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था को जाँच करने का साधन नहीं है, वरन् एक ही सामाजिक अंग उच्च वर्ग की नीति एवं विशेषताओं का निर्धारण करने का ही माध्यम है।"

इस तरह लासवेल के मतानुसार राजनीतिक विज्ञान की सम्पूर्ण विषय-वस्तु शक्ति के लिए संघर्ष है और राजनीतिक अनुसन्धान का मुख्य केन्द्र शक्ति ही है। अनेक विचारकों ने लासवेल की इस धारणा को एक संकीर्ण विचारधारा माना है। लासवेल ने अपनी एक अन्य पुस्तक 'शक्ति और समाज' (Power and Society) में मूल्यों के वितरण को भी राजनीति विज्ञान के अध्ययन में सम्मिलित कर लिया है। लेकिन आलोचकों के अनुसार लासवेल का यह परिवर्तित दृष्टिकोण भी कुछ सन्तोषजनक नहीं है क्योंकि राजनीति विज्ञान को मूल्य के वितरण का अध्ययन मानने पर सम्पूर्ण समाज-विज्ञान की ओर संकेत हो जाता है न कि केवल राजनीति विज्ञान की ओर।

लासवेल और केटलिन के शक्ति दृष्टिकोण में स्पष्ट लाभ होते हुए भी दोनों ने राजनीतिक प्रकृति को समझने के लिए सन्तोषजनक आधार प्रस्तुत नहीं किया है। यही ठीक है कि शक्ति राजनीतिक अनुसन्धान का मुख्य विषय है परन्तु वह एकमात्र विषय नहीं है, जबकि यह दृष्टिकोण शक्ति के अलावा अन्य किसी तत्व को महत्व नहीं देता।

शक्ति को राजनीतिक विज्ञान के अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु मान लेने पर उसकी परिभाषा में जहाँ एक ओर व्यापकता आ जाती है वहाँ दूसरी ओर अनिश्चितता भी आ जाती है। वस्तुतः शक्ति-सिद्धान्तों को सामान्य शक्ति के स्थान पर राजनीतिक शक्ति को अपना आधार बनाना चाहिए। यद्यपि शक्ति से सम्बन्धित विचारक शक्ति के सामान्य रूप और राजनीतिक शक्ति के बीच अन्तर स्पष्ट करने की ओर उदासीन रहे हैं परन्तु व्यावहारिक अनुसन्धान के समय उन्हें शक्ति के राजनीतिक पहलू पर ही जोर देना पड़ा। इस प्रकार शक्ति सम्बन्धी धारणा ने राजनीति के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया है। इसने राजनीति विज्ञान के नेतृत्व का अध्ययन करने के लिए नया आधार प्रस्तुत किया है।

प्रभाव
(Influence)

प्रभाव का अर्थ एवं महत्व—प्रत्येक मानवीय व्यवहार दूसरों पर कुछ प्रभाव डालता रहता है और कुछ तत्वों से प्रभावित होता रहता है। राजनीति विज्ञान को

एक मानवीय व्यवहार का अध्ययन होने के नाते प्रभावों के अध्ययन में भी रुचि रखनी होती है। **राबर्ट डहल** ने राजनीतिक विश्लेषण में शक्ति एव प्रभाव को **"केन्द्रीय अवधारणा"** (Central Concept) माना है। यह राजनीतिक प्रभाव ही होता है जिसे राजनीतिज्ञ प्राप्त करने एव अपना लक्ष्य बनाते हैं। कुछ लोग प्रभाव को स्वय अपने लिए तथा अन्य व्यक्ति उस नीति को प्रभावित करने के लिए एक साधन के रूप में प्रयोग में लाते हैं। प्रभाव स्वेच्छा पर आधारित है और इसका स्वरूप अदमनात्मक है। रोवे के अनुसार **प्रभाव को स्वीकार करने के बाद दमन एव शक्ति निरर्थक हो जाते हैं।"** यही कारण है कि प्रभाव को **"प्रजातन्त्र का हृदय"** माना जाता है। प्रजातन्त्र में प्रभाव के बल पर ही अल्पमध्यक उच्च-वर्ग राज-व्यवस्थाओं में नीति निर्धारण तथा प्रशासन आदि में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। **लासवेल ने 'प्रभाव एव प्रभावक के अध्ययन को ही राजनीति का अध्ययन माना है।"**

जेम्स मार्च (James A March) ने प्रभाव का महत्त्व बताते हुए लिखा है **कि निर्णय लेने की प्रक्रिया के अध्ययन के लिए प्रभाव उसी प्रकार महत्त्वपूर्ण है जिस प्रकार गति के अध्ययन के लिए शक्ति है।"** मार्च ने 'प्रभाव' का कारण-कार्य सम्बन्धो के रूप में परिभाषित किया है। डहल प्रभाव को **"कर्त्ताओं के मध्य सम्बन्ध"** की सज्ञा देता है। उसके अनुसार **"प्रभाव एक ऐसा सम्बन्ध है जिसमे एक कर्त्ता दूसरे कर्त्ताओं को वह करने के लिए प्रेरित करता है जिसे वह पहले नहीं करता।"**

प्रभाव के प्रमुख प्रकार

प्रभाव कई प्रकार का हो सकता है परन्तु मुख्य रूप में इसके तीन प्रकार है (1) भौतिक प्रभाव (2) व्यक्तिगत प्रभाव तथा (3) बौद्धिक प्रभाव।

भौतिक प्रभाव वह होता है जो कि भौतिक मूल्यो पर आधारित रहता है। विभिन्न दबाव-समूहो द्वारा डाला जाने वाला प्रभाव कुछ-कुछ इसी प्रकार के प्रभाव का उदाहरण है। इस प्रकार के प्रभाव को प्राय भ्रष्टाचार की सज्ञा दी जाती है परन्तु यह मान्यता भ्रामक है क्योंकि अनेक ऐसे भौतिक दबाव हैं जो भ्रष्ट नहीं होते परन्तु जब भौतिक दबाव को गैर कानूनी उद्देश्यों के लिए प्रयुक्त किया जाता है तो वह भ्रष्टाचार बन जाता है। राजनीतिक क्षेत्र में भौतिक दबाव अर्थव्यवस्था एव राजव्यवस्था के बीच पुल का कार्य करता है।

व्यक्तिगत प्रभाव अनुभूतियों एव भावनाओं पर निर्भर करता है। इस क्षेत्र में प्रेरणा प्रमुख तत्त्व होती है। इस प्रकार के प्रभाव के उतने ही रूप होते हैं जितने रूप अनुभूतियो एव भावनाओं के होते हैं। व्यक्तिगत प्रभाव के अन्तर्गत हम मित्र पत्नी, पुत्री, माता आदि के सम्बन्धो को ले सकते हैं। ये सभी जिस प्रकार प्रभावित होते हैं उसी प्रकार प्रभावित करते भी है। यदि प्रभावित करने वाला व्यक्ति शक्तिवान है तो उसका प्रभाव राजनीतिक दृष्टि से पर्याप्त महत्त्वपूर्ण होगा।

बौद्धिक प्रभाव व्यक्ति के ज्ञान एव योग्यता पर आधारित होता है। ज्ञान के

जितने रूप होते हैं यह प्रभाव उक्त दो प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है। तकनीकी प्रभाव वैधानिक प्रभाव आदि इसी प्रभाव के उदाहरण हैं।

शक्ति एवं प्रभाव में अन्तर

शक्ति एवं प्रभाव में अन्तर को समझने से पूर्व यह आवश्यक है कि प्रभाव के सम्बन्ध में 'शक्ति दृष्टिकोण' एवं 'प्रभाव-दृष्टिकोण' को समझ लिया जाये।

शक्ति-दृष्टिकोण के अनुसार प्रभाव शक्ति का एक प्रकार होता है। इस दृष्टिकोण को दो भागों में बाँटा जा सकता है सामान्य और विशिष्ट।

सामान्य दृष्टिकोण शक्ति को व्यापक मानता है जबकि विशिष्ट दृष्टिकोण शक्ति के दो स्वरूप स्वीकार करता है (1) दमनात्मक तथा (2) अदमनात्मक, जिसे प्रभाव कहा जा सकता है।

प्रभाव दृष्टिकोण प्रभाव को सर्वव्यापी मानता है। यह दृष्टिकोण भी दो भागों में विभक्त किया जा सकता है प्रथम, सामान्य दृष्टिकोण के अनुसार प्रभाव एक व्यापक शब्द है जो दूसरों के व्यवहार परिवर्तन को सूचित करता है। रावर्ट डहल एवं रीके इसी दृष्टिकोण के समर्थक हैं। दूसरा दृष्टिकोण विशिष्ट दृष्टिकोण है जिसके अनुसार प्रभाव एवं शक्ति दोनों स्वतन्त्र कारक हैं। इसके अनुसार व्यवहार परिवर्तित करने वाले तत्वों को शक्ति अथवा प्रभाव कुछ भी कहा जा सकता है। परन्तु जहाँ तक प्रयोजन एवं व्यवहार परिवर्तित करने की विधियों का प्रश्न है, दोनों अलग-अलग हैं। इन दोनों का अन्तर अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कैटलिन शक्ति को सफल नियन्त्रण के रूप में देखते हैं जबकि प्रभाव को वह मानसिक नियन्त्रण मानता है। वह असफल शक्ति को शक्ति नहीं मानता और उसका कहना है कि प्रभाव नियन्त्रण नहीं होता। बायर्सटेड ने प्रभाव को अनुनयात्मक माना है। मनुष्य प्रभाव के समक्ष स्वेच्छापूर्वक समर्पित होता है जबकि शक्ति समर्पण करवाती है। प्रभाव को शक्ति की आवश्यकता नहीं होती और शक्ति बिना प्रभाव के रह सकती है किन्तु राजनीतिक संगठनों में यह दोनों मिश्रित रहते हैं। प्रभाव की भी शक्ति होती है और शक्ति का भी प्रभाव होता है यद्यपि दोनों के लक्ष्य, साधन तथा दिशाओं में भेद होता है।

उपरोक्त विवरण के आधार पर शक्ति एवं प्रभाव में निम्नलिखित समानतायें एवं असमानतायें दृष्टिगोचर होती हैं

असमानताएं—(1) शक्ति दमनात्मक एवं बाध्यकारी होती है। जब शक्ति का प्रयोग किया जाता है तो इससे प्रभावित होने वाले व्यक्ति या व्यक्ति समूह के पास इसे स्वीकार करने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं होता। इसके विपरीत प्रभाव अनुनयात्मक, स्वेच्छापूर्वक एवं मनोवैज्ञानिक होता है। इससे प्रभावित होने वाले व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह के पास इसके पालन के सम्बन्ध में सदैव अनेक विकल्प रहते हैं।

(2) शक्ति का प्रयोग एवं सफलता शक्तिधारक की इच्छा पर निर्भर करती

है। परन्तु प्रभाव सम्बन्धात्मक होता है और उसकी सफलता प्रभावित व्यक्ति की सहमति पर निर्भर करती है।

(3) शक्ति अप्रजातन्त्रात्मक है। वह प्रतिशक्ति (Counter Power) को आमन्त्रित करती है तथा भय पर आधारित रहती है। प्रभाव प्रजातन्त्रात्मक है। उसका पालन वैचारिक समानताओ एव मूल्यो की समरूपता के कारण होता है।

(4) शक्ति पर अनेक सीमाएँ लगी रहती हैं। उसे कभी भी पूर्णरूप से प्रयोग मे नही लाया जा सकता। इसके साथ ही उसका स्वेच्छापूर्वक पालन भी तभी तक किया जाता है जब तक कि प्रभाव रहता है। प्रभाव के अभाव मे शक्ति के दुर्बल होते ही उसका अनुपालन भी समाप्त हो जाता है। इसके विपरीत प्रभाव की *शक्ति असीम होती है और एक बार प्रभाव प्राप्त कर लेने के पश्चात् उसका पूर्ण* लाभ उठाया जा सकता है। प्रभाव प्राप्त कर लेने के पश्चात् शक्ति अनावश्यक हो जाती है।

(5) शक्ति का प्रयोग निश्चित, सीमित तथा विशेष रूप से ही किया जा सकता है और उसके प्रयोग करने वाले का स्वरूप निश्चित होता है जबकि प्रभाव प्राय व्यक्तिगत अमूर्त तथा अस्पष्ट होता है।

समानताएँ—उपर्युक्त असमानताओ के होते हुए शक्ति एव प्रभाव दोनो दृष्टिकोणो मे कुछ समानताएँ भी पायी जाती हैं। ये समानताएँ निम्नलिखित हैं

(1) कप्लान तथा लासवेल के अनुसार दोनो धारणाएँ बौद्धिक एव सम्बन्धात्मक हैं तथा एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। प्रभाव शक्ति उत्पन्न करता है तथा शक्ति प्रभाव उत्पन्न करती है।

(2) दोनो औचित्यपूर्ण हो जाने के पश्चात् प्रभावशाली होती हैं।

(3) दोनो को एक दूसरे की आवश्यकता रहती है। दोनो के एक दूसरे से इतने सम्बन्ध हैं कि कई बार तो यह जानना भी कठिन हो जाता है कि व्यक्ति के व्यवहार मे परिवर्तन शक्ति के कारण हुआ है अथवा प्रभाव के कारण। प्रभाव एव शक्ति का एक साथ कुशल प्रयोग कोई अच्छा राजनेता ही कर सकता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रभाव एव शक्ति परिस्थितियों के अनुसार स्वतन्त्र, मध्यवर्ती अथवा आश्रित कारक हो जाते हैं।

सत्ता एव औचित्यपूर्णता
(Authority and Legitimacy)

सत्ता का अर्थ—*सत्ता को* राजव्यवस्था रूपी शरीर की आत्मा कहा जाता है। वह विभिन्न राजनीतिक क्रियाओ, जैसे शक्ति, प्रभाव, नेतृत्व आदि का मूल उपकरण है। सत्ता के माध्यम से ही समन्वय, निश्चय निर्माण (Decision Making) पदसोपान, अनुशासन, प्रत्यायोजन आदि प्रक्रियायें सम्भव होती हैं। सत्ता औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनो प्रकार के सगठनो मे महत्त्वपूर्ण होती है इसकी अवहेलना

नहीं की जा सकती। इतना होने पर भी सत्ता के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न विचार-धाराएँ पायी जाती हैं। विभिन्न विद्वानों ने इसे भिन्न-भिन्न प्रकार से परिभाषित किया है। कुछ मुख्य परिभाषाएँ इस प्रकार हैं

रोबे के अनुसार, "सत्ता व्यक्तियों एवं व्यक्ति समूहों को हमारे राजनीतिक निर्णयों के निर्माण तथा राजनीतिक व्यवहार को प्रभावित करने का अधिकार है।"

बीच (Beach) के अनुसार, "दूसरे के कार्य निष्पादन को प्रभावित या निर्देशित करने के औचित्यपूर्ण अधिकार को सत्ता कहते हैं।"

यूनेस्को की एक रिपोर्ट के अनुसार "सत्ता वह शक्ति है जो कि स्वीकृत, सम्मानित, ज्ञात एवं औचित्यपूर्ण हो।"

बेंज्यूल मेरियम के शब्दों में, "हम 'सत्ता' नेतृत्व एवं आदेश देने, दूसरों के द्वारा सुने जाने एवं आज्ञापालन के अधिकार को कहेंगे।"

बायरस्टेड के अनुसार "सत्ता शक्ति के प्रयोग का संस्थात्मक अधिकार है, स्वयं शक्ति नहीं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर जो निष्कर्ष निकलता है उसके अनुसार सत्ता, सामान्य स्वीकृति के साथ शक्ति के प्रयोग को कहा जाता है। यह शक्ति की तरह, किन्तु शास्तियों (Sanctions) द्वारा नहीं, बल्कि उचित होने के कारण, दूसरों को अपने अनुकूल प्रभावित करने का साधन है। इसका वास्तविक आधार अधीनस्थ नहीं वरन् अधीनस्थों द्वारा उसकी सहमति होती है।

औचित्यता का अर्थ - राजनीतिक विकास एवं सभ्यता की प्रगति के साथ-साथ दमनात्मक शक्ति का प्रयोग कम होता जा रहा है और अब जहाँ कहीं भी अपवादस्वरूप इसका प्रयोग किया जाता है, उसके पीछे जन-समर्थन रहता है। इस जन-समर्थन अथवा सहमति को औचित्यपूर्णता कहा जाता है।

औचित्यपूर्णता एक विशेष विचार या नियम (Principle) है जो किसी विशेष, व्यक्ति द्वारा राजनीतिक पद के ग्रहण करने अथवा विशेष या सामान्य परिस्थितियों में एक व्यक्ति या समूह के द्वारा शक्ति के प्रयोग का अवसर इस आधार पर देता है कि जनता या उसका अधिक बड़ा भाग यह स्वीकार करता है कि उनका अधिकारी सत्ता प्रदान करने के सामान्य स्वीकृत नियमों एवं विधियों पर आधारित है। इस औचित्यता का महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि औचित्यता प्राप्त होने के पश्चात् बल, दमन आदि के प्रयोग की अधिक आवश्यकता नहीं रहती और जहाँ तक इनका प्रयोग किया जाता है वह मान्य होता है। प्रजातन्त्रीय सरकार को औचित्यपूर्णता की सर्वाधिक आवश्यकता रहती है।

शक्ति एवं सत्ता में सम्बन्ध

राजनीतिक समाजों में शक्ति एवं सत्ता का महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध होता है। शक्ति व्यक्तियों, समूहों तथा भौतिक विघ्नों के प्रतिरोध के बावजूद स्वतन्त्र कार्य

करने की क्षमता का नाम है और सत्ता विशेष प्रकार के कार्यकारी कदम उठाने का अधिकार है। सत्ता का विशिष्ट परिस्थितियों के सन्दर्भ में प्रयोग किया जाता है। इसके बिना *शक्ति असंस्थायीकृत, असाधनात्मक एवं परिस्थितिजन्य तथा अनिश्चित* होती है। सत्ता संस्थायीकृत (Institutionalized) होती है और इसलिए अपने क्षेत्र एवं प्रकृति से निश्चित होती है। सत्ता का गलत प्रयोग करने पर भी वह बाध्यकारी होती है। सत्ता की बाध्यता के पीछे शक्ति होती है परन्तु जब कभी दमनात्मक शक्तियों का प्रयोग किया जाता है तो वहाँ सत्ता नहीं रहती। फिर भी सामान्य अथवा विशिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सत्ता को असफल होने से बचाने के लिए उसे शक्ति (अदमनात्मक) से जोड़ दिया जाता है। इस प्रकार राजनीतिक संगठनों में शक्ति एवं सत्ता का संयोजन पाया जाता है। एम. जी. स्मिथ ने कहा है कि "**शक्ति के बिना सत्ता अप्रभावशील होती है। बिना सत्ता के शक्ति प्रभुत्व स्थापित कर सकती है परन्तु वह असंस्थायीकृत (un institutional) रहती है। यह कार्य राजनीति के माध्यम से पूरा किया जाता है जिसके परिणामस्वरूप सत्ता एवं शक्ति में एकीकरण स्थापित हो जाता है।**" इतना होने पर भी सत्ता एवं शक्ति दो स्वतन्त्र मूल्य हैं। *हमें ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं कि वरिष्ठ व्यक्तियों के पास केवल सत्ता है और* अधीनस्थों के पास शक्ति। इन दोनों में उचित सन्तुलन स्थापित करना राजनीति की एक शाश्वत समस्या है जिसे सफल नेतृत्व द्वारा सुलझाया जाता है।

सत्ता एवं औचित्यता में सम्बन्ध

औचित्यपूर्णता एवं सत्ता के घनिष्ट सम्बन्ध का विवेचन मैक्स वेबर द्वारा किया गया है। सत्ता प्रभाव का अत्यधिक कुशल रूप है और कोई भी राजनेता *अपने प्रभाव को औचित्यपूर्णता के माध्यम से ही सत्ता में परिवर्तित करने का प्रयास* करता है। दमनात्मक शक्ति की अपेक्षा औचित्यपूर्ण सत्ता न केवल अधिक स्थायी ही होती है बल्कि वह कम से कम राजनीतिक साधनों के होते हुए भी शासक को शासन करने के योग्य बनाती है। यही कारण है कि औचित्यपूर्णता विहीन सैनिक शासन कभी स्थायी नहीं हो पाते। प्रजातन्त्रीय व्यवस्थाओं को औचित्यपूर्णता की सबसे अधिक आवश्यकता रहती है क्योंकि प्रजातन्त्र को जनता की इच्छा के विरुद्ध थोपा नहीं जा सकता। यदि एक विशाल समुदाय भी प्रजातन्त्र का विरोध करता है *तो भी प्रजातन्त्र के भावी जीवन को खतरा पैदा हो जाता है।* यही कारण है कि विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थायें समय-समय पर औचित्यता प्राप्त करने का प्रयास करती रहती हैं। औचित्यपूर्णता के कारण ही कभी-कभी प्रजातन्त्र में भी पदानुक्रम, नौकरशाही, सैनिक एवं पुलिस संगठन अथवा दमनात्मक प्रयोगों व सत्ताधारियों के विशेषाधिकारों को जनता द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है। इस प्रकार औचित्यता के अभाव में सत्ता अप्रभावशील होती है।

अभ्यास के प्रश्न

1 राजनीति विज्ञान के सन्दर्भ में शक्ति अवधारणा का परीक्षण कीजिए।

2 शक्ति एवं प्रभाव के अन्तर को स्पष्ट कीजिए।

3 शक्ति से क्या तात्पर्य है? इसका प्रभाव एवं सत्ता से अन्तर स्पष्ट कीजिए।

4 शक्ति एवं प्रभाव के प्रमुख प्रकारों को समझाइए।

5 शक्ति, सत्ता तथा औचित्यता के अर्थ एवं पारस्परिक सम्बन्धों की विवेचना कीजिए। (राजस्थान विश्व०, 1978)

6 शक्ति की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए। इसका प्रभाव, बल तथा सत्ता से कैसे अन्तर किया जाता है? (राजस्थान विश्व०, 1976)

7. इस दृष्टिकोण का परीक्षण कीजिए कि शक्ति प्रभाव के क्रियान्वयन की स्थिति है। इस सन्दर्भ में बल प्रवर्तो प्रभाव तथा अनुवर्ती प्रभाव के अन्तर को स्पष्ट कीजिए।

8 क्या आप इस दृष्टिकोण से सहमत हैं अथवा असहमत कि राजनीति एवं शक्ति समानार्थक हैं। अपने मत के समर्थन में तर्क दीजिए।

(राजस्थान विश्व०, 1977)

9 राजनीति विज्ञान में शक्ति के दृष्टिकोण की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।

26

राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा
[CONCEPT OF POLITICAL SYSTEM]

> "राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा अधिकाधिक लोकप्रिय होती जा रही है क्योंकि यह किसी भी समाज के राजनीतिक कार्य-कलापों के सम्पूर्ण कार्य-क्षेत्र की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है।"[1]
>
> —आमण्ड एवं पावेल

पिछले कुछ वर्षों से राजनीति विज्ञान के अध्ययन क्षेत्र मे एक बौद्धिक क्रान्ति-सी आ गई है। वर्तमान समय मे राजनीति विज्ञान का अध्ययन केवल राज्य तथा शासन तक ही सीमित नही है, वरन् इसके अन्तर्गत उन सब तत्वो, संगठनो, समुदायो आदि का अध्ययन किया जाता है जो समय-समय पर व्यक्तियों के राजनीतिक जीवन तथा देश की राजनीति को प्रभावित करते रहते है। इन सभी तत्वो को सामूहिक रूप से 'राजनीतिक व्यवस्था' कहा जाता है। शासन भी इस सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था का एक अंग मात्र है। अतः वर्तमान समय मे किसी भी देश के सम्पूर्ण राजनीतिक जीवन का अध्ययन करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण तत्व राजनीतिक व्यवस्था ही है।

राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा
(Concept of Political System)

अर्थ एवं व्याख्या—किसी भी व्यवस्था की मूल इकाई अन्तःक्रिया (interaction) है। यह व्यवस्था के सदस्यो के जब वे व्यवस्था के सदस्य के रूप मे कार्य करते है, व्यवहार से उत्पन्न होती है। अतः जब कुछ निश्चित नियमो के आधार पर ये क्रियायें समाज में व्यक्तियो के पारस्परिक सम्बन्धो का एक सेट बन जाती हैं, तो वे व्यवस्था कहलाती है। 'व्यवस्था' शब्द बहुत व्यापक है और उसमे सभी प्रकार की

---

1 The concept of 'Political System" has acquired wide currency because it directs attention to the entire scope of political activities within a society, regardless of where in the society such activities may be located "—**Almond & Powell** : *Comparative Politics, A Developmental Approach*, p 17

औपचारिक तथा अनौपचारिक प्रक्रियायें अन्तःक्रियायें कार्य, मूल्य, आचार आदि आ जाते हैं। इस दृष्टि से राजनीतिक व्यवस्था सामाजिक जीवन में भाग लेने वाले व्यक्तियों की राजनीतिक अन्तःक्रियाओं की समग्र इकाई या व्यवस्था है। दूसरे शब्दों में एक राजनीतिक व्यवस्था का निर्माण उन व्यक्तियों की क्रियाओं द्वारा होता है जो समाज के लिए नीति के निर्माण तथा उसके क्रियान्वयन से किसी प्रकार सम्बद्ध हों। राजनीतिक व्यवस्थायें किसी न किसी रूप में सर्वत्र पायी जाती हैं। डेविड ईस्टन के अनुसार, "राजनीतिक व्यवस्था उन अन्तःक्रियाओं का नाम है जिनके माध्यम से समाज के लिए मूल्यों का अधिकारपूर्वक विनियोजन किया जाता है।"

राज-व्यवस्था समाज व्यवस्था की ही एक उप व्यवस्था है। स्वयं राज-व्यवस्था में भी अनेक उप-व्यवस्थायें होती हैं। ईस्टन ने लिखा है कि "मैं समूहों और संगठनों की आन्तरिक राजनीतिक व्यवस्थाओं को सह-राजनीतिक व्यवस्थायें कहूँगा और राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा को, विश्लेषण किये जाने वाले समाज के समाहित राजनीतिक जीवन की सर्वाधिक समावेशी इकाई के लिए सुरक्षित रखूँगा।"

पिनॉक और स्मिथ ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "राज्य राजनीतिक व्यवस्था या राजतन्त्र का ही एक रूप है। राजनीतिक व्यवस्था समाज का एक अंग या उसका एक समूह है। इसमें एक निर्दिष्ट समाज के सभी सदस्य सम्मिलित होते हैं परन्तु उनके सभी पारस्परिक सम्बन्ध अथवा उनके आचरण को नियमित करने वाले सभी मूल्य इसमें सम्मिलित नहीं होते।"[1]

आमण्ड तथा कोलमैन के अनुसार, "राजनीतिक व्यवस्था समाज में वैध व्यवस्था बनाये रखने अथवा उसमें परिवर्तन लाने वाली पद्धति है।"[2]

राजनीतिक व्यवस्था के तीन पहलू—राजनीतिक व्यवस्था को विभिन्न विद्वानों के द्वारा विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया गया है। इन परिभाषाओं से इसके तीन मुख्य पहलू स्पष्ट होते हैं

(i) न्यायसंगत शारीरिक दमन का प्रयोग—सभी समाजों में राजनीतिक व्यवस्था न्यायसंगत शारीरिक दमन के प्रयोग के साथ जुड़ी हुई होती है। राजनीतिक व्यवस्था में न्यायपूर्ण प्रतिबन्धों, दण्ड देने की अधिकारपूर्ण शक्ति, लागू करने की

---

1 "State is but a species of larger genus the political system' or Polity A political system is an aspect or a subset of society It includes all the members of a given society, but not all of their mutual relations or of the norms that govern their conduct"—**Pennock & Smith**

2 "The political system is the legitimate order maintaining or transforming system in the society"—**Almond & Coleman**,

शक्ति तथा बाध्य करने की शक्ति आदि सम्मिलित है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि राजनीतिक व्यवस्था का सम्बन्ध केवल शक्ति, हिंसा अथवा दमन से ही है बल्कि इसका मतलब केवल यही है कि दबाव अथवा दमन के साथ इसका सम्बन्धित होना इसका एक विशिष्ट गुण है।

(2) अंगों की पारस्परिक निर्भरता राजनीतिक व्यवस्था में अंगों की पारस्परिक निर्भरता पायी जाती है। पारस्परिक निर्भरता से तात्पर्य यह है कि जब किसी व्यवस्था में किसी अंग के गुणों में परिवर्तन होता है तो उस परिवर्तन से अन्य सभी अंग अर्थात् सम्पूर्ण व्यवस्था प्रभावित होती है।

(3) सीमा का विचार (Notion of Boundary) – राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा का तीसरा पहलू इसकी सीमा का विचार है। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था की कुछ निश्चित सीमायें होती हैं, इन सीमाओं के आधार पर ही किसी देश की व्यवस्था को लोकतान्त्रिक, एकाधिकारवादी आदि कहा जाता है। राजनीतिक व्यवस्थाओं की सीमायें सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्थाओं की तुलना में काफी अधिक लचीली होती है। उदाहरण के लिए, युद्ध के काल में राजनीतिक व्यवस्था की सीमायें बहुत अधिक विस्तृत हो जाती हैं तथा सामान्य काल में उसकी सीमायें सीमित रहती हैं।

राजनीतिक व्यवस्था के प्रमुख लक्षण
(Main Characteristics of Political System)

विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं में कुछ मूलभूत समान लक्षण पाये जाते हैं। ये लक्षण केवल राजनीतिक *व्यवस्थाओं में ही नहीं वरन् अराजनीतिक व्यवस्थाओं,* जैसे—ट्रेड यूनियन तथा व्यापारिक संस्थाओं आदि में भी पाये जाते हैं। **राबर्ट डहल** के अनुसार, **"ये विशेषतायें राजनीतिक व्यवस्था की परिभाषा नहीं हैं, बल्कि ये वे नियमित विशेषतायें हैं जो अधिकांश राजनीतिक व्यवस्थाओं में प्राप्त होती हैं।"** उनके अनुसार राजनीतिक व्यवस्था की विशेषतायें अथवा लक्षण निम्नलिखित हैं

(1) राजनीतिक स्रोतों पर असमान नियन्त्रण—राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक स्रोत एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित कर सकता है। राजनीतिक स्रोतों के अन्तर्गत मुख्यतः धन, सूचना, भोजन, शक्ति की धमकी, सामाजिक प्रतिष्ठा, मित्रता, कानून निर्माण का अधिकार, मताधिकार आदि अनेक साधन सम्मिलित किये जाते हैं। इन समस्त साधनों अथवा स्रोतों पर प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में व्यक्तियों का नियन्त्रण भिन्न भिन्न मात्रा में होता है। इस भिन्नता के मुख्यतः चार कारण हैं प्रथम तो, प्रत्येक समाज में कार्यों का विशेषीकरण हो जाने से केवल उस कार्य से सम्बन्धित व्यक्ति ही उस राजनीतिक स्रोत को प्राप्त कर सकते हैं, समस्त व्यक्ति नहीं। द्वितीय, सभी व्यक्तियों की राजनीतिक स्रोतों पर समान पहुँच नहीं होती। तृतीय, समाज में सभी व्यक्ति राजनीति में भाग लेने के इच्छुक नहीं होते। चतुर्थ, प्रत्येक व्यक्ति की अलग-अलग क्षमता

होती है और वह अपनी क्षमता के अनुसार ही राजनीतिक स्रोतों पर अपना नियन्त्रण कर सकता है।

(2) **राजनीतिक प्रभाव की आकांक्षा**—प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में कुछ व्यक्ति राजनीतिक प्रभाव के द्वारा सरकार की नीतियों, नियमों व निर्णयों को प्रभावित करने में लगे रहते हैं जिससे कि वे अपने निजी स्वार्थों तथा लक्ष्यों की पूर्ति कर सकें। दबाव-समूह इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है। वस्तुतः सरकारी तन्त्र पर प्रभाव व्यक्ति के लक्ष्यों तथा मूल्यों को प्राप्त करने का सर्वाधिक प्रभावशाली साधन है। यही कारण है कि प्रायः सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं में कुछ महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति इस साधन को प्राप्त करने में लगे रहते है।

(3) **राजनीतिक प्रभाव का असमान वितरण**—एक राजनीतिक व्यवस्था में उसके सदस्यों के बीच राजनीतिक प्रभाव का असमान वितरण होता है। ऐसे व्यक्ति जिनके पास अधिक राजनीतिक साधन अथवा स्रोत होते हैं, वे दूसरों को प्रभावित करने में अधिक सक्षम होते हैं। राजनीतिक प्रभाव के असमान वितरण का प्रमुख कारण यह है कि कुछ व्यक्तियों को दूसरों की तुलना में अधिक राजनीतिक साधन प्राप्त होते है तथा उनकी क्षमता भी अधिक होती है। राजनीतिक प्रभाव का यह असमान वितरण ही शासक व शासित में भेद उत्पन्न करता है।

(4) **संघर्षपूर्ण उद्देश्यों का समाधान**—प्रायः प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में व्यक्तियों के उद्देश्य व लक्ष्य भिन्न-भिन्न होते हैं जिनमें परस्पर संघर्ष चलता रहता है। उस राजनीतिक व्यवस्था में विभिन्न संस्थाओं द्वारा इन संघर्षपूर्ण उद्देश्यों अथवा असहमतियों को सुलझाने के लिए मध्यस्थता पंच निर्णय वार्तालाप आदि साधनों का प्रयोग किया जाता है, किन्तु कई बार ये संघर्ष इतने जटिल हो जाते हैं कि वे साधारण उपायों द्वारा नहीं सुलझाये जा सकते। ऐसी स्थिति में उस व्यवस्था की सरकार को दमनकारी शक्ति का प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है।

(5) **औचित्यपूर्णता (Legitimacy) की प्राप्ति**—एक राजनीतिक व्यवस्था में संघर्षों के समाधान में सरकार द्वारा जो कदम उठाये जाते है, उनका आधार हिंसा, दमन अथवा दण्ड का भय नहीं होना चाहिए बल्कि इस विश्वास पर आधारित हो कि ऐसा करना नैतिक रूप से सही है। राज्य के आदेशों अथवा निर्णयों का पालन इस बात पर निर्भर करता है कि वे नैतिकता की दृष्टि से उचित हैं अथवा नहीं। यही कारण है कि प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में नेतागण अपने कार्यों को औचित्यपूर्ण सिद्ध करने में लगे रहते है। लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था में तो औचित्यता का विशेष महत्त्व रहता है क्योंकि जनता की इच्छा को अधिक समय तक दबाये रखना सम्भव नहीं हो सकता।

(6) **विचारधारा का विकास**—प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था अपने आपको श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए एक निश्चित विचारधारा को स्वीकार कर लेती है। यह विचारधारा लोकतन्त्रात्मक, समाजवादी, साम्यवादी अथवा अन्य किसी भी प्रकार की हो

सकती है। इसका लक्ष्य जनता में अपने कार्यों की औचित्यता को सिद्ध करना तथा उसका अधिकाधिक मात्रा में विश्वास प्राप्त करना होता है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि इस विचारधारा को व्यवस्था के समस्त व्यक्तियों का समर्थन प्राप्त हो जाता है। प्रायः बहुत से व्यक्तियों को तो इस विचारधारा का कोई ज्ञान ही नहीं होता और बहुत से व्यक्ति इस विचारधारा से पूर्णतः अथवा अंशतः असहमत होते हैं। इस तरह कोई भी व्यवस्था अपने समस्त सदस्यों का पूर्ण समर्थन प्राप्त नहीं कर सकती।

(7) **अन्य राजनीतिक व्यवस्थाओं का प्रभाव**—कोई भी राजनीतिक व्यवस्था वर्तमान समय में पूरी तरह से पृथक व स्वतन्त्र होकर नहीं रह सकती। उस पर अन्य राजनीतिक व्यवस्थाओं का प्रभाव निश्चित रूप से पड़ता है। उदाहरणार्थ, एक देश को अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों तथा समझौतों आदि का ध्यान में रखकर अपनी राजनीतिक व्यवस्था का सचालन करना पड़ता है। कोई भी राजनीतिक व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निर्धारण में, विदेश नीति तय करने में, युद्ध तथा सन्धि आदि की घोषणा करने में पूर्ण स्वतन्त्र नहीं है। उसे अन्य राजनीतिक व्यवस्थाओं के प्रभाव को ध्यान में रखकर ही ऐसा करना पड़ता है। वर्तमान युग में तो यह और भी अधिक आवश्यक हो गया है क्योंकि एक देश में घटने वाली घटनाओं का प्रभाव दूसरे देशों पर भी निश्चित रूप से पड़ता है।

(8) **परिवर्तन का प्रभाव** सभी राजनीतिक व्यवस्थाएं परिवर्तनशील होती हैं। समय और परिस्थितियों के अनुसार हर राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन होते रहते हैं। एक व्यवस्था का स्थान दूसरी व्यवस्था लेती रहती है। अतः कोई भी राजनीतिक व्यवस्था स्थिर नहीं हो सकती। प्लेटो के शब्दों में **"प्रत्येक चीज जो प्रारम्भ होती है, उसका अन्त भी होता है।"** किसी भी व्यवस्था को राजनीतिक विकास की अन्तिम अवस्था नहीं कहा जा सकता है।

ईस्टन की राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा

डेविड ईस्टन उन व्यवहारवादी विचारकों में से है, जिसने राजनीति विज्ञान को परम्परागत कानूनी, संस्थात्मक एवं औपचारिक प्रतिबन्धों से मुक्त कर दिया है। राजनीतिक विज्ञान का परम्परागत दृष्टिकोण 'राज्य' एवं शासन को ही राजनीति के अध्ययन का मुख्य विषय मानता रहा है। ईस्टन राजनीति को सत्ता शक्ति या शासन से सम्बद्ध मानना उपयोगी नहीं समझता। इसलिए उसने परम्परागत दृष्टिकोण की अवधारणा को त्यागकर 'राजनीतिक व्यवस्था (Political System) का आधुनिक विचार प्रस्तुत किया है। 'व्यवस्था' ईस्टन के विश्लेषण की आधारभूत इकाई है। 'व्यवस्था' शब्द की अवधारणा को उसने अपनी सबसे पहली पुस्तक *The Political System* में प्रस्तुत किया जिसमें उसने राजनीति के अध्ययन में उसकी उपयोगिता एवं महत्त्व को स्पष्ट किया है। उसने अपनी बाद की दो पुस्तकों *A Framework of Political Analysis* तथा *A Systems Analysis of Political Life* में इस अवधारणा का विस्तार से विवेचन किया है।

राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा—ईस्टन के अनुसार राजनीतिक व्यवस्था सामान्यतः व्यवस्था की सीमाओं के पार पर्यावरण से तथा परस्पर अन्त क्रिया करने वाली उन संरचनाओं प्रक्रियाओं तथा संस्थाओं का समूह है। राजनीतिक व्यवस्था का मुख्य कार्य समाज के लिए मूल्यों का निर्धारण करना, समाज के लक्ष्यों को प्राप्त करना तथा राजनीतिक समझे जाने वाले कार्यों को निष्पादित करना है। उनके अनुसार राजनीतिक व्यवस्था राजनीतिक अन्त क्रियाओं की समग्र इकाई या व्यवस्था है। इस व्यवस्था का निर्माण सार्वजनिक जीवन में भाग लेने वाले उन व्यक्तियों की क्रियाओं द्वारा होता है जो समाज के लिए नीति के निर्माण तथा उसके क्रियान्वन से किसी प्रकार सम्बद्ध हों।

ईस्टन की व्यवस्था सम्बन्धी उपरोक्त अवधारणा समन्वयात्मक है। उसमें मूल्य, संस्कृति, सत्ता, शासन, क्रियान्विन, व्यवस्था के लिए राजनीतिक सम्बन्धों एवं प्रक्रियाओं का योगदान आदि सभी कुछ आ जाता है। उसके अनुसार 'व्यवस्था' शब्द व्यापक है और उसमें सभी प्रकार की औपचारिक तथा अनौपचारिक प्रक्रियाएँ, अन्त क्रियाएँ, कार्य मूल्य तथा आचार आदि आ जाते हैं। राज-व्यवस्था समाज-व्यवस्था की उप-व्यवस्था है तथा स्वयं राज-व्यवस्था में अनेक उप-व्यवस्थाएँ होती हैं। इस प्रकार ईस्टन राजनीतिक व्यवस्था को एक बड़ी इकाई मानता है जो राजनीतिक जीवन की व्यवहार व्यवस्था के रूप में अन्दर से परिचालित होती है।

ईस्टन की राजनीतिक व्यवस्था विश्लेषणात्मक अथवा विचारात्मक है, क्योंकि यह मानव व्यवहार के कुछ चुने हुए तत्वों से अमूर्त रूप से सम्बद्ध है। उसके अनुसार राजव्यवस्था अपने पर्यावरण उप-व्यवस्थाओं तथा व्यवस्थाओं से प्रभाव ग्रहण करती रहती है तथा उनको परिवर्तित करके निर्गतों (Output) में बदल देती है। इस प्रकार राजनीतिक व्यवस्था निरन्तर क्रिया प्रतिक्रिया करती रहती है।

राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित करने वाले कारक—राजनीतिक व्यवस्था को मुख्य रूप से तीन कारक प्रभावित करते हैं जो निम्नलिखित हैं

(1) पर्यावरण (Environment)—ईस्टन के अनुसार राजनीतिक व्यवस्था कुछ विशेष प्रकार के प्रभावों या निवेशों (*inputs*) को नीतियों, निर्णयों तथा क्रियान्वकारी क्रियाओं के निर्गतों (*outputs*) में परिवर्तित करती है। परिवर्तन का यह कार्य विशेष पर्यावरण में किया जाता है। राज-व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि वह पर्यावरण के प्रति अनुक्रिया करने की क्षमता रखे तथा मार्ग में आने वाली रुकावटों का सामना करते हुए अपने को परिस्थितियों के अनुकूल बनाये, तभी वह जीवित रह सकती है। पर्यावरण दो प्रकार का हो सकता है समाज के बाहर का एवं समाज के अन्दर का। समाज के बाह्य पर्यावरण के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ, विभिन्न राज व्यवस्थाएँ, दबाव समूह, संयुक्त राष्ट्र तथा विभिन्न देशों की सामाजिक व्यवस्थाएँ आती हैं। समाज के आन्तरिक पर्यावरण में व्यक्तिपरक एवं सामाजिक व्यवस्थाएँ आती हैं।

(2) अनुक्रिया (Response)—*एक आदर्श राज व्यवस्था को दो प्रकार के* कार्य करने होते हैं—(1) समाज के लिए मूल्यों का निर्धारण तथा (2) अपने सदस्यों को इन निर्धारित मूल्यों को मानने के लिए प्रेरित करने की व्यवस्था। ये दोनों कार्य इतने आवश्यक हैं कि इनके बिना राज व्यवस्था का तथा राज-व्यवस्था के बिना समाज का अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है। प्रत्येक राज-व्यवस्था पर पर्यावरण के द्वारा अनेक प्रकार के प्रभाव तथा दबाव आदि डाले जाते हैं। व्यवस्था इन प्रभावों तथा दबावों आदि का सामना करने के लिए अनेक प्रकार की अनुक्रियाएं करती है। प्रभावों *तथा दबावों आदि को निवेश तथा अनुक्रियाओं को निर्गत कहा जाता है।*

(3) प्रतिसम्भरण पाश (Feed back Loop)—ईस्टन के अनुसार प्रतिसम्भरण पाश अनुक्रियाओं अथवा निर्गतों के परिणामों को प्रभाव दबाव आदि निवेशों के निरन्तर प्रवाह के साथ जोड़ता है और इस प्रकार वह निवेश तथा निर्गत के बीच एक चक्राकार सम्बन्ध स्थापित कर देता है। इस तरह प्रतिसम्भरण पाश की प्रक्रियाएँ राजनीतिक चक्र को पूर्णता प्रदान करती हैं तथा व्यवस्था को गत्यात्मक, सोद्देश्यपूर्ण तथा लक्ष्योन्मुख बनाती है। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि प्रतिसम्भरण पाश राजनीतिक व्यवस्था में सत्ता और सदस्यों का इस प्रकार जोड़ता है कि सदस्यों की अनुक्रियाएँ सत्ता का सचारित की जाती रहें जिससे अधिकारियों द्वारा तदनुकूल कदम *उठाये जा सकें।*

व्यवस्था सम्बन्धी ईस्टन का उपरोक्त विश्लेषण एक ऐसा अवधारणात्मक विचार बन्ध है जो यह बताता है कि एक व्यवस्था किस प्रकार एक लम्बे समय तक निरन्तर निर्णय निर्माण तथा उनका क्रियान्वयन करती चली जाती है और वह किस प्रकार अपने ऊपर आने वाले दबावों का सामना करती है। किसी भी व्यवस्था का सतत बने रहने के लिए यह आवश्यक है कि वह दबावों को कम करने वाले कदम उठाने में सामर्थ्यवान हो।

ईस्टन की राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा की सीमाएं—ईस्टन के विश्लेषण ने व्यवस्था उपागम के यथास्थितिवादी होने के दोष को दूर करने में काफी सफलता प्राप्त की है। उसने अपनी विभिन्न अवधारणाओं जैसे—निवेश निर्गत, दबाव, प्रतिसम्भरण आदि में गतिशीलता का परिचय दिया है। ईस्टन केवल व्यवस्था की गहराई में ही नहीं जाता अपितु उसकी दृष्टि अन्य व्यवस्थाओं, उप व्यवस्थाओं तथा सम्पूर्ण पर्यावरण की ओर भी है। यंग के अनुसार 'किसी भी राज-वैज्ञानिक द्वारा राजनीतिक विश्लेषण के लिए निर्मित यह अब तक का सर्वश्रेष्ठ उपागम है।"

इतना सब होते हुए भी ईस्टन के *विश्लेषण को पूर्णतया दोषमुक्त नहीं कहा* जा सकता है। साधारणतया इसमें निम्नलिखित कमियाँ दृष्टिगोचर होती हैं

(1) राजनीतिक व्यवस्था सम्बन्धी अपनी अवधारणा में ईस्टन क्रान्तिकारी परिवर्तनों, विनाश तथा पतन आदि की घटनाओं को कोई स्थान नहीं देता है।

(2) ईस्टन ने मानव व्यवहार के मूर्त-प्रतिमानों पर विचार करने की अपेक्षा अमूर्त एवं विश्लेषणात्मक व्यवस्थाओं पर ही विचार किया है जिसके कारण उसके विश्लेषण में नियन्त्रण, शक्ति एवं प्रभाव जैसे महत्त्वपूर्ण तथ्य अछूते रह गये हैं। उसमें नेतृत्व एवं मतदान जैसे राजनीतिक विषयों का भी कोई स्थान नहीं है। अतः राजनीतिक अनुसन्धान की दृष्टि से ईस्टन के विश्लेषण का उपयोग नहीं किया जा सकता है।

(3) उसकी अवधारणा में व्यक्तियों, व्यक्ति-समूहों तथा व्यक्तिगत कार्यों का अत्यन्त गौण स्थान है।

(4) ईस्टन राजनीतिक व्यवस्था को अराजनीतिक व्यवस्थाओं से विश्लेषणात्मक आधार पर अलग नहीं कर सका है।

(5) व्यवस्था का विश्लेषण करते समय वह बार-बार अमूर्त राजनीतिक अन्तःक्रियाओं को व्यवस्था के सदस्यों में प्रतिस्थापित कर देता है।

(6) वह यथास्थितिवादी होने के दोष से भी नहीं बच पाया है।

उपरोक्त कमियों के होते हुए भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि एक अनुशासन के रूप में राजनीतिक विज्ञान को डेविड ईस्टन की एक महत्वपूर्ण देन रही है।

अभ्यास के प्रश्न

1. राजनीतिक व्यवस्था अवधारणा का परीक्षण कीजिए एवं राजनीतिक व्यवस्था के प्रमुख लक्षणों को स्पष्ट कीजिए। (राजस्थान विश्व०, 1978)
2. डेविड ईस्टन की 'राजनीतिक व्यवस्था' अवधारणा की विवेचना कीजिए एवं उसकी सीमाओं को स्पष्ट कीजिए।
3. डेविड ईस्टन के सधार (Frame work) के मूल तत्वों के रूप में 'राजनीतिक, 'व्यवस्था' एवं राजनीतिक व्यवस्था' शब्दों को स्पष्ट कीजिए।
4. 'राज्य' एवं 'शासन सम्बद्ध परम्परागत दृष्टिकोण से श्रेष्ठतर विकल्प के रूप में, डेविड ईस्टन की राजनीतिक व्यवस्था अवधारणा की विवेचना कीजिए।
5. आपके विचार में एक राजनीतिक व्यवस्था की आवश्यक विशेषताएँ क्या हैं ? ये किन अर्थों में राज्य से भिन्न होती हैं ? (राजस्थान विश्व०, 1976)
6. राजनीतिक व्यवस्था की परिभाषा दीजिए और इसकी प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए। (राजस्थान विश्व०, 1979)

27

अधिकार तथा कर्त्तव्य

[RIGHTS AND DUTIES]

"राज्य अधिकारों की सृष्टि नहीं करता, वह तो केवल उन्हें मान्यता प्रदान करता है तथा राज्य के स्वरूप को किसी समय अधिकारों की मान्यता के आधार पर ही समझा जा सकता है।"[1] —प्रा० लास्की

अधिकारों की आवश्यकता—अधिकार हमारे सामाजिक जीवन की अनिवार्य आवश्यकतायें है जिनके बिना न तो व्यक्ति के व्यक्तित्व का समुचित विकास ही हो सकता है और न श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति ही हो सकती है। प्रत्यक मनुष्य में प्रकृति द्वारा प्रदत्त कुछ अन्तर्निहित शक्तियाँ होती हैं। मनुष्य अधिकारों के द्वारा ही अपनी उन आन्तरिक शक्तियों का विकास कर सकता है। यही नहीं, समाज तथा राष्ट्र की उन्नति के लिए भी मनुष्यों को अधिकार मिलना अत्यन्त आवश्यक है। यदि आज देश के सभी लोगों को किसी प्रकार के भेद भाव के बिना समान अधिकार प्रदान कर दिये जायें तो समाज में शोषण अन्याय तथा ऊँच-नीच की भावना आदि का अन्त हो जायेगा और लोगों में पारस्परिक सहयोग तथा भ्रातृत्व की भावना का उदय होगा। ऐसी भावना के द्वारा ही विश्व-बन्धुत्व के आदर्श को प्राप्त किया जा सकता है तथा संसार में स्थायी शान्ति की स्थापना हो सकती है। इस प्रकार अधिकारों की प्राप्ति से केवल व्यक्ति के व्यक्तित्व का ही विकास नहीं होता अपितु उनसे समाज, राष्ट्र तथा सम्पूर्ण संसार की प्रगति भी सम्भव हो जाती है।

अधिकारों का अर्थ और परिभाषा

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि प्रत्यक मनुष्य में कुछ अन्तर्निहित शक्तियाँ होती हैं। इन शक्तियों के विकास से ही मनुष्य के व्यक्तित्व का समुचित विकास

1 "The State dose not create, but recognise rights and its character will be apparent from the rights that, at any given period secure recognition" —Laski

सम्भव है। इन शक्तियों के विकास के लिए मनुष्य को कुछ बाहरी सुविधाओं की आवश्यकता पड़ती है। यदि मनुष्य को जीवन की ये बाहरी सुविधायें और विकास के अवसर प्राप्त न हुए तो उसका व्यक्तित्व निश्चित रूप से अपूर्ण तथा अविकसित रह जायेगा। अतः प्रत्येक सभ्य समाज अपने सदस्यों को ऐसी सुविधायें तथा सुअवसर देने का प्रयत्न करता है जिनमे उनके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो। समाज अथवा राज्य द्वारा व्यक्ति को प्रदान की जाने वाली इन सुविधाओं का नाम ही अधिकार है। लास्की के मतानुसार, "किसी राज्य का मूल्यांकन इस आधार पर किया जा सकता है कि वह अपने नागरिकों को किस प्रकार के अधिकार प्रदान करता है।"[1]

अधिकार किसे कहते है, इस सम्बन्ध में विभिन्न विचारकों ने जो परिभाषायें दी हैं उनमें से कुछ मुख्य परिभाषायें निम्नलिखित हैं

प्रो० लास्की के अनुसार "अधिकार सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियाँ है जिनके बिना साधारणतया कोई व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं कर सकता है।"[2]

हॉलैण्ड के शब्दों में, "एक व्यक्ति द्वारा अन्य व्यक्तियों के कार्यों को, अपनी शक्ति के बल पर नहीं बल्कि समाज की शक्ति के बल पर, प्रभावित करने की क्षमता को अधिकार कहते है।"[3]

वाइल्ड के मतानुसार, "कुछ विशेष कार्यों को करने की स्वतन्त्रता की न्याय-पूर्ण माँग को अधिकार कहा जाता है।"[4]

बोसांके ने लिखा है कि, "अधिकार वह माँग होती है, जिसे समाज स्वीकार करता है तथा राज्य लागू करता है।"[5]

डॉ बेनीप्रसाद के शब्दो में, 'अधिकार वस्तुतः वे परिस्थितियाँ हैं जो व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक और अनुकूल है।"

---

1 "Every State ■ known by the rights that it maintains " — **Laski**

2 "Rights are those conditions of social life, without which no man can seek, in general, to be himself at his best " — **Laski**

3 "A right is one man's capacity of influencing the act of others, not by his own strength but by the strength of the society "
— **Holland**

4 "A right is a reasonable claim to freedom in the .excercise of certain activities "
— **Wilde**

5 "A right is a claim recognised by the society and enforced by the state "
— **Bosanquet**

श्रीनिवास शास्त्री के अनुसार "अधिकार समुदाय के कानून द्वारा स्वीकृत वह व्यवस्था, नियम या प्रथा है, जो नागरिक के उच्चतम नैतिक कल्याण मे सहायक हो।"[1]

उपरोक्त सभी परिभाषाओ के सार रूप मे हम अधिकार की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं कि, **"अधिकार वे सामाजिक परिस्थितियाँ हैं, जो व्यक्ति के व्यक्तित्व के उच्चतम विकास के लिए आवश्यक हैं, जिन्हें समाज स्वीकार करता है और राज्य जिनको संरक्षण प्रदान करता है।"**

अधिकार के आवश्यक लक्षण

अधिकार के अर्थ तथा उनके स्वरूप के सम्बन्ध मे जो परिभाषायें दी गयी हैं उनके आधार पर अधिकार के निम्नलिखित लक्षण बताये जा सकते हैं

(1) **व्यक्ति या व्यक्ति समूह की मांग**—व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए कुछ बाहरी सुविधाओ की आवश्यकता होती है। इन सुविधाओ की प्राप्ति के बिना व्यक्तित्व का समुचित विकास एव सद्‌जीवन सम्भव नही है। अत व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह इन सुविधाओ को 'मांग' (claim) के रूप मे समाज के समक्ष रखता है। लोकसम्मत होने पर समाज जिन मांगो को मान्यता प्रदान कर देता है, केवल वे ही मांगें अधिकारो का रूप प्राप्त कर लेती हैं।

(2) **नैतिक आधार**—अधिकारो का आधार नैतिक होता है अर्थात व्यक्ति की उन्ही मांगो को स्वीकार किया जाता है जो समाज की दृष्टि मे व्यक्ति के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक हो। दूसरे शब्दो मे, हम यह कह सकते हैं कि व्यक्ति की कोई भी मांग केवल नैतिकता के आधार पर ही अधिकार का रूप ग्रहण कर सकती है। व्यक्ति की ऐसी मांगो को जो अनैतिक एव अपवित्र हो, तथा जो व्यक्ति के विकास मे बाधक हो, समाज के द्वारा कभी भी मान्यता प्रदान नही की जा सकती है। इसी कारण मद्यपान व्यभिचार, आत्म हत्या या जुआ खेलने जैसी अनैतिक तथा अपवित्र मांगो को कभी भी अधिकार का रूप नही दिया जा सकता है।

(3) **सामाजिक स्वरूप**—अधिकार का एक प्रमुख लक्षण यह है कि उनका स्वरूप सामाजिक होता है। संगठित समाज के अभाव मे अधिकारों का अस्तित्व सम्भव नही है। प्रथम तो अधिकारो के लिए समाज की स्वीकृति आवश्यक होती है। यदि किसी मांग को समाज द्वारा स्वीकार नही किया जाता तो वह अधिकार नही है। द्वितीय व्यक्ति को अपने विकास के लिए जो अधिकार प्रदान किये जाते हैं, उनका उपभोग वह समाज मे रह करके ही कर सकता है। निर्जन स्थान पर व्यक्ति के कोई अधिकार नही होते। तृतीय, अधिकारों का उद्देश्य व्यक्ति के विकास के साथ-

---

1 "A right is an arrangement, rule or practice sanctioned by the law of the community and conducive to the highest moral good of the citizen" —**Shriniwas Shastri**

साथ समाज का हित-साधन भी होता है। इस दृष्टि से भी अधिकार समाजगत होते हैं।

(4) **सार्वजनिक हित में प्रयोग**—अधिकार व्यक्तियों के वे दावे हैं जो सभी व्यक्तियों के लिए तथा सभी की भलाई का ध्यान रखते हुए किये जाते हैं, अत अधिकारों का प्रयोग इस प्रकार किया जाना चाहिए जिससे व्यक्ति की उन्नति के साथ-साथ सम्पूर्ण समाज की भी उन्नति हो। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि अधिकारों का प्रयोग सार्वजनिक हित में किया जाना चाहिए।

(5) **राज्य का संरक्षण**—अधिकारों का एक आवश्यक लक्षण यह है कि राज्य उनका सृष्टा नहीं बल्कि संरक्षक होता है। राज्य समाज द्वारा स्वीकृत अधिकारों को केवल वैधानिक मान्यता प्रदान करता है। मान्यता देने पर राज्य इन अधिकारों की रक्षा करता है तथा उनका उल्लंघन किये जाने पर अपराधियों को यथोचित दण्ड देने की व्यवस्था करता है। जिन अधिकारों को राज्य का संरक्षण प्राप्त नहीं होता है वे केवल नैतिक अधिकार कहलाते हैं।

(6) **समानता का आधार**—अधिकार का एक मुख्य लक्षण समानता की धारणा है। इसका तात्पर्य यह है कि अधिकार बिना किसी प्रकार के भेद-भाव के समाज के सभी व्यक्तियों को समान रूप से प्रदान किये जाने चाहिए। इसके अभाव में **'जिसकी लाठी उसकी भैंस'** वाली कहावत चरितार्थ होगी।

(7) **विकासशील स्वरूप**—मनुष्यों की आवश्यकतायें निरन्तर बदलती रहती हैं। अत उनके साथ-साथ अधिकारों का स्वरूप भी बदलता रहता है। समय के साथ-साथ कुछ अधिकार अमान्य हो जाते हैं तथा नये-नये अधिकारों को मान्यता मिलती रहती है।

(8) **कर्त्तव्यों के साथ घनिष्ठता**—अधिकारों के सामाजिक होने का एक पहलू यह भी है कि जो व्यक्ति अपने अधिकारों का उपयोग करना चाहते हैं, उन्हें दूसरों के अधिकारों का पूरा सम्मान करना चाहिए। अत अधिकारों का वास्तविक उपभोग अपने कर्त्तव्यों के भली प्रकार पालन करने पर निर्भर है। **वाइल्ड ने ठीक ही लिखा है कि, 'केवल कर्त्तव्यों के संसार में ही अधिकारों का महत्त्व हो सकता है।"**

अधिकारों का वर्गीकरण

सामान्यत अधिकारों को दो भागों में विभक्त किया जाता है (1) नैतिक अधिकार, तथा (2) कानूनी अधिकार। इनके अतिरिक्त मौलिक अधिकारों की भी एक धारणा है जो नैतिक और कानूनी दोनों प्रकार के अधिकारों को अपने में समाविष्ट कर लेती है। हम यहाँ पर तीनों प्रकार के अधिकारों की विवेचना करेंगे।

नैतिक अधिकार—नैतिक अधिकार वे होते हैं जिनका सम्बन्ध मनुष्य के नैतिक आचरण अथवा नैतिक भावना से होता है। इन अधिकारों का पालन करना या न करना व्यक्तिगत इच्छा पर निर्भर रहता है, क्योंकि इन अधिकारों के पीछे राज्य की

कोई कानूनी शक्ति नहीं होती। अतः इनका उल्लंघन होने पर किसी को भी दण्ड नहीं दिया जा सकता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई पुत्र अपने माता-पिता का आदर नहीं करता अथवा वृद्धावस्था में उनकी सहायता नहीं करता तो राज्य उसे किसी प्रकार का दण्ड नहीं दे सकता। इस प्रकार नैतिक अधिकार मनुष्य की नैतिकता पर आधारित होते हैं।

कानूनी अधिकार—कानूनी अधिकारों का तात्पर्य उन अधिकारों से होता है जिन्हें राज्य द्वारा मान्यता प्रदान की जाती है तथा जिनकी रक्षा का उत्तरदायित्व राज्य पर होता है। इन अधिकारों का उल्लंघन राज्य द्वारा दण्डनीय होता है। लीकॉक के शब्दों में, "कानूनी अधिकार वह विशेषाधिकार है जो प्रत्येक नागरिक को अपने साथी नागरिकों के विरुद्ध प्राप्त होता है तथा जो राज्य की सर्वोच्च शक्ति द्वारा प्रदान किया जाता है और उसके द्वारा रक्षित होता है।"[1]

कानूनी अधिकारों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है नागरिक अधिकार और राजनीतिक अधिकार।

नागरिक अधिकार

नागरिक अधिकारों को सामाजिक अधिकार भी कहा जाता है। नागरिक अथवा सामाजिक अधिकार उन अधिकारों को कहते हैं जिन्हें राज्य में निवास करने वाले सभी व्यक्ति समान रूप से उपभोग करते हैं। ये अधिकार मानव-व्यक्तित्व के विकास तथा सभ्य और उन्नतशील जीवन की व्यवस्था के लिए अत्यन्त आवश्यक होते हैं। ऐसे अधिकारों में निम्नलिखित अधिकार प्रमुख हैं

(1) **जीवन रक्षा का अधिकार**—जीवन रक्षा का अधिकार मनुष्य का सबसे महत्त्वपूर्ण अधिकार है। इस अधिकार के अभाव में अन्य अधिकारों का कोई महत्त्व ही नहीं है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन की रक्षा का अधिकार मिलना चाहिए और राज्य का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह व्यक्ति के जीवन की रक्षा के लिए समुचित व्यवस्था करे। इस अधिकार के दो पहलू हैं प्रथम तो, जीवन रक्षा के अधिकार के अन्तर्गत आत्म-रक्षा का अधिकार भी निहित है। इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति को अपने जीवन की रक्षा के लिए सब प्रकार की कार्यवाही करने का अधिकार है। यदि वह आत्म रक्षा के प्रयत्न में आक्रमणकारी को जान से भी मार डालता है तो वह अपराध की श्रेणी में नहीं आता। द्वितीय, व्यक्ति का जीवन स्वयं उसके साथ-साथ समाज की सम्पत्ति भी होता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति को यह अधिकार नहीं होता कि वह स्वयं भी अपने जीवन का अन्त कर ले। अतः यदि कोई व्यक्ति आत्महत्या करने का प्रयत्न करता है तो वह एक दण्डनीय अपराध होगा।

---

1 "A legal right is a privilege enjoyed by a citizen against his fellow citizens granted by the sovereign power of the state and upheld by that power." —*Leacock*

(2) **समता का अधिकार**– समता के अधिकार के अन्तर्गत कई बातें शामिल हैं (क) **कानून के समक्ष समता**– इसका तात्पर्य यह है कि कानून की दृष्टि में सभी व्यक्ति समान समझे जायें, सभी को अवसर की समानता प्राप्त हो, किसी के प्रति पक्षपातपूर्ण व्यवहार न किया जाये तथा कानून प्रदत्त सुविधाओं से कोई व्यक्ति वंचित न रहे। (ख) **राजनीतिक समता** – इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को बिना किसी प्रकार के भेद भाव के अपनी योग्यतानुसार देश के शासन में भाग लेने का अवसर प्राप्त होना चाहिए। यह वयस्क मताधिकार की व्यवस्था द्वारा ही सम्भव है। (ग) **सामाजिक समता** – इसका तात्पर्य यह है कि समाज में जाति, धर्म, भाषा सम्पत्ति तथा लिंग आदि के आधार पर मनुष्यों के साथ किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं बरता जाये। डॉ० बेनी प्रसाद के शब्दों में, "**समाज में प्रत्येक व्यक्ति के सुख का समान महत्त्व हो तथा किसी को भी दूसरे के सुख का साधन-मात्र नहीं समझा जाये।**" इस तरह समाज में सभी व्यक्तियों को समान महत्त्व तथा समान आदर प्राप्त होना चाहिए। (घ) **आर्थिक समता** इसका तात्पर्य यह है कि समाज में गम्भीर आर्थिक विषमतायें नहीं हो तथा सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों का न्यायपूर्ण वितरण हो।

(3) **स्वतन्त्रता का अधिकार**–व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास तथा समाज की प्रगति के लिए स्वतन्त्रता का अधिकार अत्यन्त आवश्यक है। स्वतन्त्रता का अर्थ बन्धनों का अभाव नहीं है। इसका तात्पर्य व्यक्ति के आत्म विकास के लिए पूर्ण अवसरों की प्राप्ति अथवा उसके व्यक्तित्व की निरन्तर अभिव्यक्ति के अवसर से है। लास्की के अनुसार, '**स्वतन्त्रता का अर्थ विकास करने की शक्ति से है अर्थात् वह शक्ति जिसके द्वारा व्यक्ति बिना किसी बाहरी बन्धन के अपनी इच्छानुसार अपने तरीके से अपने जीवन का विकास कर सके।**"[1] स्वतन्त्रता इस बात की गारण्टी और शर्त दोनों है कि मनुष्य को अपने कार्यों के सम्बन्ध में आत्म निर्णय का पूरा अधिकार है। इस अधिकार के अन्तर्गत निम्नलिखित स्वतन्त्रतायें शामिल हैं

(i) **वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अधिकार** वैयक्तिक स्वतन्त्रता से तात्पर्य शारीरिक और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से है। इससे हमारा अभिप्राय यह है कि किसी व्यक्ति को न तो दास बनाया जा सकता है और न अपराध प्रमाणित हुए बिना उसे बन्दी ही बनाया जा सकता है। कानून का उल्लंघन किये बिना किसी व्यक्ति को गिरफ्तार नहीं किया जा सकता और कोई अन्य व्यक्ति भी उसे गैर कानूनी ढंग से अपने यहाँ बन्द नहीं रख सकता। यह एक मूल अधिकार है जिसके अभाव में अन्य

---

1 "It implies the power to expand the choice by the individual of his own way of life without imposed prohibitions from without." —**Laski** *Liberty in the Modern State*, p 11.

सभी अधिकार अर्थहीन हो जाते हैं। मिल तथा बर्ट्रेण्ड रसल ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को बहुत अधिक महत्व दिया है।

(ii) **विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार**—व्यक्ति का व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिए विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता अत्यन्त आवश्यक है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वह भाषणों तथा लेखन आदि के द्वारा अपने विचारों को दूसरे लोगों के सम्मुख रख सके। 'विचारों का आदान-प्रदान एवं स्वतन्त्र वाद-विवाद मस्तिष्क को उत्तेजित करता है और व्यक्तित्व को ऊँचा उठाता है।" इसके साथ-साथ प्रकाशन की भी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। लोकतन्त्रीय शासन में तो इसकी आवश्यकता और अधिक होती है जिससे स्वस्थ लोकमत का निर्माण हो सके। सुकरात, मिल्टन, मिल, लास्की आदि अनेक विचारकों ने विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के महत्व को स्वीकार किया है। सुकरात ने विचारों की स्वतन्त्रता को त्यागने की अपेक्षा मृत्यु का आलिंगन करना अधिक श्रेष्ठ समझा। मिल के अनुसार विचार स्वातन्त्र्य के अभाव में सामाजिक प्रगति रुक जायगी और सुधार असम्भव हो जायेंगे। परन्तु यह अधिकार निरपेक्ष नहीं है। व्यक्ति के द्वारा अपने अधिकारों का दुरुपयोग किये जाने की स्थिति में अथवा शान्ति और व्यवस्था के हित में राज्य द्वारा अधिकार पर कुछ प्रतिबन्ध लगा सकता है।

(iii) **भ्रमण की स्वतन्त्रता का अधिकार**—प्रत्येक नागरिक को देश के किसी भी भाग में इच्छानुसार आने-जाने, भ्रमण करने तथा निवास करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। किन्तु यदि व्यक्ति अपनी इस स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करता है तो राज्य के द्वारा इस अधिकार को नियन्त्रित एवं मर्यादित किया जा सकता है।

(iv) **सभा करने एवं संगठन बनाने की स्वतन्त्रता का अधिकार**—विचारों के प्रकाशन के लिए मनुष्यों को शान्तिपूर्वक बिना किसी अस्त्र शस्त्र के सभा करने तथा प्रदर्शन करने का अधिकार होना चाहिए जिससे स्वतन्त्रतापूर्वक वे अपने विचारों को जनता और सरकार के सम्मुख रख सकें। इसके अतिरिक्त मनुष्यों को अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विभिन्न प्रकार के समुदाय अथवा संगठन बनाने का अधिकार भी होना चाहिए। ये संगठन राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि अनेक प्रकार के हो सकते हैं। किन्तु इस प्रकार के किसी भी संगठन को अनैतिक अथवा समाजविरोधी कार्य करने की स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती है।

(v) **धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार**—इस अधिकार का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को किसी भी धर्म को मानने, उसके अनुसार आचरण करने तथा उसका प्रचार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। धर्म का सम्बन्ध मनुष्य के अन्तःकरण अर्थात् श्रद्धा और विश्वास से होता है, अतः राज्य के द्वारा मनुष्य को उसकी इच्छा के विरुद्ध किसी भी धर्म का पालन करने के लिए बाध्य नहीं किया जाना चाहिए। परन्तु यदि कोई धर्म इसकी आड़ में अनैतिकता, धार्मिक असहिष्णुता, पारस्परिक

घृणा व द्वेष तथा हिंसा को बढ़ावा देता है, तो राज्य उस पर प्रतिबन्ध लगा सकता है। आज अधिकांश लोकतान्त्रिक राज्य इसी अर्थ में धर्म-निरपेक्ष हैं।

(4) **सम्पत्ति का अधिकार**—सम्पत्ति का मानव के जीवन में अत्यधिक महत्त्व है। इसके अभाव में वह अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं कर सकता। इस अधिकार का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को निर्विघ्नतापूर्वक धन कमाने, सम्पत्ति खरीदने तथा अपनी सम्पत्ति का उपभोग करने का अधिकार होना चाहिए। नागरिकों में यह विश्वास होना चाहिए कि वे अपने परिश्रम से जो भी धन उपार्जित करेंगे, वह सुरक्षित रहेगा तथा बिना मुआवजा दिये राज्य के द्वारा उसे नहीं छीना जा सकेगा। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सम्पत्ति के अधिकार पर राज्य कुछ भी नियन्त्रण नहीं लगाये। सम्पत्ति के उत्पादन और वितरण का सामाजिक कल्याण से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि राज्य इस विषय में तटस्थ नहीं रह सकता। अत राज्य को सामाजिक हित में व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार पर नियन्त्रण लगाना आवश्यक हो जाता है।

(5) **व्यवसाय की स्वतन्त्रता का अधिकार**—इस अधिकार का सम्बन्ध व्यक्ति के जीविकोपार्जन से है, अत यह अधिकार जीवन के अधिकार के साथ जुड़ा हुआ है। इस अधिकार का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने तथा अपने परिवार के पालन-पोषण के लिए किसी भी व्यवसाय को चुनने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। उसे राज्य से काम प्राप्त करने तथा कार्य के अनुरूप उचित पारिश्रमिक प्राप्त करने का भी अधिकार होना चाहिए। लास्की के शब्दों में **"व्यक्ति को केवल काम प्राप्त करने का ही अधिकार नहीं है अपितु उसे यह भी अधिकार है कि काम के अनुरूप उसे उपयुक्त मजदूरी मिले।"**[1] परन्तु यह अधिकार भी असीमित नहीं है। नागरिकों को राज्य के द्वारा अनैतिक तथा असामाजिक व्यवसायों को करने की किसी प्रकार भी छूट नहीं दी जा सकती है।

(6) **आर्थिक सुरक्षा का अधिकार** इसे न्यूनतम आय का अधिकार भी कहते हैं। इस अधिकार से तात्पर्य यह है कि सरकार प्रत्येक समर्थ व्यक्ति को या तो रोजगार दे अन्यथा उसके भोजन, वस्त्र और निवास आदि की समुचित व्यवस्था करे। राज्य का यह भी कर्तव्य है कि वह बेकारी, बीमारी या वृद्धावस्था की स्थिति में नागरिकों के भरण-पोषण के लिए 'न्यूनतम आय' की व्यवस्था करे।

(7) **शिक्षा और संस्कृति का अधिकार**—शिक्षा मनुष्य के विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यह मनुष्य के मस्तिष्क का विकास करती है, उसे भले-बुरे का ज्ञान कराती है तथा उसे अधिकार और कर्त्तव्यों से परिचित कराती है। इसलिए

---

1 "A man has not only the right to work He has the right also to be paid an adequate wage for his labour"—**Laski** : *Grammar of Politics*, p 107

नागरिकों को अपने जीवन को सुखी तथा उन्नत बनाने के लिए शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए। सरकार का यह कर्तव्य है कि वह सभी वर्गों के लिए शिक्षा प्राप्त करने की समान सुविधाएँ प्रदान करे। वह एक निश्चित स्तर तक अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करे तथा पुस्तकालय, वाचनालय संग्रहालय आदि का प्रबन्ध करे।

(8) **परिवार सम्बन्धी अधिकार**—परिवार नागरिक जीवन की प्रथम पाठशाला है। मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में परिवार का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। अतः राज्य को मनुष्य के पारिवारिक जीवन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इस अधिकार में अन्तर्गत विवाह की स्वतन्त्रता का अधिकार, तलाक का अधिकार, सन्तानोत्पत्ति तथा सन्तान के पालन-पोषण का अधिकार आदि सम्मिलित है।

राजनीतिक अधिकार

राजनीतिक अधिकार वे अधिकार होते हैं जो राज्य की ओर से केवल नागरिकों को प्राप्त होते हैं। इन अधिकारों के द्वारा नागरिक अपने देश के शासन में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से भाग लेते हैं। डॉ० बेनी प्रसाद ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि, **"राजनीतिक अधिकारों का तात्पर्य उन व्यवसायों से है जिनमें नागरिकों को शासन कार्य में भाग लेने का अवसर प्राप्त होता है तथा नागरिक शासन प्रबन्ध को प्रभावित कर सकते हैं।"** एक लोकतान्त्रिक राज्य में नागरिकों को सामान्यतया निम्नलिखित अधिकार प्रदान किये जाते हैं

(1) **मत देने का अधिकार**—वर्तमान समय में विशाल राज्यों में यह सम्भव नहीं है कि प्रत्येक नागरिक शासन कार्य में प्रत्यक्ष रूप से भाग ले सके। अतः इन राज्यों में अप्रत्यक्ष अथवा प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र की व्यवस्था को अपनाया जाता है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत नागरिक शासन कार्य के संचालन के लिए समय-समय पर अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन करते हैं। अतः एक लोकतन्त्रीय शासन में बिना किसी प्रकार के भेद भाव के सभी वयस्कों को मताधिकार प्राप्त होना चाहिए जिससे वे समान रूप से सार्वजनिक कार्यों में भाग ले सकें। मताधिकार लोकतन्त्र की आधारशिला है। यह अधिकार के साथ साथ एक उत्तरदायित्व भी है और इसके विवेकपूर्ण प्रयोग पर ही सामाजिक कल्याण निर्भर है।

(2) **निर्वाचित होने का अधिकार** यह अधिकार मताधिकार का पूरक है तथा लोकतन्त्र में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस अधिकार से तात्पर्य यह है कि आवश्यक योग्यता होने पर नागरिकों को जनता के प्रतिनिधि के रूप में निर्वाचित होने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए और इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का भी कोई भेद-भाव नहीं किया जाना चाहिए। इस अधिकार के माध्यम से ही व्यक्ति देश के शासन में प्रत्यक्ष रूप से भाग ले सकता है।

(3) **सार्वजनिक पद ग्रहण करने का अधिकार**—राज्य के अन्दर सभी नागरिकों को योग्यता के आधार पर सार्वजनिक पद प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए। इस सम्बन्ध में जाति, धर्म, लिंग तथा सम्पत्ति के आधार पर कोई भेद-भाव नहीं किया जाना चाहिए।

(4) **आवेदन-पत्र देने का अधिकार**—लोकतन्त्र में नागरिकों को यह अधिकार भी प्राप्त होना चाहिए कि वे व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप में अपने कष्टों के निवारण के लिए सरकार को आवेदन-पत्र दे सकें। यह एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा नागरिक सरकारी अधिकारियों के कार्यों पर कुछ नियन्त्रण कर सकते हैं।

वस्तुतः सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों के बीच कोई विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती है। डॉ० बेनी प्रसाद के अनुसार, **"ये दोनों अधिकार एक दूसरे के सहायक और पूरक हैं।"** राजनीतिक अधिकारों के बिना सामाजिक अधिकार असुरक्षित रहते हैं तथा सामाजिक अधिकारों के बिना राजनीतिक अधिकारों का कोई महत्त्व नहीं रहता। ये दोनों प्रकार के अधिकार मानव व्यक्तित्व के विकास और सामाजिक कल्याण के साधन हैं। अतः इनका प्रयोग बड़े विवेकपूर्ण ढंग से किया जाना चाहिए।

मौलिक अधिकार—मौलिक अधिकार अधिकारों का ही एक प्रमुख स्वरूप है। ऐसे अधिकार जो व्यक्ति के जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं मौलिक अधिकार कहलाते हैं। ये नैतिक और कानूनी दोनों प्रकार के अधिकारों को अपने में समाविष्ट कर लेते हैं।

मौलिक अधिकारों का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है। दार्शनिक अर्थ में इनसे तात्पर्य उन आदर्श अधिकारों से है जो व्यक्ति के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। इस अर्थ में मौलिक अधिकारों को प्राकृतिक अधिकार भी कहा जा सकता है। संयुक्त राष्ट्र द्वारा स्वीकृत मानव अधिकारों की घोषणा इसी श्रेणी में आती है। दूसरे अर्थ में मौलिक अधिकारों का तात्पर्य उन अधिकारों से है जिन्हें संविधान द्वारा मान्यता प्रदान की जाती है तथा संविधान में संशोधन किये बिना जिनमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। इन अधिकारों को संविधान का संरक्षण प्राप्त होता है तथा न्यायपालिका उनके संरक्षक के रूप में कार्य करती है। यदि सरकार इन अधिकारों का अपहरण करती है तो व्यक्ति अथवा समुदाय सर्वोच्च न्यायालय की शरण लेकर अपने अधिकारों की रक्षा कर सकते हैं। भारतीय संविधान में वर्णित मौलिक अधिकार इसी श्रेणी में आते हैं।

अधिकार सम्बन्धी सिद्धान्त

समय-समय पर अधिकारों के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं, उनमें से निम्नलिखित पाँच सिद्धान्त अधिक प्रमुख हैं :

(1) प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त।

(2) अधिकारों का वैधानिक सिद्धान्त।
(3) अधिकारों का ऐतिहासिक सिद्धान्त।
(4) अधिकारों का सामाजिक कल्याण सिद्धान्त।
(5) अधिकारों का आदर्शवादी सिद्धान्त।

प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त
(The Theory of Natural Rights)

सिद्धान्त की व्याख्या—इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकार मनुष्य को प्रकृति से मिले हैं तथा ये जन्मजात होने के कारण मनुष्य की प्रकृति में निहित हैं। जैसा कि डॉ॰ आशीर्वादम् ने लिखा है कि **"अधिकार मनुष्य की प्रकृति के वैसे ही अंग हैं जैसे उसके शरीर की खाल का रंग। इन अधिकारों का औचित्य सिद्ध करने अथवा इनकी विस्तृत व्याख्या करने की कोई आवश्यकता नहीं है। ये तो स्वयं सिद्ध सत्य हैं।"**[1] इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकार प्रकृति प्रदत्त, जन्मजात, स्वयंसिद्ध, सर्वव्यापी तथा पूर्ण सामाजिक हैं। ये अधिकार मनुष्य को राज्य या समाज द्वारा प्रदान नहीं किये गये हैं, अतः राज्य तथा समाज को इनके उपयोग में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने का भी कोई अधिकार नहीं है। जीवन का अधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार, विवेक का अधिकार आदि प्राकृतिक अधिकार हैं।

सिद्धान्त का इतिहास—अधिकारों के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त सबसे प्राचीन सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त की चर्चा सबसे पहले यूनानी दार्शनिकों ने की है। 17वीं तथा 18वीं शताब्दी में प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का अधिक बोलबाला रहा है। सामाजिक समझौता सिद्धान्त के प्रतिपादक इस सिद्धान्त के प्रबल समर्थक रहे हैं। डॉ॰ आशीर्वादम् के शब्दों में, **"उनका अनुमान है कि प्रारम्भ से ही व्यक्ति के कुछ प्राकृतिक अधिकार हैं और संविदा करते समय वह अपने इन अधिकारों में से कुछ को अपने से एक ऊँची सत्ता को इसलिए सौंप देता है कि उसके शेष अधिकारों की रक्षा हो सके।"** लाक के विचारों में यह बात बिल्कुल स्पष्ट है। उसके अनुसार **"सभी मनुष्य जन्म से समान और स्वतन्त्र हैं तथा जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकार प्राकृतिक अधिकार हैं।"**

सामाजिक संविदा के प्रतिपादकों के अतिरिक्त **टामस पेन, मिल्टन, हरबर्ट स्पैन्सर, वाल्टेयर, ब्लैकस्टोन** आदि विचारकों ने भी प्राकृतिक अधिकारों की धारणा का समर्थन किया है। स्पेन्सर के अनुसार **"समान स्वतन्त्रता का अधिकार सभी मनुष्यों का मौलिक अधिकार है।"** समाजशास्त्रीय विचारधारा के अनुसार प्राकृतिक

---

1 "They are as much a part of man's nature, as say the colour of his skin They donot require an elaborate explanation or justification They are self-evident truths"—**Dr Ashirvatham ; *Political Theory*, p. 113.**

अधिकार मनुष्य की वे स्वतन्त्रताएँ हैं जिनके बिना वह समाज में प्रभावी रूप में कार्य नहीं कर सकता है।

सिद्धान्त का प्रभाव—प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त ने राजनीति-विज्ञान में एक महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। इसने फ्रांस की क्रान्ति और अमरीका के स्वातन्त्र्य युद्ध को प्रभावित किया है। सन् 1793 ई० की फ्रांसीसी घोषणा में स्वतन्त्रता, समानता, सुरक्षा और सम्पत्ति के अधिकार को मनुष्य के महत्त्वपूर्ण प्राकृतिक अधिकारों में गिनाया गया है। सन 1776 ई० की अमरीकी स्वाधीनता की घोषणा में इन सत्यों को सिद्ध माना गया है कि मनुष्य जन्म से ही समान है तथा ईश्वर ने सबको कुछ अदेय अधिकार दिए हैं जिनमें जीवन, स्वाधीनता और सुख की खोज के अधिकार भी है। इस सिद्धान्त के आधार पर वर्तमान समय में भोजन, वस्त्र, निवास तथा आजीविका के अधिकार को प्राकृतिक अधिकारों जैसा माना जाता है।

सिद्धान्त की आलोचना—प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जाती है

(1) प्राकृतिक शब्द की परिभाषा सम्भव नहीं—इस सिद्धान्त की सबसे स्पष्ट आलोचना तो यह है कि 'प्राकृतिक' शब्द की परिभाषा करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इस शब्द के अनेक अर्थ लगाये जाते हैं। **प्रो० रिची (Ritchie)** ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि प्राकृतिक शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं जैसे सम्पूर्ण संसार, सृष्टि का वह भाग जहाँ मानव नहीं है, आदर्श या पूर्ण उद्देश्य, मौलिक या अपूर्ण, साधारण या औसत इत्यादि। प्राकृतिक शब्द के लिए इन अर्थों में से किस अर्थ को सही मानें यह बताना बहुत कठिन है। इसके अतिरिक्त 'प्राकृतिक' शब्द का प्रयोग साधारणतया कृत्रिम, परम्परागत, आध्यात्मिक तथा नागरिक राज्य के विरोध में भी किया जाता है। इस प्रकार प्राकृतिक शब्द का अर्थ अनिश्चित होने के कारण इस सिद्धान्त का प्रतिपादन भी अस्पष्ट एवं अनिश्चित ही है।

(2) प्राकृतिक अधिकारों की कोई सर्वमान्य सूची नहीं—प्राकृतिक अधिकारों के समर्थक इस प्रश्न पर एकमत नहीं हैं कि प्राकृतिक अधिकारों में कौन कौन से अधिकार शामिल हैं। इसलिए प्राकृतिक अधिकारों की कोई सर्वमान्य सूची नहीं बनाई जा सकती। उदाहरण के लिए कुछ विचारक दास प्रथा को प्राकृतिक मानते हैं तो दूसरे उसे कृत्रिम मानते हैं। इसी प्रकार जहाँ कुछ विचारक व्यक्तिगत सम्पत्ति को एक प्राकृतिक अधिकार मानते हैं वहाँ कुछ अन्य विचारक ऐसा नहीं मानते। इसी प्रकार कुछ विद्वान यह मानते हैं कि स्त्री और पुरुष को समान अधिकार होने चाहिए जबकि कुछ दूसरे विद्वान इसका विरोध करते हैं।

(3) समाज से बाहर अधिकारों की कल्पना अवास्तविक—इस सिद्धान्त में समाज से बाहर अथवा उससे पूर्व अधिकारों की कल्पना की गयी है परन्तु ऐसी कल्पना तथ्यों के विरुद्ध है। वास्तविकता तो यह है कि अधिकार समाज में ही हो सकते हैं, समाज से बाहर हमारे पास शक्तियाँ तो हो सकती हैं परन्तु अधिकार नहीं। अधिकार

समाज से पहले के भी नहीं है क्योंकि सामाजिक मान्यता के बिना अधिकारों का अस्तित्व सम्भव नहीं है। गिलक्राइस्ट के अनुसार "अधिकारों की उत्पत्ति इस तथ्य से हुई है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।"[1] बोसांके के शब्दों में "*अधिकार ऐसा दावा है जिसे समाज मान्यता देता है और राज्य लागू करता है।*"[2]

(4) **प्राकृतिक अधिकार अचल और स्थायी नहीं** – यह सिद्धान्त प्राकृतिक अधिकारों को सदैव के लिए स्थायी मान लेता है परन्तु ऐसे कोई प्राकृतिक अधिकार नहीं हो सकते जो अचल और स्थायी हों। प्राकृतिक अधिकारों की धारणा एक गतिशील धारणा है तथा मनुष्यों की सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु इनके स्वरूप में परिवर्तन होता रहता है। वीको (Vico) ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "**प्राकृतिक अधिकारों की व्याख्या भी समय और परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ साथ बदलती रहती है।**"

(5) **प्राकृतिक अधिकारों में विरोधाभास** प्राकृतिक अधिकारों में पारस्परिक विरोध पाया जाता है। *यह सिद्धान्त अधिकारों को निरपेक्ष तथा अनियन्त्रित मानता* है परन्तु अधिकारों की व्यावहारिक उपयोगिता के लिए उन पर किसी न किसी प्रकार का नियन्त्रण आवश्यक हो जाता है। इसके अतिरिक्त एक अनियन्त्रित अधिकार दूसरे अधिकार को नष्ट कर देता है। उदाहरणार्थ यदि हम पूर्ण समानता को अपनाएं तो स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है और यदि हम पूर्ण स्वतन्त्रता की बात करें तो समानता एक कल्पना मात्र बनकर रह जाती है। अतः निरपेक्ष अनियन्त्रित अधिकारों की कल्पना सम्पूर्ण समाज के हित की दृष्टि से उचित नहीं है।

(6) **राज्य तथा समाज कृत्रिम संस्थाएं नहीं** प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त राज्य तथा समाज को कृत्रिम संस्थाएँ मानता है जिन्होंने मनुष्यों को प्राकृतिक अवस्था में प्राप्त जन्मसिद्ध अधिकारों से वंचित कर दिया है किन्तु यह एक गलत विचार है। वास्तविकता तो यह है कि राज्य एक शाश्वत तथा प्राकृतिक संस्था है जिसका धीरे धीरे विकास हुआ है वह एक कृत्रिम रचना नहीं है। राज्य मानवीय अधिकारों का अपहरण नहीं करता बल्कि वह तो उनका संरक्षण करता है।

महत्व - उपर्युक्त आलोचना के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना सही नहीं होगा कि इस सिद्धान्त का कोई उपयोग नहीं है अथवा इसमें सत्य का कोई अंश नहीं है। यदि प्राकृतिक अधिकारों का अर्थ हम यह लें कि समाज के पूर्व भी व्यक्तियों को कुछ अधिकार प्राप्त थे तो यह धारणा अर्थहीन ही नहीं अन्तर्विरोधी भी है। किन्तु यदि हम प्राकृतिक अधिकारों की व्याख्या उन आदर्श अथवा नैतिक अधिकारों के रूप

---

1 "Rights arise from the fact that man is a social being."
—**Gilchrist**

2 "A right is a claim recognised by society and forced by the state."
—**Bosanquet**

मे करें जो व्यक्ति को उसके व्यक्तित्व के पूर्ण विकास मे उपयोगी होने के कारण आवश्यक रूप से प्राप्त होने चाहिए, तो प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त मूल्यवान हो जाता है। जैसा कि लार्ड ने लिखा है कि, "प्राकृतिक अधिकार वे परिस्थितियां हैं जो व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक हैं चाहे वे परिस्थितियां मानव संस्था द्वारा बनायी गयी हों अथवा न बनायी गयी हों।"[1] डॉ० आशीर्वादम् के शब्दो मे, "प्राकृतिक अधिकार का सबसे अच्छा अर्थ है वह अधिकार जो मनुष्य के नैतिक उत्थान या विकास के लिए अर्थात उसे वास्तव मे मनुष्य बनाने के लिए आवश्यक हो।" संयुक्त राष्ट्र द्वारा मानव अधिकारों की एक सर्वव्यापी घोषणा ने इस सिद्धान्त को एक साकार रूप दे दिया है।

अधिकारों का कानूनी सिद्धान्त
(The Legal Theory of Rights)

सिद्धान्त की व्याख्या यह सिद्धान्त प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्त के विपरीत है। इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकार राज्य और कानून की देन है। वे राज्य की इच्छा अथवा कानून का परिणाम होते है। जिन अधिकारों को कानून मान्यता दे देता है केवल वे ही वास्तव मे अधिकार माने जाते है तथा जिन अधिकारों को कानून स्वीकार नही करता, वे व्यक्ति के अधिकार नही हो सकते। "अतः अधिकार न तो निरपेक्ष हैं और न वे मनुष्य की प्रकृति मे ही निहित हैं बल्कि वे तो देश के कानून पर निर्भर करते हैं तथा उसी से उत्पन्न होते है।" जीवन स्वतन्त्रता और सम्पत्ति आदि के अधिकार राज्य द्वारा ही प्रदान किये गये है तथा राज्य ही यह निश्चित करता है कि इन अधिकारो का प्रयोग किस प्रकार तथा किस सीमा तक किया जा सकता है। राज्य के द्वारा समाज के हित मे व्यक्ति के अधिकारो को सीमित तथा नियन्त्रित किया जा सकता है। इस प्रकार अधिकार प्राकृतिक न होकर कृत्रिम हैं। बैन्थम, ऑस्टिन हॉब्स और हालैण्ड आदि विचारकों ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया है।

संक्षेप मे इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकारो के तीन प्रमुख पहलू है (1) राज्य ही अधिकारो का स्रोत है, अतः राज्य से बाहर व्यक्ति के कोई अधिकार नही हो सकते (2) राज्य ही अधिकारो की परिभाषा करता है उनकी सीमाएँ निश्चित करता है तथा उनकी रक्षा की व्यवस्था करता है, और (3) ये अधिकार गतिशील होते है। कानूनों मे परिवर्तन के साथ-साथ अधिकारो के स्वरूप मे भी परिवर्तन होता रहता है।

आलोचना—इस सिद्धान्त की अनेक विद्वानो ने विशेषकर बहुलवादी विचारको ने, काफी आलोचना की है। यह आलोचना अग्रलिखित आधारो पर की जाती है

1 "Natural rights are those conditions whether afforded by human agency or not which are required for the development of individuality "— **Lord** : *Principles of Politics*, p 254

(1) राज्य अधिकारों का जन्मदाता नहीं – अनेक विचारकों का यह मत है कि राज्य के आदेश अथवा कानून अधिकारों का निर्माण नहीं करते, वे तो उनको केवल मान्यता प्रदान करते हैं। उदाहरणार्थ यदि राज्य कानून द्वारा चोरी, रिश्वत-खोरी तथा भ्रष्टाचार को व्यक्ति का अधिकार बनाना चाहे तो यह सम्भव नहीं है। वाइल्ड ने ठीक ही कहा है कि 'कानून हमारे अधिकारों को जन्म नहीं देता, वह तो केवल उनको मान्यता प्रदान करता है तथा उनकी रक्षा करता है। अधिकारों का अस्तित्व स्वय अपने आप रहता है, चाहे उन्हे कानून का रूप मिले या न मिले। कानून द्वारा उन्हें इसलिए लागू किया जाता है कि वे अधिकार हैं ये इसलिए अधिकार नहीं बन जाते कि कानून उन्हे लागू करता है।"[1] डॉ० आशीर्वादम् ने इस सम्बन्ध मे लिखा है कि, 'कोई अधिकार इसलिए अधिकार नहीं बन जाता कि उसे कानून का रूप दे दिया गया है वरन् वह अधिकार इसलिए है कि वह नैतिक दृष्टि से उचित तथा न्यायसगत है।"

(2) राज्य का निरकुश बन जाना यह सिद्धान्त राज्य को अधिकारों का जन्मदाता बनाकर राज्य की निरकुशता का समर्थक करता है अ। इस स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में डॉ० आशीर्वादम् ने लिखा है कि 'यह कहना कि राज्य ही अधिकारों की सृष्टि करता है, राज्य को निरकुश बना देता है। राज्य को हम ऊँचा स्थान देने को तैयार हैं परन्तु उसको इतना ऊँचा स्थान नही दिया जा सकता। राज्य की सम्प्रभुता पर रीतियो परम्पराओं, इतिहास और नैतिकता पर आधारित कुछ बन्धन होते हैं।' अत अधिकारों के लिए किसी प्रकार की नैतिक व्यवस्था आवश्यक है। लास्की के शब्दों मे 'अधिकारों की प्रतिष्ठा लिखित विधान की अपेक्षा अभ्यास और परम्परा पर अधिक निर्भर करती है।"[2]

(3) अधिकारों का आधार नैतिक व्यवस्था – कानून को अधिकारों का आधार इसलिए नही मान सकते क्योंकि कानूनों मे सदैव सशोधन होते रहते हैं। कानूनों मे भी ऊँचा स्थान उचित और अनुचित का ज्ञान है। लार्ड ने इस सम्बन्ध मे लिखा है कि, 'अधिकारों की धारणा के पहले किसी प्रकार की नैतिक व्यवस्था आवश्यक है। नैतिक व्यवस्था के अभाव मे शक्तियाँ, प्रभाव, दावे और प्रयत्न आदि हो सकते हैं, परन्तु इनको अधिकार नहीं कहा जा सकता। अधिकारों का आधार सा औचित्य की भावना है।"

---

1 'The law dose not create our rights but only recognises them and protects them The rights themselves exist whether they are thus legalised or not They are enforced because they are rights and are not rights because they are enforced —**Norman Wilde**

2 "The maintenance of right is much more a question of habit and tradition than of the formality of written enactment '
—**H J Laski**

(4) राज्य कानूनी अधिकारों का भी निर्माता नहीं—इस सिद्धान्त के कुछ समर्थकों का यह मत है कि राज्य अन्य प्रकार के नहीं तो कम से कम कानूनी अधिकारों का निर्माण अवश्य करता है। परन्तु उनका यह विचार भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है क्योंकि व्यवहार में समाज द्वारा मान्यता प्राप्त अधिकारों को ही राज्य कानूनी रूप प्रदान करता है। अतः राज्य को कानूनी अधिकारों का मूल निर्माता मानना भी सही नहीं है। इसके अतिरिक्त कानूनी सिद्धान्त से हम यह भी तय नहीं कर पाते कि जिन अधिकारों को राज्य ने मान्यता प्रदान की है, वे ऐसे अधिकार हैं जिन्हें मान्यता प्राप्त होनी चाहिए।

महत्त्व - यद्यपि अधिकारों का कानूनी सिद्धान्त अपूर्ण तथा भ्रामक है परन्तु फिर भी इस सिद्धान्त में सत्य का कुछ अंश अवश्य है। हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वर्तमान समय में राज्य से बाहर अधिकारों का संरक्षण नहीं हो सकता। यह अपेक्षित है कि कम से कम लोकतन्त्रीय दशाओं में तो सभी अधिकारों को कानूनी मान्यता अवश्य मिलनी चाहिए। परन्तु उसका तात्पर्य यह नहीं है कि कानूनी मान्यता मिल जाने से ही कोई अधिकार न्यायपूर्ण बन जाता है। बोसांके के कथनानुसार, वस्तुतः अधिकार के कानूनी और नैतिक दो पक्ष होते हैं और इनमें से किसी की उपेक्षा नहीं की जा सकती। एक आदर्श अधिकार में इन दोनों पक्षों का समावेश होना चाहिए।

अधिकारों का ऐतिहासिक सिद्धान्त
(The Historical Theory of Rights)

सिद्धान्त की व्याख्या – इस सिद्धान्त के अनुसार इतिहास अधिकारों की सृष्टि करता है। अधिकार रीति-रिवाजों का निखरा हुआ स्वरूप है (Rights are the Crystalization of Customs)। प्राय वर्षों से चले आ रहे रीति रिवाज कुछ समय पश्चात् अधिकारों का रूप ले लेते हैं। जैसा कि प्रो० रिची ने लिखा है कि "हम प्राय. यह देखते हैं कि जिन अधिकारों के बारे में लोग यह सोचते हैं कि वे उन्हें मिलने ही चाहिए वे ऐसे ही अधिकार होते हैं जिनके वे अभ्यस्त होते हैं या जिनके बारे में (सही या गलत) उनकी यह धारणा होती है कि ये कभी उन्हें प्राप्त थे।"[1] अनेक प्राकृतिक अधिकारों की छानबीन करने पर यह पता चलता है कि वे ऐसे दावे हैं जिन्हें बहुत पुराने और अटूट रीति रिवाजों का समर्थन प्राप्त होता है। इस प्रकार ऐतिहासिक सिद्धान्त यह प्रतिपादित करता है कि अधिकार रीति रिवाजों के विकसित रूप होते हैं जिन्हें समाज स्वीकार कर लेता है।

---

1 "We often find that those rights that people think, they ought to have, are just those rights which they have been accustomed to have or which they have by tradition (whether true or false), of having once possessed"—**Prof Ritchie** *Natural Rights*, p 82.

आलोचना अधिकारों के ऐतिहासिक सिद्धान्त की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जाती है

(1) **सभी अधिकार रीति-रिवाजों की उपज नहीं** – यद्यपि हमारे बहुत से अधिकार रीति रिवाजों पर आधारित होते हैं परन्तु सभी अधिकारों को रीति रिवाजों की उपज बतलाना सही नहीं है। प्रो० हॉकिंग के अनुसार क्या दास प्रथा जब कानून पर आधारित थी न्यायपूर्ण कही जा सकती है अथवा शिशु-हत्या कभी न्यायसंगत हो सकती है ? *इस प्रकार की प्रथाएँ परम्परागत हो सकती हैं परन्तु वे अधिकार कभी नहीं बन सकतीं।*

(2) **समाज में सुधार सम्भव नहीं** रीति रिवाजों को ही अधिकार का आधार मानने में एक कठिनाई यह है कि यदि अधिकार हमेशा प्रथाओं के अनुकूल ही हों तो समाज में कोई भी सुधार करना सम्भव नहीं होगा। उदाहरणार्थ, इस सिद्धान्त के आधार पर यदि सती प्रथा बाल विवाह तथा छुआछूत जैसी प्रथाओं को अनिवार्य एवं अपरिवर्तनीय अधिकार मान लिया जाता तो उनमें किसी हालत में सुधार नहीं किया जा सकता था। प्रो० हॉकिंग ने ठीक ही कहा है कि, '**यह कहना कि रीति-रिवाज हमेशा ही ठीक होते हैं उतना ही मूर्खतापूर्ण है जितना कि यह कहना कि कानून किसी भी चीज को उचित बना सकता है।**"

(3) **यह सिद्धान्त विश्वसनीय नहीं** – इस सिद्धान्त का एक दोष यह है कि *यदि रीति रिवाज ही अधिकारों का एकमात्र स्रोत है तो समय-समय पर प्रचलित* समाज-हित विरोधी रीति रिवाजों को अधिकारों के रूप में किस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है। प्रो० हॉकिंग के मतानुसार '**ऐतिहासिक सिद्धान्त या तो हमारा मार्ग-दर्शन ही नहीं करता, यदि करता भी है तो गलत मार्ग-दर्शन करता है। निस्सन्देह इतिहास की उपेक्षा नहीं की जा सकती, परन्तु इतिहास के ऊपर पूरा भरोसा भी नहीं किया जा सकता।**"[1]

महत्व – यद्यपि अधिकारों के सम्बन्ध में इतिहास एक पूर्ण मानदण्ड या औचित्य की कसौटी नहीं बन सकता परन्तु फिर भी इस सिद्धान्त में कुछ सत्य अवश्य है। *हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि व्यक्ति के बहुत से अधिकार रीति-रिवाज तथा प्रथाओं पर आधारित हैं।*

अधिकारों का सामाजिक कल्याण का सिद्धान्त
(The Social Welfare Theory of Rights)

सिद्धान्त की व्याख्या – इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकार सामाजिक कल्याण

---

1 "Historical theory either gives no guidance at all or else false guidance History of course cannot be ignored but history cannot be relied on alone —W E Hockings · *Law and Rights* p 7

की आवश्यक शर्त है तथा अधिकार का निर्माण समाज करता है। रॉस्को पाउण्ड (Roscoe Pound) तथा प्रो० चैफी (Chafer) जैसे विचारकों ने इस सिद्धान्त का समर्थन करते हुए कहा है कि कानून रीति रिवाज और प्राकृतिक अधिकार आदि सभी का उद्देश्य समाज का हित या सामाजिक कल्याण होना चाहिए। इस तरह इस सिद्धान्त के अनुसार "अधिकारों का अस्तित्व समाज कल्याण पर आधारित होता है तथा व्यक्ति केवल उन्हीं अधिकारों का उपभोग कर सकता है जो समाज के हित में हों।"

बेन्थम तथा मिल जैसे उपयोगितावादी विचारकों ने भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। बेन्थम के अनुसार, 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' (greatest happiness of the greatest number) का सिद्धान्त ही अधिकारों की कसौटी है। लास्की ने भी 'अधिकारों की कसौटी उनकी उपयोगिता को ही माना है।' उनके अनुसार, 'अधिकार समाज से पृथक और स्वतन्त्र नहीं होते वरन् वे समाज में ही निहित होते हैं। ये अधिकार हमको इसलिए मिलते हैं कि हम सामाजिक लक्ष्य को पूरा करने में अपना सहयोग दे सकें।'[1] प्रो० चैफी के अनुसार, "अधिकारों का निश्चय हितों के सन्तुलन से होता है।" इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकारों का सम्बन्ध सामाजिक कल्याण से है और व्यक्ति को केवल वे ही अधिकार प्राप्त होते हैं जिनका उद्देश्य समाज हित की साधना होता है।

आलोचना—इसमें कोई सन्देह नहीं कि अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा यह सिद्धान्त अधिक सन्तोषजनक है किन्तु इसे भी पूर्णतया दोषमुक्त नहीं माना जा सकता। इस सिद्धान्त की आलोचना निम्नलिखित आधारों पर की जाती है

(1) **सामाजिक-कल्याण का अर्थ अस्पष्ट**—इसमें कोई सन्देह नहीं कि लोक-हित अधिकारों की अच्छी कसौटी है परन्तु लोकहित या लोक कल्याण की व्याख्या करना बहुत कठिन है। इसका कारण यह है कि लोक-कल्याण शब्द इतना व्यापक और अनिश्चित है कि इसके अर्थ के अन्तर्गत अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख, बहुमत का हित, लोक सम्मति अथवा सरकार की दृष्टि से जो सार्वजनिक हित हो, आदि सभी बातों का समावेश हो जाता है। डॉ० आशीर्वादम् ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि 'यदि हम इनमें से किसी एक को लोकहित या लोक-कल्याण मान भी लें तो भी कठिनाई दूर नहीं होगी क्योंकि ये सब शब्द बहुत ही अस्पष्ट और अनिश्चित हैं। अधिक से अधिक सुख की कोई माप नहीं हो सकती। सम्पूर्ण समाज की कोई चेतना तो हो ही नहीं सकती।"

(2) **व्यक्तिगत कल्याण में बाधक**—यह सिद्धान्त व्यक्तिगत हित अथवा व्यक्तिगत कल्याण में बाधक है। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि सामाजिक कल्याण

---

1 "Our rights are not independent of society but inherent in it."
—**Laski**

और व्यक्तिगत कल्याण में संघर्ष होता है तो सामाजिक हित में व्यक्ति के हित और कल्याण का बलिदान किया जा सकता है। इस दृष्टिकोण को उचित नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि इसमें व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास में बाधा उत्पन्न होती है। केवल सामूहिक आवश्यकता अथवा सामूहिक हित ही हर बात को उचित या अनुचित नहीं बना सकते। उदाहरणार्थ अनेक लोगों के सुख तथा प्रसन्नता के लिए किसी निरपराध व्यक्ति का बलिदान कर देना अथवा व्यक्तिगत अधिकार का हनन कर देना किसी भी दृष्टि से न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। वाइल्ड ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि **"यदि समाज की कृपा से अधिकारों का निर्माण होता है तो व्यक्ति की कहीं भी रक्षा नहीं हो सकेगी और वह समाज की निरंकुश इच्छा के विरुद्ध कहीं अपील भी नहीं कर सकेगा।"**[1]

महत्व—उपरोक्त आलोचनाओं के होते हुए भी इस सिद्धान्त में यह सत्य अवश्य विद्यमान है कि अधिकारों का सम्बन्ध अनिवार्यतः लोक कल्याण से है और लोक हित में ही उनका उपयोग किया जाना चाहिए।

अधिकारों का आदर्शवादी सिद्धान्त
(The Idealistic Theory of Rights)

सिद्धान्त की व्याख्या—इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकार वे बाह्य परिस्थितियाँ हैं जो मनुष्य के आन्तरिक विकास के लिए आवश्यक होती हैं। व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करना है और इस उद्देश्य की प्राप्ति में जो परिस्थितियाँ सहायक होती हैं उनको प्राप्त करना व्यक्ति का अधिकार बन जाता है। इन अधिकारों के बिना व्यक्ति के व्यक्तित्व का समुचित और पूर्ण विकास सम्भव नहीं है। किसी व्यक्ति का सबसे बड़ा अधिकार उसके व्यक्तित्व का अधिकार है तथा अन्य सभी अधिकार इस मौलिक अधिकार से उत्पन्न होते हैं। चूँकि इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकारों का अस्तित्व व्यक्तित्व के विकास के लिए है, इसलिए इसे **व्यक्तित्ववादी सिद्धान्त** भी कहा जाता है तथा अधिकारों का उद्देश्य एक आदर्श व्यक्तित्व का विकास करना है, इसलिए इसे **आदर्शवादी सिद्धान्त** भी कहा जाता है।

अनेक विचारकों ने अधिकारों की जो परिभाषाएँ दी हैं वे इसी सिद्धान्त पर आधारित हैं। क्रॉस के अनुसार **"विवेकपूर्ण जीवन के विकास के लिए आवश्यक बाह्य परिस्थितियाँ ही अधिकार हैं।"**[2]

---

1 'If rights are created by the grant of society the individual is without appeal and helplessly dependent upon its arbitrary will." —**Norman Wilde**

2 "Rights are the organic whole of the outward conditions necessary to the rational life —**Kross**

ग्रीन के अनुसार "अधिकार वह शक्ति है जो किसी मनुष्य के लिए नैतिक प्राणी के रूप में उसके व्यवसाय और कर्तव्यों को पूरा करने के लिए आवश्यक है।"[1]

यह सिद्धान्त अधिकारों पर एक उच्च नैतिक दृष्टिकोण से विचार करता है। इसके अनुसार अधिकार वह शक्ति है जो समाज हमें इसलिए देता है कि हम अपने नैतिक विकास के साथ साथ सार्वजनिक हित में भी अपना योगदान दे सकें। इस तरह आदर्शवादी सिद्धान्त के अनुसार अधिकार के दो पक्ष हैं व्यक्तिमूलक और समाजमूलक। इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति अपने अधिकारों के साथ-साथ दूसरों के अधिकारों को उचित मान्यता प्रदान करे तथा अपने अधिकारों का उपयोग सार्वजनिक हित में करे। इस प्रकार यह सिद्धान्त अधिकार और कर्तव्य के सह-अस्तित्व पर जोर देता है।

सिद्धान्त की विशेषताएँ—उपरोक्त सभी सिद्धान्तों पर अच्छी तरह विचार करने के पश्चात् अधिकारों का आदर्शवादी या व्यक्तित्ववादी सिद्धान्त ही सर्वाधिक सन्तोषप्रद जान पड़ता है। इसका कारण इसमें निम्नलिखित विशेषताओं का पाया जाता है

(1) **आन्तरिक विरोध का अभाव**—इस सिद्धान्त की एक विशेषता यह है कि इसमें व्यक्तित्व के अधिकार को ही परम अथवा निरपेक्ष (absolute) अधिकार माना गया है तथा अन्य सभी अधिकारों की उत्पत्ति उसी से मानी गयी है। प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त में बहुत से परम अधिकार माने गये हैं तथा शेष तीनों सिद्धान्तों में एक भी परम अधिकार नहीं माना गया है। चूंकि इस सिद्धान्त में एक ही परम अधिकार है, इसलिए इसमें कोई आन्तरिक विरोध नहीं है जैसा कि प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्त में है।

(2) **अधिकारों के मापदण्ड की उचित कसौटी**—इस सिद्धान्त में अधिकारों की एक उचित कसौटी भी दी गई है जिस पर सदैव विश्वास किया जा सकता है और इसलिए यह सिद्धान्त अन्य सिद्धान्तों से श्रेष्ठ माना गया है। वह कसौटी यह है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व की शक्तियों के विकास के लिए जो भी आवश्यक है, वह सब व्यक्ति के अधिकारों की परिधि में आ जाता है।

(3) **प्रत्येक व्यक्ति को साध्य मानना**—यह सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं में एक साध्य मानता है तथा उसे किसी अन्य के व्यक्तित्व का साधन मात्र नहीं मानता। इस तरह यह सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व को समान स्तर प्रदान करता है। यह अधिकारों के साथ-साथ कर्तव्यों के समुचित पालन पर भी जोर देता है।

(4) **मध्यम मार्ग का प्रतिपादन**—इस सिद्धान्त की एक विशेषता यह है कि यह सिद्धान्त प्राकृतिक सिद्धान्त के समान न तो अधिकारों की निरपेक्षता पर

---

1 "Right is that power which is necessary to the fulfilment of man's vocation moral being"
—T [illegible] Green

असीमितता का समर्थन करता है और न यह कानूनी सिद्धान्त तथा सामाजिक कल्याण सिद्धान्त के समान अधिकारों की सापेक्षता या सीमितता का ही समर्थन करता है जिनके अनुसार समाज या राज्य अधिकारों पर मनमाने प्रतिबन्ध लगा सकता है। यह सिद्धान्त मध्यम मार्ग का प्रतिपादन करता है। इसके अनुसार व्यक्ति के अधिकारों पर केवल वे ही प्रतिबन्ध न्यायसंगत हैं जो अन्य व्यक्तियों के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक हैं।

(5) शाश्वत सिद्धान्त – इस सिद्धान्त के अनुसार सभी मनुष्यों का एक चरम अधिकार व्यक्तित्व का अधिकार है। यह अधिकार शाश्वत है तथा कभी भी बदलने वाला नहीं है। यह देश और काल के प्रभाव से मुक्त है। डॉ॰ हॉकिंग के अनुसार परमात्मा के विरुद्ध भी यह अधिकार नहीं उतरता है।

सिद्धान्त की आलोचना उपर्युक्त विशेषताओं के होते हुए भी इस सिद्धान्त की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जाती है

व्यावहारिक कठिनाई—इस सिद्धान्त की एक आलोचना इस आधार पर की जाती है कि यह सिद्धान्त व्यावहारिक नहीं है। व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास एक आन्तरिक एवं व्यक्तिगत वस्तु है और समाज अथवा राज्य जैसी किसी भी सस्था के लिए यह जानना अत्यन्त कठिन है कि व्यक्ति के आत्म विकास के लिए कौन सी परिस्थितियाँ आवश्यक हैं।

विभिन्न हितों में विरोध का समाधान नहीं—साधारणतया व्यक्ति और समाज दोनों के हित आपस में घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं किन्तु जब कभी भी व्यक्तिगत हित तथा सामाजिक हित में विरोध होता है तब आदर्शवादी सिद्धान्त एक ओर जायगा और सामाजिक कल्याण सिद्धान्त दूसरी ओर। आदर्शवादी सिद्धान्त समाज के व्यक्ति के हित पर तथा सामाजिक कल्याण का सिद्धान्त समाज के हित पर जोर देता है। अतः दोनों में विरोध होने पर इस सिद्धान्त के पास इस समस्या का कोई समाधान नहीं है।

महत्त्व उपर्युक्त आलोचनाओं के होते हुए भी इस सिद्धान्त में सत्य का महत्त्वपूर्ण अंश विद्यमान है। कोई भी विवेकशील व्यक्ति इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास बहुत कुछ बाहरी परिस्थितियों पर निर्भर करता है और राज्य इन परिस्थितियों की समुचित व्यवस्था करके व्यक्तित्व के विकास में बहुत अधिक योगदान दे सकता है। इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त अधिकार के वैधानिक पक्ष से अधिक उसके नैतिक पक्ष पर जोर देता है। यह सभी व्यक्तियों को साध्य मानता है साधन नहीं।

विभिन्न व्यवस्थाओं में अधिकारों के स्वरूप में अन्तर

लोकतान्त्रिक तथा समाजवादी राजनीतिक व्यवस्थाओं में अधिकारों के स्वरूप में मूलभूत अन्तर होता है। यह अन्तर निम्नलिखित है

(1) लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था में नागरिकों के अधिकारों का उल्लेख

प्राय व्यक्ति को केन्द्र मानकर किया जाता है जबकि समाजवादी व्यवस्था में अधिकारों का उल्लेख समाज को केन्द्रबिन्दु मानकर किया जाता है। यह व्यवस्था इस धारणा पर आधारित होती है कि "समष्टि में ही व्यक्ति का हित निहित है।"

(2) लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्थाओं में व्यक्ति की नागरिक स्वतन्त्रताओं तथा राजनीतिक अधिकारों पर विशेष बल दिया जाता है, जबकि समाजवादी व्यवस्था में व्यक्ति के आर्थिक अधिकारों (जैसे काम का अधिकार, विश्राम तथा अवकाश का अधिकार, सामाजिक सुरक्षा का अधिकार इत्यादि) को अधिक महत्त्व प्रदान किया जाता है। समाजवादी व्यवस्था के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए स्टालिन ने कहा था कि "एक बेकार व्यक्ति के लिए जो भूखा है और परिश्रम करने पर भी रोटी नहीं कमा सकता, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं है। सच्ची स्वतन्त्रता वहीं मिल सकती है जहाँ शोषण समाप्त कर दिया जाय, बेकारी न हो, भीख माँगने की आवश्यकता न हो तथा काम छिन जाने का भय न हो।"

(3) लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्थाओं में केवल नागरिक अधिकारों का उल्लेख ही मिलता है उन अधिकारों की प्राप्ति के साधनों का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसके विपरीत, समाजवादी व्यवस्था में अधिकारों के साथ-साथ उन साधनों की भी व्यवस्था की जाती है जिनके द्वारा उन अधिकारों को वास्तविक रूप प्रदान किया जाता है। उदाहरणार्थ काम प्राप्त करने का अधिकार, विश्राम और अवकाश का अधिकार, अनिवार्य छुट्टियों की व्यवस्था आदि ऐसे ही साधन हैं।

(4) लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था में संविधान द्वारा नागरिक अधिकारों पर किसी प्रकार का सामान्य प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता है। सरकार भी उन अधिकारों पर प्रतिबन्ध तब तक नहीं लगाती जब तक कि समाज हित में ऐसा करना आवश्यक न हो जाय। फिर यह प्रतिबन्ध अस्थायी होता है। इसके विपरीत समाजवादी व्यवस्था में संविधान द्वारा व्यक्तियों के नागरिक अधिकारों पर एक सामान्य और स्थायी प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है जो इन अधिकारों के महत्त्व को बिल्कुल समाप्त कर देता है। उदाहरणार्थ समाजवादी व्यवस्था वाले देशों में नागरिकों को स्वतन्त्र रूप से विचार प्रकट करने लेख लिखने सभा करने संगठन बनाने, सरकार की आलोचना करने, स्वतन्त्र रूप से चुनावों में भाग लेने, मत देने आदि स्वतन्त्रताएँ केवल दिखावे को ही प्राप्त होती हैं वास्तविकता में नहीं।

(5) प्राय लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था वाले राज्यों में नागरिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायपालिका की व्यवस्था की जाती है। नागरिक अपने अधिकारों का हनन होने पर उनकी रक्षा हेतु न्यायालय से प्रार्थना कर सकते हैं। इसके विपरीत समाजवादी व्यवस्था वाले राज्यों में नागरिक अधिकारों को न्यायपालिका का संरक्षण प्राप्त नहीं होता है। यदि सरकार इन अधिकारों का अतिक्रमण करे, तो नागरिकों के पास ऐसा कोई संवैधानिक साधन नहीं होता जिसके माध्यम से वे अपने अधिकारों की रक्षा कर सकें।

(6) लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था में सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व के अधिकार को स्वीकार किया जाता है। किन्तु समाजवादी व्यवस्था वाले राज्यों में सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व विशेष रूप से उत्पादन के साधनों और उपकरणों के रूप में व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने को, मान्यता प्राप्त नहीं होती है।

(7) लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था वाले संविधानों में नागरिकों के केवल अधिकारों का ही उल्लेख किया जाता है। उनमें यह मान लिया जाता है कि कर्त्तव्य तो अधिकारों के साथ स्वतः जुड़े हुए हैं, उनका अलग से उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती। इसके विपरीत समाजवादी व्यवस्था में केन्द्रबिन्दु समाज को माना जाता है अतः ऐसी व्यवस्था वाले संविधानों में अधिकारों की तुलना में नागरिकों के कर्त्तव्यों पर अधिक जोर दिया जाता है। इस कारण संविधान में अधिकारों के साथ-साथ कर्त्तव्यों का भी उल्लेख कर दिया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोकतान्त्रिक तथा समाजवादी राजनीतिक व्यवस्थाओं में नागरिक अधिकारों के स्वरूप में मूलभूत अन्तर होता है और यह अन्तर इस दृष्टिकोण के कारण ही है कि एक व्यवस्था व्यक्ति को तथा दूसरी समाज को केन्द्रबिन्दु मानती है।

कर्त्तव्य
(Duties)

कर्त्तव्यों का अर्थ—"दूसरों के प्रति अपने उत्तरदायित्व को पूरा करने का नाम ही कर्त्तव्य है।" अधिकार और कर्त्तव्यों का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। एक सामाजिक प्राणी होने के नाते व्यक्ति को समाज व राज्य की ओर से अनेक अधिकार प्राप्त होते हैं तथा इन अधिकारों के बदले में समाज व राज्य के प्रति उसके कुछ कर्त्तव्य भी होते हैं जिनके बिना उसके अधिकारों का कोई मूल्य नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि कर्त्तव्यों के पालन में ही अधिकारों की प्राप्ति होती है।

कर्त्तव्यों का वर्गीकरण—कर्त्तव्य दो प्रकार के होते हैं—नैतिक और कानूनी।

(1) **नैतिक कर्त्तव्य**—नैतिक कर्त्तव्य वे कर्त्तव्य हैं जिनका सम्बन्ध मनुष्य की नैतिक भावना तथा उसके अन्तःकरण से होता है। इस प्रकार के कर्त्तव्यों को राज्य का संरक्षण प्राप्त नहीं होता है। अतः यदि मनुष्य इन कर्त्तव्यों का पालन नहीं करता तो राज्य के द्वारा न तो उसे दण्ड दिया जा सकता है और न इनका पालन करने के लिए राज्य के द्वारा उसे बाध्य ही किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, सत्य बोलना, बड़ों की आज्ञा मानना, माता पिता का आदर करना, इत्यादि व्यक्ति के नैतिक कर्त्तव्य हैं। नैतिक कर्त्तव्यों के पीछे समाज की केवल नैतिक शक्ति होती है।

(2) **कानूनी कर्त्तव्य**—कानूनी कर्त्तव्य वे कर्त्तव्य होते हैं जिनका पालन करना या न करना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर नहीं करता बल्कि जिनका पालन उसे अनिवार्य रूप से करना पड़ता है। इनके पीछे राज्य की शक्ति होती है। यदि कोई व्यक्ति इन

कर्त्तव्यों का पालन नही करता तो वह दण्ड का भागी होता है। राजनीतिक विज्ञान मे मुख्य रूप से कानूनी कर्त्तव्यों का ही अध्ययन किया जाता है।

कानूनी कर्त्तव्यों के प्रकार

कानूनी कर्त्तव्यों मे निम्नलिखित कर्त्तव्य महत्त्वपूर्ण हैं

(1) राज्य के प्रति भक्ति—प्रत्येक नागरिक का अपने राज्य के प्रति निष्ठा और भक्ति रखना सबसे पहला कर्त्तव्य है। राज्य भक्ति का अर्थ यह है कि एक नागरिक को अपने राज्य के प्रति किसी भी हालत में विश्वासघात नहीं करना चाहिए। उसे ऐसा कोई कार्य नही करना चाहिए जिससे राज्य का अहित हो। उसे राज्य मे शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने में योग देना चाहिए। उसे विदेशी आक्रमण के समय अपने देश की स्वतन्त्रता की रक्षा हेतु सेना में भर्ती होकर अपने प्राणों का बलिदान करने के लिए तत्पर रहना चाहिए।

(2) कानूनों का पालन—कानूनों का निर्माण समाज के कल्याण के लिए तथा समाज मे शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिए किया जाता है। अत प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह राज्य के कानूनों का पालन करे। यदि व्यक्ति कानूनों का उल्लंघन करते हैं तो इससे समाज में अशान्ति और अव्यवस्था उत्पन्न हो जायेगी तथा ऐसी स्थिति मे व्यक्तियों की स्वतन्त्रता और अधिकार भी खतरे मे पड जायेंगे। अत कानूनो का पालन करना व्यक्ति तथा समाज दोनों के हित मे है। यदि राज्य का कोई कानून समाज हित के विरुद्ध है तो उसे समाप्त करवाने के लिए व्यक्तियों को नैतिक और संवैधानिक साधनों का सहारा लेना चाहिए।

(3) करों का भुगतान—शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए तथा राज्य की प्रगति के लिए राज्य को धन की आवश्यकता होती है। इस धन को प्राप्त करने के लिए राज्य अनेक प्रकार के कर लगाता है। नागरिकों का यह पवित्र कर्त्तव्य हो जाता है कि वे ठीक समय पर तथा पूरी ईमानदारी के साथ अपने करों का भुगतान करें।

(4) मताधिकार का उचित प्रयोग—लोकतान्त्रिक देशों मे शासन के सचालन के लिए जनता अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन करती है। अच्छे शासन के लिए यह आवश्यक है कि जन प्रतिनिधि उच्च कोटि के हों। अत नागरिकों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे योग्य तथा ईमानदार व्यक्तियों को ही अपना मत दें। सभी नागरिकों को जाति, धर्म तथा धन के लालच में न पड़कर केवल राज्य के हित मे अपने मताधिकार का उपयोग करना चाहिए।

कुछ विद्वान सेवा-भाव से सार्वजनिक पद ग्रहण करने तथा राज्य कर्मचारियों को उनके कर्त्तव्यों के पालन में सहायता देने के कार्य को भी कर्त्तव्यों की इसी श्रेणी मे रखते हैं। परन्तु इनको विशुद्ध रूप से कानूनी कर्त्तव्य कहना सही नहीं है क्योंकि इनका पालन न किये जाने पर व्यक्ति को किसी प्रकार का दण्ड नहीं दिया जा सकता। वस्तुत इन्हे राजनीतिक कर्त्तव्यों की श्रेणी मे शामिल किया जाना चाहिए।

अधिकार और कर्त्तव्य मे सम्बन्ध

अधिकारो तथा कर्त्तव्यो मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। उपर से ये दोनो एक दूसरे के विरोधी प्रतीत होते हैं परन्तु वास्तव मे ये विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व कायम नही रह सकता। इसलिए विद्वानो ने अधिकार और कर्त्तव्य को समाज रूपी गाडी के दो पहियो के समान बताया है। समाज का विकास इन दोनो के पूर्ण सहयोग से ही हो सकता है। अधिकार व्यक्ति की मांग है तथा कर्त्तव्य समाज की मांग है। अधिकारों की मांग व्यक्ति समाज से अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए करता है तथा कर्त्तव्यों की मांग समाज अपने हित के लिए व्यक्ति से करता है। इस प्रकार अधिकार और कर्त्तव्य एक दूसरे के पूरक तथा एक दूसरे पर आश्रित हैं। डॉ० बेनी प्रसाद के शब्दो मे, "अधिकार और कर्त्तव्य एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। यदि कोई उनको अपने दृष्टिकोण से देखता है तो वे अधिकार हैं और यदि कोई उनको दूसरों के दृष्टिकोण से देखता है, तो वे कर्त्तव्य हैं।"[1] श्री श्रीनिवास शास्त्री का भी यही विचार है। उनके अनुसार, "अधिकार और कर्त्तव्य दो भिन्न दृष्टिकोणों से देखे जाने के कारण एक ही वस्तु के दो नाम हैं।"[2]

अधिकार और कर्त्तव्य का घनिष्ठ सम्बन्ध निम्नलिखित रूपो मे स्पष्ट किया जा सकता है

(1) एक व्यक्ति का अधिकार दूसरे का कर्त्तव्य है प्रत्येक अधिकार मे कर्त्तव्य छिपा हुआ है। एक व्यक्ति का अधिकार समाज के दूसरे व्यक्तियो का कर्त्तव्य होता है। एक व्यक्ति के अधिकारो का आदर करना दूसरो का कर्त्तव्य बन जाता है। उदाहरणार्थ यदि मुझे विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार है तो इसके साथ-साथ मेरा यह कर्त्तव्य भी हो जाता है कि मै दूसरो के इस अधिकार का सम्मान करूँ।

(2) कर्त्तव्यो के अभाव मे अधिकार सुरक्षित नहीं - कर्त्तव्यो के पालन मे ही अधिकारो के अस्तित्व का रहस्य छुपा हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारो का उपभोग तभी कर सकता है जब अन्य व्यक्ति उसके मार्ग मे बाधक न बनें। उदाहरण के लिए, यदि एक व्यक्ति को जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा का अधिकार है तो दूसरे व्यक्तियो का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे इस अधिकार के प्रयोग मे कोई बाधा

---

1 "They are two aspects of the same thing If one looks at them from one s own standpoint, they are rights If one looks at them from the standpoint of others, they are duties" —Dr Beni Prasad

2 "Rights and duties are the same looked at from two different points of view" —V, S Shastri

उपभोग न करें। इस प्रकार सभी व्यक्तियों के अधिकार तभी सुरक्षित रह सकते हैं जब सभी अपने कर्त्तव्यों का ठीक प्रकार से पालन करें। डॉ० बेनी प्रसाद ने लिखा है कि **"यदि प्रत्येक व्यक्ति केवल अधिकारों का ही ध्यान रखें तथा दूसरों के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन न करें तो किसी के भी अधिकार सुरक्षित नहीं रहेंगे।"** वाइल्ड का भी यही मत है कि "केवल कर्त्तव्यों के संसार में ही अधिकारों का महत्त्व है।"

(3) **कर्त्तव्यों के पालन के लिए अधिकार आवश्यक** – यदि कर्त्तव्यों के अभाव में अधिकारों का कोई महत्त्व नहीं है तो अधिकारों के अभाव में कर्त्तव्यों का पालन भी सम्भव नहीं है। कुछ विद्वानों का यह मत है कि समाज में केवल कर्त्तव्य ही होने चाहिए, अधिकार नहीं। फ्रांसीसी विद्वान डिग्वी (Dugvit) का मत है कि **"कल्याणकारी राज्य में केवल कर्त्तव्य ही होते हैं अधिकार नहीं।"** परन्तु यह विचार सही नहीं है। यदि राज्य में व्यक्ति को किसी प्रकार के अधिकार प्राप्त न हो, तो वह अपने कर्त्तव्यों का ठीक प्रकार से पालन नहीं कर सकता। जैसा कि प्रो० लास्की ने लिखा है कि **"हमें अपने कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए कुछ अधिकारों की आवश्यकता होती है।"**

(4) **प्रत्येक अधिकार अपने में एक कर्त्तव्य** – प्रत्येक अधिकार व्यक्ति की वैयक्तिक उन्नति के साथ-साथ सामान्य हित की वृद्धि का एक साधन होता है। इसलिए व्यक्ति के प्रत्येक अधिकार के साथ यह कर्त्तव्य भी लगा हुआ है कि वह अपने अधिकारों का प्रयोग समाज हित को ध्यान में रखते हुए करे। इस तरह प्रत्येक अधिकार अपने में एक कर्त्तव्य भी है।

(5) **अधिकार तथा कर्त्तव्य एक ही वस्तु के दो रूप** – अधिकार और कर्त्तव्य एक ही वस्तु के दो रूप हैं। इन दोनों का सम्बन्ध कार्य और कारण जैसा है। प्रत्येक अधिकार के दो पहलू होते हैं – व्यक्तिगत और सामाजिक। **"व्यक्तिगत दृष्टि से जो अधिकार है, वही सामाजिक दृष्टि से कर्त्तव्य बन जाता है।"** इस प्रकार एक व्यक्ति का अधिकार समाज के दूसरे व्यक्तियों का कर्त्तव्य बन जाता है तथा दूसरों का अधिकार एक व्यक्ति का कर्त्तव्य बन जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अधिकार तथा कर्त्तव्य दोनों का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। वस्तुतः दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक के बिना दूसरे के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती। दोनों एक दूसरे के प्रतिबिम्ब की तरह हैं। प्रो० लास्की के मतानुसार अधिकार कर्त्तव्य से चार प्रकार से सम्बन्धित हैं (1) **'मेरा अधिकार तुम्हारा कर्त्तव्य है'** (2) **'मेरे अधिकार में यह कर्त्तव्य निहित है कि मैं तुम्हारे भी समान अधिकार को स्वीकार करूँ'** (3) **'मुझे अपने अधिकारों का प्रयोग सामाजिक हित में वृद्धि करने की दृष्टि से करना चाहिए'** तथा (4) **'चूँकि राज्य मेरे अधिकारों को सुरक्षित रखता है तथा उनकी व्यवस्था करता है अतः राज्य की सहायता करना मेरा कर्त्तव्य है।'** वस्तुतः सामाजिक जीवन को

श्रेष्ठतम रूप प्रदान करने का एकमात्र उपाय यही है कि प्रत्येक व्यक्ति निष्ठापूर्वक अपने कर्तव्यों का पालन करे। महात्मा गांधी के शब्दों में, "आप अपने कर्त्तव्यों का पालन कीजिए, अधिकार तो स्वत ही आपको मिल जायेंगे।"[1]

अभ्यास के प्रश्न

1 अधिकारों का क्या अर्थ है ? अधिकारों के प्रमुख प्रकारों का संक्षेप में परीक्षण कीजिए।

2 अधिकारों के प्रमुख सिद्धान्तों का संक्षेप में परीक्षण कीजिए।

3 प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

4 लोकतन्त्र तथा समाजवादी राजनीतिक व्यवस्थाओं में अधिकारों के स्वरूप के अन्तर को स्पष्ट कीजिए।

5. इस दृष्टिकोण का परीक्षण कीजिए कि कर्त्तव्यों की अनुपस्थिति में अधिकार निरर्थक हैं। (राजस्थान विश्व०, 1977)

6 "सम्पन्न राजनीतिक व्यवस्था का लक्षण है कि नागरिकों के कर्त्तव्य नागरिक अधिकारों की पूर्व दशा होते हैं।' इस कथन की विवेचना कीजिए।

7 कर्त्तव्य की व्याख्या कीजिए तथा इस कथन की विवेचना कीजिए कि 'अधिकार और कर्त्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।'

8 लोककल्याणकारी राज्य द्वारा अपने नागरिकों को प्रदान किये गये अधिकारों का वर्णन कीजिए और इन अधिकारों से सम्बन्धित कर्त्तव्य बतलाइए।
(राजस्थान विश्व० 1973)

9 अधिकारों के सम्बन्ध में निम्नलिखित सिद्धान्तों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए
(क) कानूनी सिद्धान्त (ख) ऐतिहासिक सिद्धान्त (ग) आदर्शवादी सिद्धान्त (घ) सामाजिक कल्याण सिद्धान्त।

---

1 ' Perform your duties and rights will come automatically to you "
—*Mahatma Gandhi*

28

स्वतन्त्रता और समानता
[LIBERTY AND EQUALITY]

"स्वतन्त्रता के अतिरिक्त शायद ही कोई ऐसा शब्द हो जिसके इतने विभिन्न भावार्थ लिये जा सकते हों और जिसने मानव मस्तिष्क पर इतना विभिन्न प्रभाव डाला हो।"[1]

— माण्टेस्क्यू

स्वतन्त्रता और समानता वर्तमान नागरिक जीवन के आदर्श हैं। नागरिक जीवन में इन आदर्शों का जन्म फ्रांस की राज्य क्रान्ति के द्वारा हुआ है। फ्रांस की जनता ने राजतन्त्र से मुक्ति पाने के लिए तथा अपने देश में लोकतन्त्र की स्थापना के लिए स्वतन्त्रता और समानता के आदर्शों को विशेष महत्व दिया और तभी से ये दोनों आदर्श लोकतन्त्र के आधारभूत सिद्धान्त माने जाने लगे हैं। यहाँ हम इन दोनों आदर्शों का विवेचन करेंगे।

स्वतन्त्रता अवधारणात्मक अर्थ

स्वतन्त्रता का गलत अर्थ – स्वतन्त्रता का अँग्रेजी रूपान्तर लिबर्टी (Liberty) है जिसकी उत्पत्ति लैटिन भाषा के लिबर (Liber) शब्द से हुई है। लिबर का अर्थ है बन्धनों का अभाव। अतः शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से स्वतन्त्रता का अर्थ नियन्त्रण अथवा बन्धनों का अभाव समझा जाता है। अनेक लोग स्वतन्त्रता का तात्पर्य इसी रूप में लेते हैं। उनके अनुसार मनुष्य को अपनी इच्छानुसार काम करने देना चाहिए तथा उसके किसी भी काम में किसी प्रकार का बाहरी हस्तक्षेप अथवा रुकावट नहीं होनी चाहिए। हॉब्स तथा रूसो के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में मनुष्यों को ऐसी ही स्वतन्त्रता प्राप्त थी। हॉब्स के शब्दों में, "स्वतन्त्रता का अर्थ बन्धनों के अभाव से है।" परन्तु स्वतन्त्रता का यह अर्थ बहुत ही विकृत है। यदि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता दे दी जाय तो इसके परिणामस्वरूप समाज में अशान्ति और अराजकता उत्पन्न हो जायेगी। ऐसी परिस्थिति में स्वतन्त्रता केवल

---

1 "There is no word that admits of more various significations and has made more different impression on the human mind than that of liberty."

—Montesquieu

सबल अथवा शक्तिशाली लोगों को ही प्राप्त होगी और निर्बलों के लिए स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं होगा।

वस्तुत बन्धनों अथवा प्रतिबन्धों के अभाव का नाम स्वतन्त्रता नहीं है। स्वतन्त्रता का यह अर्थ नकारात्मक है। जैसा कि प्रो० बार्कर ने कहा है कि, "जिस प्रकार कुरूपता के अभाव का नाम सौन्दर्य नहीं है, उसी प्रकार प्रतिबन्धों के अभाव का नाम स्वतन्त्रता नहीं है।" स्वतन्त्रता के इस अर्थ का तात्पर्य स्वच्छन्दता व मनमानापन है और कोई भी समाज व्यक्ति को इस प्रकार का व्यवहार करने का अधिकार नहीं दे सकता।

स्वतन्त्रता का सही अर्थ व परिभाषा—गैटल के शब्दों में "स्वतन्त्रता का समाज में केवल नकारात्मक स्वरूप ही नहीं है, वरन् सकारात्मक स्वरूप भी है।" इस रूप में स्वतन्त्रता का तात्पर्य दो बातों से है प्रथम तो, इसका तात्पर्य ऐसे अवसरों की प्राप्ति से है जिसमें व्यक्ति के व्यक्तित्व का सर्वोत्तम विकास सम्भव हो सके। द्वितीय मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अपने अधिकारों का उपभोग करते समय उसे दूसरों के अधिकारों का ध्यान रखना पड़ता है। इस प्रकार दूसरों के अधिकार तथा सामाजिक नियम व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कुछ हद तक मर्यादित करते हैं। अत पूर्ण अवसर तथा उचित प्रतिबन्धों की व्यवस्था का नाम ही स्वतन्त्रता है।

अनेक विद्वानों ने इसी अर्थ को ध्यान में रखते हुए स्वतन्त्रता की परिभाषाएँ दी हैं। हरबर्ट स्पेन्सर के अनुसार "प्रत्येक व्यक्ति वह सब कुछ करने के लिए स्वतन्त्र है जिसकी वह इच्छा करता है, बशर्ते कि वह किसी अन्य व्यक्ति की समान स्वतन्त्रता का हनन नहीं करता हो।"[1] सीले के अनुसार "स्वतन्त्रता अति शासन की विरोधी है।"[2] मेकेन्जी के अनुसार, "स्वतन्त्रता सब प्रकार के प्रतिबन्धों का अभाव नहीं, अपितु अनुचित प्रतिबन्धों के स्थान पर उचित प्रतिबन्धों की व्यवस्था है।"[3] मॉण्टेस्क्यू के अनुसार "स्वतन्त्रता का तात्पर्य ऐसे कार्य करने की छूट है जो मानवोचित हों।" प्रो० लास्की ने भी एक स्थान पर ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं। उनके अनुसार, "स्वतन्त्रता से तात्पर्य उन सामाजिक परिस्थितियों के अस्तित्व पर प्रतिबन्ध के

1 "Every man is free to do that which he wills provided he infringes not the equal freedom of any other man"

—Herbert Spencer

2 "Liberty is the opposite of over government" —Seeley

3 'Freedom is not the absence of all restraints but rather the substitution of rational ones for the irrational" —Mackenzie

अभाव से है जो आधुनिक सभ्यता में व्यक्ति के सुख के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं।"[1] सन् 1789 ई० की मानवीय घोषणा में भी यही कहा गया है कि, "स्वतन्त्रता वह सब कुछ करने की शक्ति का नाम है जिससे दूसरे व्यक्तियों को किसी प्रकार का आघात न पहुँचे।"

उपरोक्त सभी परिभाषाओं में स्वतन्त्रता को उचित प्रतिबन्धों की व्यवस्था के रूप में चित्रित किया गया है। स्वतन्त्रता का एक और अर्थ भी है जिसका सम्बन्ध अधिकतम अवसरों की प्राप्ति से है। स्वतन्त्रता का अर्थ अधिक सकारात्मक है। स्वतन्त्रता के इस स्वरूप की व्याख्या करते हुए प्रो० लास्की ने लिखा है कि, "स्वतन्त्रता का तात्पर्य ऐसा वातावरण बनाये रखना है जिसमें व्यक्ति को अपने पूर्ण विकास के लिए आवश्यक अवसर प्राप्त हो सकें।"[2] ग्रीन ने भी इस सम्बन्ध में लिखा है कि, "स्वतन्त्रता उन कार्यों को करने अथवा उन वस्तुओं के उपभोग करने की शक्ति का नाम है जो करने अथवा उपभोग करने योग्य हों।"[3] महात्मा गांधी के अनुसार, 'स्वतन्त्रता का अर्थ नियन्त्रण का अभाव नहीं है बल्कि व्यक्तित्व के विकास की अवस्थाओं की प्राप्ति है।"

अतः स्वतन्त्रता का वास्तविक अर्थ आत्म-विकास के पूर्ण अवसरों की प्राप्ति अथवा व्यक्ति के व्यक्तित्व की निरन्तर अभिव्यक्ति के अवसरों का होना है।

स्वतन्त्रता की परिभाषा की उपर्युक्त विवेचना में हम दो तत्वों का समन्वय मिलता है_(1) व्यक्ति को उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए अधिकाधिक सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए, (2) समाज के हित में व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर कुछ नियन्त्रण भी आवश्यक है। अतः स्वतन्त्रता की सही परिभाषा इन शब्दों में की जा सकती है कि, '**नियन्त्रित तथा मर्यादित वातावरण के अन्तर्गत व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए अधिकतम अवसरों की प्राप्ति का नाम ही स्वतन्त्रता है।"**

स्वतन्त्रता का महत्व — मानव जीवन में स्वतन्त्रता का बहुत बड़ा महत्त्व है। स्वतन्त्रता की इच्छा व्यक्ति की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। स्वतन्त्रता के द्वारा ही व्यक्ति अपने जीवन को सुखी बना सकता है तथा अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकता है। इसलिए व्यक्ति के विभिन्न अधिकारों में स्वतन्त्रता का अधिकार एक महत्त्वपूर्ण अधिकार है। स्वतन्त्रता के बिना मानव, सभ्यता, संस्कृति, कला, साहित्य,

1 'Liberty is the absence of restraints upon the existence of those social conditons which in modern civilization are the necessary guarantees of individual happiness" —**Laski**

2 "Liberty is the eager maintenance of that atmosphere in which men have opportunity of their best selves" —**Laski**

3 "Freedom is the positive power or capacity of doing or enjoying something worth doing or enjoying' —**T H Green**

विज्ञान आदि सभी का विकास रुक जाता है। इस प्रकार व्यक्ति और समाज दोनों के विकास के लिए स्वतन्त्रता आवश्यक है। स्वतन्त्रता के महत्व को स्पष्ट करते हुए अंग्रेजी विचारक जॉन स्टुअर्ट मिल ने कहा है कि "स्वतन्त्रता के बिना सत्य अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकता।" इटली के प्रसिद्ध देशभक्त मैजिनी ने कहा है कि, "स्वतन्त्रता का अधिकार व्यक्ति को इसलिए दिया जाता है क्योंकि इसके अभाव से व्यक्ति अपने किसी भी कर्त्तव्य का पालन नहीं कर सकता है। यदि कोई शक्ति व्यक्ति के इस अधिकार को छीनती है तो हर सम्भव उपाय द्वारा अपनी स्वतन्त्रता को वापिस प्राप्त करना व्यक्ति का मूलभूत कर्त्तव्य है।

स्वतन्त्रता के रूप

राजनीति विज्ञान के विचारकों ने स्वतन्त्रता के अनेक रूपों का प्रतिपादन किया है। उनमें से कुछ प्रमुख रूप निम्नलिखित हैं

(1) **प्राकृतिक स्वतन्त्रता (Natural Liberty)**—इस धारणा के अनुसार स्वतन्त्रता प्रकृति की देन है। मनुष्य स्वभाव से ही स्वतन्त्र है। वह सब प्रकार के बन्धनों के विरुद्ध है परन्तु समाज मनुष्य पर अनेक प्रकार के बन्धन लगा देता है। रूसो ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न होता है परन्तु प्रत्येक स्थान पर वह बन्धनों में जकड़ा हुआ है।"[1] सामाजिक समझौता सिद्धान्त के मानने वाले विचारकों के अनुसार प्राकृतिक अवस्था (राज्य की स्थापना से पूर्व की अवस्था) में मनुष्यों को इसी प्रकार की प्राकृतिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी। मनुष्य के कार्यों पर किसी प्रकार का कोई नियन्त्रण नहीं था।

प्राकृतिक स्वतन्त्रता की यह धारणा बहुत ही भ्रान्तिपूर्ण है। निरपेक्ष स्वतन्त्रता अराजकता को जन्म देती है जिसमें किसी की भी स्वतन्त्रता सुरक्षित नहीं रह सकती है। वास्तविक स्वतन्त्रता तो संगठित समाज में ही सम्भव हो सकती है। फिर भी एक अर्थ में प्राकृतिक स्वतन्त्रता के विचार को स्वीकार किया जा सकता है और वह यह है कि सभी व्यक्ति समान हैं तथा सभी को उनके व्यक्तित्व के विकास के लिए समान सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए। राज्य के द्वारा व्यक्ति के ऊपर अनावश्यक प्रतिबन्ध न लगाये जाएँ।

(2) **व्यक्तिगत स्वतन्त्रता (Personal Liberty)**—व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का तात्पर्य यह है कि जिन बातों का सम्बन्ध व्यक्ति के 'स्व' (Self) से है, उन पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए। व्यक्ति के 'स्व' से सम्बन्ध रखने वाली बातों में खान-पान, वेश-भूषा, रहन-सहन, धर्म, आजीविका, पारिवारिक जीवन आदि सम्मिलित किये जाते हैं। व्यक्तिवादी तथा बहुलवादी विचारकों ने इस स्वतन्त्रता को दूसरे सभी राजनीतिक अधिकारों में अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। उनके अनुसार राज्य को व्यक्ति के निजी मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। मिल

---

1 *"Man is born free, but everywhere he is in Chains."*— **Rousseau**

तथा बरट्रेण्ड रसल ने स्वतन्त्रता के इस रूप का प्रबल समर्थन किया है। मिल के शब्दों में "प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण व्यक्तिगत स्वतन्त्रता होनी चाहिए, जब तक उसके कार्य दूसरे के कार्यों में बाधा न डालें। व्यक्ति अपने स्वयं, अपने शरीर, मस्तिष्क और आत्मा पर सम्प्रभु है।"[1]

परन्तु इस सम्बन्ध में कठिनाई यह है कि वर्तमान समय में समाज का स्वरूप इतना जटिल हो गया है कि शायद ही कोई विषय ऐसा हो जिसे पूर्णतया व्यक्तिगत कहा जा सके। व्यक्ति के किसी भी कार्य का प्रभाव स्वयं उसी तक सीमित नहीं रहता बल्कि उसका प्रभाव आवश्यक रूप से समाज पर पड़ता है। इसलिए व्यक्ति के सभी कार्यों पर किसी न किसी रूप में राज्य का नियन्त्रण आवश्यक समझा जाता है। फिर भी इस विचारधारा में इतनी सत्यता अवश्य है कि जिन बातों का सम्बन्ध एक व्यक्ति विशेष से है, उनके विषय में उसे पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए।

(3) नागरिक स्वतन्त्रता (Civil Liberty)—नागरिक स्वतन्त्रता वह स्वतन्त्रता है जो व्यक्ति समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है। गैटल के अनुसार, "इसमें स्वतन्त्र रूप से कार्य करने की स्वाधीनता और हस्तक्षेप से मुक्ति शामिल है। इसमें वे अधिकार और विशेषाधिकार शामिल रहते हैं जिन्हें राज्य निश्चित करता है तथा जिन्हें वह लागू भी करता है।" इस प्रकार नागरिक स्वतन्त्रता के दो पहलू होते हैं (1) व्यक्ति को अपने सम्बन्ध में निर्णय लेने तथा इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता हो, (2) व्यक्ति के कार्यों में अन्य व्यक्तियों तथा राज्य का हस्तक्षेप न हो। नागरिक स्वतन्त्रता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि राज्य के कानून से इसका जन्म होता है तथा राज्य के कानून इसकी रक्षा करते हैं। डॉ० आशीर्वादम् के अनुसार, "नागरिक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत जीवन की स्वतन्त्रता, कानून के समक्ष समता, निजी सम्पत्ति की सुरक्षा, विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा विवेक की स्वतन्त्रता आदि सम्मिलित हैं।" संक्षेप में, नागरिक स्वतन्त्रता शारीरिक और मानसिक दबाव के विरुद्ध संरक्षण है, चाहे यह दबाव किसी व्यक्ति की ओर से हो या सरकार की ओर से हो। इसमें वैयक्तिक स्वतन्त्रता भी शामिल है।

नागरिक स्वतन्त्रता का स्तर लोकतान्त्रिक तथा समाजवादी राज्यों में एक-सा नहीं होता। इस सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि, "जिस राज्य में नागरिक स्वतन्त्रता का स्तर जितना अधिक ऊँचा होता है, वह राज्य में उतना ही अधिक लोकतन्त्रात्मक एवं लोककल्याणकारी होता है।"

(4) राजनीतिक स्वतन्त्रता (Political Liberty)—राजनीतिक स्वतन्त्रता से तात्पर्य यह है कि नागरिकों को शासन के कार्यों में सक्रिय रूप से भाग लेने की सुविधा प्राप्त हो। लास्की के शब्दों में, "राज्य के कार्यों में सक्रिय रूप से भाग लेने

1 "Over himself, over his own body, mind and soul, the individual is sovereign." —J. S. Mill

के अधिकार को राजनीतिक स्वतन्त्रता कहते हैं।" लोकॉक ने राजनीतिक स्वतन्त्रता का अर्थ वैधानिक स्वतन्त्रता से लिया है। राजनीतिक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत, मतदान का अधिकार, प्रतिनिधियों को चुनने तथा पदच्युत करने का अधिकार-निर्वाचित होने का अधिकार, योग्यता के आधार पर सार्वजनिक पद प्राप्त करने का अधिकार तथा सरकार के कार्यों की आलोचना करने का अधिकार शामिल है।

लास्की के कथन के अनुसार राजनीतिक स्वतन्त्रता नागरिक स्वतन्त्रता की पूरक है। राजनीतिक स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं रह जाता। राजनीतिक स्वतन्त्रता केवल लोकतन्त्र में ही सम्भव है, इसलिए गिलक्राइस्ट ने कहा है कि 'राजनीतिक स्वतन्त्रता लोकतन्त्र का ही दूसरा नाम है।'

(5) आर्थिक स्वतन्त्रता (Economic Liberty)—आर्थिक स्वतन्त्रता का तात्पर्य यह नहीं है कि व्यक्ति को आर्थिक क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जाये तथा राज्य का नियन्त्रण कम से कम हो। इसका तात्पर्य वस्तुतः ऐसी आर्थिक व्यवस्था से है जिसमें व्यक्ति आर्थिक दृष्टि से दूसरों के पराधीन न हो तथा सब व्यक्तियों को अपनी आर्थिक उन्नति करने के समान अवसर प्राप्त हों। लास्की के मतानुसार, "आर्थिक स्वतन्त्रता से हमारा तात्पर्य यह है कि व्यक्ति को अपनी जीविका उपार्जन की पर्याप्त सुरक्षा तथा अवसर प्राप्त हो। उसे बेकारी और भुखमरी के निरन्तर भय से मुक्ति मिलनी चाहिए।"[1] ऐसी स्थिति के अभाव में मनुष्य उन दासों से अच्छा नहीं होता जो खुले बाजार में बेचे और खरीदे जाते थे। इस तरह आर्थिक स्वतन्त्रता का वास्तविक अर्थ 'आर्थिक सुरक्षा' से है।

आर्थिक स्वतन्त्रता का एक दूसरा पहलू 'उद्योग में स्वशासन' है। इसका तात्पर्य यह है कि उत्पादन व्यवस्था के नियन्त्रण में श्रमिकों के प्रतिनिधियों का हाथ होना चाहिए। इस प्रकार के स्वशासन अथवा आर्थिक लोकतन्त्र के अभाव में श्रमिकों का शोषण होता है तथा श्रमिक वर्ग पूरी तरह धनी लोगों की कृपा पर निर्भर हो जाता है। अतः आर्थिक स्वतन्त्रता का तात्पर्य आर्थिक विषमताओं तथा आर्थिक दबाव के अन्त से है।

(6) राष्ट्रीय स्वतन्त्रता (National Liberty)—राष्ट्रीय स्वतन्त्रता से तात्पर्य बाह्य नियन्त्रण की स्वतन्त्रता अथवा स्वराज्य से है जैसा कि लोकमान्य तिलक ने कहा था कि स्वराज्य प्रत्येक राष्ट्र का जन्मसिद्ध अधिकार है। प्रत्येक राष्ट्र का अपना एक स्वतन्त्र राज्य होना चाहिए और उस राज्य को बाहरी दृष्टि से प्रभुत्व-सम्पन्न होना चाहिए। दूसरे राज्यों को उसके मामलों में हस्तक्षेप करने का

1 "By economic liberty means security and opportunity to find reasonable significance in the earning of daily bread. I must, that is, be free from the constant fear of unemployment and insufficiency."—H. J. Laski : *Grammar of Politics*, p. 148.

कोई अधिकार नहीं होना चाहिए। वस्तुतः राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आधार के बिना व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सम्भव नहीं है क्योंकि स्वतन्त्र मानव समुदाय ही सच्ची नागरिक और आर्थिक स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के समान राज्यों के लिए भी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आवश्यक है। फिर भी जिस प्रकार सामाजिक हित की दृष्टि से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को नियन्त्रित किया जा सकता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण संसार के हित की दृष्टि से राज्यों की स्वतन्त्रता को भी मर्यादित किया जाना चाहिए।

(7) नैतिक स्वतन्त्रता (Moral Liberty)—एक व्यक्ति को चाहे सब प्रकार की स्वतन्त्रताएँ प्राप्त हो, परन्तु यदि वह नैतिक दृष्टि से स्वतन्त्र नहीं है तो उसे स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता। नैतिक स्वतन्त्रता के बिना सामाजिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता का कोई खास मूल्य नहीं रह जाता। नैतिक स्वतन्त्रता का तात्पर्य उस स्थिति से है जिसमें व्यक्ति स्वार्थ-रहित होकर अपने विवेक के अनुसार कार्य करता है तथा दूसरों के व्यक्तित्व का सच्चा सम्मान करता है। यदि कोई व्यक्ति स्वार्थ के वशीभूत होकर अपने विवेक के विरुद्ध कार्य करता है, तो उसे नैतिक दृष्टि से स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता। ग्रीन, बोसांके तथा काण्ट ने नैतिक स्वतन्त्रता पर जोर देते हुए कहा है कि 'नैतिक स्वतन्त्रता में ही मनुष्यता का विकास सम्भव है।' लोकतान्त्रिक शासन-व्यवस्था में नैतिक स्वतन्त्रता का होना अत्यन्त आवश्यक है।

विभिन्न व्यवस्थाओं में नागरिक स्वतन्त्रताओं का स्वरूप

नागरिक स्वतन्त्रताएँ लोकतान्त्रिक तथा समाजवादी दोनों प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाओं में उपलब्ध होती हैं परन्तु दोनों में इनके स्वरूप तथा महत्त्व में अन्तर है। दोनों प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाओं में नागरिक स्वतन्त्रताओं का स्वरूप निम्नलिखित है.

लोकतान्त्रिक व्यवस्था में नागरिक स्वतन्त्रताएँ—लोकतान्त्रिक राज्य द्वारा राज्य के अन्तर्गत रहने वाले सभी नागरिकों को अनेक प्रकार की नागरिक स्वतन्त्रताएँ प्रदान की जाती हैं। इन स्वतन्त्रताओं का उद्देश्य व्यक्ति के जीवन, सम्पत्ति तथा विचार-स्वातन्त्र्य की रक्षा करना एवं व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास में योगदान देना है। कुछ प्रमुख स्वतन्त्रताएँ निम्नलिखित हैं.

(1) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता—लोकतन्त्रीय व्यवस्था में व्यक्तियों को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत जीवन का पूर्ण विकास करने के सुअवसर प्राप्त होते हैं तथा उसे कानूनों द्वारा निर्धारित सीमा के अन्तर्गत अपनी इच्छानुसार काम करने तथा अपनी जीविका कमाने की छूट होती है। राज्य किसी भी व्यक्ति को कोई विशेष काम धन्धा या व्यवसाय करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता। उसे जीवन की भी सुरक्षा प्राप्त होती है। व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार धर्म का पालन करने तथा उसका प्रचार करने की स्वतन्त्रता होती है। जब तक

कानून द्वारा उसका अपराध सिद्ध न हो जाय, तब तक न तो उसे बन्दी बनाया जा सकता है और न उसे दण्ड ही दिया जा सकता है।

(2) नागरिक स्वतन्त्रता—लोकतान्त्रिक राज्य में व्यक्तियों को अनेक प्रकार की नागरिक स्वतन्त्रताएँ प्राप्त होती हैं। उदाहरण के लिए उन्हें विचार-अभिव्यक्ति, लेखन व प्रेस की स्वतन्त्रता, शान्तिपूर्वक सभा प्रदर्शन करने की स्वतन्त्रता, अपने हितों की पूर्ति के लिए सगठन या समुदाय बनाने की स्वतन्त्रता, देश के किसी भी भाग में भ्रमण करने, निवास करने तथा सम्पत्ति अर्जित करने की स्वतन्त्रता प्राप्त होती है।

(3) राजनीतिक स्वतन्त्रता—लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं में नागरिकों को शासन के कार्यों में सक्रिय रूप से भाग लेने की स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। नागरिकों को बिना किसी दबाव के अपने प्रतिनिधि चुनने, निर्वाचित होने, उचित योग्यता के आधार पर सार्वजनिक पद प्राप्त करने तथा सरकार के कार्यों की आलोचना करने की स्वतन्त्रता होती है।

लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्थाओं में व्यक्तियों को नागरिक स्वतन्त्रताएँ केवल प्रदान ही नहीं की जाती, अपितु उनके सरक्षण की भी पर्याप्त व्यवस्था की जाती है। यदि राज्य नागरिकों की इन स्वतन्त्रताओं का अपहरण करता है तो नागरिक न्यायालय की शरण लेकर अपनी स्वतन्त्रताओं की रक्षा कर सकते हैं। परन्तु लोकतान्त्रिक व्यवस्था में सामाजिक समानता तथा आर्थिक न्याय का अभाव पाया जाता है जिसके कारण राजनीतिक तथा नागरिक स्वतन्त्रताओं का उपभोग केवल कुछ साधन सम्पन्न व्यक्ति ही कर सकते हैं, सर्वसाधारण इनका उपभोग नहीं कर सकता।

समाजवादी व्यवस्था में नागरिक स्वतन्त्रताएँ—समाजवादी व्यवस्था में भी नागरिकों को अनेक प्रकार की स्वतन्त्रताएँ प्राप्त होती हैं परन्तु उन स्वतन्त्रताओं का स्वरूप लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था से भिन्न होता है। समाजवादी व्यवस्था में व्यक्तियों को निम्नलिखित स्वतन्त्रताएँ प्राप्त होती हैं

(1) सामाजिक स्वतन्त्रता—समाजवादी व्यवस्था में सामाजिक स्वतन्त्रता पर विशेष जोर दिया जाता है। इस व्यवस्था में सभी जातियों तथा राष्ट्रीयताओं के लोगों को बिना किसी भेद-भाव के आर्थिक सांस्कृतिक, सामाजिक राजनीतिक और सरकारी क्षेत्र में पूर्ण समानता के अधिकार प्रदान किये जाते हैं। स्त्रियों तथा पुरुषों में किसी प्रकार का भेद नहीं किया जाता है। स्त्रियों को पुरुषों के समान वेतन, विश्राम, अवकाश, सामाजिक बीमा तथा शिक्षा की सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। यदि कोई किसी भी आधार पर सामाजिक भेदभाव फैलाने की कोशिश करता है तो उसका यह कार्य दण्डनीय अपराध माना जाता है।

(2) नागरिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता—समाजवादी व्यवस्था में भी व्यक्तियों को नागरिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रताएँ प्राप्त होती हैं। व्यक्तियों को भाषण देने, विचार प्रकट करने, लेख लिखने, सभा करने, सगठन बनाने,

प्रदर्शन करने आदि की स्वतन्त्रताएँ प्राप्त होती हैं। परन्तु व्यवहार मे इन समस्त स्वतन्त्रताओं का प्रयोग समाजवादी विचारधारा की आलोचना करने के लिए नही वरन् उसको दृढ बनाने के लिए ही किया जा सकता है। इसी प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से सभी नागरिकों को मत देने, अपने प्रतिनिधि चुनने, व्यवस्थापिकाओ मे स्वय प्रतिनिधि के रूप मे निर्वाचित होने तथा सरकार की आलोचना करने आदि राजनीतिक स्वतन्त्रताएँ प्राप्त होती हैं। किन्तु ये सब स्वतन्त्रताएँ भी केवल दिखावे के लिए होती हैं। प्राय: समाजवादी राजनीतिक व्यवस्था वाले राज्यो मे एक ही राजनीतिक दल होता है। इस व्यवस्था मे अन्य राजनीतिक दलो का अस्तित्व नही होता। जन-साधारण का काम स्वय चुनाव लड़ना अथवा स्वतन्त्र रूप से अपने प्रतिनिधियों को चुनना नही है वरन् दल द्वारा मनोनीत उम्मीदवारो को ही अपना मत देना है।

(3) आर्थिक स्वतन्त्रता—समाजवादी व्यवस्था मे आर्थिक स्वतन्त्रता का अर्थ लोकतन्त्रीय व्यवस्था से भिन्न होता है। इस व्यवस्था मे आर्थिक स्वतन्त्रता की अपेक्षा आर्थिक सुरक्षा पर अधिक बल दिया जाता है। हर नागरिक को काम प्राप्त करने तथा विश्राम और अवकाश का अधिकार प्रदान किया जाता है। इस व्यवस्था मे इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीविकोपार्जन के लिए काम मिले, उसको बेकारी तथा भुखमरी के भय से मुक्ति मिले तथा उसकी कम से कम इतनी आय अवश्य हो कि वह अपनी सभी मूलभूत आवश्यकताओ को समुचित ढग से पूरा कर सके। व्यक्तियो को बीमारी वृद्धावस्था तथा काम न कर सकने की स्थिति मे राज्य की ओर से सहायता प्रदान की जाती है। इसमे श्रमिकों का न तो शोषण होता है और न वे लोकतान्त्रिक व्यवस्था के समान धनी लोगो की कृपा पर निर्भर ही रहते हैं। अत इस व्यवस्था मे लोगों को पर्याप्त आर्थिक सुरक्षा प्राप्त रहती है।

उपरोक्त दोनों राजनीतिक व्यवस्थाओ की विवेचना करने के पश्चात हम निष्कर्ष रूप मे यह कह सकते हैं कि लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था राजनीतिक स्वतन्त्रता पर अधिक जोर देती है जबकि समाजवादी व्यवस्था सामाजिक और आर्थिक समानता पर अधिक बल देती है।

राजनीतिक स्वतन्त्रता की सार्थकता

वर्तमान समय मे प्राय सभी विचारको की यह आम धारणा है कि यदि राजनीतिक स्वतन्त्रता को सार्थक बनाना है तो सामाजिक समानता एव आर्थिक न्याय की स्थापना अत्यन्त आवश्यक है। इसके अभाव मे राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राय. निरर्थक होती है। यह निम्नलिखित आधारों पर स्पष्ट किया जा सकता है :

राजनीतिक स्वतन्त्रता सामाजिक समानता पर आधारित—राजनीतिक स्वतन्त्रता को वास्तविक एव सार्थक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि समाज मे सामाजिक समानता की स्थापना हो। सामाजिक समानता से तात्पर्य यह है कि समाज में धनी निर्धन, ऊँच-नीच तथा छुआछूत आदि का कोई भेदभाव नहीं होना चाहिए।

समाज में सभी व्यक्तियों को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए समान अवसर एवं सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए। सामाजिक समानता के लिए यह भी आवश्यक है कि समाज में कोई विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग न हो, कानून की दृष्टि में सभी समान समझे जायें, सभी के लिए समान न्याय की व्यवस्था हो तथा सरकारी पदों पर की जाने वाली नियुक्तियाँ किसी भेदभाव के आधार पर न की जाकर केवल योग्यता के आधार पर की जायें। यदि समाज में ऐसी समानता नहीं होगी तो राजनीतिक स्वतन्त्रता केवल उच्च वर्ग के लोगों का विशेषाधिकार बन कर रह जायेगी और साधारण लोगों के लिए उसका कोई मूल्य नहीं रहेगा। प्रो पोलार्ड ने ठीक ही लिखा है कि "स्वतन्त्रता की समस्या का केवल एक हल है और वह हल समानता में निहित है।"

राजनीतिक स्वतन्त्रता आर्थिक न्याय पर आधारित—इसी प्रकार राजनीतिक स्वतन्त्रता को वास्तविक एवं सार्थक बनाने के लिए *सामाजिक समानता के साथ साथ आर्थिक समानता* अथवा आर्थिक न्याय की स्थापना भी अत्यन्त आवश्यक है। जैसा कि प्रो लास्की ने लिखा है कि "राजनीतिक स्वतन्त्रता तब तक वास्तविक नहीं हो सकती, जब तक उसके साथ वास्तविक आर्थिक समानता भी न हो।"[1]

आर्थिक समानता अथवा आर्थिक न्याय से तात्पर्य यह है कि समाज में सभी व्यक्तियों का भोजन, वस्त्र, निवास, शिक्षा व स्वास्थ्य सम्बन्धी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति अवश्य होनी चाहिए जिससे एक वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण नहीं कर सके। लोगों की आय में बहुत अधिक असमानता न होनी चाहिए तथा इस बात की व्यवस्था होनी चाहिए कि समाज के सभी व्यक्तियों की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाने के पश्चात् ही किसी को भोग-विलास की सुविधाएँ मिलें।

आज सभी विचारक इस बात को स्वीकार करते हैं कि आर्थिक न्याय के अभाव में व्यक्ति कभी भी राजनीतिक स्वतन्त्रता का वास्तविक उपभोग नहीं कर सकते। जैसा कि हॉब्सन ने कहा है कि "एक भूखे व्यक्ति के लिए स्वतन्त्रता का क्या मूल्य है? वह स्वतन्त्रता को न तो खा सकता है और न पहन सकता है।" यह वास्तविकता है कि जो व्यक्ति दिन-रात परिश्रम करके दोनों समय के भोजन का प्रबन्ध करने में ही अपना सारा समय लगा देता है, उसके पास न तो इतना समय होता है और न इच्छा-शक्ति ही होती है कि वह सार्वजनिक कार्यों में दिलचस्पी ले सके और अपने राजनीतिक अधिकारों का पूरा उपयोग कर सके। निर्धन व्यक्तियों से यह आशा करना कि वे अपने मताधिकार का उचित उपयोग करें, अनुचित प्रतीत होता है। इसी प्रकार निर्धन व्यक्ति के लिए नागरिक एवं राजनीतिक स्वतन्त्रताओं का क्या मूल्य है? साधन-सम्पन्न होने के कारण इन समस्त स्वतन्त्रताओं का उपभोग

---

1 "Political liberty, therefore is never real unless it is accompanied by virtual economic equality." —Laski

व्यवहार में केवल धनिक वर्ग के लोग ही करते हैं, साधारण लोगों के लिए इनका कोई महत्त्व नहीं है। वस्तुतः एक निर्धन व्यक्ति का धर्म, ईमान और राजनीति सभी कुछ पेट भरने तक सीमित हो जाती है। पण्डित नेहरू ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में यह कहा है कि 'भूखे व्यक्ति के लिए मताधिकार अथवा राजनीतिक स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं है।"

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि आर्थिक न्याय के अभाव में नागरिक एवं राजनीतिक स्वतन्त्रताएँ कभी भी वास्तविक नहीं हो सकतीं। लास्की ने ठीक ही लिखा है कि "या तो राज्य सम्पत्ति पर प्रभुत्व कायम कर ले अन्यथा सम्पत्ति ही राज्य पर प्रभुत्व कायम कर लेगी।"[1] कोल का भी यही मत है कि 'आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक स्वतन्त्रता केवल एक भ्रम है।"[2] अन्त में जोड़ (C E M Jood) के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि "आर्थिक समानता के अभाव में वास्तविक राजनीतिक स्वतन्त्रता कभी भी उपलब्ध नहीं हो सकती है।"

सामाजिक समानता एवं आर्थिक न्याय का संरक्षण

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि सामाजिक और आर्थिक न्याय के अभाव में राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा अधिकार मूल्यहीन हो जाते हैं। अनेक विचारकों के अनुसार लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था समाज में सामाजिक समानता एवं आर्थिक न्याय स्थापित करने में असमर्थ रहती है। इसके विपरीत समाजवादी राजनीतिक व्यवस्था समाज में सामाजिक समानता एवं आर्थिक न्याय को संरक्षण प्रदान करके राजनीतिक स्वतन्त्रता को सार्थक बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान देती है। इस कथन के समर्थन में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं:

(1) लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था में व्यक्ति की नागरिक स्वतन्त्रताओं और राजनीतिक अधिकारों पर अधिक बल दिया जाता है जबकि समाजवादी व्यवस्था में व्यक्ति के आर्थिक अधिकारों जैसे काम प्राप्त करने का अधिकार, विश्राम और अवकाश का अधिकार तथा सामाजिक सुरक्षा के अधिकार को अधिक महत्ता प्रदान की जाती है। इस सम्बन्ध में स्टालिन ने कहा था कि "एक बेकार व्यक्ति के लिए जो भूखा है और परिश्रम करने पर भी रोटी नहीं कमा सकता, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का क्या अर्थ है? वास्तव में सच्ची स्वतन्त्रता वहीं मिल सकती है जहाँ शोषण को समाप्त कर दिया जाय, बेकारी न हो, भीख माँगने की आवश्यकता न हो तथा भात, रोटी या मकान छिन जाने का भय न हो।"

---

1 'Either the State must dominate property or property will dominate the state"
—Laski

2 "Political liberty in the absence of economic equality is a mere myth"
—G D H. Cole

(2) लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था मे नागरिक स्वतन्त्रताओ एव अधिकारों का केवल उल्लेख ही किया जाता है, उन अधिकारो की प्राप्ति के साधनों का नहीं। इसके विपरीत समाजवादी व्यवस्था मे नागरिक स्वतन्त्रताओ एव राजनीतिक अधिकारों का केवल उल्लेख ही नही किया जाता अपितु उन साधनो की व्यवस्था भी की जाती है जिसके द्वारा राजनीतिक स्वतन्त्रता एव अधिकारो का वास्तविक उपभोग किया जा सके।

(3) लोकतान्त्रिक व्यवस्था का उद्देश्य व्यक्ति को राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र बनाना होता है परन्तु व्यक्ति की सच्ची स्वतन्त्रता तभी हो सकती है जब उसे भौतिक आवश्यकताओ की चिन्ताओ से मुक्त कर दिया जाये। इस उद्देश्य की पूर्ति केवल समाजवादी व्यवस्था ही करती है।

(4) लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था आर्थिक स्वतन्त्रता पर जोर देती है। उसका यह विश्वास है कि यदि आर्थिक क्षेत्र मे व्यक्तियों को स्वतन्त्रता प्राप्त होगी तो सब नागरिको को अपनी उन्नति के समान अवसर मिल जायेंगे। किन्तु व्यवहार मे आर्थिक स्वतन्त्रता के परिणामस्वरूप सम्पत्ति कुछ लोगो के हाथों मे केन्द्रित हो जाती है और राजनीतिक स्वतन्त्रता का उपभोग केवल धनिक वर्ग के व्यक्ति ही कर सकते हैं। साधारण जनता के लिए नागरिक एव राजनीतिक स्वतन्त्रताओ का कोई मूल्य नही रह जाता है।

इसके विपरीत समाजवादी व्यवस्था आर्थिक स्वतन्त्रता के स्थान पर आर्थिक समता की स्थापना पर अधिक बल देती है। वह आर्थिक विषमताओ का अन्त करके सभी व्यक्तियो के जीवन की आवश्यकताओ की पूर्ति पर अधिक ध्यान देती है। उसका मूल मन्त्र यह है कि जब तक सभी व्यक्तियों की न्यूनतम आवश्यकताओ की पूर्ति नही हो जाती, तब तक किसी को भी भोग-विलास की वस्तुओ का उपभोग करने का अधिकार नही होना चाहिए।

(5) समाजवादी व्यवस्था केवल आर्थिक समानता की ही बात नही करती अपितु उसका विश्वास है कि आर्थिक क्षेत्र मे 'स्वशासन की सुविधा' भी होनी चाहिए। उसकी यह मान्यता है कि यदि श्रमिक को अपने कारखाने के प्रबन्ध मे अपनी राय देने का अधिकार न हो, तो उसके अन्य अधिकार निरर्थक हो जाते हैं। अतएव, समाजवादी व्यवस्था राजनीतिक स्तर के साथ-साथ आर्थिक स्तर पर भी व्यक्ति को स्वशासन प्रदान करती है।

(6) समाजवादी राजनीतिक व्यवस्था उत्पादन की व्यवस्था को स्वतन्त्र व्यक्तियो के हाथो मे नही छोड़ती अपितु उसका समाजीकरण करके सब प्रकार के शोषण का अन्त कर देती है। उसमे उत्पादन एव वितरण का आधार सामाजिक हित होता है।

संक्षेप मे, हम यह कह सकते हैं कि केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता एव अधिकार मिल जाने से ही व्यक्ति अपना पूर्ण विकास नही कर सकता जब तक कि समाज

में उसकी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था न हो तथा सभी व्यक्तियों को समान अवसर एवं सुविधाएँ प्राप्त न हों। समाजवादी व्यवस्था व्यक्ति को भौतिक आवश्यकताओं की चिन्ता से मुक्त करके उसे अपने व्यक्तित्व का विकास करने के अवसर प्रदान करती है। अतः हम कह सकते हैं कि लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था की तुलना में समाजवादी राजनीतिक व्यवस्था सामाजिक समानता तथा आर्थिक न्याय का संरक्षण करने में अधिक समर्थ होती है।

राजनीतिक स्वतन्त्रता के उपयोग में बाधक तत्व

राजनीतिक स्वतन्त्रता के वास्तविक उपभोग में अनेक तत्व बाधा डालते हैं। जब तक इन तत्वों का निराकरण नहीं होगा, तब तक समाज के सभी व्यक्ति अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता का सही उपभोग नहीं कर सकेंगे। ये तत्व निम्नलिखित हैं :

(1) अविवेक--राजनीतिक स्वतन्त्रता के मार्ग में अविवेक एक बहुत बड़ी बाधा है। अविवेकी व्यक्ति न तो योग्य उम्मीदवार का चयन ही कर सकता है और न सही ढंग से अपने मताधिकार का प्रयोग ही कर सकता है। ऐसा व्यक्ति बहुत ही आसानी से चतुर राजनीतिक नेताओं के बहकावे में आ जाता है।

(2) दरिद्रता—दरिद्रता अथवा निर्धनता भी राजनीतिक स्वतन्त्रता की एक प्रबल शत्रु है। निर्धन व्यक्ति के लिए, जो हर समय अपना पेट भरने की चिन्ता में व्यस्त रहता है, मताधिकार तथा अन्य राजनीतिक स्वतन्त्रताओं का कोई मूल्य नहीं है? वह थोड़े से पैसों के लिए आसानी से अपने मत को बेच देता है। उसके पास इतना समय ही नहीं रहता कि वह अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रताओं तथा अधिकारों का उपभोग कर सके।

(3) अन्याय—यदि समाज में किसी वर्ग को विशेषाधिकार प्राप्त है और वह वर्ग निम्न वर्गों के ऊपर अत्याचार करता है तो ऐसी स्थिति में निम्न वर्गों के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता केवल एक दिखावे की चीज है। जिस देश में दास-प्रथा, जाति-भेद, रंग भेद, बेगार या अन्य सामाजिक असमानताएँ विद्यमान हों, वहाँ पर राजनीतिक स्वतन्त्रता का उपभोग केवल उच्च वर्ग के लोग ही कर पाते हैं।

(4) आर्थिक शोषण—यदि समाज में आर्थिक विषमताएँ फैली हुई हैं, एक वर्ग के द्वारा दूसरे वर्गों का शोषण किया जा रहा है तो ऐसी स्थिति में राजनीतिक स्वतन्त्रता का उपभोग केवल साधन सम्पन्न लोग ही कर सकते हैं सब लोग नहीं। पूँजीवादी व्यवस्था में श्रमिकों के लिए इसी कारण राजनीतिक स्वतन्त्रता का कोई महत्त्व नहीं रहता है।

(5) साम्प्रदायिकता—साम्प्रदायिकता की भावनाएँ मनुष्य के दृष्टिकोण को संकीर्ण बना देती हैं। इस भावना से प्रेरित होकर व्यक्ति अपनी जाति, धर्म तथा सम्प्रदाय के उम्मीदवार के पक्ष में ही अपना मत देता है, चाहे वह कितना भी अयोग्य क्यों न हो? वह राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा करके भी अपने संकीर्ण हितों

को प्रमुखता देता है। अत. ऐसा व्यक्ति अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करता है।

संक्षेप मे हम कह सकते हैं कि जब तक अविवेक, दरिद्रता, अन्याय, शोषण एव साम्प्रदायिकता राजनीतिक व्यवस्था पर आघात करते रहेंगे, तब तक राजनीतिक स्वतन्त्रता केवल एक औपचारिकता मात्र बन कर रह जाती है। अत· राजनीतिक स्वतन्त्रता के वास्तविक उपभोग के लिए यह आवश्यक है कि इन बुराइयो को समाप्त किया जाये।

स्वतन्त्रता और कानून का सम्बन्ध

स्वतन्त्रता और कानून के सम्बन्ध में दो विरोधी विचारधाराएँ प्रचलित हैं। *कुछ विचारक तथा विचारधाराओं के अनुसार तो स्वतन्त्रता और कानून परस्पर विरोधी हैं।* उनके अनुसार कानून का क्षेत्र जितना अधिक व्यापक होता है, व्यक्ति की स्वतन्त्रता का क्षेत्र उतना ही सीमित हो जाता है। दूसरे विचारकों के अनुसार स्वतन्त्रता कानून के द्वारा ही सम्भव होती है तथा कानून स्वतन्त्रता की रक्षा करता है।

कानून स्वतन्त्रता का विरोधी—व्यक्तिवादी तथा अराजकतावादी दोनो विचारधाराएँ इस बात का समर्थन करती हैं कि कानून स्वतन्त्रता का विरोधी है। व्यक्तिवादी विचारक इस मत के समर्थक हैं कि राज्य एक प्रभुत्व-सम्पन्न सस्था होने के कारण ऐसे कानून बनाता है जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन करते हैं। अत उनके अनुसार स्वतन्त्रता और कानून परस्पर विरोधी हैं। अराजकतावादी विचारकों के अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ सभी प्रकार के बन्धनो का अभाव है। वे यह मानते हैं कि व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार कार्य करने का अधिकार होना चाहिए तथा उसके कार्यों पर किसी प्रकार का कोई नियन्त्रण नहीं होना चाहिए। उनके अनुसार राज्य व कानून शक्ति पर आधारित होने के कारण व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सीमित करते हैं। अतः वे कानून के साथ-साथ स्वय राज्य का भी अन्त कर देने के पक्ष मे हैं। विलियम गाडविन का यह कथन है कि "कानून स्वतन्त्रता के लिए सबसे अधिक हानिकारक सस्था है।"[1]

कानून स्वतन्त्रता का रक्षक—इसके विपरीत दूसरी विचारधारा के समर्थकों का यह मत है कि कानून स्वतन्त्रता का विरोधी नहीं बल्कि रक्षक है। उनके अनुसार राज्य के कानून व्यक्ति के अधिकारों तथा स्वतन्त्रता की रक्षा करते हैं तथा उसमें वृद्धि करते हैं। लॉक के शब्दो मे, "जहाँ कानून नहीं होता, वहाँ स्वतन्त्रता भी नहीं रह सकती।"[2] रोम के प्रसिद्ध विद्वान सिसरो (Cicero) ने लिखा है कि "हम

---

1 "Law is an institution of the most pernicious type"
—William Godwin

2 Where there is no law, there is no freedom" —Locke

स्वतन्त्र होने के लिए ही कानूनों के दास बनते हैं।" विलोबी के शब्दों मे, 'जहाँ नियन्त्रण होता है, वहीं स्वतन्त्रता का अस्तित्व होता है।"[1] हॉकिंग के अनुसार, "स्वतन्त्रता पर लगे हुए अंकुश मनुष्य के सुख में वृद्धि करते हैं, उसे घटाते नही हैं।" हॉकिंग ने तो यहां तक कहा है कि "व्यक्ति जितनी अधिक स्वतन्त्रता चाहता है, उतना ही अधिक उसे सत्ता की अधीनता स्वीकार करने [redacted] लिए तत्पर रहना चाहिए।"[2] रूसो के शब्दो मे, "अपने द्वारा बनायी गयी विधि की अधीनता ही स्वतन्त्रता है।"[3] प्रो रिची के अनुसार, "व्यक्ति के आत्म-विकास के महत्त्वपूर्ण अवसर के रूप में स्वतन्त्रता कानून की ही उपज है। यह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसका अस्तित्व राज्य के कार्य-क्षेत्र से बाहर हो।"[4]

उपर्युक्त विवरण के आधार पर हम कह सकते हैं कि कानून के बिना सच्ची स्वतन्त्रता सम्भव नहीं है। कानून तीन प्रकार से व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा करता है :

(1) अधिकार-क्षेत्र का निर्धारण—कानून व्यक्तियो के अधिकार-क्षेत्र [redacted] निर्धारण करता है जिसके अन्तर्गत सभी व्यक्ति बिना किसी हस्तक्षेप अथवा रोक-टोक के अपनी इच्छानुसार कार्य कर सकते हैं।

(2) स्वतन्त्रता का संरक्षण—कानून सभी नागरिको की समान स्वतन्त्रता का संरक्षण करता है। यह ऐसे वातावरण का निर्माण करता है जिसमे सभी व्यक्ति नागरिक अधिकारो का पूर्ण उपभोग कर सकें।

(3) दण्ड की व्यवस्था—कानून यह भी स्पष्ट कर देता है कि यदि कोई व्यक्ति अपने अधिकार-क्षेत्र का उल्लंघन करता है अथवा वह अन्य नागरिको के अधिकारो मे हस्तक्षेप करता है, तो राज्य उसको दण्ड देगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्य के कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता के मार्ग मे आने वाली बाधाओं को दूर करते हैं। कानून के अभाव मे चारो ओर अशान्ति, अराजकता तथा उच्छृंखलता फैल जायेगी और ऐसी स्थिति मे व्यक्तियों की केवल स्वतन्त्रता ही नहीं अपितु उनके जीवन का अस्तित्व भी खतरे मे पड़ जायेगा। अत. कानून सामाजिक जीवन को नियमित करके शान्ति और व्यवस्था की स्थापना करते

---

1 "Freedom exists only because there is restraint." —Willoughby

2 "The greater the liberty a person desires, the greater is the authority to which he should submit himself" —Hokings

3 'Obedience to law which we prescribe to ourselves [redacted] liberty." —Rousseau

4 "Liberty in the sense of positive opportunity for self-development is the creation of law and not something that could exist apart from the action of the state" —Ritchie *Natural Rights*, pp. 139-140.

हैं तथा स्वतन्त्रता को सम्भव बनाते हैं। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि "स्वतन्त्रता तथा कानून का सम्बन्ध रक्षित और रक्षक का है, भक्षित और भक्षक का नहीं है।"

सभी कानून स्वतन्त्रता के रक्षक नहीं—यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि राज्य द्वारा निर्मित सभी कानून मनुष्य की स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं करते हैं। जो कानून शासक वर्ग की स्वार्थ-सिद्धि के लिए बनाये जाते हैं तथा जो व्यक्ति के विकास में बाधा उत्पन्न करते हैं और व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर अनुचित रूप से प्रतिबन्ध लगाते हैं, वे स्वतन्त्रता में वृद्धि नहीं करते। अतः ऐसे कानून स्वतन्त्रता के मार्ग में बाधक हैं। नागरिकों को शान्तिपूर्ण एवं वैधानिक तरीकों से ऐसे अनुचित कानूनों का विरोध करने का अधिकार है। इसके विपरीत जो कानून जनसाधारण के हित में वृद्धि करते हैं, वे स्वतन्त्रता के पोषक होते हैं। वास्तव में अच्छे कानून एवं सच्ची स्वतन्त्रता में कोई भेद नहीं है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं तथा दोनों का लक्ष्य व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में सहायता करना है।'

समानता
(Equality)

समानता का गलत अर्थ—स्वतन्त्रता के समान समानता के अर्थ के सम्बन्ध में भी लोगों में मतभेद है। कुछ लोग समानता का यह अर्थ लगाते हैं कि मनुष्य जन्म से ही समान होते हैं, अतः सभी को एक सी शिक्षा दी जाय, सबको समान वेतन मिले, सबके साथ समान व्यवहार हो सबके पास समान धन तथा सम्पत्ति हो, इत्यादि। समानता का यह अर्थ बहुत ही भ्रमपूर्ण है। व्यक्तियों में पूर्णरूपेण समानता कायम करना असम्भव है क्योंकि प्रकृति ने ही मनुष्यों को असमान बनाया है। प्रकृति ने प्रत्येक मनुष्य को शक्ति बुद्धि, रूप, रंग, स्वभाव आदि की दृष्टि से दूसरों से भिन्न बनाया है। जैसा कि अरस्तू ने कहा है कि "सभी व्यक्ति समान नहीं होते। कुछ योग्य होते हैं और कुछ अयोग्य, कुछ शारीरिक रूप से बलवान होते हैं और कुछ निर्बल, कुछ व्यक्ति विद्वान होते हैं और कुछ मूर्ख।" अन्य दूसरे विचारकों का भी यही मत है कि मनुष्यों की योग्यता, क्षमता, स्वभाव तथा रुचि में इतनी विभिन्नता पाई जाती है कि समानता की बातें करना निरर्थक है। अतः मनुष्यों में पूर्ण समानता कायम करने की बात कहना समानता का गलत अर्थ लगाना है।

समानता का सही अर्थ—समानता क्या है, यह समझने के लिए हमें समाज में विद्यमान असमानता के दोनों रूपों को समझना आवश्यक है। असमानता के ये दो रूप हैं—प्राकृतिक असमानता तथा सामाजिक असमानता। जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है कि प्राकृतिक असमानता प्रकृति की देन है और इसका निराकरण सम्भव नहीं है। किन्तु सामाजिक असमानता समाज की देन है। हम देखते हैं कि हमारे समाज में लाखों बच्चे ऐसे हैं जिनमें योग्यता तथा प्रतिभा की कोई कमी नहीं होती परन्तु फिर भी उन बच्चों का वैसा विकास नहीं हो पाता जैसा कि कम योग्यता

तथा प्रतिभा होने पर भी धनी लोगों के बच्चों का हो जाता है। इसका मूल कारण सामाजिक विषमता है जिसकी वजह से समाज के सभी व्यक्तियों को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए समान अवसर प्राप्त नहीं होते। राजनीतिक विज्ञान में समानता ऐसी ही सामाजिक विषमताओं के अन्त से है।

अधिक स्पष्ट रूप में हम यह कह सकते हैं कि समानता का वास्तविक अर्थ यह है कि समाज के सभी व्यक्तियों को अपने व्यक्तित्व का विकास करने के लिए समान अवसर तथा समान सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि समाज तथा राज्य की ओर से सभी नागरिकों को किसी प्रकार के भेद-भाव के बिना विकास के लिए समान अवसर प्रदान किये जायें। समानता के अर्थ को स्पष्ट करते हुए प्रो. लास्की ने लिखा है कि "समानता का तात्पर्य, सर्वप्रथम विशेषाधिकारों के अभाव से है और द्वितीय, इसका तात्पर्य यह है कि सभी व्यक्तियों को विकास के लिए पर्याप्त अवसर प्राप्त हों।"[1] प्रो. अप्पादुरै ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "समानता से तात्पर्य यह है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए जिन सुविधाओं की आवश्यकता होती है, वे समाज तथा राज्य द्वारा सबको निष्पक्षतापूर्वक प्रदान की जानी चाहिए।"

समानता के विभिन्न रूप

विभिन्न विचारकों ने समानता के जिन रूपों का वर्णन किया है, उनमें निम्नलिखित रूप प्रमुख हैं

(1) प्राकृतिक समानता—प्राकृतिक समानता का तात्पर्य साधारणतया यह माना जाता है कि प्रकृति ने सभी मनुष्यों को जन्म से समान बनाया है। किन्तु जैसा कि हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं कि प्राकृतिक समानता जैसी किसी वस्तु का अस्तित्व सम्भव नहीं है। प्राकृतिक समानता का तात्पर्य केवल इस रूप में लिया जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व को दूसरे के समान समझा जाय तथा एक व्यक्ति के व्यक्तित्व को दूसरे के व्यक्तित्व के विकास का साधन नहीं माना जाय।

(2) सामाजिक समानता—सामाजिक समानता का तात्पर्य यह है कि समाज में जाति, वर्ण, धर्म, लिंग आदि के आधार पर मनुष्यों के बीच किसी प्रकार का भेद भाव नहीं किया जाय। समाज में किसी भी व्यक्ति तथा वर्ग को न तो विशेष सुविधाएँ दी जायें और न कोई बन्धन लगाये जायें। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि सामाजिक समानता की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि समाज में दास-सेवा, बेगार, ऊँच-नीच की भावना, जाति-प्रथा आदि को पूरी तरह समाप्त किया जाय तथा सभी व्यक्तियों को दूसरे के समान समझा जाय।

---

1 "Equality, therefore means first of all the absence of special privilege In the second place it means that adequate opportunities are laid to open to all" —H. J. Laski

(3) नागरिक समानता—नागरिक समानता का अर्थ यह है कि सभी नागरिकों को समान रूप से नागरिक अधिकार प्राप्त होते हों और उनमे किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं किया जाय। इसके अतिरिक्त कानून की दृष्टि मे सभी नागरिक समान समझे जायें तथा न्यायालयो मे अमीर-गरीब, ऊँच-नीच, छोटे-बड़े सभी के साथ समान न्याय किया जाय। राज्य मे 'कानून के शासन' (Rule of Law) की स्थापना होनी चाहिए।

(4) राजनीतिक समानता—राजनीतिक समानता का तात्पर्य यह है कि राज्य के सभी वयस्क व्यक्तियो को समान रूप से मत देने, निर्वाचित होने, सरकारी पद प्राप्त करने तथा शासन के कार्यों मे भाग लेने के अधिकार प्राप्त होने चाहिए। ये राजनीतिक अधिकार कुछ अपवादो को छोड़कर (जैसे पागल, नाबालिग, अपराधी आदि) राज्य के सभी व्यक्तियों को समान रूप से प्रदान किये जाने चाहिए तथा राजनीतिक अधिकार प्रदान करने मे व्यक्तियों के साथ जाति, धर्म, रंग, लिंग आदि के आधार पर कोई भेद-भाव नही किये जाने चाहिए। राजनीतिक समानता लोकतन्त्र का आधार है। इसके अभाव मे लोकतन्त्र की कल्पना ही नही की जा सकती।

(5) आर्थिक समानता—अनेक विचारको का यह मत है कि जब तक आर्थिक क्षेत्र मे समानता कायम नहीं होती, तब तक राजनीतिक समानता का कोई मूल्य नहीं है। आर्थिक समानता से तात्पर्य धन के समान वितरण अथवा आय की समानता से नहीं है। इस प्रकार की आर्थिक समानता असम्भव एवं अप्राकृतिक है। आर्थिक समानता का वास्तविक अर्थ यह है कि समाज मे सभी व्यक्तियो की भोजन, वस्त्र व निवास सम्बन्धी न्यूनतम आवश्यकताओ की पूर्ति अवश्य होनी चाहिए। सभी व्यक्तियों को 'आर्थिक न्यूनतम' का अवसर प्राप्त होना चाहिए। समाज की आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार की होनी चाहिए जिससे एक वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण नहीं कर सके। समाज के लोगों की आय मे बहुत अधिक असमानता नही होनी चाहिए। लॉस्की के अनुसार, "आर्थिक समानता का तात्पर्य यह है कि सभी व्यक्तियों को अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए समान आर्थिक सुविधाएँ तथा अवसर प्राप्त होने चाहिए।" वस्तुत आर्थिक समानता लोकतन्त्र तथा स्वतन्त्रता का आधार है।

स्वतन्त्रता और समानता में सम्बन्ध

स्वतन्त्रता और समानता मे परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध हैं परन्तु कुछ रूढ़िवादी विचारक इन दोनों को एक-दूसरे का विरोधी मानते हैं। अंग्रेज इतिहासकार लॉर्ड एक्टन का कथन है कि 'समानता की भावना ने स्वतन्त्रता की आशाओं पर पानी फेर दिया है।'[1] डी टाकविल भी एक्टन के इस कथन से सहमत है। उनके अनुसार, 'स्वतन्त्रता और समानता एक दूसरे की विरोधी हैं जहाँ स्वतन्त्रता है,

1 The Passion for equality made vain the hope of liberty"
—Lord Acton

वहाँ समानता नहीं रह सकती और जहाँ समानता है वहाँ स्वतन्त्रता नहीं हो सकती ।" इस विचारधारा के समर्थकों का यह मत है कि प्रकृति ने ही मनुष्यों को असमान बनाया है, अतः समानता कायम करना अप्राकृतिक एवं अव्यावहारिक है ।

इसके विपरीत कुछ दूसरे विचारक स्वतन्त्रता और समानता को एक-दूसरे का विरोधी नहीं बल्कि पूरक मानते हैं । उनके अनुसार समानता के बिना स्वतन्त्रता व्यर्थ और सारहीन है । रूसो के शब्दों में "समानता के बिना स्वतन्त्रता जीवित नहीं रह सकती है ।" जिस समाज में सभी लोगों को विकास के समान अवसर प्राप्त नहीं होते, वहाँ केवल धनी व्यक्ति ही स्वतन्त्रता का लाभ उठा पाते हैं तथा निम्न वर्ग के लोगों को केवल नाममात्र की अथवा दिखावे की ही स्वतन्त्रता प्राप्त होती है । आज भी आर्थिक असमानता के कारण केवल साधन-सम्पन्न व्यक्ति ही राजनीतिक स्वतन्त्रता का उपभोग करते हैं । प्रो. लॉस्की ने ठीक ही लिखा है कि "जहाँ पर धनी और निर्धन हों, शिक्षित और अशिक्षित हों, वहाँ पर मालिक और सेवक अवश्य मिलेंगे ।"

डॉ. आशीर्वादम् के शब्दों में, "यदि स्वतन्त्रता को अपना लक्ष्य पूरा करना है तो यह आवश्यक है कि समानता भी किसी न किसी रूप में उसके साथ रहे ।" आर. एच. टॉनी ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि "समानता की एक बड़ी मात्रा स्वतन्त्रता की विरोधी नहीं है, बल्कि उसके लिए आवश्यक है ।" वस्तुतः स्वतन्त्रता के वास्तविक उपभोग के लिए समानता अत्यन्त आवश्यक है । प्रो. पोलार्ड ने समानता के महत्व को बहुत ही सुन्दर शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है कि "स्वतन्त्रता की समस्या का केवल एक हल है और वह हल समानता में ही निहित है ।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वतन्त्रता तथा समानता एक-दूसरे की विरोधी नहीं, बल्कि पूरक और सहयोगी हैं । एक-दूसरे का कोई मूल्य नहीं है । समानता के अभाव में स्वतन्त्रता खोखली है और स्वतन्त्रता के बिना समानता निरर्थक एवं सारहीन है ।

अभ्यास के प्रश्न

1. नागरिक स्वतन्त्रताओं के अर्थ एवं महत्व को स्पष्ट कीजिए ।
2. लोकतान्त्रिक एवं समाजवादी राजनीतिक व्यवस्थाओं में नागरिक स्वतन्त्रताओं के स्वरूप तथा महत्व का परीक्षण कीजिए ।
3. इस दृष्टिकोण का मूल्यांकन कीजिए कि सामाजिक समानता एवं आर्थिक न्याय के संरक्षण की स्थिति में ही राजनीतिक स्वतन्त्रता सार्थक होती है । ·
(राजस्थान विश्व०, 1978

---

1 "There is only one solution of the problem of liberty. It lies in equality." —Pollard

4. आप इस मत से सहमत हैं अथवा असहमत कि 'लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था, सामाजिक तथा आर्थिक समानता एवं न्याय का संरक्षण करने में असमर्थ होती है।' अपने उत्तर के समर्थन में कारण दीजिए।
5. आप इस मत से सहमत हैं अथवा असहमत कि 'केवल समाजवादी राजनीतिक व्यवस्था ही सामाजिक तथा आर्थिक समानता एवं न्याय का संरक्षण करने में समर्थ होती है।' अपने उत्तर के समर्थन में कारण दीजिए।
6. इस दृष्टिकोण का विवेचन कीजिए कि यदि अविवेक, दरिद्रता, अन्याय, शोषण एवं साम्प्रदायिकता राजनीतिक व्यवस्था पर आघात करते रहें तो राजनीतिक स्वतन्त्रता नितान्त औपचारिकता बन जाती है।
7. इस मत की विवेचना कीजिए कि कानून एवं स्वतन्त्रता परस्पर विरोधी नहीं हैं। (राजस्थान विश्व०, 1977)
8. 'विभिन्न स्वतन्त्रताओं का प्रावधान मात्र आवश्यक नहीं है, नागरिकों की स्वतन्त्रताओं की व्यावहारिक उपलब्धि ही निर्णायक तत्व है।' इस कथन की विवेचना कीजिए।
9. समानता का सही अर्थ क्या है ? समानता के विभिन्न रूपों का वर्णन कीजिए। (राजस्थान विश्व०, 1975)
10. इस विचार का परीक्षण कीजिए कि "आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता व्यर्थ है।" (राजस्थान विश्व०, 1976)
11. "स्वतन्त्रता एवं समानता परस्पर विरोधी हैं।" क्या आप इस मत से सहमत हैं ? (राजस्थान विश्व०, 1974)
12. "निरन्तर सतर्कता ही स्वतन्त्रता का मूल्य है।" इस कथन को ध्यान में रखते हुए स्वतन्त्रता की रक्षा के विभिन्न उपायों का वर्णन कीजिए। (राजस्थान विश्व०, 1979)